GYANODAYA JAN-SEP 1969 G.K.U.

जनवरी १९६९

ज्ञानोदय

मूल्य १.५०

ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

आधुनिक भावबोध, कला-संचेतना
और नवीनता का प्रतिनिधि
मासिक

वर्ष २० : अंक ७

जनवरी १९६९

सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन एवं वितरण कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

मूल्य : वार्षिक १५.००, प्रति अंक १.५०

ज्ञानोदय

जनवरी १९६९

भाषा-साहित्य : लेख

डायरी

साक्षात्कार

व्यंग्य

सामयिक सन्दर्भ

साहित्यार्चन

प्रतिक्रियाएँ-पत्रांश

४
१०
१४
३६
६८
९०
९१
११०
११३
३९
३२
५०

तृतीय पुरस्कार समर्पण समारोह

भावात्मक एकता की चरितार्थ छवि

राजधानी नयी दिल्ली। शुक्रवार, २० दिसम्बर १९६८ की शाम। विज्ञान भवन के विशाल सभागार में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित देश के सर्वोच्च साहित्य-पुरस्कार का भव्य समर्पण समारोह। पाटन के तोरणद्वार की अनुकृति पर विशिष्ट कलात्मक ढंग से सजाये गये विज्ञान भवन के मुख्य द्वार को पार करते ही समारोह की साहित्यिक-सांस्कृतिक गरिमा मुखर हो रही थी।······मंच पर बायीं ओर विराजमान थी वाग्देवी (पुरस्कार प्रतीक) की दस फ़ुट ऊँची मोहक चित्रकृति। उस के पार्श्व में बैठे थे महाकवि कुवेंपु, श्री उमाशंकर जोशी, भारत के प्रधान न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला खान, प्रवर परिषद् के अध्यक्ष और उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डॉ० बे० गोपाल रेड्डी, भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक श्री शान्तिप्रसाद जैन, अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन, डॉ० कर्ण सिंह, डॉ० नीहाररंजन रे, डॉ० के० जी० सैयदैन, आचार्य काका कालेलकर, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन तथा भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासधारी मण्डल और संचालक समिति के सदस्यगण। अखिल भारतीय हार्दिकता की प्रतीति करा रहे थे आयोजन में उपस्थित देश के प्रायः हर प्रान्त और हर भाषा के प्रतिनिधि साहित्यकार, चिन्तक मनीषी, राजनेता और सुधी

नागरिक।—और भावात्मक एकता की चरितार्थ छवि प्रस्तुत करते इस विशाल समारोह में कन्नड़ के महाकवि डॉ० कुप्पल्लि वेंकटप्प पुट्टप्प तथा गुजराती के मूर्धन्य कवि श्री उमाशंकर जोशी को भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित एक लाख रुपये का देश का सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार समर्पित किया गया।

देश की भावात्मक एकता के दृढ़ीकरण और साथ ही सर्जनात्मक साहित्य रचना को प्रोत्साहित करने के अपने मूल उद्देश्य को एक सार्थक आयाम देने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ने इस पुरस्कार का प्रवर्तन किया है। एक लाख रुपये राशि का यह साहित्य पुरस्कार संविधान-विहित पन्द्रह भारतीय भाषाओं में सर्वोत्कृष्ट सर्जनात्मक साहित्यिक कृति के लिए प्रतिवर्ष समर्पित किया जाता है। पहली बार यह पुरस्कार मलयालम के महाकवि जी० शंकर कुरुप को उन की काव्य-कृति 'ओटक्कुष़ल' (बाँसुरी) के लिए १९ नवम्बर १९६६ को अर्पित किया गया था और दूसरी बार १५ दिसम्बर १९६७ को बंगला के प्रतिष्ठित उपन्यासकार श्री ताराशंकर बन्द्योपाध्याय को उन के उपन्यास 'गणदेवता' के लिए। इस वर्ष यह पुरस्कार-सम्मान, प्रवर परिषद् के निर्णयानुसार, कन्नड़ महाकाव्य 'श्री रामायण दर्शनम्' के लिए डॉ० कु० वें० पुट्टप्प को और गुजराती काव्य-कृति 'निशीथ' के लिए श्री उमाशंकर जोशी को भेंट दिया गया है।

पुरस्कार समर्पण समारोह मंच पर दायें से बायें : श्रीमती रमा जैन, श्री उमाशंकर जोशी, डॉ० वें० गोपाल रेड्डी, डॉ० कु० वें० पुट्टप्प, श्री एम० हिदायतुल्ला, डॉ० कर्ण सिंह, श्री शान्ति प्रसाद जैन, श्री मोहन लाल जालान, श्री आचार्य काका कालेलकर।
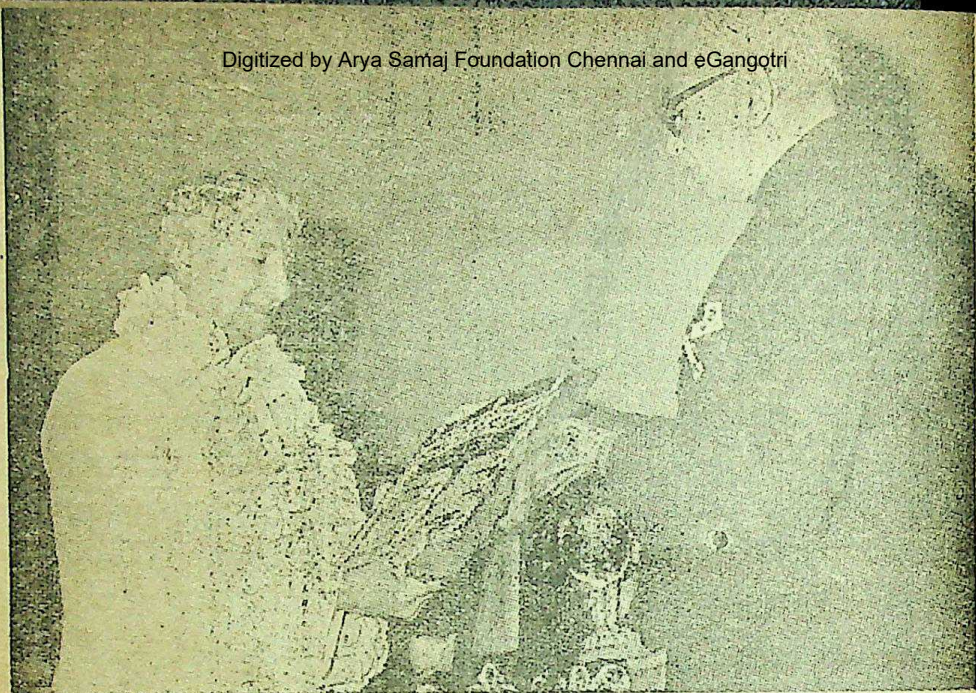
डॉ० कु० वें० पुट्टप्प को प्रशस्ति-पत्र अर्पित करते डॉ० बे० गोपाल रेड्डी

सन् १९३५ से १९६० के बीच प्रकाशित ये दोनों कृतियाँ समग्र भारतीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ निर्णीत हुई हैं।

वाग्देवी की स्तुति और शंख-ध्वनि के साथ समारोह का आरम्भ हुआ। कुमारी चम्पक जैन ने भरतनाट्यम् की मुद्राओं में वाग्देवी की कांस्य-प्रतिमा के सम्मुख वन्दना के श्रद्धा और उल्लास-भाव अर्पित किये। भरपूर सांस्कृतिक गरिमा से रचे-बसे इस वातावरण में समादृत कवि-द्वय को श्री शान्तिप्रसाद जैन ने पुष्पमालाएँ पहनायीं। और इस के बाद भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन ने इस महोत्सव को सार्थकता प्रदान करने वाले महानुभावों के प्रति अपनी स्वागत अंजलि भेंट की।

राष्ट्र की मूलभूत एकता को रेखांकित करता यह पुरस्कार—

श्रीमती रमा जैन ने कहा : "यह अपूर्व सुयोग है कि महोत्सव के इस मंच पर आज मुझे दो मूर्धन्य कवि-महानुभावों के स्वागत करने का अवसर मिल रहा है। आप की अप्रतिम प्रतिभा ने साहित्य के विभिन्न अंगों को परिपुष्ट किया है; आप अनुभवी शिक्षा-शास्त्री हैं और आप ने साहित्य-निर्माण के साथ-साथ देश के तरुणों के जीवन-निर्माण में सक्रिय योगदान दिया है।
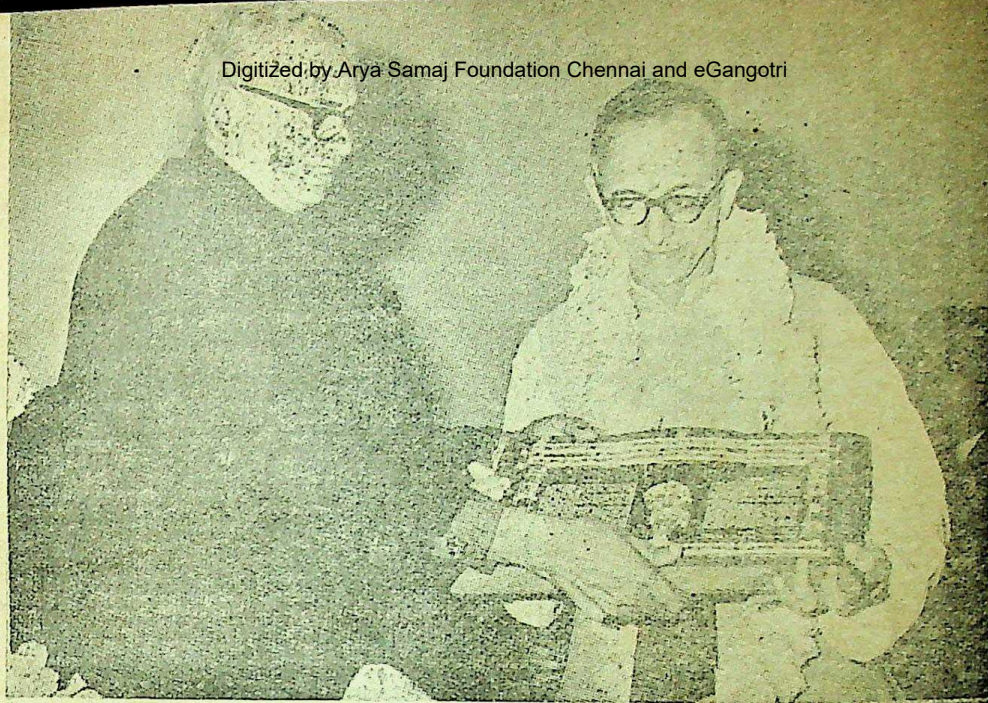
श्री उमाशंकर जोशी को प्रशस्ति-पत्र अर्पित करते डॉ० वे० गोपाल रेड्डी

यह समारोह इस बात का प्रतीक है कि देश के साहित्यकार-समीक्षकों ने आप के सृजन को समग्र भारतीय साहित्य की उपलब्धि और उस के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है, सम्मानित किया है। हमें गर्व है कि भारतीय ज्ञानपीठ की इस कल्पना को आप के कृतित्व द्वारा सार्थकता मिली है कि यह पुरस्कार राष्ट्र की मूलभूत एकता को रेखांकित करता है और उसे साहित्य के माध्यम से व्यवहार में प्रत्यक्ष दर्शाता है। आप का यह स्वागत वास्तव में समस्त साहित्य-जगत् की ओर से है, देश के उन लाखों-करोड़ों पाठक-पाठिकाओं की ओर से है जिन के जीवन को आप ने भव्य आनन्द से पूरित किया और भाव-सम्पदा से समृद्ध किया।

श्री पुट्टप्प जी, आप की काव्य-प्रतिभा और कल्पनाशीलता वास्तव में धन्य है कि जिस रामकथा को वाल्मीकि, कम्बन, पम्प, और तुलसीदास-जैसे महाकवि काव्य-शिखर पर प्रतिष्ठित कर गये उसे ही आप ने अपनी काव्य-साधना का मूलाधार बनाया और 'श्री रामायण दर्शनम्' महाकाव्य की रचना कर के देशव्यापी ख्याति अर्जित की। आप के उदात्त युगबोध ने रामकथा को नये आयाम दिये हैं और आधुनिक भारतीय काव्य को कल्पना तथा शिल्प का नया चमत्कार।

और, 'निशीथ' न केवल गुजरात या भारत में चमकने वाला चन्द्रमा है,
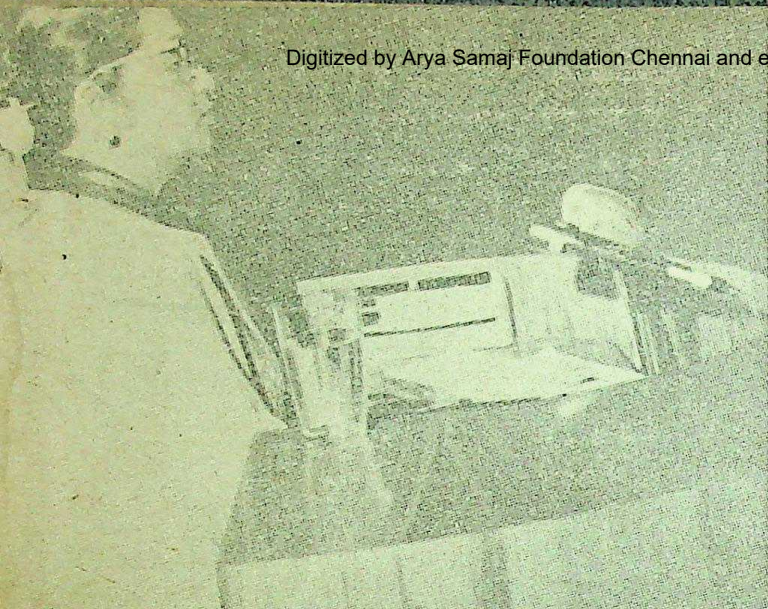
स्वागत भाषण :
श्रीमती रमा जैन

वह हमारी संस्कृति का नटराज है जिस ने विश्व के फलक को अपनी क्रीड़ाभूमि बनाया है। श्री उमाशंकर जोशी ने एक ओर प्राचीन भारतीय महाकाव्यों की भाव-ऋद्धि को युगीन कल्पना और सृजन की नयी गरिमा से मण्डित किया है और दूसरी ओर आधुनिक जीवन के अन्तर्राष्ट्रीय चेतना-पुलक को और त्रास को वाणी दी है। वे मानवता के कवि हैं, उस की आत्मा के खण्डहरों के द्रष्टा हैं, उन का काव्य उन की आस्था का स्तम्भ है।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित पुरस्कृत कृतियों का हिन्दी अनुवाद जब मैं पढ़ती हूँ तो छाया के चमत्कार से ही प्रभावित हो जाती हूँ। सोचती हूँ, यदि मूल के प्रकाश तक पहुँच पाती तो कितना अधिक सुख पाती। मूल के प्रकाश तक पहुँचने का एक झरोखा इन हिन्दी अनुवादों ने खोल दिया है क्योंकि मूल काव्य देवनागरी लिपि में अनुवाद के साथ उपलब्ध रहता है। भारत की सांस्कृतिक चेतना का मूल-स्रोत और अनुभूति का साम्य हमारे देश को किस प्रकार एक इकाई में, फूलों की एक माला में, गूँथे हुए है, यह अनुभव सदा नया आनन्द देता है।

मुझे विशेष हर्ष है कि गणतन्त्र भारत के मुख्य न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला हमारा अनुरोध स्वीकार कर के पुरस्कृत कृतियों के हिन्दी अनुवाद का ग्रन्थ-विमोचन सम्पन्न करने तथा कविद्वय का अभिनन्दन करने इस समारोह में स्वयं पधारे।

श्री पुट्टप्प जी और श्री जोशी जी, आप के साहित्य ने हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पदा को सम्पुष्ट किया है, आप ने हमें वाणी के वरदान से उपकृत किया है। पुरस्कार-प्रशस्ति के द्वारा हमें इस उपकार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का
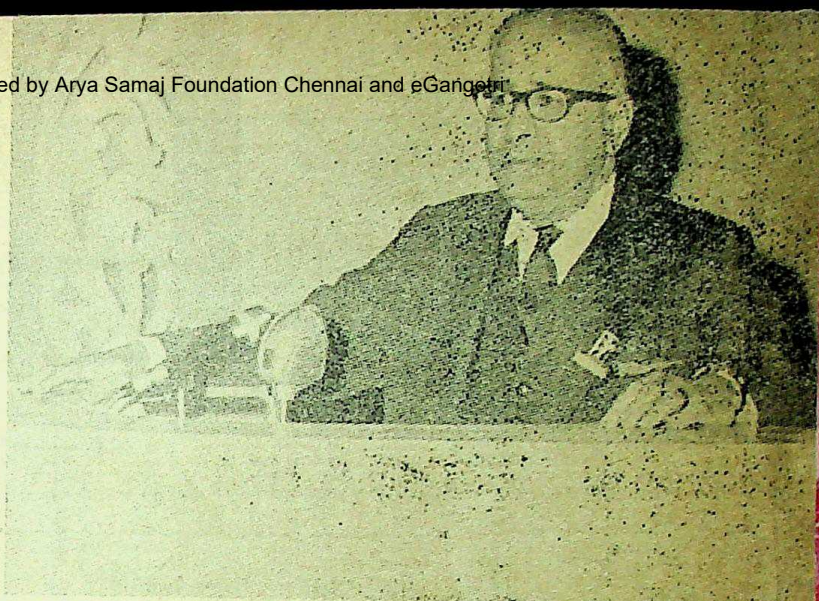
प्रधान न्यायाधीश
श्री हिदायतुल्ला
ग्रन्थ-विमोचन करते हुए

अवसर आप ने दिया, यहाँ पधारने का आप ने कष्ट किया, इस के लिए मैं भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से, अपनी ओर से, देश के साहित्यकारों, अनगिनत पाठक-पाठिकाओं और इस विशिष्ट नागरिक श्रोतामण्डली की ओर से स्वागत-अभिनन्दन निवेदित करती हूँ। शतशः धन्यवाद।"

स्वागत-अंजलि के बाद समारोह एवं प्रवर परिषद् के अध्यक्ष डॉ० बेजवाड़ा गोपाल रेड्डी ने महाकवि कुवेंपु और श्री उमाशंकर जोशी का अभिनन्दन करते और बधाई देते हुए उन के कृतित्व एवं साधना पर प्रकाश डाला।

दुगने आनन्द का अपूर्व संयोग

डॉ० गोपाल रेड्डी ने कहा : "प्रवर परिषद् के अध्यक्ष के नाते मैं डॉ० पुट्टप्प और श्री उमाशंकर जोशी का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ कि उन्हों ने अपनी साधना द्वारा देश के सामने भारतीय साहित्य के ऊँचे मान-दण्ड स्थापित किये। मुझे आन्तरिक प्रसन्नता है कि भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित इस सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार से इन्हें सम्मानित करने का अवसर हमें आज मिला। आप दोनों कवि महानुभाव मेरी और हम सब की बधाई स्वीकार करें।

इस पद से बोलते हुए मेरा ध्यान सब से पहले भारत के दिवंगत राष्ट्रपति श्रद्धेय श्री राजेन्द्रप्रसाद जी की ओर जाता है जो प्रवर परिषद् के प्रथम अध्यक्ष थे। पुरस्कार-योजना की रूप-रेखा को अन्तिम संशोधन-स्पर्श उन के कर-कमलों से प्राप्त

[शेष पृष्ठ १५३ पर]

आत्मा के खण्डहर

उमाशंकर जोशी

●

ऊषा

सुरभि-वेष्टित पूर्व देश में
जीवन की अनपहचानी मधुप्रेरणा-सी
ऊषा उदित हुई ।
देखा आगन्तुक ने उसे
पुरमहल की अट्टालिकाओं में ऊँचे
पद्मवेश में विहरते ।
रंग—पराग—रंजित पहाड़ी की शिखा
जगा रही हृदय में नये-नये भाव ।
नीचे उछाल कर ज़रा फेनिल अयाल
घुर्रा रहा बल बिखेरता पुरातन सिन्धु ।
आगन्तुक ने देखी टीले से सटी हुई
सुदूर फैलती शहर की लीला ।
क्षितिज के धुँधलके को भेद कर सूरज सरका ऊँचे ।
नगर का कोलाहल उमड़ कर उठता ऊपर
तभी गरज उठे अतिथि के पुलकित प्राण—
'बनूँगा मैं एक दिन इस भूमि का विजेता' ।

● अहम्

भीतरी गुहा को भर–भर कर स्फुरित हो रहा अहंघोष,
आत्मा की अदम्य व्यथा बढ़ती,
विश्व में व्याप्त हो जाने को ।
चाहता हृदय कि कहूँ स्थल-स्थल निज कथा,
प्रयाण के लिए क़दम उठाने को व्याकुल पागल प्राण ।
चाहते अंगांग कुसुम-सुरभि के मधुर लचीले पुंज
और वांछा जगती
मुकुट-रूप में धारण करने को गिरि शृंग,
ऊँचे उड़ कर उडुगण को मुट्ठी में भर कर माला रचने की,
लघु चित्त में उमड़ती छलकती बड़ी–बड़ी कामनाएँ !
काल-स्थल के ये सौन्दर्य–मण्डित महाविस्तार,
विहरते हैं अमित,
पर मेरे बिना सब के सब शून्य-से हैं ।
यहाँ खड़े-खड़े ही की मैं ने भावी–भूत की रचना,
और मेरे देखने पर हो उठे सकल स्थल जीवन्त,
सही है कि थे ये सब, किन्तु थी मेरी ही कमी,
बिना मेरे ब्रह्माण्ड में करता कौन विश्व–रमण ?

● कुंज उर का

शृंग-शृंग पर श्वसित होते युगों के श्रान्त प्रतिघोष,
और निर्झरजल में बहती अनछुई आदि कविता,
तालाबों के गहरे नयन भर देती है काल की द्युति,
रच रहा पवन घास के मैदानों में स्मिति की घुमरियाँ :
पेड़ों की डाल–डाल पर नीड़ में
किलक उठते हैं गीतों के झूले,
लताओं के पुष्पों पर, पत्रों पर है
चैतन्य की मीठी मुखचमक ।
प्रत्यूष में, सन्ध्या समय, क्षितिज के अधर पर
होती रंगरमणा,
—आमन्त्रण देते सब मुझे
ग्रहण करने को विश्व-कुल का प्रणय ।
नहीं उलझना है इस प्रकृति-रमणी के नये-नये रूपों में,
अर्पित किया प्रणय जग को ।
मनुष्य चाहें या करें कैसी उपेक्षा, चिन्ता नहीं,
सब मनुज के भावों को हृदय से लगाये रहूँगा ।
बहुत प्रिय है प्रकृति मुझे, किन्तु प्रियतर है हृदय–कुंज ।
छाया है मानव ने जिसे अमृत से ।

● आशा-कणी

निराशा के खेतों में करनी है लुनाई आसकण की,
जड़ ढेर में खोजते रहना है चैतन्य-कणिका,
माया की छटाओं से चाहना सत्य की झाँकी को,
कामना करते अबूझ लोग,—जीवन की यह कैसी मदिरा !
अन्य ने जो किया, मैं भी क्या न कर सकूँ ?
कीर्ति की पताका मैं भी क्या न फहरा सकूँ ?
किन्तु घिरे हुए हैं समय के ऐसे कुटिल चाप में
कि मुख हँसना चाहे, और जग जाये अनिच्छा से रुदन !

वैर के प्रवात हृदय के रुचिर को कर देत ज़हरीला,
दोषों के प्रपात ज़िन्दगी को भर देते,
सताते घोर असिद्धि के डंक
अनभोगे प्रणय कर रहे दमन ।
फिर भी क्यों चाहते मनुष्य शत वर्ष जीना ?
अशक्ति आत्महत्या की—कहते हैं लोग उसे आशा,
त्रास पाते मृत्यु से, ज़िन्दगी है मृत्यु के अर्क से भरी ।

● यथार्थ ही सुपथ्य एक

नहीं विनती, न फ़रियाद, न फ़िक्र, नहीं बेक़रारी
या नहीं किसी प्रबल सत्त्व से शक्ति की याचना ।
रम्य भ्रान्ति के असत्यचक्र जगा कर भटकाने वाली
गगनचुम्बी आदर्श की पागल लगन भी नहीं ।
जग से दुरित-लोप की अशक्य अभीप्सा भी नहीं,
सृष्टि के सकल तत्त्वविमर्श की उत्सुकता भी नहीं ।
पग-पग बढ़ाती वज़न काल की श्रृंखला,
साँस-साँस निकट आती यामिनी शाश्वती ।
शान्ति के लिए, चित-सौख्य के लिए,
मन्थन में नहीं ढँढोलना जग को,
यदि उमड़ती हो चारों ओर उल्लास से अशान्ति ।
असुख नहीं दमते मुझे जितने कि वितथ सौख्य चुभते,
नहीं रुचते सुख, जैसे रुचते हैं समझ में उतरे दुःख ।
यथार्थ ही सुपथ्य एक, समझते रहना यथाशक्य ।
अनजान रमना क्या ! यातना के मोल भी समझना ही इष्ट।

— रूपान्तर : रघुवीर चौधरी, भोलाभाई पटेल

■ ■

['निशीथ' से]
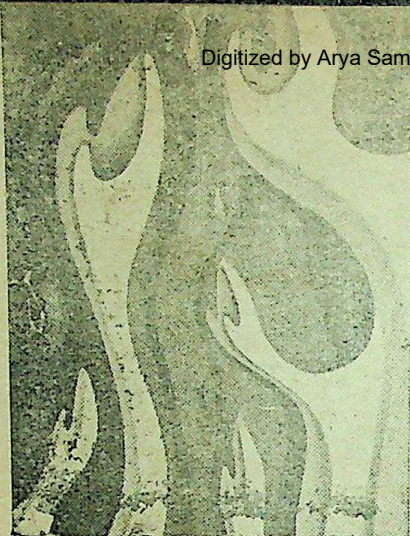
पूर्वरंग

महाकवि कुवेंपु

दशरथ की पुत्र-कामना

बड़ी थी लक्ष्मी-कृपा फिर क्या ?
रजत-रेखा झलक रही थी बालों में
देवी कौशल्या थी साध्वी सुमित्रा भी
मूर्त्तिमती सौन्दर्य की कैकेयी थी
काम से या प्रेम से इन देवियों से
किया था विवाह दशरथ ने, किन्तु.... ?
वंशवृद्धि को सन्तान नहीं मिली
राजभवन के उपवन में घूमते किसी दिन
देखी दशरथ ने एक चिड़िया
चोंच रख कर बच्चे के मुँह में
दे रही थी घूँट वह प्यार से
दृष्टि लगी उसी पर, पैर चिपके वहीं
खड़ा रहा स्तम्भ की भाँति वहाँ ही
माँ चिड़िया ! उस का सौभाग्य कितना
लगा वह हँस रही थी राजा की विवशता पर
कोसलाधिप तड़पता था विहंगम सुख के लिए
देवों का उद्देश्य ? या ऋतिचित् की इच्छा

या विधिलिखित ? विहंगम चिड़िया ।
किन्तु
विभूति को भूतल पर बुलाने की इच्छा
जगा दी राजा के हृदय में चिड़िया ने
ऊर्ध्वलोक की देवशक्ति ने षड्यन्त्र रचा
इच्छा उन की प्रबल बनी, वही थी
आशा सन्तान की बूढ़े दशरथ की
घर चले सीधे, चिन्ता थी बड़ी
पुत्रकामना की, सोचा गुरुजनों से
वामदेव वशिष्ठों से, सचिव मन्त्रपाल
सुमन्त्र सब जुटे, बता दी
राजा ने अपने जीवन की इच्छा

"गुरुजन मेरे हृदय का स्वर्णकलश
कहीं टूटा है लगता व्यर्थ जीवामृत
जीवन का प्रदीप बुझ जाने से पहले
दीप उस का यदि नहीं बनता मेरा
लगेगी भूतल की इच्छा डर कर
अन्धकार से सूरज के पास गयी हो
पुत्रदर्शन नहीं पा कर, हृत्ताप से
आँख मेरी डूब गयी, अन्धा बना मैं ।
मेरे मन के आम्रवृक्ष को लगी बीमारी
रस नहीं विहंगमों की मीठी आवाज़ में
आम्रवृक्ष के सौन्दर्य में रुचि नहीं,
अंकुर में शोभा मुझे नहीं भाती ।
बच्चों का विहार याद दिलाता मुझे
शिशु विलास का, हृदय मन्थन दण्ड वह
दिन-रात सूर्यचन्द्र का उदयास्त
इन्द्र-धनुष—सब का सौन्दर्यामृत
सब नीरस, मृत है, शव-शृंगार है
पुत्र के बिना यह सब राज-वैभव
क्या लाभ यदि अन्धा स्वामी हो दर्पण का ?
जीवन की आँख है पुत्र, प्राप्ति का
देवमार्ग दर्शन कराइए गुरुजन,
आनन्द भर कर हृदय ताप बुझाइए ।"...

● राम का बाल हठ : मन्थरा की प्रत्युत्पन्न मति

धनुष की भाँति कुब्ज-शरीर-धारिणी
चमड़े पर सफ़ेद धब्बों से विकृत कालिमा
पीठ पर लगता था कूबड़ बैल की भाँति
लगती बिलकुल शिथिल कंकाल ही
सूखा चमड़ा, बहुत ही पका था
मुँह छोड़ के भागे थे दाँत सभी
गालों में खड्डे पड़े थे दोनों तरफ़
आँखें धँसी थीं कोटरों में, धुँधली थी
मुँह था कड़ा लोहे के टुकड़े की भाँति
बाल चल पड़े थे, भौंहों से
लगती अतीव विकृत रूपा
सिर पर थे कई सफ़ेद बाल
बगुलों के रोओं की भाँति
अस्थि पंजर थी अस्थिर स्थविरा
देख कर ही कैकेयी चली पास
बोली दासि मन्थरा से, माता-सी दाई से,
देख रहे थे लोग, विकृत बूढ़ी ने

कहा कुछ रानी कैकेयी के कान में
अपनी थैली से दर्पण निकाल कर
दिया कैकेयी के हाथ में, सूचना दी ।
मुसकराती कैकेयी उठ कर
गयी राजा के पास, राम रो रहा था
तभी भी राजा के बाहुओं में
दर्पण में प्रतिबिम्ब देखा चन्द्र का
हर्ष से नाचने लगा राम, 'चन्द्र मिला
चन्द्र मिला' यूँ कह कर, सब मूक बने
देख के ।

विकृत शरीर की दासी मन्थरा ने
राम को प्यार से चूमना चाहा,
बढ़ा हाथ
किन्तु कौशल्या ने रोक दिया उसे,
कहा भी—
'अमंगलकारी हो तुम, मत छूओ'
बूढ़ी मन्थरा का स्नेह जर्जरित हो उठा
आँसू निकल पड़े अपमान से
रुकी नहीं मन्थरा क्षण भी,
भरत को गले लगा, लगती थी
मन्थरा उस समय ताडित नागिनी-सी

● मन्थरा की मूल भूमिका

कोसल देश में
अति तिरस्कृता थी कुब्जा मन्थरा
किन्तु अत्यन्त सन्तृप्त सुखी
हृदय-जलधि उस का चढ़ता भरताभ्युदय
के चन्द्रोदय पर ।
टीलों से विकृत किनारे को लहरियाँ
ढाँक लेतीं, हर्षोर्मिमाला ढँकी थी
उस की विकृति, कैकेयी भरत के
सिवा उस के जग में और नहीं था,
दशरथ भी था कैकेयी-भरत के लिए
कैकेयी-भरत के लिए भी कोशल अयोध्या
शशिसूर्य नक्षत्र सब उन्हीं के लिए
भरत शासन के लिए थी पृथ्वी
तप्त भूमि पर सूखी पत्तियाँ चक्कर काटती
हाय, मन्थरा के मायामोह के आवर्त्त में
फँसा हुआ त्रेतामहायुग भी कहो कैसा
नहीं काटेगा चक्कर, बार-बार ?

—रूपान्तर : सरोजिनी महिषी

■ ■

['श्रीरामायणदर्शनम्' से]

भारतीय भाषायी विवाद

लक्ष्मीनारायण शर्मा 'नीरव'

●

२० अक्टूबर १९१७ के अपने भाषण में राष्ट्रपिता ने कहा था—"शिक्षित वर्ग और सामान्य जनता के बीच में अन्तर पड़ गया है। हम जनसाधारण को नहीं पहचानते, जनसाधारण हमें नहीं जानता। वे हमें साहब समझते हैं और हम से डरते हैं, वे हम पर भरोसा नहीं करते। यदि यही स्थिति अधिक समय तक क़ायम रही तो एक दिन लॉर्ड कर्जन का आरोप सही हो जायेगा कि शिक्षित वर्ग जनसाधारण का प्रतिनिधि नहीं है। हम मातृ-भाषा का जो अनादर करते हैं, उस का हमें भारी प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।"—और राष्ट्रपिता का यह कथन स्वतन्त्र भारत में सत्य ही सिद्ध हुआ है। गान्धी जी के इस कथन के ६१ वर्ष और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के २१ वर्ष पश्चात् भी हम भाषा के प्रश्न को सुलझाने में असमर्थ ही रहे हैं क्यों कि हम किसी भी समस्या को सुलझाने के लिए उस की तह में न जा कर सतही हल ढूँढ़ निकालने के लिए ही दूर की हांकते फिरते हैं। पहाड़ खोदते फिरते हैं किन्तु स्वर्ण-भण्डार तो क्या, चुहिया भी हाथ नहीं लगती। हाँ, कुछ लोगों को छोटा-सा भत्ता अवश्य मिल जाता है।

तटस्थ दृष्टि से यदि देखा जाये तो भारत के भाषायी विवाद की असली जड़ शिक्षित वर्ग ही है जो अपनी वैभव-वृद्धि के सपनों की दुनिया में जनसाधारण का कोई अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। जब भी वह कुछ सोचता है, उस के मस्तिष्क में केवल 'स्व' का ही ध्यान रहता है। शिक्षित वर्ग के मध्य यह विवाद वास्तव में रोज़ी-रोटी के प्रश्न के कारण ही उठ खड़ा हुआ है। आज की भौतिक-समृद्धि की होड़ इसे बढ़ावा देने में बड़ा सहयोग दे रही है। यद्यपि जीविका की समस्या इस भाषायी विवाद की जड़ तो है तथापि इसे राजनीतिज्ञों ने अपना उल्लू सीधा करने का एक अमोघ अस्त्र भी बना लिया है। यदि यह कहा जाये कि कुछ राजनैतिक संस्थाओं के अस्तित्व का मूलाधार यह भाषा-विवाद ही है तो अत्युक्ति न होगी। आज के राजनैतिक नेताओं में गाल बजाने वाले ही अधिक हैं, कर्म-क्षेत्र में उतरने वाले कम; और 'पण्डित वही जो गाल बजावा' उक्ति इन पर खूब चरितार्थ होती है। ऐसे नेता लोग ही भारतीय भाषा-विवाद को मंच पर गाल बजा कर, सड़क-कूँचों में नारे लगवा कर, स्टेशनों-डाकघरों में आग लगवा कर, क्रियाशील व्यक्तियों का घेरा डलवा कर सुलझाते हुए देखे जाते हैं। विवाद को वे कहाँ तक सुलझा पाये हैं, यह भी अब छिपा नहीं है। कुछ नेतागण अपनी वाक्-पटुता से जनसाधारण को बहकाने में बड़े निपुण होते हैं। उन्हें तो अपनी स्वार्थ-सिद्धि से प्रयोजन, चाहे किसी के घर में आग लगे या राष्ट्रीय सम्पति नष्ट हो। बाँबी में हाथ डलवाने के लिए मन्त्र पढ़ कर जनसाधारण को फुसला लेना इन के बायें हाथ का खेल है। इन कारणों से ही भारतीय भाषायी विवाद आज तक सच्चे अर्थ में सुलझ नहीं पाया है।

एक राजनैतिक दल तो राष्ट्रभाषा हिन्दी का कट्टर विरोधी है। उस की हाँ-में-हाँ मिलाने वाले तथाकथित हिन्दी-समर्थक कुछ अन्य नेता लोग स्वार्थ-साधनार्थ हिन्दी-विरोध में ही अपनी शक्ति का अपव्यय करते देखे जाते हैं। मन से हिन्दी-विरोधी किन्तु दिल्ली में आवभगत होने के कारण कुछ चतुर नेता 'कुछ समय और' दिये जाने की दलील देते हैं। कुछ का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मातृभाषा ही प्रिय होती है अतः अहिन्दी-भाषियों पर हिन्दी लादना अनुचित है, अन्याय है। उन्हें प्रेम से, उन का हृदय जीत कर, समझा-बुझा कर हिन्दी सिखाने की आवश्यकता है। कुछ का सुझाव है कि त्रिभाषा-सिद्धान्त से सब पर भाषा का समान भार पड़ेगा अतः वही सब से श्रेष्ठ तथा सुगम उपाय है। एक शासक दल की मान्यता है कि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को अनिवार्य रूप से अँगरेज़ी का अध्ययन करना होगा तभी भारत की एकता बनी रह सकेगी नहीं तो यह बालू की दीवार एक ही फूँक में जैसे ढह जायेगी। व्यावहारिक क्षेत्र में तो वे मातृभाषा की उपेक्षा कर ने में भी कोई संकोच नहीं करते और दूसरों से कहते हैं कि तुम अपनी मातृभाषा को दैनिक व्यवहार की भाषा बनाने पर ज़ोर क्यों देते हो? भाषायी विवाद को हल करने

के कुछ इसी प्रकार के सुलझाव समय-समय पर बुद्धिजीवी वर्ग अपनी लेखनी से निस्यूत करता रहा है, उन के ये सुलझाव या तो एकतरफ़ा होते हैं या समस्या को और अधिक उलझा देने वाले।

एक भाषा-भाषी देश में तो भाषा समस्या के उठने की नौबत ही नहीं आती, यथा—फ्रान्स, इंगलैण्ड, जर्मनी, पुर्तगाल-जैसे देश। द्विभाषा-भाषी देशों में कभी-कभी या तो दोनों ही भाषाएँ राजभाषा का पद प्राप्त करती हैं या एक राजभाषा और दूसरी उप-राजभाषा का (ऐसे देशों में प्रायः व्यावहारिक रूप में एक भाषा को ही प्रमुखता मिलती है) यथा—श्रीलंका में सिंहली तथा तमिल की स्थिति, पूर्वी पाकिस्तान में उर्दू तथा बंगला की स्थिति। किन्तु कनाडा में राजभाषा अँगरेज़ी होने पर भी फ्रेंच और स्पेनिश का भी विशिष्ट स्थान है। बहुभाषा-भाषी देशों में रूस का उदाहरण लिया जा सकता है जिस के एक गणराज्य की मातृभाषा रूसी है तथा अन्य गणराज्य वालों को रूसी का अनिवार्य अध्ययन करने के कारण दो और कभी-कभी तीन भाषाओं का अनिवार्य अध्ययन करना पड़ता है। अनेक पढ़े-लिखे परिवारों में हमारे यहाँ भी पति महोदय को जीविकोपार्जन के लिए दो-दो या तीन-तीन भाषाओं को सीखना पड़ता है किन्तु अर्द्धांगिनी कहलाने वाली पत्नियों को केवल एक भाषा की ही आवश्यकता पड़ती है। पति महोदय उन्हें समान भार के लिए विवश करते हुए कहीं नहीं देखे गये। विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्तों की सीमा-सन्धि के पास रहने वाले लोगों को तो कम से कम दो और कभी-कभी तीन-तीन भाषाओं को सीखने का भार ढोना ही पड़ता है। किन्तु प्रान्त के मध्य में बसने वालों पर केवल एक ही भाषा का बोझ पड़ता है, यथा—मैसूर प्रान्त की सीमा पर बसे बहुत-से नागरिकों को कन्नड़ के अतिरिक्त मलयाळम्, तमिळ या तेलुगु, सीखनी पड़ती है क्यों कि पड़ोसी प्रान्त की भाषा सीखे बिना उन का काम चल ही नहीं सकता। बहुभाषा-भाषी देश भारत की स्थिति भी साम्यवादी रूस के समान ही है। साम्यवादी देश होते हुए भी रूस में सब नागरिकों पर भाषा का समान भार नहीं है किन्तु भारत में अवश्य सब पर समान भार होना ही चाहिए, किन्तु त्रिभाषा सूत्र में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह सभी नागरिकों पर भाषा का समान भार ही पड़ने दे। भाषा के मामले में ही समान भार की बात करना तथा औद्योगिक-प्रगति, शिक्षा-विकास, अर्थ-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में केवल 'मैं' पर ही बल देना न्याय-संगत नहीं है। ऐसी स्थिति में भाषा के समान भार की दलील राष्ट्र-भाषा तथा राजभाषा के प्रति कुचक्रपूर्ण योजना तथा अँगरेज़ी के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण की ही द्योतक है।

समस्या का सुलझाव प्रस्तुत करने से पूर्व यहाँ पं० जवाहरलाल नेहरू के उस भाषण का अंश उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा जो उन्होंने मई, १९६३ ई० को राज्यसभा में दिया था, क्योंकि पं० नेहरू के नाम की दुहाई दे-दे कर बहुतेरे अवसरवादी

नेता अपनी चालबाज़ियों का जाल बिछा कर स्वतन्त्र भारत में सदैव के लिए अँगरेज़ी को ही राजभाषा के पद पर आसीन बनाये रखना चाहते हैं। पं० नेहरू का कथन था : 'अँगरेज़ों की छत्रछाया से १९ वीं शताब्दी में हमारे देश में अँगरेज़ी जानने वालों की एक नयी जाति पैदा हुई थी। इस जाति ने देश के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन में निहित स्वार्थी बन कर भारत को हानि पहुँचायी। मैं भी कुछ हद तक इस बुराई का शिकार रहा। मेरा दृढ़ मत है कि अँगरेज़ी के प्रति लोगों का मनोवैज्ञानिक लगाव अब खत्म होना चाहिए, जिस से लोगों के चरित्र पर इस का बुरा प्रभाव न पड़े।" हिन्दी मातृ-भाषा-भाषी होने के नाते ही मैं इस मत का समर्थक नहीं हूँ कि स्वतन्त्र भारत में हिन्दी को राष्ट्रभाषा (सम्पर्क भाषा) तथा राज-भाषा का पद दिया जाये, वरन् वस्तु-स्थिति यह है कि हिन्दी देश के बहुसंख्यक समाज की भाषा है। जिन प्रान्तों की यह प्रान्तीय भाषा भी नहीं है उन में से अनेक में इसे बोलने तथा समझने वाले लोगों की संख्या भी काफ़ी है। स्वतन्त्र राष्ट्र की राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा की अधिकारिणी कोई स्वदेशी भाषा ही हो सकती है, अतः वह पद हिन्दी को ही दिया जा सकता है, हिन्दी के साहित्यिक भण्डार या हिन्दी भाषा के सरल ढाँचे के कारण नहीं। महात्मा गान्धी ने अनेक बार हिन्दी को ही सम्पर्क भाषा बनाने के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया था। एक बार उन्होंने कहा था : "यदि स्वराज्य अँगरेज़ी पढ़े भारतवासियों का है और केवल उन के लिए है, तो सम्पर्क भाषा अवश्य अँगरेज़ी होगी। यदि वह करोड़ों भूखे लोगों, करोड़ों निरक्षर लोगों, निरक्षर स्त्रियों, सताये हुए अछूतों के लिए है तो सम्पर्क भाषा केवल हिन्दी हो सकती है।" कवीन्द्र रवीन्द्र ने अँगरेज़ी माध्यम को शिक्षा-प्रणाली की बड़ी कमज़ोरी बताया था। "इस प्रणाली ने अँगरेज़ी का भाषण सिखा कर 'गूँगे विवेक का पत्थर' हमारे गले बाँध दिया और दयनीय अछूतों की तरह हमें संस्कृत के महोत्सवों से बाहर निकाल दिया जिस से हम उन के सुनहले रंगों, उमंगों और मधुर गीतों से दूर रहें।" महात्मा जी ने मातृभाषा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा था, "अपनी माँ के वक्ष की तरह ही मैं अपनी मातृभाषा का आलिंगन करूँगा, चाहे उस में कितनी भी कमियाँ क्यों न हों। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मुझे विश्वास है कि जिस देश के बच्चे अपनी मातृभाषा के अलावा किसी दूसरी भाषा के माध्यम से शिक्षा पाते हैं उन के लिए वह आत्महत्या के समान है। वह उस की मौलिक प्रतिभा को छीन लेती है, उन का विकास अवरुद्ध कर देती है और वे अपने घर में बेगाने हो जाते हैं। इस लिए मैं इसे सब से बड़ी दुर्घटना मानता हूँ। किसी भी क़ीमत पर शिक्षा के माध्यम को फ़ौरन बदल देना चाहिए और प्रान्तीय भाषाओं को उन का उचित स्थान मिलना चाहिए। प्रतिदिन बढ़ती हुई इस घातक बरबादी की अपेक्षा तो मैं उच्च शिक्षा में अल्पकालीन अराजकता को पसन्द

करूँगा।"

शिक्षित वर्ग की चेतना, छात्रों की ओर से समय-समय पर उठायी गयी माँग तथा परिस्थितियों के प्रभाव के फलस्वरूप भारत के कुछ विश्वविद्यालयों ने क्षेत्रीय भाषा में शिक्षा देने की स्वीकृति दे भी दी है। शिक्षा-मन्त्रालय की सूचनाओं के अनुसार ३५ विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषाओं को परीक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है। १५ विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषा को अपनाने वाले विद्यार्थियों का अनुपात ९० प्रतिशत या इस से अधिक है। १७ विश्वविद्यालयों में क्षेत्रीय भाषाएँ स्नातकोत्तर शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं। किन्तु भारत के प्राचीन विश्वविद्यालय (कलकत्ता, मद्रास, बम्बई,) तथा उन का अनुकरण करने वाले कुछ नये स्थापित विश्वविद्यालय (केरल, मदुरई आदि) अभी तक अँगरेजी को ही शिक्षा का एकमात्र माध्यम बनाये रखने पर डटे हुए हैं। सम्भव है निकट भविष्य में छात्रों की ओर से उठने वाली माँग और परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण इन के अधिकारियों को अपनी धारणा बदलने के लिए विवश होना पड़े।

भाषा के सम्बन्ध में भारत में एक रस्साकसी और देखने को मिलती है, वह यह है कि एक ओर तो सच्चे राष्ट्र-प्रेमी नेता लोग तथा बुद्धिजीवी वर्ग के कुछ लोग क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में मान्यता तथा व्यावहारिकता प्रदान कर ने की माँग कर रहे हैं किन्तु दूसरी ओर गत २० वर्षों में इस के प्रतिकूल जिस प्रवृत्ति का उदय तथा विकास हुआ है वह है स्वतन्त्र भारत में भारत का सरकार-द्वारा अँगरेज़ी माध्यम के स्कूलों को मान्यता देना तथा उन्हें आर्थिक दृष्टि से असाधारण प्रोत्साहन दिया जाना। अँगरेज़ी शासन काल में तो समाज के उच्च वर्ग के लोग ही इन स्कूलों में अपने बच्चों को भेजते थे किन्तु अब तो व्यापारी वर्ग, मध्यम वर्ग तथा कहीं-कहीं तो आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के लोग भी इन स्कूलों में अपने बच्चों को भेज रहे हैं। अतः प्रति वर्ष ऐसे स्कूलों की संख्या में असाधारण अनुपात में वृद्धि हो रही है और सरकार पर काफ़ी आर्थिक बोझ बढ़ता जा रहा है। स्थिति तो यहाँ तक दयनीय बन चुकी है कि लोग इन स्कूलों का खर्च वहन कर ने में असमर्थ होने पर भी किसी-न-किसी प्रकार व्यवस्था कर ने का मार्ग ढूँढ़ निकालने का प्रयास करने में अपनी शक्ति खर्च करते हैं, चाहे नैतिक पतन ही क्यों न हो। मुझे एक ऐसे सिटी बस कण्डक्टर को देखने का अवसर मिला जो अपने दो पुत्रों को कानवेण्ट स्कूल भेजता था। खर्च की पूर्ति के लिए उस ने ये रास्ते निकाल रखे थे—कचहरी को जाने वाले ग्रामीणों से कचहरी आने से कुछ पूर्व ही पैसे ले लेना और टिकिट न देना; १२पैसे, २२ पैसे की टिकिटों के लिए दिये गये १५ पैसों, २५ पैसों के सिक्कों में से प्रायः शेष ३ पैसे न लौटाना। छोटे-छोटे सिक्कों को पैण्ट की जेब में डालते जाना और थैली में पड़े बड़े-बड़े सिक्कों को दिखाते हुए कहते कि छोटे सिक्कों का अभाव है; अपि भविष्य में छोटे

सिक्के ले कर चलने की कृपा किया करें अन्यथा हम कण्डक्टरों को बड़ी असुविधा रहती है। बकरे की माँ कब तक सिन्नी बाँटती; एक दिन एक चरित्र-निष्ठ अधिकारी की पकड़ में वह आ ही गया और तत्क्षण ही उस से चार्ज ले लिया गया। भविष्य में उस की नौकरी तथा उस के पुत्रों की कानवेण्ट की पढ़ाई का क्या हुआ, मुझे ज्ञात नहीं। अँगरेज़ी प्रेम की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रमुख कारण ये हैं—अखिल भारतीय स्तर की इण्डियन स्कूल ऑव टेकनॉलॉजी-जैसी संस्थाओं में प्रवेश पाने पर अँगरेज़ी माध्यम से पढ़े-लिखे छात्रों को छात्रवृत्ति मिलने की अधिक सम्भावना तथा उच्च सरकारी नौकरियों में ऐसे विद्यार्थियों का ही असाधारण प्रतिनिधित्व होना। इस के अतिरिक्त बहुत-से विश्वविद्यालयों विशेषकर प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों ने अभी तक शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी ही बना रखा है। उच्च शिक्षा-प्राप्ति में अधिक लाभान्वित होने की आशा से अभिभावकगण अपने बच्चों को अँगरेज़ी माध्यम के स्कूलों में भेजते हैं। अँगरेज़ी स्कूल में बच्चे को पढ़ाने में भी माँ-बाप गौरव तथा शान की बात भी समझते हैं। इस प्रकार समाज में एक ऐसा नया उच्च वर्ग उदय हो रहा है जिस के गौरव-मान का प्रतीक अँगरेज़ी है। यह नया वर्ग समाज के भूखे, निर्धन तथा अशिक्षित जनों के हितों की ओर से आँखें बन्द किये हुए है तथा केवल निजी हितों की रक्षा करना ही इस का एकमात्र ध्येय, लक्ष्य है। इस नवीन स्व-हितवादी वर्ग को अँगरेज़ी प्रेस से भी पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त हो रहा है। अँगरेज़ी माध्यम से शिक्षा देने वाले प्रतिवर्ष नये-नये स्कूलों के उदय को रोक पाने में सरकार भी असमर्थ-सी बन गयी।

स्वतन्त्र राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को अपनी योग्यतानुसार जीविकोपार्जन का अधिकार होता है। भाषा-समस्या या अन्य किसी समस्या का हल ढूँढ़ते समय सरकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं उस के द्वारा कुछ नागरिकों पर कोई ऐसा भार तो नहीं डाला जा रहा है जो उन की कार्य-क्षमता के विकास में बाधक बने। सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने इस मत की पुष्टि की है कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी किसी भी स्तर की शिक्षा व्यावहारिक क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ, उपयोगी सिद्ध होती है। भाषा-अध्ययन को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है—१. साहित्यिक-अध्ययन : जब कि भाषा का अध्ययन साध्य होता है। २. उपयोगी साहित्य में प्रयुक्त भाषा का अध्ययन : जब कि भाषा का अध्ययन साध्य न हो कर साधन मात्र होता है। विभिन्न विषयों के अध्ययन के लिए प्रयुक्त होने वाली भाषा तथा साहित्य-अध्ययन में प्रयुक्त होने वाली भाषा में अन्तर होता है। जनसाधारण के जीवन में भाषा के साहित्यिक रूप की कोई विशेष उपयोगिता नहीं होती, उस के लिए तो भाषा के व्यावहारिक रूप की ही आवश्यकता तथा महत्ता है। भाषाध्ययन ही क्या प्रत्येक विषय के अध्ययन का स्वरूप आज भी अँगरेज़ों के सुझाये हुए मार्ग का ही अन्धानुकरण है। हमें अपनी

परिस्थिति के अनुरूप अपनी शिक्षा-प्रणाली के ढाँचे को परिवर्तित करना ही चाहिए, नहीं तो 'स्वतन्त्र भारत' के आगे से 'स्वतन्त्र' शब्द के छिन जाने का भय है।

शिक्षा-प्रणाली में जो भी सुधारवादी तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन किये जायें, उन्हें व्यवहार में लाने से पूर्व हमें इस समस्या पर भी गहराई से विचार कर लेना चाहिए कि हम जो कुछ करने जा रहे हैं उन से किन लोगों पर कैसा प्रभाव पड़ सकेगा। कोई भी व्यक्ति दृढ़तापूर्वक यह कहने का अधिकारी नहीं है कि भावी भारत में करोड़ों लोग अनेक छोटे-छोटे घरेलू उद्योग-धन्धे, खेती-बाड़ी, छोटी-मोटी दुकान, व्यापार, घरेलू या अन्य छोटी-बड़ी नौकरी कर के, ताँगे-रिक्शे, इक्के-गाड़ियाँ आदि चला कर अपना जीवन-यापन नहीं करेंगे? इस वर्ग के करोड़ों लोगों को निश्चय ही किसी उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं है और न होगी। इस के साथ ही करोड़ों ग्रामीण तथा लाखों शहरी ऐसी लड़कियाँ भी हैं जिन्हें कक्षा आठ या अधिक से अधिक दस-बारह तक की शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी केवल चूल्हा ही फूँकना पड़ेगा। इन करोड़ों भारतवासियों को अपने सीमित प्रान्तीय क्षेत्र में ही इधर-उधर आने-जाने का कभी-कभी काम पड़ता है। एक भाषा-भाषी क्षेत्र से दूसरे या तीसरे भाषा-क्षेत्र में आने-जाने का काम अधिकतर बड़े-बड़े व्यापारियों, केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों या अर्धसरकारी नौकरों को ही पड़ता है। इस वर्ग से इतर जनसाधारण को तो अपने दैनिक व्यावहारिक ज्ञान की गहरी तथा विस्तृत शिक्षा प्राप्त करने में ही अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकेगा। इस वर्ग के करोड़ों भारतीय भावी नागरिकों को केन्द्रीय, प्रान्तीय सरकारी या अर्ध-सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने वाले कुछ लाख लोगों की इच्छाओं का दास बनाना या उन का पिछलग्गू बनाना अन्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सभी नागरिकों पर दो-दो या तीन-तीन भाषाओं के अनिवार्य अध्ययन का बोझ डालना राष्ट्रीय जन-शक्ति को व्यर्थ ही नष्ट करना है। जिस प्रकार कुछ अहिन्दी क्षेत्रों के इस वर्ग के नागरिक हिन्दी या अँगरेज़ी का अनिवार्य अध्ययन करने के पश्चात् भी अपने व्यावहारिक जीवन में उस का कोई विशेष उपयोग नहीं कर पाते, उसी प्रकार हिन्दी-भाषी क्षेत्र में भी इस वर्ग के नागरिक अँगरेज़ी, तमिल, बंगला या कश्मीरी आदि प्रान्तीय भाषाओं का अनिवार्य अध्ययन कर के अपने दैनिक जीवन में कोई विशेष उपयोग कर सकेंगे, सोचना ही अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करना है। भाषा व्यवहार की वस्तु है। सीखी हुई किसी भी भाषा का, चाहे वह मातृ-भाषा ही क्यों न हो, जब हम दैनिक जीवन में प्रयोग करना बन्द कर देंगे, वह हम से दूर और दूर होती जायेगी। इस सत्य को ध्यान में रखते हुए हमारे राष्ट्र की शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो—१. सभी नागरिकों को उन की मानसिक तथा शारीरिक योग्यतानुसार अपनी कार्यक्षमता का विकास करने का समान अवसर प्रदान करे; २. किसी भी शिक्षार्थी पर पाठ्यक्रम का

अवांछित तथा अतिरिक्त भार न पड़; ३. राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा एकता को किसी प्रकार की ठेस न लगे; ४. शिक्षा के आरम्भ के दिन से ले कर उच्चतम शिक्षा के अन्त तक की जंजीर की कड़ियाँ आपस में सुग्रथित रहें; ५. राष्ट्र को अधिक से अधिक शक्तिवान् बनाने की दिशा में शिक्षा का योगदान हो :

यदि देश का बुद्धिजीवी वर्ग यह चाहता है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति हो, लोगों में मौलिक चिन्तन तथा रचनात्मक शक्ति का विकास हो, जनसाधारण में ज्ञान का प्रसार हो, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिले तथा शिक्षित वर्ग और जनसाधारण के मध्य की खाई पट जाये तो उसे शिक्षा के माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं को स्वीकार करने के लिए विश्वविद्यालयों के अधिकारी वर्ग को येन-केन प्रकारेण विवश करना ही होगा। सम्भव है कि निकट भविष्य में छात्रों की ओर से भी इस सम्बन्ध में ज़ोरों से आवाज़ उठायी जाये, अतः भला इसी में है कि समय रहते हुए सभी विश्वविद्यालय क्षेत्रीय भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लें। क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के विरुद्ध यह आपत्ति करना कि ऐसा होने पर देश का बौद्धिक जीवन बिखर जायेगा तथा राष्ट्र टुकड़ों में विभक्त हो जायेगा, निराधार है क्योंकि अखिल भारतीय स्तर के तथा केन्द्र-द्वारा संचालित होने वाले संस्थानों में शिक्षा का माध्यम राष्ट्र-भाषा हिन्दी रखने से बौद्धिक जीवन के बिखरने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उच्च शिक्षा के ऐसे अखिल भारतीय संस्थानों में प्रवेश के समय सभी भाषा-भाषियों के हितों की रक्षा का ध्यान रखना आवश्यक होगा। प्रवेश के समय ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विशिष्ट स्तर को आधार बनाया जा सकता है। हिन्दी के ज्ञान-मात्र को प्रमुखता नहीं दी जायेगी। ये संस्थान क्षेत्रीय भाषाओं में उच्च शिक्षा देने वाली अन्य संस्थाओं के साथ अपना सहयोग भी बनाये रखेंगे तथा राष्ट्र के बौद्धिक जीवन को भी एक सूत्र में पिरोये रख सकेंगे। शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ हो जाने पर एक ही भाषा-भाषी क्षेत्र के बौद्धिक वर्ग तथा जन-सामान्य के मध्य स्वतः ही एकता स्थापित हो जायेगी और विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के बौद्धिक वर्गों की एकता सम्पर्क भाषा हिन्दी तथा कुछ परिस्थितियों में अँगरेज़ी के सहयोग से बनी ही रहेगी।

भावी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति के आदर्शों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए— १. सुगठित पाठ्यक्रम, २. समुचित पुस्तकों तथा ३. सुशिक्षित प्राध्यापकों की आवश्यकता है। राष्ट्रीय एकता, भारतीय संस्कृति की सुरक्षा तथा भावी भारत की बिना किसी क्षेत्रीय पक्षपात के, सामूहिक उन्नति के लिए यह अत्यावश्यक है कि शिक्षा का मूलाधार अखिल भारतीय स्तर पर हो न कि प्रान्तीय सरकारें शिक्षा के नाम पर मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र हों। परिवेश-विशेष में ऐच्छिक विषयों के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों को छूट दी जा सकती है, शिक्षा-नीति का निर्धा-

रण केन्द्रीय सरकार का ही अधिकार और कर्तव्य होना चाहिए। इन सिद्धान्तों तथा नीतियों को स्वीकार कर के भारत की भाषा समस्या का सर्वमान्य हल प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है। यह केवल मूल हल का आधार तथा एक रूपरेखा है ,जिसे विस्तार तथा परिवर्धित और परिस्थिति-विशेष में परिवर्तित करने का काम केन्द्रीय सरकार के शिक्षाधिकारियों का है। समस्या के हल की मान्यताओं, नीतियों तथा आदर्शों में परिवर्तन की अधिक गुंजाइश नहीं है।

पहले-पहल अखिल भारतीय स्तर पर मूलाधार पाठ्यक्रम की रूपरेखा बनायी जाये। पाठ्यक्रम के अनुसार ही आवश्यक पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्य पुस्तकों की रचना की जाये और उस पाठ्यक्रम के अनुरूप ही आवश्यक अध्यापकों की नियुक्ति की जाये। यहाँ हम तीनों विशिष्ट 'प' या 'प^3' (पाठ्यक्रम, पुस्तकें, प्राध्यापक) को एक-एक कर के विश्लेषित करने का प्रयास करेंगे। पाठ्यक्रम की रूपरेखा निर्माण करने के पूर्व शिक्षाविदों को यह ध्यान रखना होगा कि यह पाठ्यक्रम किन लोगों के लिए बनाया जा रहा है ? क्या यह पाठ्यक्रम वास्तव में शिक्षार्थी के जीवन के लिए उपयोगी है या मात्र 'कुछ-न-कुछ पढ़ना ही चाहिए' की खाना-पूरी करने वाला है ? विशिष्ट पाठ्यक्रम का 'जीवनोपार्जन' की समस्या को सुलझाने के लक्ष्य में कहाँ तक उपयोग किया जा सकेगा, प्रधान दृष्टिकोण रहना चाहिए। यह तो दर्पण की भाँति स्पष्ट है कि कुछ शिक्षार्थी प्रान्तीय या केन्द्रीय सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी नौकरियाँ पाने के उद्देश्य से ही शिक्षा प्राप्त करेंगे, तथा जनसंख्या का अधिकांश भाग इन नौकरियों के अतिरिक्त अन्य साधनों से जीविकोपार्जन करने के ध्येय से ही शिक्षालय में प्रवेश लेगा। न तो यह सम्भव ही है कि सभी शिक्षार्थी नौकरियाँ ही प्राप्त कर लें और न जीविकोपार्जन के अन्य साधनों का अन्त ही हो सकेगा। नौकरी करने वालों तथा कृषि-व्यापार आदि करने वाले सभी शिक्षार्थियों का प्रथम ध्येय जीविकोपार्जन होगा ही, चाहे बाद में उस में ज्ञानार्जन का ध्येय भी सम्मिलित क्यों न हो जाये, किन्तु जीविकोपार्जन के साधन सब के भिन्न-भिन्न होना स्वतः सिद्ध है ही, अतः इन की शिक्षा के पाठ्यक्रम के विषय स्वभावतः भिन्न-भिन्न होने ही चाहिए, यह न हो कि आगे चल कर अध्यापक बनने वाला, या रेल का ड्राइवर बनने वाला, या खेत में काम करने वाला अथवा एजेण्ट बनने वाला छात्र अनिवार्य रूप से उन सभी विषयों को पढ़े जिन की उस के भावी जीवन में कोई उपयोगिता नहीं है। पाठ्यक्रम को इतना लचीला बनाना होगा कि एक ही कक्षा के दो विभिन्न मार्ग अपनाने वाले छात्रों में से किसी पर भी अनिवार्य तथा वैकल्पिक विषयों की संख्या में अन्तर न हो, चाहे वे छात्र किसी भी ज्ञान-शाखा या किसी भी प्रान्त से सम्बन्ध क्यों न रखते हों। इस के साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि भविष्य में प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार की

काम-काज की भाषा तथा आपस में पत्र-व्यवहार की भाषा और उन में नौकरी पाने वाले लोगों की परीक्षा का माध्यम कौन-सी भाषा होगी ? निश्चय ही प्रान्तीय सरकारों के काम-काज की भाषा का पद प्रान्तीय भाषा को ही दिया जाना चाहिए। अतः प्रान्तीय सरकारी नौकरी पाने वालों को प्रान्तीय भाषा में ही आवश्यक परीक्षा देनी होगी। केन्द्र के राज-काज की भाषा हिन्दी होगी। अखिल भारतीय नौकरियों में स्थान पाने के लिए हिन्दी-भाषी छात्र को उसी प्रकार एक प्रान्तीय भाषा का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होगा जिस प्रकार अहिन्दी-भाषी छात्र को हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करना। केन्द्रीय परीक्षाओं का माध्यम हिन्दी के साथ-साथ सभी प्रादेशिक भाषाएँ भी रहेंगी। कुछ परचे हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं में अनिवार्य रहें तथा कुछ के लिए भाषा का विकल्प रहे। केन्द्रीय सरकार के पास एक अनुवाद विभाग रहना चाहिए जो प्रान्तों से प्रान्तीय भाषाओं में आने वाले पत्रों आदि का हिन्दी रूपान्तर करे तथा प्रान्तों को भेजे जाने वाले मूल हिन्दी पत्र के साथ उस का प्रान्तीय भाषा में अनुवाद संलग्न करे। प्रान्तीय सरकारों के पास भी अपना एक छोटा-सा अनुवाद विभाग होगा जो विभिन्न प्रान्तों से आने वाले पत्रों का अपनी प्रान्तीय भाषा में अनुवाद प्रस्तुत कर के सम्बन्धित कार्यालय को भेज सकेगा। लोक-सभा, राज्य-सभा में सभी भाषाएँ चलेंगी, अनुवाद की व्यवस्था सभा करेगी। लोक-सभा, राज्य-सभा की अत्यावश्यक कार्यवाहियाँ हिन्दी के अतिरिक्त सभी प्रान्तीय भाषाओं में उसी प्रकार प्रकाशित होनी चाहिए जिस प्रकार अन्य क़ानून या अन्य मसौदे या निर्णय आदि। यद्यपि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को अनुवाद विभाग की व्यवस्था करने में कुछ आर्थिक कठिनाई की शिकायत हो सकती है किन्तु राष्ट्रीय एकता लाने, बेरोज़गारी दूर करने तथा भविष्य में राष्ट्रीय सम्पत्ति को क्षतिग्रस्त होने से बचाने के लिए यह अर्थ-व्यवस्था कोई अधिक बड़ा बलिदान नहीं होगा। जितना खर्च आज के मन्त्रियों आदि के लिए विभिन्न मदों पर किया जाता है, उस की तुलना में यह अधिक न होगा, और फिर इस से जनता को तो राहत मिलेगी ही, राष्ट्र को भी बहुत-कुछ लाभ होगा।

भारतीय भाषा समस्या से सम्बन्धित इन सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए बिना किसी भेद-भाव के सब समान भार डालने वाले अखिल भारतीय आधार-भूत पाठ्यक्रम की एक सामान्य संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है। इस पाठ्यक्रम के अनुसार प्रत्येक स्तर पर शिक्षा का माध्यम मातृभाषा (प्रत्येक प्रान्त की अपनी प्रान्तीय भाषा) ही रहेगी।

कक्षा १–२. अनिवार्य विषय : मातृभाषा, गणित, समाजशास्त्र, विज्ञान, शारीरिक—नैतिक शिक्षा।

ऐच्छिक विषय : कृषि, गृहविज्ञान (लड़कियों के लिए), कला, हस्त-कला। (केवल २ विषय)।

कक्षा ३–४. अनिवार्य विषय : मातृभाषा, गणित, समाजशास्त्र, विज्ञान, शारीरिक—नैतिक शिक्षा।

ऐच्छिक विषय : कृषि, गृहविज्ञान (लड़कियों के लिए), कला, हस्तकला। (केवल २ विषय)।

कक्षा ५–६. अनिवार्य विषय : मातृभाषा, गणित, समाजशास्त्र, विज्ञान, शारीरिक—नैतिक शिक्षा।

ऐच्छिक विषय : कृषि, गृहविज्ञान (लड़कियों के लिए), कला, हस्तकला, हिन्दी (अहिन्दी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (हिन्दी-भाषी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (मातृभाषा से इतर), अतिरिक्त भाषा (अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी आदि)—(केवल ३ विषय)।

कक्षा ७–८. अनिवार्य विषय : मातृभाषा, गणित, समाज शास्त्र, शारीरिक–नैतिक शिक्षा।

ऐक्षिक विषय : कला, हस्तकला, व्यापार-प्रणाली, क्षेत्रीय उद्योग, गृहविज्ञान (लड़कियों के लिए), कृषि, विज्ञान, हिन्दी (अहिन्दी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (हिन्दी-भाषी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (मातृभाषा से इतर), अतिरिक्त भाषा (अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी आदि)—(केवल ४ विषय)।

कक्षा ९–१०. अनिवार्य विषय : मातृभाषा, शारीरिक-नैतिक शिक्षा।

ऐच्छिक विषय : गणित, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र, कला, हस्तकला, व्यापार प्रणाली, क्षेत्रीय उद्योग, गृहविज्ञान (लड़कियों के लिए), कृषि, विज्ञान, हिन्दी (अहिन्दी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (हिन्दी-भाषी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (मातृभाषा से इतर), अतिरिक्त भाषा (अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी आदि), कोई अन्य विषय।—(केवल ५ विषय)।

कक्षा ११–१२. अनिवार्य विषय—कोई एक व्यावहारिक भाषा।

ऐच्छिक विषय : गणित, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र, कला, हस्तकला, व्यापार प्रणाली, दर्शन, शिक्षाशास्त्र, क्षेत्रीय उद्योग, गृहविज्ञान (लड़कियों के लिए), कृषि, विज्ञान, हिन्दी (अहिन्दी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (हिन्दी-भाषी प्रान्तों के लिए), प्रादेशिक भाषा (मातृभाषा से इतर), अतिरिक्त भाषा (अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी आदि), शारीरिक शिक्षा—नैतिक शिक्षा, कोई अन्य विषय। (केवल ४ विषय)

ऐच्छिक विषयों को मातृभाषा से इतर भाषा में व्यक्त करने की योग्यता के लिए भाषा के व्यावहारिक रूप का ज्ञान आवश्यक है न कि उस के साहित्यिक रूप का। अहिन्दी प्रान्तों में व्यावहारिक भाषा हिन्दी या कोई एक अतिरिक्त या प्रादेशिक भाषा (मातृ-

भाषा से इतर) होगी तथा हिन्दी प्रान्तों में व्यावहारिक भाषा कोई एक प्रादेशिक भाषा या अतिरिक्त भाषा होगी) ।

कक्षा १३–१४. अनिवार्य विषय : कोई एक व्यावहारिक भाषा । ऐच्छिक विषय : (केवल ३) ।

(व्यावहारिक भाषा में एक या दो लिखित प्रश्न पत्रों के अतिरिक्त मौखिक परीक्षा भी होगी) ।

कक्षा १५–१६. अनिवार्य विषय : कोई एक व्यावहारिक भाषा । ऐच्छिक विषय– (केवल १ विषय) ।

(साहित्य विषय लेने वाले छात्र की व्यावहारिक भाषा ऐच्छिक विषय की भाषा से भिन्न होगी) ।

केन्द्रीय-विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी रहेगी । प्रशिक्षण विद्यालयों तथा व्यावसायिक विद्यालयों के लिए भी पाठ्य-क्रम की रूपरेखा इसी आधार पर बनायी जा सकती है । कोई एक व्यावहारिक भाषा सब के लिए अनिवार्य रहेगी । पाठ्यक्रम का यह ऐसा स्वरूप है जिस में भारत के किसी प्रान्त के किसी एक कक्षा के विद्यार्थी को अन्य प्रान्त के उसी कक्षा के विद्यार्थी की तुलना में अपने ऊपर पाठ्यक्रम के अतिरिक्त भार अनुभव करने का अवसर ही नहीं मिलेगा, साथ ही सारे राष्ट्र का शैक्षणिक जगत् एक ही इकाई के रूप में सुगठित हो जायेगा । शैक्षणिक स्तर में भी अधिक से अधिक साम्य रखने में सहायता मिलेगी । आज का बँटा हुआ शिक्षा-जगत् अधिक से अधिक निकट आ सकेगा ।

पाठ्यक्रम का स्वरूप निश्चित हो जाने के पश्चात् समुचित पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण का प्रश्न उपस्थित होता है । इस प्रश्न का सुलझाव थोड़ा धैर्य रखते हुए करना होगा । माना कि इस पाठ्यक्रम को सारे देश में जून-जुलाई १९७२ ई० से आरम्भ करना है, आरम्भ में इसे कक्षा ११-१२ तक ही लागू किया जायेगा । इन ३-४ वर्षों में ११-१२ तक के लिए आवश्यक पुस्तकों को तैयार कराने का काम केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों का होगा, जो योग्य, तथा अनुभवी प्राध्यापकों को इस कार्य के लिए नियुक्त कर के निश्चित अवधि में ही वांछित पुस्तकों का निर्माण करा कर प्रकाशित भी करायेंगी । इस के बाद ही यह पाठ्य-क्रम जून-जुलाई १९७४ ई० से कक्षा १३-१४ में लागू किया जाना चाहिए । इन छह वर्षों में इन कक्षाओं के लिए आवश्यक पुस्तकों का निर्माण किया जाना बहुत बड़ा बोझ न होगा । जून-जुलाई १९७६ ई० में ही यह पाठ्यक्रम कक्षा १५-१६ में लागू किया जायेगा । केन्द्र प्रान्त की सरकारों के सतत परिश्रम से इन आठ वर्षों में सभी वांछनीय पुस्तकों का निर्माण हो जाना असाध्य कार्य नहीं है, आवश्यकता है केवल दृढ़ मनोबल की और गन्दी राजनीति के पचड़े से दूर रहने की । 'जहाँ चाह तहाँ राह है' । प्रशिक्षण देने वाले या व्यावसायिक विद्यालयों में भी इसी प्रकार पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया जा सकेगा । किनारे पर बैठे-बैठे तो आज तक कोई नदी पार कर नहीं सका है । जिस

प्रकार उस के लिए नदी में घुसना या नाव आदि का सहारा लेना पड़ता है, उसी प्रकार भारतीय-भाषा समस्या को सुलझाने के लिए कमर कस कर, त्यागपूर्ण वृत्ति अपनानी ही पड़ेगी। क्षेत्रीय भाषाओं या हिन्दी की अपरिपक्वता का राग अलापने मात्र से तो भाषाओं में प्रौढ़ता न कभी आयी है और न कभी आ सकती है

पा[illegible] म तथा पाठ्य-पुस्तकों की समस्या को हल [illegible] लेने के बाद ही प्राध्यापकों की समस्या पर विचार किया जाना चाहिए। जब हम पाठ्यक्रम को शनैः-शनैः लागू करेंगे तो मातृभाषा के माध्यम से अध्यापन का कार्य कर सकने वाले अध्यापकों की कभी भी कोई कमी खटकने वाली बात ही नहीं हो सकेगी। कोई कारण नहीं कि स्नातकोत्तर कक्षाओं को पढ़ाने वाले प्राध्यापक ५-६ वर्ष की अवधि में भी अपने को मातृभाषा के माध्यम से व्यक्त करने के योग्य न बना सकें। हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात यह अवश्य ध्यान देने की है कि इस पाठ्यक्रम का सब से अधिक व्यावहारिक बोझ हिन्दी-भाषी राज्यों पर पड़ेगा। केन्द्रीय सेवाओं में किसी एक प्रान्तीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य होने से उन के समक्ष असमिया, उड़िया, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिळ, तेळुगु, पंजाबी, बंगला, मलयाळम, मराठी, सिन्धी में से एक को चुनने का विकल्प होगा। वे किस एक भाषा को अपनायें और किस को छोड़ें, एक समस्या बन जाती है। सभी प्रान्तीय भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा को पढ़ने की वकालत करते हैं, भाँति-भाँति के तर्क प्रस्तुत करने में सम्भवतः अच्छे-अच्छे तर्कशास्त्री को भी मात दे सकते हैं। यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि यदि सच्चे मन से समस्या का हल निकालना ही है तो हल निकालना कोई अति कठिनाई की बात नहीं है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में इस समस्या का हल शासकीय स्तर पर निकाला जाना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी एक ज़िले के सभी उच्च विद्यालयों—जिन में कक्षा ५,६,७,८ की पढ़ाई होगी तथा सभी उच्चतर विद्यालयों—जिन में कक्षा ९, १०, ११, १२ की पढ़ाई होगी, में केवल एक या दो ही प्रादेशिक भाषाएँ अपनायी जायें, जिस से एक विद्यालय के विद्यार्थी को आवश्यकता पड़ने पर उसी ज़िले के किसी दूसरे विद्यालय में प्रवेश के समय अधिक असुविधा न हो। ऐसा करने से प्रादेशिक भाषा-अध्यापक को किसी एक विद्यालय से दूसरे विद्यालय में जाने में असुविधा न होगी। प्रत्येक ज़िले में पाठ्यक्रम को आरम्भ करने से पूर्व ही २-३ वर्षों के अन्दर दो-दो या तीन-तीन प्रशिक्षण विद्यालय खोल कर भाषा-अध्यापकों को प्रान्तीय भाषाओं की ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो साहित्यिक पक्ष पर अधिक ज़ोर न दे कर उस के व्यावहारिक पक्ष पर ही अधिक ज़ोर देने वाली हो। प्रान्तीय भाषा का शिक्षण देने के लिए आरम्भ में विभिन्न प्रान्तीय भाषा-भाषियों का सहयोग प्राप्त करना अति आवश्यक होगा। प्रान्तीय भाषा-अध्यापक को आरम्भ में कुछ विशेष सुविधाएँ

भी दी जानी चाहिए ताकि भविष्य में वह अपना भाषायी ज्ञान बढ़ा सके।

इस के साथ ही भारतीय एकता को बढ़ावा देने के लिए यह भी आवश्यक है कि विद्यालयों के नामों में से साम्प्रदायिक अंशों को हटा दिया जाये। ४-४ कक्षाओं वाले प्राथमिक, उच्च, उच्चतर तथा महाविद्यालयों के नाम नगर-विशेष के नाम से युक्त रहें। एक ही प्रकार के कई विद्यालय होने पर उन को १, २, ३ आदि संख्या से युक्त किया जा सकता है। समान स्तरीय अध्यापकों के वेतनमान में तो समानता रहे किन्तु प्रान्त-विशेष की मँहगाई के आधार पर मँहगाई में अन्तर भी हो सकता है। परीक्षा-प्रणाली में तो आमूल-चूल परिवर्तन करने की परमावश्यकता है। परीक्षा-प्रणाली रटने वाली प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने वाली होनी चाहिए। केन्द्रीय-हिन्दी निदेशालय तथा शिक्षा-मन्त्रालय अहिन्दी प्रान्तों में जिस प्रकार हिन्दी के लिए विभिन्न प्रकार के अनुदान आदि दे कर हिन्दी को बढ़ावा देने के लिए प्रयत्नशील हैं उसी प्रकार हिन्दी-भाषी राज्यों में भी प्रान्तीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार आदि के लिए अनुदान आदि दे कर लोगों को प्रोत्साहन दे। प्रान्तीय भाषाओं की स्वैच्छिक भाषा-संस्थाएँ इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। राष्ट्र की अखण्डता तथा स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए, सभी क्षेत्रों में उन्नतिशील बनने के लिए, बिना किसी भेद-भाव के सब पर समान भार पड़ते हुए भी किसी भी प्रान्त के किसी भी छात्र पर उस की इच्छा के विरुद्ध अवांछित भार न डालने वाला यह पाठ्यक्रम केवल कल्पना नहीं, भाषाशास्त्र तथा शिक्षाशास्त्र की कसौटी पर भी कस कर देखा जा सकता है। इसे प्रयोग में लाने तथा व्यावहारिक रूप देने का दायित्व केन्द्र तथा प्रान्त की सरकारों का है।

प्रान्तीय सेवाओं में मातृभाषा के माध्यम से, केन्द्रीय सेवाओं में हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से तथा विदेशों से सम्पर्क रखने वाले और केन्द्र के विदेशी विभाग में सेवा करने वाले व्यक्ति एक अतिरिक्त भाषा के माध्यम से नौकरी प्राप्त कर सकेंगे। ऐसे विद्यार्थी अपने स्वार्थ के लिए स्वतः ही आवश्यक भाषाओं को ऐच्छिक विषय के रूप में लेंगे ही, किन्तु इन के अतिरिक्त करोड़ों ऐसे विद्यार्थी उस अनावश्यक तथा अवांछित बोझ से बच जायेंगे जिस की उन्हें अपने भावी जीवन में कोई उपयोगिता तथा आवश्यकता नहीं होगी। सब से बड़ी उपलब्धि यह होगी कि अभी कुछ दशकों तक अपढ़ रहने वाली तथा शिक्षित कही जाने वाली जनता के मध्य की बढ़ती हुई खाई पट जायेगी। विश्वास है कि ऐसी शिक्षा-प्रणाली को अपना कर भारत का भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा, तथा भाषा-विवाद के नाम पर समय-समय पर होने वाले आन्दोलनों से छुट्टी मिल जायेगी, और नष्ट होने वाली जन-धन की शक्ति का उपयोग राष्ट्र के हित में किया जा सकेगा।

■ ■

जंगली कैक्टस की क़लम

परेश

●

मेरे आस-पास जितने चेहरे थे वे रोमैण्टिक और एडवेंचरस थे और रविवार की धूप में चटक रहे थे।

मैं देर से आया था और मेरा हलक़ सूख रहा था। शहर से बाहर देहात में मैं केवल इस लिए आया था कि गन्ने चूसने को मिलेंगे। वैसे थोड़ी गुदगुदी इस बात की भी थी कि वहाँ पानी का बाँध है और रोके हुए पानी का विद्रोह मुझे कितना प्यारा लगेगा, जैसे बन्द पिंजरे में असम के टाइगरों की गुर्राहट''''और यह गुर्राहट मैं ने काफ़ी दूर से सुन ली थी।

गन्ने चूसने के बाद मैं वहीं धूप में पसर गया। मैं ने ज़ीन का अमेरिकन पैण्ट पहन रखा था और वाशिंग्टन की राजनीति से अलग—निर्विकार भाव से टैक्सास या मेक्सिको के काउबॉयज की तरह भैंसों को हांकने की छड़ी सिरहाने रख कर ऊँघने लगा। लड़कियाँ टखनों तक सलवारें ऊँची कर पानी में खड़ी थीं और कैमरे के सामने पोज़ बना रही थीं। पानी में डूबे हुए नदी के काई लगे हुए पत्थर और उन पर सफ़ेद रोहू मछलियों से फिसलते हुए गोरे-गोरे पाँव''''मैं ने एक बार उधर देखा और फिर ऊँघने लगा।

काफ़ी देर बाद जब हम वापस लौट रहे थे तो मैं ने एक लड़की से कहा, "देखिए, आप लोगों के साथ न घुलमिल पाने के पीछे आप की और मेरी जनरेशन का फ़र्क़ है।"

बात उस की समझ में नहीं आयी। उस के और मेरे बीच एक शताब्दी खड़ी थी—अतः मैं ने दीवार के ऊपर से झाँक कर कहने के लहज़े में कहा, "कोई अँगरेज़ी फ़िल्म देखी है?"

उस ने 'रॉक हडसन' का नाम बताया। मैं ने बताया कि यह नाम फ़िल्म का नहीं एक अभिनेता का है।

उस का ब्लाइण्ड फेस देख कर मैं फिर अमेरिकन गड़रियों की तरह चलने लगा। पिंजरे में बन्द असम का टाइगर वैसे ही गुर्रा रहा था। जिस समय बस से उतरा—नहर के किनारे चलते हुए यह गुर्राहट मेरे नज़दीक आ रही थी और मेरे पेट में गुदगुदी बढ़ रही थी। बाँध अभी एक मील था—मगर उस के ऊपर की हवा में तैरती हुई उस की गन्ध और गुर्राहट मुझे तेज़ी से खींच रही थी। नदी कम से कम सौ फ़ीट नीचे जा कर बह रही थी, फिर भी उस में नहाती और कपड़े धोती हुई औरतों के जिस्म जल के भीतर से भी साफ़ दीख रहे थे। पंजाब की नदियों और औरतों के जिस्म इतने गुदाज़ और गोरे हो सकते हैं—मैं देख रहा था।

यह सतलज का पानी था और इस के एक मील आगे के जलागार पर मैं कविताएँ लिख चुका था। मैं उन पक्षियों को देखना चाहता था जो मेरी कविता की तरह पंक्तिबद्ध उड़ान लेते हैं—मैं उस क्रुद्ध टाइगर को नज़दीक से देखना चाहता था जो मृत्यु-सा सुन्दर और ख़तरनाक था।

धूप में वे सब चेहरे चटख रहे थे, "लो, कवि साहब आ गये।" किसी एक ने दूसरी को कहा—मुझे सन्तोष हुआ कि वातावरण ने मुझे स्वीकार लिया है। थोड़ी देर पानी की वह गुर्राहट मुझे बड़ी संगीतमय लगी—लेकिन इस

५

आवाज़ के बीच भी वही आवाज़ बजने लगी जो मैं बस स्टैण्ड पर छोड़ आया था। नयी जगह उतर कर मैं कुछ दूसरी आवाज़ों में खो गया था और ख़ुश था। वैसे आवाज़ें वे ही थीं जो मेरे शहर में होती थीं—मगर बदली हुई थीं और एक टयूरिस्ट की हैसियत में मुझे झेल रही थीं।

आगे गयी हुई पार्टी के बारे में रेड़ी वालों के इम्प्रेशन्स सुनना मुझे बहुत अच्छा लगा। जिस चीज़ को मैं अच्छी तरह जानता हूँ उसी का एक अपरिचित व्यक्ति-द्वारा दिया गया संस्मरण कितना रोचक हो सकता है—मैं ने जाना। बाँध पर पहुँच कर देखा—किताब तो वही थी जो शहर के कमरे में बन्द रहती थी—मगर अब खुली हवा में आ कर उस का पन्ना-पन्ना फड़फड़ा रहा था। पृष्ठ-भूमि में पानी की गुर्राहट थी जो कभी-कभी माउथआरगन की मोहक आवाज़ में बदल जाती थी—कभी-कभी जलतरंग के प्यालों से टकरा उठती थी। ख़ूँख़ार को क़ैद कर लेना एक एडवेंचर है। सतलज को भुजाओं में थामे हुए बैरियर मुझे साक्षात् पुरुष लग रहा था। कितनी श्लाघामयी दृष्टियों से मैं उस की तनी हुई मांस-पेशियाँ देख रहा था और चटख़-चटख़ गन्ने चूस रहा था। "हम नपुंसक हैं" यह बात तो मेरे साथी ने रेस्ट हाउस के एकान्त रास्ते पर कही थी। उसे रिसर्च से चिढ़ थी—उस का मतलब भी यही था—मगर चूँकि उस ने यह बात झुक कर और रहस्यमय ढंग से कही थी—लड़कियाँ सतर्क हो गयीं।

"पानी बहुत ठण्डा है," मैं ने उसे सिहर कर उत्तर दिया। इस से उस के फुसफुसाने का रहस्य अवश्य कम हो गया मगर लड़कियों की सायकोलॉजी काम करने लगी।

उन की उमर बहुत कच्ची थी और वे ट्राँज़िस्टर के साथ राग अलापने लगी थीं। मेरे हाथ में गड़रियों वाली छड़ी थी और मैं निश्चिन्त था। नदी के ऊँचे कगार के किसी ऐतिहासिक स्थल का फ़ोटो लेने के बाद वे धड़ल्ले से रेस्ट हाउस के लॉन्स में विचरने लगीं। वह एक पुराने ढंग का डाक बँगला था जिस में 'पैरी मैसन' या 'हिचकाक' के उपन्यास फ़िलमाये जा सकते थे। ड्राइंग रूम के बाद लड़कियाँ ड्रेसिंग रूम में घुस गयीं, मैं और निश्चिन्त हो गया कि यदि वहाँ शीशा एक ही हुआ तो कम-से-कम घण्टे-भर मैं धूप में और ऊँघ सकूँगा।

मेरा साथी गड़रिया वहीं ड्राइंग रूम में रह गया। वह निरामिष था और अपने-आप को नपुंसक कहता था। कुछ-कुछ रनिवासों के द्वार पर बैठे हुए पवित्र और निर्विकार कंचुकी-सा था। मैं नपुंसक नहीं था मगर किसी छोटे रोमांस के लिए उत्तेजित भी नहीं था। मेरा पुरुष तो अभी तक वहीं बाँध पर लोहे-सीमेण्ट की मज़बूत मांस-पेशियों को आश्चर्य से ताकता हुआ खड़ा था और किसी सतलज-जैसी वेगवती विपत्ति को भुजाओं में थामने के लिए कसमसा रहा था। मेरा पुरुष था कि असम के जंगलों में था और उस गुर्राहट की आहट ले रहा था जो ख़ूँख़ार थी और पंजाब के देहातों में पली हुई जटनी-सी

लचकदार और टूट पड़ने वाली थी।

उस ने बताया वह जाट है।

मैं कुएँ से पानी खींच रहा था।

"जाट होने के लिए रफ़ होना पड़ता है··· रचूड भी···" मैं ने बिना नजर उठाये कहा।

"मैं रफ़ भी हूँ और रचूड·······" वह गुर्रायी।

मुझे अच्छा लगा। यह गुर्राहट असम के जंगलों में घूमते हुए टाइगर की थी। सतलज के बाँध की तरह मेरी लोहे-सीमेण्ट की पेशियाँ तनने लगीं और मेरा इंजीनियर सतर्क हो गया···मारो टक्करें सतलज···

परकीयों के आक्रमण जब इस देश पर हो रहे थे, इस देश का सैनिक उसे रोक रहा था और यहाँ का शिल्पी छेनी-हथौड़ी लिये अजन्ता की कन्दराओं में बैठा था और देश के पूर्वी तट पर कोणार्क के सूर्य मन्दिर का गर्भगृह पूरा हो रहा था। खजुराहो में मिथुन मूर्त्तियों का निर्माण हो रहा था।

रेस्ट हाऊस के लॉन में पनसुतिया, फरद, पलास, गुलदाऊदी, गुलमोहर, नरगिस की पंक्तियाँ थीं, थे छोटे कचनार, गुत्थ बाँध-कर खड़े हरसिंगार, रात की रानी, परदेसी गुलाब, गेंदा···कवियों की दुनिया में कितने समाचार हैं। शहर के समाचारों से पीछा छुड़ाने ही मैं यहाँ आया था। वे आवाज़ें देश के दूसरे भागों से उठती हुई सरकार-विरोधी आवाज़ें थीं। कैम्पस से किसी लड़की को भगा कर ले जाने के मसले पर सतर्क और खूंखार हो गयी विभिन्न राज-नीतिक पार्टियों की आवाज़ें थीं।

सतलज जलतरंग-सी संगीत रही थी और वह खूँख़ार जटनी माउथ आरगन बजा रही थी। ड्रेसिंग रूम से लड़कियाँ बाहर निकलीं तो वे लड़कियाँ नहीं थीं–'चन्द्रकान्ता सन्तति' के तिलस्मी महलों में घूमने वाली परियाँ थीं और पुरुष को पत्थर बना सकती थीं। यह जादू उन फूलों में था जो उन्हों ने जूड़े में खोंस लिये थे–मगर मेरा इंजीनियर मुसकरा रहा था––उसे सतलज को बाँधना आता था—मेरा कलाकार था कि गन्ने चूस रहा था और पत्थरों को 'अजन्ताओं' में बदलना चाहता था, खजुराहो की मिथुन मूर्तियों का रहस्य जानता था।

असम के जंगलों में खुली घूमती हुई खूँख़ार गुर्राहट के लिए मेरा पुरुष था कि चीते की तरह उछलने वाला था—मगर मुझे वह हसीन गुर्राहट कलकत्ते के चिड़ियाघर में रखनी थी, जंगली कैक्टस की क़लम शहर के ड्राइंग रूम में सजानी थी, वह रफ़ और रचूड जटनी स्मूथ और सोबर बनानी थी···

"पुट्टू···यह गुलदस्ता तुम किसी को भेंट कर दो···"

हैमिग्वे के बूढ़े मछेरे की तरह मैं इस समुद्री यात्रा में अपने छोटे बच्चे को वे सब हुनर सिखा देना चाहता था—जिस से बड़े से बड़ा मत्स्य फाँसा जा सके···

"किस को करूँ?"

"तुम्हें कौन पसन्द है?"

"उँ—हूँ···"

"बताओ।"

"वह काली स्वेटर वाली?"

[शेष पृष्ठ ४८ पर]

जंगली कैक्टस की क़लम : परेश

सहधर्मिणी धरती : शक्ति मन्त्र

विजया गोस्वामी
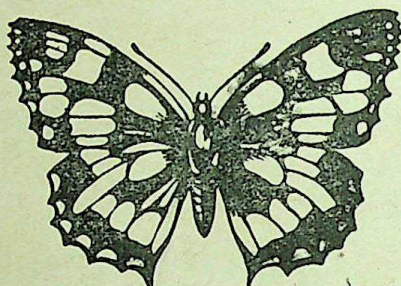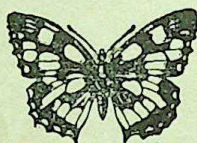
●

सहधर्मिणी धरती

प्रणय की मेंहदी
सुबह की हथेलियों में
रची हुई देखने का
सौभाग्य
क्या तुम्हें नहीं मिला ?

नहीं,
शायद नहीं—

नयनों की कोरों से
अनुराग की जो
विद्युद्लहरी

समष्टि के ओर-छोर तक
प्रवाहित है—
उसी में तो
प्रतिदिन
समर्पित होती रहती हैं
छाया और प्रकाश की
सभी रंगीली–भंगिमाएँ

ओ धरती—
अनागत के पदक्षेप की चिर प्रतीक्षु
क्या तुम
मेरी सहधर्मिणी नहीं ?

■

शक्ति मन्त्र

लताओं के नमन में
शक्ति के जो
भविष्य संकेत छिपे हैं
उन्हीं से तो
झरते हैं
पके हुए शुष्क बीज––
सृजन का
निरन्तर कीर्तन करते हुए
सृष्टि बीज––

कौन कहता है
कि
समर्पण में
दयनीयता है––
अपनी तपस्या के
यज्ञ से
तपःपूता यह
प्रकृति
याचिका हो कर भी
ऋत् की अवधारिका हो जाती है––
और तब
दयनीयता
दया में
बदल जाती है––
हाँ हाँ,
इस विजन तट पर
अकेली छोड़ कर
....ओ प्रिय
तुम ने मुझे
अपनी शक्ति का पहला पाठ पढ़ाया है।

■ ■

देह-वल्कल

कुबेरनाथ राय

हमारे यहाँ वल्कल पहन कर वन-'बरुआ' अर्थात् जंगल में यज्ञोपवीत संस्कार की प्रथा है। और जिस तरह पेड़-पल्लव डाल-पात की उपस्थिति के कारण गाँव के बाहर की अमराई को वन मान लिया जाता है वैसे ही महज़ मूँज-मेखला के सहवास से सूती कौपीन और उत्तरीय को भी वल्कल की संज्ञा मिल जाती है। इस देश में होता और कुछ है और मान लिया जाता है और कुछ। वे भी जिन के खानदान में सात की कौन कहे चौदह पुश्त से 'क' अक्षर बराबर गोमांस रहा, परम्परा से विद्या-वरण का व्रत-बन्ध लेते आये हैं और मान लिया जाता है कि ये विद्याव्रती हो गये। भले ही दूसरे दिन प्रातःकाल ही उन के गोपव्रती या हल-व्रती रूप का दर्शन मिले। आज का भारतवर्ष एक विधिनिषेधों का शाप-ग्रस्त दण्डक वन है। काष्ठमौनी विधियों के मध्य कभी-कभी निषेधों की सूखी विद्रूपमय काष्ठ हँसी का संकेत शाप की गम्भीरता को कम नहीं करता। चारों ओर सतरंज ही सतरंज है। सकल समाज काठ का बना है। राजा-मन्त्री, गुरु-ब्रामणी, सीजर-नेहरू, महारथी-पैदल, सभी सूरमा ही

काठ के बने हैं। बाज़ी भी ऐसी खेली जा रही है कि दुश्मन की हार भी प्रकारान्तर से उस की ही जीत है और जीत तो जीत है ही। ऐसी हालत में वल्कल या कवच का कोई अर्थ ही शेष नहीं रह जाता है। ससुर मुरदा काठ जीते या हारे, काठ के मनु या गान्धी, काठ के मसीहा या मार्क्स जीतें या हारें, क्या फ़र्क़ पड़ता है। जीतेगा तो काठ ही, पर सिर्फ़ मान लेना है कि गान्धी जीत गये या मार्क्स जीत गये। यही आधुनिक भारत की 'आयरनी' है। और इस 'आयरनी' की, इस विडम्बना की लॉजिक पर सूती कौपीन शत-प्रतिशत वल्कल है और यज्ञोपवीत-संस्कार भी व्रत-बन्ध संस्कार ही है। इस बिन्दु से विद्या और ब्रह्मचर्य व्रत का कोई वास्तविक सम्बन्ध भले ही न हो। और तब यह शायद मेरा दुराग्रह ही है जब मैं यह कहता हूँ कि मेरे विद्याव्रत का आरम्भ उस दिन से नहीं जिस दिन चतुर्वेदी जी ने कान में 'ॐ भूर्भुवः स्वः....' आदि कहा था बल्कि उस दिन से है जिस दिन तेली-वंशोत्पन्न मुन्शी बलदेव राम ने शिशुकक्षा के टाट पर हाथ में खड़िया दे कर कहा था, "एक खड़ी पाई खींच; फिर उस के माथे पर अड़ी पायी दे, फिर यहाँ एक गोल बना और उधर एक बाँह लटका—और कह बेटा, 'क'।" और मेरे अन्दर अक्षर ब्रह्म का प्रथम उदय हुआ और मैं ने आदि अक्षर ब्रह्म स्वरूप 'क' का वरण किया अपनी बाल-बुद्धि के अन्दर। लोग कहते हैं कि तेली रास्ता काटता है तो काम सिद्ध नहीं होता, क्या सही-साबुत घर लौटना भी क़िस्मत की बात है। और इधर, मैं भले ही त्रैलोक्य चूड़ामणि, सृष्टि-ललाम, विद्यादिग्गज, टैगोर-आइन्स्टाइन न हो पाऊँ, पर अपने देश, अपने समाज, अपने पिता के पापों का जाल काटते-काटते मुट्ठी-आध मुट्ठी जितना भी पा सका हूँ उस का आदि उत्स उसी सिद्धिदाता 'तेली'-गणेश में है। और जब-जब इस तेली गणेश की सिद्धिदाता मुखाकृति स्मरण होती है मेरा बदतमीज़ अभद्र उच्छृंखल 'स्व' अपने को पस्त और विनयावनत पाता है।

यों वल्कल-वसन को ले कर मेरे मन में अब भी कभी-कभी जिज्ञासा होती है कि यह क्या चीज़ है। साधारण रूप से शब्दार्थ-द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है कि यह छाल का वस्त्र है। 'वल्कल' (संस्कृत), 'बाकल' (बंगला) और 'बोकला' (भोजपुरी-हिन्दी) आदि एक ही शब्द हैं जिस का कोश में अर्थ है छल्लिका या छाल। अतः वल्कल वसन यानी पेड़ की छाल का वस्त्र। पर कौन-सा पेड़? बट, पीपल, आम या शमी की छाल तो पहनी नहीं जा सकती। उर्वसीयम् या असम की कुछ जन-जातियों में केले के पत्ते का अधो-वस्त्र देखा जाता है,' परन्तु यह परिधान तुरत छिड़ जाता है। हाँ, भूर्ज पत्र की कुछ जातियाँ अवश्य सुनी जाती हैं जिस की छाल से काफ़ी लम्बे-चौड़े चकत्ते निकाले जा सकते हैं। इस के अतिरिक्त एक अगरु

का पेड़ भी है जिस की छाल भूजपत्र या कदली स्तम्भ की तरह परत-पर-परत एक के भीतर एक रहती है और इसे उभाड़ कर कुछ हद तक अधो-वस्त्र का काम चलाया जा सकता है। मेरी धारणा है कि वल्कल वसन की सज्जा में वृक्ष की छाल का उपयोग सिर्फ़ अधो-वस्त्र के ही लिए या कंचुक के लिए होता रहा होगा और उत्तरीय सदैव चर्म-उत्तरीय या 'त्वगुत्तरीय' (कुमारसम्भवम्, ५।८ और १६) का ही रहता था, और वल्कल वसन शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण सज्जा के लिए, वृक्ष वल्कल का अधोवस्त्र और देह-वल्कल का ऊर्ध्ववस्त्र दोनों के लिए होता था। आखिर चर्म भी देह-वल्कल ही है। कालिदास ने तपोरता उमा के व्रत-परिधान का ज़िक्र करते हुए वल्कल-कंचुक, मौंजी मेखला और त्वक् उत्तरीय का ही ज़िक्र किया है। और इस व्यापक अर्थ में व्याघ्र चर्म, मृग चर्म, मेष चर्म की भाँति अपना यह देह-चर्म भी वल्कल है। यह भी एक परिधान ही है जिसे ओढ़ कर किसी की आत्मा कभी खून-मवाद-सिक्त नरक द्वार का रूप धारण करती है तो कभी मोहक कामतरु का जिस के पत्ते-पत्ते पर जन्म-जन्मान्तर के लिखे गये हमारे प्रेमपत्र लटकते हैं और जिन्हें हम निकट से पढ़ने के लिए विह्वल-विकल हो उठते हैं।

लोग कहते हैं कि यह वल्कल तभी तक रूपमय रसमय और नादमय रहता है जब तक इस के अन्दर पंचकन्याओं का वास रहता है। सृष्टि में क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर की पाँच कन्याओं का सर्वत्र निवास है। देह-देह के भीतर, रूप-रूप के भीतर, वेश-वेश के भीतर वे ही बैठी हैं। ओडिसी नृत्य का एक महत्त्वपूर्ण अंश है 'पंचकन्या नृत्य'। एक ही नारी कुन्ती-अहल्या-द्रौपदी-तारा-मन्दोदरी की भूमिका में बार-बार उतरती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक नारी-देह में पाँच तत्त्व, पाँच गुण, पाँच मकार और पंचकन्याएँ निवास करती हैं। इसी से एक ही नर्त्तकी गन्ध-रस-रूप-स्पर्श और शब्द की प्रतीक पाँच कन्याओं का अभिनय करती है। परन्तु मैं समझता हूँ कि नारी-देह ही क्यों सचराचर जीवित देह में इन पंचकन्याओं का निरन्तर निवास है। और यह देह-वल्कल तभी तक सुन्दर और शक्तिमान है जब तक ये कन्याएँ अंग-चक्रों में जाग्रत रूप में विद्यमान हैं। जब तक ये शरीर के भीतर जाग्रत रहती हैं तभी तक किसी का सोया हुआ चेहरा हमें सुप्त बाल सर्प-जैसा सुरमई-अलस एवं कमल-कोमल लगता है तथा जाग्रत बोलती देह-छवि हिरणकन्या-सी लगती है। पर जब ये शरीर के भीतर सुप्त हो जाती हैं तो इन की विद्यमानता के बावजूद वही हरिणी महिषी बन जाती है। और एक दिन आता है जब इन पंच-कन्याओं में चार शरीर छोड़ कर बाहर हो जाती हैं, सिर्फ़ क्षिति यानी मिट्टी बच जाती है, और यह रूप-रस-गन्ध और शब्द का मोहक वल्कल अनस्तित्व में निर्वाण

पा जाता है। नया कवि कहता है कि यह सृष्टि कुछ-ललित है, मधुर-माहुर है; नारी के सर्प फणाकार जघन देश की तरह मोहक है, विषाक्त है एवं इसी से वरणीय है। पुराना कवि कहता है, यह कच्चे नरम कदली-खम्भ-सी हरित-मांगलिक और मोहक है, पर कदली खम्भ-सी ही निस्सार! वल्कल पर वल्कल। मात्र वल्कल और 'हीर' कहीं नहीं! परत-पर-परत उतारते जाइए, एक-से-एक मोहक रूप निकलता आयेगा पर कहीं हीर नहीं, कहीं सार नहीं। सब छलिका, सब वल्कल—केवल कंचुक, केवल निर्मोक! जन्म से मरण तक इस पंच-भोग्या याज्ञसेनी सृष्टि का परिधान पर परिधान हरण करते जाओ, 'स्व' का दुःशासन थक जायेगा, परन्तु इस के भीतर का सार कहाँ है पता नहीं। अतः इस निःस्सार सृष्टि को वरणीय कहना वैसे ही है जैसे कोई कहे—"आज मैं ने एक वन्ध्या पुत्र को देखा जो मृगतृष्णा के जल में स्नान कर के आकाश-कुसुमों की माला और शशशृंग का धनुष धारण कर के इसी रास्ते से गया?" ....पर मैं कहता हूँ: मेरे सन्त, मेरे कवि, सब सही। पर सर्पफण-जैसी पृथुल नृत्य-शील जाँघ वाली इस सृष्टि-कारु नटी को छोड़ने में मोहमाया लगती है। देखने में आँसू छोटी क्षुद्र बूँद मात्र है, पर क्या उसी में भुवन-प्लाविनी वेदना नहीं भरी है? यह रूप-रंग-छवि क्षणिक है, पर क्या क्षण के ही भीतर अनन्तमुखी कालसर्प नहीं सुप्त है? क्या क्षणबोध ही सनातनबोध में नहीं परिवर्तित हो जाता है। माना कि यह पंचभोग्या याज्ञसेनी सृष्टि और कुछ नहीं वल्कल पर वल्कल है, परिधान ही परिधान है, इस के भीतर कहीं कोई नारी, कोई पुतली नहीं। पर क्या यही 'वसन रूप यदुनाथ' नहीं है? भगवान् रामानुजाचार्य कहते हैं कि यह चिद् और अचिद् सृष्टि संयुक्त रूप से विष्णु का शरीर है। अर्थात् रूप-रस-गन्ध के सारे वल्कल सारे काया-कंचुक ही विष्णु का सगुण-साकार रूप हैं। जब तक स्थिति-काल है परिधान पर परिधान, वल्कल पर वल्कल, परत-पर-परत उघाड़ते जाओ, एक से एक मोहक छवि मिलेगी, पर सार या अन्तिम 'हीर' नहीं मिलेगा। वह तो अन्तिम सत्ता है विष्णु का हिरण्यगर्भ रूप? पर वह तो 'लय' की अवस्था का रूप है। जब तक स्थिति है, जब तक सृष्टि है, जब तक जन्म-मरण है तब तक एकमात्र वरणीय यही सृष्टि और उस के रूप-रस-गन्ध के अनेक बहुरंगी वल्कल ही हैं। यही मेरी रजोगुणी वैष्णवता है। यही नयी उपासना है। यही नये मन की स्वीकारात्मक स्थिति है। माया और वल्कल चमड़े के सिक्के हैं सही; पर प्रभुप्रताप ऐसा है कि 'स्थिति' के बाजार में यही चलते हैं।

दर्शन तो सदैव से मानता आया है कि यह देह या शरीर एक वरणीय या अवरणीय वल्कल है, परिधान है, कंचुक है। दर्शन-निरपेक्ष रसवादी साहित्य की भी यही मान्यता है। "नग्नता स्वयं एक आवरण है, एक परिधान है—नग्नता स्वयं एक

दृष्टि-दुर्भेद्य देह-कवच है।" ऐसा भाव नयी और पुरानी कविता में समान रूप से मिलता है। नये मन की अस्वीकारात्मक स्थिति में नग्नता एक जुगुप्सा, उपरति और बीभत्स रस पैदा करती है। पर नये मन की स्वीकारात्मक स्थिति में वह सद्यानुभूति और आंगिक अनुभूति का आध्यात्म एवं एक अनिर्वचनीयता की सृष्टि करती है। नये साहित्य में एक नये आध्यात्म का जन्म हुआ है। आंगिक स्पर्श की क्षण-अनुभूति की अनिर्वचनीयता एवं क्षणबोध की 'सद्यता' के मध्य सनातनता का अन्तर्भोग, जिस की अभिव्यक्ति के लिए शब्द और भाषा अक्षम हो जाते हैं: ये ही दो बिन्दु इस नये आध्यात्म की धुरी हैं। शब्द अपने अर्थ की सीमा और वाक्य-संगठन की सीमा को तोड़ने के लिए पंक्ति के भीतर कसमसाते-से लगते हैं—भाषा के अन्दर पंक्ति-पंक्ति में विद्युत् संचार-सा होने लगता है और लगता है क्षणबोध के अन्दर निहित प्राणशक्ति के धक्के खा कर पंक्तियाँ टूट-टूट कर निर्गुण रूप ले लेंगी और फलतः भाषा निरंजनता की ओर बढ़ जाती है। 'नग्न' समुद्र दृश्य को देख कर लिखी गयी कविता 'मतियाया सागर लहराया ?' (अज्ञेय) का प्रथमांश इसी प्रक्रिया का एक उदाहरण है। यों यहाँ पर चर्चा प्रकृति की नहीं नग्न देह-वल्कल की हो रही है और इस सिलसिले में मुझे एक नवयुवक फ्रान्सीसी कवि (नवयुवक अर्थात् महायुद्धोत्तर) पियरे इमैनुएल की एक अनूदित कविता 'श्रृंगार रसात्मक' के कुछ अंश स्मरण हो आते हैं:

"उस के दोनों उरुओं के मध्य
घूमता है स्वर्णिम रोशनी का तेज़ चक्र
उत्ताप से उस के नग्न वक्ष का कवच
मसृण और स्निग्ध हो जाता है
वह नारी
अब एक विनीत रक्तमांस
नग्नता ही उस की परिणति !"

—कविता की अनुभव-प्रक्रिया में सब से महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है 'नग्न वक्ष का कवच', जिसे समझ कर ही उस सारी मनोवैज्ञानिक और आंगिक प्रक्रिया को समझा जा सकता है जो कविता में घटित दिखायी गयी है। यदि नारी का वक्ष नग्न है तो कवच या आवरण कहाँ से आया ? पर कवि एक अत्यन्त गहरे अनुभव की ओर संकेत करता है: सम्पूर्ण नग्न देह स्वयं एक आवरण, एक कवच, एक लज्जा-परिधान है। एक नग्न भास्वर कान्तिमय नारी-देह जब दृष्टि-सम्मुख एकाएक आ जाती है तो दृष्टि में एक उन्मत्तता का प्रवेश हो जाता है, जो चेतना को आंशिक रूप से विशृंखलित-सा कर देता है। यही 'नग्न वक्ष' का 'कवच' है ! यही आधुनिक संवेदन है और साथ ही

सार्वकालिक संवेदन भी !

अधिक दूर न जा कर 'बिहारी सतसई' को लें। नग्न भास्वर देह वल्कल वाली नायिका वस्त्रहीन कर दिये जाने पर भी देह-छवि के कान्तिमय आवरण के कारण बेलाज नहीं हुई :

"दीप उजेरे हू पतिहि हरत वसन रति काज।
रही लिपटि छवि की छटन नैकौ छुटी न लाज।"
—(बिहारी)

और कुछ पहले जायें तो मंखक के 'श्री कण्ठ चरित' में हम पाते हैं (पं० पद्मसिंह शर्मा द्वारा सतसई की टीका में उद्धृत) कि,

"प्राणेश्वरस्य रभसापहृत्तोत्तरीय—
मेणीदृशो जघनबिम्बसपत्रपिष्णौ।
अग्रेऽसृजन्नवनवद्युति-संस्तवेन
कस्याश्चन स्वयमिवावरणान्तराणि।"

—निरावरण जघन बिम्ब ने अपने आगे स्वयं ही नयी-नयी छवि की छटाओं का आवरण पैदा कर लिया कि उत्तरीय हरणकर्त्ता प्रिय को कुछ नज़र नहीं आया (क्योंकि उक्त दृश्य के साथ-साथ द्रष्टा की आँखों पर भी उन्मत्तता का परदा पड़ गया)।

यदि कुछ और पीछे जायें उस बिन्दु पर जहाँ कविता और दर्शन एकाकार हो जाते हैं, तो हमें एक ऋषि कवि की तेजस्वी वाणी सुनाई पड़ेगी : "हे हिरण्यमय पुरुष, हे ज्योतिर्मय प्रकाश-पुरुष, तुम अपने हिरण्यमय देह-वल्कल को भी उतारो, हटाओ यह हिरण्यमय परिधान ! मैं तुम्हारे बिलकुल नग्न-निरावरण शुद्ध-भास्वर रूप का दर्शन करूँगा। खोलो यह आखिरी वल्कल भी—हिरण्यमय देह का वल्कल ? मैं तुम्हारी निरावरण छवि को ही देखूँगा।"

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।"

—इस मन्त्र में अप्रत्यक्ष रूप हिरण्य-देही पुरुष को असली 'सार' छवि देखने की उक्त उद्दाम वासना का ही संकेत है जिस के दुर्निवार आकर्षण से पीड़ित हो कर मन्त्र-द्रष्टा ऋषि एक काम-विद्ध उन्मत्तता जैसे आवेश में मन्त्र पर मन्त्र बोलता गया है, ऋक्, साम, यजुर् बनाता गया है, एक के बाद एक वल्कल हटाता गया है। पहले क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर का पंच कंचुक उतारा, फिर गन्ध-रस-रूप-शब्द-स्पर्श का परिधान हरण किया, फिर अपरा की नग्न-भास्वर कारु नटी-छवि का निर्मोक भी उतार डाला, फिर परा को भी निरावरण करना चाहा। ऋषि-कवि ने 'हृदयपुण्डरीकं विरजं

विशुद्धम्' के मध्य घुस कर प्रकाश रूप परा को मुट्ठी में करना चाहा, पर उस की दस उँगलियों का सम्पुट काम नहीं आया। वह प्रार्थना करने लगा--"हे हिरण्यमय "पुरुष, यह अन्तिम वल्कल हटाओ!" पर अन्तिम वल्कल नहीं हट पाया। तो, हार कर बौद्धों ने कहा, "इस वल्कल के बाद 'शून्य' है, क्षणिक है?" वेदान्तियों ने कहा, "नहीं, इस वल्कल के भीतर विरज प्रकाश है, चिन्तन है।" वैष्णवों ने कहा, "इस वल्कल के भीतर है 'रसो वै सः'--रस-रूप नारायण।" शैवों ने कहा, "इस अन्तिम वल्कल के भीतर है शान्तम् शिवम् अद्वैतम्।" दृष्टि काम नहीं आयी, भाषा काम नहीं आयी, प्रतीक काम नहीं आये और यह अपरूप अपूर्व अनुभव आज तक अनिर्वचनीय ही रहा और यह अपरूप अपूर्व वल्कल निरन्तर मुसकराता रहा और आमन्त्रण देता रहा--'मुझे पहचानो!' 'मेरे अन्तिम परिधान का हरण करो, 'मेरी चरम छवि और चरम करुणा को निरावरण देखो।'

कभी-कभी मेरे मन में प्रश्न उठता है कि यह चरम सत्ता, निरावरण सत्य, जिस की लोक-संज्ञा है 'ईश्वर', क्या है? क्या यह सुन्दर-असुन्दर का मायावल्कल, यह दृश्यमान जगत् ही ईश्वर मान लिया जाये? क्या हर्ज है--आखिर वैष्णव भी तो कम से कम विष्णु-शरीर का एक अंश इसे भी मानते ही हैं? परन्तु शरीर भी तो एक परिधान ही है, एक निर्मोक या वल्कल ही है, तो यह चरम निरावरण सत्ता का द्योतक कैसे हुआ? मुझे लगता है यह सब भी चरम तत्त्व (विष्णु तत्त्व) का आखिरी वल्कल मात्र है। वल्कल या परिधान को देख कर पहनने वाले की सत्ता का अनुभव होता है। जैसे किसी को नीवि-तरंगायित साड़ी या किसी का लहराता आँचल देख कर बिना चेहरे की ओर देखे भी अनुभव हो जाता है कि कौन है--पहनने वाली से प्रगाढ़ परिचय होने पर उस के परिधान भी उस की व्यक्तिवाचक संज्ञा का एक अंग हो जाते हैं और जातिवाचक अर्थ खो बैठते हैं। उस परिधान में भी एक मोह एवं एक व्यक्तिवाचक माया का प्रवेश हो जाता है। पर यह तो नहीं कह सकते कि उस का चेहरा इस शुद्ध खादी या बनारसी या मयूरकण्ठी के रंग-रूप का है। चेहरा चेहरा है, परिधान परिधान। परिधान ही पत्नी या प्रिया नहीं, चाहे वह कितना भी प्रगाढ़ सान्निध्य के कारण व्यक्तिवाचक माया का स्रोत न बन जाये। वैसे ही यह सगुण दृश्यमान जगत्, ये फूल, ये बच्चे, ये नारियाँ, ये मनुष्य, ये पेड़-पल्लव, ये कोमल मृग, ये वृक-व्याघ्र, ये कुरूप कुत्सित सर्प सभी के सभी, केवल उस चरम सत्ता का परिधान-मात्र हैं। पर परिधान उस सत्ता से प्रगाढ़ सान्निध्य के कारण उस की व्यक्तिवाचक सत्ता का अंग बन गया है। उस सत्ता का चेहरा हम देख नहीं पाते और इस परिधान के स्पर्श से उस के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। मन-ही-मन हम कल्पना करते हैं कि

जिस का परिधान, जिस की साड़ी इतनी मायामय, इतनी चित्र-विचित्र, इतनी मोहक है और क्षण-प्रति-क्षण हमारे तप्त ललाट को छू कर फहराती है, वह चरम मुखश्री कैसी होगी—बच्चे-जैसी, प्रेमिका-जैसी, सखा-जैसी, पिता-जैसी या माँ-जैसी ? कभी-कभी यह भी सोचते हैं कि शायद यह अपरूप निराकार ज्योति है, शान्तम् शिवम् अद्वैतम्—दीप-शिखा है। पर तथ्य तो यह है कि उसे रूपायित करने की सारी चेष्टाएँ उसे नया-नया वल्कल पहनाती हैं—एक और नया परिधान देती हैं और वह सत्ता अनिर्वचनीय की अनिर्वचनीय ही रह जाती है। भक्ति या जप योग-समाधि-द्वारा जो उस का रूप निर्धारित होता है, वह दरअसल अपनी ही वांछा का सगुण रूप है। वैष्णवों ने इसी से उस सत्ता को 'वांछा कल्पतरु' कहा है—जो वांछा या इच्छा है उसे माँगो एवं जैसी वांछा या इच्छा हो वैसा उसे रूप दो। यदि चाहो तो वह प्रभु मुरली फेंक कर धनुष-बाण ले लेगा—मात्र तुम्हारी वांछा की पूर्ति के लिए—

"कहँ मुरली, कहँ चन्द्रिका, कहँ गोपिन को साथ।
पर, अपने जन के कारने नाथ भये रघुनाथ !"

मुझे तो लगता है कि प्रभु का अनुभव इस सगुण दृश्यमान जगत् के माध्यम से, जो उस का है परिधान है, होना चाहिए, मूलतः शुद्ध विकाररहित दर्पण के रूप में। परन्तु ऐसा हो पाता नहीं। अनुभव को सचेत ढंग से ग्रहण करते वक़्त मन की अपनी वांछा, अपना राग उस में स्वयं चलित रूप से प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। स्वीकारात्मक-शैली में यह अनुभव-दर्पण अपने शुद्ध अरूप अविकार निर्गुण रूप में कभी भी ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सचेत ग्रहण का एकमात्र यन्त्र मन है और बिना गुण के मन का अस्तित्व असम्भव है। जहाँ मन का स्पर्श हुआ कि रूप आया, गुण आया, आकार आया। इसी से मैं मानता हूँ कि निर्गुण ईश्वरानुभव की बात केवल तर्क-जगत् में है, वास्तविक अनुभव यह कभी भी न घटी और न घट सकती है। 'तर्क' का काम तो 'नेति' कह कर चल जायेगा, पर अनुभव तो आस्वादन माँगेगा। और आस्वादन बिना गुण के सम्भव नहीं। कोई 'तर्क' पेश कर सकता है : मन से भी अधिक शक्ति सम्पन्न है आत्मा और आत्मा तो निर्गुण का अनुभव कर सकती है। पर मुझे लगता है यह शब्द-जाल है। आत्मा तो चिन्मय चरम का ही एक अंग है, इसी का ही तो अनुभव करना है, यही तो अनुभव का ऑबजेक्ट' (लक्ष्य) है—अनुभवकर्ता तो हर हालत में मन को ही मानना पड़ेगा। फिर तर्क आ सकता है : तब 'आत्मिक अनुभव' कोई चीज़ नहीं ? मैं कहता हूँ : 'आत्मिक अनुभव' है, और वह मन की ही ऊर्ध्व चेतना-परतों पर (जिसे 'अतिमानस' भी कहा जाता है) अनुभूत होता है। मन में चेतन-अचेतन नहीं ऊर्ध्व चेतन भी है। यही ऊर्ध्व चेतन आत्मिक संवेदनों का अनुभव करता है।

इसी से मैं मानता हूँ कि सृष्टि की सारी माया, माया के सारे देह-वल्कल, सारे कंचुक, सारे परिधान, रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श सब-कुछ ईश्वर के सगुण समीकरण हैं—पर बीजगणितीय समीकरण जिस में 'क' एक अज्ञात बीज है, जिस का मान क्या है कोई नहीं जानता है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि इस धनमय, शिश्न-योनिमय, रिपुमय जगत् के अन्दर जो कोई भाव, ध्यान या अनुभव हमें धन, शिश्न-योनि और रिपु की क्षुद्र सीमा से ऊपर उठा कर, उपयोगितावादी सीमा से ऊपर उठा कर किसी अपेक्षाकृत शुद्धतर अनुभूति की ओर ले जाये (जैसा कि 'शुद्ध कविता' प्योर पोयट्री लिखते-पढ़ते समय होता है) उसे ईश्वरानुभव की ही एक कोटि माना जाना चाहिए। मैं तो मन्दजन मौलिमणि, दुर्विनीत रजोगुणी-तमोगुणी वैष्णव हूँ, और ईश्वर को इस से अधिक न कभी जाना, न पहचाना। मुझे तो लगता है कि इतना पर्याप्त है—इसी अनुभव को आरती मैं अपने रोम-रोम के हज़ार-हज़ार हाथों से अपनी सारी आयु के काल प्रदीपों को जला कर मरण-पर्यन्त क्या जन्म-जन्मान्तर तक करता चलूँ तो बहुत है। यह तो पर्याप्त पाथेय है। राह ही काटनी है न! तो, बैल की तरह कई मन पाथेय की छाँटी ढोने से क्या लाभ? अनुभव का उतना ही पाथेय लो, जितना पका सको, खा-खिला सको—अधिक क्या होगा? परमहंस रामकृष्ण एक उक्ति अकसर कहा करते थे: "एक दिन एक चींटी एक चीनी के पहाड़ पर सैर करने गयी। वहाँ पहुँच कर एक दाना चीनी खायी। बस, पेट भर गया। दो-एक दाने मुँह में दबा कर घर भी ले आयी। परन्तु घर लौटते समय रास्ते में सोचती रही—अच्छा, कल आ कर सारा पहाड़ ही ढो कर घर लेती जाऊँगी।" सो, मेरे अन्दर उस चींटी की तरह चरम के अनुभव का सारा पहाड़ ढो कर ले जाने की महत्त्वाकांक्षा नहीं। एक दाना पाया—उसी में जीवन-भर छका रहा। दो-एक दाने ढो कर लाया भी—संगी साथियों को खिलाया। वह अनुभव की चीनी ऐसी रही कि किसी मित्र ने कहा—"अबे, यह तो अद्भुत है? कहाँ मिली?" तो किसी ने कहा—"यार, तुम ने मुझे चीनी खिला दी। छिः कितनी बुरी चीज़ है। मुझे डॉक्टर ने मना कर दिया है। और चीनी खाना बिलकुल अप्रगतिशीलता है।" पर मैं मित्र से कहता हूँ, "बेटा, मुँह मत खोलो। चुपचाप स्वाद लो मौज से—मैं सब बूझ रहा हूँ!" और मैं ने निश्चय किया है कि इसी तरह चौबीस तत्त्वों का अपरावल्कल ओढ़े जिसे साँई ने दस मास में सिया था मौज से सारी राह काट दूँगा। यद्यपि भीतर-भीतर कोई कभी-कभी बोल जाता है: "तू एक बार अनन्त अनुभव-समुद्र में कूद! तू इसी समुद्र की सन्तान है। तू इस अनन्त समुद्र को अपने में आत्मसात् कर जा। समुद्र तुझे पुकार रहा है—तेरे स्नायुमण्डल के भीतर उस का आह्वान निरन्तर बज रहा है।" परन्तु माया की मूँजमेखला और यज्ञो-

पवीत को 'विरजा' अग्निशिखा में भस्म कर के इस समुद्र में कूदने की इच्छा नहीं होती। और इस प्यारे, जन्म के साथी देह-वल्कल को किस तट पर, कहाँ पर उतार कर रखूँगा ? चौबीस तत्त्वों का अपरा-वल्कल एक ओर खींचता है और समुद्र का आह्वान दूसरी ओर। और मैं इस अनन्त अगम अथाह जन्मान्तर के अनुभव-समुद्र का स्वर सुनता हूँ जो पद्म-पलाश लोचन रूप में सहस्र हाथों से मुझे बुला रहा है : "तू आ, तू आ—तू चला आ, अमृत कुम्भ मेरे अन्दर है, मोती मेरे हृदय में है— मुझे सम्पूर्ण आत्मसात् कर ले। सारे मोती सम्पूर्ण अमृत घट का तू अन्तर्वरण कर। जो मैं हूँ, वह तू है। जन्मान्तर प्रवाह के मध्य मैं ही वर्तमान हूँ।" और मैं इस जन्मान्तर के अनुभव-समुद्र से प्रार्थना करता हूँ : "हे पद्मपलाश लोचन अनुभव-समुद्र ! मैं तुझे 'पूरा' ले कर क्या करूँगा ? क्या होगा मोती—वह तो तुम्हारी कविताएँ हैं, तुम्हारे पास ही रहें। और क्या होगा अमृत-घट, वह तुम्हारा अर्जित पुण्य है उसे तुम ही भोगो। जन्मान्तर से मेरा कोई मतलब नहीं। मेरे लिए एक जन्म की तृषा काफ़ी है और वर्षा-नदी-झरना किसी से भी मिल जायेगी एक बूँद; और यह तृषा मिट जायेगी।... हाँ यदि देना ही है तो एक पवित्र शंख फेंक दो—मात्र एक शंख। एक शंख के ही भीतर सम्पूर्ण समुद्र का आह्वान भरा रहता है। मैं चौबीस तत्त्वों का देह-वल्कल ओढ़े नदी-पहाड़, गाँव-नगर घूमूँगा और तुम्हारे आह्वान को इसी शंख के गद्य-गम्भीर स्वर में मुक्त भाव से बेदाम जन-जन बाँटता फिरूँगा।....मुझे न तो विराट् से एकाकार होना है, मोक्ष लेना है; और न तो मुझे कविताओं का मोती चाहिए और न चाहिए तत्त्वदर्शन का अमृत घट। मुझे तो चाहिए शुचिश्वेत आवाहनमय एक गद्य-शंख ! दोगे तो, दो।" देखें, यह जन्मान्तर के अनुभव का अगम-अथाह समुद्र, मेरी चिन्तन अस्मिता का समुद्र, मेरी प्रार्थना सुनता है या नहीं। ■■

[जंगली कैक्टस की क़लम : पृष्ठ ३५ का शेषांश]

"क्यों ?"

"वह बहुत इण्टेलीजेण्ट है।"

मैं ने आश्चर्य से आँखें फाड़ी—"शाबाश—आज से तुम मेरे वंशज हुए—तुम्हारी और मेरी पसन्द एक ही है।'

अपने वंशज को रिंग मास्टर बना कर मैं लौट आया। सतलज अशेष सुख से बाँध की भुजाओं में समर्पित हुई चली जा रही थी। रिंग मास्टर की चाबुक के नीचे—असम की वह ख़ूँखार दहाड़ धीमे-धीमे गुर्रा रही थी... जंगली कैक्टस की क़लम शहर के ड्राइंग रूम में आ रही थी।

गुलदस्ते के कुछ फूल उस ने अपनी वेणी में सजा लिये थे। ■
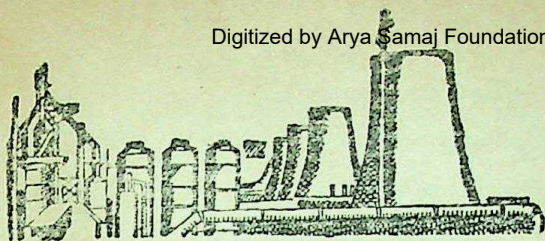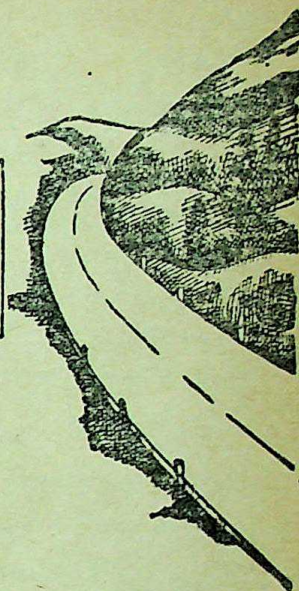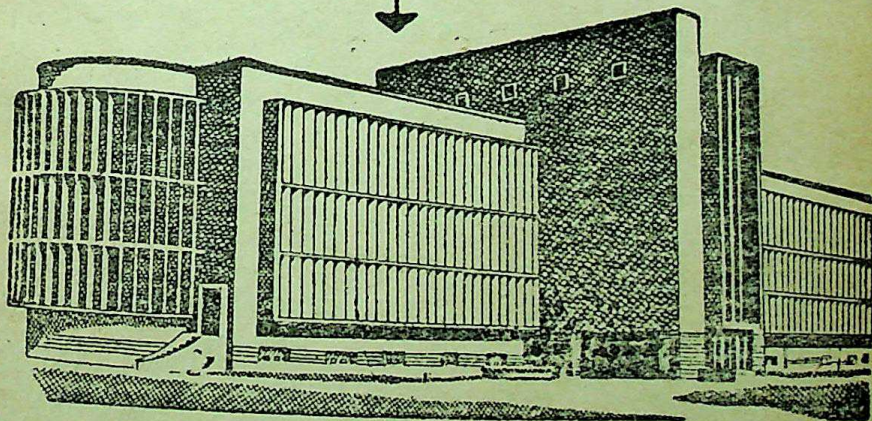
दा
दा य रा
रा

सुखबीर

●

सीमा, खिड़की में से बाहर, कमल को भटकते हुए देखने लगी—जाने-पहचाने रास्तों पर, और अनजान रास्तों पर। इस शहर की उन सड़कों पर, जिन के बारे में उस ने एक बार कहा था कि वे किसी आदमी के दिमाग़ के उलझे हुए विचारों की तरह हैं। वे एक-दूसरी में फँसती हैं, निकलती हैं, और फिर उलझ जाती हैं। उन का कहीं अन्त नहीं है। वे एक जगह खत्म होती हैं और फिर चल पड़ती हैं....। या क्या, यह भटकते हुए क़दम हैं, सीमा ने सोचा, जिन के कारण उन सड़कों का कहीं अन्त नहीं होता ? क़दम भटकते हैं तो वे सड़कें एक जगह खत्म हो कर भी फिर से शुरू हो जाती हैं। आखिर कमल कब तक इस तरह भटकता रहेगा ?

कमल के भटकने के बारे में सोचते हुए सीमा को अपने जीवन का खयाल आया। कमल से उलटा, उस ने अपने जीवन को एक जगह बाँधा हुआ था। कमल इस शहर में बिखर गया था, पर सीमा ने अपने जीवन को एक घेरे में समा दिया था। चारों ओर से उसे बन्द कर दिया था और

कोई भी दरवाज़ा खुला नहीं रहने दिया था। वह एक घर की सीमाओं में घिर गयी थी, एक परिवार की सीमाओं में घिर गयी थी। वह अपने पति के कारण सीमाओं में घिर गयी थी, और अपनी बेटी के कारण सीमाओं में घिर गयी थी। वह जानबूझ कर सीमाओं में घिर गयी थी, और स्वयं को सुरक्षित अनुभव करने लगी थी। वैसे असली जीवन भी यही है, वह मन में कहती। आदमी को सँभलना चाहिए। बिखरे हुए अस्तित्व को एक जगह इकट्ठा कर के सँभाल लेना चाहिए। यही असली जीवन है। बीता हुआ जीवन तो एक सपना है, एक छलना। यही असली जीवन है। आदमी सिर्फ़ अपने लिए ही तो नहीं जीता, अपने परिवार के लिए भी जीता है, अपने उस घर के लिए भी जीता है, जिसे उस ने बनाया है, और जिस में उसे बाक़ी का जीवन काटना है।

बाहर अँधेरा फैलने लगा था। उस अँधेरे में सीमा ने नज़र पर कुछ ज़ोर डाल कर इमली के पेड़ को देखा। फिर नज़र पर और ज़ोर दे कर उस साँप को देखना चाहा जो उसे कभी-कभी पेड़ पर दिखाई दिया करता था। पर उस समय वह कहीं दिखाई न दिया। तब सीमा की नज़र सामने की बस्ती की ओर गयी, जहाँ घरों में बत्तियाँ जल उठी थीं। उस ने उठ कर अपने कमरे की बत्ती जलायी। फिर बाहर खेल रही अपनी बेटी 'नन्हीं' को आवाज़ दी। वह आयी तो उसे बैठ कर गिनती लिखने के लिए कहा, और स्वयं रसोई में चली गयी। अँगीठी में कोयले सुलगाने लगी। कोयले सुलगाते हुए उसे पति का खयाल आया। अभी आये नहीं, उस ने मन में कहा। शायद आते ही हों। हो सकता है, देर से आयें। वैसे अब तक तो आ जाना चाहिए था। आदमी को जल्दी घर आ जाना चाहिए। पीछे कोई कब तक बैठा इन्तज़ार करता रहे। कई बार तो अकेले बैठे हुए डर लगने लगता है। यह बस्ती अकेले में रहने लायक़ भी नहीं है। लफंगों से भरी पड़ी है। आवारा क़िस्म के लोग लफंगे और गुण्डे ही तो बनेंगे। अभी परसों एक घर में चोरी हो गयी थी। चोर सब-कुछ बुहार कर ले गये थे। कमीने किसी ज़माने के! सब-कुछ

ही बुहार कर ले गये। भला चोरी की चीज़ें उन्हें कैसे पचती हैं? घर को वीरान बना जाते हैं! बरसों के बाद कहीं जा कर घर बनते हैं। पर उजड़ते हुए देर नहीं लगती। अब उस घर में.......

उस घर के बारे में सोचते हुए सीमा को अपने घर का भी खयाल आ रहा था, जिसे उस ने बड़े यत्नों से बनाया था और बड़े यत्नों से सँभाला हुआ था। वह पहला घर, जो उन्हों ने इस शहर में आने पर लिया था, उन के हाथ से जाता रहा था। न चाहते हुए भी उन्हों ने उसे छोड़ दिया था। उस का किराया बहुत भारी पड़ता था। सो इस बस्ती में कम किराये का यह घर ले लिया था। यह घर सुन्दर नहीं था, न ही खुला। बस गुज़ारे लायक़ ही था। सीमा को खुशी थी कि उस का किराया उन के मुँह की रोटी नहीं छीनता था। और फिर क़िस्मत का चक्कर है, आदमी उस के सामने क्या कर सकता है? सीमा सोचती और सब्र कर लेती। वैसे यह घर बुरा भी क्या है? छोटा है, तो सँभाला भी तो अच्छी तरह जाता है। बड़े घर को तो सँभालने में ही सारा दिन निकल जाता है। आदमी को सुख-चैन की नींद आनी चाहिए, घर चाहे छोटा हो चाहे बड़ा। बस सुख-चैन की नींद......

कोयले बुझ गये थे। उन्हों ने आग नहीं पकड़ी थी। सीमा का ध्यान उन की ओर गया तो उस ने उन के नीचे फिर काग़ज़ रख कर आग जलायी। बस सोचने लगती हूँ तो फिर किसी बात का ध्यान ही नहीं रहता, उस ने मन में कहा और सचेत हो कर कोयलों को आग पकड़ते हुए देखने लगी। बीच-बीच में उन्हें फूँकें मारने लगी। कोयले ही कुछ गीले हैं या आग ही ठीक तरह नहीं जली? उस ने सोचा और फिर फूँकें मारने लगी।

सीमा अकेली बैठी होती तो उस का मन भटकने लगता। स्कूल में भी, बच्चों को कभी लिखने का कोई काम दे कर बैठी होती तो उस के विचार काफ़ी देर तक कक्षा में न लौटते। वे कहीं के कहीं पहुँचे हुए होते। उसे बच्चों का शोर भी न सुनाई देता। आखिर जब उस का ध्यान टूटता तो वह बच्चों की ओर देखती, जिन में से कई उसे बड़ी हैरानी से निहार रहे होते। और वह सँभलने का प्रयत्न करती।

घर में बैठी वह कई बार अपने विचारों में खोयी हुई होती तो कभी उसे दीवारों में से दो आँखें झाँक रही दिखाई देतीं। वे उस घर की दीवारें थीं, या वे दीवारें थीं जो उस ने अपने चारों ओर खड़ी की हुई थीं और जिन में वह स्वयं को सुरक्षित अनुभव करती थी? वह कुछ भयभीत-सी बनी हुई उन आँखों की ओर देखती। वे आँखें एकटक उस की ओर देख रही होतीं और कुछ कह रही होतीं। कमल की उन आँखों में सीमा को कभी एक याचना दिखाई देती, कभी आग दिखाई देती, और कभी एक जादू, जो उसे जड़वत् बना देता। सीमा को उन से डर लगता। वह उन्हें न देखने का यत्न करती। उन की ओर से मुँह मोड़ लेती।

पर वे हर एक दीवार में से दिखाई देतीं। कभी सीमा को लगता, वे पिछली दीवार में से झाँक रही हैं, जिस की ओर उस की पीठ होती। वह उधर देखना न चाहती, पर उस का चेहरा अनायास ही पीछे की ओर मुड़ जाता। कभी उसे लगता, जैसे अँधेरे में कोई चोर उस के घर के अन्दर झाँक रहा है, और इन्तज़ार कर रहा है कि वह सो जाये तो चोरी करे। जब रात को सोते समय उस का पति सत्यपाल दरवाज़े को अन्दर से ताला लगा रहा होता तो सीमा को कमल का खयाल आता और लगता, कमल जैसे बाहर खड़ा है। हाँ, सीमा सोचती, मैं ने भी तो अपने जीवन के दरवाज़े को ताला लगाया हुआ है। वह दरवाज़ा रात के समय भी बन्द रहता है, दिन के समय भी बन्द रहता है। कई बार सोचती हूँ कि अगर वह दरवाज़ा सदा बन्द ही रहना है तो क्यों न उस की जगह दीवार उठा दी जाये? फिर उस दरवाज़े के खुलने का डर ही नहीं रहेगा। पर दरवाज़ा बन्द होने पर भी तो यह आँखें घर में झाँकती रहती हैं। यह आँखें तो दीवारों में से भी झाँकती रहती हैं। दीवारों को कोई कैसे ताले लगाये? या क्या दीवारें गिरा दूँ और उन आँखों से कहूँ कि मैं बन्द नहीं हूँ, मैं छिपी हुई नहीं हूँ, देख लो, तुम्हें जो देखना है, खुलेआम देख लो जो देखना है, लुक-छिप कर देखने की क्या ज़रूरत है?

पर क्या यह आँखें लुक-छिप कर देख रही हैं? सीमा ने सामने की दीवार में से झाँक रही उन आँखों की ओर देखते हुए सोचा। नहीं, यह आँखें तो ऐसे झाँक रही हैं, जैसे सड़क के किसी मोड़ पर खड़ी झाँक रही हों। आखिर यह क्या चाहती हैं?. ऐसे देखती हुई क्या पाना चाहती हैं? कब तक ऐसे देखती रहेंगी?

सीमा कमल के विचारों में बह चली थी। आखिर वह उन्हीं में डूब गयी। और उसे अँगीठी में सुलगते हुए कोयलों का खयाल ही न रहा। उन में से छोटी-छोटी लाल-सुर्ख लपटें निकल रही थीं, और उन के सेंक के कारण सीमा का चेहरा दमक रहा था। उस के माथे पर पसीने की हलकी-सी सजलता थी। कैसे दिन थे वे भी। सीमा सोच रही थी। और वे दिन उस के सामने उस समय हूबहू साकार हो उठे थे। वह उन दिनों में घूम रही थी और उन दिनों को जी रही थी। एक उम्र होती है ऐसे दिनों का आनन्द लेने के लिए भी, सीमा ने मन में कहा। एक उम्र में ही ऐसे दिनों—नहीं, किसी उम्र में भी, ऐसे दिनों का आदमी आनन्द ले सकता है। हर उम्र में यह दिन आदमी के जीवन में आ सकते हैं। दरअसल इन दिनों के लिए कोई उम्र नहीं होती। किसी उम्र में भी—वैसे मेरी उम्र अभी है भी कितनी! कई बार बेशक ज्यादा लगती है, पर आखिर कितनी है? वैसे प्यार कोई उम्र नहीं देखता। प्यार तो एक फूल है।···प्यार तो एक मृग-तृष्णा है, जो···

सीमा को एकबारगी अपने जीवन में शुष्कता ही शुष्कता प्रतीत हुई। उसे लगा, उस का जीवन एक मरुस्थल है और प्यार

की झील उस मरुस्थल में नहीं है। प्यार की झील उस मरुस्थल से कहीं बाहर है और वह स्वयं उस मरुस्थल में फँसी हुई है। उस में से अब कभी निकल नहीं सकेगी। बस केवल एक आशा थी कि कोई नदी अपना रास्ता छोड़ कर उस की ओर मुँह मोड़ ले, या कोई नहर उस में से बहने लग जाये। हाँ, अब किसी नदी या नहर पर ही आशा थी, वर्षा के बादल तो आसमान में से कभी नहीं बरसेंगे। बरसना तो एक तरफ़ रहा, उन की ठण्डी छाया भी कभी सिर पर नहीं आयेगी।

पति के संग जीवन बिताते हुए सीमा को अपने जीवन में कई बार बेहद शुष्कता दिखाई देती। वह अपने दिल में भी शुष्कता अनुभव करती। पति के साथ यह कैसा सम्बन्ध था जिस में कभी ऐसे लगता था कि दिन आते थे और बीत जाते थे, रातें आती थीं और बीत जाती थीं। पर कभी-कभी दिन बीतने में नहीं आते थे, और न ही रातें बीतने में आती थीं। मरुस्थल में से गुज़रता हुआ रास्ता खत्म होने में नहीं आता था। सीमा का पति के साथ जो सम्बन्ध था, उस में एक कर्त्तव्य था, एक सहानुभूति थी; पर प्यार नहीं था। उन दोनों को एक घर ने आपस में बाँधा हुआ था, एक साझे भार ने आपस में जोड़ा हुआ था। उन के बीच में प्यार की गाँठ नहीं पड़ सकी थी। प्यार की गाँठ, सीमा सोचती, अगर पड़ जाती तो क्या होता? क्या तब जीवन कुछ और तरह का होता? किस तरह का होता? इस वर्तमान जीवन से भिन्न और किस तरह का होता? भला अगर जीवन ज़रा अच्छा, सुख-आराम वाला होता तो प्यार के बिना कैसे होता?

सत्यपाल के प्रति सीमा के मन में सहानुभूति थी और अपनत्व था। सीमा को वह किसी डरे हुए निराश्रित बच्चे की तरह लगता। उस का हर दुःख सीमा को अपना दुःख प्रतीत होता। पर सीमा के मन में उस के लिए प्यार नहीं था। उस से सीमा को प्यार हो ही नहीं सका था। या क्या हमारा यह सम्बन्ध ही प्यार का रूप है? सीमा सोचती। पर नहीं, प्यार तो कुछ और तरह का होता है। उस का अहसास कुछ और तरह का होता है। वैसा, जैसा कि कमल के साथ था। जैसा कि कमल के बारे में सोचते हुए आज भी होता है। आखिर यह प्यार का अहसास कैसे पैदा होता है? किस बात में से पैदा होता है? पति के साथ पैदा क्यों नहीं हुआ? यत्न करने पर भी पैदा क्यों नहीं हो रहा? अगर कहीं कमल के साथ शादी हो जाती तो क्या मैं आज ऐसे महसूस करती? उस प्यार की आज क्या शक्ल होती? आज मैं कैसे महसूस करती?

सीमा को याद आया, कमल ने एक बार कहा था, 'प्यार के बिना मैं ने जी कर देखा है। फिर तुम्हारे आने पर प्यार में जी कर देखा है। अब अगर मुझे फिर कभी प्यार के बिना जीना पड़े तो ज़िन्दगी वीरान लगे।"

"मेरे बिना या प्यार के बिना?" सीमा ने पूछा था।

"तुम्हारे प्यार के अहसास के बिना। तुम चली जाओगी, फिर भी तुम्हारे प्यार का अहसास नहीं जायेगा !"

क्या मैं भी उसी प्यार के अहसास की बदौलत जी नहीं सकती ? सीमा ने सोचा, और उसे डर-सा लगा। उस ने दरवाज़े की ओर देखा, जैसे वहाँ उस का पति खड़ा हो। पर वहाँ कोई नहीं था।

सीमा ने फिर सामने देखा, जहाँ दीवार में से कमल की दो आँखें उसे देख रही थीं।

तभी वह दीवार सीमा को लहराता हुआ समुद्र प्रतीत हुई और उस समुद्र की पृष्ठभूमि के सामने वह कमल की आँखों को देखने लगी।

विवाह से पहले कमल उसे आखिरी बार मिला था। वे समुद्र तट पर जा कर बैठे थे। कमल की पीठ समुद्र की ओर थी और मुँह सीमा की ओर। वह सीमा के संग जब भी समुद्र पर गया था, हमेशा समुद्र की ओर पीठ कर के ही बैठा था। एक बार सीमा ने कहा था, "और जोड़े तो समुद्र के किनारे इस तरह नहीं बैठते : लड़का और लड़की, दोनों ही समुद्र की ओर मुँह कर के बैठते हैं। आप का उस तरफ़ पीठ कर के बैठना अजीब-सा लगता है।"

"मैं समुद्र की तरफ़ ही मुँह कर के बैठा हुआ हूँ," कमल ने कहा था।

सीमा किसी अथाह सरूर में मुसकरायी थी। उसे लगा था कि वह सचमुच ही समुद्र थी।

उस आखिरी मुलाकात में भी कमल उसी तरह बैठा हुआ था। सीमा उस की ओर भी देख रही थी, और उस के कन्धों पर से समुद्र की ओर भी देख रही थी।

वे दोनों काफ़ी देर तक कुछ बोल नहीं सके थे।

"कुछ बोलेंगे नहीं ?" आखिर सीमा ने चुप तोड़ी थी।

"तुम ही कुछ बोलो।"

सीमा कुछ बोल नहीं पायी थी।

दोनों फिर देर तक चुप बैठे रहे थे।

आखिर कमल ने रेत की मुट्ठी भरी थी और फिर रेत को उँगलियों में से हौले-हौले नीचे गिराते हुए कहा था, "सीमा, कहीं मैं इस रेत की तरह गिर न जाऊँ।"

सीमा ने झट अपने हाथ से उस की मुट्ठी पकड़ कर दाब ली थी। रेत गिरने से हट गयी थी।

"क्या यह सदा इसी तरह बन्द रहेगी ?" कमल ने सीमा की आँखों में झांक कर पूछा था।

"इसे बन्द ही रखना।"

"अगर यह खुल गयी तो ?"

"इसे बन्द ही रखना।"

"पर अगर बन्द न रही तो ?"

"नहीं, इसे बन्द ही रखना।"

फिर कुछ देर की चुप।

दोनों एक-दूसरे की आँखों में देखते रहे थे।

"क्या मैं फिर कभी इस शहर में आ सकूँगी ?" सीमा ने चुप तोड़ी थी।

"क्या तुम सचमुच जा रही हो,"

सीमा ? कमल ने चौंक कर पूछा था। उसे उस के जाने पर जैसे विश्वास ही नहीं हुआ था।

"जा रही हूँ," सीमा ने कहा था, "पर मेरे जीवन का जो हिस्सा इस शहर में बीता है, वह नहीं जायेगा। वह यहीं रहेगा।"

कमल चुप रहा, तो सीमा ने एक क्षण रुक कर फिर कहा था, "काश, कहीं जीवन का बाक़ी हिस्सा भी इस शहर में ही बीत सके। वरना यह शहर मुझे अपनी ओर खींचता रहेगा।"

"हाँ, यह शहर तुम्हें खींचता रहेगा," कमल ने धीमे से कहा था।

"जिस शहर में मैं जा रही हूँ, वह तो सूना है, बहुत छोटा-सा शहर है।"

"हाँ। और मुझे लगता है, तुम उस शहर में समा नहीं सकोगी।"

"अगर समा गयी तो फिर शायद निकल न सकूँ।"

"नहीं, तुम उस में समा नहीं सकोगी। तुम्हारी मंज़िल वहाँ नहीं है।"

"मेरी मंज़िल !" सीमा ने कहा था। "कहाँ है मेरी मंज़िल ?"

"तुम ही बताओ, कहाँ है तुम्हारी मंज़िल ?"

"मेरी मंज़िल ?" सीमा ने एक क्षण सोचा था। "शायद वहीं बन जाये, जहाँ मैं पहुँच जाऊँ।"

"पहुँच जाओ ! या जहाँ तुम पहुँचना चाहती हो ?"

इस बार सीमा ने जवाब देने के बजाय कमल पर से नज़र हटा कर समुद्र की ओर देखा था, जिस की लहरों पर एक कश्ती एक ही जगह पर खड़ी हुई डोल रही थी। वह कुछ देर एकटक उसे देखती रही थी।

"क्या देख रही हो ?" कमल ने पूछा था।

"समुद्र···और एक कश्ती। वह देखिए।"

कमल ने नज़र पीछे नहीं मोड़ी थी। सीमा की ओर ही देखता रहा था।

"देखिए न" सीमा ने कहा था।

"देख रहा हूँ।"

"समुद्र ही या कश्ती भी ?"

"कश्ती भी।"

"क्या कर रही है कश्ती ?"

"खड़ी है और डोल रही है।"

सीमा ने कुछ आश्चर्य से कहा था, "आप को कैसे पता लगा कि वह डोल रही है ?"

"देख कर !" कमल हलका-सा मुसकराया था।

"तो आप की आँखें, आप के पीछे भी हैं ?"

"हर तरफ़ हैं ?"

"हर तरफ़ ?"

"हाँ सीमा, मैं तुम्हें हर तरफ़ से देख सकता हूँ। मैं तुम्हें बिना आँखों के भी देख सकता हूँ।"

सीमा ने कमल की आँखों की गहराई में झाँका था। देर तक झाँकती ही रही थी। और उस ने सोचा था, क्या ये आँखें मुझे इसी तरह देखती रहेंगी ?....

हाँ, वे आँखें सीमा की दीवार में से एकटक देख रही थीं। दीवार सपाट थी, पर वे आँखें बहुत गहरी थीं। उन में एकटक झाँक

पर दीवार के उस पार देखा जा सकता था। उस पार ? उस पार क्या है ? सीमा ने सोचा, और उस पार उसे अँधेरा दिखाई दिया। उसे झुनझुनी-सी आयी और उस ने उधर से नज़र हटा ली। फिर दीवार की ओर देखने लगी। दीवार सपाट थी। और अब उस में दो आँखें नहीं थीं। सीमा ने उधर से नज़र हटा ली। उस का ध्यान अँगीठी की ओर गया। उस में के कोयलों पर पतली-पतली राख जमी हुई थी और राख के नीचे से हलका-हलका सेंक आ रहा था। सीमा उन कोयलों को देखती रही और उन के सेंक महसूस करती रही। फिर उसे कोयले दिखाई देने से हट गये। सेंक महसूस होने से हट गया। अँगीठी में से एक शून्यता उभरी। वह शून्यता बढ़ने लगी और सीमा को लगा, वह शून्यता जैसे उस के दिल में भर गयी थी।

वह काफ़ी देर जड़वत् बनी बैठी रही। उसे अपने शरीर में से सेंक आ रहा प्रतीत हुआ। अंग थके हुए महसूस हुए। अँगीठी में और कोयले डालने का ख़याल आया। पर वह हिल न सकी। अँगीठी की ओर देखती हुई कहीं दूर देखने लगी। दूर बीते हुए दिनों में।

उन दिनों कमल उसे पढ़ाया करता था। वह जब भी उन के घर आता, सीमा उस से गणित का कोई-न-कोई प्रश्न पूछने बैठ जाती। आख़िर कमल उसे नियमित रूप से पढ़ाने लगा था। समय नियत हो गया था और वह रोज़ आने लगा था।

वे एक-दूसरे के निकट आने लगे थे तो एक दिन कमल ने रेखागणित पढ़ाते हुए कॉपी पर एक बिन्दु लगाया। उस पर कुछ देर तक पेन्सिल की नोंक घुमाता रहा। फिर उस से कुछ दूरी पर एक और बिन्दु लगाया। और सीमा की ओर देखा।

सीमा ने भी उस की ओर देखा और अपनी पेन्सिल से एक बिन्दु से सीधी रेखा खींच कर दूसरे बिन्दु से मिला दी। और उस के नीचे लिखा : "ए स्टेट लाइन इज़ द शार्टेस्ट डिस्टेन्स बिटवीन टू पॉइण्ट्स।"

कमल ने पेन्सिल से एक बिन्दु पर से रेखा शुरू की और उसे बांके टेढ़े ढंग से खींचते हुए दूसरे बिन्दु से मिला दिया। और नीचे लिखा : "ए लॉग-लॉग डिस्टेन्स बिटवीन टू पॉइण्ट्स।"

कुछ देर के बाद उस ने दोनों बिन्दुओं से कुछ दूर एक तीसरा बिन्दु लगाया। फिर पहले और तीसरे बिन्दु को एक सीधी रेखा से मिला दिया। और सीमा की ओर देखा।

सीमा झट तीसरे और दूसरे बिन्दु को मिलाने के लिए रेखा खींचने लगी पर उस का हाथ रुक गया।

इसी तरह एक और मौक़े पर, कमल ने कॉपी पर एक-एक बिन्दु लगाया और कुछ देर उस पर पेन्सिल की नोंक घुमाता रहा। फिर उस के गिर्द एक दायरा खींचा। और सीमा की ओर देखा।

सीमा ने भी उस की ओर देखा और आँखों से ही पूछा—मतलब ?

कमल ने आँखों से ही जवाब दिया—क्या मतलब समझ नहीं आया ?

नहीं—सीमा ने आँखों से कहा।

तब कमल ने बिन्दु के पास लिखा : "केन्द्र—यानी तुम।" और दायरे की रेखा के पास लिखा : "चक्कर—यानी मैं।" फिर लिखा : "मैं सदा तुम्हारे गिर्द चक्कर की तरह घूमता रहूँगा।"

सीमा अचानक चौंकी। दरवाज़े पर दस्तक हुई थी। पर उस ने देखा, वहाँ कोई नहीं था। तब उस का ध्यान नन्हीं की ओर गया, जो चटाई पर बैठी गिनती लिखते-लिखते सो गयी थी। वह स्लेट पर अपनी गाल टिकाये सोयी हुई थी और उस के हाथ में अभी भी स्लेट पकड़ी हुई थी। सीमा उठी। उस ने बेटी को उठा कर चारपाई पर लेटाया। फिर स्वयं भी चारपाई पर एक तरफ़ बैठ गयी। कोई बात याद करने लगी। भला क्या सोच रही थी? उस ने मन में कहा। और उस के कान में जैसे आवाज़ गूँजी, "मैं सदा तुम्हारे गिर्द घूमता रहूँगा। तुम केन्द्र हो और मैं दायरा।"

"दायरा।" सीमा के होठ धीरे-से हिले। फिर उस ने मन में कहा, दायरा तो मैं हूँ। नहीं, दायरा नहीं, बल्कि दायरे में घिरी हुई। मैं ने अपने गिर्द एक दायरा खींचा हुआ है और दायरे की वह रेखा उस रेखा की तरह है जो लक्ष्मण ने सीता के गिर्द खींची थी। वह लक्ष्मण-रेखा पार नहीं की जा सकती। कमल भी मेरे गिर्द खिंची हुई इस रेखा को पार नहीं कर सका। और उस रेखा में घिरी हुई मैं स्वयं को सुरक्षित अनुभव कर रही हूँ। जब तक मैं इस दायरे में घिरी हुई हूँ, मुझे कोई डर नहीं है।

सीमा को अपना आपा कुछ हलका हो गया लगा।

पर क्या मेरी सारी उम्र इसी तरह निकल जायेगी? उस ने फिर सोचा। ऐसे ही, इस दायरे में घिरे हुए? क्या यह दायरा कभी टूटेगा नहीं? और अगर टूट गया तो क्या होगा? क्या यह सचमुच टूट सकेगा? टूट गया तो?....तो वह घर भी टूट जायेगा, जो मैं ने इतने यत्नों से बनाया है। घर टूट गया तो पति भी टूट जायेंगे। घर टूट गया तो नन्हीं का क्या बनेगा? इस मासूम बच्ची का...? सीमा ने धीमे-से नन्हीं के कपोल को सहलाया और उस की आँख पर आयी हुई बालों की लट को एक ओर हटाया। नहीं, यह दायरा टूटेगा नहीं, उस ने दृढ़ता से मन में कहा। यह टूट नहीं सकेगा। यह टूटनेवाला दायरा नहीं है। भला कैसे टूट सकता है?

■

मिलिए—महादेवी वर्मा से

प्रमोद सिनहा

●

श्रीमती महादेवी वर्मा को उन के घर पर लोग गुरुजी के नाम से ही अधिक जानते हैं और गुरुजी व्यस्त बहुत रहती हैं। ऐसे महादेवी जी की व्यस्तता भी सकारण है। परिवार काफ़ी बड़ा है और इस के सदस्य भी तरह-तरह के हैं। सब की देख-भाल इन्हें ही करनी पड़ती है। बादल, नील बाला, श्वेता और शुभ्रा में से कोई-न-कोई बीमार अवश्य रहता है। जानवरों के डॉक्टर अकसर इन्हें देखने आते हैं। मकान के पीछे गराज के पास सब के अलग-अलग खाट पड़े रहते हैं और ये सभी आराम से टहलते नजर आते हैं। इन कुत्तों के अलावा कभी आप बिल्लियों की बात चलाइए तो उत्तर मिलेगा—चित्रा तो रही नहीं, अब उस की लड़की है। देवी जी उस का नाम भी बतायेंगी और जन्म-तिथि भी। इधर दो मोरनी खरीद लायी हैं। पर नयी होने के कारण ये दोनों ही अभी तक अनामा हैं। इन का किसी दिन नाम करण-संस्कार होगा और तब घर-भर के सारे लोग—मसल

पुनम्मा जी, श्रीराम पाण्डेय, आदि ढेर सारे लोग बरामदे या आँगन में इकट्ठे होंगे। सुना है कि ऐसे मौक़ों पर महादेवी जी और भी अधिक व्यस्त हो जाती हैं।

पहले महादेवी जी अकसर सभा या गोष्ठियों में जाने से कतराती थीं और भरसक उस से बचने की चेष्टा करती थीं। वह इन का अन्तर्मुखी व्यक्तित्व था। मगर अब यह सब-कुछ इतिहास है। इधर महादेवी जी बहिर्मुखी हो गयी हैं, और छायावाद युग समाप्त कर उद्घाटन के दौर से गुज़र रही हैं। प्रयाग ऐसे ही गोष्ठियों का नगर है। यहाँ हर समय कुछ-न-कुछ होता ही रहता है। लेखक-सम्मेलन, अखिल भारतीय नाट्य प्रतियोगिता हो या कालिदास अकादेमी समारोह, लेडीज़ क्लब हो या और कुछ, यदि महादेवी जी घर पर नहीं हैं तो इन्हें समारोह में उद्घाटन भाषण या अध्यक्षता करते सहज रूप से देखा जा सकता है।

इधर रंगमंच की ओर भी इन की रुचि बढ़ती जा रही है। इस रुचि के परिणाम-स्वरूप इन्हों ने कोई नाटक लिखा हो या नहीं पर रंगमंच पर लिखे गये इन के समीक्षात्मक लेखों को 'संकल्पिता' में पढ़ा जा सकता है।

महादेवी जी छायावाद के बाद किसी भी साहित्यिक आन्दोलन के साथ शरीक़ नहीं हुईं पर इधर इन्हों ने 'नयी कहानियाँ' में भी लिखना शुरू किया है। सहज कहानी के

व्याख्याता श्री अमृत राय ने इन की दो कहानियाँ हाल में ही प्रकाशित की हैं और वे इन दोनों कहानियों को भी सहज कहानी के अन्तर्गत गिनते हैं।

कविताएँ महादेवी जी अब भी लिखती हैं, पर पत्र-पत्रिकाओं में छपने के लिए नहीं देतीं। अवश्य ही यह असहयोग केवल पत्रिकाओं के साथ है। दीपशिखा की बुनावट पर लिखी गयीं इक्यावन कविताएँ 'प्रमा' नामक काव्य-संकलन के रूप में शीघ्र ही प्रकाशित हो रही हैं।

ऐसे इन सारी बातों से और कुछ हल निकले या नहीं पर महादेवी जी की सक्रियता का पता चलता है। अध्ययन, अध्यापन, चित्रकला, कविता, घर, बाहर आदि के कामों से महादेवी जी थकी नहीं हैं और अभी भी वैसा ही बेतहाशा हँस लेती हैं।

महादेवी जी न किसी पर नाराज़ होती हैं, और न किसी को डाँट ही सकती हैं। हाँ, व्यस्तता के कारण बात को टालना उन्हें अच्छी तरह आता है। यह साक्षात्कार भी अधूरा ही रह जाता यदि श्रीराम पाण्डेय माध्यम न बने होते।

इतने सारे अन्तर्विरोधों के बावजूद महादेवी जी अब भी लिख रही हैं और सारी व्यस्तता के बावजूद इस के लिए समय निकाल लेती हैं। मैं ने जानकारी के लिए ही पूछा—

● इन दिनों आप क्या लिख रही हैं ?

● ● इधर कई वर्षों से मैं 'ऋग्वेद' का पद्यबद्ध अनुवाद कर रही थी। अब उस का संशोधन कर रही हूँ। बीच-बीच में संस्मरण या कविता लिखती रहती हूँ। सोचा था देश के स्वतन्त्र होने पर कर्म-संकुलता से विराम मिल सकेगा। परन्तु तब से समस्याएँ इतनी उलझती गयीं कि अवकाश स्वप्न ही हो गया।

मेरी बहिर्मुखी कर्म-संकुलता के कारण प्रायः लिखने की इच्छा मन का द्वार खटखटा कर लौटती रहती है। कभी-कभी तो आधे लिखे काग़ज़, आधे बने चित्र, तूलिका, रंग आदि को ताले में बन्द कर देना पड़ता है, जिस से उन्हें देख कर लिखने या चित्र बनाने की इच्छा न जाग जाये।

● आप के गद्य और पद्य के बीच विधा का ही नहीं अभिव्यक्ति में विषय का भी अन्तर क्यों है ?

● ● मेरा पद्य गीतिबद्ध है। गीत में भावातिरेक तथा तज्जनित तन्मयता स्वाभाविक हो जाती है। गद्य में चिन्तन जिस तर्कसरणी की अपेक्षा रखता है वह गीत में सम्भव नहीं अतः विषय का अन्तर—विधा में अन्तर अनिवार्य कर देता है।

मुद्रण से अपरिचित अतीत युग में हमारे नीति, आचार, सामान्य ज्ञान आदि सभी पद्य में स्थायित्व पाते थे। आज भी हर कृषक, बैल, बीज, मिट्टी, वर्षा आदि के सम्बन्ध में पद्य-बद्ध सामान्य नियम कण्ठस्थ रखता है, परन्तु अपनी तन्मयता के क्षणों में वह कोमल भावनाओं से आर्द्र विरहा, चैती, मलार ही गाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक जीवन यान्त्रिक एकरसता को जन्म दे रहा है। मनुष्य की

दैनन्दिन आवश्यकताएँ ही नहीं उस के मनोरंजन का भी यान्त्रिकता में पाषाणीकरण होता जा रहा है। मेरे विचार से कविता मनुष्य की रागात्मक सत्ता पर अपना अधिकार छोड़ कर स्वयं तो रिक्त होगी ही, मनुष्य के व्यक्तित्व को भी यान्त्रिक बना देगी।

मनुष्य का जीवन विविध है। उस की आवश्यकताएँ और समस्याएँ भी विविध हैं। साहित्य की विधाएँ उस जीवन को सब ओर से स्पर्श करने के विविध साधन हैं।

● आप अपने गीतों में तटस्थ रही हैं या ये गीत स्वयं के ही सुख-दुःख के परिचायक हैं?

● ● गीत में तटस्थता की स्थिति स्वाभाविक नहीं है। उस में पराये सुख-दुःख से भी ऐसा सघन तादात्म्य हो जाता है कि वह अपना जान पड़ता है। फिर मैं तो तटस्थता को गीतकार का गुण नहीं मानती।

● इन गीतों में इतनी करुणा-विगलित अभिव्यक्ति क्यों है?

● ● कुछ संस्कार और कुछ अनुभूति-चिन्तन के सम्मिलित प्रभाव से प्राप्त जीवन-दृष्टि के कारण करुणा मेरे व्यक्तित्व का मूल भाव है। हर व्यक्तित्व को संश्लिष्ट रखने वाला कोई-न-कोई मूलभाव रहता ही है, जो उस के जीवन की विशेष दिशा की ओर प्रेरित करने की क्षमता रखता है। यह सायास नहीं है। परन्तु यह अन्ध आवेग भी नहीं है।

● आप के गीत सायास लिखे गये हैं या धाराप्रवाह (एसपाण्टेनियस)?

● ● मेरे गीत सायास हैं या अनायास, यह दूसरे ही बता सकते हैं। गीत पहले मेरे गुनगुनाने में शब्दाभिव्यक्ति पा लेता है—फिर मैं उसे लिख लेती हूँ। कभी-कभी लिखने का अवकाश न पाने पर भूल भी जाती हूँ। संशोधन काट-छाँट गीत ही में नहीं, गद्य में भी मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है। विद्यार्थी जीवन में, परीक्षा-काल में भी मेरी उत्तर-पुस्तिकाएँ बिना किसी प्रकार की काट-छाँट के ही लिखी जाती थीं और उन में कोई अशुद्धि कदाचित् ही मिली हो।

● छायावाद की सम्पूर्ण जिज्ञासा मूलतः शिशुवत् जिज्ञासा है जिस में प्रौढ़ता और स्थूलता की अपेक्षा कौतूहल अधिक है। यह कौतूहल हमें आप की रचनाओं में 'यामा' से 'दीपशिखा' तक की कविताओं में प्रारम्भ से अन्त तक मिलता है। मात्र जिज्ञासा और कौतूहल अनुभूति की प्रामाणिकता पर आघात माना जा सकता है। क्या आप इस से सहमत हैं?

● ● कौतूहल और जिज्ञासा में तत्त्वतः ही नहीं लक्ष्यतः भी अन्तर है। कुतूहल—अद्भुत रस से सम्बद्ध होने के कारण व्यक्ति में असाधारण आश्चर्यजनक वस्तु, भक्ति या कार्य के प्रति उल्लासयुक्त पर क्षणिक मनोभाव उत्पन्न करता है। हम जादूगर या नट के तमाशे को देख कर एक आनन्द प्राप्त करते हैं—उस के अद्भुत कार्यों का रहस्य क्या है, यह जानना हमारा लक्ष्य नहीं रहता।

जिज्ञासा इस से गम्भीर लक्ष्य रखती है और उस की उत्पत्ति एक अनिर्वचनीय अतृप्ति

से ही होती है, जिस के समाधान के लिए हम कठिन आयास भी स्वीकार करते हैं।

वैज्ञानिक की दुर्गम खोज जिस में जीवन जाने की आशंका रहती है, दार्शनिक और साधक की अन्तर्जगत् के रहस्यों की खोज, जिस में उन की समग्र जीवन-यात्रा एक दोर्घ तप का युग बन जाती है, जिज्ञासा से ही सम्भव है।

छायावाद में तमाशबीन का क्षणिक दृष्टि-सुख नहीं, मानव-मन की, विश्व-जीवन के अजस्र सौन्दर्य और सत्य की शोध है। इस निष्कर्ष का प्रमाण इस भाव-धारा के कवियों की रचना-विधाएँ ही दे सकेंगी।

प्रसाद ने नाटक के लिए भारत के अतीत इतिहास की इतनी महत्त्वपूर्ण खोज की कि काशीप्रसाद जायसवाल-जैसे इतिहासज्ञ को भी उन की प्रशंसा करनी पड़ी।

उपदेश और सुधार के युग में उन का 'कंकाल'-जैसा यथार्थवादी उपन्यास, वैज्ञानिक युग में उन का 'कामायनी'-जैसा बुद्धि और हृदय के संघर्ष और समाधान को वाणी देने वाला काव्य, विद्वत्ता तर्क के तटों को सँभालने वाले निबन्ध, अद्भुत से आनन्द पाने की कौतूहली वृत्ति नहीं हैं।

निराला की शक्ति-ओज भरी कविताएँ, तिलमिला देने वाले व्यंग्य, यथार्थ की भूमि पर ठहरने वाला कथा-साहित्य, निबन्ध आदि उन की जिज्ञासा की गम्भीरता प्रकट करते हैं।

पन्त की 'पल्लव', 'ग्राम्या' से ले कर 'लोकायतन' तक की काव्य-यात्रा तर्क-सरणियों में सुगठित निबन्ध, आलोचना आदि को बाल कुतूहलजनित कहना युग की मनीषा को अस्वीकार करना है।

इस तर्क के अनुसार तो ऊषा, मरुत् आदि में सौन्दर्य और शक्ति का दर्शन करने वाले ऋषि भी कुतूहली बालक थे, और नारदीय सूक्त-जैसी ऋचाओं में जिज्ञासा व्यक्त करने वाले भी।

● छायावाद की अपेक्षा द्विवेदी युगीन काव्य में नारी का रूप अधिक स्वतन्त्र और प्रगतिशील था। 'प्रिय प्रवास' की राधा या 'यशोधरा' या 'साकेत' की सीता अधिक भारतीय और स्वतन्त्र हैं। फिर उस तुलना में आप कैसे कह सकती हैं कि छायावाद युग में नारी अधिक स्वतन्त्र है?

● ● नारी की स्थिति में सुधार का कार्य तो द्विवेदी युग से पूर्व ही आरम्भ हो चुका था। ब्रह्म समाज ने बंगाल में तथा आर्यसमाज ने उत्तर भारत में नारी को सामाजिक दृष्टि से सुविधा सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु छायावाद के युग तक वह वस्तु से व्यक्ति की स्थिति तक नहीं पहुँच सकी थी। चाहे वह स्वर्ण या मिट्टी के पात्र की मदिरा हो चाहे पूजा की थाली का नैवेद्य। उस की पवित्रता पुरुष के गौरव का कारण थी और अपवित्रता पुरुष के मनोरंजन का साधन। नदी पर रखे घड़े का जल घड़े का जल ही रहेगा; उसे नदी की शिलाओं से जूझने की शक्ति तथा समुद्र तक पहुँचने की गतिशीलता देने के लिए घड़े को तोड़ कर जल को नदी में मिलाने की आवश्यकता होगी।

सन् १९१६-१७ से छायावाद का आरम्भ हुआ और सन् १९०० में महात्मा गान्धी राजनीतिक मंच पर आविर्भूत हुए। गान्धी जी ने उद्घोष किया कि मैं मनु के इस कथन को शास्त्रीय विधान नहीं मानता कि स्त्री के लिए कोई आजादी नहीं है। उन से भारतीय नारी ने सुना कि वह सत्य का आग्रह कर सकती है, न्याय के लिए समाज से, स्वजनों से विद्रोह कर सकती है। तब उस की स्थिति वस्तु से व्यक्ति की, रक्षणीया से संरक्षक की हो गयी अवश्य, परन्तु अनेक अन्तःबाह्य शृंखलाएँ उस के रोम-रोम को बाँधे हुए थीं।

छायावाद ने उस के सौन्दर्य को गंगाजल की पवित्रता और आकाश का विस्तार दिया। छायावादी नारी न सीता है, न राधा और न यशोधरा। उस का विद्रोह मृत्यु में नहीं समाप्त होता, क्योंकि वह प्रकृति के समान अपनी नियामक, अपनी नियति बन गयी है।

इस समय इतना अवकाश नहीं कि मैं विस्तार से इस पर प्रकाश डाल सकूँ। 'भारतीय संस्कृति में नारी' शीर्षक जो पुस्तक लिख रही हूँ, उस में इस विषय पर एक लम्बा अध्याय है।

● छायावाद युग में व्यक्ति मन को तो पहचाना गया पर भारत का समग्र स्वर क्यों नहीं सामने आया ?

● ● भारत के समग्र स्वर से आप का क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं हुआ। हिमालय से समुद्र तक फैले हुए हमारे महादेश में अनेक रूपात्मक भौगोलिक समग्रता भी है और सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि से सम्बन्ध रखने वाली समग्रता भी। युग-विशेष में उस की आवश्यकताओं का वैविध्य भी समग्र कहा जा सकता है। हमारे शरीर के अंगों की भिन्नता और उन का कर्म-वैविध्य ही शरीर की समग्रता है, परन्तु उन्हें संचालित तो मस्तिष्क का एक चेतना-केन्द्र ही करता है और जीवन-रक्त एक हृदय ही पहुँचाता है। चाहे आँखों के आगे विशाल शिला खड़ी हो, चाहे मार्ग में अजगर पड़ा हो, लौटना तो पैरों को ही पड़ेगा, किन्तु बाधा का बोध चेतना-केन्द्र को ही होता है और लौटने की प्रेरणा भय की अनुभूति ही देती है।

कविता जीवन को उस की समग्रता में युगनिष्ठ धरातल पर भी वाणी देती है, और युगान्तरनिष्ठ धरातल पर भी। जीवन की समग्रता में से वह किसी खण्ड को माध्यम के ही रूप में ग्रहण कर सकती है। इस माध्यम खण्ड के द्वारा चेतना तथा अनुभूति केन्द्रों तक बोध-विशेष और अनुभूति-विशेष को सम्प्रेषित करना ही कविता का लक्ष्य रहता है। इस सत्य को स्वीकार न करें तो सारी अतीत गाथा वर्तमान से विच्छिन्न हो जायेगी और वर्तमान की कथा में भविष्य अपरिचित रह जायेगा।

वस्तुतः छायावाद युग में कविता का लक्ष्य मन की मुक्ति की शोध और उपलब्धि है और यह मुक्ति भारत की वाह्य समग्रता में अन्तर्हित अन्तर्मन से सम्बन्ध रखती है। वाह्य परिवेश में मनुष्य कर्मतः जितने

सम्बन्धों में बँटा है, उतना अन्तर्जगत् में नहीं। ऐसी स्थिति में बाह्य परिवेश में आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले विशेष और भिन्न-भिन्न मूल्यों की शोध होती है और अन्तर्जगत् में एक सामान्य मूल्य की। छायावाद उस एक जीवन-मूल्य की खोज है, जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय मूल्यों में सामंजस्य ला सके। इस से भारत की समग्रता खण्डित नहीं होती, वरन् सारवती होती है।

व्यक्ति का सीमित मन भी व्यापक मनोजगत् में सीमाहीन स्थिति रखता है। मेरे विचार में छायावाद युग में व्यक्ति-मन किसी संकीर्ण सीमा का बन्दी नहीं बनाया गया, क्योंकि वह तो काव्य को लक्ष्य-च्युत ही कर देता।

● 'दीपशिखा' में चित्र और काव्य का मेल किस बात का द्योतक है। क्या आप के चित्र काव्य के पूरक हैं?

● ● एक कविता में अनेक शब्द-चित्र आते हैं, परन्तु रंग रेखाओं में उन में से किसी एक को ही साकारता दी जा सकती है। ऐसी स्थिति में चित्र को कविता का पूरक कहना उचित नहीं है। शब्द-चित्रों की समष्टि में जो उस समय मन के अधिक समीप होता है उसी को रंग-रेखाओं में व्यक्त करने का प्रयत्न करती हूँ। कभी-कभी सम्पूर्ण कविता का मूल भाव ही चित्र का आधार बन जाता है। चित्र से रहित रह कर भी कविता पूर्ण रहती है। परन्तु कविता के बिना चित्र अज्ञातनामा हो जाता है।

● आज जीवन के हर क्षेत्र में बढ़ते जा रहे असन्तोष के मूल में कौन-सा कारण है?

● ● राजनीतिक स्वतन्त्रता साधन मात्र होती है, साध्य नहीं, इस पक्ष को हम भूल गये। परिणामतः स्वतन्त्रता के नवीन परिप्रेक्ष्य में हम ने पुराने मूल्यों तथा मान्यताओं में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी। आज समस्याएँ नयी हैं और समाधान पुराने। अतः हर क्षेत्र में जीवन विषम से विषमतर होता जा रहा है।

प्रत्येक युग को कुछ युगान्तर मूल्य प्राप्त होते हैं और कुछ विशेष समस्याएँ। अपनी विशेष समस्याएँ सुलझाने के लिए उसे विशेष समाधानों की आवश्यकता होती है। इन विशेष समाधानों से जो जीवन-मूल्य बनते हैं, उन्हें आगामी युग प्रयोगात्मक रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं, युग सामान्य रूप में नहीं। जिस युग की समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु धर्म था उस में जीवन-मूल्य उसी से सम्बद्ध है। जिस युग में युद्ध पर बल दिया गया उस की मूल्यात्मक उपलब्धि शौर्य से सम्बद्ध है।

आधुनिक युग मानव-समानता पर बल देता है। अतः उस की समस्याएँ सूक्ष्म अन्तर्मन से स्थूल अर्थ तक फैली हुई हैं।

एक ओर शासन नीति के संचालकों ने नया मार्ग बनाने का आश्वासन दे कर के विदेशी शासकों के चरण-चिह्नों से बने राजमार्ग से ही अपनी विजय-यात्रा आरम्भ की। दूसरी ओर लोकमानस में इस मार्ग के सम्बन्ध में इतनी दुःखद स्मृतियाँ शेष हैं कि वह नवीन यात्रियों के हर पग को शंका से देखता है।

शंका हिंसा की जननी है। मनुष्य रस्सी में साँप का भ्रम होने पर रस्सी को ही लाठी से पीटने लगता है।

शासक तथा जनता में परस्पर अविश्वास और शंका की स्थिति स्थायी हो जाने पर किसी समस्या का समाधान खोजने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। जो इस शंका और अविश्वास की परिधि के बाहर हैं, उन के सम्मिलित प्रयत्न ही स्थिति में परिवर्तन ला सकते हैं।

● आप का प्रिय कवि कौन है और उस ने आप को कहाँ तक प्रभावित किया?

● ● आर्षवाङ्मय से अत्याधुनिक काव्य तक मेरे अध्ययन क्षितिज की सीमा में हैं। इन से अनुभूति और चिन्तन के क्षेत्र में मुझे बहुत कुछ मिला है। परन्तु किस से किस मात्रा में क्या मिला है, यह बताना सम्भव नहीं। किसी एक कवि अथवा काव्य को सब से भिन्न कर के देखना मेरे लिए कठिन है।

● 'सामान्यतः महादेवी का काव्य उपकरणों की दृष्टि से वैविध्यहीन माना जाता है' इस आरोप से आप कहाँ तक सहमत हैं?

● ● महादेवी जी ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया।

● राजकीय और ग़ैर-राजकीय पुरस्कारों के विषय में आप की क्या धारणा है?

● ● इस प्रश्न का उत्तर भी मौन ही मिला।

● ऐसे आज के प्राध्यापक महादेवी की तुलना मीरा से करते हैं और परीक्षा-पत्रों में प्रायः ऐसे प्रश्न भी पूछते हैं। आप उन के औचित्य-अनौचित्य पर कुछ प्रकाश डालेंगी?

● ● महादेवी जी फिर भी कुछ नहीं बोलीं। मैं सोचता था बात ना या हाँ से भी शुरू हो तो बात आगे तो बढ़ेगी फिर कुछ और पूछा जा सकेगा। पर इस चुप्पी के आगे विषयान्तर करना ही पड़ा। ऐसे भी हम लोग काफ़ी देर से बैठे थे। समय भी ज्यादा हो गया था और महादेवी जी को प्रयाग महिला विद्यापीठ जाना था। बल्कि उन्हें देर भी हो रही थी। फिर भी चलते-चलाते बात विद्यार्थी आन्दोलन पर जा टिकी तो उन्हों ने कहा—

"इस युग में राजनीति से अलग कौन रह पाता है। पर विद्यार्थियों के मन में अभाव का असन्तोष है। आज का विद्यार्थी अभाव-ग्रस्त है। वह अपनी माँग रखता है। कुछ माँग तो उस की जायज़ है; उसे पूरी करनी चाहिए। शेष के लिए भी उसे समझाना चाहिए, वह भी इस तरह कि उस का स्वाभिमान न टूटे। लेकिन यहाँ तो लोग (अधिकारी वर्ग) धनुष की दोनों कोटियों को इस तरह मिलायेंगे कि धनुष ही टूट जाये। दोनों कोटियों को मिला देने से तो शिव का धनुष भी टूट गया था। वैसे इस जमी हुई व्यवस्था के बाद बदलाव तो आयेगा ही। पर इस के टूटने से बहुत-कुछ अच्छे मूल्य भी टूट जायेंगे, इस लिए अच्छा यह होगा कि इस व्यवस्था के भीतर से ही नयी व्यवस्था का जन्म हो।

■ ■

मैं कभी अकेला नहीं होता हूँ, मसखरों का हुजूम

रामदेव आचार्य

मैं कभी अकेला नहीं होता हूँ

अनेक जाने-पहचाने स्वरूप
अशुद्ध व्याकरण में
मुझ में बनते-बिगड़ते रहते हैं,
मेरा पास-पड़ोस
मुझ में झाँक-झाँक कर
देखता रहता है अपनी छवियाँ,
मुझ से बतियाता रहता है मेरा परिवेश

मैं कभी राजनीति की सुरंगों को पार करता हूँ,
कभी इतिहास की ढलानों पर लुढ़कता हूँ,
यादों के भग्नावशेष
बनाते हैं मुझ में अपनी मौलिक आकृतियाँ,
सम्भावनाएँ चिनती हैं बुलन्द इमारतें ।

मैं कितनी-कितनी मणियों को
पाता हूँ, खोता हूँ,
मैं कभी अकेला नहीं होता हूँ ।
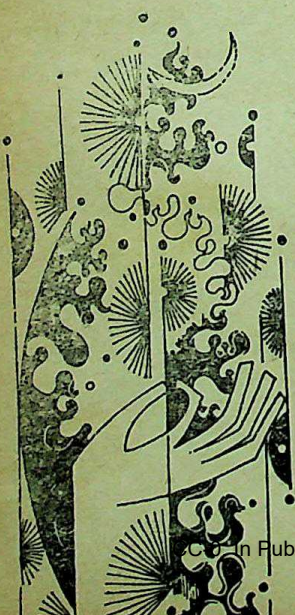
घुमावदार मोड़ों पर खीझता हूँ,
सुरम्य घाटियों पर रीझता हूँ,
यहाँ-वहाँ सिर झुकाता हूँ
(पराजित नहीं, समर्पित ।)
यहाँ-वहाँ सिर उठाता हूँ
(गर्वोन्नत नहीं; स्वाभिमानी ।)

अनेक मकड़ियाँ मुझ में बुनती हैं जाले
कुछ रेशमी,
कुछ सूती ।

कुछ जालों में टूटता हूँ
कुछ में जुड़ता हूँ,
कुछ में उलझता हूँ
कुछ से बचता हूँ ।
मैं अपनी ही मूर्त्तियों को
ढहाता हूँ, रचता हूँ,
जाने किस-किस उतार-चढ़ाव पर
हँसता हूँ, रोता हूँ ।
मैं कभी अकेला नहीं होता हूँ ।

मसखरों का हुजूम

●

अकाल और भूख पर
गरज-गरज कर
भाषण देते हुए सुनता हूँ
जब किसी (भूत-पूर्व) नरेश को
या छद्म वेश-धारी बनिये को
या सत्ता-सम्पन्न मन्त्री को
और
देखता हूँ कान दे कर भाषणों को चाटते
अकाल-पीड़ितों को,
बौद्धिकों को,
घिसे-पिटे श्रोताओं को,
और
फिर देखता हूँ
भाषण सँवारते पत्रकारों को,

विस्तार देते संवाददाताओं को,
भाषणों के सिंहासनों पर
वक्ताओं की कैमरा-मूर्त्तियों को
स्थापित करते छविकारों को…
और यह सब
चुपचाप देखते रहते हैं वे लोग
जिन्हें एंग्रीयंगमैन कहा जाता है,

तो मुझे लगता है
कि मेरे चारों ओर
मसखरों—
मसखरों ही मसखरों
का हुजूम इकट्ठा हो गया है ।
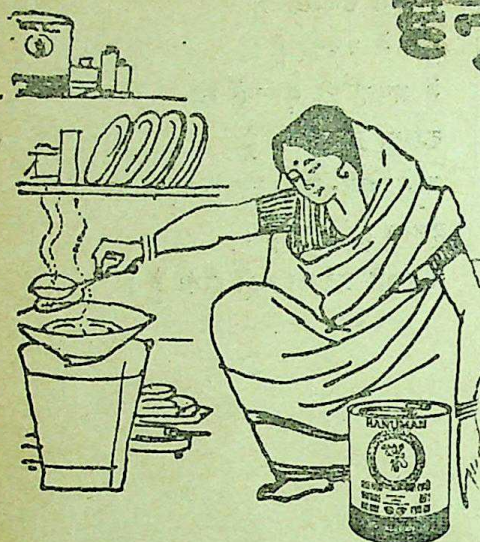
■ ■
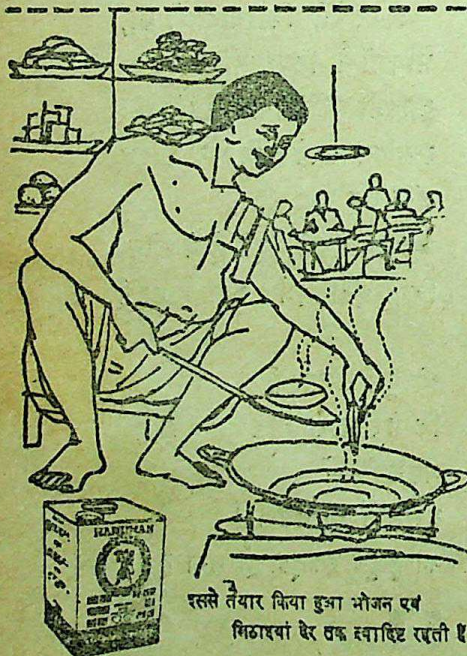
मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि

नरेन्द्र मोहन शर्मा

मुक्तिबोध का व्यक्तित्व, साहित्य और साहित्य-समीक्षा एक-दूसरे से गहरे में अन्तःसम्बन्धित और सम्पृक्त हैं। इस से यह भ्रम हो सकता है कि उन के कृति-व्यक्तित्व ने साहित्य-समीक्षा में और उन के समीक्षा-व्यक्तित्व ने साहित्य-क्षेत्र में अवैध प्रवेश किया हो या अवांछनीय दखल दिया हो। पर, ऐसा भ्रम निर्मूल ही है क्यों कि ऐसा कहने के लिए कोई समुचित आधार नहीं है। इस में सन्देह नहीं कि उन की समीक्षाएँ, मूल रूप में, एक कवि की—रचनाकार की समीक्षाएँ हैं जिस ने अपने व्यक्तित्व में बाह्य यथार्थ की अभ्यन्तरीकरण-प्रक्रिया को घटित होते देखा है और सृजन-प्रक्रिया की राह पर चलते हुए हर मोड़ को देखा, समझा और परखा है। अपनी काव्य-जीवन की यात्रा में उन्हें जो चिन्तन करना पड़ा, उसी से उन की समीक्षाएँ अनुप्रेरित हैं। यही कारण है कि यहाँ साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों और प्रश्नों का जड़ीभूत शास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण नहीं है। उसे समीक्षक-व्यक्तित्व, रचनाकार-व्यक्तित्व से अलगाया नहीं जा सकता। ये दोनों, उन के व्यक्तित्व में, सृजनात्मक स्तर पर, एक-

दूसरे से सहज रूप में जुड़े हुए हैं। यह एक दूसरे को प्रभावित ही नहीं, अन्तःस्पन्दित और रूपान्तरित भी करते हैं। पर, इस का अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि उन की समीक्षा-दृष्टि कवि-कर्म की उपज है। उन की समीक्षाओं के (और कविताओं के भी) पीछे स्रष्टा के साथ-साथ एक प्रौढ़ और प्रबुद्ध चिन्तक भी बैठा है जो जीवनानुभूतियों की प्रखर और निर्मम व्याख्या और मीमांसा करता चलता है। उन की समीक्षाएँ, निश्चय ही, एक पुष्ट वैचारिक आधार लिये हुए हैं। 'संवेदना' और 'ज्ञान', 'कविता' और 'जीवन-समीक्षा' या 'जीवन-मूल्यांकन' उन के तई अलग-अलग 'खाने' नहीं हैं। समीक्षा में (और कविता में भी) संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना पर उन के ज़ोर देने का यही मुख्य कारण है।

युवा मुक्तिबोध ने मार्क्स-दर्शन का गहन अध्ययन और मनन किया था। इस दर्शन ने उन की जीवन-जगत् सम्बन्धी धारणाओं को निर्धारित और सुनिश्चित किया था। उन के कवि-मानस पर इस का गहरा प्रभाव पड़ा था। पर, जीवनानुभवों की विविधता और व्यापकता जैसे-जैसे उन के सामने प्रत्यक्ष होती गयी, मार्क्स-दर्शन से पैदा हुई वैचारिक जकड़न ढीली होती गयी। उन की दृष्टि इस दर्शन की एकांगिता और सीमा को पहचान पाने में उत्तरोत्तर समर्थ हुई। इस 'पहचान' के बाद वे इस दर्शन के प्रभाव-बिम्ब से बाहर आने की बराबर कोशिश करते रहे। इस कोशिश में वे कुछ हद तक सफल हुए भी, पर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों और विचारों ने उन के दिल-दिमाग़ में जो 'कण्डीशनिंग' पैदा कर दी थी, उस की जड़ें बहुत गहरी थीं और जूझने के बावजूद, वे उस से उबर न पाये थे। उन्हों ने सही मायने में खुद से लड़ाई की थी, आत्मसंघर्ष किया था। इस 'लड़ाई' या 'संघर्ष' को एक साथ दो स्तरों पर देखा जा सकता है—रचना-स्तर पर और विचार-स्तर पर। इस आत्मसंघर्ष ने ही उन्हें अपने समूचे व्यक्तित्व (कृति और निजी) को शोधने की दिशा में प्रवृत्त किया। इस शोधन-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप, उन की मार्क्सीय-सामाजिक दृष्टि का संस्कार हो सका और वह अपेक्षया अधिक व्यापक, सहज और साहित्यिक सन्दर्भ में सार्थक हो सकी। अतः साहित्य-समीक्षा के मूलाधार के रूप में सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं पर उन का बल देना कोरा 'एकेडेमिक' नहीं है, सिर्फ़ 'मार्क्सीय' नहीं है। उन की समीक्षाओं में उन का सम्पूर्ण, द्वन्द्वपूर्ण व्यक्तित्व 'इन्वाल्व्ड' है। उन्हों ने साहित्य की विशिष्ट प्रकृति और उस की सृजनशील प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक और आर्थिक भूमिकाओं का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न कितना प्रामाणिक और वस्तुपरक है, यह एक अलग प्रश्न है।

मुक्तिबोध ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षाएँ लिखी हैं। उन के आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह 'आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' में १३ निबन्ध हैं जिन में से अधिकांश सैद्धान्तिक विषयों पर हैं, जैसे—

'काव्य की रचना-प्रक्रिया', 'सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि', 'नवीन समीक्षा का आधार', 'साहित्य और जिज्ञासा', 'अन्तरात्मा और पक्षधरता' और 'समीक्षा की समस्याएँ' आदि। इस संग्रह में कई निबन्ध ऐसे हैं जिनमें नयी काव्य-प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में कतिपय महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं और उन का सैद्धान्तिक विवेचन-विश्लेषण किया गया है। कुछेक निबन्ध इस में ऐसे भी हैं जिन से उन की व्यावहारिक समीक्षा-दृष्टि का पता चलता है, जैसे—'शमशेर मेरी दृष्टि में' और 'सुमित्रानन्दन पन्त : एक विश्लेषण'। उन की व्यावहारिक समीक्षा का मेरुदण्ड तो उन का ग्रन्थ 'कामायनी : एक पुनर्विचार' ही है जिस में फैण्टेसी की दृष्टि से 'कामायनी' पर विचार किया गया है। साहित्य-सम्बन्धी ऐसे ही बुनियादी प्रश्न उठाये गये हैं डायरी विधा के अनौपचारिक सहज माध्यम से उन की पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' में। इन तीनों पुस्तकों के सम्बन्ध में यह बात उल्लेख योग्य है कि इन तीनों में मान्यताओं, स्थापनाओं और मूल विचारों के धरातल पर कोई विरोध, विरोधाभास या असंगति नहीं है। इन में एक मूलभूत केन्द्रीय-दृष्टि लक्षित की जा सकती है जिस के 'फोकस' में वे हर साहित्य-विषय को देखते हैं। इस से विवेचन-विश्लेषण में जड़ता या एक-जैसा-पन आ जाने का खतरा रहता है, पर समीक्ष्य विषयों को विभिन्न कोणों से और विविध आयामों में प्रस्तुत करने में मुक्तिबोध को कोई कठिनाई नहीं हुई है।

मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि का यह केन्द्र क्या है? निश्चय ही यह केन्द्र वास्तविक जीवन-जगत्, उस के तथ्यों और अनुभवों से बना है। जीवन-जगत् के विविध और व्यापक जीवनानुभवों को वे समीक्षा के आधार रूप में स्वीकार करते हैं। उन का मत है "साहित्य समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन में तजुर्बों के बतौर उपलब्ध होने वाले ज्ञान संवेदन और संवेदन ज्ञान में ही है।" (आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध—पृ० ९८)। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में, साहित्य के क्षेत्र की समीक्षा-शक्ति थोथी होती है (वही, पृ० ९९)। वास्तविक जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान को वे साहित्य-समीक्षा की मूल दृष्टि या मूल्य के रूप में इस लिए भी स्वीकार करते हैं कि वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान "न केवल लेखक और समीक्षक में होता है, वरन् पाठक में भी होता है" (वही)। वे जीवन-सत्य को ही सिद्धान्तों का नियामक मानते हैं। वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले तत्त्वों को वे साहित्य में प्रकट तत्त्व की सत्यता की जाँच की कसौटी मानते हैं। संक्षेप में कहें तो वे जीवन मूल्य और कलात्मक साहित्यिक मूल्य में आवयविक सम्बन्ध मानते हैं। जाहिर है कि उन की समीक्षा-दृष्टि मानव-वास्तविकता और वास्तविक-जीवन के व्यापक और विविध जीवनानुभवों, जीवन-मूल्यों, आन्दोलनों, आकांक्षाओं और

आदर्शों की बृहत्तर पीठिका पर खड़ी है। इस समीक्षा-दृष्टि को जीवन-सापेक्ष, मूल्य-सम्पृक्त और समाज-प्रतिबद्ध दृष्टि कहा जा सकता है। कहना—चाहें तो इसे प्रगतिवादी-समीक्षा दृष्टि से प्रभावित समीक्षा-दृष्टि कह सकते हैं। पर, मुक्तिबोध ने इस समीक्षा-दृष्टि को एक सर्वथा नया आयाम और मौलिक संस्कार देने की चेष्टा की है—इसे कवि-व्यक्तित्व, सृजन-प्रक्रिया और मनोविश्लेषण से जोड़ कर। इस प्रकार, मुक्तिबोध ने अपनी समीक्षा-दृष्टि को नितान्त भिन्न रूप में विकसित किया है। सवाल हो सकता है कि क्या साहित्यालोचन की यह दृष्टि उपयुक्त और प्रामाणिक कही जा सकती है? यूँ तो स्वयं मुक्तिबोध भी "केवल एक ही कसौटी से साहित्य को नापना उचित नहीं" समझते। वे अपनी समीक्षा-दृष्टि की सीमा से भी भली भाँति परिचित हैं और यह स्वीकार भी करते हैं कि यह दृष्टि साहित्य के साहित्यिक गुणों की परख की कसौटी हमेशा नहीं हो सकती। पर उन के विचार में यह दृष्टि चूँकि साहित्यालोचन की एक नयी दिशा सुझाती है, अतः "साहित्य से उस का तक़ाज़ा करना ग़लत नहीं है।" साहित्य को सामाजिक दृष्टि से विवेचित करना ग़लत नहीं कहा जा सकता—इस से नूतन सम्भावनाओं के आयाम खुल सकते हैं, पर इसे साहित्य-समीक्षा-दृष्टि के रूप में प्रतिपादित किये जाने पर अवश्य एतराज़ किया जा सकता है। सामाजिक, आर्थिक सन्दर्भों पर ध्यान देने से साहित्यालोचन में सहायता तो मिलती है पर उसे कलाकृति के कलात्मक मूल्य की परख का मानदण्ड नहीं ठहराया जा सकता। साहित्य का मानदण्ड तो साहित्यिक-कलात्मक-सौन्दर्यात्मक ही हो सकता है। सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ और वास्तविक जीवन के तथ्य और अनुभव तो उस निकष की पूर्व-स्थितियों के रूप में मौजूद रह सकते हैं। किसी कलाकृति के विवेचन-मूल्यांकन में उन के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, पर उन्हें अन्तिम कसौटी के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती।

मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि का यह केन्द्रीय तत्त्व, उन की रचना-दृष्टि और कवि-कर्म-सम्बन्धी धारणाओं से पर्याप्त प्रभावित है। उन के अनुसार कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन-जगत् को प्रकट करता है। उन का विचार है "काव्य-रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है।" काव्य-रचना को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानने के मूल में उन का तर्क यह है कि "उस में जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन हैं।" इस में सन्देह नहीं कि काव्य-रचना के पीछे सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव-संस्कार रहते हैं और कवि के व्यक्तित्व के मूल स्वभाव के अनुरूप और सृजन-प्रक्रिया के दौरान ये प्रभाव-संस्कार कोरमकोर बदल जाते हैं। सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भ रचनाकार की मनोभूमिका निर्मित कर सकते हैं, रचना के प्रेरक तत्त्व बन सकते हैं

रचना-प्रक्रिया में भी सक्रिय रह सकते हैं, पर इस सब से काव्य-रचना 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' सिद्ध नहीं की जा सकती। इस सारे 'व्यापार' में कृति-व्यक्तित्व और कलात्मक तत्त्वों का एक बहुत बड़ा रोल होता है। इस 'रोल' के महत्त्व को मुक्तिबोध न जानते हों, ऐसी बात नहीं। उन्हों ने इस बात को रेखांकित भी किया है यह कह कर कि काव्य-रचना एक आत्मिक प्रयास है, कला के तीन क्षणों का जिस रूप में उन्हों ने उद्घाटन किया है वह भी इस बात की गवाही देता है कि काव्य-रचना, अपने मूल रूप में, आत्मिक और वैयक्तिक प्रक्रिया है—सांस्कृतिक तत्त्व भले ही इसे सँवारते हों या रूपायिती में सहायता पहुँचाते हों।

वैचारिक दृष्टि से मुक्तिबोध मानव वास्तविकता और समाज के प्रति प्रतिबद्धता के क़ायल हैं और इसी दृष्टि से काव्य में 'सौन्दर्य' की प्रतिष्ठा और परख करने पर बल देते हैं। दूसरी ओर, रचना-स्तर पर उन्हें कलात्मक प्रतिक्रियाओं की पूरी जानकारी है, अतः वे सौन्दर्य-प्रतीति का अविच्छिन्न सम्बन्ध सृजन-प्रक्रिया के साथ जोड़ते हैं। एक ओर तो वे सामाजिक दृष्टि के बिना सौन्दर्य-प्रतीति असम्भव मानते हैं (आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध) तो दूसरी ओर उन की धारणा है कि सृजन-प्रक्रिया से हट कर सौन्दर्य-प्रतीति असम्भव हो जाती है (एक साहित्यिक की डायरी) दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो उन के विचार से सामाजिक दृष्टि और सौन्दर्य प्रतीति में, गुणात्मक रीति से, कोई अन्तर नहीं है। उन्हों ने एक ओर तो सौन्दर्य-प्रतीति को सामाजिक दृष्टि से सम्बद्ध किया है तो दूसरी ओर सृजन-प्रक्रिया से। ऐसा कर के उन्हों ने सौन्दर्य-प्रतीति को तो गहरे स्तरों पर उठाया ही है, सामाजिक दृष्टि को भी गहरी अर्थवत्ता से संयुक्त किया है। हाँ, यह बात अवश्य खटकती है कि उन्हों ने सौन्दर्यानुभूति को कलाकृति की ज़मीन से उभरे कलात्मक या सौन्दर्यात्मक तत्त्वों के सन्दर्भ में नहीं उठाया। तो क्या वे कलाकृति के कलात्मक सौन्दर्य को महत्त्व नहीं देते हैं? इस सम्बन्ध में उनके अपने शब्द ही प्रमाण माने जा सकते हैं—"पाठक का यह आदि कर्त्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौन्दर्य को आत्मसात् करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करें। कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है जिस में से गुज़र कर हो कृति के मर्म-क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।" स्पष्ट है कि मुक्तिबोध कलाकृति के कलात्मक महत्त्व को स्वीकारते तो हैं—पर मानते उसे प्रवेशद्वार ही हैं, कृति का अन्तर्वर्ती तत्त्व नहीं। अन्तर्वर्ती तत्त्व तो उनकी दृष्टि में जीवन ही है, सौन्दर्य नहीं।

सैद्धान्तिक और तात्त्विक विवेचनों के साथ-साथ, मुक्तिबोध ने अपने समय की समीक्षा-शैलियों और दृष्टियों की भी गम्भीर मीमांसा की है। उनके मूल्य, महत्त्व और सीमा को उन्हों ने अपनी समीक्षा-दृष्टि के केन्द्र में रख कर आंका है। ऐसा उन्हों ने नयी काव्य-प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में किया

है। प्रगतिवादी समीक्षा और समीक्षकों की उन्हों ने अच्छी खबर ली है। वे यह मानते हैं कि, "आज किसी भी व्यवस्थाबद्ध जैसी विचारधारा का समाज में प्रभाव नहीं—इतना व्यापक, सर्वांगीण और सघन प्रभाव नहीं कि लेखक सामाजिक वातावरण में से उसे खींच कर आत्मगत कर सके।" इस मूल आधार को ग्रहण कर, वे प्रगतिवादी और आदर्शवादी समालोचकों पर आरोप लगाते हैं कि "वे बनते हुए साहित्यकी जीवन-भूमि से असम्पृक्त रह कर—साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन को वास्तविक मानवभूमि इन दोनों के घनिष्ठ परस्पर सम्बन्धों के स्वरूप का—इन दोनों के अपने-अपने विशिष्ट-विशिष्ट स्वरूप का आकलन न करते हुए, या छिछली सतही दृष्टि से उन का आकलन करते हुए न्याय-निर्णय प्रदान करते हैं। वास्तविक और विविध नवीन साहित्य कृतियों का मार्मिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन करना उन्हें अभीष्ट नहीं।" मुक्तिबोध का यह विवेचन अत्यन्त सटीक है और उन की गहन सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। उन्हों ने प्रगतिवाद की भीतरी न्यूनताओं को उघाड़ कर सामने रखा है। पर इस का यह अर्थ नहीं कि उन्हों ने नयी कविता के समीक्षा-सिद्धान्तों और दृष्टियों की वकालत की है। अपनी मौलिक समीक्षा-दृष्टि-द्वारा उन्हों ने नयी कविता की मूल प्रकृति को समझने और उस का विवेचन-विश्लेषण करने का तो प्रयास किया है पर नयी कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और मूल्यांकन के सिद्धान्तों का उन्हों ने तीव्र और ज़बरदस्त विरोध भी किया है। नयी कविता के निर्विकल्पक सौन्दर्य-सिद्धान्त, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त, लघु मानव के सिद्धान्त और तथाकथित आधुनिक भावबोध का उन्हों ने आवेशपूर्ण खण्डन किया है। इस विरोध और खण्डन के पीछे उन की समाज-प्रतिबद्ध, मूल्य-सम्पृक्त दृष्टि काम कर रही है। इस दृष्टि से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता। आधुनिक बोध के सम्बन्ध में उनकी इस धारणा (जो इस दृष्टि से प्रभावित है) को मान्यता नहीं दी जा सकती—"अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द करना आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत है। आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित हों तथा वर्तमान स्थिति को सुधारें; नैतिक ह्रास को थामें; उत्पीड़ित मनुष्य के साथ एकान्त हो कर उस की मुक्ति की उपाय-योजना करें।" यह मान्यता आधुनिक भावबोध की पहचान नहीं कराती। इस में निरा प्रगतिवादी आवेश है।

मुक्तिबोध ने काव्य की सृजन-प्रक्रिया का एक रचनाकार की हैसियत से विवेचन करने की कोशिश की है। उन के अनुसार कला के तीन क्षण होते हैं—"पहला है जीवन का उत्कट अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुःखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने

की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।" मुक्तिबोध की मान्यता है कि शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतरी जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। मुक्तिबोध ने सृजन-प्रक्रिया के दौरान तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं—काव्य-फैण्टेसी का प्रश्न, भाषा का प्रश्न, सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक प्रतिबद्धता का प्रश्न। मुक्तिबोध ने फैण्टेसी के प्रश्न को काव्य-सृजन प्रक्रिया के बुनियादी महत्त्व के प्रश्न के रूप में उठाया है और यहीं से अन्य प्रश्नों पर भी दृष्टिपात किया है। फैण्टेसी का जैसा विवेचन उन्हों ने किया है वह अत्यन्त गहन और तात्त्विक है। ऐसा लगता है मुक्तिबोध ने कविता के भीतरी तत्त्वों, उन तत्त्वों के पारस्परिक संघात और प्रक्रिया-द्वारा फैण्टेसी के स्वरूप की मौलिक परिकल्पना की है, पर, जहाँ वे उस का सम्बन्ध साहित्य-रचना के सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ कर, फैण्टेसी के आधार पर किसी कृति की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं, वहीं उन की दृष्टि में पूर्वाग्रह हावी हो जाते हैं। इसे उन की पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। रचना-प्रक्रिया के दौरान फैण्टेसी कैसे जन्मती और विकसित होती है—उस की निर्माण-प्रक्रिया में रचनाकार का रचना-व्यक्तित्व, रचना-बाह्य व्यक्तित्व, बाह्य परिवेष, जीवन के तथ्यों और अनुभवों का क्या योगदान रहता है—इसे समझा जा सकता है 'कामायनी' की उन की व्याख्या-विश्लेषण और मूल्यांकन दृष्टि से परिचित हो करके। वे 'कामायनी' की कथा को एक फैण्टेसी मानते हैं। उन की मान्यता है कि जिस प्रकार एक फैण्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन-समस्याओं का, इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार 'कामायनी' में भी हुआ है।

कामायनी की फैण्टेसी का स्वरूप क्या है, वह मानव समस्या के साथ किस रूप में सम्बद्ध है, प्रसाद के व्यक्तित्व के किन मूलभूत अन्तर्तत्त्वों से वह प्रेरित है, उस की रूप-रचना और उस की समग्र गहन संवेदना पात्रों के ज़रिये किस रूप में (कलात्मक-अकलात्मक) अभिव्यक्त हुई है—इन सब प्रश्नों पर उन्हों ने विचार किया है। पर लगता है इन प्रश्नों पर उन की 'दृष्टि' पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। यह दृष्टि, मूलतः मार्क्सवादी चेतना के प्रभाव के परिणामस्वरूप बनी है। इस 'चेतना' के कारण उन के कुछ 'आग्रह' हैं जिन से उन का मूल्यांकनशील मन ग्रसित है। इन आग्रहों की गिरफ़्त में पड़ कर वे यदि 'कामायनी' में फैण्टेसी—जैसे कला-तत्त्व या सौन्दर्य-तत्त्व का विश्लेषण करते-करते, समाजशास्त्रीय या मार्क्सवादी सूत्रों की व्याख्याओं में उलझ गये तो कोई आश्चर्य नहीं।

मुक्तिबोध ने निस्सन्देह, सृजन-प्रक्रिया और उस के दौरान उपलब्ध फैण्टेसी-जैसे सौन्दर्य-तत्त्वों का मौलिक और प्रामाणिक निरूपण किया है। यह ज़रूर है कि कुछेक स्थलों पर उन के निष्कर्ष उन के विवेचनों के सहज परिणाम प्रतीत नहीं होते। ■ ■

आग

सुधा

●

आग की तरह गाँव में बात फैली । जो कभी उधर नहीं जाते थे वे भी दौड़े । ऐसे समय क्या कुछ देखा जाता है ।

आग तब तक बुझ चुकी थी लेकिन त्रास चारों ओर फैला था । लोग रोगिणी की हालत पूछने के पहले पूछते थे—

"कैसे लगी आग ?"

"आँचल से दूध उतार रही थीं ।"

"अरे । ऐसा तो हर रोज़ करती होंगी । लेकिन आज होना था ।"

"हाँ और क्या ?"

पुरुषों का जत्था स्त्रियों के फूहड़पन पर 'डाइजेस्टेड' विचार प्रकट कर रहा था । औरतों के कारण किस के घर कौन-कौन से दुष्काण्ड हुए या होते-होते रह गये इस का एक-से-एक पुरुषोचित बखान ।

कम्बल के परदों के बीच लेटी स्त्री के पास कोई-कोई ही पहुँच पा रहे थे । सहेलियों के-से व्यवहार करने वाली एक ननद ने पूछा—

"ई का कर लिया भौजी !"

भौजी बोली नहीं । आँखों के कोर से आँसू

ह गये ।

"डॉक्टर बुलाबे गया कोई ?"

"छोटका मालिक गये हैं ।" पास खड़ी महरी ने सिर हिला कर कहा ।

छोटका मालिक—याने भौजी के देवर ।

ननद ने लम्बी साँस ली—

"जो दुःख में देखे वही अपना ।"

लेकिन भौजी जानती थीं कि दुःख में कौन किस को देखता है । देखते हैं लोग तमाशा । वे जब ब्याह कर आयी थीं उस दिन भी तमाशाइयों को ही उन्हों ने देखा था ।

"बहू से बोलता है कि नहीं ।" एक औरत दूसरी से पूछ रही थी ।

"यह तो बहू ही जाने ।" एक साथ कई खिल-खिला पड़ीं ।

तब वह पन्द्रह या सोलह साल की रही होगी लेकिन हाड़ी-काठी देख कर लोग बीस-बाइस से कम न समझते थे । उस के सामने ही चर्चा होती थी—

"चौधरी बेटी को घी पिला कर पोस रहे थे ।"

"हाँ, सब बेटी को पालने में ही चुक गया । तभी तो दहेज नहीं बन पड़ा ।"

लेकिन भौजी ने जब आँख उठा कर अपना नया घर देखा तो उन्हें लगा कि बाप ने उन्हें दहेजों के बोझ से लाद दिया है । चौपार पक्का मकान, अनाजों से भरी ऊँची-ऊँची बेढ़ियाँ, दरवाज़े पर झूमते हुए मस्त गाय-बैल—उन्हें सारी चीज़े इतनी परिचित लगीं जैसे सब नैहर से ही लायी हों ।

शायद इसी लिए चार-छह दिन बीतते-न-बीतते उन्हों ने सब पर आधिपत्य जमा लिया । चचेरी विधवा ननद मालकिन बनी बैठी थी—मुँह देखती रह गयीं । गाँव में भी लोग देखना कुछ और चाहते थे और देखने
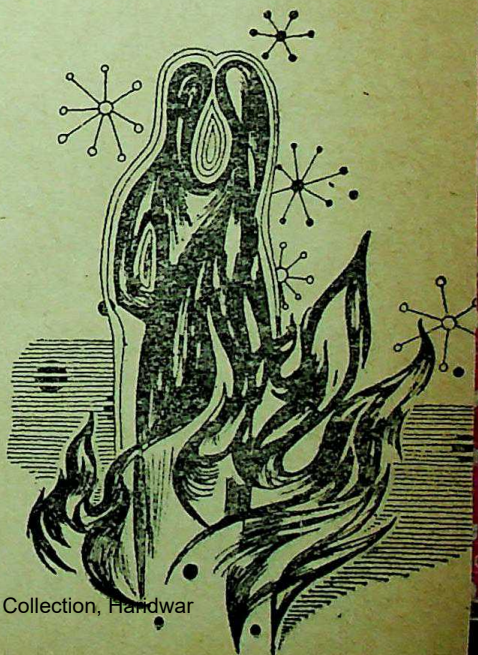
लगे कुछ और।

बूढ़ी ननद मन्तो माला लिये गाँव-भर में घूम कर भावज का गुनगान कर आयी—

"कहाँ से दलिद्दरों की बेटी उठा लाये।"

"अरे, बहू घर सँभालेगी, अब राम भजो।" किसी ने चुटकी ली।

"राम भज के तो दिन काटा ही है बेटा। लेकिन देखा नहीं जाता है।" मन्तो ने लम्बी साँस ली।

"बहू तो बड़ी गिरथिन है, सुना।"

"अरे का गिरथिन होगी, न कभी देखा, न कभी सुना। एक-एक दाने का हिसाब करती है।"

और सचमुच भौजी एक-एक तिनके की हिफ़ाज़त करने लगीं। पहले मन्तो ही बिगड़ी थीं। बाद में सब नाराज़ हो गये, क्यों कि गायों का दूध दुहकर दरवाज़े पर बँटना बन्द हो गया। खेतों के अनाज की पक्की तौल लिखी जाने लगी। आम की फुलवाड़ियों का सदाव्रत रोक दिया गया। गाँव के जिन लोगों ने इस ब्याह में योगदान दिया था वे लोग भी पछताने लगे।

लेकिन जिसे पछताना चाहिए था उस के चेहरे पर एक शिकन नहीं थी। बल्कि अनगढ़ चेहरे पर वैभव का भराव, स्वस्थ शरीर में मांसलता आ गयी थी। और भौजी ब्याह के छह माह बाद हीं पक्की मालकिन दीखने लगी थीं। उन दिनों फरदी साड़ियाँ पहनने का चलन था। मुज़फ़्फ़रपुरी साड़ियाँ रँग कर मँगवायीं जाती थीं जिस में अबरक की बुकनी चमकती रहती थी, पचीस-तीस साल पहले झुल्लानुमा स्लीवलेस उत्तर बिहार के देहातों में खूब चला हुआ था। छींट के चटकीले ब्लाउज़ से भौजी की सुडौल मांसल बाँहें हाथी के सूँड़ की तरह झूलती दीखती थीं। कच्चे मोती की टिकुली काले चेहरे पर बेहद चमकती थी। नाउन रोज़ आ कर पाँव रँग जाती थी।

गाँव का एक चौथाई धन जिस के हिस्से में था उस की बहू की साज-सज्जा किसी को खटकनी नहीं चाहिए थी। लेकिन लोग कहते थे—"यह सब किस के लिए।"

किस के लिए?

भौजी खुद आइने में घण्टों अपना मुँह निहारा करती थीं। हब्शियों-जैसा घुँघराला केश था उन का। कितना तो समय कंघी करने में ही लग जाता था। नहाती थीं तो दो-दो महरियाँ पानी भरते थक जाती थीं। चन्दनधूरा और मजीदे का उबटन रंग गोरा तो नहीं बना सका लेकिन चेहरे पर ग़ज़ब की चिकनाई आ गयी।

साल बीतते गये और भौजी ज्यों-कीत्यों बनी रहीं। ज़रूरत से ज्यादा भरा शरीर काली चिकनी त्वचा के अन्दर से झाँकता अनिन्द्य स्वास्थ्य, और सिर से पाँव तक लज्जित सुवासित भौजी को किसी ने उदास नहीं देखा। लोगों को इसी बात का आश्चर्य था।

कभी किसी दुस्साहसी रसिक ने चेष्टा की थी। शतरंज की चाल के बहाने उँगलियाँ छू कर दिल टटोलना चाहा था। लेकिन

भौजी ने पता नहीं मन पर कौन-सा प्रहरी बिठा रखा था कि देहरी तक पार कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं हुआ। बाद में लोग हार मान कर बैठ गये।

जब कहीं से किसी ईंट को खिसकाना सम्भव नहीं हो पाता तब शिल्पी को गालियाँ दे कर तस्कर लौट जाता है। लेकिन लौटती आँखें भी उस इमारत की बुलन्दी इनकार नहीं पाती।

बुलन्द इमारत की नींव में क्या छिपा होता है लोग इसे नहीं देख पाते। यदि देखना सम्भव होता तो देखते जन्म से विक्षिप्त, लिजलिजे आदमी के साथ भौजी की चेष्टाएँ। बड़ी रात बीतने पर दुमुँहे के अधखुले द्वार से निकल कर भौजी बैठक में जाती थीं। नौकर कोठरी के द्वार पर सो गया होता था। अगर कभी जगा भी होता तो उठ कर चबूतरे पर चला जाता था। अन्दर की साँकल लगा कर भौजी पलँग पर बैठ जाती थीं। वे इस बात की अपेक्षा नहीं करती थीं कि कोई उन्हें लेटने को कहेगा या बाँहों में भर लेगा क्योंकि ब्याह के दिन से ही उन को मालूम था कि उन का ब्याहता पति जन्म का पगला है।

उन की माँ सुन कर रोने लगी थीं। बेटी सौत के नीचे भी जाती, दामाद बूढ़ा-सूढ़ा होता तब भी सहा जा सकता था। लेकिन पागल! यह तो जान-बूझ कर बेटी को कुएँ में ढकेलना हुआ।

लेकिन उन का व्यावहारिक पिता अपनी बेवक़ूफ़ औरत के रोने-धोने में नहीं आया था। बेटी राज करेगी—और अकसर पागलों का इलाज ब्याह भी होता है। कौन जाने, भगवान् सहाय हो जायें।

भौजी का मन भी बड़ा संत्रस्त हो गया था। सुना था पागल लोग मारते-काटते हैं। लेकिन यह भय पहली रात के बाद ही चला गया। पगले ने उन को देखा—देखने की तरह नहीं, अनदेखा करने की तरह। भय चला गया—तो कोई वासना जगी होगी। भौजी मुसकरायीं लेकिन कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस अप्रभावित पुरुष को प्रभावित करने के लिए भौजी नित नयी चेष्टाएँ करती गयीं लेकिन कहीं कोई स्पन्दन उत्पन्न नहीं हुआ। अपनी ही कुचेष्टाओं की आँच में उन का शरीर जलने लगता था। लेकिन उन के पति को पता नहीं कैसा उन्माद था कि कोई दूसरी उन्मादक दवा असर कर ही नहीं पाती थी। काई को पकड़ कर पहाड़ चढ़ने वाले का हौसला उन में था। हर रोज़ गिर कर गहरी चोटें खानी पड़ती थीं। लेकिन चोटों की आदत भी नशीली होती है। इसी नशे में भौजी अपनी दादी के मुँह से सुनी कहावत दुहराती थीं—

"अनकर सुन्नर वर पानी के हिलोरा,
अप्पन कुबज वर ले सुतत कोरा।"

कौन किसे गोद में ले कर सुलाता है यह जान पाना तो लोगों के लिए कठिन था ही। पर, उन के रसीले क़िस्सों, गालियों से भरे गीतों को सुन कर कोई अनुमान भी नहीं कर सकता था कि भौजी कितनी बातों में एकदम कोरी हैं। शायद यही कोरापन उन की सूनी गोद का कारण बन गया।

भौजी को एक दिन भी उन्तीस से तीसवाँ दिन नहीं लगा होगा ऐसा विकट स्वास्थ्य था उन का, लेकिन कोई मिलने वाली आ जाये तो उस पर अपना डर प्रकट किये बिना नहीं रहती थीं कि दिन चढ़ गया है। अगर दिन चढ़ता भी तो कोई पवन-सुत ही पैदा होता— क्योंकि किसी दूसरे आदमी की बिसात नहीं थी भौजी को सन्तान का पितृपद पाने की। और जिस की बिसात थी वह भौजी के काल्पनिक पुत्रों का ही पिता बन सकता था। और ऐसा नहीं कि भौजी न समझती हों।

सब-कुछ जान कर भी अपने ऊपर बन्ध्या-पन का आरोप उन्हों ने ओढ़ लिया था। ऐसा उन्हों ने क्यों किया कहा नहीं जा सकता। प्रगाढ़ पति-प्रेम होगा यह बात भी नहीं थी। क्योंकि छह साल पहले जब उन के पति ने शरीर त्यागा तो भौजी एकदम नहीं रोयीं, यन्त्र-चालित की तरह सारे काम करती रहीं। सद्गति मिले इस के लिए बड़ा बृहद् श्राद्ध किया। सम्पत्ति के हक़दार सान्त्वना देने उग आये तो सब को उखाड़ फेंका। सान्त्वना किस बात की लेतीं—जो उन का कभी नहीं हुआ उस के चले जाने से क्या फ़र्क़ पड़ता था।

लेकिन सब के चले जाने पर भौजी रोयी थीं। एक जानवर से भी मोह हो जाता है। वह तो जीता-जागता आदमी था। पर यह शोक इतना गहरा नहीं था कि भौजी में कोई परिवर्तन ला देता। इसी लिए सैंतालिस बरस की भौजी भी उसी तरह घण्टों नहाती, बनती-सँवरती और पान चबाती रहीं। लोग नये सिरे से बकने लगे। फिर चुप भी हो गये। लेकिन गाँव के लोग भौजी से खुश कभी न हुए।

■ ■

फिर भी आज जब लोगों ने सुना कि दुनिया की हर लपेट से बचने वाली औरत आग की लपेट में आ कर धराशायी हो गयी है तो सब दौड़े आये। किसी ने सोचा बचेगी नहीं— पता नहीं दौलत किस के हाथ लगेगी। नैहर वाला दौड़ा आयेगा, नहीं, नहीं, यहीं के रिश्तेदार हड़पेंगे। कोर्ट-कचहरी होगा। और क्या? थोड़ा माल है? कम जुटाया है इस ने। लेकिन थी दिल वाली। कभी हिम्मत नहीं हारा। निबाह दिया पगले को। अब खुद बेचारी जली है— दुर्गत भोग कर मरेगी।

लेकिन भौजी मरी नहीं। बच गयी— बचा ली गयी। किसी को विश्वास था कि मानिक ऐसी सेवा करेगा? कभी पास फटकने नहीं दिया था भौजी ने। मानिक की बेटी के ब्याह में तीन हज़ार रुपये कम पड़ रहे थे। भौजी चाहतीं तो तीस हज़ार नगद गिन दे सकती थीं लेकिन एक कानी कौड़ी नहीं दिया था। दामाद को सलामी में एक-एक के पाँच नोट थमा कर चली आयी थीं। मानिक की बहू ने कितना तो कोसा था। इस जनम में कोख का रोना रहा—सात जन्म और तरसेगी बच्चों के लिए। मरोगी तो कोई पानी को पूछने वाला नहीं रहेगा।

भौजी को पानी के लिए तड़प कर मरने

हुए देखने का हौसला लिये ही मानिक की बहू दिवंगत हो गयी थी। आज जीवित रहती तो पता नहीं क्या करती। क्योंकि मानिक खाना-पीना भूल कर, दिन-रात एक किये बैठा है। ऐसे में भौजी को कभी एक क्षण के लिए भी किसी का अभाव नहीं खटका—सन्तान का भी नहीं, नैहर से नहीं आये हुए लोगों का भी नहीं। एक करवट भी लेना चाहती थीं तो वह अपनी बाँहें बढ़ा देता था।

"छोड़ो मैं खुद बदल लूँगी।" अब कुछ ताक़त आ गयी थी।

"नहीं ज़ोर मत करो। चमड़ा अभी कच्चा है।" उस ने सहारा दे कर करवट बदलाते हुए कहा।

"इतनी तो मोटी हूँ कैसे उठा पाते हो।" भौजी मुसकरा कर बोलीं।

"हो तो मुझ से छोटी ही।"

"दुत्! छोटी क्या होऊँगी।"

"कितने साल की थी ब्याह में?"

"रही तो होऊँगी पन्द्रह की, लेकिन तुम्हारी बुआ कहती थीं कि बीसेक से कम क्या होगी।"

"बुआ तो वैसे ही बकती थीं। मैं सोलह का था।"

"लजाते थे हम से।" भौजी हँस कर बोली।

"तुम भी तो पास नहीं फटकने देती थीं।"

"तुम लोगों का क्या भरोसा था।"

"ऐसे बुरे तो नहीं थे।"

"मैं ने बुरा नहीं कहा।"

"तब?"

"डर था।"

"डर अब भी हो सकता है।"

"दुर, इस बुढ़ौती में।"

"तुम तो अब भी वैसी ही हो।"

"काहे बनाते हो।"

"बनाता हूँ? किसी से पूछ कर देख लो।"

"ज़रूरत नहीं है। जली हुई देह के रूप का बखान मज़ाक़ लगता है।"

"मैं तुम्हारी प्लास्टिक सर्जरी करवा दूँगा।"

"वह क्या होता है?"

"जले हुए हिस्से को पहले-जैसा बना देगा।"

"जाने दो, कपड़े से ढँका रहेगा।"

"हाँ, भगवान् ने इतनी तो कृपा की।"

भगवान् ने पता नहीं कितनी कृपा की, लेकिन भौजी जब स्वस्थ हुईं तो अकेले घर नहीं चला पायीं। सेवारत मानिक के हाथों से पानी के घूँट पी कर ही वे जान गयी थीं कि उस की बहू के शाप का परिमार्जन हो गया—अब तरस कर नहीं मरना पड़ेगा।

लेकिन उस शाप से भी सांघातिक कोई दूसरा शाप रहा होगा। अन्यथा, इस उमर में उन्हें अपनी दादी से सुनी कहावत की मान्यता क्यों तोड़नी पड़ती।

■ ■

कटा हुआ माहौल

छेदीलाल गुप्त

●

और आज का दिन बीते अनेक दिनों में गुज़र कर कैसा तो लगने लगा है।

कभी-कभी और अकसर, लगता है मैं जीवित क्यों हूँ, आत्महत्या क्यों नहीं कर लेता। आत्महत्या के बाद कुछ भी कैसा नहीं लगेगा।

मैं ज़िन्दा क्यों हूँ ? क्या कहानियाँ लिखने के लिए ?

बहुत देर तक व्यर्थ इधर-उधर चक्कर काटता रहा। बड़ा बाज़ार से बालिगंज स्टेशन। यह दूरियाँ जैसे अपने-आप सिमट आयी हों। समय का पता ही नहीं लगा। स्टेशन के प्लेटफ़ॉर्म पर से अनमनी-सी जाती हुई वह महिला दीखी। वह महिला बहुत थकी हुई है और अपने घर की तरफ़ जाते हुए भी घर जाना नहीं चाहती। मगर वह घर जायेगी और वह वही सब-कुछ करेगी, जो करने का उस का जी नहीं चाह रहा होगा।

कहीं कुछ ऐसा लगने लगता है कि कुछ मेरी पकड़ में आ गया है और वह मेरी पकड़ से निकल न जाये, इसी प्रयत्न में मैं अपने कमरे में लौट आता हूँ।
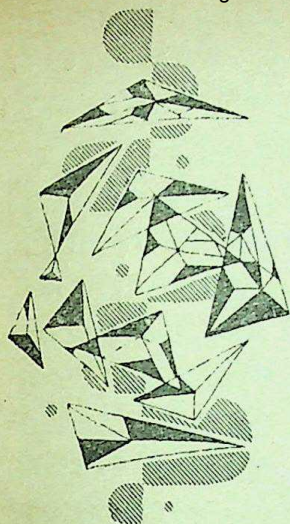
: डायरी :

कमरा बहुत छोटा है और दिन-प्रति दिन उस की दीवारें चारों तरफ़ से जैसे सिमटी आ रही हैं। दीवार के सिमट आने और उस में दब कर मर जाने के आतंक की मनःस्थिति से जिस चरित्र-नायकी को जन्म मिलता है, वह है प्रीति।

प्रीति का पति पंगु है—कमल। कमल हमेशा लम्बी साँस लेता है और बड़ी बेफ़िक्री से अपनी दोनों बाहुओं को पीछे खींच कर ले जाता है और उस पर सिर रख कर पैर हिलाता रहता है। प्रीति बाहर से सवेरे की गयी रात को लौटती है और कोई किसी से बातें नहीं करता। कमरे में यहाँ से वहाँ तक तनाव कभी यहाँ कभी वहाँ उचक-उचक कर जा बैठता है।

यह मुझे बहुत सालता है और मैं सोने के लिए चारपाई पर लेट जाता हूँ। नींद नहीं आती है। सपने आने के डर से रात को मैं कभी भी ठीक से नहीं सो पाता। सपने निराशा के क़रीब ले जाते हैं और निराशा अपने कब्ज़े में आदमी को पा कर कभी-कभी यों तोड़ देती है।

लेटा-लेटा क्या-क्या सोचता रहा। अचानक आज ही टेलीफ़ोन पर अनाम भाई साहब से हुई बातें याद आ गयी हैं।

जाने मेरी किस बात पर तो उन्हों ने कहा—भाई, आयामों में सब-कुछ बँटा है। किसी को जानने के लिए उस के पूरे आयामों को जानना होगा। हाँ याद आया, मैं ने उन से प्रीति के बारे में कहा था। कहा था कमल और प्रीति

पति-पत्नी हैं मगर कोई किसी से कुछ बातें नहीं करते, चुप, चुप और चुप। बातें बहुत हुई थीं, मतलब इतना ही था कि रिश्ते की गाँठें ढीली पड़ती जा रही हैं। इस गाँठ को ढीली करने वाले अदृश्य हाथों को कैसे देखा जा सकता है ?'''उन्होंने कहा, बस अन्तर, हर कुछ में अन्तर आ रहा है यह अन्तराल इतिहास का है।

जो भी हो।

यह दावा करना किसी भी रचनाकार का कि वह जो भोगता है, वही लिखता है। एक छलावा है। भोगना एक निजी सुख है। सुख में आदमी डूबता जाता है, डूबता जाता है और कभी-कभी इतनी गहराई में उतर जाता है कि वह अपने भोगे हुए को व्यक्त कर ही नहीं सकता। क्योंकि भोगना एक स्थिति है और लिखना एक प्रक्रिया। जितना फ़ासला स्थिति और प्रक्रिया में है, उतना ही अन्तराल भोगने और लिखने में है।

अजीब बात है, अहेरी पंछियों के झुण्ड पर जाल फेंकता है और उस में फँसे पंछियों को पिंजड़े में बन्द रखता है, वह मरे नहीं, वह ज़िन्दा रहे इस लिए उन के दाना-पानी का जुगाड़ करता है। पिंजड़े का द्वार खोल नहीं देता। मगर मैं, एक कहानीकार अपने भीतर का, अन्तर का, सब-कुछ उपभोक्ताओं के आगे उँड़ेल कर व्यर्थता के भँवर में चक्कर काटता रहता हूँ, सोचता हूँ मैं ज़िन्दा क्यों हूँ, आत्महत्या क्यों नहीं कर लेता।

● ●

मुझे बार-बार याद आती है वह यक्षप्रिया, जिसे बुद्धिजीवी, रजनी, उस के अपने ही कमरे से धकेल-धकेल कर स्कूल में काम करने के लिए भेजती है और वह स्कूल से भाग-भाग आती है क्लास छोड़ कर सिर्फ़ इस लिए कि उस के पीछे-पीछे एक आवाज़ दौड़ती है, बहुत बेबस, बहुत करुण। वह आवाज़ है उस की साल-भर की गुड़िया की जो पालने पर पड़ी माँ....अं-अं...करती रहती है।

वर्किंग गर्ल्स की चर्चा जब मैं अपने साहित्यकार मित्रों के बीच सुनता हूँ, तब-तब एक स्कूल में काम करने वाली महिला-माँ की बेबसी पर उदास हो जाता हूँ। वह महिला कौन है, कहाँ है यह मुझे याद नहीं। लगता है हर जगह है, हर ऐसे महानगर में जहाँ रजनी के जैसे पति हैं, जो प्रेम इसी लिए करता है कि उसे एक ऐसी जीवन संगिनी चाहिए जो उस के व्यक्तित्व को विकसित करने के खातिर वेतन ला सके। या अपने नये फ़्लैट में नाटक चक्र वाले भाई साहब के साथ बैठ कर मेघदूत नृत्यनाट्य के प्रभाव पर बातें कर सके।

पुराने ज़माने में पत्नी रुढ़ियों से विवश हो कर समर्पिता थी और आज आधुनिक युग की यान्त्रिकता से बेबस हो कर समर्पित होने को बाध्य है।

यह बाध्यता और यह परिवेश कभी किसी दिन यक्षप्रिया कहानी लिखने को विवश कर देते हैं।

● ●

कभी किसी एक दिन, बस में कहीं जाते हुए एक घटना घटी। वह घटना है एक का एक से पूछना—"आज कितनी तारीख है ?" दूसरे का जवाब देना—"आज इतनी तारीख है।" उस एक का बार-बार कई बार पूछना और किसी एक का बार-बार कई बार उत्तर देना। वही एक उत्तर। मगर हर बार उत्तर देने के पहले अपनी कलाई की घड़ी इस अन्दाज़ से देखना जैसे वे कैलेण्डर देख रहे हों। इस पर पूछने वाला उकता कर कहता है—"मैं आप से तारीख पूछ रहा हूँ। समय नहीं।" दूसरे ने बड़ी विनम्रता से कहा—"मैं आप को तारीख ही बता रहा हूँ समय नहीं।"

आज कल की घड़ियों में तारीख भी जुड़ी है, और विज्ञान के इस विकास से अपरिचित किसी का इस पर झुंझलाना स्वाभाविक है। इस स्वाभाविकता की अपेक्षा है, जो कुछ नहीं जानते उन्हें उस का बोध कराया जाये। मगर काफ़ी-हाउसों में सन्त्रास और मूल्यों के विघटन पर चर्चा करनेवाले लोग, लगता है, विकास की इस स्थिति से स्वयं अबोध हैं, इस लिए वे कहते हैं मेरी नियति है विक्षोभ। और वह विक्षुब्ध है इस लिए ऐसा कुछ लिखते हैं जो पठनीय नहीं है। कोई पढ़े इस लिए वे नहीं लिखते। मगर मैं तो इसी लिए लिखता हूँ कि उसे पढ़ा जाये। और इसी लिए व्यर्थ क्षणों में जीता हूँ कि व्यक्तिनिष्ठ संवेदनाएँ अनेकों की बनें। क्योंकि समयचक्र की गति का वेग इतना तीव्र है कि उसे मात्र हमारे हाथ ही छू नहीं सकते।

● ●

आज एक बेहद भारी चट्टान मेरे ऊपर सहसा गिर पड़ी है। बहुत देर तक मैं उस के नीचे दबा रहा हूँ।

मुश्किल से एक श्रोता मिले और उन्हें पकड़ कर कमरे में लाया, अपनी नयी कहानी 'नयी रोशनी के घेरे', सुनायी। कुन्ती, मेरी पत्नी, कभी मेरी कहानी नहीं सुनती। सुनाने के दौर-दौरान वह आते-जाते ज़बरन कुछ सुन लेती है और ऐसा मुँह बनाती है कि···सौ चूहे उस के अगल-बग़ल मरे हों।

'रोशनी के घेरे' की नायिका को मैं हरे सफून की साड़ी पहनाता हूँ। और उसे मैचिंग कलर का ब्लाउज भी देता हूँ। मेरे श्रोता ने इस पर वाह-वाह कर दिया। कुन्ती जी वहीं खड़ी थीं। उन ने उन से भी कहा—"देखा आपने, कितना ये अपनी कहानी की नायिका को सजाते-सँवारते हैं।" कुन्ती जी बोलीं, "और यह कर क्या सकते हैं! मुझे तो पहना नहीं सकते। कभी एक अच्छी साड़ी खरीद कर लाते तो····"

एक अच्छी साड़ी की क़ीमत एक कहानी क्या कई कहानियों की क़ीमत से अधिक है किन्तु लिखने में तो स्याही अधेले की भी नहीं लगती।

लेखन में वह कौन-सी वस्तु है जिस के आधार पर उस का मूल्य निर्धारित होता है।

बंगाल के औपन्यासिक स्वर्गीय मानिक बन्द्योपाध्याय ने अपनी जीवनी में एक जगह बताया है कि लेखक के श्रम का मूल्य कैसे आँका जा सकता है?

एक दिन वे बाज़ार में मछली खरीदने जाते हैं और घण्टों बाज़ार में एक जगह खड़े रहते हैं। वहाँ एक मछली वाली मछलियाँ बेच रही थी। और वह अपने ग्राहकों को अपने ही निर्धारित मूल्य पर खरीदने के लिए खूब ढंग से बातें कर रही थी। मानिक बाबू उस मछली वाली की अपनी वस्तु के प्रति जो आस्था थी जिस के आधार पर अपने निर्धारित मूल्य पर ही खरीदारों को खरीदने को विवश कर रही थी वे उसे ही देख रहे थे। जिसे सब नहीं देख रहे थे, और यही देखने में घण्टों गुज़र गये। बाज़ार की सारी अच्छी मछलियाँ हाथ से निकल गयीं अन्त में वे सड़ी-गली मछलियाँ ही लेकर घर लौटे और फिर उन की जो गत हुई वह वे ही जानते होंगे।

क्या लेखन के मूल्य का आधार उस की आस्था, उस की अन्तर्दृष्टि ही नहीं है! जो यथार्थ के पीछे के सत्य तक पहुँचती है?

नव लेखन या कोई भी लेखन क्या इस दृष्टि के बिना मूल्य पा सकता है।

और यह बनारस है--वाराणसी। यहाँ नव लेखन के मूल्य-बोध पर गोष्ठी होगी। कहाँ-कहाँ से लेखक आये हैं--इलाहाबाद से आये हैं इलाचन्द जोशी, जगदीश गुप्त, नरेश मेहता, विजयदेव नारायण साही, पटना से शिवचन्द्र शर्मा, कलकत्ते से डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र और छेदीलाल गुप्त भी! यहाँ नव लेखन का मूल्य निर्धारित होगा। बनारस में त्रिलोचन शास्त्री हैं, और थे डॉ० नामवर सिंह भी। इन के बिना यह सम्भव कैसे है?

वस्तु का मूल्य तो आँका जा सकता है मगर चेतना की गति नापी नहीं जा सकती। सृजन को सृजन से ही काटा जा सकता है आँका जा सकता है। आन्दोलनों के द्वारा राजनीति को जीता जा सकता है, कला और साहित्य को नहीं। दोनों का—साहित्य और राजनीति का लक्ष्य एक ही हो सकता है मगर प्रक्रिया भिन्न क्यों नहीं हो सकती?

इस भिन्नता की अपेक्षा से ही मैं नायिका को सफ़न की साड़ी पहना सकता हूँ और कुन्ती जी के लिए एक बढ़िया साड़ी नहीं खरीद सकता।

कहानी के बाज़ार-हाट में जिस की जितनी पहुँच है, उस का उतना ही मूल्य भी है।

● ●

और, आज जब मैं अपनी डायरी के पन्ने उलटने लगा हूँ तो मुझ में एक हीन भावना ने जन्म लिया है। वह हीन भावना है दायित्व हीनता की, अपना काम नहीं करने का। जाने कितनी कहानियां अलिखी पड़ी हैं। वे चीखती हैं चिल्लाती हैं और मैं जीवन जीने के लिए परिवार को जीवित रखने के लिए एक नौकरी की तलाश में घूमता हूँ—दायित्वहीन हूँ। कुछ रुपयों के लिए चक्कर काटता हूँ--दायित्वहीन हूँ। और आत्महत्या करना चाहता हूँ। मगर आदमी अपनी मौत मरता है। हेमिंग्वे भयानक यन्त्रणा में मधुर सीटियां बजाते थे। क्या वे अपनी मौत मरे? अस्त्रोवस्की अस्पताल में पड़े रह कर भी सम्पूर्ण रूस की क्रान्ति का दर्शन करते थे क्या वे अपनी मौत मरे? निराला और मुक्तिबोध यन्त्रणा भोगते हुए क्या अपनी मौत मरे? आत्महत्या पराजय है। किन्तु सत्य यह है कि लेखक मरता है अपनी दृष्टि-हीनता की वजह से। पिछले दशक के बहुतेरे अच्छे लेखक आज नहीं हैं। वे किसी बड़े मीनार में बन्द हो गये हैं।

● ●

आज मैं एक ऐसे वीरान स्टेशन के प्लेटफ़ॉर्म पर किसी दूसरी ट्रेन की प्रतीक्षा में उतर पड़ा हूँ, जहाँ कुछ दूर पर गिट्टियों का ढेर लगा है, और उस ढेर के पीछे एक भिखमंगे पति-पत्नी बैठे कुछ कर रहे हैं। वह जो कुछ कर रहे हैं वह हम नहीं कर सकते। वह क्या कर रहे हैं? वे अपने शरीर पर खरोंच-खरोंच कर घाव बना रहे हैं, उन के शरीर पर यहाँ-वहाँ से ताजा ख़ून बह रहा है और वे सहज भाव से एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं।

उन के क़रीब गया, पूछा : "यह क्या कर रहे हो? दर्द नहीं होता?"

"होता भी है, नहीं भी होता?"

"यह कोई बात नहीं हुई। लोग शरीर के फोड़े-फुंसियों के लिए दवा लगाते हैं और तुम घाव बनाते हो।"

"हाँ, जो लोग फोड़े-फुंसियों के लिए दवा का इस्तेमाल करते हैं वह वे एक तरह के लोग हैं, वे दाता हैं देने वाले और हम हैं दान माँगने वाले। माँगनेवालों को घाव बनाना होता है और देने वाला अपने घाव पर मरहम लगाता है।"

एक लिखने वाला है, एक पढ़ने वाला। लिखने वाला दर्द सँजोता है और पढ़ने वाला दर्द मिटाने के लिए पढ़ता है। उस भिखमंगे और हम में फ़र्क़ इतना ही है कि उस के बीच आलोचक, पत्र-सम्पादक, प्रकाशन-व्यवस्थापक नहीं हैं। इसी लिए वह घाव बना कर भी सुखी है।

■ ■

मत्स्य-न्याय

रणजीत

[चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप के विरुद्ध एक स्वयंचेता साम्यवादी की प्रतिक्रिया ।]

अब भी कितना सर्वव्यापी है मेरी दुनिया में मत्स्य-न्याय
कि पचास वर्ष की एक प्रौढ़ा क्रान्ति भी
आठ महीने के एक नन्हें-से सुधार को
हड़प जाने का लोभ संवरण नहीं कर सकी ।
तुम ने अपनी बड़ी शक्ति से घेर लिया उन के छोटे से सत्र को
और तब की उन से बात-चीत
आपस के मतभेद मिटाने के लिए !
यह अब तुम तय करोगे कि उन का रेडियो क्या कहे
और क्या लिखें उन के अखबार ?
उन का एक पोस्टर कहता है :
"सत्य को कभी दबाया नहीं जा सकता !"
काश मैं आश्वस्त हो सकता !
पर नहीं
मुझे तो लगता है कि तुम
धीरे-धीरे इस झूठ को उन के खून में उतार दोगे
और वे कल सचमुच विश्वास करने लगेंगे
कि तुम ने उन की रक्षा के लिए ही उन के देश में अपनी सेनाएँ भेजी थीं !
दुनिया को कुछ सरल सूत्रों से समझने का कैशोर मोह
अब भी मुझ में कभी-कभी जागता है
पर तुम ने अपनी सेनाएँ भेज कर उसे फिर कुचल दिया है !

■ ■

हम भगीरथ हैं

नारायणलाल परमार

नदी नहीं रही अब
हमारी मुट्ठियों में
केवल बच रही है रेत
स्वतन्त्रता की
हम भगीरथ हैं
अपने चारों ओर
अवसरवाद का लेबल चिपकाये हुए
विसंगतियों से ग्रस्त
राष्ट्रीय शर्म के अभाव में
'युद्ध' पर महज़ 'गपशप' करते हैं
अपनी-अपनी ठेला गाड़ियों पर
नवीनता का अविकल बोझ लादे हुए
पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से
गुज़र जाते हैं
हमारी आधुनिकता
मात्र घुन-लगा फ़ैशन है
सीपियों और शंखों के बदले
भर लिये हैं हम ने
अपनी जेबों में
कुण्ठाओं के अचल खोटे सिक्के

हमारी आत्मा
बुर्का पहन कर रोज़
सौगन्ध पर सौगन्ध खाये जाती है
मेरठ, इलाहाबाद या कलकत्ता में
होते हैं दंगे
या फिर
हवाई सहगान करती हैं
कश्मीर में एकता-परिषद् की
लम्बी-चौड़ी सभाएँ
फिर भी हम से सहज ही
छीन लिये जाते हैं
कभी नेफा कभी लद्दाख
और कभी कच्छ
मुँहजली प्रतिष्ठा के नाम पर
एक साथ कितनी ही
विरोधाभासी मान्यताओं के कछार पर खड़े
हम आधुनिक भगीरथ
भौंकते ही रह जाते हैं
नदी नहीं रही अब
कहीं भी

■ ■

साहित्य के व्यावहारिक तथ्य

नरेन्द्र कोहली

साहित्य का सृजन आज तक बहुत बड़ी मात्रा में हुआ है और हो रहा है। उस से सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं को लेकर अनेक तर्क-वितर्क और वाद-विवाद हुए हैं; असंख्य सिद्धान्त बने हैं और बन रहे हैं। पर मुझे बहुधा यह लगा है कि इस समस्त क्षेत्र पर एक इन्द्रधनुषी, रोमानी आदर्शवादी आवरण डाल दिया गया है। व्यावहारिक परिस्थितियों की प्रतिच्छाया उस पर नहीं पड़ने दी गयी है, क्योंकि वह आदर्शों के अनुकूल नहीं है। एक नहीं अनेक बार मुझे साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त और व्यवहार में असंगति असह्य लगी है। और मैं यह समझ नहीं पाया कि यदि हमारे आदर्शों का, व्यवहार के साथ ताल-मेल नहीं बैठता तो हम व्यावहारिक समस्याओं की ओर से आँखें क्यों मूँद लेते हैं, हम सहज रूप से उपस्थित यथार्थ को स्वीकार क्यों नहीं कर पाते और हम साहित्य को आज की परिस्थितियों, आज के रंग-रूप और आज के परिप्रेक्ष्य में क्यों नहीं देख पाते। ऐसा क्यों है कि हम पढ़ते तो आज की पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं और समाचारपत्र हैं—पर जब साहित्य के विषय में विचार

करने बैठते हैं तो इस प्रकार क्यों सोचने लगते हैं कि हम किसी वैदिक आश्रम में बैठे हुए विचार कर रहे हैं।

जब से मैं ने साहित्य और साहित्यकारों को कुछ समझना आरम्भ किया है, साहित्य-सम्बन्धी मेरे कई-एक भ्रम टूटे हैं। और जैसे-जैसे मैं इस दिशा में आगे बढ़ता जा रहा हूँ, और अधिक भ्रम टूटते जा रहे हैं।

बात बहुत पुरानी नहीं है, जब छायावादी कवियों तक को प्रतिष्ठित होने के लिए अपने पूर्व के ब्रज भाषा तथा खड़ी बोली के कवियों पर बड़े प्रखर प्रहार करने पड़े थे। पन्त तथा निराला ने एक प्रकार से लेखनी-युद्ध ही किया था। कवियों ही नहीं आलोचकों तक से उन्हों ने लोहा लिया था और अन्त में हिन्दी कविता क्षेत्र में स्वयं को प्रतिष्ठित किया था। स्वयं को श्रेष्ठ कवि सिद्ध किया था, पत्रिकाओं, प्रकाशन-गृहों तथा रेडियो इत्यादि पर नियन्त्रण किया था। फिर उन की समीक्षाएँ भी हुईं, उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान भी मिला और पाठ्यक्रम में भी उन की पुस्तकें निर्धारित हुईं। और अब उन्हें हिन्दी साहित्य के क्रमवार इतिहास में से कोई नहीं उखाड़ सकता।

उधर, गद्य के क्षेत्र में थोड़ा-सा संघर्ष प्रेमचन्द को भी करना पड़ा, पर उन के सम्मुख कोई समर्थ प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ थोड़ी-सी चोंच-बाज़ी अवश्य हुई थी। उसी प्रकार के संघर्ष करते हुए प्रगतिशील आये, प्रयोगवादी आये, नयी कविता वाले आये। गद्य में भी जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल आये और उन के विरुद्ध नयी कहानी वालों ने बहुत-कुछ कहा-सुना और लिखा। नयी कहानी के साथ मोरचा लिया सचेतन कहानी ने।

यहाँ आ कर एक समस्या उठ खड़ी होती है कि आखिर इन वाद-विवादों, बहस-मुबाहसों तथा अपने प्रचार-प्रसार की क्या आवश्यकता है? साहित्य के क्षेत्र में भी दल-बन्दियों और गुट-बन्दियों की ज़रूरत क्यों पड़ी? क्या इस के पीछे कोई प्रयोजन है—अपना कोई स्वार्थ है या केवल स्वस्थ साहित्य को प्रोत्साहित करने के लिए ही यह सब होता है?

साहित्य-क्षेत्र में एक बड़ी मज़ेदार उक्ति प्रचलित है (मैं नहीं जानता कि वह किस के दिमाग़ की उपज है) कि अच्छे साहित्य को एकमात्र कसौटी समय है। लेखक को चाहिए कि वह सृजन के पश्चात् रचना से विमुख हो जाये और उसे समय के हाथों में छोड़ दे। जो शाश्वत साहित्य होगा, वह समय की इन सीमाओं को पार कर के सदा जीवित रहेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता।

पिछले दिनों कथा-साहित्य-सम्बन्धी कुछ गोष्ठियों में मैं ने भाग लिया था और कुछ-एक निबन्ध भी लिखे थे। स्पष्ट है कि जिस समय हम अपने समसामयिक साहित्य और साहित्यकारों की चर्चा करते हैं—उस समय हम विश्व-साहित्य और अनन्त देश काल को भूल कर अपने जाने-पहचाने समय और लोगों की बात करते हैं और बात-चीत का क्षेत्र सीमित ही नहीं संकुचित भी हो जाता है।

ऐसे समय में कुछ उदारचेता, आदर्शप्रिय, मनस्वी साहित्यकारों और मेरे शुभचिन्तकों ने मुझे शाश्वत साहित्य की बात समझायी और मुझे बताया कि अपने समसामयिक साहित्य की इस प्रकार की चर्चा छिछलापन है। हमें तो समय की कसौटी पर कसे जा चुके शाश्वत साहित्य की ही चर्चा करनी चाहिए। उन का कहना यह है कि हम आज रचे जाते हुए साहित्य के विषय में क्या कह सकते हैं, उस की आलोचना तो एक हज़ार वर्ष बाद आने वाले आलोचक करेंगे।

मैं साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित इन आदर्श उक्तियों से अपरिचित नहीं हूँ, न ही उन लोगों की ईमानदारी में मुझे कोई सन्देह है, जिन्हों ने मुझ से ये बातें कही हैं। पर एक बात सोचता हूँ तो आश्चर्य होता है कि मनुष्य किस प्रकार सुनी-सुनायी बातों पर ईमान ले आता है और पूरी ईमानदारी से उन का प्रचार करने लगता है और अपनी खुली आँखों के सामने के तथ्यों को झुठलाने लगता है। यदि हम अपने आस-पास उपलब्ध तथ्यों को देखें और उन का परीक्षण करें तो हमारे सारे भ्रम उघड़ने लगते हैं।

सृजन के हज़ार वर्ष बाद आलोचना वाली बात की परीक्षा हम आज से एक हज़ार वर्ष पूर्व रचे गये साहित्य को ले कर कर सकते हैं। यह ठीक है कि आज के आलोचक को न चन्दवरदाई से कोई विशेष लगाव है, न अदहमाण (अब्दुर्रहमान) से और न विद्यापति के प्रति कोई पक्षपात है। अतः आज का आलोचक उन की आलोचना बड़े निष्पक्ष भाव से करेगा। पर यह बात तो हम स्वीकार करेंगे ही कि यदि आज का आलोचक आदिकालीन साहित्य की आलोचना करेगा तो उन्हीं कृतियों पर विचार करेगा, जो उस तक पहुँच पायी हैं। और यह हम कैसे स्वीकार कर लें कि उन उपलब्ध कृतियों के अतिरिक्त और कोई कृति उस समय रची ही न गयी होगी। उस काल के आधिकारिक विद्वान् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हमें सूचना देते हैं कि उस समय का साहित्य हमारे पास तीन माध्यमों से आया है—राजाश्रय पा कर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रह कर; सुसंगठित धर्म-सम्प्रदायों का आश्रय पा कर और मठों-विहारों आदि के पुस्तकालयों में शरण पा कर; तथा जनता का प्रेम और प्रोत्साहन पा कर।

इन में से पहले दो माध्यम तो शाश्वत साहित्य के स्वतः समय की कसौटी पर पूरा उतरने की बात को झुठलाते ही हैं। तीसरे माध्यम के विषय में अवश्य यह बात कही जा सकती है। पर उस के विषय में भी कई बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो जन-प्रेम कितनी कृतियों को, कैसी कृतियों को प्रश्रय देगा? दूसरी बात यह कि वे कृतियाँ कितने समय तक अप्रक्षिप्त रह पायेंगी? और सब से बड़ी बात यह है कि जिसे हम 'जनता', 'जनप्रेम' या 'जनकण्ठ' के रूप में स्वीकार कर रहे हैं क्या वह भी एक संगठन नहीं था—चारणों का? द्विवेदी जी ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि ये चारण अपने प्रभुओं का गुणगान करते थे और उसे गाते फिरते थे। इस

में वे एक संगठन के अंग थे और अपना और अपने स्वामी का प्रचार करते फिरते थे—वैसे ही, जैसे आज सरकार के प्रसारण विभाग के कवि, गीतकार तथा कव्वाल सरकारी नीतियों का प्रचार करते फिरते हैं।

अतः, ये तीनों माध्यम एक प्रकार के संगठन हैं। संगठन चाहे शासन का हो, धर्म का हो या जनता के एक भाग—चारणों—का हो। जिस कृति को इन संगठनों ने आश्रय नहीं दिया, वह कृति हम तक पहुँची ही नहीं। उस की आलोचना हम कैसे कर सकते हैं? और यदि हम कुछ और आगे बढ़ कर कल्पना कर सकें तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि ये संगठन न होते तो जिस प्रकार आदिकाल का और बहुत सारा साहित्य लुप्त हो गया है, यह उपलब्ध साहित्य भी समय की इस यात्रा में कहीं खो गया होता।

सारा भक्तिकाल विभिन्न शिविरों में बँटा हुआ था। धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना पृथक् संगठन था, और उन संगठनों ने अपने प्रिय ग्रन्थों को न केवल सुरक्षित रखा, वरन् उन का प्रचार किया और हम तक पहुँचाया। सगुण भक्तों में कृष्ण कवियों के ही कितने सम्प्रदाय थे। उन्हों ने अपने संगठन और अपनी परम्पराएँ बनायीं। अपने संगठन के कवियों की रचनाओं को संकलित किया तथा उन के प्रचार तथा सुरक्षा के साधन बने। अष्टछाप के कवि इस का प्रमाण हैं। यदि राम-भक्ति-सम्प्रदाय के लोग तुलसी को अंगीकार न करते, तो कौन कह सकता है कि रामचरित-मानस भी समय की कसौटी पर खरा उतरने के स्थान पर, समय की आँधी में ही कहीं खो न गया होता। राम-भक्ति शाखा में तुलसी के बाद कोई दूसरा नाम ही नहीं मिलता। उस का जहाँ एक कारण यह है कि तुलसी अन्य कवियों की तुलना में बहुत ऊंचे थे, वहाँ दूसरा कारण यह भी है कि इस संगठन पर तुलसी का व्यक्तित्व इस बुरी तरह छा गया था कि उन्हों ने अन्य किसी कवि को स्वीकार ही नहीं किया और शेष राम भक्त कवि किसी प्रकार के प्रश्रय के अभाव में समय के थपेड़ों को न सह सके और गुम हो गये।

दूसरी ओर निर्गुण कवियों में स्थिति कुछ और सुसंगठित थी। सूफ़ियों का तो अपना सम्प्रदाय था ही। वे मिशनरी स्पिरिट में काम कर रहे थे-और उन का प्रत्येक कवि प्रचारक था। सन्त कवियों में प्रत्येक मुख्य कवि का अपना सम्प्रदाय अथवा पन्थ था। नानक हों या रैदास, पलटू हों या मलूक—सब के पन्थ थे, सब का अपना संगठन था, शिष्य थे—जो न केवल गुरु का प्रचार करते थे, वरन् अपनी रचनाओं को गुरु के नाम पर प्रकाशित कर के भी गुरु की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। और कौन जानता है कि यदि वे सामूहिक रचनाएँ न होतीं तो इन की वैयक्तिक काव्य-साधना समय की कसौटी पर पूरी उतरती ही। कबीर के बेटे ने अपने आदर्शों के कारण, पिता के नाम पर पन्थ चलाना स्वीकार नहीं किया था, तो उसे कहा गया—'बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत
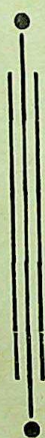
कमाल।' अन्त में कबीर भी पन्थ, सम्प्रदाय और संगठन के कारण ही धार्मिक नेता भी हुए और कवि भी। मेरा विचार है कि आज भी यदि किसी साहित्यकार को ऐसा संगठन और ऐसे गुरु-रत शिष्य मिल जायें, तो वह भी इन भक्तिकालीन कवियों के समान ही महान् साहित्यकार बन जायेगा।

रीतिकाल में तो सीधे-सीधे राजाओं, सामन्तों और जागीरदारों ने कवियों को आश्रय दिया है और इस प्रकार उन की रचनाएँ सुरक्षित रहीं और हम तक पहुँचीं। बिहारी हों या केशव, भूषण हों या मतिराम, देव हों या चिन्तामणि—सब ने ही प्रतिष्ठित होने के लिए राजाओं का आश्रय स्वीकार किया।

इन तथ्यों को दृष्टि में रख कर मैं यह नहीं मान सकता कि अच्छे से अच्छा साहित्य भी बिना आश्रय और प्रश्रय के समय की बाधा को पार कर, शाश्वत साहित्य के रूप में अपनी परीक्षा करवा सकता है। अतः साहित्य को अपने समय की बाधा पार करने के लिए एक ऐसे प्रश्रय की ज़रूरत होती है, जो उसे अपने समसामयिक साहित्य की बाढ़ में से उबार ले और भविष्य तक पहुँचाये। साहित्य के इतिहास में एक नहीं पचासों उदाहरण ऐसे प्राप्त होते हैं जहाँ आज महान् माने जाने वाले साहित्यकारों की आश्रय के अभाव में घोर दुर्गति हुई है।

गुनाढ्य की बृहत् कथा के विषय में कहा जाता है कि जिस समय उस पुस्तक की रचना हुई, राजा सातवाहन, गुनाढ्य पण्डित से रुष्ट था। और जब राजा के सम्मुख उस पुस्तक को प्रस्तुत करने का अवसर नहीं मिला तो कवि ने उसे पढ़-पढ़ कर जलाना आरम्भ कर दिया। वस्तुतः राजा उस समय प्रकाशक की स्थिति में था, यदि वह नहीं चाहेगा तो कोई ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आयेगा। अतः लेखक के पास सिवा इस के और कोई रास्ता नहीं कि वह अपनी रचना को नष्ट कर देता। इस कथा के अनुसार, सौभाग्य से इस बात की सूचना राजा को मिल गयी। राजा ने कवि को बुलाया, पुस्तक को सुना और प्रसन्न हो कर कवि को फिर से अपने दरबार में आश्रय दिया। और आज यह एक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ है। पर कल्पना कीजिए कि किसी कारण से राजा ने कवि को प्रश्रय ही न दिया होता, वह ग्रन्थ जल चुका होता तो आज का आलोचक किस की आलोचना करता? समय की कसौटी उसे अमर रचना कैसे घोषित करती?

इस स्थल पर मुझे द्विवेदी-कालीन नाथूराम शर्मा 'शंकर' की बात याद आती है। कहा जाता है कि उन्हों ने कुछ प्रेम-कविताएँ भी रची थीं। किन्तु, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रेम-कथाओं के विरुद्ध थे, और उस समय वही रचना प्रकाशित हो सकती थी, जिसे द्विवेदी जी प्रकाशित करना चाहें; अतः अन्त में बाध्य हो कर 'शंकर' को अपनी प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ जला देनी पड़ी थीं।

कालिदास हों या ग़ालिब—सब को राजाओं के प्रश्रय की क्या आवश्यकता थी?

इस लिए मैं यह मानता हूँ कि शाश्वत साहित्य का निर्णय तो हज़ार वर्ष पश्चात् ही होता है, किन्तु उन हज़ार वर्षों तक साहित्य को जीवित रखने का प्रयास करना पड़ता है। वस्तुत: जो साहित्य अपने हज़ार वर्ष पार कर जाता है, उसे नष्ट करना असम्भव हो जाता है--अत: साहित्य को नष्ट करने का प्रयास उस के जन्म-काल में ही होता है, इस लिए उसे जीवित रखने का प्रयास भी उस के जन्म-काल में ही करना पड़ता है। यदि उसे हज़ार वर्ष बाद आने वाले निर्णायक तक पहुँचने ही नहीं दिया जायेगा--यदि हज़ार वर्ष बाद होने वाली प्रतियोगिता में उस का प्रवेश ही नहीं हो पायेगा तो उस पर उस के समस्त गुणों के बावजूद विचार नहीं हो पायेगा। अत: प्रश्रय के साथ-साथ एक प्रकार का प्रचार भी उस के जन्म-काल में ही आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः साहित्यकार प्रश्रय चाहता ही इसी लिए है। प्रश्रय ही उस का प्रचार भी करता है।

हिन्दी साहित्य के पिछले हज़ार वर्षों का इतिहास बताता है कि इन परिस्थितियों में कोई अन्तर नहीं आया है। हाँ, इस प्रश्रय का स्वरूप अवश्य ही बदल गया है। आरम्भ में मुख्यतः राजा ही प्रश्रय होता था। यदि एक कवि अपने गाँव की झोंपड़ी में साहित्य की रचना करता तो या तो वह भूखों मर जाता और सृजन कर नहीं पाता था, या अगर वह सृजन कर भी लेता था तो उस की रचना का प्रचार नहीं हो पाता था और वह अनाम, यशहीन ही इस संसार से विदा हो जाता था। पर यदि उस कवि को राजा आश्रय दे देता था तो जीवन की समस्त आवश्यकताओं की ओर से निश्चिन्त हो कर वह सृजन करता था और उस की रचना को राजा, दरबारी और प्रसिद्ध विद्वान् सुनते थे, अत: उस की रचना का प्रचार भी उसी क्षण हो जाता था। और जिस कवि को जितने बड़े राजा का प्रश्रय मिल जाता था, उस के महान् होने की सम्भावना उतनी ही बढ़ जाती थी। यही कारण था कि प्रत्येक सांसारिक कवि किसी-न-किसी राजा, सामन्त अथवा जागीरदार का आश्रय पाने के लिए भटकता था। विरक्त कवियों अथवा भक्त कवियों का ढंग कुछ और था। वे लोग संसार को छोड़ चुके होते थे, अत: किसी सामान्य गृहस्थ अथवा राजदरबार का आश्रय उन के लिए शोभनीय नहीं था। वे प्रश्रय के लिए किसी धर्म-संगठन की ओर प्रवृत्त होते थे—जैसे आज का कोई व्यक्ति सरकारी नौकरी छोड़ कर किसी प्राइवेट फ़र्म की नौकरी कर लेता है, अथवा कोई साहित्यकार सरकारी प्रकाशन से सम्बन्ध विच्छेद कर किसी अन्य प्रकाशन के साथ सम्बद्ध हो जाता है। कभी-कभी यह भी सम्भव नहीं हो पाता था—ऐसी अवस्था में वह भक्त कवि अपना स्वतन्त्र संगठन बनाता था, अपने दल का निर्माण करता था और अपने शिष्यों की भरती करता था—जैसे आज का कोई साहित्यकार निजी प्रकाशन खोल लेता है। किन्तु, संगठन की आवश्यकता सब को ही पड़ी।

प्रेस के आगमन से समस्या का रूप कुछ बदल अवश्य गया, किन्तु इस परम्परा से हम मुक्त फिर भी नहीं हो पाये। अब धन या प्रश्रय देने वाला एकमात्र राजा ही न रहा—प्रजा 'अन्नदाता' का रूप ले चुकी थी। किन्तु, प्रजा तक साहित्यकार सीधा नहीं पहुँच सकता था, उसे किसी-न-किसी माध्यम की आवश्यकता थी। वे माध्यम ऐसे केन्द्र थे जो लेखक से उस की रचना ले कर उस का प्रकाशन भी करें तथा उस का प्रचार भी। और ये केन्द्र हैं—प्रकाशन गृह, पत्र-पत्रिकाएँ, रेडियो इत्यादि। अतः अब प्रचार का कार्य प्रकाशक, सम्पादक अथवा रेडियो के प्रोड्यूसरों के हाथ में आ गया। अतः इन गद्दियों पर अधिकार प्राप्त करने की अथवा उन्हें प्रभावित करने की होड़ लग गयी।

हिन्दी में भारतेन्दु ने अपना मण्डल बनाया। स्वयं लिखा और अपने मित्रों से लिखवाया और उसी काशी में बैठ कर जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा तो उन्हों ने हिन्दी साहित्य पर भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मण्डल का ऋण स्वीकार किया। मैं स्वयं भारतेन्दु के सम्मुख नतमस्तक हूँ। पर मुझे लगता है कि इसी प्रकार के और भी न जाने कितने भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मण्डल देश के विभिन्न भागों में रहे होंगे—उन्हों ने न जाने कितनी सेवा हिन्दी साहित्य की की होगी, पर उन्हें न तो कोई भारतेन्दु मैगज़ीन मिली, न नागरी प्रचारिणी सभा-जैसा समर्थ संगठन मिला और न आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-जैसा आलोचक।

कोई समय था जब मैं हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ते हुए सोचता था कि भारतेन्दु काल में प्रत्येक विधा का लेखक बनारस में ही क्यों पैदा हुआ। या आज हर साहित्यिक आन्दोलन प्रयास से ही क्यों उठता है, हर पत्रिका वहीं से क्यों निकलती है—हर लेखक की आँख वहीं क्यों लगी रहती है। आज कारण समझ में आ रहा है कि लेखक सब जगह पैदा होते हैं—हो सकते हैं, किन्तु उन्हें जीवन और यश देने वाले संगठन उन्हीं नगरों में थे। कल्पना कीजिए कि यदि नागरी प्रचारिणी सभा या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-जैसे समर्थ आलोचक किसी कारणवश भारतेन्दु मण्डल को नकार जाते, उस की अवज्ञा कर जाते, तो क्या तब भी हिन्दी जगत् भारतेन्दु का आज उतना ही ऋण स्वीकारता?

द्विवेदी युग में एक पत्रिका प्रचार का माध्यम बनी—'सरस्वती'। जिस साहित्यकार को द्विवेदी जी अथवा 'सरस्वती' पत्रिका ने स्वीकार कर लिया, उसे मानो देवी सरस्वती ने भी स्वीकार कर लिया। मैथिलीशरण गुप्त महान् कवि हो गये और 'प्रसाद' को किसी ने पूछा तक नहीं। 'प्रसाद' ने देखा कि यदि जीवित रहना है तो उन्हें भी किसी-न-किसी पत्रिका का आश्रय लेना होगा—क्योंकि उस युग की सब से बड़ी प्रचारक शक्ति, पत्रिका ही थी। प्रसाद ने 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ किया। मैं कल्पना कर सकता हूँ कि उस समय 'प्रसाद' के इस प्रयत्न को बड़ा छिछला, घटिया और आत्म-प्रचार का साधन समझा गया होगा। पर यदि 'प्रसाद' ने 'इन्दु' न

निकाला होता, जीवित रहने के लिए संघर्ष न किया होता—तो आज 'प्रसाद' को कोई नहीं जानता, 'कामायनी' को कोई प्रकाशक प्रकाशित भी न करता। आगे चल कर छायावादी कवियों ने अपना संगठन बनाया, एक दूसरे की प्रशंसा की—पत्रिकाओं, रेडियो तथा प्रकाशन-गृहों पर अधिकार स्थापित किये। जिन्हों ने यह संघर्ष नहीं किया, वे मिट गये। आज कोई उन का नाम भी नहीं जानता।

प्रेमचन्द ने भी इस दिशा में काफ़ी संघर्ष किया है। जब तक वे किसी-न-किसी नौकरी में रहे और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इस क्षेत्र में नहीं आये थे, तब तक शायद वे अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहे हों। पर जब वे नौकरी इत्यादि छोड़ कर खुल खेले, तब उन्हें भी यह लगा होगा कि जिस प्रकार का आश्रय उन की आयु और प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है, वह उन्हें कुछ कारणों से प्राप्त नहीं हो रहा है। अतः उन्हों ने अपने-आप को कुछ संगठनों से सम्बद्ध भी किया, अपने और अपने संगठन के लिए प्रचार का काम भी किया, निबन्ध भी लिखे, भाषण भी दिये, पत्रिकाएँ भी निकालीं और उस से भी आगे बढ़ कर उन्हों ने अपना प्रेस भी लगाया।

मुझे लगता है कि प्रेमचन्द इस क्षेत्र में सब से अधिक समझदार और व्यावहारिक लेखक हुए हैं। वे संगठन की आवश्यकता और नये युग के प्रश्रयों—सम्पादक और प्रकाशक—का महत्त्व खूब जानते थे। यही कारण है कि उन्हों ने ये दोनों पद ग्रहण किये। वे सम्पादक भी बने और प्रकाशक भी। जब तक वे केवल लिखते रहे, तब तक वे एक ग़रीब लेखक रहे और जब उन्हों ने ये व्यावहारिक पग उठाये, वे संगठनों के नेता तथा सम्मानित सम्पादक और प्रकाशक बने।

इस संघर्ष के पश्चात् प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य में ऐसे प्रतिष्ठित हुए हैं कि अब उन्हें कोई शक्ति नहीं हिला सकती। अन्य लोग ही उन से अपना सम्बन्ध जोड़ कर शक्ति अर्जित कर सकते हैं। यह प्रेमचन्द के ही उद्यम का फल है कि राजनीति के समान ही साहित्य में भी पारिवारिक उत्तराधिकार की परम्परा चल निकली।

प्रेमचन्द के उद्यम के इस सूत्र को उन के पश्चात् आने वाले कहानीकारों तथा उपन्यासकारों ने खूब समझा है। जैनेन्द्र ने अपना प्रकाशन स्थापित किया, यशपाल ने अपना और 'अश्क' ने अपना। वैसे इन तीनों में से 'अश्क' ही सब से अधिक व्यावहारिक हैं। उन का अपना प्रकाशन-गृह तो इस बात का प्रमाण है ही, साथ ही उन की पुस्तकें भी इस ओर संकेत करती हैं। मैं उन दिनों जमशेदपुर के को-ऑपरेटिव कॉलेज में इण्टरमीडिएट का विद्यार्थी था। 'अश्क' जी जमशेदपुर आये हुए थे। कॉलेज के लेखक-मण्डल की गोष्ठी में हम ने उन के सामने अपनी समस्या रखी थी। हम सब लिखते थे और छपना चाहते थे—हमें छापता कोई नहीं था। हम क्या करें? 'अश्क' जी का उत्तर था—"गुटबन्दी करो। दल बनाओ। किसी

का आश्रय खोजो और अपना प्रचार करो। साहित्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने का कोई दूसरा रास्ता नहीं है।"

दूसरी ओर 'अज्ञेय' ने कुछ नवीन आयाम खोज निकाले थे। उन्हों ने 'तार सप्तकों' के माध्यम से अपने दल का संगठन किया था। अपने प्रकाशन के झंझट में वे नहीं पड़े, पर प्रकाशकों के संरक्षण में उन का भी काफ़ी विश्वास रहा।

पर मुझे लगता है कि समय के आगे बढ़ने के साथ-साथ प्रकाशक से भी अधिक सशक्त प्रश्रय के रूप में सम्पादक की गद्दी उभर रही है। अतः अब समझदार लेखकों का प्रयत्न यह रहता है कि प्रत्येक पत्रिका के सम्पादन में उन के दल के किसी-न-किसी व्यक्ति का हाथ अवश्य रहे। या यदि सम्भव हो सके तो वे स्वयं ही किसी बड़ी व्यावसायिक पत्रिका के सम्पादक बन जायें। इस पद पर पहुँच कर वे रचनाओं के आदान-प्रदान करने की अवस्था में आ जाते हैं। वे दूसरे सम्पादकों की रचनाएँ अपनी पत्रिका में प्रकाशित करेंगे और दूसरे सम्पादक उन की रचनाएँ अपनी पत्रिका में प्रकाशित करेंगे। यह प्रश्रय विज्ञान की आधुनिकतम कड़ी है जो काफ़ी सफल प्रमाणित हुई है।

प्रकाशन-गृह और पत्रिकाएँ एक प्रकार के संस्थान हैं। यह ठीक है कि प्रत्येक संस्थान के पास शक्ति होती है, किन्तु सब संस्थान शक्ति में बराबर नहीं होते——जैसे सब राजा और सम्राट् शक्ति में बराबर नहीं होते थे। अतः जब साहित्यकार किसी ऐसी शक्ति का प्रश्रय खोजने के लिए निकलता है, तो वह चाहता है किसी ऊँची ड्योढ़ी पर सिर झुकाये। जितनी ऊँची ड्योढ़ी होगी, उस की शक्ति उतनी ही अधिक और उस की सीमाएँ उतनी ही विस्तृत होंगी। अतः साहित्यकार के प्रचार की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है। परिणामस्वरूप प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी लेखक देश के बड़े प्रकाशकों तथा बड़ी व्यावसायिक पत्रिकाओं के सम्पादकों से अनुलग्न होना चाहता है। और इन बड़ी संस्थाओं की सम्भावनाएँ छोटे शहरों में नहीं हैं——वे तो बड़े शहरों में ही हो सकती हैं, जहाँ आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की समस्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

आज की स्थिति का अवलोकन यह भी स्पष्ट कर देता है कि अब समस्त महत्त्वाकांक्षी लेखक देश के कोने-कोने से सिमट कर कुछ बड़े शहरों में एकत्रित हो रहे हैं। वे स्वयं इस बात को स्वीकार करेंगे कि छोटे शहरों में न तो उन्हें प्रकाशकों का प्रश्रय मिल पाता है, न पत्रिकाओं का। अतः, उन का प्रचार नहीं हो पाता और वे अच्छा लिखते हुए भी साहित्य में अपना स्थान नहीं बना। पाते-अन्त में उन्हें बाध्य हो कर आधुनिक आश्रय दाताओं और प्रचारकों की खोज में बड़े शहरों में एकत्रित होना पड़ता है।

■ ■

सापेक्षिक सह-सम्बन्ध

सतीश जायसवाल

●

मुझे ब्रिज की अपेक्षा रमी अधिक साइण्टिफिक लगता है। शुरू से आखिरी तक बस गणित का खेल है। कहीं कोई किसी से नहीं बोलता। जैसे ब्रिज में होता है, इस में कोई 'काल' नहीं कोई 'बिड' नहीं। बस, पत्ते उठाते चलिए पत्ते गिराते चलिए, बना कर आखिरी पत्ता पलट दीजिए—खेल पूरा। सब-कुछ अपने अकेले दम पर करना है, कोई किसी का पार्टनर नहीं। एक नज़र में पूरे बावन पत्तों का हिसाब रखना आता है तो खेल आप का। जीतने वाला हर स्थिति में एक अकेला ही होगा और बाक़ी के सारे हारे हुए।

यही स्पिरिट एक्साइटिंग है। सेल्फ़-गोल करने का अन्दाज़ ही और होता है। विरोधी टीम तो चित्त हो ही जाती है—अपनी ही टीम के बाक़ी लोग जैसे आउट हो जाते हैं।

मुझे तो तारीख तक बड़ी भली भांति याद है। वह मार्च की दस तारीख थी। मैं अगले स्टेशन तक उसे छोड़ने गया था और बदहवास-सा लौटा था। असल में उसे विदा करते समय मैं अतिशय भावुक हो उठा था और उस

चले जाने के पश्चात् मेरी संज्ञा के पास कोई चेतना शेष न रह गयी थी। व्यतीत रात्रि लगभग तीन बजे मैं वापस अपने स्टेशन पर था। यहाँ से घर की राह बीस मिनिटों की। घर पर सामान छोड़ कर मैं पुल की ओर निकल गया। वहाँ, झुग्गी वाली होटल में उस डूबते अँधियारे में जब रात शेष रही थी और न सुबह आ पायी थी, मैं ने चाय बनवा कर पी। इस प्रकार शायद मैं अपनी बदहवासी कम करना चाहता था।

कमरे में पहुँच कर मैं ने सारे दरवाज़े-खिड़कियों के परदे ऊपर कर दिये और क्रॉस वेण्टीलेशन से हो कर ठण्डी हवा कमरे में भरने लगी। कमरा ठण्डा हो गया। बदन में ठण्ड की सिहरन समा गयी। मैं ने लिखना शुरू किया—तय करके कि उपन्यास लिखूँगा—और पूरी गति से लिखा। मुझे आश्चर्य हुआ, जो कुछ भी लिखा, कहीं कटा नहीं। मैं किसी खण्ड-काव्य-सा मधुर जीवन जी कर आया था, उस जीवन्त मधुमय काल-खण्ड का क्षण-क्षण, सीने में बायीं ओर धड़कते दिल-सा, स्पन्दित हो रहा था। मैं भोगे गये उन क्षणों की अनुभूति—ऊर्जा पर राख की परत नहीं चढ़ने देना चाहता था। तब कोई चार बजे का समय था—गुरुद्वारे के माइक पर 'ग्रन्थियों' का आराधना स्वर उभरने लगा।

कल के ठीक आठ रोज़ पहले वाले शनि-वार को मैं ने उसे पहली बार देखा था। तब मुझे लगा था कि वह कोई सुन्दर-सी कविता है। उस ने फिर गा कर कुछ ग़ज़लें

सुनायीं तब मुझे लगा कि वह कोई दास्तान है। और जब वह चुप हो गयी तब मुझे लगा कि वह कोई थमी हुई कहानी है। जब वह चली गयी तो मुझे लगा कि कोई सैलाब है जिस में मैं डूब रहा हूँ। यह एक वाहियात खयाल था जिसे मुश्किल से ही पसन्द किया जा सकता था। और मैं शाम के उस समय घूमने निकल गया, कमरे के गहरेपन से बाहर खुले विस्तार में। मुझे शान्ति-सी मिली, कविता दास्तान-कहानी—जो भी रही हो—वह खत्म हुई और सैलाब में डूबने वाले अहसास से मुक्ति मिलती जान पड़ी।

पर बात वैसी न थी।

पत्तों के हाथ में आते ही मैं ने सोचा था कि 'फुलसीरीज़ रमी' बनाऊँगा। सचमुच ही बड़े बढ़िया पत्ते आये थे—स्पेड की लगभग पूरी सीरीज़ ही लगी हुई चली आयी थी। एक्का, बादशाह और गुलाम-सत्ता अट्ठा और नहला-तिक्की चउआ और पंजा और बाक़ी के तीन छक्के के साथ ईंट का गुलाम गिरा कर मैं कम्पलसरी-सीक्वेन्स बना सकता था और किसी एक छक्के के बदले ज़रूरत का कोई भी दूसरा पत्ता उठा कर 'और' दो छक्के रोक कर बाक़ी औरों को रुला सकता था।

पर वैसा नहीं हुआ।

मेरे काम के पत्ते सुधि के पास से गिर रहे थे जिन्हें मैं नहीं उठा सकता था। और उन के ऊपर मनीषा के पत्ते आ जाते थे जो मेरे काम के नहीं थे। सन्तोष इतना था कि मेरे पत्ते मनीषा के काम के न थे—यदि होती तो वह उन्हें अवश्य उठाती। मुझे अन्दाज़ था कि मैं उन्हें अगली 'शफल' में उठा सकूँगा।

वहाँ जाना भी कुछ इसी तरह हुआ था। किसी कल्पित रेखा के माध्यम से वहाँ हमारी पहुँच का जैसे सीमांकन हुआ था। हमारे सहगमन की शायद तब तक अबोले ही, वह अधिकतम दूरी निर्धारित हो चुकी थी। वस्तुतः मैं ने तो सोचा था कि पीछे छोड़ आये स्वप्निल जीवन के भोग की स्मृति मात्र उपलब्धि बन कर मेरे पास रह गयी है और मैं उसे ही सँजो लूँगा। किन्तु जीवन बढ़ा, यात्रा बढ़ी और मैं वहाँ जा पहुँचा जहाँ एक सीधी राह दो पृथक् दिशाओं की ओर उन्मुख होती थी। किन्तु एक पर, उसे जाती हुई देखता मैं खड़ा रहा, एक मोड़ सामने आया और पिछले डिब्बे पर की चमकती रोशनी का लाल बिम्ब आँखों से ओझल हो गया। एक काली सपाट चादर सामने खिंची रह गयी। और मैं वापसी की राह चल पड़ा था।

मैं ने सोचा, खत्म हुआ। उस स्थल को सीमा रेखा मान लिया जिस की मर्यादा के वृत्त में हमें अपनी अनुभूतियों के सौन्दर्य को पीते रहना था, सत्य और शिव को प्रतिष्ठित करना था।

किन्तु यह सोचा भी गलत निकला।

परिणति की आकांक्षा जिस बिन्दु पर आ कर अत्यन्त तीव्र हो उठी वहाँ से चल कर अन्ततः उस के पास पहुँच जाने को अनिवार्य रूप से बाध्य था। किन्तु वह

क्षणों से उबर चुकी थी जब किसी चीज़ ने उसे अभिभूत कर डाला था। उस का उपचार शुद्ध परिगणना पर आधारित था और उस का व्यवहार मस्तिष्क से सुझाया हुआ। वह मुझे, शायद मनोवैज्ञानिक उपचार दे रही थी।

किन्हीं टूट गये क्षणों में मैं ने ही प्रस्ताव किया था कि "आज एक फ़ैसला करते हैं— ताश के पत्तों पर। यदि मैं हारा तो वापस चल दूँगा और तुम्हारा उपचार मुझे मान्य होगा। अन्यथा मेरे सम्पूर्ण अनुराग-आग्रह को तुम्हें अपने प्रतिपादन से प्रतिपूर्ण करना होगा।"

वह अपनी जीत के विषय में सुनिश्चित थी। किन्तु खेल हमारे तीन के मध्य हुआ। तीसरी थी, उस की बहन मनीषा, वह उस-के कहे 'किसी' का प्रतिनिधित्व कर रही थी। सुधि ने कहा कि वह 'सब-कुछ' को एक कथात्मक रूप देने के लिए, एक त्रिकोण निर्मित कर रही है। किन्तु मुझे स्पष्ट बहुकोण नज़र आये।

उपन्यास के ढाई सौ पृष्ठ अपने-आप ही लिखते चले गये थे। कहीं कोई अवरोध नहीं—कोई संशय नहीं। और जहाँ क़लम अटकी वहाँ ढेर सारी अकुलाहट एकत्र हो गयी थी। मैं ने सोचा था कि उस के पास से नव-स्फूर्ति ले आऊँगा। अधूरा उपन्यास साथ लेता गया, उसे दिखाने के लिए कि, देखो तुम्हारे कितने रूप कितने रंगों में कथा को जन्म दे रहे हैं। किन्तु उस ने मना कर दिया। उसे आपत्ति थी। उस ने स्पष्ट कहा, "नन्दिता इतनी स्वेच्छाचारिणी नहीं हो सकती, इतनी उन्मत्त नहीं हो सकती, इतनी गिरी हुई नहीं हो सकती।"

और उपन्यास वहीं रुक गया। उस से आगे न बढ़ सका। कितनी कथामय, कितनी रसमय थी, उस की आत्मा कितनी जीवन्त थी। उस का एक-एक टूटा हुआ टुकड़ा पूर्ण सौन्दर्य से प्लावित था और उस कालान्तर का प्रत्येक क्षणांश उन्मुक्त स्वप्न-जगत् की दीर्घा।

मैं ने खिन्न हो कर उसे विखण्डित कर दिया। उस के खण्ड-खण्ड से एक-एक पृथक् कहानी का निर्माण होता था।

पूरा हो जाने पर वह उपन्यास, छप कर चार-साढ़े चार सौ पृष्ठों में आता। उस के विषय में सोचते ऐसा लगता है, एक जन्मता जीवन—जीवन के पूर्व ही मृत्यु के अँधेरे में ढकेल दिया गया। एक गर्भस्थ शिशु की हत्या हो गयी। भ्रूण का विकास हो चुका था, उस की देह ने आकृति ग्रहण कर लिया था, वह एक स्वस्थ शिशु होता। किन्तु सुधि ने उसे अपने उदर में रखने से इनकार कर दिया। जैसे वह गर्भाधान किसी अवैध रीति से उस के उदर में आरोपित कर दिया गया था। उस ने मुझे इतने 'डेवलप्ड स्टेज' पर उस के लिए एबार्शन का खतरा मोल लेने को बाध्य किया।

उस ने मेरे प्रतिवाद को कोई महत्त्व नहीं दिया। कि जो कुछ वर्तमान में, लिखा हुआ उस के सम्मुख है वह तो यथार्थ में जी आये उन्हीं स्वप्निल क्षणों को व्यतीत स्मृति-

उपलब्धि का 'प्रिजर्वेशन' है जो हम साथ-साथ जी आये हैं। मैं तो उपन्यास के अन्तिम रूप में पात्रों के नाम स्थान में आमूल-चूल परिवर्तन स्वयं ही करने वाला था। किन्तु उस ने एक न सुना। वह सतत नकारती रही और मैं उन विगत क्षणों के जीवन में शापित यायावर-सा भटकता रहा।

मुझे लगा, वह वस्तुत: डर गयी। वह प्रसव की पीड़ा झेलने को प्रस्तुत नहीं थी। वह नारी के सर्जनात्मक धर्म से विमुख हो गयी। एक आदमी जन्मने से रह गया।

अति वितृष्ण हो कर ही मैं ताश के पत्तों पर फ़ैसला करने को उद्यत हुआ था।

किन्तु तीसरी, 'शफल' में भी लगा, कोई फ़ैसला नहीं हो सकेगा। मैं ने स्पेड सीरीज़ तोड़ दिया था, किन्तु तोड़-फोड़ कारगर न हुई। तीन-तीन के तिलंगे बन गये थे। और बीच के किसी भी एक पत्ते के लिए मैं अटका था। मनीषा ने एक पत्ता उलट कर गेम-डिक्लेयर कर दिया। मेरे पास बिना बेगम का बादशाह रहा था--ऊपर एक्के के साथ। और वह बेगम मनीषा के पास थी--उसे उस ने डायमण्ड के गुलाम के साथ बनाया था। और सुधि ने तीन बादशाह इकट्ठे किये थे--सभी बिना बेगम के।

मैं खेल से कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सका। प्रतीकों के मध्य कोई सापेक्ष सम्बन्ध स्थिर नहीं कर सका। किन्तु नि:सन्देह ही निर्णय हमारे बीच अनुपस्थित 'उस' के पक्ष में रहा जिसे मनीषा प्रतिनिधित्व दे रही थी। मैं लौट आया।

मेरे जेहन में बार-बार घूमते रहे : एक बादशाह बिना बेगम का--मैं। तीन बादशाह--बिना बेगम के--सुधि। एक बेगम--गुलाम के साथ--

मनीषा (अनुपस्थित उस की प्रतिनिधि)

इस का क्या अर्थ हो सकता है ?

एक आदमी जन्मने से रह गया।

एक उपन्यास अधूरा रह गया।

एक दुर्बोध निर्णय रमी के तीन शफल वाले खेल में हो गया। क्या इन के मध्य कोई पारस्परिक--सापेक्षिक सहसम्बन्ध प्रभावशील होता है ?

■ ■

"कवि की अपेक्षा तो क्रान्ति ही अच्छी है",—मास्को के मायकोव्स्की चौक में एक बहुत बड़ी भीड़ कवि के मुँह से कविता-पाठ सुनने के लिए उमड़ी पड़ रही थी, व्यवस्था पर तैनात पुलिस के लिए भीड़ को संयत रखना कठिन हो रहा था, तभी एक परेशान सिपाही के मुख से ये शब्द फूट पड़े। सचमुच क्रान्तियों का दमन करने में मास्को की पुलिस बहुत सिद्ध-हस्त है, उस ने लेनिन से ख़ुश्चेव के युग तक साम्यवादी-अधिनायकवाद के विरुद्ध उठी प्रत्येक क्रान्ति का निर्दयतापूर्वक दमन किया है और सब से अधिक निर्ममतापूर्वक स्टालिन के शासनकाल में। यह सिपाही जिस कवि की तुलना क्रान्ति से कर रहा था उस का नाम है येवजेनी येवतुशेंको। इशोपनिषद् ने कवि को क्रान्तिदर्शी कहा है, येवतुशेंको भी ऐसा ही क्रान्तिदर्शी कवि है।

आधुनिक रूसी कवियों में येवतुशेंको का नाम एक लोकप्रिय कवि के रूप में लिया जाता है। उन का जन्म १९३४ में साइबेरिया के ज़िमा नामक क़स्बे में हुआ था। अभी येवतुशेंको बालक ही थे कि उन के माता-पिता तलाक़ ले कर पृथक् हो गये और वे अपनी माँ के साथ रहने लगे। उन के पिता परिष्कृत-साहित्यिक रुचियों के व्यक्ति थे, उन्होंने बेटे को साहित्य और इतिहास की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी। येवतुशेंको एक प्रतिभाशाली बालक सिद्ध हुए, ८ वर्ष की वय में ही उन्होंने ड्यूमास, बालज़ाक, दान्ते, मोपासाँ, टाल्स्टॉय और शेक्सपियर-जैसे महान् साहित्यकारों की सशक्त कृतियाँ पढ़ डालीं। माँ की ओर से उन को ग्रामीण-अभिरुचि उत्तराधिकार में मिली। एक स्थल पर उन्होंने स्वीकारा है कि वे

रूस का क्रुद्ध कवि येवतुशेंको

नेमिशरण मित्तल

अर्द्ध-बुद्धिवादी हैं : "मैं जानता हूँ कि अर्द्ध-बुद्धिवादी होना व्यक्ति को सीमाओं में बाँध सकता है, तथापि मुझे सन्तोष है कि मेरी ग्रामीण अभिरुचि बुद्धिवादियों की घोर अहंमन्यता से मेरी रक्षा करती है।" उन के ग्रामीण संस्कारों ने उन को अपने समाज और वातावरण के प्रति अत्यधिक संवेदनशील बना दिया है, यह संवेदनशीलता ही कवि का सब से बड़ा धन है।

उपन्यासकार से कवि

येवतुशेंको की प्रथम कृति एक उपन्यास है जिस की रचना उन्हों ने १० वर्ष की अल्पायु में की। १२ वर्ष का होने पर वे लोकधुनों पर आधारित गीतों की रचना में निमग्न हो गये। ये गीत उन के आसपास के लोगों में बहुत लोकप्रिय हुए। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त कुछ अभिलेखों की चोरी के आरोप पर उन्हें विद्यालय से निकाल दिया गया। आवारागर्दी के इसी काल में उन्होंने गम्भीर कविताएँ लिखनी आरम्भ कीं। १५ वर्ष की आयु में उन की कविता का प्रथम प्रकाशन हुआ और यहीं से उन का कवि-जीवन आरम्भ होता

ईर्ष्या

येवजेनी येवतुशेंको

मुझे ईर्ष्या है
और यह रहस्य
मैं ने छिपाया नहीं।
मुझे मालूम है—
कहीं रहता है एक बालक
जिस से मुझे ईर्ष्या है
क्योंकि–वह झगड़ालू है
मैं नहीं था कभी भी
ऐसा सरल, साहसी।
मुझे ईर्ष्या है
उस की हँसी पर
मैं नहीं हँसा यूँ बचपन में
वह घूमता है प्रसन्न चीथड़ों में।

मैं ऐश्वर्यों में पला
जो नहीं पढ़ पाया मैं
पुस्तकों में—
वह अवश्य पढ़ेगा उसे
इस में भी वह बढ़ गया मुझ से।
वह होगा सच्चा और स्पष्ट
अच्छाई के लिए बुराई को
कभी क्षमा नहीं करेगा
और जहाँ मेरी लेखनी

है। एक के बाद एक रूसी पत्रिकाएँ उन की काव्यकृतियों को चाव से प्रकाशित करने लगीं। उन की प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'भविष्य-द्रष्टा' है। १९५२ में इस का प्रकाशन होने पर गोर्की-साहित्य-संस्थान एवं सोवियत लेखक-संघ ने उन को अपना सदस्य बना लिया। वे अनेक वर्षों तक वहाँ अध्ययन करते रहे परन्तु स्नातक नहीं बन पाये।

आत्मबोध के क्षण और आवारगी का तमग़ा

इस समय येवतुशेंको स्टालिन के हृदयहीन शासन के अन्तर्गत रह रहे थे, वे अपनी मर्यादाओं को पहचानते थे अतः उन्होंने अपनी जिह्वा पर जड़े इस्पाती ताले को चुपचाप स्वीकार कर लिया। परन्तु, स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत रूस में स्वतन्त्रता का एक क्षीण-सा झोंका आया और उतर गया। इस झोंके ने राजनीतिक संगठन में तो कोई परिवर्तन नहीं पैदा किया परन्तु इस के कारण सोवियत लेखकों और साहित्यकारों में अपने व्यक्तित्व तथा कृतित्व के बोध की चेतना जाग उठी। येवतुशेंको ने इस सन्धिकाल में राजनीति से अलिप्त रह कर प्रेम काव्य का सृजन किया।

१९५५ में उन की दूसरी पुस्तक 'तृतीय हिम' का प्रकाशन हुआ। सरकारी क्षेत्रों में इस पुस्तक का कोई स्वागत नहीं हुआ। इतना ही नहीं उसे कठोर आलोचनाओं का भी सामना करना पड़ा। हाँ, इन आलोचनाओं ने अवश्य ही पुस्तक को लोकप्रियता प्रदान कर दी। यही वह काल है जब येवतुशेंको ने

कवि को आत्मबोध हुआ। वे यह समझ गये कि उन के अन्तर्मन के कवि का धर्म केवल इतना-भर नहीं है कि वह साहित्य-सृजन मान कर के सन्तुष्ट हो जाये, वरन् इस से भी आगे उस को अपने साहित्य में प्रतिध्वनित मूलगामी चिन्तन और विचार के लिए अपने दायित्व को स्वीकार करना होगा एवं उस की प्रतिक्रियाओं को दृढ़तापूर्वक झेलना होगा। यहीं से येवतुशेंको के भीतर भावपक्ष के साथ ही विचार-पक्ष की प्रतीति भी उदय हुई और अनेक वर्षों पश्चात् अपने जन्मस्थान जिमा लौट कर उन्हों ने कविता लिखी जिस का शीर्षक था 'जिमा-जंक्शन'। इस कविता में येवतुशेंको ने स्टालिनोत्तर-काल की तरुण पीढ़ी का प्रतिनिधि बन कर उस की भ्रान्तियों एवं मूल्यों की खोज का प्रभावशाली चित्रण किया है। इस चित्रण से खीझ कर सरकारी साहित्यकारों ने उन को आवारा की उपाधि से विभूषित कर डाला। येवतुशेंको अविचल रहे और उन की काव्य-साधना निरन्तर अग्रसर रही, उन्हों ने सरकारी और दलीय लक्ष्मण-रेखाओं के भीतर जकड़े रहने से इनकार कर दिया।

१९५५ से ५७ तक की रचनाएँ विद्रोह का स्वर ले कर आयीं और उन्होंने साम्यवादी-व्यवस्था की सहज परिणति अर्थात् हृदय की असंवेदनशीलता को जी-भर कर कोसा। उन के मन में समूची सृष्टि के प्रति संवेदना और साजात्य की अनुभूति जग उठी और वे उपनिषद्कार के से स्वर में गुनगुनाने लगे—

अटकती है—
"व्यर्थ है...।"
वह कहेगा—
"व्यर्थ कहाँ....।"
और लेखनी उठायेगा
सुलझायेगा,
न होगा तो काट देगा
और मैं—
न सुलझाऊँगा, न काटूँगा।
वह चाहेगा तो एक बार
मैं प्रेम (?) करूँगा
और बार-बार।
ईर्ष्या छिपाऊँगा
मुसकराऊँगा
और बनूँगा, जैसे कि कुछ नहीं बूझता
सीधा हूँ।

"कौन ग़लती नहीं करता
किस से चूक नहीं होती...।"
समझाता हूँ अपने को
बार-बार दोहराता हूँ—
"प्रत्येक का अपना भाग्य है।"
पर भूल नहीं पाता—
कहीं है एक बालक
निश्चित उपलब्धेगा अधिक
मुझ से अधिक।

रूपान्तर : हेमचन्द्र पाण्डेय

"इस जग में जो कुछ भी है
उस सब की—
अनुभूति मुझे होती है;
और, इस जग में
जो कुछ भी है
सब मुझ में ही है।"

उन की कविता 'निहिलिस्ट' ने उन को सारे देश में प्रसिद्ध कर दिया तथा उस कविता के आधार पर उन के समकालीन सोवियत साहित्यकार उन को निराशावादी और संशोधनवादी बता कर उन की निन्दा करने लगे। १९५७ में उन को तरुण साम्यवादी संगठन काम्सोमाल से बहिष्कृत कर दिया गया परन्तु दो वर्ष पश्चात् वे पुनः उस के सदस्य बनाये गये।

स्वतन्त्रता की अभीप्सा और अप्रतिबद्धता

१९६० से सोवियत समाज में एक नये युग का सूत्रपात हुआ और इस के प्रमुख सूत्रधर बने येवजेनी येवतुशेंको। उन्होंने स्थिति को भाँप लिया और वे समझ गये कि सोवियत रूस की नयी पीढ़ी क्रान्ति के नाम पर निर्मम निर्दलन को सहन नहीं करेगी तथा वह विचारों की मुक्त अभिव्यक्ति के लिए सन्नद्ध है। येवतुशेंको इस नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि बन गये और उन्होंने स्वतन्त्रता की मूक अभीप्सा को अपने काव्य के द्वारा वाणी दे कर मुखर किया। उन्होंने सरकार और साम्यवादी दल को यह समझाने की चेष्टा की कि रूस के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने साहित्यिक पिछड़ेपन और नितान्त भौतिक प्रयोजनवादी स्वरूप से छुटकारा पाये। उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि यदि नयी सोवियत पीढ़ी को आत्मबोध एवं राष्ट्रबोध न मिल सका तो उस के मन में पाश्चात्त्य साहित्य और जीवन-प्रणाली के लिए अन्धानुराग उत्पन्न हो सकता है। उन्होंने यह मानने से इनकार कर दिया कि नयी पीढ़ी के मन में जगी हुई जिज्ञासा और पाश्चात्त्य संस्कृति के प्रति उस की उत्कण्ठा साम्यवादी समाज की मूल धारणाओं के साथ मेल नहीं खाती। येवतुशेंको ने यह चेष्टा की है कि सोवियत-साहित्य अपने बौद्धिक दीवालियेपन से उबर कर उन नये क्षितिजों का स्पर्श करे जिन्हें मानवीय अनुभूति और संवेदना उष्णता प्रदान करती है। उन्होंने पाश्चात्त्य साहित्य, सिनेमा, चित्रकला और संगीत पर लगे प्रतिबन्धों का विरोध किया। एक अच्छे साम्यवादी की भाँति येवतुशेंको ने सोवियत अधिकारियों को चेतावनी दी कि यदि सोवियत मस्तिष्क को पश्चिम की उपलब्धियों की जानकारी न मिली तो उसे अपनी व्यवस्था के तुलनात्मक गुणों की अनुभूति नहीं हो सकेगी और उस को अपनी परिस्थितियों से ऊब होने लग जायेगी।

येवतुशेंको रूस की क्रुद्ध पीढ़ी के प्रतिनिधि कवि हैं, तथापि वे सामान्यतया मध्यममार्गी माने जाते हैं। वे कहते हैं कि अमेरिका के बीटनिक और इंग्लैण्ड के क्रुद्ध-तरुण आन्दोलनों के कुछ पक्षों को रूस की नयी पीढ़ी स्वीकार करती है। ये पक्ष हैं—असत्य और धोखाधड़ी से घृणा तथा समाज के दोषों

के प्रति रोष। परन्तु, येवतुशेंको का दावा है कि बीटनिकों और क्रुद्ध तरुणों को किसी भी व्यवस्था में किसी प्रकार की आस्था नहीं है और वे अपने समाज को सुधारने के लिए कुछ भी नहीं करते। इस के विपरीत सोवियत तरुणों के मन में अपनी साम्यवादी-सामाजिक व्यवस्था के प्रति गहरी निष्ठा है और वे अपने सामाजिक दोषों के निराकरण के लिए सक्रिय व सचेष्ट हैं।

येवतुशेंको साम्यवाद के प्रबल हिमायती और नौकरशाही के घोर शत्रु हैं। उन का मत है कि साम्यवाद और नौकरशाही परस्पर-विरोधी हैं। कुल मिला कर येवतुशेंको साम्यवाद को बनाये रख कर रूस से अधिनायकवादी व्यवस्था को बहिष्कृत करना चाहते हैं।

विद्रोह और सन्तुलन दोनों

येवतुशेंको ने विद्रोह से आरम्भ किया परन्तु शीघ्र ही पास्तरनाक की दुर्घटना ने उन को यह सिखा दिया कि सोवियत समाज में बने रहने के लिए सन्तुलन बनाये रखना जरूरी होगा। उन्होंने अपने-आप को स्तालिनोत्तर सोवियत-व्यवस्था के साथ आत्मसात् कर लिया तथा वे उस के अधिकृत प्रतिनिधि बन गये। ख़ुश्चेव और उन के उत्तराधिकारियों ने येवतुशेंको की इस सन्तुलनवादी मुद्रा को भाँप लिया और उन को नये रूस का प्रतिनिधि बना कर विदेशों में भेजा।

१९५९ के पश्चात् उन के अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। उन में से प्रत्येक के रूसी संस्करण की एक बार में कम से कम

इतिहास

आलेक्सेई सुर्कोव

क्षितिज तक विस्तृत समतल भूमि,
अस्त सूर्य की लाली में अनल का प्रकाश,
प्रसुप्त चित्तौड़ खड़ा है हरित द्वार के पार,
रक्षक-मेवाड़ के विगत गौरव का।
पाषाणों, दीवारों से फूटता क्रन्दन,
विजय-स्तम्भ चित्तौड़ का, घिरा कदली से-
स्थिर कर के शिरोन्नत,
अनन्त से सम्भाषण में लीन।
सन्धि-वेला में इतिहास दोहराता है
कहानी शत्रु के कपट की, अनुसरण की,
चिंघाड़ गजों की,
हिनहिनाहट तुरंगों की
गूँज उठती है कानों में।
जीवित हैं खण्डहरों में मृत्यु व नाश-
जो घटित हुआ राजपूताना में।
वायु की हिलोर से, बज उठती हैं
घण्टियाँ जैन मन्दिर की।
खण्डहरों को ढाँपती धूल,
घाटी की हरीतिमा में विलीन।
बूढ़ा राजपूत शिव के चरणों पर
नासिकाहीन ईश की वन्दना में लीन।
स्थिर दृष्टि से देखता है,
भाग्य क्या कहता है....
सुनो वृद्ध! यहीं हैं पुत्र तेरे,
और साथ है तरुण भारत!

रूपान्तर : हेमचन्द्र पाण्डेय
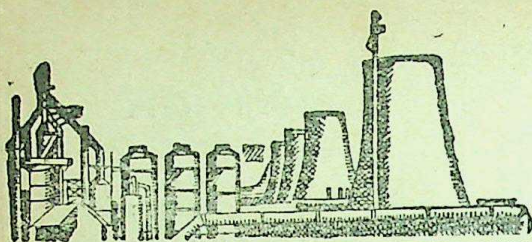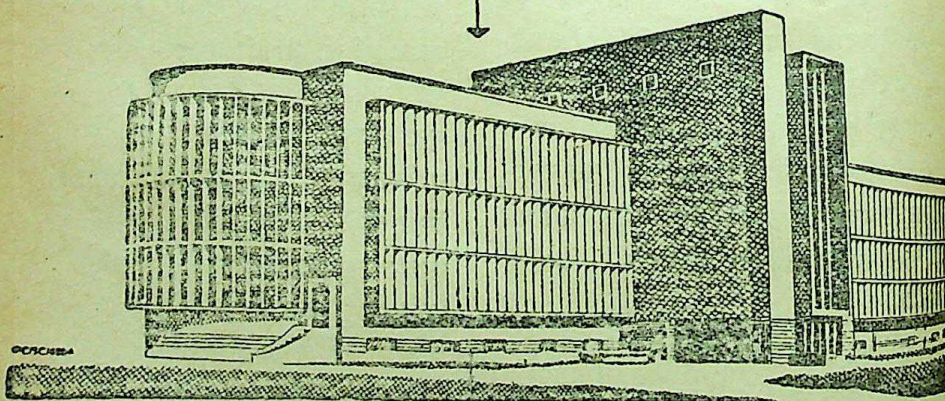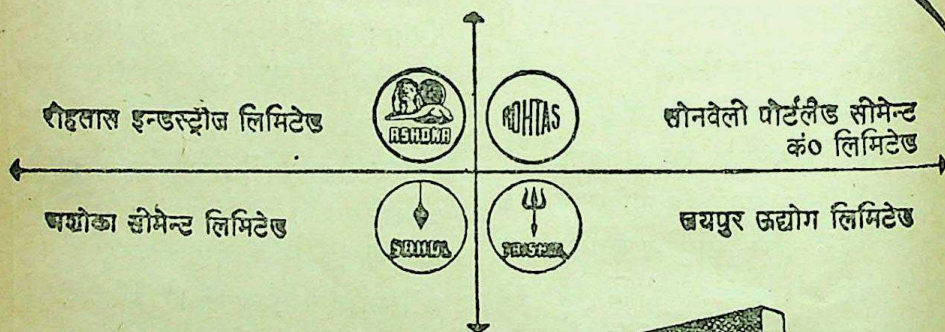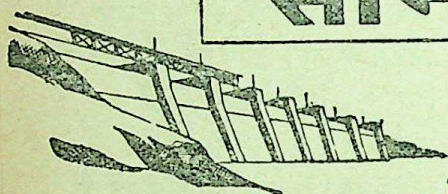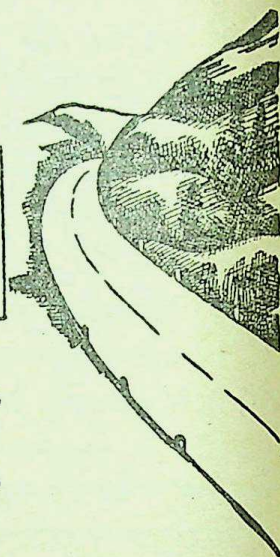
१०,००० प्रतियाँ छपती हैं और हाथों-हाथ बिक जाती हैं। इस से कवि को लोकप्रियता का बोध होता है। येवतुशेंको की रचनाएँ अँगरेज़ी, फ्रेंच, पोलिश, हंगेरियन, रूमानियन, चेक और इतालवी के अतिरिक्त आधी दर्जन अन्य भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं।

१९६१ में उन की कविता 'बाबीयार' ने सोवियत संघ में हलचल पैदा कर दी थी, इस में उन ९६,००० रूसी यहूदियों की निर्मम हत्या का वर्णन है जो १९४४ में नाज़ियों ने बाबीयार नामक स्थान पर की थी। कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"मेरी धमनी और शिरा में
एक बूँद भी
यहूदी रक्त नहीं बहता है,
फिर भी—
यहूदी जाति का प्रत्येक विरोधी
मेरी ओर गहरी घृणा से—
देखता है, मानो मैं——
एक यहूदी हूँ।
मैं सच कहता हूँ—
मेरा विश्वास करो,
मैं केवल रूसी हूँ, रूसी।"

इस कविता के आधार पर प्रख्यात रूसी वाद्य-वृन्दकार दिमित्र शोस्ताकोविच ने तेरहवीं सिम्फनी की रचना की; और इस से येवतुशेंको को रूस में और अधिक लोकप्रियता मिली।

आज येवतुशेंको की मानसिक स्थिति क्या होगी यह कहना कठिन है, क्यों कि उन्होंने रूस के साहित्यिक जीवन में बोरिस पास्तरनाक की जिस विरासत को सँभाला था वह एक खुले विद्रोह में परिणत हो गयी है और द्वितीय अकादेमी के लेखक सोवियत-समाज, जीवन और चिन्तन की प्रतिबद्धता के विरुद्ध विद्रोह कर उठे हैं। आये दिन साहित्यकारों के विरुद्ध मुक़दमे चलाये जाते हैं और उन को साइबेरिया के बेगार-शिविरों में भेजा जा रहा है। सोवियत संघ के साम्यवादी नेता ब्रेझनेव ने इन को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट कहा है कि उन्हें सरकारी अनुशासन भंग करने का कोई अधिकार नहीं है और यदि वे अपने रास्ते नहीं सुधारेंगे तो सरकार उन के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने के लिए विवश होगी। ऐसी स्थिति में येवतुशेंको सरकार के साथ रहेंगे या विद्रोही और अस्तित्ववादी तत्त्वों के साथ,—यह कहना बहुत कठिन है। इतना अवश्य है कि अमेरिका के दौरे के बाद से वे सोवियत समाज की ओर से काफ़ी निराश दिखाई पड़ रहे हैं।

■ ■

व्यंग्य-कथा

उन से मिल कर मैं अपने-आप को एक अजीब-सी संत्रास की स्थिति में पा रहा था। यद्यपि ऊपर से मेरा कुछ भी नहीं घटा था तो भी मैं अपने-आप में एक 'विघटन' महसूस कर रहा था। घटना कोई घटी नहीं थी फिर भी उस दिन जब उन से मिलने गया तो उन की मेज़ पर मैं ने अनेकानेक साइज़ के कार्ड देखे—कुछ रंगीन, कुछ पर सुनहरे और रुपहले हाशिए, कुछ अनोखे–कुछ सिर्फ़ अपने आकार से ही अपने महत्त्वपूर्ण होने की घोषणा करते हुए, कुछ लोक-कला के उरेहे हुए चित्रों को अपने मुकुट की तरह ओढ़े हुए और कुछ विशुद्ध खद्दर की तरह उजले और बगुलपंखी ! सब को उन्होंने पीछे रखी हुई लकड़ी की रैक पर एक क्रम से सजा दिया था। तारीखों और स्थानों पर लाल निशान लगे हुए थे। मैं जितनी देर उन से बात करता रहा, मेरी निगाहें उन्हीं कार्डों पर जा कर उलझ जाती थीं। हर कार्ड एक कार्टून की तरह मुझे मुँह चिढ़ाता हुआ लग रहा था। बातचीत में मेरा मन नहीं लग रहा था। मैं उझक कर सिर्फ़ उन कार्डों के भीतर झाँकना चाहता था।

मेरी निगाहें पकड़ गयीं। वे मुसकराते हुए बोले : "ये क़ार्ड ?····ये इस सप्ताह के निमन्त्रण पत्र हैं। बाहर ही रख लिये हैं ताकि कहीं भूल न जाऊँ !"

कार्डों की जैसी व्यवस्था थी, उस से लग रहा था कि वे तो क्या, दूसरे भी उन तारीखों को नहीं भूल सकते थे ! उन कार्डों की पृष्ठभूमि उन्हें सहसा एक वी० आई० पी० या 'महाजन' की कोटि में खींच ले गयी ! ये सारी 'कार्डावली' उन के महत्त्वपूर्ण होने की

नये मूल्यों की खोज
निमन्त्रण पत्र

केशवचन्द्र वर्मा

कहानी कह रही थी—यानी वे मुझ से बड़े आदमी हो गये थे। उन के पास असंख्य कार्ड थे—मेरे पास नहीं थे। संत्रास की यही स्थिति मुझे वेधे डाल रही थी !!

निमन्त्रण पत्रों का यह आन्तरिक विघटन अपनी ही निगाहों में मुझे एक 'घटिया' और 'मूल्यहीन' व्यक्ति सिद्ध कर रहा था। दुःख का यह आयाम मुझे भीतर-ही-भीतर इस क़दर मांजने लगा कि मैं ने अन्ततः 'पितामह भीष्म' से ही इस का राज़ प्राप्त करना चाहा। महत्त्वाकांक्षा कभी आगा-पीछा नहीं देखती। दूसरी बार सिर्फ़ इसी के लिए उन के पास गया। वे फिर मुसकराये—

"ये निमन्त्रण ?····ये सब तो दूसरे हैं। नये हैं। इसी सप्ताह के हैं !"

फिर उसी तरह के रंगारंग लिफ़ाफ़े और कार्ड !

कण्ठ में गतिरोध के कारण करुणा हो आयी ! यद्यपि मैं सनद के रूप में भावुकता का अकसर विरोध करता हूँ लेकिन उस समय जाने कैसे विह्वल गले से मैं ने पूछा—

"यह सब कैसे आता है ?"

वे फिर हँस पड़े :

"ऐसे ही आता है भई ! मेरी अपनी थोड़ी-सी जो 'बदनामी' इस शहर में हो गयी है न····बस उसी के कारण यह मेरे लिए बवाले जान हो गया है। सब जगह मैं पहुँच भी नहीं पाता पर लोग हैं कि बिना मुझे बुलाये उन को चैन नहीं ! क्या करूँ ?···· शहर में जितने भी आयोजन होते हैं चाहे किसी का जन्मदिन समारोह हो, चाहे किसी की शोकसभा हो, चाहे किसी ग्रन्थ का विमोचन समारोह हो, चाहे किसी का स्वागत समारोह हो, चाहे किसी की विदाई हो, चाहे किसी का शिलान्यास हो, चाहे यूँ-ही सांस्कृतिक समारोह हो, शादी-ब्याह, मूँड़न-छेदन जनेऊ—चाहे किसी का कुछ हो—बस यह समझिए कि मेरी हाज़िरी सब चाहते हैं ! अब बताइए कि एक अकेला मैं····इन्हीं सब के बीच कभी राष्ट्रपति भवन से निमन्त्रण पत्र धरा हुआ है तो कभी किसी मन्त्री सदन से····! अब अपने सभी ज़रूरी काम छोड़ कर इन सब में जाना पड़ता है !····और फिर और मज़ा देखिए···न जाने मेरा पता यहाँ दूतावासों में किस ने लिखवा दिया है ?···ये कार्ड देखिए चिली के दूतावास से है···और ये तनज़ानियाँ के···और ये···"

आक्रान्त होने की मेरी स्थिति का वे सीधा फ़ायदा उठा रहे थे। भगवान् बुद्ध ने 'दुःख' के इस सालते हुए रूप को नहीं देखा था। मैं एकदम साहिल पर खड़ा हुआ गहरे तैराक को बार-बार 'इंगलिश चैनेल' पार करते हुए देख रहा था—

"पहले के ज़माने में लोग सिर्फ़ 'बन्द' घुमा देते थे और हर आदमी अपने आने की स्वीकृति में 'स्वाद' (उर्दू अक्षर : 'सही' का प्रतीक !) बना देता था। अब तो आप-जैसे लोगों के पास मूँड़न-छेदन में भी बढ़िया तबेद आने लगे हैं ! मैं तो इस शहर में अभी नया हूँ। शहर के लोगों से मिलना-जुलना चाहता हूँ लेकिन एक तो शहर ही इतना बड़ा है और दूसरे मुझे कोई जानता भी नहीं !····अगर आप कोई रास्ता बता सकें तो····"

"अच्छा विचार है····लेकिन···"

मैं ने उन के चरण पकड़ लिये। अब 'लेकिन' नहीं चाहता था। मेरे कबीरी-हठ से अन्ततः वे कुछ द्रवित हुए—

"अरे छोड़ भाई छोड़ ! पैर छोड़ ! मेरा बस चलता तो तुझे एक नहीं दस निमन्त्रण पत्र दिलवा देता। इस के लिए तो बड़ी लम्बी सीढ़ी लगानी पड़ती है।····तुम यह सब इतना आसान समझते हो क्या ? नौकरी के लिए जितनी दौड़-धूप नहीं करनी होती उतने 'सोर्स' और ज़रियों का इस्तेमाल करना पड़ता है तब कहीं जा कर आप का नाम 'सम्भ्रान्तता' की सूची में लिखा जाता है ! बार-बार एक ही नाम की सिफ़ारिश अलग-अलग ज़रियों से करानी पड़ती है और वह भी अकसर सिफ़ारिशों के बावजूद कट जाता है। तमाम पहुँच के बाद भी सिर्फ़ ऐसे ही आयोजनों में आप का नाम पहुँचेगा, जहाँ आप में और सर्वसाधारण में सिर्फ़ एक लिफ़ाफ़े का ही अन्तर रहता है। पहुँच प

अगर बराबर ध्यान दिया जाता रहे तो फिर ऐसे आयोजनों में भी आप बुलाये जा सकते हैं जहाँ जलपान आदि का भी प्रबन्ध हो ! 'भोज' में बुलाया जाना तो आप का एक स्पष्ट व्यक्तित्व बना देता है ! और कहीं उस के साथ 'कुछ और' भी हो तो आप की हैसियत उस ढाँचे में ख़ासी ऊपर हो जाती है ! समझे न ?"

"तो····क्या यह भोज वग़ैरह के भी निमन्त्रण सिफ़ारिश से ही मिल जाते हैं ?"

"नहीं। मैं ने पहुँच की बात कही थी न ! अकसर अपने वक़्त को सिर्फ़ दूसरे का वक़्त मान कर देखने की आदत बनानी पड़ती है। दूसरों के पास चक्कर लगाते हुए यह बताना पड़ता है कि आप और वे दोनों ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं ! घुमा-घुमा कर उन के आयोजनों की चर्चा और प्रशंसा करनी पड़ती है और फिर सही जगह पर अपना नाम धीरे से लिखवा देने की कला अपनानी पड़ती है !! अगर पूरा आत्मविश्वास है तो फिर उस में हया-शर्म पर बिना ध्यान दिये हुए बार-बार अपना नाम दुहराने में कोई हर्ज़ नहीं है। इस में गँवरपन कर के मान-अपमान के चक्कर में फँसने से अकसर यह 'अमृत फल' मिलता नहीं !"

शायद उन्हें मेरे 'गँवरपन' का कोई आभास मिला हो ! वैसे इन छोटी-छोटी बातों को ले कर मान-अपमान का धन्धा मैं नहीं करता ! लेकिन वे कह इसी तरह से रहे थे गोया मैं अपने 'मान-अपमान' के फेर में पड़ कर कट जाऊँगा !

"अब यही देखो ! ये इधर की रैक पर '.फ्री पास' रखे हैं। कुछ नाटक-वाटक हैं कहीं। मैं तो भई ! कभी नाटक-वाटक देखने नहीं जाता। लेकिन इन के 'फ़्री पास' पाने के लिए मुझे कितनी कोशिश करनी पड़ती है, इस का अन्दाज़ आप नहीं लगा सकते ! इतनी दौड़-धूप सिर्फ़ इसी लिए कि आयोजनों में आगे बैठने वालों के नामों की जो पर्चियाँ लगती हैं उन में अपना नाम कट न जाये। निमन्त्रण एक बार आप ने प्राप्त कर लिया तो फिर जाना-न जाना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहता। बल्कि यूँ कहिए कि हर निमन्त्रण के मिलने पर जो लोग दौड़े हुए चले जाते हैं, उस से उन की अपनी औक़ात गिरती है ! निमन्त्रण पाना अपने-आप में ही एक उपलब्धि है, उसे पूरा करने के लिए दौड़ना घटियापन है !"

"लेकिन न जाने पर तो तमाम लोग बुरा भी मानते होंगे ! फिर उन को क्या मुँह दिखाते होंगे ?" मेरी जिज्ञासा पर वे हँस पड़े !

"जैसा देवता हो, वैसी पूजा चढ़ाइए ! बस····! फिर कोई नाराज नहीं होता ! साधारण तरह का जलसा है तो आप उन के आयोजकों से मिलने पर कह सकते हैं—

—'क्या कहूँ···सुबह से ही तबीयत भारी-भारी थी !····चाह कर भी न आ सका !'

या—

'अरे ऽऽऽऽ ! कल ही था आप का फंक्शन ?····एकदम भूल गया···! कैसा हुआ ?'

या—

'क्या बताऊँ''''आप का कार्ड आया तो था''''पर कल ही वह आ गये''''अपने ठाकुर साहब'''! नये-नये मिनिस्टर हुए हैं'''रोक लिया उन्होंने !'''मैं ने कहा तुम दोस्त ठहरे तुम को तो समझा लूँगा पर अब उन्हें क्या कहता !''''तो''''

या—

इसी तरह आदमी देख कर अपनी बात इस तरह से कहना कि उस पर आप के न आने का दुःख साफ़-साफ़ दिखाई दे और वह आप का नाम अपनी सूची में से काट भी न पाये !"

मैं केवल विस्मित हो कर उन का चेहरा देख रहा था—"उफ़् ! कितना बारीक़ काम है''''कहाँ जाना है''''कहाँ नहीं जाना है'''' लेकिन निमन्त्रण पत्र सब का बटोरना है !"

"इसी लिए तो भइया ! आप से कह रहा था कि कठिन काम है ! साधना से आता है ! कहाँ दौड़ कर जाना है, कहाँ जाना है लेकिन 'लेट' जाना है, कहाँ खत भेजना है, कहाँ सिर्फ़ टेलिफ़ोन करना है, कहाँ जाना है और उपहार भी ले जाना है, कहाँ सिर्फ़ चपरासी या नौकर के हाथ उपहार भेजना है, कहाँ सिर्फ़ सन्देश भेजना है और कहाँ निमन्त्रण प्राप्त कर के भी उसे खुद ही अन-देखा कर जाना है। यह सब चूक करते-करते आदमी सीखता है ! पहले प्राप्त करो फिर उसे कैसे कहाँ छोड़ो, यही तो अपनी भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र है भइया ! यह अपने विवेक से धीरे-धीरे पैदा होता है !!"

"लेकिन शुरू-शुरू में तो सब के पास आँख बन्द कर के चले जाना चाहिए''''नहीं तो''''" मैं ने एक योग्य शिष्य की तरह शंका निवारण चाहा।

" 'चला जाना चाहिए' यह क्रिया कहने में जितनी सहज और सरल लगती है उतनी वास्तव में है नहीं ! आप का जाना ऐसा होना चाहिए कि चार आदमियों को यह पता चले कि आप आये हैं ! अगर आप किसी बड़े आयोजन में साइकिल से उतर कर उस के लिए सुरक्षित 'जगह ढूँढ़' रहे हैं तो आप अपनी 'कोटि' स्वयं ही बना रहे हैं। रिक्शा, स्कूटररिक्शा और टैक्सी का दरज़ा भी यूँ ही घटता-बढ़ता है। आप की असली हैसियत अकसर इस से निश्चित होती है कि आप किस के साथ मोटर में बैठ कर आये हैं ! किस के साथ आये हैं ?"

"मतलब ?"—मैं ने और जानना चाहा !

"मतलब ये है भाई कि अगर आप एक वी. आई. पी. की गाड़ी से उतर रहे हैं तो स्वभावतः आप उसी वी. आई. पी. के अड़ोस-पड़ोस रहेंगे ! बराबर अगर आप प्रधानमन्त्री की मोटर में से ही उतरते दीखेंगे तो आप का नाम अगले प्रधानमन्त्री तक के लिए लिया जा सकता है। अगर आप महाकवि की मोटर से बराबर उतरते रहेंगे तो आप का नाम पुरस्कारों की दौड़ में भी फेंका जा सकता है। अगर आप किसी मिनिस्टर की मोटर से उतरने का भ्रम पैदा करते रहें तो हो सकता है कि आयोजकों में से अनेक

आप को अलग-अलग तरह की सिफ़ारिशों के लिए याद करते रहे। वी. आई. पी. की मोटर से उतरते ही आप उस के प्रभामण्डल की परिधि के भीतर ही अपनी जगह बना लेते हैं। हो सकता है कि शुरू-शुरू में आप को कोई भी न पहचाने और आप केवल एक नितान्त-'अनव्यक्ति' के ही रूप में रहें लेकिन धीरे-धीरे आप को स्वयं अपनी लोकप्रियता पर आश्चर्य होगा। इसी लिए मैं ने कहा कि 'चला जाना चाहिए' क्रिया जितनी सहज दीखती है उतनी है नहीं। इस की मूल संवेदना में घुस कर पैठना चाहिए !!"

"तो आप का मतलब यह है कि निमन्त्रण पत्र पाना भी उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना यह कि किस के साथ मोटर से व्यक्ति उतरता हुआ दिखाई देता है !"

"हाँ ऽऽ...कह सकते हैं ! मोटर की यह पकड़ अपने-आप में इस लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहती है क्योंकि फिर निमन्त्रण पत्रों की पड़ताल भी उतनी आवश्यक नहीं रह जाती। वह आपस का अभिवादन, उस पोर्टिको में दस-बीस आदमियों का हाथ जोड़े हुए मुसकराना...फिर किसी को कार्ड देखने की 'बदतमीज़ी' करने की हिम्मत नहीं होती ! आप अपने व्यक्तित्व को उस वी. आई. पी. के व्यक्तित्व में इस तरह पिरो दीजिए कि उस की प्रसन्नता आप के दाँतों में टूथपेस्ट के विज्ञापन की तरह चमके ! बस फिर....यहाँ से वहाँ तक आप के लिए 'लाइन-क्लियर' !!...लेकिन इस के पीछे आप को मूल निमन्त्रण पर से आँख नहीं हटानी चाहिए ! मैं ने जैसा आप को कहा था कि निमन्त्रण पत्र ही आप की उपलब्धि है। ज्यों-ज्यों आप को निमन्त्रण मिलते जायेंगे त्यों-त्यों आप की हैसियत एक सम्भ्रान्त नागरिक के रूप में बनने लग जायेगी। आप अपनी आलमारी में उन्हें हर सप्ताह इसी तरह सजा कर रख सकते हैं... जितने निमन्त्रण पत्र आप दूसरों को दिखा सकेंगे, उतना हो दर्द आप दूसरों में बाँट सकेंगे !"

दूसरों में दर्द बाँट कर एक नया मूल्य खोजने की एक दृष्टि मुझे मिल रही थी... और उन के पीछे रैक पर रखा हुआ हर कार्ड मुझे अब हँसता हुआ लग रहा था !!

■ ■

बा
ह
र

बसन्त बोबरा

●

पूर्व-कथा :

सुबह इसे पैदल घिसटता हुआ देखते ही जो तात्क्षणिक निर्णय दिमाग़ में कौंधा था, वह आसानी से आखिरी भी हो सकता था। क्योंकि जहाँ तक मुझे याद है, मैं ऐसे मौक़ों पर कभी भी भले आदमियों की तरह पेश नहीं आ पाया था। न उस वक़्त उस परम्परा को तोड़ने का मेरा कोई इरादा ही था। अपनी ओर से मैं इसे अनदेखा कर खिसक जाने की सारी प्रारम्भिक तैयारियाँ पूरी कर चुका था। लेकिन इस ओर से फ़ुरसत मिलते ही मैं ने यह पाया कि समय बहुत कम रह गया था। यह भी कि उस समय-सीमा में उस लाचार चाल से यह दफ़्तर हरगिज़ नहीं पहुँच सकता था। और तब हालात का पूरा जायजा लेने के बाद मैं ने महसूस किया कि इसे एक ठोस और अतिरिक्त रूप से वज़नी कृतज्ञतानुभव के बोझ-तले दबा देने का जो प्रलोभन उन में निहित था, उस से बचना मुश्किल था। बचना मैं चाहता भी नहीं था। बल्कि सचाई तो यह थी
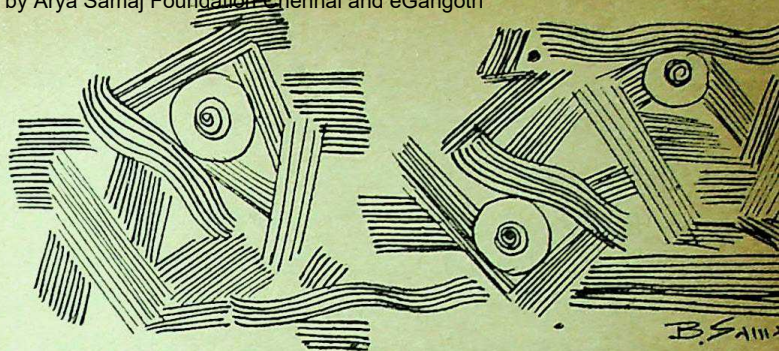
कि उस सारे वक़्त के दौरान, उन तैयारियों के समानान्तर मैं लगातार किसी ऐसे प्रलोभन की ही तलाश करता रहा था। जैसे ही वह मिला था, मेरे भीतर कहीं भलमनसाहत के कीड़ों ने तेज़ी से कुलबुलाना शुरू कर दिया था और मैं रुक कर बहुत धैर्य के साथ इस के नज़दीक आने का इन्तज़ार करने लगा था। इन्तज़ार मैं टाल भी सकता था लेकिन इस ज़रा से फ़ायदे के फेर में पड़ कर अगर उस वक़्त मैं इसे आवाज़ देता तो यह निश्चित था कि हमारे बीच के उस फ़ासले को तय करने के लिए यह अपनी डेढ़ टाँगों की दौड़ का नमूना पेश करता। नतीजा यह होता कि दफ़्तर जाती हुई भीड़ का ध्यान यह अपने साथ-साथ अपने गन्तव्य की ओर भी आकर्षित कर लेता। जब कि मैं यह क़तई पसन्द नहीं करता था कि ऐसी बेहूदा स्थिति में इसे मुझ से जोड़ कर देखा जाता।

बहरहाल, जब यह बहुत क़रीब आ गया था, मैं ने इसे लगभग चौंकाते हुए सायकिल पर बैठने के लिए कहा था। उस क्षण मेरी

आवाज़ पकड़ कर जिस तरह एक सुखद अविश्वास-भरे झटके के साथ मेरी ओर मुड़ा था, उसे देखते ही मुझे यह भ्रम-सा हो गया था कि मैं वाक़ई कोई परोपकारी जीव हूँ। और यह भ्रम जब तक था, मैं स्वयं को सायकिल समेत सड़क से बालिश्त-भर ऊपर उठा हुआ महसूस करता रहा था। मगर बाद में जब बिना कुछ कहे यह सायकिल पर लद गया था और लद जाने के बाद भी जिस ढिठाई के साथ ख़ामोश बना रहा था, उस से मेरी इस स्थिति पर बहुत घातक असर हुआ था। मैं परेशानी और झुँझलाहट से भरने लगा था। (ज़रूर यह साला मेरे एहसान को चुपचाप हज़म कर जाना चाहता है। वरना क़ायदे से तो अब तक इसे अपने पैदल आ रहे होने की कोई कैफ़ियत दे देनी चाहिए थी या और कुछ नहीं तो कम-अज-कम कुछ ख़ुशामदाना लहज़े में कोई बेकार-सा सवाल ही पूछ लेना चाहिए था।)

(ख़ैर! कोई बात नहीं प्यारे!) मैं तब भी निराश नहीं हुआ था और पूरी मुस्तैदी से अपने मोर्चे पर डट कर बहुत उत्साह के साथ हमले का श्रीगणेश करते हुए मैं ने पूछा था, "सायकिल ख़राब हो गयी है, क्या ?"

जवाब में इस कंजूस की औलाद ने मुँह खोलने तक की तकलीफ़ नहीं की थी। बस एक संक्षिप्त-सी 'हूँऽऽ' अपनी संक्षिप्त-सी नाक से निकाली थी और चुप हो गया था। मैं उबल कर रह गया था। (भाड़ में जाये साला! अब कुछ नहीं बोलूँगा) पर ख़ामोशी का दबाव कुछ ही देर में इतना असह्य हो उठा था कि मोरचा जीतने की बनिस्बत ख़ामोशी तोड़ना अधिक महत्त्वपूर्ण लगने लगा था। तब पहली दफ़ा मैं ने इसे ग़ौर से देखा था। शायद इस तात्पर्य से कि मेरी दृष्टि यह अपने चेहरे पर गड़ी हुई महसूस कर ले और इस तरह होने वाली असुविधा से बचने की कोशिश में कुछ बोलने के लिए मजबूर हो उठे। लेकिन पेश्तर इस के कि यह हो पाता, मेरे हाथ एकाएक एक सूत्र आ गया था और मैं हाथ लगाते ही फट पड़ने वाले गुब्बारे की तरह पूछ बैठा था—"क्या बात है, बहुत दुबले नज़र आते हो।"

सवाल दाग़ कर, मैं इतनी निश्चिन्तता और नपी-तुली अपेक्षा के साथ इसे देखने लगा था कि जब इस बार फिर से एक लम्बी और अनमनी-सी 'हूँऽऽ' में जवाब दे कर बल्कि सवाल टाल कर यह चुप हो गया था, तो मुझे झटका-सा लगा था। मैं उपेक्षा और अपमान से तिलमिला उठा था और आन्तरिक मतैक्य के साथ इसे उतार देने के लिए उतावला होने लगा था।

मगर मैं जानता नहीं था कि मुसीबत का यह अध्याय इसे उतार देने के साथ ही समाप्त हो जाने वाला नहीं था। मैं तो बहुत बाद तक यही समझे हुए था कि अपनी सारी

मनहूसियत के बावजूद वह एक निहायत शरीफ़ आदमी था। हालाँकि खुद मुझे यह पूरी तरह मालूम नहीं था कि इस तरह की राय क़ायम करने के पीछे कौन-सा तर्क काम कर रहा था। हाँ, इतना मुझे याद था कि सुबह इसे छोड़ने के बाद जब अपने दफ़्तर की इमारत में मैं घुस रहा था, उस वक़्त जिस सीधेपन के साथ यह मेरे दिमाग़ की सीमाओं से बाहर आ गया था उस से मुझे बहुत खुशी और राहत मिली थी। शायद यही एक बात थी जिस ने मुझे इस के प्रति इतना उदार बना दिया था। लेकिन यह उदारता कितनी हास्यास्पद थी, इस बात का सही अन्दाज़ा मुझे दफ़्तर से छूटने के बाद ही हो सका था, जब मैं इस इमारत से बाहर निकला था और निकलते ही इस मरदूद को सशरीर अपना इन्तज़ार करता हुआ पाया था।

—और तब भी यह कम्बख़्त कैसा निरीह और मासूम नज़र आ रहा था। जब कि—इसे जानना चाहिए था—यह नितान्त अनावश्यक था। अव्वल तो यह कि यह मुझे अपना दोस्त घोषित करता रहा था और दूसरे, उस वक़्त इस के सामने पड़ने से बचना मेरे लिए नामुमकिन था। इस लिए यह चाहे उस वक़्त बहुत धूर्त और मक्कार ही नज़र क्यों न आ रहा होता, मैं इसे 'लिफ़्ट' देने के लिए बाध्य था। हाँ, इतना ज़रूर था कि मैं अब कुछ सावधान हो गया था और इस लिए अब पूरी तरह मुँह सिये हुए था। यहाँ तक कि बीच में एकाध बार जब यह खाँस रहा था तब भी अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करने की ज़बरदस्त ज़रूरत महसूस करने और इस बात की बहुत आशंका होने के बावजूद कि मेरी उदासीनता इसे कुढ़ा सकती है, मैं ज़िदपूर्वक ख़ामोश बना रहा था। क्योंकि सुबह इस की सेहत और सायकिल से सम्बन्धित सवालों के जो जवाब मुझे मिले थे, मैं अब तक उन्हें भूला नहीं था और दोबारा उसी क़िस्म के जवाब सुनने और ख़ून खौलाने का शौक़ मुझे क़तई नहीं था। वैसे भी मैं अब तक यह भाँप चुका था कि यह किसी-न-किसी वजह से बात करने का अनिच्छुक था या कर सकने में असमर्थ था। वरना यह कुछ मुश्किल नहीं था। हम लगभग १०-१२ दिनों बाद साथ हुए थे और इस बीच हमारी और हमारे परिचितों की ज़िन्दगी में इतने हेर-फेर तो हो ही गये थे कि उस दमघोंट ख़ामोशी को बख़ूबी पाटा जा सकता था। पर वह वजह क्या थी यह खोजना और इस की अनिच्छा या असमर्थता की तह तक पहुँचना उस वक़्त उतना आवश्यक नहीं लग रहा था जितना यह सोचना कि किस तरह और कितनी जल्दी इस भलेमानस से पिण्ड छुड़ाया जा सकता था। क्योंकि घर तक का रास्ता बहुत लम्बा था और इसे लादे रह कर उस लम्बे रास्ते को और लम्बा करने का साहस मुझ में बहुत कम था। (अच्छा—) मेरे दिमाग़ की ओर एक 'आइडिया' लपका था (—कैसा रहे अगर मैं कॉफ़ी-हाउस पर ही रुक जाऊँ और इस भाई को वहीं से चलता कर दूँ।) इधर कुछ दिनों से यह स्वास्थ्य के नियमों का जिस कट्टरता से पालन कर रहा था, उसे

देखते हुए यह निश्चित था कि यह कॉफ़ी पीने के लिए तैयार नहीं होता। और ऐसी हालत में बहुत सम्भावना थी कि यह बेकार इतनी देर वहाँ ठहरना भी पसन्द न करता।

लेकिन जितने विश्वास के साथ मैं यह सोच गया था और जितनी आसानी से इस सोच के ज़रिये एक काल्पनिक धरातल पर इस से छुटकारा पा कर मैं निश्चिन्त हो गया था उतनी ही अकाट्यता के साथ यह कुछ ही देर में मेरी अदूरदर्शिता और बोदेपन का सबूत बन कर सामने आ गया था। कितने अफ़सोस की बात थी कि इतनी देर तक साथ रहने के बावजूद मैं इस बीच इस की चमगादड़ों की तरह चिपकने की प्रतिभा में हुए इस असामान्य विकास का कोई अन्दाज़ा नहीं लगा पाया था। कम से कम मुझे इस सम्भावना को नज़र-अन्दाज़ कर देने की मूर्खता तो नहीं ही करनी चाहिए थी कि वह बहुत सुविधा के साथ कॉफ़ी के निमन्त्रण में कॉफ़ी की जगह दूध 'फ़िट' कर सकता था।

● ●

अन्तर-काण्ड

हम एक ख़ाली कोने में आ कर बैठ गये हैं। यह इधर-उधर से बहुत सारे अखबार बटोर लाया है और अब बहुत मनोयोगपूर्वक उन का पारायण कर रहा है।

"कुछ खाओगे ?" मैं शहीदाना लहज़े में पूछता हूँ। यह सिर उठा कर नकार में दो-चार बार हिलाता है फिर उसी तरह गड़ा लेता है।

मैं हलका हो कर एक कॉफ़ी और एक दूध के लिए आदेश 'मारता' हूँ।

सामान आता है तो यह सारे अखबार उठा कर एक तरफ़ रख देता है और उतनी ही एकाग्रता से दूध में शक्कर घोलने में व्यस्त हो जाता है। फिर एक सिप ले कर यह मेरी तरफ़ देखता है पर जिसे नज़रों का टकराना कहते हैं वह हो नहीं पाता क्यों कि मेरी अपनी नज़रें उस वक़्त टेबल पर पसरी होती हैं। तब भी यह भाँपने में मुझे कठिनाई नहीं होती कि इस का यह देखना ख़ामोशी को उखाड़ फेंकने की भूमिका है। मैं उत्साह से एक ज़ोरदार सिप ले कर लाक्षणिक परिवर्तन को 'सेलिब्रेट' करता हूँ और ख़ामोशी-उन्मूलन के इस शुभ कार्य में अपना योगदान देने का विचार करने लगता हूँ। तभी यह ख़ुद बोल पड़ता है। बिलकुल रहस्योद्घाटन करने के-से अन्दाज़ में एक झटके के साथ यह बतलाता है कि यह हैदराबाद जा रहा है।

"क्यों, क्या बात है ?" मुझे ज़बरदस्ती आश्चर्य का प्रदर्शन करना पड़ रहा है।

यह तत्काल कोई जवाब नहीं देता, बस स्थिर आँखों से अपना कप देखता हुआ बहुत आहिस्ता-आहिस्ता उस की कोर पर उँगली घुमाता रहता है। यहाँ तक कि मुझे शक

होने लगता है कि मेरा सवाल इस ने सुना भी है या नहीं।

तभी यह जैसे खुद को इकट्ठा करने में कामयाब हो जाता है। "डॉक्टर ने कुछ दिन पूरी तरह आराम करने के लिए कहा है।" कतराती निगाहों से मुझे देखता हुआ यह कहता है और कै हो जाने के बाद की-सी राहत महसूस करता हुआ कुरसी की पीठ से टिक जाता है।

"मगर—" मैं शब्दों के इस्तेमाल के प्रति बहुत सचेत हो गया हूँ,

"कुछ खाऽस बात—।"

"हां, कुछ शक तो मुझे पहले से था", यह निगाहें फिर कप पर टिका देता है। "इसी लिए डॉक्टर से कह कर मैं ने एक्सरे भी निकलवाया।"

मामला गम्भीर लगता है। मुझे कुछ और सावधान होना चाहिए।

"कुछ गड़बड़ है क्या ?" मैं स्वर को लचीला बनाने की ज़बरदस्त कोशिश करता हूँ।

यह जैसे समूची ताक़त लगा कर निगाहें उठाता है और किसी सुनसान खण्डहर के अँधेरे में डोलते कंकालों का भयंकर आभास मेरी आँखों में उँड़ेलने लगता है। मगर होता यह है कि यह क्रिया सम्पन्न हो इस से पूर्व ही यह सिर हिला देता है और निगाहें थरथरा कर फिर नीचे आ जाती हैं।

मैं क्या कहूँ, कुछ सूझ नहीं पाता है।

यह दूध का आखिरी घूँट ले कर अपने बेकार हुए हाथों को एक विचित्र-से ढीले-पन के साथ जाँघों के बीच दबा लेता है और आहिस्ता-आहिस्ता टाँगें हिलाना शुरू कर देता है। फिर अचानक हो एक हाथ खींच कर मुँह तक ले जाता है और एक ओर झुक कर हलके वेग से खाँसने लगता है। मुझे यह लग आता है कि इस के रोग के कीटाणु मेरी कॉफ़ी में गिर रहे हैं। मैं झटके से अपना प्याला उठा लेता हूँ।

"हैदराबाद में कौन हैं ?"

"छोटी बहन है," यह कुछ झिझकते हुए कहता है, "वहाँ सर्विस करती है।"

ज़रूर वह 'कन्या' होगी। शायद ख़ूबसूरत....। ओफ़्, मैं कैसा अजीब आदमी हूँ। इस नाज़ुक घड़ी में जब कि बातचीत का सिलसिला बनाये रखना बहुत ज़रूरी है, मैं ख़ामख्वाह इस तरह की असामयिक कल्पनाओं में अपना दिमाग़ उलझाये दे रहा हूँ।

"तुम यहीं क्यों नहीं रहते। कम से कम इलाज वग़ैरह की सहूलियत तो रहेगी," हाँ यह हुई न कुछ समझदारी की बात। ".....और दिक़्क़त हो तो सिस्टर को कुछ दिन के लिए बुला लो।"

मगर यह क्या किया मैं ने। दिमाग़ साला बिलकुल ठिकाने ही नहीं है, वरना यह क़तई भूल कर कि यह एक प्रायवेट फ़र्म का नौकर है और मुझ-जैसी सुविधाएँ इसे उपलब्ध नहीं हैं, ऐसा अव्यावहारिक सुझाव मैं हरगिज़ नहीं रखता। ज़रूर कोई कमज़ोरी है जो मुझे ज़लील करने पर उतर आयी है।

यह शायद इस वक़्त मेरी नासमझी या चालाकी पर मन-ही-मन हँस रहा है। सँभल जाओ बेटा, अब भी वक़्त है।

"मगर हाँ यार, सुविधा क्या ख़ाक मिलेगी यहाँ····फिर तो बेकार ही है यहाँ रहना।"

यह अब भी चुप है। शायद मेरी बौखलाहट का 'इंज्वॉय' कर रहा है।

"कब जा रहे हो?" मैं खिसिया कर पूछता हूँ।

"परसों जी० टी० से जाऊँगा।"

"परसोंऽऽ।" मैं आँखें अधर में लटका कर एक नाटकीय मुद्रा बनाता हूँ। "यार परसों तो एक बहुत ज़रूरी काम है। वरना स्टेशन चला चलता।"

"अरे, कोई बात नहीं। पंतुलू तो आ ही रहा है।···और फिर कोई ज़्यादा सामान भी नहीं है।"

"रिज़र्वेशन तो करवा लिया है न।"

"हाँ!"

अब क्या बोलूँ।

"छुट्टी कितने दिनों की ली है।"

"अभी तो एक महीने की ही ली है। नहीं हुआ तो फिर 'विदाउट पे' लेनी पड़ेगी।"

"ठीक है यार," एक अच्छे आश्वासक दोस्त की भूमिका निभाने की मेरी मनोकामना एकाएक रास्ता पा जाती है—"जैसे भी हो, कुछ दिन आराम कर लो। सब ठीक हो जायेगा। कोई ख़ास बात नहीं है।"

केवल रोग के सन्दर्भ में देखूँ तो मेरा आख़िरी वाक्य उतना ग़लत भी नहीं है। ख़ास बात होने की प्रतीति मुझे उसी हालत में होती है जब मैं इसे और रोग को साथ-साथ रख कर देखता हूँ। पता नहीं क्यों यह मुझे भीतर से इतना घुन खाया और खोखला हुआ नज़र आता है कि मुझे लगता है, यह किसी भी टिकाऊ क़िस्म के रोग के लिए अच्छा घर साबित हो सकता है।

मेरी सान्त्वना पा कर यह कुछ संकुचित हो उठा है। गरदन कुछ झुक गयी है

और चेहरे पर एक दयनीय मासूमियत छा गयी है। मैं फूल कर मसीहाई अन्दाज़ में अपने चारों तरफ़ देखता हूँ। सालो, ज़रा देखो! एक दीन-दुखियों का हमदर्द तुम्हारे बीच बैठा हुआ है। मगर लोग हैं कि अपने-आप में डूबे हुए हैं।

यह फिर खाँसने लगा है। शायद अब कुछ लोग इधर देखने लगे हैं।

"आओ चलें।" मैं अचानक उठ कर बहुत कोमल और आत्मीय आवाज़ में कहता हूँ। गोया दुनिया की शक्की और हिकारत-भरी नज़रों से कहीं दूर ले चलने का प्रस्ताव रख रहा हूँ।

"मुझे ज़रा पंतुलू के यहाँ जाना है।" सड़क पर आ कर यह कहता है।

मतलब, यह मेरे साथ नहीं आ रहा है।

"फिर वापस क्या पैदल ही जाओगे?"

"नहीं, पंतुलू छोड़ जायेगा।"

"अच्छा-अच्छा, फिर तो ठीक है।"

और ठीक नहीं होता तो मैं क्या करता। शायद ठोंक-पीट कर किसी तरह ठीक करने की कोशिश करता। पर अब हटाओ भी। खामखवाह ख़ुद को ऐसी कष्टकर स्थिति में रख कर देखने का भला क्या तुक है।

"....................."

"....................." अब?

मेरी नज़रें इसे छूती हुई अगल-बग़ल से हो कर इस तरह आगे बढ़ गयी हैं कि लगता है, यह किसी पहाड़ी नाले के बीच अड़ा हुआ पत्थर है।—इस से कुछ दूर पीछे कुत्तों का एक जोड़ा गुँथा हुआ है। मुझे यक़ीन है, इसे यह मालूम नहीं है लेकिन मौजूदा हालत में इसे यह बतलाने का कोई उपाय भी नहीं है।

"....................."

"........"। मैं पाँव अब पैडिल पर टिकाना चाहता हूँ। पर इस की निगाहें शायद मेरे पाँवों पर ही टिकी हुई हैं। ऐसी हालत में यह मुनासिब नहीं होगा। इस से कुछ अधिक तमीज़दार तरीक़ा तो यह हो सकता है कि मैं चुपचाप इस चुप्पी को पलने दूँ।

"........अच्छा!" इस की निगाहें यकायक स्प्रिंग की तरह छूट कर पाँवों से सिर तक का रास्ता तय कर लेती हैं। "अब कल तो शायद ही मिलें।"

'कल' मेरे कानों के बाहर ही रह जाता है। मैं ज़बरदस्ती उसे भीतर ढकेलता हूँ और बेचैन हो कर पैडिल पर पाँव रख देता हूँ।

[शेष पृष्ठ १३४ पर]

सस्ती गाड़ी
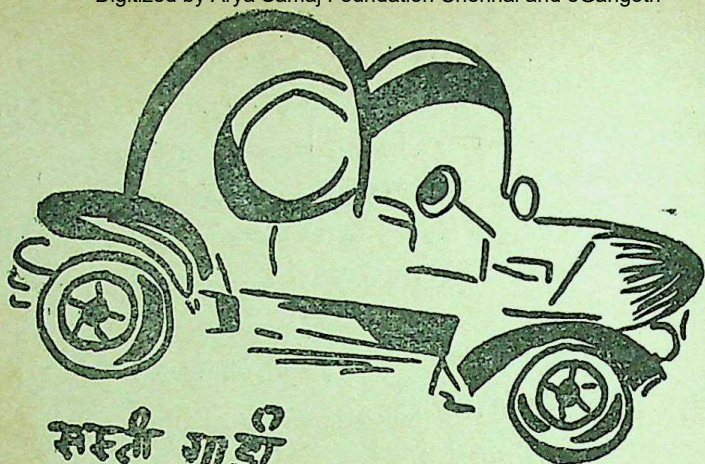
सामयिक सन्दर्भ

हमारी बेबी मोटर गाड़ी

पुष्पधन्वा
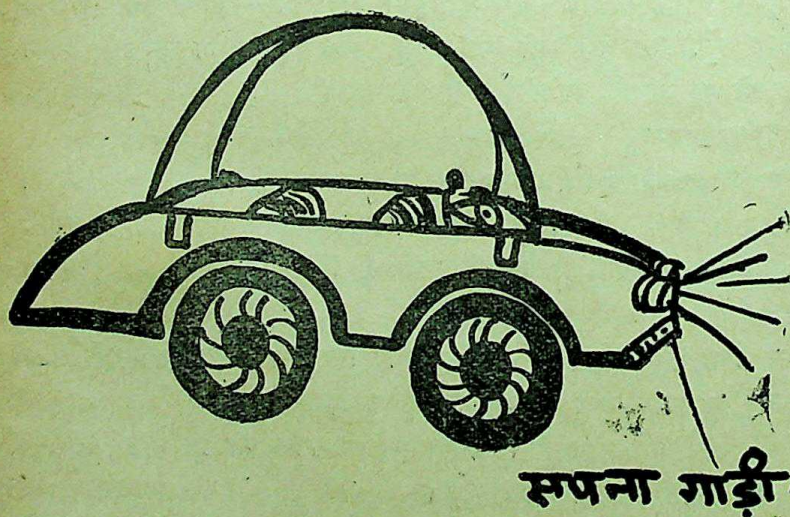
सपना गाड़ी

सस्ती गाड़ी

सपना गाड़ी

● बसों के लिए इन्तज़ार करती बेसब्र क़तार, ऑफ़िस पहुँचने के समय से आगे भागी जाती घड़ी, जेब में पड़े सिनेमा के हताश टिकिट, शहर के गर्म बदसूरत माहौल से कहीं दूर निकल जाने की आकांक्षा, टैक्सी और स्कूटर-चालकों की दया के आगे फैला मानो अपना भिक्षा-पात्र और बस आँखों में एक ही सपना''''दरवाज़े से लगी एक प्यारी-सी छोटी मोटरकार। और क्या इस जेट-युग में बसे, अनगिनत आकर्षणों से खिंचते मन के लिए यह सपना ग़लत है? ग़लत क्या—मानसिक विलास तक नहीं है। अपनी सवारी 'अपना बाज़ार' की तरह आज की ज़िन्दगी की ज़रूरत है।

इन्सान ने पानी पर चलना चाहा और जहाज़ बनाया, लम्बे रास्ते तेज़ी से तय करने चाहे और ज़मीन की छाती पर पटरियाँ बिछा दीं, परिन्दों की तरह उड़ने के लिए एल्यूम्यूनियम के पंख पसार दिये—ब्रह्माण्ड के सितारों की तरफ़ हाथ फैला दिया।''''फिर भी असंख्य लघु-मानव एक 'महज़ मोटरकार' के सपने देखते जनमते हैं और—और क्या? बस, सपने देखते ही रहते हैं। हम भारतवासी तो यों भी स्वप्नद्रष्टा और सन्तोषी जीव हैं। एक तरफ़ अमरीका में हर दो व्यक्ति पर एक गाड़ी की औसत है और दूसरी तरफ़ हम ५६० व्यक्ति प्रतिगाड़ी पर सब्र किये बैठे हैं। लेकिन एक सुबह अखबारों ने एक खबर छापी जिसे पढ़ कर हमारे सोये हुए सपने पंख फड़-फड़ाने लगे।

● कार की भारी क़ीमत को ध्यान में रखते हुए सरकार स्वतन्त्रतोपरान्त एक कम क़ीमत वाली जनता कार, बेबी-कार, मिनीकार—जो नाम आप को पसन्द हो—बनाने का इरादा किया। १९४९ में भारतीय कल-पुर्जे लगा कर भारतीय गाड़ी का निर्माण कर लेने से सस्ती छोटी गाड़ी की सम्भावना भी बढ़ गयी थी। लेकिन नन्हीं बिटिया की

परवरिश ठीक न हो पायी। सुझावों की टकराहट, विदेशी मुद्रा का अभाव और प्राथमिकता का प्रश्न—इन सब की हड़बड़ी में उस के गले में तो घुट्टी भी न उतर सकी। पिछले दो दशकों में कई बार जनता की आँखों में आशा की चमक आयी और बुझ गयी। अब ताजा सूचना के अनुसार 'चौथी पंचवर्षीय योजना को आखिरी शक्ल' देने से पहले बेबी कार पर निर्णय ले लिया जायेगा। यों अन्तिम निर्णय लेने की यह बात किसी-न-किसी मन्त्री-द्वारा अब तक लगभग बीस बार दोहरायी जा चुकी है।

● बेबी कार की कहानी हमें बीस साल पीछे देखने को बाध्य करती है। इस की लुकाछिपी भारतीय चलचित्रों के नायक-नायिका की आँखमिचौनी से कम दिलचस्प नहीं। इस में भी उम्मीद लगातार अपना पार्श्व-संगीत देती रही है। जनता से वायदा किया गया था कि पहली पंचवर्षीय योजना की समाप्ति से पहले उन की प्यारी गाड़ी भोली गाय की तरह, 'गराज' न होने पर, आँगन में ही खड़ी होगी। लेकिन सितारों की गर्दिश कुछ ऐसी बही कि मिनी-योजना ने दूसरी साँस कहीं जा कर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान ली जब सरकार ने इस के बारे में जाँच-पड़ताल के लिए 'झा-कमेटी' की स्थापना की। १९६० में कमेटी का निर्णय आया—"यह गाड़ी बननी चाहिए।"

● मसला बड़ा था और आप जानें भला एक कमेटी की इतनी बिसात कहाँ कि उस का फ़ैसला एकदम मंजूर हो जाये। सो, 'झा-कमेटी' के सुझाव की छानबीन के लिए एक दूसरी कमेटी बिठायी गयी—'पाण्डे-कमेटी'। लेकिन पाण्डे और झा तो भाई-बिरादर निकले। १९६१ में 'पाण्डे-कमेटी' ने भी कहा कि कार जरूर बने और लागत उस पर आयेगी ५००० रुपये। कहावत भी है कि एक से दो भले। इन दोनों कमेटियों ने हरी झण्डी दिखा कर जनता की गाड़ी आगे बढ़ायी।

निर्णय देना एक बात है और उस पर अमल करना दूसरी बात। चार साल और गुजर गये। फिर अचानक १९६५ में खबर मिली कि बेबी-कार की गर्द-भरी फ़ाइलों को झाड़ा जा रहा है। जनता से कहा गया कि बेबी कार जरूर बने लेकिन पब्लिक सेक्टर में। यह पता न लग सका कि जर्मनी, फ्रांस, जापान, यूगोस्लाविया इत्यादि पचीस देशों के सहयोग-सुझावों का क्या हुआ? बुद्धिजीवियों के सामने इतना ज़रूर खुला कि चाल कुछ टेढ़ी है, क्योंकि पब्लिक सेक्टर का स्वाद जनता खूब चख चुकी है। एच० एम० टी० घड़ियों की मरम्मत के इन्तजार में लगातार बढ़ती क़तार ही मिसाल के तौर पर ली जा सकती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का अन्दाज़ा है कि पब्लिक सेक्टर में अगर मिनी-कार बनी भी तो उस की क़ीमत आखीर में जा कर १२,००० से १४,००० के बीच बैठेगी।

● सरकार भी बेचारी क्या करे ? वह खुद अपनी सरकार कहाँ है ? लोकसभा में गूँजें और अनुगूँजें उठीं कि देश के तीनों गाड़ी-निर्माताओं में खलबली मच गयी है । उन के रोष और असहयोग के आगे सरकार को हथियार डालने पड़े । हर बार छोटी-कार की योजना उठती और कोई-न-कोई मुश्किल दीवार बन कर खड़ी हो जाती । बरसों की कोशिश के बाद दीवार पार होती तो सामने एक नयी तथा और ऊँची दीवार तैयार मिलती । इन के अलावा फ़ाइलों के न जाने कितने छोटे-मोटे टीले और गले में फ़न्दे-सा कसता मीलों लम्बा लाल फ़ीता !

● बेबी कार के क्या अर्थ हैं और उस की क्या रूपरेखा होगी इस बारे में कोई उलझन नहीं होनी चाहिए । हर बार हमें यही पता चला है कि वह पाँच-छह सीट वाली होगी । इस का अर्थ यही हुआ कि बेबी कार नियोजित परिवार की कम क़ीमत वाली कार है । वैसे, कहा नहीं जा सकता कि कबाड़खाने से सामान जुटा कर एक सस्ती गाड़ी खड़ी कर भी दी गयी तो उसे सड़क पर बनाये रखना और चलाये रखना कितना सस्ता बैठेगा । 'पाण्डे-कमेटी' ने अपनी रिपोर्ट में (जिसे आज तक जनता के सामने रखा न गया) एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया था । इस छोटी गाड़ी को बनाने के लिए देश में दिनों-दिन बढ़ते कल-पुर्ज़े उद्योग पर निर्भर ,करना होगा । इस उद्योग में पचास करोड़ की पूँजी लगी हुई है । इन चीज़ों में ईमानदारी और बेईमानी के अनुपात की मात्रा किसी से छुपी नहीं । क्या भरोसा कि इस तरह की गाड़ी अचानक किसी मोड़ पर टूटी आशा की तरह बिखर न जायेगी या परियों के सपनों की तरह धुँए और लपटों में अन्तर्ध्यान न हो जायेगी ? फिर भी, मिनी-गाड़ी की बात बार-बार उठायी गयी है । क्या इस के पीछे कारण यह है कि बड़े लोग बहुत व्यस्त रहते हैं—बातें भूल जाया करते हैं—या यह कि उन का वास्ता इस देशी-कल-पुर्ज़ा बाज़ार से नहीं पड़ता क्योंकि उन की सवारियाँ हैं—डॉज पोलारा, मर्सेडीज़ बेंज़, फ़ोर्डज़ेफ़र, शेवरले इम्पाला वग़ैरह ।

● ये सब परदे के पीछे की बातें हैं । जनता जानना चाहती है कि अपनी मिनी-आशा पूरी करने के लिए वह किस मन्त्र का जाप करे ? सारे देश में मोटर-गाड़ी बनाने वाले केवल तीन उद्योग हैं । जितनी गाड़ियाँ एक साल में बन कर तैयार होती हैं उस से कहीं ज्यादा नयी गाड़ियों की बुकिंग उस साल में हो जाती है । नतीजा यह कि कार के उम्मीदवारों की लाइन बढ़ती ही जा रही है, साथ ही बढ़ रहा है—काला बाज़ार और पुरानी गाड़ियों की लीपा-पोती का धन्धा । ऐसी सभी गाड़ियाँ सड़कों पर दौड़ती-दौड़ती खाँसने लगती हैं और बिना नोटिस ठिठक कर खड़ी हो जाती हैं, फिर यातायात रुक जाता है और कन्धे से कन्धा टकराती गाड़ियाँ दुर्घटनाओं का वातावरण तैयार कर देती हैं । किसी कार की आँखें ज्योतिविहीन हो जाती

हैं, कोई तीन टाँगों पर टँगी रह जाती है, कोई घुटने टिका देती है। कोई आश्चर्य नहीं कि अब ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग अपने भीतर के कलाकार को अपनी कार की सजावट से सन्तुष्ट करने लगें और दिल्ली की सड़कों पर दौड़ती चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसैन की अद्‌भुत कार की कई साथिनें तैयार हो जायें।

● आह ! नन्हीं-सी जान और आफ़तें बेशुमार ! इन ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर बेबी-कार कितने दिन साँस ले पायेगी ? फिर टैक्स की ऊँची दरें ! हमारा देश इस क्षेत्र में भी तो बाज़ी मार गया है ! आय-कर की तरह कार-कर भी विश्व-भर में सब से ऊँचा भारत में है। मुश्किलें ज़्यादा होती हैं तो हौसले भी उतने ही बुलन्द हो जाया करते हैं। ऐसा न होता तो इन्सान आज भी छाल से ढँका, चकमक से आग जलाता घूमता। लोक-सभा में रघुनाथ रेड्डी ने इस सूचना की पुष्टि की कि प्रधान मन्त्री के पुत्र संजय गान्धी-द्वारा प्रस्तावित मिनी-कार बनाने की योजना पर सरकार सोच-विचार कर रही है। यह ६००० रुपये की क़ीमत की होगी और पूर्णतः भारतीय कल-पुर्ज़ों से निर्मित होगी। युवकों के कन्धों पर जनता के सपने पूरे करने का भार है। उन की मज़दूरी और ख़ुदा की मंज़ूरी—किसी-न-किसी दिन तो हाथ पकड़ेंगे ! तब तक दिल के बहलाने को ग़ालिब ये ख़याल अच्छा है···

■ ■

[बाहर : पृष्ठ १२६ का शेषांश]

"अच्छा ! ख़त देना।"

"हाँऽअ," यह पलटता हुआ सिर हिलाता है और तुरन्त ही मेरी निगाहों के दायरे से बाहर हो जाता है।

● ●

पटाक्षेपिका

विश यू आल द बेस्ट। विश यू आल द बेस्ट। विश यू—ओफ़्, इस एक वाक्य से ही यह विदाई कितनी प्रभावशाली बन सकती थी। लेकिन अब क्या हो सकता है। वह विदा ले कर पलट चुका है और मैं उस जगह तक आ पहुँचा हूँ जहाँ है वह कुत्ता, और वह कुतिया····

■ ■

हँसली बाँक की उप-कथा

बंगला के विशिष्ट उपन्यासकार

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार-विजेता

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय

के अप्रतिम उपन्यास

'हाँसुली बाँकेर उपकथा'

का हिन्दी रूपान्तर।

'गणदेवता' के बाद एक और अनूठी प्रस्तुति
भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाश्य।

कृपया अपनी प्रति इस पते पर लिख कर सुरक्षित करावें :

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

साहित्यार्चन

हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन
छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य
ओटक्कुषल

●
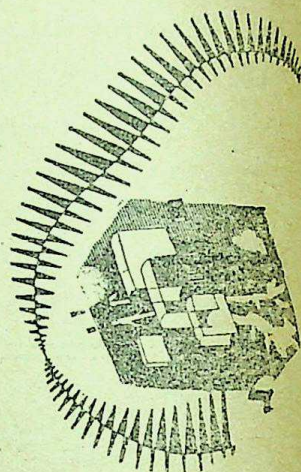
हिन्दी नाटक : सिद्धान्त और विवेचन●

अकारण नहीं है कि एक नये समीक्षक ने एक सम्मानित साप्ताहिक पत्र में डॉ० श्रीमती गिरीश रस्तोगी के इस विवेचनात्मक ग्रन्थ की समीक्षा इसे शोध-प्रबन्ध मान कर की है—जब कि यह शोध-प्रबन्ध है न इसे शोध-प्रबन्ध कहा गया है—डॉ० श्रीमती रस्तोगी ने अपना शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी नाटक का संगीत के सन्दर्भ में विशिष्ट अध्ययन' अलग से प्रकाशित भी कर दिया है। मेरा ख़याल है कि इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्याय ही इसे शोध-ग्रन्थ के रूप में देखने का भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं—ये अध्याय हैं—नाटक की उत्पत्ति और स्वरूप, नाटक के मूलभूत तत्त्व, हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास। वस्तुतः इस तरह के शीर्षकों में बँध कर किसी साहित्यिक या सर्जनात्मक माध्यम को देखना हिन्दी के शोध-क्षेत्र की रूढ़ि हो गया है। इस के लिए सारा दोष लेखिका के सिर मढ़ देना ही न्याय-संगत नहीं जान

१. डॉ० श्रीमती गिरीश रस्तोगी; प्रकाशक : ग्रन्थम, कानपुर, मूल्य बारह रुपये।

पड़ता—जब तक विश्व विद्यालयों में उच्च शिक्षण, अध्ययन-अनुशीलन के संस्कार पूरी तरह बदल नहीं जाते—शास्त्रीय आलोचना के स्थान पर अधिक सर्जनात्मक समीक्षा दृष्टि को स्वीकार नहीं कर लिया जाता, क्या लेखक ऐसे विवेचन के लिए अभिशप्त नहीं है! यहाँ लेखिका के समक्ष यह संकट अवश्य दिखाई देता है कि वह एक ओर बँधी हुई आलोचना-पद्धति का निर्वाह करना चाहती है और दूसरी ओर समकालीन नाट्य-समीक्षा के जटिल प्रश्नों का साक्षात्कार भी करती है—इस ग्रन्थ के दो या तीन अध्याय—'हिन्दी रंगमंच : विकास, समस्याएँ और सम्भावनाएँ', हिन्दी नाटक के प्रमुख आधुनिक रूप' और 'हिन्दी नाटक की सार्थकता और उपलब्धि' इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं कि इन में लेखिका की आलोचनात्मक प्रतिभा के साथ रंग-संवेदना के समृद्ध परिचय की चमक भी दिखाई देती है। इस प्रकार यहाँ कठिनाई उस 'मध्यम मार्ग' की है जिस पर चल कर लेखिका हिन्दी नाटक के बदलते हुए रूपों को और नाट्य-समीक्षा की विभिन्न शैलियों को सन्तुलित रूप में समझना भी चाहती है और शास्त्रीय समीक्षा के अनुशासन से एक दम छूटने के लिए तैयार भी नहीं है।

यह अच्छा लक्षण है कि डॉ० रस्तोगी ने रंगमंच को नाटक-सम्बन्धी अध्ययन के सन्दर्भ में आवश्यक प्रतिष्ठा दी है और लिखा है, "नाटक का निकष रंगमंच है और दर्शक का उस के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि नाटककार और समीक्षक दोनों को प्रेक्षक वर्ग की रंगानुभूति को समझना और उस का परीक्षण करना नितान्त आवश्यक है।" यहाँ नाटक-समीक्षा के नये मानदण्डों की चिन्ता डॉ० रस्तोगी के मन में बराबर बनी रहती है। 'नाट्यानुभूति और रंगानुभूति के प्रति निरन्तर विकासमान संवेदनशीलता', 'नाटक को खण्ड रूप में नहीं समन्वित रूप में देख कर उस के मूल रूप को पहचानने की जागरूकता' एवं 'नयी नाट्य-समीक्षा के सिद्धान्त' निर्धारित करने की आवश्यकता का स्पष्ट बोध उन्हें है। वे यह भी चाहती हैं कि नाटक के विभिन्न रूपों को उन के उपयुक्त सन्दर्भ में परिभाषित कर लिया जाये जिस के अभाव में अभी तक 'गीति-नाट्य, भाव-नाट्य, पद्य-नाट्य, काव्य-नाटक' आदि में कोई भेद नहीं माना गया है। अपनी ओर से उन्हों ने निश्चय ही कुछ नाट्य-प्रकारों की मर्यादाओं को वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकृत करने की चेष्टा की है। इसी के साथ डॉ० रस्तोगी को अपनी सीमाओं का ज्ञान भी है। जिस पुस्तक में इतने विवेचन के बाद भारतेन्दु से ले कर विनोद रस्तोगी तक दर्जन-भर नाटककारों का अलग से, और विशिष्ट परिचय भी देना हो—इस से अधिक कुछ किया नहीं जा सकता। जरूर ही, जिन्हें डॉ० रस्तोगी ने विशिष्ट परिचय की महत्त्व-पूर्ण आवश्यकता के अनुरूप माना है—उन के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है पर यह एक अलग ही सवाल है। सब मिला कर उन्हें इस ग्रन्थ के लिए बधाई दी जा सकती है और आशा की जा सकती है कि वे नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में

एक बार विश्वविद्यालयी आग्रहों से मुक्त हो कर ऐसी रचनात्मक कृति देने के लिए प्रयत्न करेंगी जो पाठक को नाटक नाम की विधा के आन्तरिक संसार में सहज ही ले जा सके।

● छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य[1]

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का प्रकाशन ऐसे समय हुआ है जब इसी प्रकाशन संस्था-द्वारा प्रकाशित इसी विषय के एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिन्दी का गद्य-साहित्य' (दूसरा संस्करण ले० डॉ० रामचन्द्र तिवारी) की ओर पाठकों का ध्यान ज़रूर ही जायेगा—जो शोध ग्रन्थ नहीं है, परिचय-ग्रन्थ ही है पर आलोचनात्मक विवेक के साथ ही जिस ने परिचय को अधिकाधिक समृद्ध और प्रामाणिक रूप में रखने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का शोधप्रबन्ध 'छायावादोत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य' गोरखपुर विश्वविद्यालय-द्वारा पी० एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध है—जिसे विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० केशरी नारायण शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र और आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की प्रशंसापूर्ण सम्मतियां प्राप्त हैं। गद्य नाम की विधा को ही शोधकर्त्ता ने अपने अनुशीलन का विषय क्यों बनाया—इस के लिए भी आवश्यक तर्क लेखक ने दिया है—"गद्य-साहित्य जीव के अधिक निकट होता है। जीवन की वास्तविक धड़कन गद्य में अधिक स्वाभाविकता के साथ सुनाई पड़ती है। किसी भी राष्ट्र की चिन्तन-शक्ति का पूर्ण विकास उस के गद्य-साहित्य में ही प्राप्त होता है। गद्य किसी भी युग और जीवन की बौद्धिक चेतना का वाहक होता है।"

लेखक की प्रस्तावना के उपर्युक्त वाक्यों के वजन पर ध्यान दिया जाये तो इस के पीछे शोध-संसार की एक दूसरी ही मनोवैज्ञानिक रूढ़ि का पता चलता है। हमारे विश्वविद्यालयों में शोधार्थी छात्र के मन पर यह बात छायी ही रहती है कि चुने हुए विषय को संसार की समस्त अच्छाइयों का केन्द्र बना दिया जाये—इस कोशिश में होता यह है कि अपने विषय की उपयोगिता पर अतिरिक्त बल देने से हमारे ही तर्क इधर-उधर हो जाते हैं। पर यह दोष डॉ० तिवारी का नहीं है कि वे गद्य के बारे में जितना ज़ोर लगा कर अपनी दलील दे रहे हैं—क़रीब-क़रीब वही दलीलें उतनी ही शक्ति के साथ कविता के पक्ष में दी जा सकती हैं—यह दोष वस्तुतः शोध-संसार की एक रूढ़ि का है—जिस की ओर अब विश्वविद्यालयों के ही विद्वानों और आचार्यों का ध्यान कभी-कभी, (और कहीं-कहीं) जाने लगा है।

यह अच्छा है कि अपने मूल विवेचन में डॉ० तिवारी सभी आग्रहों से मुक्त हो गये हैं और सन् १९३६ से १९६६ या कुछ आगे तक की विभिन्न गद्य-विधाओं (उपन्यास, कहानी

---

१. डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी; प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; मूल्य : सोलह रुपये

नाटक, निबन्ध आलोचना और अन्य विधाओं) के प्रामाणिक परिचय, विश्लेषण या प्रवृत्तिगत अध्ययन में संलग्न हो सके हैं। समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के प्रति सचेत रह कर प्रायः उन्हों ने समय के साहित्य को समय का दर्पण माना है। उन के अनुसार—"जो सन्दर्भों में अपने को फ़िट न कर सका, वह न जीवन है, न साहित्य।" माना, कि सूत्रों में सोचने का अनुशासन डॉ० तिवारी के पास नहीं है—पर नीयत उन की साफ़ है और आलोच्यकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि समझाने के लिए उन्हों ने जिन स्रोतों आवश्यक तथ्यों का संग्रह किया है, उसे देखते हुए मानना पड़ता है कि उन में सजग और सन्तुलित इतिहास-दृष्टि भी है—जीवन के प्रति गहरी आस्था और जागरूक दृष्टि तो है ही।

डॉ० तिवारी के इस प्रबन्ध में समकालीन साहित्य के परिचय की भी झलक देखी जा सकती है—इस दिशा में लेखक ने तथ्यों का संकलन ही नहीं, खोज भी की है—सच्ची रचनात्मक खोज।

— परमानन्द श्रीवास्तव

• ओटक्कुष़ल (बाँसुरी)[1]

'ओटक्कुष़ल' (बाँसुरी) पर भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रवर्तित एक लाख रुपये की राशि का पुरस्कार १९६५ में प्रदान किया जा चुका है। ज्ञानपीठ-द्वारा ही इस का प्रकाशन भी हुआ है। एक पुरस्कृत कृति को समीक्षा के लिए चुनते समय मेरे मन में डर था। भारत वर्ष के विद्वानों ने जिस कृति को एक कण्ठ से सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है निस्सन्देह उस की समीक्षा के काम को सरल नहीं कहा जा सकता। प्रारम्भ में शुद्ध साहित्य के स्तर पर ही इस निर्णय की चुनौती को मैं स्वीकार कर रहा था किन्तु ज्यों-ज्यों इस कृति का पाठ करता गया, यह भावना प्रधान होती गयी कि दक्षिण भारत की सर्वश्रेष्ठ कविता के सौन्दर्य को उत्तर भारत के श्रोताओं के सम्मुख रखा जाये और ऊपर से शतशः विभक्त भारत की आत्मा में बहने वाली एकता की अन्तःसलिला के अमृत का आचमन सरस हृदय से अंजुलि भर कर किया जाये।

इस कृति की समीक्षा में इसी सौन्दर्य-वादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। शास्त्रों की नीरस खुरदरी कसौटियों से इस की कुसुम-देह को दूर ही रखा गया है। इस में कोई दो मत नहीं हो सकते कि यह कृति फूलों की गन्ध और बाँसुरी की ध्वनि से बुनी गयी है। मलयालम में 'ओटक्कुष़ल' का अर्थ होता है 'बाँस की बनी।' ध्वन्यार्थ

१. महाकवि जी० शंकर कुरुप, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, मूल्य आठ रुपये।

यह है कि यह देह भी जो बाँस सदृश हाड़-मांस से बनी है, प्राण वायु के सन्तरण से ही जीवन की मीठी मोहक रागिनी अपने रन्ध्रों से निःसृत करती है। कवि का यही जीवन-दर्शन इस 'बाँसुरी' से निकलने वाली रागिनियों में गूँजा है कवि की 'सागर गीत' नामक कविता में ये पंक्तियाँ आती हैं :

"जीवन ही गान है
काल ही ताल है
मन के विभिन्न भाव ही विविध राग हैं
समूचा विश्वमण्डल ही लय है।"

'समूचा विश्वमण्डल ही लय है,' इस अनुसन्धान के साथ कवि की आत्मा भारत की मूल आत्मा के साथ एकताल हो जाती है। यहाँ पहुँच कर कवि और आदि कवि वाल्मीकि में अन्तर नहीं रह जाता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी यह मानते हैं कि कोई विश्वछन्द है जो विश्व कवि की ही पकड़ में आता है। वही जानता है कि जड़-चेतन के अणु-अणु में कोई एक ही राग गुंजित है। जिस ने यह पहचान लिया कि यह समूचा विश्वमण्डल ही लय है वह सचमुच विश्वकवि है, किसी भाषा, प्रान्त और देश-विशेष का ही नहीं। मलयालम भाषा को और केरल को यह गर्व अवश्य रहेगा कि उस की कोख से यह कवि-रत्न पैदा हुआ। किन्तु क्या इतना ही आह्लाद उत्तर भारत, समूचे भारत और सम्पूर्ण विश्व को नहीं होगा? अवश्य होगा। इस विश्वात्मा का दर्शन कालिदास ने किया था, सूर-कबीर-तुलसी ने किया था और इस शताब्दी में आ कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी जिन की कविता का स्पष्ट प्रभाव कुरुप की काव्य-रचना पर परिलक्षित है।

पुरस्कार-राशि के साथ प्रदान किये गये प्रशस्ति-पत्र में लिखा है, "'ओटक्कुषल' की कविताओं में भारतीय अद्वैत भावना का साक्ष्य है जिसे कवि ने परम्परागत रहस्यवादी मान्यता के अंगीकरण-द्वारा नहीं, प्रकृति के नाना रूपों में प्रतिबिम्बित आत्मछवि की वास्तविक अनुभूति-द्वारा प्राप्त किया है।"

कहा जा सकता है कि जैसे कुमाऊँ की पर्वतमालाओं, हिमाच्छादित गिरिशृंगों, सघन वनों और वन-लताओं ने हिन्दी को सुमित्रानन्दन पन्त दिया वैसे ही सागर की हरहराती लहरों और केरल के ताड़पत्रों ने मलयालम को महाकवि कुरुप दिया, प्रकृति जैसे इन कवियों के लिए आत्मा का दर्पण रही है! कुरुप की ऐसी कोई कविता नहीं जिस की पृष्ठभूमि में समुद्र नहीं रहा हो। ऐसा कोई गीत नहीं जो जीवन की बाँसुरी पर रागिनी बन कर नहीं गूँज रहा हो। इस वेणुवन का नाम हो है 'ओटक्कुषल'।

मुखपृष्ठ पर जो चित्र बनाया गया है उस में वंशी को नहीं वंशी-ध्वनि को श्री अल्काज़ी ने चित्रित किया है, पश्चात् पुस्तक का पहला पन्ना पलटते ही कविता के इस टुकड़े पर दृष्टि पड़ती है :

"हो सकता है कि कल यह वंशी
मूक हो कर काल की लम्बी कूड़े दानी
में गिर जाये
या यह दीमकों का आहार बन जाये,
या यह

मात्र एक-चुटकी राख के रूप में परि-
वर्तित हो जाये।

लेकिन…।"

इस लेकिन का ही चित्रण पूरी पुस्तक में हुआ है यह वंशी काल ही की कूड़ेदानी में नहीं गिरती न ही राख में परिवर्तित होती है और न ही दीमकों का आहार बनती है; बल्कि वह जन-जन के गले का कण्ठहार बनती है।

'ओटक्कुषल' में कवि की ५८ कविताएँ संकलित हैं। अवश्य कवि ने इन कविताओं को अपनी प्रतिनिधि कविताएँ समझ कर इस संकलन के लिए चुना होगा। कवि के आत्म-कथ्यों, जीवन-वृत्त और इन कविताओं को पढ़ कर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति और देशभक्ति कुरुप की कविता के दो प्रधान विषय हैं। अपनी आत्मकथा में कवि ने कहा है "प्रकृति के साथ मेरा सम्बन्ध उस के साथ एकाकार हो जाने की अनुभूति तथा उस से प्राप्त प्रकृति से परे रहने वाली चेतना-शक्ति का आभास इन सब की पूँजी के बल पर ही साहित्यलोक में प्रवेश करने तथा उस के एक कोने में घर करने में मैं समर्थ हुआ।" प्रकृति में कसी हुई उस चेतन को आत्मा का अनुसन्धान कवि ने किया है और यों प्रकृति से अध्यात्म तक की यात्रा कवि ने की है। बीच में कटु यथार्थ के अनेक चरण १९४२ के आन्दोलन के आसपास महाकवि के काव्य में आये हैं किन्तु वहाँ भी एक नैतिक उदात्त छन्द-भंग नहीं हुआ है, उस रोष में भी एक गरिमा है और अभिव्यक्ति में तेजस्विता।

प्रकृति में कवि ने अपने ही हृदय का प्रतिबिम्ब देखा है और स्वीकार किया है कि "तरंग ताड़ित नदी में संवेदनाओं की उथल-पुथल मचाने वाले अपने हृदय का आभास देख पाना, सूर्यकान्ति के कम्पित अधरों में अपने भाव तरल अधरों को देख पाना, अरु-णोदय की प्रतीक्षा में तपस्या करने वाले काल के रूप में सत्य-सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले अपने जीवन को देख सकना—मेरे लिए परमानन्द का कारण है।"

प्रकृति से परमेश्वर के आध्यात्मिक आनन्द की ओर प्रमाण करने से पूर्व कवि सर्वथा सौन्दर्यग्राही मन से इस सौन्दर्य का पान करता रहा है पुष्पगीत, सन्ध्यातारा वृन्दावन, कोयल, वनजुट्टी, प्रभात समीर, मेघगीत आदि अनेक कविताओं में प्रकृति की वयःसन्धि गन्धमान है। इसी मदन-गन्ध ने कवि के कल्पना समुद्र को आन्दोलित किया था। कवि ने कहा है, "मेरे गाँव के हरे मैदान, सुनहरे खेत, ग्रामहृदय में मस्तक ऊँचा किये खड़ा रहने वाला प्राचीन मन्दिर, दरिद्रता में डूबा हुआ प्रतिवेश, कवि-कल्पना को अपने पास बुलाने वाली पहाड़ियाँ—इन्हीं सब ने मेरे हृदय को स्वप्नों से भर दिया था और फिर उन स्वप्नों को विविध रंगों से सजाया तथा वाणी दे कर सजीव बनाया था वह खेत जिस में कंगनों हँसियों की चमक दिखाई देती है, सिर पर धान का बोझा लिये हाँकती हुई वे कृषक कन्याएँ,…सन्ध्या के शान्तिपूर्ण वातावरण में मधुरता फैलाता हुआ मन्दिर से आने वाला शंखनाद—इन

सब से मेरे कल्पना-समुद्र में अव्यक्त एवं विचित्र तरंगें उठी हैं।"

'तिरुविल्वामला' का विशाल हृदय की तरह फैला हुआ स्वप्न सान्द्र मैदान, टीलों वनों में आँख-मिचौनी खेलती हुई संकेतस्थान पर आ मिलनेवाली नदियाँ हाथों में जल-कुम्भ लिये खड़े रहने वाले मेघ, तराई के मार्ग पर मन्द गति से जाने वाली बैलगाड़ियाँ— ये सब चित्र किसी भाव की पृष्ठभूमि बनते ही कुरुप की कविता में गतिचित्र बन जाते हैं।

"मालिकाओं ने आज भी सुरक्षित कर
रखा है

अपने पुष्प सम्पुटों में
गहरे-तम-सी कुटिल कुन्तला राधा की
"श्वास सुरभि को,
अन्यथा क्यों जाता यह तरुण पवन
नित्य उस ओर
अपनी साँसों में गन्ध भरने ?
इस श्रीमय प्रदेश पर फूट-फूट पड़ती है
हेमन्त की रजनी,
हाय, इस संकेत पर ही तो होता था
प्यारी राधा और कृष्ण का विहार।"

इन सर्वथा सौन्दर्यग्राही रचनाओं को रचते-रचते कवि अन्ततः अपने देश-प्रेम के भावों को व्यक्त करने की साधना में लग जाता है, यद्यपि सौन्दर्य का आग्रह कवि वहाँ भी नहीं छोड़ता। 'प्रभात समीर' नामक कविता में कवि तिरंगे की कल्पना करता हुआ कहता है :

"ऊपर मँडरा रही है
श्वेत लाल हरी मेघ पताका
है उन्मेष दायक
मेरी जन्मभूमि जाग उठे
और खड़ी रहे सदा इसी झण्डे की
मंगल छाया में।"

'वह पेड़' नामक कविता में सौन्दर्य की क्षणधर्मिता पर कवि ने कहा है :

"पल-भर में ही मिट जाता है इन्द्रधनु
मात्र दिन-भर में मुरझा जाता है सुमन
अपने वक्षस्थल में प्रभात का चुम्बन
पालने वाली हिमकणि
मुसकराने भी नहीं पाती है कि मि
जाती
बिजली नष्ट हो जाती है उत्पन्न इति
क्षणिकता ही तो धर्म है लावण्य का।"

इस क्षणिक लावण्य से उत्पन्न होने वा अनुराग की क्षणिकता और कंटकधर्मिता प कवि ने कहा है :

"रे अनुराग
तुम हो स्वर्णिम गुलाब
झर जाते हैं जल्दी ही स्वर्णिम दल
फिर काँटों से बेधते हो तुम हृदय
तुम से मैं घृणा करता हूँ।"

कवि सचमुच इस अनुराग से घृणा क करते मात्र उस समय जब कि देश-प्रेम में बाधक बने। 'स्त्री' नामक कविता की र उन्हों ने प्रसिद्ध राजपूती गाथा हाड़ा रानी बलिदान पर रची है जिस में युद्ध से लौटे पति का मोहभंग करने के लिए वह अ गरदन उतार कर निशानी के रूप में दे

है। इस कविता में कवि ने इस कथा का अन्त बदल दिया है और पत्नी के फटकारने पर ही वीर पति युद्धभूमि को लौट जाता है। वह वीर पत्नी कहती है :

"यह शरीर केवल दीपक है, प्राणों के
प्रज्वलित होने के लिए
मिट्टी के इस दीप के प्रति इस प्रकार
मुग्ध हो जाना क्या उचित हुआ ?
लावण्य तो मात्र इन्द्रजाल है उस
दीप का
हाय, साहसी अनुराग ने आप की बुद्धि
की आँखें मूँद दी ?"

कविवर 'दिनकर' जी द्वारा अनूदित रचना 'शतशः धन्यवाद' मुझे अनेक कारणों से संकलन की सब से सशक्त कविता लगी। इस का पाठ 'दिनकर' जी द्वारा ही १९४७ में आकाशवाणी कवि-सम्मेलन में किया गया था। उस के एक उद्धरण के साथ मैं इस समीक्षा का समापन करूँगा (संकलन में 'दिनकर' जी द्वारा अनूदित यह एक ही रचना सम्मिलित की गयी है।) :

"कह रहा क्षितिज को छू उद्वेलित मुक्त
पवन
वनराजि मुक्त हो सजती है,
द्रुम के पत्तों में अनिल नहीं सीत्कार रहा
हरियाली में मांगलिक बीन यह कसती है
तीनों समुद्र हुंकार रहे गम्भीर नाद
गर्जन में भेरी की गत है
उस मन्दिर के ये भाल भव्य जिस का
किरीट
इस अवनीतल का सर्वोच्च श्रृंग
हिम पर्वत हैं
प्रस्तुत स्वतन्त्रता का यह मणिमय
सिंहासन
बैठो माँ, हम मिल कर आरती सजायेंगे
नाना भाषाओं में लिखेंगे एक नाम
नाना छन्दों में एक गीत हम गायेंगे।
करुणामय की करुणा को शतशः
धन्यवाद।"

—परेश

■ ■
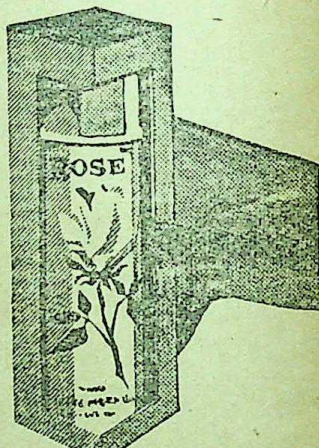
नये प्रकाशन

सधन्यवाद समीक्षार्थ प्राप्त

● कविता

- गीत और गीत : सम्पादक : भरत व्यास, साहित्य भारती, बम्बई–२
- सातवें दशक के उभरते नव गीतकार : लक्ष्मीकान्त सरस, दक्षिणांचल ग्रन्थमाला प्रकाशन, मद्रास

● कहानी

- काँच के तूफ़ान : शिवचन्द्र शर्मा, अभिज्ञान प्रकाशन, राँची
- नानी की कहानियाँ : रूपनारायण चतुर्वेदी, राजपाल ऐण्ड सन्ज़, दिल्ली

● उपन्यास

- न आने वाला कल : मोहन राकेश, राजपाल ऐण्ड सन्ज़, दिल्ली
- लालसा : मूल–स्काटफिट्जगेराल्ड अनु०–अज्ञेय ,, ,, ,,
- सारा आकाश : राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली
- चिड़िया घर : गिरिराज किशोर, ,, ,, ,,
- घुन लगी बस्तियाँ : जयवन्त दलवी अनु० विजय बापट, ,, ,, ,,
- आनन्द लता : मदन गौड़, त्रिमूर्ति प्रकाशन-बम्बई–१
- प्रसव वेदना (२ खण्ड) : आनन्द शंकर माधवन, अमरावती, मंदार विद्यापीठ, भागलपुर

● समालोचना

- अठारहवीं शताब्दी के ब्रज-भाषा काव्य में प्रेमा भक्ति : देवीशंकर अवस्थी, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली
- केशव का आचार्यत्व : विजय पाल सिंह, राजपाल ऐण्ड सन्ज़, दिल्ली

● विविध

- महान् प्रेमी और उन की प्रेमिकाएँ : इलाचन्द्र जोशी, राजपाल ऐण्ड सन्ज़, दिल्ली
- परिवार चिकित्सा : युद्धवीर सिंह, ,, ,, ,,

प्रतिक्रियाएँ : पत्रांश

दिसम्बर १९६८ का अंक सामने है। विवेकी राय का लेख 'नयी कहानी में एकरस आधुनिकता और नगर-बोध' को ज्ञानोदय में किस प्रकार स्थान मिला बात समझ में नहीं आती। सारा लेख छात्रीय—अध्यापकीय दृष्टि से किसी भी विधा में कुछ ओढ़े हुए तत्त्वों को खोजने की कवायद भर है। पता नहीं हिन्दी आलोचना और निबन्ध कब इस जाल से मुक्त होंगे ? हिन्दी के तत्त्ववादी इतनी-सी बात क्यों नहीं समझ पाते कि पश्चिम से हम जो कुछ अपने बड़े शहरों में आयात कर रहे हैं भारतीय गाँव उस की ओर बड़ी शीघ्रता से दौड़ रहा है। यदि हम पश्चिम से प्रभावित हैं तो गाँव भी हम से प्रभावित हैं। कहानी पर इस का प्रभाव पड़ना क्या स्वाभाविक व वास्तविक नहीं है ? क्या विवेकी राय यह चाहते हैं कि प्रथम लेखक गाँव में जाये, वहाँ के जीवन को ओढ़े और फिर कहानियाँ लिखे ? तब वे सब कहानियाँ क्या कृत्रिम नहीं होंगी ? जिन कहानियों को प्रस्तुत लेख में चुना गया है वह क्या इसी लिए नहीं कि उन में गाँव की भी चर्चा है जब कि अधिकांश कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से समकालीन कहानी की टक्कर की नहीं हैं या नितान्त कमज़ोर हैं। उन्हों ने किस आधार पर इन कहानियों को चर्चित मान लिया ? क्या इस आधार पर कि वे प्रमुख पत्रिकाओं में छपीं और इस लिए लोगों ने पढ़ी होंगी ? इस प्रकार के लेखों का किसी भी प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका में स्थान पाने का सब से अधिक दुष्प्रभाव यह होता है कि अच्छी कहानियों से लोगों का ध्यान हट जाता है और किसी स्वस्थ दृष्टिकोण के विकास में बाधा पड़ती है। मूलरूप से वर्तमान कहानियों में लेखक का उपदेश व प्रतिक्रियाएँ इस प्रकार हैं; चाहूँगा कि साहित्य संसार इन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करे—

१. "सिंचाई-सुविधाओं और विकसित बीजों तथा नवीन कृषि-अनुसन्धानों ने जो क्रान्तिकारी विचार-परिवर्तन गाँवों में कर दिये हैं उस की ओर लोगों का अब ध्यान
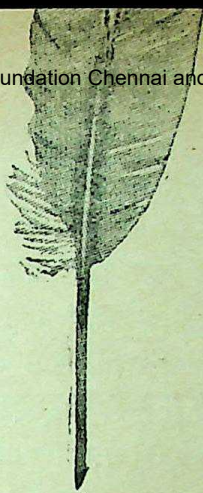
जाना चाहिए" —लेखक-वर्ग ध्यान रखे वरना उसे हिन्दी साहित्य के इतिहास से निकाल दिया जायेगा।

२. "हिन्दी में तो अब आधुनिक पीढ़ी के ग्राम कथाकार भी नगरबोध ही प्रस्तुत करने में संलग्न दीख रहे हैं।" नगरबोध की अभिव्यक्ति देने वाले कवि सावधान रहें।
३. मुद्राराक्षस की कहानी में फूहड़पन कम नहीं है।
४. नयी कहानियों में फ़ॉरमूले ही फ़ॉरमूले हैं।
५. अहं केन्द्रित कथाकार असली बीहड़ समस्याओं से कतराया हुआ है।

मैं चाहूँगा कि भारतीय लेखक-वर्ग इस बात पर एक व्यवस्थित चर्चा प्रारम्भ करे कि साहित्यिक दृष्टिकोण से कौन रचना चर्चनीय मानी जानी चाहिए। क्यों कि अनेक रचनाएँ कलात्मक दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी इस लिए स्थान-स्थान पर उद्धृत होती रहती हैं क्यों कि उन में कुछ फिकरे ओढ़े हुए मिल जाते हैं जब कि वे रचनाएँ न प्रतिनिधि होती हैं न विचारणीय।

नयी दिल्ली]

—राधाकृष्ण

●

'ज्ञानोदय' के दिसम्बर, ६८ के अंक में। 'अफ़साना लिख रही हूँ'—जैकलीन का स्पष्टीकरण पुष्पधन्वा-द्वारा प्रस्तुत, पढ़ा। स्पष्टीकरण के ये शब्द" "मैं नाचना चाहती थी, गाना चाहती थी और अमरीका ने मुझे वैधव्य के काले कपड़े पहना कर तपस्या के ऊँचे मंच पर बैठाना चाहा। देवों और दानवों के युद्ध में पहले इस देश ने मेरे पति जॉन की आहुति ली और फिर मेरे

देवर कोवी की। मेरा क्या कसूर कि मेरे धीरज का बाँध टूट गया और मैं इस तपस्या की निरर्थकता से घबरा कर, अपने 'निज' की रक्षा करने, पंख फैला कर उड़ गयी" एक वास्तविकता की काव्यमय व्याख्या करते हैं। नारी सम्मान एवं सुरक्षा चाहती है एवं बरबस लुटना पसन्द नहीं करती है। उसे ऐसे पुरुष का आश्रय चाहिए जो उसे सम्मान और स्नेह के साथ-साथ दृढ़ सुरक्षा दे सके और हर कोई व्यक्ति उसे उस की इच्छा के विरुद्ध ताक न पाये। स्त्री केवल सुन्दर एवं तन्दुरुस्त पति को ही नहीं चाहती अपितु इन गुणों के साथ उसे एक Stern husband चाहिए। यदि एक चिड़िया पंख फैला कर उड़ कर अपनी सुरक्षार्थ किसी ऊँचे नीड़ में पहुँच जाये तो इस में हँसने की कोई बात ही नहीं है क्यों कि प्रकृति ने पंख उसे अपनी सुरक्षा के लिए दिये हैं। हाँ दुःख दरिन्दों को तो होना ही चाहिए क्यों कि वे उसे निगलना चाहते थे।

जैकलीन का पग ग़लत नहीं है। एक नारी वैधव्य के अभिशाप में अभिशप्त रहे—लोग उस का तमाशा देखें—उसे भोगने की इच्छा करें—पथ से डिगाने के प्रलोभन दें--ऐसी दशा में यही उचित है कि वह खुलेआम किसी एक अपनी पसन्द के पुरुष का आश्रय एवं प्रेम स्वीकार कर ले--एवं अपना जीवनयापन करे।

जैकलीन का भावी जीवन सुखी हो, ऐसी मेरी कामना है।

--वीरनारायण शर्मा

सिरोंज (म० प्र०)]

●

'ज्ञानोदय' का नवम्बर '६८ का अंक मिला। 'ज्ञानोदय' जब भी आता है तब कुछ न कुछ नवीनता अपने साथ अवश्य लाता है। इस अंक की कविताओं में महाकवि जी० शंकर कुरुप की 'अनाघ्राता' शीर्षक से प्रकाशित २३ छोटी कविताओं में से 'यदि दबा दो........मधुर मूर्छना खा कर' और 'कौन हो तुम........मुझे याद करती हो ?', अमृता भारती की पहली कविता 'कैसा यह काल........लपेट लिया है' (वसन्त भूमिका), दिनकर सोनवलकर की 'त्रिशुंक', 'टाँगजीवी', 'विराम चिन्हों की वार्त्ता', और 'वर चाहिए : हिन्दी के लिए', और तूव दितलेव्सन की 'वे दरवाज़े' काफ़ी पसन्द आयीं।

कहानियाँ सभी अच्छी थीं। लेकिन उन में रमेश उपाध्याय की 'हत्यारे' और मणि मधुकर की 'गिरती हुई बर्फ़' जो देखने में छोटी थी पर काफ़ी गम्भीर थी। अच्छी लगी।

'मिलिए सुमित्रानन्दन पन्त से' सार्थक इण्टरव्यू है। पन्त जी का यह उत्तर आश्चर्यजनक लगा कि "छायावाद को + + + + केवल '३६ तक रोक देना ठीक नहीं। छायावाद

कलादृष्टि तथा भावदर्शन का विकास तो इस के आगे प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता के रूप में विभिन्न स्तरों में पाया जाता है।"

'साहित्यार्चन' के अन्तर्गत, 'आज' दैनिक में अरसे तक प्रकाशित डायरियों को थोड़े परिवर्तन के साथ जोड़-बटोर कर प्रगतिशीलता के बिल्ले के साथ प्रस्तुत विवेकी राय की कथाकृति (?) 'बबूल' को डॉ० महेन्द्र भटनागर ने उचित ही 'बोझिल', 'प्रवाह एवं रोचकता के अभाव से ग्रस्त' 'प्रभावशून्य' एवं 'सतही' कहा है। ऐसी दो-टूक समीक्षाएँ देख कर प्रसन्नता होती है। डॉ० विजय शंकर मल्ल की समीक्षा पूरी तो नहीं; पर कुछ हद तक सन्तोषजनक थी। इतनी व्यस्तता में अपनी सर्वांगपूर्णता एवं स्तरीयता के साथ 'ज्ञानोदय' को प्रकाशित करने के लिए आप को हार्दिक बधाई।

ग़ाज़ीपुर]

—जैनेन्द्र प्रकाश

●

'ज्ञानोदय' का नवम्बर अंक ! श्री महेन्द्र भटनागर की 'बबूल' पर समीक्षा देख कर दंग रह गया। 'बबूल' मैं ने भी पढ़ा है। इतनी 'मर्मभेदी' और अनूठी कृतियाँ हिन्दी-साहित्य में बहुत कम हैं। जीवन के प्रति प्रतिबद्धता और गहन-गम्भीर दृष्टिकोण 'बबूल' में काँटे के समान बेधता है और दूर तक सोचने को बाध्य करता है। ऐसी विशिष्ट कृति को 'प्रभाव-शून्य' कहना सत्य की निर्मम हत्या करना है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आलोचक ने 'बबूल' को पढ़ा ही नहीं है। केवल फ़्लैप की समीक्षा दी है। अर्थहीन।

बलिया]

—लक्ष्मणप्रसाद मिश्र

●

नवम्बर अंक में 'ब्रिटेन की साहित्यिक पत्रिकाएँ' लेख पढ़ कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। 'ज्ञानोदय' का यह एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण प्रयास है। हिन्दीतर भारतीय भाषाओं को भी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की गतिविधि से भी आप परिचित करायें तो बहुत अच्छा हो।

जालना, औरंगाबाद

—अुगम कुमार कोरेचा

●

'ज्ञानोदय', नवम्बर १९६८, के अंक में 'हृदयेश' की कहानी 'एक मरी हुई चिड़िया' कई अर्थों में एक जानदार कृति है। कहानी का प्रभाव, सम्पूर्णता में, वातावरण से छन-छन कर आता हुआ, पाठक को अभिभूत कर लेता है। मात्र इसी कहानी के बल पर हम 'हृदयेश' को

कहानीकारों में 'वातावरण का शिल्पी' कह सकते हैं। वस्तुतः कथाकारों के शिल्प-भेद कई स्तर के हैं। शील-शिल्प, कथ्य-शिल्प, कथोपकथन-शिल्प। कोई-कोई कथाकार, सम्पूर्णता से कथा का कल्पन-शिल्पन करता है। मगर 'वातावरण' को शिल्पगत सौष्ठव तथा अर्थवत्ता देना 'हृदयेश' को ही आता है। 'एक मरी हुई चिड़िया' वातावरण के स्पष्ट अभिव्यंजन में ही सफल हुई है।

प्रमोद सिनहा ने पन्तजी के साथ अपनी भेंट को 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित कर पन्त-साहित्य के पाठकों के कई प्रश्नों को हल कर दिया है। सच तो यह है कि पन्तजी ने अपने साहित्य को जितना समझा-बूझा शायद उन के आलोचक उन से कहीं कम ही रहे। बहुत अधिक इस लिए भी पन्तजी को अपनी ही रचना के साथ परिदर्शन (रश्मिबन्ध), विज्ञापन (पल्लव) आदि कुछ अपनी ओर से लिखने पड़े। ऐसा कर, पन्तजी ने पाठकों के लिए निस्सन्देह अपने साहित्य को सरल, बोधगम्य बना दिया। मुझे प्रसन्नता है कि प्रमोद सिनहा ने कुछ ऐसे सवाल उठाये, जो सहज ही कई बार कइयों के मन में उठते हैं। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के कथन को सन्दर्भित करते हुए 'लोकायतन' से सम्बन्धित जो प्रश्न किया है वह 'लोकायतन' को स्पष्ट करने के लिए अच्छा सवाल है। नयी कविता के बारे में जो सवाल है, यह भी वांछनीय है।

पुस्तक-समीक्षा-स्तम्भ भी स्तरीय है। सुधी समीक्षक विजयशंकर मल्ल ने 'कितनी नावों में कितनी बार' के व्यष्टि सीमित जीवनदर्शन को समष्टि व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है। रचनाकार के साथ समीक्षक का यह ऐक्य रागपूर्ण है।

—सुन्दर

मुज़फ़्फ़रपुर]

●

अक्तूबर १९६८ के 'ज्ञानोदय' में श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल, बावल (गुड़गांवा), हरियाणा के आलोचनात्मक विचार पढ़े। कुछ आश्वस्त हुआ, क्योंकि भारतीय ध्वन्यात्मक लिपि 'भारती'-जैसे नीरस तथा दुरूह लेख की ओर अग्रवाल जी ने दृष्टिपात तो किया। अग्रवाल जी के प्रश्नों का उत्तर देना मैं यहाँ इस लिए आवश्यक समझता हूँ कि उन-जैसे अनेक पाठक इस विषय की गहराई में न जा कर भ्रम में पड़ सकते हैं। मैं ने अपने निवेदन ('ज्ञानोदय' अगस्त १९६८) में पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि "विज्ञ पाठकों से निवेदन है...रचनात्मक सुझाओं से प्रोत्साहित करें।" निवेदन के शब्दों को अग्रवालजी ने यदि ध्यान से पढ़ा होता और लिपि-सम्बन्धी सिद्धान्तों (३–७) को समझने का प्रयास किया होता तो वे 'क्या चा

हैं ?', 'एक स्वीकृत लिपि को नकारने के प्रयास', 'झुठलाने के सिवा और क्या है ?' आदि न लिखते ।

मैं वही चाहता हूँ जो श्री लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, श्री रमेशचन्द्र दत्त, न्यायमूर्ति श्री शारदाचरण मित्र, ब० विनायक दामोदर सावरकर, राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी, श्रीमती अम्बु जम्माल, श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि ऊँची चोटी के राजनीतिज्ञ, समाज-सेवी तथा भाषाविद् चाहते थे, चाहते हैं—अर्थात् सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक सर्वसम्मत, भाषाशास्त्र की कसौटी पर खरी उतरने वाली वैज्ञानिक लिपि का प्रयोग । यदि आलोचक महोदय देवनागरी या परिवर्धित देवनागरी को ही पूर्ण वैज्ञानिक लिपि समझने की धारणा बनाये बैठे हैं तो उन की आलोचना विषय का अधूरा ज्ञान ही प्रकट करती है । किसी भी प्रयास को मात्र 'बुद्धि-विलास', या 'निरर्थक' कह देना अति सरल है किन्तु उस प्रयास को सर्वांगीण बनाने के लिए रचनात्मक सुझाव दे सकना विषय का गहन अध्ययन, चिन्तन तथा मनन किये बिना सम्भव नहीं है । अतः 'ज्ञानोदय' के पाठकों से पुनः निवेदन है कि ध्वन्यात्मक लिपि 'भारती' लेख पर अपने सुझाव प्रेषित करने से पूर्व 'भारतीय लिपि समस्या', 'एक लिपि विस्तार आन्दोलन—आवश्यकता, प्रयास तथा सुधार', 'देवनागरी की कमियाँ', आदि विषयों पर भी दृष्टिपात करने का कष्ट करें । साथ ही अहिन्दी-भाषी श्री गुणाकर मुळे का लेख 'राष्ट्रलिपि का प्रश्न—उलझा हुआ सुलझे कैसे' (मुक्तधारा १९ अक्तूबर १९६८) तथा उस के उत्तर में मेरा लेख 'राष्ट्रलिपि—उलझे प्रश्न का एक सुलझाव' (मुक्तधारा, १६ नवम्बर १९६८) भी पढ़ने का कष्ट करें ।

कोल्लम् (केरल)] —डॉ० लक्ष्मीनारायण शर्मा 'नीरव'

●

'ज्ञानोदय' का अक्तूबर अंक पढ़ा । सर्वश्रेष्ठ लेख 'आज की कविता : दूरी का सवाल' लगा । निबन्ध के माध्यम से श्रीकान्त वर्मा जी ने जो बातें उठायी हैं, वे निश्चयात्मक रूपेण महत्त्वपूर्ण और सत्य हैं । बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से बहुत सही स्थिति में इस लेख में उन्हों ने तथ्य को पकड़ा है ।

आज का हिन्दी का एम० ए० निश्चयात्मक रूप से समसामयिक कविता के विषय में कुछ नहीं जानता । मुक्तिबोध और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की तो बात ही अलग, बहुत-से हिन्दी के एम० ए० 'अज्ञेय' को भी कवि रूप में नहीं जानते । छायावादी कवियों के बाद अधिक से अधिक 'दिनकर' को कवि रूप में जानते हैं । कविता ही क्यों; कहानी, आलोचना और उपन्यास के क्षेत्र में भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है । कहानीकार के रूप में आज के

हिन्दी के 'एम० ए०' प्रेमचन्द तक के कहानीकारों को जानते हैं। बहुत आगे बढ़े तो जैनेन्द्र और यशपाल तक आकर रुक जाते हैं। निर्मल वर्मा, कमलेश्वर और दूधनाथ सिंह तो कहानीकार हैं ही नहीं क्योंकि 'कहानी' उन की कहानियों में नहीं है। उसी तरह मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय और शमशेर बहादुर सिंह आदि को कविरूप में गणना करना बेकार है क्योंकि उन की कविता में रस, अलंकार, छन्द आदि का सम्यक् निर्वाह नहीं हुआ है।

समसामयिक कविता को दुर्बोध मान कर उस के प्रति उपेक्षा का भाव क्यों? स्पष्ट है। आधुनिक जीवन की जटिलता को हम हिन्दी के एम० ए० नहीं समझते हैं। समसामयिक कवि हर क्षण एक 'नो मैन्स लैण्ड' से गुज़रता है। कवि हमेशा कुछ-न-कुछ अस्वीकृत करता जाता है और नये की तलाश करता है। आज का कवि क्षण-विशेष में 'हीरो' होता है और क्षण-विशेष में 'विलेन'। उपस्थिति में उस की संगति नहीं है और अनुपस्थिति उस के सामने साफ़ नहीं है। कलाकार की सब से बड़ी चुनौती यही बोध है। इस को समझे बिना समसामयिक कविता दुरूह अवश्य लगेगी। आज की कविता जटिल है क्योंकि जीवन जटिल हो गया है।

अब प्रश्न उठता है—समसामयिक साहित्य के प्रति इतनी उपेक्षा क्यों? इस का ज़िम्मेदार कौन? क्या हम हिन्दी के एम० ए० ज़िम्मेदार हैं। मेरा उत्तर नकारात्मक होगा। ज़िम्मेदार हैं हमारे वरीय अधिकारी जो 'सिलेबस' बनाते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी के सामने रोज़ी और रोटी की समस्या रहती है। समसामयिक साहित्य पढ़ने से रोज़ी-रोटी की समस्या हल नहीं होगी क्योंकि वह 'सिलेबस' में नहीं है। आज हम हिन्दी के एम० ए० 'दिनकर' तक के कवि को ही कविरूप में जानते हैं क्योंकि पाठ्यक्रम में 'दिनकर' तक के कवि को ही पढ़ना है (मुक्तिबोध तक के कवि को नहीं)। उपन्यास के रूप में हमें 'गोदान' की गतिविधि तक ही पढ़ना है, 'अमृत और विष' की गतिविधि नहीं। कहानी के रूप में हमें 'क़फ़न' और 'दृष्टि-दोष' तक ही पढ़ना है, 'परिन्दे', 'तलाश', 'रीछ' नहीं।

श्रीकान्त वर्मा ने जो तथ्य सामने रखा है वह सत्य है। इस के लिए वे हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

मुज़फ़्फ़रपुर]

—नथुनी सिंह

हुआ। डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने अस्वस्थता के कारण गत वर्ष प्रवर परिषद् की अध्यक्षता से अवकाश ग्रहण किया है। प्रथम दो पुरस्कारों के सन्दर्भ में सारी योजना को व्यवहार में ला कर निर्णयों को सर्व-सम्मत रूप देने की पद्धति प्रवर परिषद् ने उन के नेतृत्व में निश्चित की। डॉ० सम्पूर्णानन्द जी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करें, यह हम सब की मंगल-कामना है। मैं इस योजना के प्रारम्भ काल से ही इस से सम्बद्ध हूँ। इस लिए मैं जानता हूँ कि यह काम कितना गम्भीर और कठिन है। भारतीय ज्ञानपीठ के ट्रस्टी-गण और प्रवर-परिषद् के सहयोगी बन्धुओं ने प्रवर-परिषद् की अध्यक्षता का दायित्व मुझे सौंपा है। आप सब के सहयोग के बल पर ही मैं ने इसे स्वीकारा है। इस सम्मान के लिए मैं आभारी हूँ।

महाकवि श्री जी० शंकर कुरुप और मूर्धन्य उपन्यासकार श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय को हम समारोह-मंच पर सम्मानित कर चुके हैं। विगत दो समारोहों ने देश की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को अवश्य ही प्रभावित किया है। अब यह समारोह देश की मूलभूत एकता का प्रतीक माना जाने लगा है। यह हम सब के लिए गौरव की बात है। आज तीसरे पुरस्कार समारोह के अवसर पर जब हम भारत के दो श्रेष्ठ कवियों को एक साथ अपने बीच पाते हैं तो निश्चय ही यह संयोग हमें दुगना आनन्दित कर रहा है।

पुरस्कृत कृति 'श्री रामायण दर्शनम्' की रचना कर के कवि कुवेंपु ने जो ख्याति अर्जित की है वह इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्हों ने सारे देश में सुपरिचित एवं वाल्मीकि, पम्प, कम्बन, तुलसीदास आदि द्वारा उपलब्ध काव्य-मानदण्डों को प्रत्यक्ष देखते हुए भी नयी कल्पना और नयी युगानुकूल दृष्टि से प्रभावित हो कर, सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ, राम-कथा की काव्य-रचना की। यह उन की प्रतिभा और काव्य-सामर्थ्य का ज्वलन्त प्रमाण है।

भारतीय कविता ने जिस बहुमुखी राष्ट्रीय चेतना को वाणी दी और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का नया बोध पा कर मनुष्य के त्रास को व्यक्त किया उस का श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व श्री उमाशंकर जोशी ने अपने काव्य में किया है। पुरस्कृत काव्यकृति 'निशीथ' श्री उमाशंकर की काव्य-प्रतिभा की प्रतिनिधि है।

चिन्तन और कविता के क्षेत्र में ही नहीं, इन दोनों कवि-व्यक्तित्वों ने जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी अपनी कर्मठता की छाप अंकित की है—विशेषकर शिक्षा के क्षेत्र में। आप दोनों महानुभाव विश्वविद्यालयों के उपकुलपति के रूप में अनुभवी हैं। मुझे विश्वास है आप जैसे दृष्टिसम्पन्न, व्यवहार कुशल, शिक्षा-शास्त्री और संवेदनशील कवि

शिक्षा-क्षेत्र की वर्तमान समस्याओं के वास्तविक हल की खोज में सहायक होंगे। साहित्य का दायित्व और प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों को समाहित करता है। साहित्य जीवन-निर्माण का साधक है और जीवन के श्रेष्ठ चिन्तन एवं सृजनशील स्पन्दन का वाहक है।"

अध्यक्षीय भाषण के पश्चात् मैसूर विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० वी० के० गोकाक और आचार्य श्री काका कालेलकर ने पुरस्कार-विजेता दोनों साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का आत्मीय परिचय दिया। डॉ० गोकाक ने जहाँ कन्नड़ साहित्य के सन्दर्भ में महाकवि कुवेंपु के विशिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तित्व तथा उन के अवदान को उजागर किया; वहीं आचार्य काका कालेलकर ने उमाशंकर जी की काव्य-उपलब्धियों को रेखांकित करते हुए आदर्श और यथार्थ के बीच अद्भुत रूप से सन्तुलित मानवीय चेतना के अन्तर्द्वन्द्वों को सशक्त अभिव्यक्ति देती उन की काव्य-साधना से परिचित कराया।

तदनन्तर भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने समादृत दोनों कवियों को दी जाने वाली ताम्रपट पर कलात्मक ढंग से उत्कीर्णित प्रशस्तियों का वाचन किया। तत्पश्चात् अध्यक्ष डॉ० बे० गोपाल रेड्डी ने महाकवि कुवेंपु तथा श्री उमाशंकर जोशी को तिलक लगाते हुए वाग्देवी की कांस्य प्रतिमा, प्रशस्ति-पत्र तथा पुरस्कार-राशि के चेक समर्पित किये। और यह होते ही उल्लास और अभिनन्दन के भाव से सारा का सारा परिवेश एक बार पुनः गुंजरित हो उठा।

और इन्हीं करतलध्वनियों के बीच भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित दोनों पुरस्कृत कृतियों—'श्री रामायण दर्शनम्' और 'निशीथ'—के हिन्दी अनुवादों का ग्रन्थ-विमोचन सम्पन्न हुआ। प्रकाशित कृतियों की प्रतियाँ दोनों महाकवियों को भेंट देते हुए भारत के प्रधान न्यायाधीश श्री एम० हिदायतुल्ला ने उन के प्रति अपनी भावांजलि अर्पित की। उन्हों ने कहा कि "आज सारा देश इन दो महान् साहित्यकारों का अभिनन्दन कर रहा है। इन्हों ने अपनी साहित्य-साधना का जो अवदान दिया है, निस्सन्देह वह अनुपम उपलब्धि है। और अब वह उपलब्धि इन दो पुस्तकों के रूप में आप के सम्मुख भी प्रस्तुत है। इन पुस्तकों में हिन्दी अनुवाद के साथ ही सामने के पृष्ठों में मूल कन्नड़ और गुजराती कविताओं को देवनागरी लिपि में देने से मूल और अनुवाद दोनों का आनन्द एक साथ मिलता है।" श्री हिदायतुल्ला जी ने भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा किये जा रहे साहित्य के विशिष्ट ग्रन्थों के प्रकाशन तथा उन्हें सर्व-सुलभ कराने के प्रयास की सराहना की।

ग्रन्थ-विमोचन के बाद महाकवि डॉ० कु० वें० पुट्टप्प अभिभाषण के लिए पधारे। महाकवि ने अपना भाषण कन्नड़ में दिया, जिसका हिन्दी और अँगरेज़ी रूपान्तरण विज्ञान-भवन में संयोजित व्यवस्था के अनुसार साथ-साथ प्रसारित हो रहा था।

सामरस्य, समन्वय, सहानुभूति और सर्वोदय की भावनाओं को प्रचारित करना साहित्य का लक्षण है।

भारतीय ज्ञानपीठ के प्रति धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए महाकवि ने कहा : "स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त भारतीय संविधान ने जिस प्रकार अपनी राजनैतिक शक्तिबाहुओं से भारतवर्ष की भौगोलिक समग्रता एवं एकता को बनाये रखा है उसी प्रकार यह भारतीय ज्ञानपीठ देशभाषा रूपी अपनी पंचदश प्रेम बाहुओं से भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता को साधने के लिए प्रतिश्रुत तपस्वी के रूप में उदित हुआ है। अखिल भारतीय समग्रता और एकता राजनैतिक दृष्टि से भले ही अर्वाचीन हो, लेकिन धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से परम प्राचीन है। वेद, उपनिषद् और दर्शन आदि से परिपुष्ट वह एकता अत्यन्त विच्छिद्रकारक राजनैतिक परिस्थितियों में भी अक्षुण्ण रूप में सुरक्षित थी, वाल्मीकि, व्यास आदि ऋषि कवियों की तथा रामायण, महाभारत जैसी दिव्य रचनाओं की शिल्प महिमा से। इस दृष्टि से देखें तो भारतवर्ष की अखण्ड समग्रता एवं एकता को अनन्तकाल से बनाये रखने वाली नित्यशक्ति सिद्ध हुई है साहित्यशक्ति। आविर्भूत उस साहित्य शक्तिदेवी की अविच्छिन्न आराधना के द्वारा उस को सदैव जाग्रत रखने वाली अग्निवेदिका बनी है, यह भारतीय ज्ञानपीठ!

बाँसुरी के जैसे अनेक छेद होते हैं वैसे ही भारती की अनेक जिह्वाएँ भी होती हैं। पीपी बजाने वाले बालक के लिए बाँसुरी के ये छेद मुसीबत पैदा कर देते हैं; लेकिन वेणुवादनपटु या मुरली बजाने में कुशल संगीतज्ञ के लिए उन छेदों की अनेकता ही वह आवश्यक साधन बनती है जिस के सहारे स्वर मेल के माधुर्य को साधने में वह सफल हो जाता है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भाषावार प्रान्तों की जो रचना हुई वह कई अरोचिभीरुओं को अच्छा नहीं लगा है। कुछ तो घबरा बैठे हैं। उन को यह डर है कि स्वभाषा प्रेम के अतिरेक के फलस्वरूप प्रायः उद्भूत होने वाली अनेकता कहीं उस स्वतन्त्रता को ही धक्का न पहुँचाये जिस की प्राप्ति के लिए हम ने एड़ी-चोटी का पसीना एक किया है। ज्ञानपीठ का यह समारोह ऐसों के उस भय का मूलोच्छेदन करता है। ज्ञानपीठ की इस विशाल वेदिका में सभी भारतीय भाषाएँ अपना स्नेहहस्त पसार रही हैं; पारिवारिक स्वरूप के आपसी भेदों को भूल कर, एकता की आरती उतारते हुए भारतमाता की पूजा कर रही हैं। प्रथमतः जो गौरव केरल देवी को प्राप्त हुआ और पिछले साल बंगदेवी को वही गौरव आज संयुक्त रूप में कर्नाटक और सौराष्ट्र देवियों को प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार आगामी वर्षों में एक के बाद एक अन्य भाषा देवियों को भी यह गौरव प्राप्त होगा, इस में कोई सन्देह नहीं है।

राज्य की दृष्टि से मैं कर्नाटक का हूँ, भाषा की दृष्टि से कन्नडिग हूं; लेकिन संस्कृति और राष्ट्र की दृष्टि से मैं भारतीय हूँ। मेरा कर्नाटकत्व भारतीयत्व से कभी द्वेष नहीं रख सकता। अविरोध रूप में भारतीयत्व की सेवा करने में ही कर्नाटकत्व अपने अस्तित्व की रक्षा कर पाता है। भारती माँ है और कर्नाटक उस की पुत्री है। भारत को हानि पहुँचे तो कर्नाटक जिन्दा नहीं रह सकता। पुत्री कर्नाटक का बुरा होता है तो भारतमाता उस को सहन नहीं करेगी। आपसी हित-रक्षा में सब की हित-रक्षा निहित है। यह कथन निरा भ्रम है कि भाषावार प्रान्तों की रचना से भारत की समग्रता को धक्का पहुँचता है। इन भाषावार प्रान्तों के अस्तित्व को मिटा कर भविष्य को साधने की बात सोचने वाले राष्ट्रक्षेम को धक्का पहुँचाने वाले देशद्रोही सिद्ध होंगे, इस मे कोई सन्देह नहीं है। सच्चा साहित्य ऐक्यकारी होता है। सामरस्य, समन्वय, सहानुभूति और सर्वोदय की भावनाओं को प्रचारित करना दैवी साहित्य का लक्षण है। असूया, द्वेष, स्वार्थता, निष्करुणा और निरनुकम्पा जैसे भावों को उत्तेजित करने वाला साहित्य आसुरी साहित्य बन जाता है। अतः वह दमन योग्य बन जाता है।

इस वर्ष की ज्ञानपीठ प्रशस्ति यद्यपि वैयक्तिक रूप से मेरे और मेरे मित्र के नाम प्रदत्त प्रकट की गयी है, फिर भी वह कन्नड़ और गुजराती के समस्त कवि, समस्त साहित्यिक बन्धु और समस्त लेखकों के समष्टिसत्त्व पर सजाया हुआ किरीट है। मैं और मेरे मित्र उमाशंकर जोशी जी कन्नड़ और गुजराती भाषाओं के विनम्र प्रतिनिधियों की हैसियत से, अपनी-अपनी भाषाओं को प्राप्त गौरव के प्रति गर्व का अनुभव करते हुए, सिर उठाने के लिए ही सिर झुका कर इस प्रशस्ति को स्वीकार कर रहे हैं। ऐसा कहना कि अमुक समय के अन्दर प्रकाशित साहित्य कृतियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली कृति को यह प्रशस्ति दी जाती है, व्यावहारिक रूप में और अनिवार्यतया अनुसरण किया जाने वाला एक विधान मात्र है, केवल कहलाने वाला निरपेक्ष सत्य नहीं है। चुनी हुई कई कृतियों में किसी एक कृति को सर्वश्रेष्ठ घोषित करना कितना मुश्किल काम है और कितना विवादास्पद विचार है, यह बात तो चोटी के सभी आलोचकों को मालूम है। अमुक दृष्टि से परिशीलन करने पर अमुक कृति सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हो सकती है। प्रशस्ति प्रदान के आवश्यक नियमों के अनुसार श्रेष्ठ समझी जाने वाली कृतियों में किसी एक कृति को 'सर्वश्रेष्ठ' घोषित करना ही पड़ता है। इस का अभिप्राय कदापि यह नहीं कि अन्य कृतियों की श्रेष्ठता में किसी प्रकार की कमी आ जाती है। कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा नहीं समझेगा कि उन की श्रेष्ठता की अवहेलना की गयी है।

कन्नड़ साहित्य का इतिहास दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती समय

दिगन्त में ओझल-सा हो जाता है। दसवीं शताब्दी में ही विश्व के किसी भी महाकाव्य से होड़ लेने योग्य महाकाव्यों की रचना कन्नड़ में हुई थी। वह वैभवपूर्ण दृश्य हमारे विस्मित नयनों के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इस बात के स्मरण मात्र से कि महाकवि शेक्सपियर के जन्म के छह सौ वर्षों के पहले ही महाकवि पम्प का जन्म हुआ था, आप को कन्नड़ साहित्य की श्रेष्ठता एवं गरिमाओं का थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य मिल जायेगा। पम्प ने ई० ९४१ में अपने महाकाव्य की रचना की तो शेक्सपियर ने अपनी प्रथम रचना प्रस्तुत की ई० १५९३ में। गदायुद्ध महाकाव्य के रचयिता अद्भुत कवि रन्न का समय दसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण ई० ९९३ है तो 'पेराडाइज़ लॉस्ट' महाकाव्य के रचयिता मिल्टन का समय है सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम चरण (ई० १६०८)। मेरा यह विश्वास है कि कन्नड़ की तरह हमारी अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी समृद्धि में, शक्ति सामर्थ्य में, विस्तार और वैविध्य में ऊँचे स्तर की हैं। मेरा यह विश्वास भावोल्लास मात्र का विषय नहीं है। ज्ञानपीठ इस का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है, अपने प्रकाशन एवं प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन कार्यों से। भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से अब तक प्रकाशित और आगामी प्रकाशन-ग्रन्थों की सूची किसी को भी दाँतों-तले उँगली दबाने पर मजबूर कर देती है।

इतनी प्राचीनता एवं साहित्य समृद्धि से युक्त हमारी देशभाषाएँ राजनैतिक एवं जनजीवन की अवनति के कारणों से धीरे-धीरे अधोगति को प्राप्त हुईं। भारतवर्ष में अँगरेज़ों का राज्य होने के बाद तो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न एवं नवजीवन के सत्त्व से पूर्ण तथा अधिकृत भाषा के पद पर विराजमान अँगरेज़ी भाषा के मुक़ाबले में देश-भाषाएँ अपनी कान्ति खो बैठीं, क्षीण पड़ गयीं और दास्यावस्था को भी प्राप्त हो गयीं। अपने ही लोगों से अवहेलना एवं तिरस्कार की पात्र बन बैठीं और काली कोठरी में घुटने लगीं। उस दुरन्त कथा से प्रत्येक साहित्यप्रेमी परिचित है। यह तो हमारा सौभाग्य है कि उस अँधेरे में भी दैवीकृपा के समान आशा की एक किरण चमक रही थी। धर्मप्रचार के लिए आये हुए उन विदेशियों में से कई ने हमारी देश-भाषाओं की प्राचीनता एवं महत्ता को परख लिया। तपस्या सदृश अपने अन्वेषक श्रम से नष्टप्राय प्राचीन ताडपत्रीय ग्रन्थों को अँधेरे कोटरों से बाहर निकाला, उन को प्रकाशित किया, उन का व्याकरण तैयार किया, कोशों की रचना की, उन को पूर्णतया नष्ट होने से बचा दिया।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पूर्व ही गान्धी-जी और अन्य देशीय एवं विदेशीय शिक्षणवेत्ताओं ने यह ढिंढोरा पीटा था कि शिक्षण माध्यम से ले कर अधिकृत भाषा तक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देशभाषाओं को प्रथम स्थान मिलना चाहिए। उन की यह

राय थी कि अन्य विदेशी भाषाओं के साथ अँगरेज़ी को भी शिक्षणक्रम में ऐच्छिक स्थान मिलना चाहिए। लेकिन स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद गान्धीजी के सीने में जो गोली दाग़ दी गयी वह मानो स्वतन्त्रता के पूर्व विद्यमान हमारे आदर्श, ध्येय सम्पन्न सीने में ही लग गयी। अँगरेज़ी को शिक्षण माध्यम के पद से हटा कर प्रादेशिक भाषाओं को वह पद प्रदान करने की बात तो दूर रही, अँगरेजी को अनिवार्य पद से उतार कर ऐच्छिक पद प्रदान करने के बदले उस के अनिवार्य पद को शाश्वत बनाये रखने का प्रयत्न हो रहा है। त्रिभाषा सूत्र के बहाने देश के अभ्युदय के लिए हानिकारक निर्णय को स्वीकृत कराने का प्रयत्न है। भारतीय ज्ञानपीठ की पवित्र वेदिका से वाग्देवी के श्रीचरणों में मेरी यह प्रार्थना है कि ऐसे चिरन्तन अपाय से वह हमारी रक्षा करे।

अँगरेज़ी भाषा-साहित्य की प्रेरणा के फलस्वरूप पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में हमारी देशभाषाएँ अर्जित हुई हैं। गत पूर्व संस्कृति के पुनरुज्जीवन के साथ-साथ नये विश्व के ज्ञान, विज्ञान और संस्कृति से उत्तेजित हो कर, सशक्त हो कर दिनों-दिन ये देश-भाषाएँ उन्नत हो रही हैं। कई भाषाओं में खासकर साहित्य-क्षेत्र में आल्प्स पर्वत की चोटियों को नीचा दिखाने वाली हिमालय की चोटियों की तरह ऐसी महोन्नति तक पहुँची हुई साहित्य-कृतियों की रचना हुई है जिन के साथ किसी भी पाश्चात्य राष्ट्र की रचना होड़ ले नहीं सकती। प्रायः मेरी यह उक्ति किसी-किसी को अतिशयोक्ति-सी प्रतीत हो सकती है। लेकिन इस उक्ति की सत्यता तभी ज्ञात होगी जब हमारी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों के अनुवाद के द्वारा आपसी परिचय बढ़ जाये। छोटे पैमाने पर ही सही, कई संस्थाओं के द्वारा आजकल यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। भारतीय ज्ञानपीठ भी उस लक्ष्य की ओर शीघ्रता के साथ अग्रसर हो रही है।

जहाँ तक मेरा परिज्ञान है, राष्ट्र की ओर से लादी जाने वाली सारी ज़िम्मेदारियों को निभाने योग्य बनी हैं हमारी प्रादेशिक भाषाएँ। इस में कोई सन्देह नहीं है कि उन्हें अभ्यास और प्रयोग के लिए अवसर दिया जाये तो थोड़े से समय में ही ये भाषाएँ विश्वविद्यालय के बोधनांग, संशोधनांग और प्रसारांग के सभी कार्यों को और भी अधिक सामर्थ्य के साथ सँभाल सकती हैं। क़रीब बीस-पच्चीस वर्षों से इस प्रकार के प्रयोग और अभ्यास में निमग्न और अब सफलता की ओर अग्रसर उस विश्वविद्यानिलय में विद्यार्थी, अध्यापक, प्राध्यापक प्रिन्सिपल और उपकुलपति की हैसियत से सक्रिय भाग लेने का सुअवसर मुझे मिला था। इसी लिए अधिकारपूर्ण वाणी से इस विचार को उद्घोषित कर रहा हूँ।

भगवद्गीता में कहा गया है कि 'ज्ञानं विज्ञानसहितम्; यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे

शुभात्।' उस समय जब कि पाश्चात्य राष्ट्र अभी अर्धबर्बरावस्था में थे तभी हमारा राष्ट्र ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अगुआ बन कर अपना क़दम बढ़ा रहा था। उस के उपरान्त मध्ययुग के राजकीय अनैक्य, आपसी झगड़े और धार्मिक अन्धश्रद्धा आदि से उद्भूत मूढ़ आचार-विचारों के कारण भारतवर्ष पिछड़ गया। धर्म के नाम पर जनता ने अन्धश्रद्धा को गद्दी के ऊपर बिठा दिया; वैराग्य का वेश प्रदान कर दिया; तपस्या के नाम से उसे अभिभूत कर दिया; इस के फलस्वरूप जीवन का स्रोत अवरुद्ध हुआ; वहीं जम कर सड़ने लगा। अँगरेज़ों के आगमन के पश्चात् पाश्चात्य नागरिकता के प्रभाव से हमारे यहाँ एक पुनरुत्थान हुआ, एक नवोदय का श्रीगणेश हुआ। राजनैतिक क्षेत्र में इस नवोदय ने स्वतन्त्रता के संग्राम का रूप धारण किया तो धार्मिक क्षेत्र में आन्दोलन का रूप ले लिया। इन दोनों आन्दोलनों ने जनता की जाग्रति साधी, जनता को प्रोत्साहन दिया, उन को नवचेतन दीप्त बना दिया, साहसपूर्ण कार्यों की ओर उन्हें अग्रसर किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि भारतवर्ष के अर्वाचीन इतिहास के, स्वातन्त्र्यपूर्व क़रीब एक शताब्दी के, जिस कालमान या अवधि को राजनैतिक क्षेत्र में दासता का, आर्थिक क्षेत्र में दरिद्रता का, सामाजिक क्षेत्र में विच्छिद्रता का और धार्मिक क्षेत्र में क्षुद्रता का युग करार दिया गया है, उस युग अवधि में हमारे देश में जो आत्मश्री दृग्गोचर हुई वैसी आत्मश्री विश्व के किसी अन्य भाग में देखने में नहीं आयी। राजा राममोहन राय, श्रीरामकृष्ण परमहंस, ऋषि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रमण महर्षि, श्री अरविन्द, महात्मा गान्धीजी—इन में से प्रत्येक नाम के पीछे किस प्रकार के विभूति-प्रमाण के भव्य तेज का स्फुरण होता है! यदि हम इस को ग्रहण करने में समर्थ होंगे तो उपरोक्त कथन की सत्यता स्वसंवेद्य होगी।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत के लिए रसास्वादनदायक सृजनात्मक साहित्य की रचना जितनी आवश्यक है, उतनी ही या उस से भी अधिक मात्रा में आवश्यक है ज्ञान-विज्ञान प्रधान विचारात्मक वाङ्मय की रचना। महान् प्रतिभाशक्ति से उद्भूत सृजनात्मक साहित्य के लिए पुरस्कार, प्रशस्ति, प्रशंसा आदि प्रोत्साहन न मिले तब भी वह तिरोहित नहीं हो जाता, उस के प्रकाशन को धक्का नहीं पहुँचता; क्योंकि उस के पीछे अदम्य स्फूर्ति की प्रेरणा संलग्न रहती है। लेकिन वैज्ञानिक एवं बौद्धिक स्वरूपी वैचारिक साहित्य के लिए अधिकृत प्रोत्साहन की आवश्यकता है। वह फलापेक्षी है; प्रयोजन की भी आशा रखता है; प्रयोजन ही उस का परम लक्ष्य है। लेकिन काव्य के लिए रस ही 'सकल प्रयोजन मौलीभूत' है। इस अर्थ में जैसे 'आल आर्ट इज़ यूज़लेस' कहते हैं, उसी प्रकार यों भी कहा जाता है कि 'आल साइन्स मस्ट बी यूज़फुल'—इस का अर्थ यही है

कि विज्ञान को लौकिक रूप में प्रत्यक्ष फलदायक बनना चाहिए। मैं यही चाहता हूँ कि जिस प्रकार ज्ञानपीठ की ओर सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहन मिल रहा है उसी प्रकार विश्वविद्यालयों की ओर से वचारिक, बौद्धिक और वैज्ञानिक साहित्य-सृष्टि के लिए भी प्रोत्साहन मिले।

ज्ञानपीठ की यह प्रशस्ति यद्यपि महान् कृतियों की सृष्टि कर नहीं पाती, फिर भी प्रतिभोद्भूत महान् कृतियों को बाहर खींच लाने में, बहुतों की दृष्टि को उस पर केन्द्रित कराने में तथा इस ओर अन्य भाषा-भाषी सहृदयों का लक्ष्य आकृष्ट करने में इस प्रशस्ति से महोपकार हो सकता है, इस में कोई सन्देह नहीं है। हमारे प्राचीन काव्यमीमांसकों ने काव्य-प्रयोजन के बारे में कहते समय यों कहा है : 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥'— यश, धन, लोक-व्यवहार का ज्ञान, शिवेतरक्षति, सद्यःपर आनन्द, और कान्ता-सम्मित उपदेश जैसे लौकिक प्रयोजनों का उल्लेख इस में पाया जाता है। वैयक्तिक प्रतिष्ठा को चाहने वाला और उस से सन्तुष्ट होने वाला कवि यश को भी मान्यता देता है। लेकिन यश के प्रति जिस की आसक्ति न हो और केवल आत्मसुख के लिए जो काव्य रचना करता हो, उस के लिए वह प्रधान लक्ष्य क्या, उपलक्ष्य भी नहीं बन सकता। लेकिन, जैसा कि अरविन्दजी ने एक संवाद में कहा है, यश का एक जनोपकारी प्रयोजन भी है। वह तो व्यक्ति की प्रतिष्ठा से सम्बन्धित प्रयोजन नहीं है। वह लोक-कल्याणकारी स्वरूप का प्रयोजन है। आध्यात्मिक क्षेत्र में हो या साहित्य आदि क्षेत्रों में हो, पत्ते की आड़ के फूल की भाँति किसी की दृष्टि में बिना पड़े रहने वाले उस महापुरुष और उस की महान् मेरुकृति को लोकलोचनगोचर बना कर लोगों का लक्ष्य उस ओर आकृष्ट करता है; उस विभूतिपुरुष से या उस मेरुकृति से मिलने वाले ज्ञान और आनन्द के पीयूषपान से जनता को धन्य बनने का अवसर प्रदान कर देता है।

मुझे ज्ञानपीठ की यह जो प्रशस्ति मिली है उस में प्रधान रूप से यश के प्रयोजन को पहचानता हूँ। प्राच्य, पाश्चात्य, प्राचीन, अर्वाचीन, सार्वकालिक और सार्वधार्मिक समष्टिरूप की युगप्रज्ञा के आविर्भाव के प्रतीक 'श्री रामायण दर्शनम्' महाकाव्य को व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि 'कुवेंपु विरचित' कहा जाता है, फिर भी पारमार्थिक दृष्टि से 'श्री रामायण दर्शनम्' ने ही कुवेंपु को सर्जाया है। यह है युगचेतना की समष्टि प्रज्ञा की सृष्टि। यह है श्री रामायण का अत्यन्त आधुनिक अवतार। समन्वय, सर्वोदय और पूर्णदृष्टि–ये हैं 'श्री रामायण दर्शनम्' के त्रिनेत्र।

अंजलिबद्ध हो कर ऐसी प्रार्थना करता हूँ कि समन्वय, सर्वोदय और पूर्णदृष्टि की उस त्रिवेणी में पुण्यस्नान कर के, वहाँ पर अभिव्यक्त प्राचीनता सारपूर्ण उस

नवोनव आत्मविज्ञान प्रज्ञा के अग्नितीर्थ में डुबकियाँ ले कर परिशुद्ध हो कर और उसी से आत्मसात् हो कर बुद्धिपुष्टि और भावपुष्टि प्राप्त करने वाले भारतीयों का समष्टिचेतन अपने तम से मुक्त हो कर 'दीप्यदैवी प्रज्ञा के अमृत गोपुर की ऊँचाई को प्राप्त करे' !"

महाकवि कुवेंपु के अभिभाषण के उपरान्त श्री उमाशंकर जोशी ने अपना भाषण प्रारम्भ किया। श्री उमाशंकर जी क्रमशः तीन भाषाओं—गुजराती, हिन्दी, अँगरेज़ी—में बोले। अवश्य ही उन का भाषण संक्षेप में किन्तु अत्यन्त प्रभावक था; और साथ ही उन की वाणी उन के मोहक और सौम्य व्यक्तित्व को भी सम्यक् रूप से प्रतिमूर्तित कर रही थी।

शब्द ही वह तत्त्व है जिस के द्वारा कवि अस्तित्वमय है।

भारतीय ज्ञानपीठ के प्रति आभार व्यक्त करते हुए श्री उमाशंकर जोशी ने कहा : "ज्ञानपीठ ने मेरी कविता-पुस्तक 'निशीथ' को कन्नड़ के महान् कवि, मेरे मित्र, डॉ० कु० वें० पुट्टप्प की कृति 'श्री रामायण दर्शनम्' के साथ इस वर्ष के साहित्य-पुरस्कार के लिए चुना। मुझे लगता है कि यह उन प्रवृत्तियों में से एक है जो हमारी जनता की चेतना के गहरे अन्तस्तल में पड़ी हुई सजीव इकाई के अधिक पूर्णतर बोध में योगदान दें।

ये कविताएँ उस समय लिखी गयी थीं जब मेरी आयु अब से आधी थी और मैं बम्बई-जैसे विशाल, आधुनिक महानगर में पहले तो एक विद्यार्थी के रूप में और फिर एक गृहस्थ के रूप में पाँव धरने-भर की भूमि पाने की जी-तोड़ कोशिश कर रहा था। ग्रन्थ शीर्षक कविता 'निशीथ' की प्रथम पंक्तियाँ, मुझे अच्छी तरह याद हैं, एक पत्र की खाली छूटी जगह में मैं ने लिखी थीं, जो पत्र मुझे कवि मेघानी से प्राप्त हुआ था। उस समय मैं एक उपनगरीय ट्रेन से देर रात में घर लौट रहा था। ऊपरी ढंग से तो 'मध्य रात्रि की आत्मा' के प्रति निवेदित, इस उद्गान का छन्द वैदिक प्रार्थना की लय-सा है किन्तु उस इलेक्ट्रिक ट्रेन की अनवरत छकाछक चाल की लय इस कविता के गठन में कुछ आ बैठी है। 'आत्मा के खण्डहर' शीर्षक कविता के सत्रह सॉनेटों में से तेरह सॉनेट मैं ने तीन दिन में लिख लिये थे जब मैं एक अण्डर ग्रेजुएट विद्यार्थी के तौर पर भारतीय बैंकिंग के अध्ययन में तल्लीन था। यह वही समय था जब मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा, प्रेम और मृत्यु, जीवन के इन दो अनुभवों का—या मैं इन्हें एक ही कहूँ ?—क्योंकि कवि-दृष्टि के समक्ष ये दोनों एक ही रूप में प्रकट होते हैं। तब असहयोग

आन्दोलन के चार वर्षों के उपरान्त में अध्ययनार्थ लौटा था और यद्यपि गान्धीजी ने जेल अपनाने के लिए प्रेरित किया था और हम ब्रिटिश सरकार की मेहमानवाजी का लाभ ले रहे थे, हम प्रारम्भिक तीसवें दशक के तरुण समाजवादी विचारों से प्रभावित हो कर जेलों से बाहर आये थे। फिर भी, हम पर गान्धीजी का प्रभाव ही सर्वाधिक छाया था। इसी जीवन-उमंग ने हम में से कइयों को परिचालित किया जिन्हों ने सन् तीस के आसपास लिखना शुरू किया।

यह हुआ कैसे कि मैं, उत्तरपूर्व गुजरात के एक गाँव का युवक, 'अग्निशिखा के से मुकुल-सा' 'शब्द' से मोहित हो गया। इस प्रश्न को मैं ने अनेक बार अपने से पूछा है, किन्तु आज भी मुझे उत्तर की प्रतीक्षा है। मुझे जिस बात का पूर्ण निश्चय है वह यह है कि कवि के रूप में विकास पाने का अर्थ है बृहत्तर और बृहत्तर सामाजिक परिवेश से अपने-आप को सम्पृक्त करना। 'शब्द' के प्रति मेरे आकर्षण का कारण क्या यह था कि मेरे माता-पिता और गाँव के मेरे आसपास के आदमी अपनी जिह्वा पर 'शब्द' के स्वाद के रसिया थे?—कम से कम मुझे तो उन सब के बारे में ऐसा ही लगता था। इस से पहले कि मुझे इस स्थिति का बोध हो, 'शब्द' मुझे वहाँ ले गया जहाँ मानव-जीवन का कितना-कुछ अभिव्यक्ति के लिए आतुर रहता है, इस ने वस्तुओं और प्राणियों के साथ मेरी गहरी परिचिति स्थापित कर दी। 'शब्द' वह कुंजी थी जिस की सहायता से सब कुछ मेरे सामने अपने को खोला करता था। अन्ततः यह 'शब्द' ही था जिस ने अतीत में जो भी सार्थक था उसे मेरे लिए सजीव वर्त्तमान बना दिया, और अदृष्ट भविष्य की सागर-यात्रा के पथ को अंकित कर दिया, और मुझे निजी अन्तरंगता की ऋद्धि से मण्डित कर दिया।

कविता शब्द-निर्मिति है और सृजनात्मक शब्द के माध्यम से किसी कवि-आत्मा के गहरे स्पन्दन पाठकों की चेतनता में आनन्द का रूप ले कर अनूदित हो जाते हैं, या कहें कि स्वयं पाठकों का चिदानन्द हो जाते हैं। कवि तो एक तीर्थयात्री है, शब्द जिस का पथप्रदर्शक है। नहीं, इस से कहीं अधिक है वह। शब्द ही वह तत्त्व है, जिस के द्वारा ही, कवि अस्तित्वमय है। और, फिर वह कभी इस अनुभूति तक पहुँचता है जहाँ शब्द और कर्म का अन्तर कम होता-होता दोनों एक छोर के बिन्दु पर मिलते हैं। शब्द स्वयं ही कर्म हो जाता है! ऋग्वेद का समास-पद 'कवि-क्रतु' मुझे बहुत रुचता है। कवि वह है जो उस पार देखता है, जो उस अपर-पारीय परिदशा का गान करता है। क्रतु ही कर्त्ता है, अर्थात् कर्मठ व्यक्ति। इस अर्थ में कवि क्रतु है गायक-कर्त्ता—वह जिस का कर्म ही गान है। कल रवीन्द्रनाथ ऐसे थे। आज ओक्टावियो पाज़ ऐसे हैं।

समसामयिक समाज का यन्त्र-प्रविधि-आश्रित ढांचा प्रेम की लघु लहरों को

सुखाता जा रहा है। भीड़-भरे नगरों में मनुष्य अपने को अकेला अनुभव करता है। वह अन्दर के एकान्त से वंचित हो गया है—शान्ति का वह केन्द्र जहाँ स्थित रह कर वह मानव की तरह व्यवहार कर सके। आज कविता का यह कर्त्तव्य है, जिस सीमा तक कि पहले कभी नहीं हुआ था, कि वह सम्बन्धों के अन्तरावलम्बन के तानेबाने को प्रकाश की परिधि में लाये और अपनी अन्तर्दृष्टि तथा अन्तर्प्रेरणा के आधार पर उस अपूर्व सामंजस्य की इंगिति दे जो मानव और अ-मानव, शरीर और अ-शरीर, जीवन की अपरिहार्य दारुण निर्दयता और सततवाही प्रेम के बीच है। यह कविता का ही कार्य है कि वह नरक से स्वर्ग तक का मार्ग जो आत्मशोध की मंज़िल से गुज़रता है, संसार को दर्शाये।

आज के संसार में भारतीय कवि की निर्मिति का आधारभूत तत्त्व क्या है? निश्चय ही यह, कि सारे विश्व की चिन्ता का और यातना का भी वह सहयोगी हो, इस से कम कुछ नहीं। और, यह एक विचित्र अन्तर्विरोध-सा है कि वह जितना ही अधिक विश्व-प्रवण होगा उतना ही अधिक वह भारतीय भी होगा, जैसा कि टैगोर के उदाहरण से स्पष्ट है। मानव-भाग्य पर दृष्टि केन्द्रित करवाने वाला काव्य-नाटक अवश्य कवियों को आकृष्ट करेगा। आज यदि कोई महाकाव्य लिखा जाये तो सम्भावना यह है कि वह किसी राष्ट्रीय या किसी संस्कृति-विशेष की गाथा न कह कर एक विश्व-इकाई पर, तथा आज की समग्र मानव-स्थिति पर दृष्टि केन्द्रित करेगा। कविता तो घटित हो जाती है। कविताएँ अनवरत कुछ बनने के बीहड़ विस्तार में स्थित होने के लघुद्वीप हैं। कविता चरितार्थता है। कवि अपनी कविता को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है सदा नयी वस्तु की खोज में। एक नये ताज़े आरम्भ के लिए। प्रत्येक कविता के साथ, उस का कवि रूप में पुनर्जन्म होता है। प्रत्येक कविता के सृजन के साथ उसे आत्मिक परिपक्वता प्राप्त होती चली जाती है।''

अन्त में 'निशीथ' काव्य-संग्रह में सम्मिलित सत्रह सॉनेटों की माला 'आत्मा के खण्डहर' के संगीत-नृत्य रूपक तथा 'श्री रामायण दर्शनम्' पर आधारित नृत्य-नाटिका प्रस्तुत होने के पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक श्री शान्तिप्रसाद जैन ने सभी के प्रति अपना विनम्र हार्दिक आभार ज्ञापित करते हुए कहा कि आज के समारोह में अभिनन्दित इन दो महान् कवियों ने समूचे भारतीय साहित्य को गौरव प्रदान किया है।

—और तब प्रारम्भ हुआ श्री उमाशंकर जोशी के सत्रह सॉनेटों की माला 'आत्मा के खण्डहर' का संगीत-नृत्य रूपक। 'आत्मा के खण्डहर' एक शृंखलित इकाई

है जिस में कवि ने एक ऐसे युवक की शोक-करुण अनुभूति को वाणी दी है जो विश्व-विजय की साध ले कर विश्वमंच पर आता है किन्तु अन्ततः वह उस के खण्डहर देखने को बाध्य होता है। स्वयं कवि के शब्दों में—विश्वशान्ति के स्थान पर यहां व्यक्ति की अशान्ति शायद विषय-वस्तु बनती है। बुलन्द अभीप्सा जिये जाते विविधरंगी जीवन के स्पर्श से पहलदार बनती है और यथार्थ—निरा यथार्थ, केवल यथार्थ के स्वागत में परिणत होती है। विश्वशान्ति और वैयक्तिक अशान्ति विरोधी वस्तुएँ नहीं रह जातीं। दोनों यथार्थ के सेतु से जुड़ जाती हैं। सॉनेट माला के अन्त भाग में एक प्रकार के संशयवाद, निराशावाद, शून्यवाद, स्वप्न-आदर्श-भावना विषयक पराजयवाद तथा और आगे चल कर पाश्चात्य साहित्य-द्वारा दिखाये गये निस्सारवाद, अस्तित्व-वाद के इंगित हैं; किन्तु परिणामस्वरूप उभर आती है एक प्रकार की कोई आध्यात्मिक अनुभूति। व्यक्ति दबता, झेलता, सीझता, मँज कर बाहर आता है यथार्थ का स्वागत करते, उसे अपनाते हुए। मुक्त हृदय से, मुक्त चित्त से यथार्थ का निःशेष स्वीकार भी स्वतः एक आध्यात्मिक विजय की भूमिका है। और कवि इसी 'यथार्थ के निःशेष स्वीकार' की विराट् विषय-भूमि को श्रीमती शान्ता गान्धी के निर्देशन में प्रस्तुत किया—प्रसिद्ध नाटच-संस्था 'दिशान्तर' ने। अत्यन्त सहज और अनौपचारिक ढंग से नितान्त नये शैली-शिल्प-द्वारा संयोजित मंचसज्जा के साथ 'आत्मा के खण्डहर' नृत्य-रूपक का प्रस्तुतीकरण निस्सन्देह कवि की जीवन्त अभिव्यक्ति को प्रतिमूर्त कर रहा था।

नृत्य रूपक के बाद महाकवि कुवेंपु के महाकाव्य 'श्री रामायण दर्शनम्' पर आधारित नृत्य-नाटिका का मोहक प्रस्तुतीकरण [illegible]राणिक दीपदान के साथ आरम्भ हुआ। यह दीपशिखा भी प्रतीकित कर रही थी धुर अतीत को—त्रेता को!" कथकली और कत्थक की मिश्रित नृत्य-शैली में श्रीमती माया राव (भारतीय नाट्य संघ) ने अपने कुशल नि[illegible] महाकवि पुट्टप्प की रामकथा सम्बन्धी नयी मौलिक व्याख्याओं को [illegible] प्रखर अभिव्यक्ति दी। नाटिका के समाप्त होते ही भारतीय साहित्य-[illegible] का इस विशिष्ट समारोह का समापन हुआ—एक सुखद परितोष के साथ।
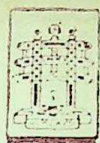
भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित राष्ट्र के सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार द्वारा सम्मानित

दो कृतियाँ

• ओटक्कुषल

महाकवि जी. शंकर कुरुप

'ओटक्कुषल' अर्थात् 'बाँसुरी' : सन् १९२१ से १९५८ तक रचित महाकवि की ५८ विशेष मर्मस्पर्शी कविताओं का संग्रह। मूल मलयालम देवनागरी लिपि में तथा नारायण पिल्लै और लक्ष्मीचन्द्र जैन द्वारा हिन्दी अनुवाद। कवि की विशेष भूमिका सहित प्रथम भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार द्वारा सम्मानित भारतीय साहित्य की एक अनुपम कृति। मूल्य ८.००

• गणदेवता

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय

संसार के महान् उपन्यासों में गणनीय, जिसे भारतीय भाषाओं के लगभग एक सौ प्रतिष्ठित समीक्षक साहित्यकारों के सहयोग से सन् १९२५ से १९५९ के बीच प्रकाशित समग्र भारतीय साहित्य में 'सर्वश्रेष्ठ' के रूप में चुना गया है। जीवन-सत्य के अनुसन्धान की एक [illegible] जीवन-गाथा है—गणदेवता, अवि-स्मरणी[illegible] माध्यम से। मूल बंगला से हंसकुमार तिवारी द्वारा हिन्दी अनुवाद। द्वितीय भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार-द्वारा पुरस्कृत। मूल्य १६.००

सर्वथा पठनीय एवं संग्रहणीय

भारतीय ज्ञानपीठ
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग,
दिल्ली–६

वार्षिक शुल्क [illegible] : प्रति अंक १.५० : प्रस्तुत अंक १.५० ज्ञानोदय
विदेशों के लिए अतिरिक्त डाक टिकिट २४ पैसे जनवरी १९६९

अनुज्ञापत्र संख्यांक—५१ : बिना टिकिट लगाये प्रेषण करने के लिए अनुज्ञप्त । पंजीयित संख्यांक : ल—२०३६

GYANODAYA, January, 1969

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और
अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान
और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

[स्थापित १९४४ ई०]

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

विक्रय कार्यालय
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

भारतीय ज्ञानपीठ के लिए जगदीश अग्रवाल-द्वारा दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी—५ से
प्रकाशित तथा सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी—५ में मुद्रित ।

ज्ञानोदय

मई, १९६९

मूल्य : १.५०

ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध, कला-
संचेतना और नवीनता
का
प्रतिनिधि मासिक

सम्पादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
वर्ष १९ : अंक ११
मई १९६८

मूल्य :
वार्षिक १५.००
एक प्रति १.५०

सम्पादकीय कार्यालय :
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन एवं वितरण कार्यालय :
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

प्रतिक्रियाएँ-पत्रांश

■

'ज्ञानोदय' में प्रकाशित श्रीमती रजनी पनिकरका 'साहित्यमें स्वतन्त्र आजीविका अर्जक नां लेख पढ़ा। इस प्रकारके अच्छे लेख यदा-कदा ही पढ़नेको मिलते हैं। रजनीजीने नारी-समाज ही नहीं पूरे राष्ट्रकी एक ज्वलन्त समस्यापर इतनी निर्भीकतासे लेखनी उठायी है, इसके लि वह बधाईकी पात्र हैं।

सबसे पहला प्रश्न, जो उनका लेख पढ़कर मनमें उठता है, यह है कि पुरुष साहित्यकार नारीका यथार्थ चित्रण किया कब है जो वे अब करेंगे। आरम्भसे ही वे नारीको अपने खिलव की वस्तु समझते रहे हैं। उनके मनमें नारीके लिए जब जो बात आयी उसे ही उन्होंने साहि में लिख डाला। कभी भी उन्होंने यह सोचने या समझनेका कष्ट किया ही नहीं कि वे जो लि रहे हैं वह वास्तविकतासे कितनी दूर है। समाज, देश और स्वयं नारीपर उसका क्या प्र पड़ेगा, यह सोचनेकी भी उन्होंने चिन्ता नहीं की।

रीतिकालीन कवियोंको ही लें। उनकी कल्पना नारीके स्वकीया परकीया, आदि रूपमें उलझी रही। अपनी कल्पनाके बलपर उन्होंने उसे सिरसे पैर तक ऐसी अनूठी उपमाओंसे ल दिया कि वह नारी न रहकर एक अजायबघर बन गयी। उसके अंग-प्रत्यंगका वर्णन इतना ले-लेकर किया कि सात परदोंमें बन्द रहकर भी वह निरावरण हो गयी। अपनी लेखनीके चमत्कारमें वे इतने डूब गये कि उन्हें यह भी याद नहीं रहा कि उनकी माता, पत्नी, ब और बेटी भी नारियाँ हैं।

सम्भव है उस समयके शासकोंकी ज़ोर-ज़बरदस्तीसे बचनेके साथ-साथ इस दू मनोवृत्तिके विषको फैलनेसे रोकनेके लिए भी अबोध बालिकाओं तकको परदे और घूंघ छिपा दिया गया था। लेकिन मनमानी कल्पनाके बलपर साहित्य-सृजन करनेवाले महानु इतने पर भी नहीं चूके और नारीके सब रूपोंको भुलाकर उसके भोग्य रूपकी ही ऊलजल प्रतिमाएँ गढ़ते रहे। उस कालकी नारीकी घुटन, उसकी पीड़ा, कर्त्तव्यके लिए उसका त्या बलिदान कितने साहित्यकारोंने समझा ?

इस शतीके आरम्भमें कुछ महापुरुषोंने नारीकी कुचली हुई आत्मामें नया जीवन फूंकनेकी चेष्टा की। उनका प्रयास सफल भी हुआ और स्वतन्त्रता-संग्रामके दिनोंमें नारीने सदियों बाद खुली हवामें साँस ली। लेकिन लांछन उसे फिर भी कम नहीं सहने पड़े—क्या-क्या नहीं लिखा गया उसके लिए। हो सकता था वह घबराकर फिर घरकी चारदीवारीमें बन्द हो जाती, लेकिन महात्मा गान्धीकी ललकारने उसका हौसला बनाये रखा। लाख चीख-पुकार और लांछनोंके बाद भी वह फिर हवाके झोंकेमें उड़ा दी जानेवाली नायिका नहीं बन सकी।

और परदा घूंघट छोड़नेके बाद जब नारीने पुरुषोंकी भाँति शिक्षाके क्षेत्रमें क़दम रखा तब तो जैसे एक भूचाल ही आ गया। उन दिनोंके साहित्यमें नारीके विविध चित्रोंका स्मरण करके ही आज हँसी आती है। यह तो एक आम धारणा बना दी गयी थी कि पढ़-लिख कर नारियाँ चरित्रभ्रष्ट हो जाती हैं। उस समय शिक्षा प्राप्त करनेका उनका उद्देश्य ही यह बताया जाता था कि वे अपने प्रेमियोंसे पत्राचार कर सकें और अवसर मिलते ही कुलकी मर्यादाको तिलांजलि देकर उनके साथ भाग निकलें। जिन्हें ऐसा सुयोग नहीं मिल पाता था वे सास-ससुर-का अपमान करनेवाली बेहद फ़ैशनेबल, खर्चीली, घरके कामकाजमें फूहड़ और पतिको ग़ुलाम बनाकर रखनेवाली बतायी जाती थीं। नये-नये जोशमें साहित्यकारोंने ज़मीन-आसमान एक कर दिया लेकिन जब शिक्षाका प्रचार और प्रसार बढ़ता ही रहा और उनकी कल्पनाके विपरीत पढ़-लिखकर भी नारियाँ सफल पत्नियाँ, कुशल-गृहिणियाँ और कुलशीला बनी रहीं तब उनकी लेखनी कुण्ठित हो गयी।

लेकिन परिवर्तन जगत्‌का नियम है। यहाँ सदा कुछ-न-कुछ नया घटता ही रहता है। नारी भी इसी जगत्‌का प्राणी है और यह नियम उसपर भी लागू होना ही है। पढ़-लिखकर नारीका क्षेत्र घर तक सीमित न रह सका। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उथल-पुथलने उसे हर क्षेत्रमें पुरुषके बराबर ला कर खड़ा कर दिया। यदि इस बाहरी क्षेत्रमें वह असफल रहती, मुँहकी खा कर वापस घरमें जा दुबकती तो शायद हमें इतना कुछ पढ़नेको न मिलता लेकिन हर क्षेत्रमें उसने अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी और किसी-किसी क्षेत्रमें तो वह पुरुषसे बहुत आगे निकल गयी। घर और बाहरके दायित्वोंकी दोधारी तलवारपर वह सफलता-पूर्वक चल रही है इससे अधिक बौखला देनेवाली बात और क्या हो सकती है। इसी बौखला-हटमें साहित्यकारोंने अब 'स्वतन्त्र आजीविका अर्जक नारी' के विषयमें अपनी लेखनीको दुगुनी रफ़्तारसे चलाना शुरू कर दिया है। नारीकी क्षमता और साहसकी ओरसे आँखें मूँदकर उसका असम्भव और अकल्पनीय ही नहीं अशोभन चित्र प्रस्तुत करना ही उनका धर्म बन गया है। इस प्रकार वे अपने समाज अथवा राष्ट्रकी कितनी बड़ी सेवा कर रहे हैं, इसकी चिन्ता न उन्होंने पहले की है न अब करेंगे। इक्का-दुक्का उदाहरणोंको लेकर राईका पर्वत बना देना इनके बायें नहीं तो दायें हाथका खेल तो है ही। इस प्रकार यथार्थके नामपर निपट

भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा प्रवर्तित
राष्ट्रभारती ग्रन्थमालाके
अन्तर्गत
मराठीके विशिष्ट रचनाकार
पु० शि० रेगे
की
तीन बहुचर्चित कथाकृतियों—
[मनू • सावित्री • अवलोकिता]
के हिन्दी रूपान्तर

मराठी
३

तीन सहेलियाँ

पुरुषोत्तम शिवराम रेगे

मूल्य ३.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

कलकत्ता : : वाराणसी

विक्रय-केन्द्र :
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, दिल्ली-६

अयथार्थका चित्रण करनेसे किसीकी भावनाओंको कितनी ठेस लगेगी, देशकी प्रगतिमें कितनी बाधा पड़ेगी या विदेशोंमें हमारी महिलाओंके प्रति कैसी धारणाएँ बनेंगी, इस दायित्वसे वे अपनेको मुक्त समझते हैं।

आश्चर्य और दुःख तब होता है जब लेखिकाएँ भी यथार्थ चित्रणके लिए पुरुष साहित्यकारोंके पदचिह्नों पर ही चलती दिखाई पड़ती हैं। वे स्वयं अपने परिवार और समाजमें स्वतन्त्र आजीविका अर्जक नारीकी स्थितिको खूब अच्छी तरह जानते हुए भी अपनी लेखनीको हवाके रुखकी ओर बह जाने दे रही हैं। हो सकता है इसका उद्देश्य साहित्यके क्षेत्रमें पीछे न रहकर पुरुषोंके समकक्ष अपना स्थान बना लेना-मात्र हो। लेकिन नारीने यदि धोखा खाया है तो तभी जब अपनी मर्यादा, अपनी संस्कृति और अपना दायित्व भूलकर उसने पुरुषोंका अनुकरण किया है।

पुरुष साहित्यकारोंसे नारीके यथार्थ चित्रणकी या उसकी गरिमाका ध्यान रखकर लेखनी उठानेकी आशा करना दुराशामात्र है। लेकिन महिला साहित्यकारोंको इस प्रकृतिके प्रति सचेत करना हम अपना कर्तव्य समझती हैं। पुरुषकी तो सदासे ही नारीको एक कामिनीके रूपमें देखनेकी प्रवृत्ति रही है। परिस्थितियोंसे संघर्ष करनेकी उसकी शक्ति और साहसकी ओरसे सदा ही उन्होंने अपनी आँखें बन्द रखी हैं। लेकिन क्या नारी भी आज नारीके रूपको विकृत करके देखना ही पसन्द करेगी? क्या उसकी लेखनी भी आज नारीकी लज्जा और मर्यादाका चीरहरण करनेमें ही अपनेको धन्य मानेगी?

नयी दिल्ली]

[शान्ति भटनागर

■

रजनी पनिकरके लेखके बारेमें कहना चाहूँगा कि यह कहना ग़लत होगा कि हिन्दी कहानीमें केवल वर्किंग वुमैनका ग़लत चित्रण हो रहा है। यह हिन्दी कहानीके एक अंगके समूचे पात्रोंकी समस्या है। यथार्थ, भोगे हुए यथार्थ या नंगे यथार्थके नारोंकी ओटमें ये काल्पनिक चरित्र पाठकोंके सामने लाये जाते हैं जिनके दर्शन पाठकोंको इस साहित्यके बाहर अपने आसपास कहीं नहीं होते। इस बारेमें पहले भी लिखा जा चुका है (जैसे धर्मवीर भारती-द्वारा 'सारिका'में तथा कमलेश्वर-द्वारा 'धर्मयुग'में)। यथार्थके नामपर ये फ़ैण्टेसीज़ बहुत अधिक संख्यामें लिखी जा रही हैं और पढ़ी भी। लेखके अन्तिम भागके प्रश्न 'आखिर विवशता किस बातकी?' का उत्तर भले ही स्पष्ट न हो किन्तु वस्तुस्थिति यही है कि अधिकांशतः 'वर्किंग वुमैन' नौकरी किसी विवशतामें ही करती हैं स्वेच्छासे नहीं और उनके ऊपर परिवारकी जिम्मेदारियाँ भी होती हैं।

बम्बई]

[रामप्रकाश वर्मा

अभी और कुछ • • • • •

• • • • • • शकुन्त माथुर

शकुन्त माथुरकी कविताएँ एक ऐसे अन्तरंग संसारको उद्घाटित करती हैं जो जितना सहज है उतना ही अछूता भी है। शकुन्तजी वस्तुओं और अनुभूतियोंको उनके वास्तविक अर्थमें ग्रहण करती हैं, उनपर किसी प्रकारका रंजन नहीं करतीं। यही कारण है कि उनकी सीधी अमिश्र दृष्टि जीवनमें आसपास बिखरे अनगिन पक्षोंके सूक्ष्मतम स्पर्शोंको ठीक वैसे ही व्यक्त कर सकी है। हर रचना जैसे आनन्द और सन्तापकी कोरी, अलूनी छवियोंका एक तिलिस्म उद्घाटित करती है।

'अभी और कुछ' में जीवनकी आसक्तिका आधुनिक बोधके साथ अपूर्व संयोजन हुआ है; और इसीलिए यह संग्रह अधुनातन कविताका मनोहारी चरण भी सिद्ध होगा।

मूल्य ३.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

कलकत्ता : : वाराणसी

विक्रय-केन्द्र : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

■

'ज्ञानोदय'का अप्रैल अंक प्राप्त हुआ। रचनाओंके चयनमें आपका अपना एक विशिष्ट स्तर है—लगता है, ज्ञानोदय स्कूलकी रचनाएँ पढ़ रहा हूँ।

मैं भाई रामदरश मिश्रसे पूर्णतया सहमत हूँ। पत्र-पत्रिकाओंसे रचना-स्वीकृतिकी सूचना मिलनेमें कभी-कभी अप्रत्याशित विलम्ब हो जाता है और वैसी स्थितिमें एक रचनाका दो पत्रोंमें प्रकाशित हो जाना केवल एक दुर्घटना है। इसके लिए रचनाकारको और विशेषतः श्री रामदरश मिश्रकी स्थितिके कविको उत्तरदायी ठहराकर उन्हें 'पारिश्रमिक बुभुक्षु' की उपाधि दे बैठना अनुचित ही नहीं, अनैतिक भी है।

प्रस्तुत अंकमें सत्यनारायण श्रीवास्तवका ''मिलिए डॉ० हरिवंश राय 'बच्चन'से'' संस्मरण और इण्टरव्यूका एक अत्यन्त ही रोचक मिश्रणके रूपमें प्रस्तुत किया गया है। सत्यनारायण-जीने अपने प्रश्नोंके द्वारा बच्चनजी की साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक मान्यताओंको उनके ही मुखसे उद्घाटित करा लेनेका सराहनीय प्रयास किया है और एक हद तक वे सफल भी रहे हैं। किन्तु, बच्चनजी बचना भी जानते हैं—यह भी स्पष्ट है। शायद उनकी उम्र और उनके अनुभवकी चेतावनी किसी कण्ट्रोवर्सीमें पड़नेसे उन्हें रोकती है। शम्भूप्रसाद श्रीवास्तवकी कविता···'रंगरेजिन फागुनकी शाम···'—जैसे अछूते प्रयोगके कारण, मणि मधुकरकी कविता अपने तीखे किन्तु संयत व्यंग्यके कारण काफ़ी अच्छी लगीं। स्नेहमयी चौधरी-द्वारा किया गया गैब्रेला मिस्ट्रालकी कविताओंका अनुवाद काफ़ी चुस्त बन पड़ा है और मौलिक रचनाका-सा आनन्द देता है। माया गुप्तकी कहानी 'अर्धविराम' राष्ट्रीय अन्न-संकटकी पृष्ठभूमिमें मध्यवर्गीय परिवारकी एक महिलाके मानसिक तनावका सुस्पष्ट और सजीव चित्र खींचती है।

मुज़फ़्फ़रपुर]

[सुरेशचन्द्र सुमन

■

'ज्ञानोदय' का अप्रैल अंक। कुबेरनाथ रायका लेख 'तृषा, तृषा! अमृत-तृषा' कई प्रकारसे बहुत अच्छा बन गया है, खूब। गैब्रेला मिस्ट्रालकी छह कविताएँ, अनुवाद अच्छा हुआ है। भीमसेन त्यागीकी कहानी 'ज्ञानोदय'के क़ाबिल नहीं थी।

महेन्द्र राजा जैनका 'स्क्रूटिनी' का परिचय काफ़ी जानकारी देता है।

मुख-पृष्ठ सबसे अधिक अच्छा लगा।

इलाहाबाद]

[सतीश जमाली

■ ■

ज्ञानोदय

वर्ष १९ : अंक ११

मई १९६८

इतिहास का भूकम्प

श्रद्धांजलियाँ

कविताएँ

● कहानियाँ

● आत्मकथ्य

● साक्षात्कार

● अध्ययन

● शिल्पगत

● मनोविज्ञान

● हास्य-व्यंग्य

● सामयिक सन्दर्भ

● हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी

● प्रतिक्रियाएं : पत्रांश

मेरा स्वप्न

मार्टिन लूथर किंग

पृष्ठभूमि : यह वह अविस्मरणीय भाषण है जिसे डॉ० मार्टिन लूथर किंगने २८ अगस्त, १९६३ को वाशिंगटनमें लिंकन मिमोरियलके मैदानमें होनेवाली ऐतिहासिक जन-सभामें दिया था। यह सभा वाशिंगटन-मार्चके नामसे याद किये जानेवाले मीलों लम्बे जुलूसकी परिसमाप्तिपर नियोजित की गयी थी जिसमें अमरीकामें बसनेवाले कई लाख नीग्रो सारे देशके विभिन्न भागोंसे आकर सम्मिलित हुए थे। इस प्रदर्शनका मुख्य उद्देश्य था उद्दण्ड, जाति-मद-अभिभूत, कुसंस्कारी गौरांगोंको नीग्रो जातिकी नवोदित आत्म-सम्मानकी भावना और संघ-शक्तिके अप्रतिहत पौरुषसे परिचित कराना और इस प्रकार अमरीकामें बसनेवाले नीग्रो नागरिकोंके अधिकार-वंचित, उपेक्षित, अपमानित और त्रस्त जीवनके प्रति जागरित प्रचण्ड विद्रोह-भावनाको व्यक्त करना। इस अभियानकी विशेषता यह थी कि मार्टिन लूथर किंगने महात्मा गान्धीसे प्रभावित होकर अहिंसाके सिद्धान्त और सत्याग्रहकी भावना-पद्धतिके अनुरूप इस अभियानका संचालन किया था। अमरीकाके इतिहासमें यह एक अभूतपूर्व दृश्य था। मार्टिन किंगके बलिदानी जीवनकी स्मृतिमें श्रद्धाञ्जलि स्वरूप हम उनके विश्व-विश्रुत भाषणका हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं—

मुझे प्रसन्नता है कि मैं आज आपके बीच एक ऐसे अवसरपर सम्मिलित हूं जो इतिहासमें अविस्मरणीय रहेगा और जिसे हमारे राष्ट्रके इतिहासमें आज़ादीका महानतम प्रदर्शन माना जायेगा।

वर्षोंकी पाँच-बीसियाँ बीतीं जब एक महान् अमरीकीने, जिसकी प्रतीक छायामें आज हम यहाँ खड़े हुए हैं, मानव-मुक्तिके घोषणा-पत्रपर हस्ताक्षर किये थे। यह महान् न्याय-निर्णय उन लाखों नीग्रो ग़ुलामोंके लिए आशाके प्रकाश-स्तम्भकी ज्योतिकी भाँति आया जो अन्यायकी अग्निशिखाओंमें झुलस चुके थे। यह अवसर उनके बन्धनोंकी लम्बी रात्रिका अन्त करनेके लिए एक उल्लासमय प्रभातके रूपमें अवतरित हुआ था।

लेकिन आज सौ वर्ष बाद भी नीग्रो आज़ाद नहीं हैं। सौ वर्ष बाद भी नीग्रोका जीवन पार्थक्यकी बेड़ियों और भेदभावकी साँकलोंसे बुरी तरह जकड़ा हुआ है। सौ वर्ष बाद नीग्रो आर्थिक सम्पन्नताके विशाल सागरके बीच दारिद्र्य-के एकान्त टापूपर रह रहा है। सौ वर्ष बाद नीग्रो अमरीकी समाजके कोनोंमें पड़ा छीज रहा है। इसलिए आज हम यहाँ आये हैं कि इस शर्मनाक स्थितिका नाटकीय सम्प्रेषण प्रस्तुत करें।

एक अर्थमें, हम अपने राष्ट्रकी राजधानीमें अपना चैक भुनाने आये हैं। जब हमारे गणराज्यके स्थपतियोंने संविधानके और स्वतन्त्रताके घोषणापत्रके उदात्त शब्दोंको अंकित किया उस समय वह एक ऐसी हुण्डीपर हस्ताक्षर कर रहे थे जो प्रत्येक अमरीकनको विरासतमें प्राप्त होनेवाली थी। यह हुण्डी इस बातका वायदा थी कि सारे मनुष्योंके लिए, जी हाँ, काले मनुष्यों और उसी प्रकार गोरे मनुष्योंके लिए, जीवनके, आज़ादीके और सुख-प्राप्तिके प्रयत्नोंके अखण्ड अधिकार सुरक्षित हैं। आज यह स्पष्ट है कि अमरीका अपनी इस हुण्डीसे मुकर रहा है, जहाँतक उसके रंगवाले नागरिकोंका सम्बन्ध है! इस पवित्र दायित्वको पूरा करनेकी बजाय अमरीकाने नीग्रो लोगोंको एक रद्दी चैक दिया है, ऐसा चैक जो इस टिप्पणीके साथ वापिस आ गया है—"कोषमें पर्याप्त धन नहीं है"। लेकिन हम इस बातको माननेसे इनकार करते हैं कि न्यायका बैंक दिवा-लिया हो गया है। हम यह माननेसे इनकार करते हैं कि इस महान् राष्ट्रकी अवसर और साधनरूपी तिजोरियोंमें पर्याप्त कोष नहीं है। इसलिए हम उस हुण्डीको भुनाने आये हैं, जो दर्शनी हुण्डी है और जिसे दिखाते ही हमें आज़ादी-

की दौलत और न्यायका सरंक्षण मिलना ही चाहिए । हम इस पवित्र स्थलपर इसलिए आये हैं कि अमरीकाको बता दें कि यह मामला भयानक रूपसे तत्क्षण ध्यान देनेका है ।

अब समय नहीं रहा कि हम ठण्डे मिज़ाजकी विलासता अपनायें या क्रमिक प्राप्तिकी मस्तानी गोली खाकर पड़ जायें । अब समय आ गया है कि स्वाधीनताके वायदोंको यथार्थतामें परिणत किया जाये । अब समय आ गया है कि हम पृथक् विभाजनकी अँधेरी और सुनसान वादीसे निकलकर जातीय न्यायके सूर्योज्ज्वल मार्गपर आयें । अब समय आ गया है कि हम अपने राष्ट्रको जातिगत अन्यायकी धँसती हुई बालुका-भूमिसे उठाकर भ्रातृत्वकी ठोस शिलापर ला बैठायें । अब समय आ गया है कि हम भगवान्‌की समस्त सन्तानके बीच न्यायको यथार्थ और साकार बनायें ।

इस क्षणकी तात्कालिकताकी उपेक्षा करना राष्ट्रके लिए संघातक होगा। नीग्रो जातिके उचित विक्षोभकी यह झुलसती ग्रीष्म ॠतु तबतक समाप्त नहीं होगी जबतक स्वतन्त्रता और समानताकी प्राणदायिनी बहार प्रस्फुटित नहीं होती । सन् १९६३ कोई अन्त नहीं प्रत्युत् आरम्भ है । जो लोग यह आशा कर रहे हैं कि नीग्रोने अपनी भड़ांस निकाल ली और अब वह शान्तिसे बैठेगा, वह बहुत बुरे धक्केके साथ चेतेंगे, यदि राष्ट्र पुराने ढंगसे अपने कारबारमें पुनः जुट जाता है । अमरीकामें तबतक अमन और चैन नहीं आनेवाला है जबतक नीग्रोको अपने नागरिकताके अधिकार अखण्ड रूपसे प्राप्त नहीं हो जाते । विद्रोहका आँधी-तूफ़ान हमारे राष्ट्रकी आधारशिलाको तबतक झकझोरता रहेगा जबतक न्यायका प्रखर प्रकाशमय दिन उदित नहीं होता ।

लेकिन मुझे अपने जाति-भाइयोंसे भी कुछ कहना है—जो आज धूप-खिले उस द्वारपर खड़े हैं जो उन्हें न्यायके महल तक पहुँचायेगा । हम अपना उचित स्थान प्राप्त करनेके प्रयत्नोंमें कोई ग़लत काम करनेके अपराधी न बन बैठें । हम अपनी आज़ादीकी प्यास बुझानेके लिए कटुता और विद्वेषके प्यालेको होठोंसे न लगा बैठें । हम सदा अपने संघर्षको सम्मान और अनुशासनके ऊँचे स्तरपर संचालित करें । हम अपने सर्जनात्मक विरोधको हिंसात्मक काण्डोंकी पतित भूमिपर न उतार लायें । हम बार-बार गौरवपूर्ण ऊँचाइयों तक उठते जायें जहाँ शारीरिक शक्तिका प्रतिकार आत्माकी शक्ति-द्वारा होता है ।

जिस अद्भुत सैनिक शौर्यने नीग्रो जातिको आप्लावित किया है वह हमें सारी गोरी जातिके प्रति अविश्वासी न बना दे क्योंकि, जैसा कि आज यहाँ उनकी उपस्थितिसे प्रत्यक्ष है, हमारे बहुत-से गोरे भाइयोंको यह प्रतीति हो गयी है कि उनका भाग्य हमारे भाग्यके साथ बँधा हुआ है। उनका यह विश्वास है कि उनकी आज़ादी हमारी आज़ादीके साथ अविच्छिन्न रूपसे जुड़ी है। हम अकेले यात्रा नहीं कर सकते।

और, हम जैसे-जैसे चल रहे हैं, हम प्रतिज्ञा करें कि हम सदा आगे ही बढ़ते चले जायेंगे। हम वापस नहीं मुड़ सकते। कुछ लोग हैं जो नागरिक अधिकारोंके भक्तोंसे पूछते हैं : "आखिर तुम्हें सन्तोष कब होगा ?" हम तबतक कदापि सन्तुष्ट नहीं होंगे जबतक हमारे ये शरीर, जो यात्राकी थकानसे चूर हैं, राजमार्गके विश्रामगृहों और नगरोंके होटलोंमें ठहरने-रहनेका अधिकार प्राप्त नहीं कर लेते। हम तबतक कदापि सन्तुष्ट नहीं रह सकते जबतक नीग्रो-का मौलिक संचरण-अधिकार केवल एक छोटे घेट्टोंसे बड़े घेट्टों तक सीमित है। हम तबतक कदापि सन्तुष्ट नहीं रह सकते जबतक हमारे बच्चोंके शरीरपर-से उनके आत्मत्वका वसन उतार फेंका जा रहा है और उनका आत्म-सम्मान इस प्रकारके साइनबोर्डों-द्वारा अपहृत है—"केवल गोरोंके लिए।" हम तबतक सन्तुष्ट नहीं हो सकते जबतक मिस्सिस्सिपीमें रहनेवाला नीग्रो वोट नहीं दे सकता, जबतक न्यूयॉर्कमें रहनेवाला नीग्रो यह समझता है कि उसके लिए ऐसा कुछ नहीं है जिसकी प्राप्तिके लिए वह वोट दे। नहीं, नहीं, हम सन्तुष्ट नहीं हैं और हम सन्तुष्ट होंगे भी नहीं जबतक न्याय जलधाराकी तरह और पावन औचित्य एक महान् नदकी तरह घरघराता हुआ बहता नहीं चला आता।

मैं इस बातसे अचेत नहीं कि आपमें-से बहुत-से यहाँ अनेक परीक्षणों और गहरी चिन्ताओंका दुःख भोगकर आये हैं, आपमें-से बहुत-से जेलकी तंग कोठ-रियोंसे निकलकर आये हैं, आपमें-से बहुत-से ऐसे अंचलोंसे आये हैं जहाँ आज़ादी-की तलाशने आपको शासनके तूफ़ानी अत्याचारसे क्षत-विक्षत करवाया है, और पुलिसके निर्मम प्रहारोंकी आँधीने आपको लड़खड़ा दिया है। आप लोग सर्जना-त्मक दुःखको भोगनेवाले अगुवा सेनानी हैं। आप लोग इस आस्थासे कार्य करते रहें कि अनपेक्षित और अन-उपार्जित दुःखभोग मुक्तिदायी होता है।

आप लोग वापस मिस्सिस्सिपी जायें, वापस एल्बामा जायें, वापस दक्षिण कैरोलिना जायें, वापस जॉर्जिया जायें, वापस ल्युजियाना जायें, उत्तरी नगरोंके दरिद्र मुहल्लों और घेट्टोंमें वापस जायें, इस ज्ञानके साथ कि जैसे भी हो यह स्थिति बदल सकती है, बदली ही जायेगी। हम निराशाकी वादीमें पड़े कीचड़में क्रीड़ा-विलास न करें।

मैं आपसे आज यह कहता हूँ, मेरे मित्रो, कि यद्यपि हमारे सामने कठिनाइयाँ हैं, कठिनाइयाँ जो आज हैं और कल भी आयेंगी, फिर भी मेरा एक स्वप्न है। यह वह स्वप्न है जो अमरीकी स्वप्नके मूलमें गहरा उतरा हुआ है। मेरा एक स्वप्न है कि एक दिन यह राष्ट्र उठेगा और अपनी इस आस्थाके सच्चे अर्थको जीवनमें चरितार्थ करेगा : "हम इन सत्योंको स्वयं सिद्ध मानकर अंगीकार करते हैं कि सारे मनुष्योंको समान सरजा गया है।"

मेरा एक स्वप्न है कि पहले जो गुलाम थे उनके पुत्र और पहले जो गुलामोंके मालिक थे उनके पुत्र एक दिन जॉर्जियाकी लाल पहाड़ियोंपर भ्रातृत्वके मंचपर साथ-साथ बैठ सकेंगे।

मेरा एक स्वप्न है कि मिस्सिस्सिपी-जैसा राज्य, जो अन्यायकी आँचसे झुलस रहा है, एक दिन स्वतन्त्रता और न्यायके मरूद्यानमें परिणत होगा।

मेरा एक स्वप्न है कि मेरे चारों छोटे बच्चे एक दिन ऐसे राष्ट्रके निवासी होंगे जहाँ उनकी परख उनके चमड़ेके रंगसे नहीं बल्कि उनके चरित्रकी अन्तरंग आभासे होगी। आज मेरा एक स्वप्न है।

मेरा स्वप्न है कि वहाँ उस एल्बामामें जहाँ, क्रूर और जातिमदसे चूर व्यक्ति रहते हैं, जहाँके गवर्नरके होठोंसे हस्तक्षेपी अहंकार और नकारके शब्द टपकते हैं—वहाँ एक दिन उसी एल्बामामें, काले बालक और काली बालिकाएँ और गोरे बालक तथा गोरी बालिकाएँ, बहनों और भाइयोंकी तरह हाथ-में-हाथ डाले आ मिलेंगे।

आज मेरा एक स्वप्न है।

मेरा स्वप्न है कि एक दिन प्रत्येक उपत्यका ऊपर उठेगी और प्रत्येक पर्वत और पहाड़ीको नीचा कर दिया जायेगा, खुरदरी सतहोंको सपाट और टेढ़े-मेढ़े

रास्तोंको सीधा समतल बना दिया जायेगा और भगवान्‌की महिमाको उजागर किया जायेगा और हाड़-माँसका प्रत्येक पुतला इस महिमाको साथ-साथ देखेगा।

यह हम लोगोंकी आशा है। और यही मेरी आस्था है जिससे मण्डित होकर मैं दक्षिणांचलमें जा रहा हूँ। इस आस्थाके द्वारा हम निराशाके पर्वतमें-से आशाकी एक शिला तराश लेंगे। इसी आस्थाके द्वारा हम अपने राष्ट्रके अनैक्यकी बेसुरी भर्राहटको भ्रातृत्वकी सरस सिम्फ़नीमें बदल देंगे। इस आस्था-के सहारे हम साथ-साथ काम कर सकेंगे, साथ-साथ उपासना कर सकेंगे, साथ-साथ संघर्ष कर सकेंगे, साथ-साथ जेल जा सकेंगे और स्वतन्त्रताके लिए साथ-साथ डटे रह सकेंगे, इस ज्ञानके साथ कि एक दिन हम स्वतन्त्र होंगे ही।

यही वह दिन होगा जब भगवान्‌की सन्तान उस गीतको एक नये अर्थ-बोधके साथ गा सकेगी :

My country it is of thee,
Sweet land of liberty,
Of thee I sing;
Land where my fathers died,
Land of the pilgrims' pride
From every mountain-side
Let Freedom ring.

अनु०—ल० चं०

■ ■
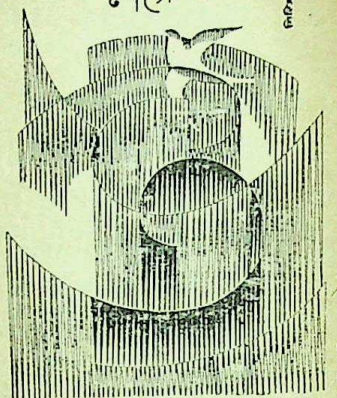
जो बँध नहीं सका • • • • •

• • • • • • गिरिजाकुमार माथुर

हिन्दीकी नयी कविताके सशक्त कवि गिरिजाकुमार माथुरकी कविताओंका बहुप्रतीक्षित संग्रह : जिसमें कविकी बहुआयामी प्रतिभा अपने पूरे वैशिष्ट्य और मार्मिकताके साथ फिर एक नये रूपमें प्रकट हुई है, तथा उसने अपने सूक्ष्म कथ्यके लिए एक नया स्पन्दनशील 'मुहावरा' खोजा है।

'जो बँध नहीं सका' की रचनाओंमें मनकी कोमल प्रतिक्रियाएँ भी हैं, इतिहासके न्यायका निर्मम साक्षात्कार भी है और आजके आदमीकी विडम्बना, संत्रास और ट्रैजेडी भी है। यही कारण है कि यह संग्रह आधुनिकी धाराका समग्र रूपमें प्रतिनिधित्व करता है।

प्रत्येक हिन्दी काव्य-प्रेमी पाठक और अध्येताके लिए एक अनिवार्य काव्य-कृति 'जो बँध नहीं सका' हिन्दी कविताकी प्रगतिका भी साक्ष्य प्रस्तुत करती है!

मूल्य ३.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
कलकत्ता : : वाराणसी
विक्रय-केन्द्र : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मृत्युमुखियों का देश

सु० कुमार

[एक आंशिक नाट्य-कविता]

सूत्रधार : शुभागत,
स्वागत !
सूत्रधार हूँ मैं,
नहीं, 'सूत्रधार' तो सिर्फ़ एक संज्ञा है,
मेरा अस्तित्व नहीं ।
द्वार तो पराया है—प्रदर्शन भी ।
मैं तो हूँ माध्यम-भर

स्वागत करना मेरी नियति है,
मेरी आदत !

तो आओ हे प्रेक्षको, स्वागत है
तुमने मेरी निस्संगता हरण की,
बार-बार
आभार !

मेरी आँखों के आगे होती आयी हैं खण्डित
असीम महिमा से मण्डित
सारी प्रतिमाएँ।
मूर्ति-भंग के दंश झेलता निस्संग खड़ा हूँ
अब तक।

सुनो, ओ बन्धु, मेरे दग्ध, क्षयित अन्तस् के
बोल
सिर्फ़ सुनो क्योंकि मुझे है तनिक नहीं
प्रत्याशा
तुम सब दे पाओगे मेरी लुंज आवाज़ों का
मोल।
ओ समानधर्माओ, नहीं, समानजन्माओ
उद्जन-स्फोटों के शव पर बचे हैं हम हतदर्प
सुनने-सुनाने को संस्मरण और मर्सिया
हम सब बचे हैं यहाँ भविष्य के नाम
पढ़ने को
अतीत के कुछ शब्द, कुछ दर्द, कुछ
चिट्ठियाँ....

हम सब बचे हैं यहाँ खोजने को
कुत्साओं के इस विस्तृत बबूल-वन में कुछ
फूल।

यह श्मशान की शान्ति
और ये गिद्ध उड़ रहे, डरो नहीं।
मेरे इस मृत्यु-देश में
ज़िन्दा आदमी सारे मुरदे हैं
और मुरदे अमर हैं। एक कफ़न की क़ीमत
पास में होने तक
हम सब ज़िन्दगी को जियेंगे मुरदों की तरह
हम मरते हैं और जीते हैं
जीते हैं और मरते हैं
और कुछ नहीं करते हैं।
चार-पाँच मांस-पिण्ड हमारी जीवनो-
पलब्धि हैं
जो अगले चार-चार पाँच-पाँच मांस-पिण्डों
के लिए अर्पित हैं।
यह शृंखला हमारी उपलब्धि,
यही हमारा श्रेय है।
हम मगर चलते वक़्त कहते हैं :
'जीवन अमोल यह व्यर्थ गया
शब्द-बोध हुआ, मगर अर्थ गया'
और इस बेमानी आत्म-बोध पर हम स्वतः
गौरवान्वित हो लेते हैं।

यह मृत्यु देश है।
मृत्यु-देश, जहाँ समय खिसकता रहता है
और इसके सिवा कुछ नहीं होता।
समय सिसकता रहता है और हम आवाज
भी नहीं सुनते।
हम वहाँ हैं जहाँ बार-बार चक्रमिव घूमकर
समय लौट आता है और हम उसका साथ
नहीं देते।
हमें गेंडुरी में कसे हुए समय थक जाता है।
हम निर्विकार रहते हैं।
हम अपने दायरे में निरपेक्ष बने रहते हैं
तब भी,

जब
पहाड़ उड़ जाते हैं, सारे-के-सारे खारे
समुन्दर
रीत जाते हैं। नक्षत्र एक-दूसरे से टकराकर
बिखर

जाते और धूल की
एक पर एक कई परतें जम जाती हैं।
नागफनियों से काँटे उधार लेकर
हम उन्हें जीवन में बोल लेते हैं
युक्लिप्टिस के पौधे बूढ़े होकर सूख जाते हैं,
तो भी
हम उनसे तुलना करते हुए नंगी बाँहों को
सहलाते हैं। तत्सम्बन्धी काम-भावनाओं में
वास करते हैं, करते रहते हैं हम।
मांस-पिण्डों की शृंखला में आगे बढ़ते हुए
अजाने पीछे की ओर मुड़ने लगते हैं।
मृत्यु-मार्गी हैं हम
हमारी पहुँच मृत्यु तक है....

हम महकते हुए असंख्य क्षणों को
गुलाब समझकर चले जाते हैं रौंदते
और हमें वे क्षण नागफनी बनकर डस
लेते हैं।
बैठे रहते हैं हम गुजर जाने के लिए
बैठे रहते हैं हतवीर्य हम
चार-पाँच मांस-पिण्ड यहाँ धर जाने के लिए।
'मैं' दुनिया में अरबों हैं लेकिन सिर्फ़ 'मैं'।
उनका निरन्तर जाग्रत 'अहं'
'हम' नहीं होता।
वे अपने 'मैं' में अत्यन्त विस्तृत हैं।
आदमी को
अब है अपना ही दायरा
भा गया।

सब-कुछ वही, एक रस
कुछ भी नया नहीं।

समय रेत है। हमें होता है सिर्फ़ प्यास-बोध
एक आदिम दर्द नस-नस में भरे
आदमी जीता है वह
जो छोड़ जाते हैं मरे।
और अगली पीढ़ियों में दर्द अपना छोड़कर
ओढ़ लेता क़ब्र, पीछे मुड़
कभी देखता नहीं। असहाय
हर पीढ़ी यहाँ है
ढोती हुई निज पूर्वजों का अहं-संचित दाय।
हम तो ढोते हैं बेमानी सन्दर्भ सिर्फ़।
सिर से उतार कर
काश, हम सुस्ता पाते
साथ लेकर आये जो
छोटे-छोटे दायों की बड़ी-बड़ी गाँठें।

हमारा इतिहास एक है।
नियति है अँधेरे में जमा हुआ कोहरा।
जग की बिसात पर
आदमी है शतरंज का मोहरा
पिटा हुआ।

हमारा इतिहास एक है :
सदियों से बूढ़ा सूरज
रोज़-रोज़ सुबह से शाम तक
स्खलित आस्था, खोखली आवाज़ें और
बेमानी
चहल-पहल
देता भर।
चाँदनी का कफ़न आकर ढँक ले, इसके
पेश्तर
सूरज का किरन-घट रीत जाता है,

यूं-यूं एक दिन
अनेक दिनों की तरह बीत जाता है
ऐसे करोड़ों दिनों का हमारा इतिहास एक है
रोज़-रोज़ एक ही डायरी :
पिछले अपरिवर्तित क्षण
भूले-से आते आँगन
लौट-लौट जाते हैं,
लौट-लौट आते हैं !
बजती प्रतिदिन वही पिछली पीड़ा की
बाँसुरी ।
सारे अलगावों, सीमाओं, आत्मनिष्ठता
और निरपेक्षताओं के बावजूद
हमारी मृत्यु, जिजीविषा, अश्रु-हास एक है ।

दूर····दूर रहे मरहले····
कुछ कम न हुए फ़ासले !
काश, हम—जो निरर्थक पहाड़ों, घाटियों,
नदी-नालों, उगते और डूबते ग्रहों और
कुहासों-भरी चांदनी देखते हैं
और
व्याकुल हो उठते हैं उन्हें भोगने को—
कभी-कभार अपने में एक-दूसरे को
देख लेते
एक-दूसरे की अनिवार्य उपस्थिति
महसूस करते !
और तब देखते कि हमारी नियति
कितनी बदल गयी है और हम केवल
अपने एकान्त में व्यस्त नहीं हैं ।

उन्मुक्तता की तलाश में पहाड़ छानने वाले
क़ैद हो जाते हैं पहाड़ों से लौटकर, स्वयं
प्रेरित,—
अपने कमरे के घुटते एकान्त में
अन्दर से सिटकिनी लगा । दस्तकों पर
झुँझलाते हैं । प्रतीक्षा करते हैं यों—
हमने स्वयं निर्मित की है
क़ैदखाने की सभ्यता ।
हमें चाहिए हवा और रोशनी और
उन्मुक्त आकाश
मगर कमरे में हमने किया
सीलन-भरा अँधेरा । हवा
बन्द खिड़कियों से
झगड़ती
दम तोड़ती रहती है हताश ।
खो गया है हमारा सूर्य ।
हम क़ैद हैं : गोरे-काले-लाल-भूरे
जिस्मों में क़ैद हैं ।
और हमारे जिस्म कमरों में । कमरों
के गिर्द
बड़ा घुटता-सा परिवेश है ।
क़ैदखाना हमारा देश है ।
तन
और मरण
तक ही संकुचित
है हमारी परिचिति
प्राण—अमर प्राण
है हमसे अजान ।

■ ■

जिनके
का मन
लेखन
पाशविक
मार्जनके

साहित्यके क्षेत्र
अर्थ-लाभकी
कहीं समझौ
प्रकारके लोग
और राजनी
जीवन और
चना-चबेना से
भी नहीं होती
रहते हैं जैसे
देता है । मेरे
कार थे ।

हास्यरसाचार्य हरिशंकर शर्मा

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

जिनके लिए हास्य 'बैठे-ठाले' का मनबहलाव नहीं, साधनापूर्ण लेखन था—जिसे वे मनुष्यकी पाशविक मनोवृत्तियोंके परिमार्जनके लिए उपयोगमें लाते थे।

साहित्यके क्षेत्रमें दो प्रकारके व्यक्ति कार्यरत दिखाई देते हैं। एक तो वे जो ख्याति अथवा अर्थ-लाभकी दृष्टिसे इस ओर खिंचते हैं और दूसरे वे जो अपने सिद्धान्तोंके कारण समाजमें कहीं समझौता न कर पानेके कारण मिशनके रूपमें साहित्यको अपना लेते हैं। ये दूसरे प्रकारके लोग लाख मुसीबतोंके होते हुए भी साहित्य-सेवासे विरत नहीं होते और समाज और राजनीतिके क्षेत्रमें व्याप्त भ्रष्टाचारके विरुद्ध ज़ोरदार आवाज़ उठाया करते हैं। वे जीवन और साहित्यमें अभेदकी स्थापना कर जीते हैं और हलुआ-माँड़ेसे नाता तोड़कर चना-चबेनासे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें उनके अपनाये मार्गसे हटानेकी सामर्थ्य विधातामें भी नहीं होती। वे जीवन-भर साहित्यको वैसे ही अपना हितैषी मानकर पूजार्ह समझते रहते हैं जैसे कि कोई अपने इष्टदेवको ही सर्वस्व समझकर उसके प्रति आत्म-समर्पण कर देता है। मेरे काव्यगुरु पूज्य पं० हरिशंकर शर्मा ऐसे ही साधक और तपस्वी साहित्यकार थे।

उनको साहित्यिक संस्कार अपने यशस्वी पिता महाकवि नाथूराम शंकर शर्मासे प्राप्त हुए थे। महाकवि शंकरको हिन्दी-साहित्यके इतिहासोंमें और अन्य ग्रन्थोंमें उपयुक्त स्थान नहीं दिया गया और केवल आर्य-समाजी होनेके नाते उनकी उपेक्षा की गयी है। लेकिन उनका काव्य-साहित्य द्विवेदी युगकी थाती है। आचार्य द्विवेदीने खड़ीबोलीके संस्कार और परिमार्जनका जो कार्य किया उसमें महाकवि शंकरका बड़ा योगदान है। वे ऐसी टकसाली भाषाका प्रयोग करते थे कि उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दके स्थानपर कोई दूसरा शब्द रखकर उस पहले शब्दके अर्थकी रक्षा करना असम्भव हो जाता था। फिर वे छन्दोंके भी मास्टर थे। शिष्ट और लोक दोनों प्रकारके साहित्यमें प्रचलित अनेक छन्दोंको उन्होंने अपने काव्यमें स्थान दिया है और ऐसी सफलतासे कि आश्चर्यचकित होकर रह जाना पड़ता है। आचार्य द्विवेदीजी उनके बड़े प्रशंसक थे और बड़े आग्रहसे 'सरस्वती'में उनकी रचनाएँ छापा करते थे। उनके घरपर साहित्यकारोंका आवागमन निरन्तर होता रहता था। इसके अतिरिक्त आर्य-समाजके विद्वान् वक्ता और संन्यासियोंका भी जमघट बना रहता था। महाकवि शंकर जीविकाके लिए वैद्यकका धन्धा करते थे। साहित्यसे मानसिक रोगोंका उपचार और वैद्यकसे शारीरिक कष्टका निवारण—इन दोनों कार्योंको वे युगपत् बड़ी कुशलतासे करते थे किन्तु पलड़ा साहित्यका ही भारी पड़ता था।

स्वर्गीय पं० हरिशंकर शर्माने ऐसे पिताकी छायामें साहित्य-सेवाका व्रत लिया था। स्कूल-कॉलेजकी बहुत ऊँची शिक्षा न पानेपर भी साहित्यके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मूलतः वे पत्रकार थे और 'आर्य मित्र' सम्पादकके नाते ही प्रारम्भमें उनकी ख्याति चतुर्दिक् व्याप्त हुई थी। पत्रकारके नाते पत्रकारकी स्वतन्त्रताके प्रबल समर्थक थे। 'आर्य मित्र'से उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद सिद्धान्तोंके कारण किया था और पत्र प्रबन्धकोंके लाख अनुनय-विनय करनेपर फिर उसका सम्पादन स्वीकार नहीं किया था। जब वे 'आर्य मित्र'के सम्पादक थे तब वह पत्र आर्य-समाजी विचारधाराका पोषक होनेपर भी राजनीतिकी गान्धीवादी ... को निर्भीकतासे अपने पृष्ठोंमें स्थान देता था और इस खूबीसे कि सरकारको उसे छूने की हिम्मत नहीं होती थी। वह हिन्दीके सर्वोत्तम सम्पादित पत्रोंकी श्रेणीमें गणनीय था।

'आर्य मित्र'में वे वैतनिक सम्पादक ... लेकिन एक बार उसे छोड़ दिया तो फिर कभी पैसा लेकर किसी पत्रका सम्पादन नहीं किया। एक बार बीचमें 'आर्य मित्र' का सम्पादन सँभाला तो भी अवैतनिक ही। इसके साथ ही उन्होंने कुछ दिनों तक 'विशाल भारत' का भी सम्पादन ... कुछ लिये ही किया था। स्वर्गीय पं० श्रीराम शर्मा साहित्यिक लेखों और कविताओं ... तो उन्हींसे जँचवाते थे। यह कार्य वे ... तत्परतासे करते थे। आर्य-समाजके ... बाद 'सत्याग्रह'के संचालकके लिए उन्होंने 'आर्य सन्देश'का भी सम्पादन बिना ...

लिये ही किया था और आगरासे प्रकाशित 'कर्मयोग'का सम्पादन भी सेवा-भावनासे करते थे। कोई प्रश्न कर सकता है कि वे अपने और अपने स्वर्गीय भाईके पूरे परिवार-का पालन करते हुए भी ऐसा किस प्रकार कर पाते थे? इसका उत्तर यह है कि वे बीस-बीस घण्टे नित्य-प्रति क़लम घिसते थे और पाठ्यपुस्तकें लिखा करते थे। इस बीच हास्यरसके उच्चकोटिके निबन्ध और सामान्य विषयोंपर लिखनेको भी समय निकाल लेते थे। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि वे बड़ी तंगीसे गुज़र करते थे पर कभी उसकी झलक अपनी बात-चीत तकमें भी नहीं आने देते थे। वे रातको मसनद लगाकर पलँगपर बैठ-बैठे तबतक लिखते रहते थे जबतक कि उनकी कमर दर्द न करने लगे और उनको बैठना सम्भव न रह जाये। इस प्रसंगमें यह बात जानने योग्य है कि आधी रात और उससे भी अधिक देर तक काम करके वे भयंकर गरमीके लम्बे दिनोंमें भी एक क्षणको दिनमें नहीं सोते थे। सच तो यह है कि वे दिनमें कभी सोये ही नहीं। वे अपनेको 'क़लमका मजदूर' कहते थे और यह सोलह आने सत्य था।

'आर्य मित्र' के कटु अनुभवोंने उन्हें बता दिया था कि नौकरीमें स्वाभिमान की रक्षा असम्भव है और पण्डितजी किसी भी प्रकार स्वाभिमानको छोड़ना नहीं चाहते थे। इसीलिए वे पत्रोंके सम्पादनको स्वीकार करते थे तो पैसा नहीं लेते थे। स्वतन्त्रताके बाद दिल्लीके एक पूंजीपति पत्रने उन्हें बहुत बड़े वेतन पर नियुक्त करना चाहा पर जब उन्हें यह पता चला कि उन्हें सम्पादकीय पूँजीपतिकी इच्छासे लिखना पड़ेगा तो उन्होंने हज़ारों रुपये मासिक की उस आयको नमस्कार कर दिया। यही नहीं, एक बार प्रयागके प्रसिद्ध साप्ताहिक 'देशदूत' में पण्डितजीकी बीमारीके समाचारके साथ यह अपील भी छपी कि उनकी आर्थिक सहायता की जाये। उस दिन मैं अचानक उनके पास पहुँच गया। बड़े खिन्न थे। मैंने कारण पूछा तो उन्होंने 'देशदूत' मेरे सामने रख दिया। साथ ही बोले—"मैं साहित्यकारोंके लिए अपील निकालकर सहायता करनेको घोर पाप मानता हूँ। साहित्यकार साहित्य-सेवा इसलिए नहीं करता कि कोई उसपर दया करे। वह अपना कार्य करते-करते मर जाये यह तो स्वीकार है पर यह नहीं कि उसके लिए दयाकी भीख माँगी जाये।" और इसके बाद उन्होंने मुझसे बोलकर एक प्रतिवाद लिखवाया और उसी दिन 'देशदूत' को भिजवाया। 'देशदूत' में उसके छपते ही हिन्दी-जगत्में एक हलचल मच गयी और पण्डितजीकी जो सराहना हुई वह रोमांचकारी थी। वस्तुतः वे साहित्यकारको स्वाभिमानी, ईमानदार, चरित्रवान् देखनेके पक्षपाती थे। इन गुणोंकी उपस्थिति जहाँ देखते थे, निहाल हो जाते थे।

पण्डितजी हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फ़ारसी, अँगरेज़ी, गुजराती, बंगला आदि कई भाषाओंके प्रकाण्ड विद्वान् थे और इन भाषाओंके शब्दोंको तुरन्त पहचान लेते थे।

उनके पास कोशोंका विशाल भंडार ही था। और वे खाली समयमें उन्हें पलटते रहते थे। यही कारण था कि शब्दोंकी व्युत्पत्ति और उनके उचित प्रयोगमें उनका कोई सानी नहीं था। जब वे शब्दोंपर बोलने लगते तो घण्टों बोलते रहते और लगता जैसे उन्होंने शब्द-ज्ञानको घोलकर पी लिया है। उनके लेखनमें भी शुद्ध शब्दावलीका ही प्रयोग मिलता है। अपने पिताकी भाँति वे भी बड़ी ठकसाली भाषा लिखते थे। वैसे वे आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा को अपना गुरु मानते थे और जैसा कि सब जानते हैं, शर्माजीके भाषाधिकारकी धाक तो उनके समकालीन हिन्दी-उर्दूके सभी लेखक मानते थे। पण्डितजी भी उन्हींके पद-चिह्नोंपर चलते थे। पारिभाषिक शब्दावली समितिमें उन्होंने एक सदस्यके नाते महत्त्वपूर्ण योग दिया था और रेलवेकी हिन्दी शब्दावलीमें तो उनका हा विशेष हाथ था। इसके अतिरिक्त पण्डितजीने छन्द शास्त्रकी दृष्टिसे एक भारी खोज यह की कि हिन्दी छन्दोंके साथ उर्दू तथा अँगरेज़ीके छन्दोंकी तुलना करके यह सिद्ध कर दिया था कि हिन्दीके छन्द ही सर्वत्र प्रचलित हैं। यह कार्य दूरकी कौड़ी लाना भले ही कहा जाये पर पण्डितजीके गम्भीर पाण्डित्यका परिचायक अवश्य है और विद्वानोंको आश्चर्यचकित करनेवाला भी है।

वे उच्चकोटिके शिष्ट हास्यके अद्वितीय लेखक थे। उनका 'चिड़ियाघर' और 'पिंजरापोल' इसके प्रबल प्रमाण हैं। उनके हास्यलेखनमें भाषाका चमत्कार देखते ही ब[illegible] है। साथ ही समाज और राजनीति[illegible] मधुर व्यंग्य भी हमारा ध्यान खींचता [illegible] हास्य उनके लिए बैठे-ठालेका मनबह[illegible] नहीं, वह एक साधनापूर्ण लेखन था जिसे [illegible] मनुष्यकी पाशविक वृत्तियोंके परिमार्ज[illegible] लिए अस्त्रकी भाँति उपयोगमें लाते थे।

पण्डितजी कवि भी प्रथम श्रेणीके थे [illegible] उनको 'घास पात' पर 'देव पुरस्कार' [illegible] हुआ था। गद्यकी ही भाँति वे कवितामें [illegible] शुद्धताके पक्षपाती थे और हिन्दीमें तु[illegible] तथा उर्दूमें नज़ीर और ग़ालिब उनके आ[illegible] थे। वे एक साथ शुद्ध संस्कृत-गर्भित हि[illegible] और उर्दू-ए-मुअल्ला लिखनेमें कुशल [illegible] जिस दिन दोपहर बाद उनको दिलका दौ[illegible] पड़ा उस दिन प्रातःकाल 'ग़ालिब'पर [illegible] हाथोंसे ही साफ़-सुथरे ढंगसे कविता लिख[illegible] उन्होंने 'सैनिक' (आगरा) में छपने [illegible] थी। उन्होंने 'उर्दू साहित्यका इतिह[illegible] नामक एक बृहद् ग्रन्थ भी लिखा था [illegible] रसशास्त्रपर भी लेखनी चलायी थी। [illegible] प्रकार वे हिन्दी-उर्दू दोनोंमें समान [illegible] रखनेवाले साहित्यकार थे।

पण्डितजीने शताधिक ग्रन्थोंकी र[illegible] की। दर्जनों पत्रोंका सम्पादन किया, [illegible] प्रतिनिधि सभाके प्रधान रहे, वृन्दावन [illegible] कुलके कुलपति बनाये गये, आगरा वि[illegible] विद्यालयसे मानार्थ डी० लिट् की उ[illegible] प्राप्त हुई और पद्मश्री भी बने (यह उ[illegible] उन्होंने हिन्दीके प्रति सरकारी नी[illegible] विरोधमें वापस कर दी थी)। हि[illegible]

अन्त तक श्रमजीवी साहित्यकार ही बने रहे। गरमियोंमें कुरता-धोती-टोपी और चर्म-रहित जूते और जाड़ोंमें बन्द गलेका कोट—यही उनकी वेश-भूषा थी। घरपर आधी धोती बदनपर डाले रहते थे या कभी-कभी बनियान पहने रहते थे। धोती फट जाती थी तो बीचमें-से फाड़कर दोनों सिरे जुड़वा लेते थे। ऐसी धोतीको पहनकर बाहर चले जानेमें भी उनको हिचक नहीं होती थी। इस बातमें वे स्व० राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डनके अनुयायी थे। जब तक कपड़ा तार-तार नहीं हो जाता था वे उसे सिलवा कर पहनते जाते थे। न केवल कपड़ा बल्कि उनका चश्मा रखनेका खोल भी तबका ही था जब कि उन्होंने चश्मा लिया था। उसे ही वे कपड़ा चढ़वाकर ठीक कराते रहते थे। वे छड़ी रखते थे और लँगड़ाकर चलते थे। कहते हैं कि सायकिलसे टक्कर लगने-से उनकी टाँग टूट गयी थी। कदाचित् इसीलिए वे सायकिलको देखकर खड़े हो जाते थे और जब वह निकल जाती थी तब चलना शुरू करते थे।

उनका घर साहित्यिकोंका आश्रय स्थल था। जो जाता, उनसे प्रोत्साहन पाता था। सैकड़ों ही उनके आशीर्वादसे क़लम चलाना सीख गये। वे एक ऐसे तीर्थ थे, जिसके संसर्गसे वृत्तियाँ पावन हो उठती हैं। जहाँ बैठ जाते हँसीके फ़व्वारे छूटने लगते। समवयस्कोंमें वे अपनी मीठी चुटकियोंके लिए प्रसिद्ध थे। कभी शब्दोंके नये-नये अर्थ निकालकर ही हँस रहे हैं तो कभी गम्भीर विवेचन कर सबको विचार-मग्न कर रहे हैं। आस-पास और दूर-दराजकी साहित्यिक संस्थाओंमें उनके जानेसे वातावरणमें सहज गम्भीरता घर कर लेती थी। वे जब बोलते थे तो लगता था कि वे नहीं उनकी साधना बोल रही है। सर्वश्री बाबू गुलाबराय, बनारसीदास चतुर्वेदी, स्व० पं० श्रीराम शर्मा और स्व० पं० केदारनाथ भट्टकी मण्डली में जब वे किसी साहित्य-सभामें उपस्थित रहते थे तब उनकी बातें सुननेमें बड़ा आनन्द आता था। उस समय व्यंग्य-विनोदमें वे सब-पर छा जाते थे। न केवल साहित्यकारोंमें वरन् जनतामें भी वे बड़े लोकप्रिय थे। राष्ट्रीय आन्दोलनमें कारागारमें तो अनेक साहित्यकार रहे होंगे और उसका मुआवजा भी लिया होगा पर पण्डितजी ने राष्ट्र-प्रेम-के चेकको भी कैश नहीं कराया और सरकारी पेन्शनका 'ऑफ़र' ठुकरा दिया। यही कारण था कि वे धड़ल्लेसे सरकारकी भी निन्दा कर लेते थे। आसपासकी जनता उन्हें देवताकी तरह पूजती थी तो इसीलिए कि वे एक सच्चे मानव थे। शेरो-शायरी या काव्य-विनोदमें मग्न रहनेवाले और समाज-सेवाका कार्य करनेवाले ऐसे तपस्वी साहित्यकारोंकी पीढ़ी अब समाप्तप्राय है। अब तो उनकी स्मृति ही सम्बल है। उसीके आधारपर संकटकी घड़ियोंमें आस्था और विश्वासको बनाये रखा जा सकता है।
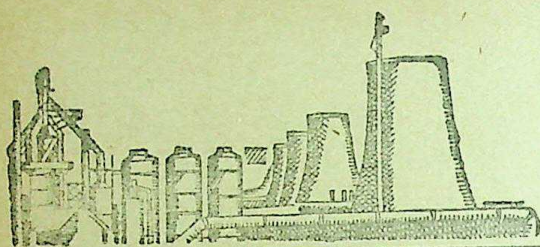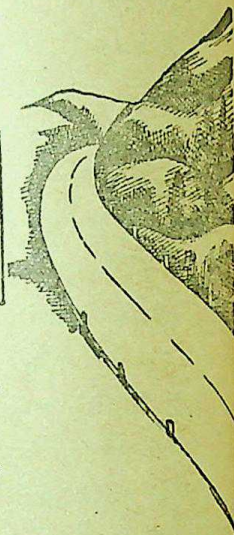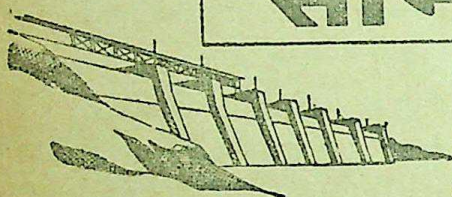
■ ■
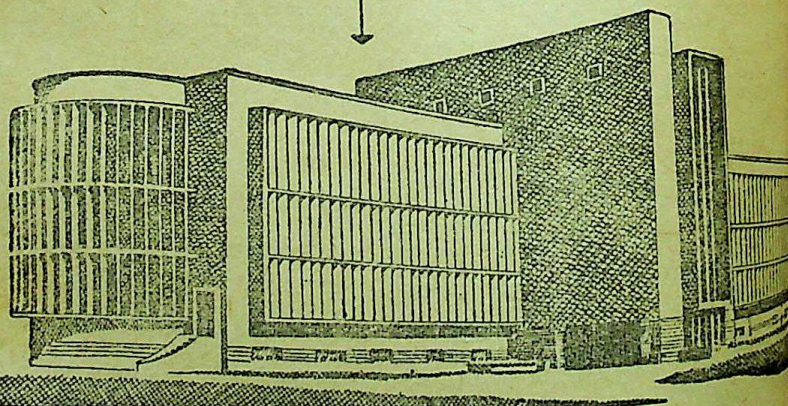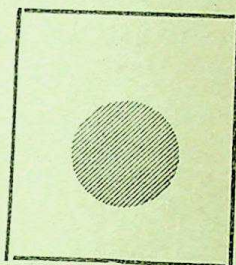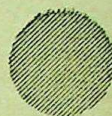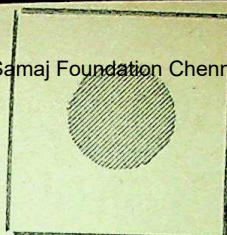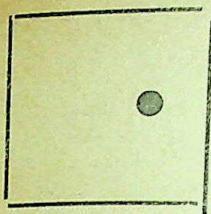
कई चेहरों के बाद

बच्चन सिंह

अजितने अँगड़ाई ली। वह अपने बिस्तरेपर बैठ गया। ठण्डी हवाका एक झोंका आया और उसे गुदगुदी लगने लगी। उसे लगा कि किसीने ढेर-सा प्रकाश उसके कमरेमें बिखेर दिया है। चद्दर एक ओर झटककर वह टेबलकी ओर बढ़ा। घड़ीमें आठ बज रहे थे। वह हड़बड़ाकर खड़ा हो गया।

खिड़कीके बाहर चमकती हुई धूप तैर रही थी। साउथ एक्सटेंशनसे रिंग रोड जानेवाली सड़कपर सरसराती हुई कारें भाग रही थीं। आदमियोंका हुजूम उमड़ पड़ा था। एक लम्ब-तड़ंग सरदार अपने स्कूटरको 'यस्साले' कहता हुआ ताश खेलनेवालोंके गिरोहमें शामिल हो गया। दूसरेको एक सवारी मिल गयी थी। वह 'हांज्जी' कहता हुआ अपने स्कूटरकी ओर बढ़ा। स्कूटर गुर्रा उठा।

"आज भी सालोंको फ़ुरसत नहीं है—रुपया, शराब और औरत। इतवारको भी छुट्टी नहीं। लानत है ऐसी जिन्दगीपर।" खिड़कीके छड़ोंपर मुंह लगाकर अजितने

खखारकर थूंक दिया। दूरपर डबल डेकर आ रहा था। आसपासके घरोंको आतंकित करता हुआ वह बस-स्टापपर रुक गया। अजित उतरनेवाली सवारियोंको एक-एक कर ग़ौरसे देख रहा था। उसकी दृष्टि फिर डेकर-पर टिक गयी। वह उसे तबतक देखता रहा जबतक गन्दा धुआँ फेंकता हुआ वह आगे नहीं बढ़ गया।

वह बुरी तरह ऊब रहा था। दस बजे-वाला सिनेमा भी गया। एम्बेसीमें लंच लेना था। उसके बाद कहीं पिकनिकपर जाते। आर्ट गैलरीमें लगी नयी तसवीरें देखनी थीं। ढेर-सा प्यार करना था। वह बुदबुदाया, "इन कम्बख्तोंकी जाति ही ऐसी होती है। अगर समयसे आ जायें तो दूसरोंकी बेताबी-का मज़ा कैसे लें, अगर वादेको पूरा कर दें तो उनके नखरे कौन उठाये?" घड़ीमें दस बजने जा रहा था।

उसे याद आया कि चारों ओर उपद्रव हो रहा है। विद्यार्थी बसों, सरकारी मकानों, दफ़्तरों आदिमें घुसकर अपने विद्रोहका इज-हार कर रहे हैं। कहीं उनके घेरावकी गिरफ़्तमें वह खुद न आ गयी हो। पुलिसकी लाठीकी चपेटमें आकर अस्पतालमें न दाखिल हो गयी हो। उसका चेहरा बदरंग होने लगा। नुक्कड़से आवाज़ आयी 'भाषा-विधेयक मुरदाबाद'। और "आजका दिन भी"—कहते हुए उसने खिड़की बन्द कर ली।

दरवाज़ा खड़का। उसके सामने एक कोमल, गोरा चेहरा उगा, काली-काली आँखें चमकीं। वह खुशीसे फूल गया। जल्दी-में सिटकनी खोलनेमें और देर हो गयी। पर उसके सामने एक पुरुष खड़ा था—वह अपनी काली दाढ़ी, कन्धे तक लटके हुए बालोंमें तेजवन्त लग रहा था। शरीरपर सफ़ेद लम्बा घुटनों तक लटकता हुआ कुरता और पाजामा उसके साँवले रंगको निखारकर आकर्षक बना रहे थे। उसने हँसते हुए कहा, "अजित!" उसके हाथोंकी अटैची हिल गयी।

अजितको डर लगा। वह दो क़दम पीछे हट गया। एक क्षणमें उसका चेहरा गुस्सेसे लाल हो गया। कौन होता है यह किसीका दिन बिगाड़नेवाला—कमीना। उसकी इच्छा हुई कि दाढ़ी नोंच ले, घूँसों और झापड़ोंसे उसे मजा चखा दे। आगन्तुककी अवस्था अजितसे लगभग पाँच-सात वर्ष अधिक होगी। अजितका गुस्सा शान्त नहीं हो रहा था। उसने तल्खी-भरे स्वरमें कहा-"तुम किसको चाहते हो, क्या काम है?"

"अजित चड्ढाको।" उसकी दाढ़ी हिली। मुसकराहटका एक परिवेश बन गया। टेलीफ़ोनकी घण्टी बजी। वह भीतर घुस गया। उसने रिसीवर उठाया। [illegible] बोल रही थी—"अल्पनाके साथ मैं भी [illegible] रही हूँ—आजके उपद्रवके कारण ट्राफिक जाम है, सवारियोंका आना-जाना रुक [illegible] है। हम लोग दो घण्टे बाद पहुँचेंगे। [illegible] पार्लमेण्ट स्ट्रीट है। आगे बढ़ना नामुमकिन हो रहा है।"

आगन्तुक भीतर आ चुका था। अजित-को संकट टालना मुश्किल हो रहा था

उसने आँख बन्द करते हुए पूछा—"आप अनिल शर्मा हैं?" जोरका अट्टहास। छोटा-मोटा भूचाल आ गया। काले-काले बालोंके बीच उसके दाँत बिजलीकी तरह चमक उठे।

"भाई साहब, माफ़ करना। दाढ़ीने धोखा दिया, वरना—" वह उसके पैरोंकी ओर लपका ही था कि अनिलने उसे बाँहोंमें लेकर गले लगा लिया। "और तुम्हारी छोटी-छोटी दाढ़ी कुछ और बोलती है?" अनिलने मुसकराते हुए कहा।

"दाढ़ी दोनों ही हैं—एक बड़ी है, एक छोटी। क्या फ़र्क़ पड़ता है?" दोनों एक साथ ही हँस पड़े।

"मैं उत्तराखण्डके एक छोटे-से मठमें हूँ।" अजितके कुछ पूछनेके पहले ही अनिलने कहा।

"तो तुम मठाधीश हो।" अजित ज़ोरसे हंस पड़ा।

"मैं एक साधनाके चक्करमें हूँ," अनिल बोला।

"लेकिन वह तो मठमें नहीं मिलेगी।" अजितने फिर क़हक़हा लगाया।

"तुमने मेरा अभिप्राय नहीं समझा।" अनिल चप हो गया।

"तुम्हारी दाढ़ी तुम्हारे अभिप्रायके खाद-पानीसे ही लम्बी हो रही है—इतना तो अदना भी समझ सकता है। अच्छा चलो, पास ही मेडोना है, वहाँ जलपान कर लें।" अजित खड़ा हो गया। उसने सिर मोड़ते हुए पूछा—"तुम्हारी साधनामें कोई व्यवधान तो नहीं पड़ेगा?"

मुख्य सड़कपर आते-आते अनिलने कहा—"मुझे थोड़ी देरमें नंगल जाना है। उसके आगे एक महात्मा रहते हैं।" अजितने उसकी ओर तेज़ निगाहोंसे घूरा। अनिलने टोन बदलते हुए कहा—"अब तो तुम्हारा प्रोमोशन हो गया होगा। कितना भोरते हो?"

वह सहसा क्रुद्ध हो गया, माथेपर सलवटें उभर आयीं। स्मृतिकी कौंधमें भारी डील-डौलका पंजाबी बॉस झलक उठा। बढ़िया सूट, चमचमाता हुआ जूता, सफ़ेद पगड़ी। मरोड़ी हुई दाढ़ी-मूँछोंके बीचसे बिल्लीकी चमकती आँखें। उसे चुप देखकर अनिलने उसे कनखियोंसे देखा। थोड़ी दूर आगे बढ़ जानेपर अजितने गम्भीर स्वरमें कहा—"प्रोमोशन। उसे बॉसके मुँहपर दे मारा। मैं स्वतन्त्र हूँ।"

"यह तो हमारी दाढ़ी बताती है—युवा पीढ़ीका पट्ट, उसका दस्तावेज़। तो क्या करते हो?"

"फ्री लान्सिग।"

मेडोना आ गया था। ज्यूक बॉक्सकी ध्वनियाँ लहरें बना रही थीं। अनिलके सामने एक जोड़ा बैठा हुआ था। युवतीने अनिलको देखकर हँस दिया। उसने अपने साथीको कुहनी मारते हुए कहा—"दिल्लीमें जू देखनेकी जरूरत नहीं है। यहाँ तो जहाँ देखो जू है।" वह रह-रहकर अनिलकी ओर देख लेती थी। अनिलको उसकी रतनार आँखोंमें कुछ मिल रहा था, वह सुख और उत्तेजनाका अनुभव कर रहा था।

"कटलेट और कॉफ़ी"—अजितने बैरेसे

कहा।

युवती इस विचित्र जीवको देखते अघा नहीं रही थी। अनिलको ऐसी खूबसूरत, शोख और स्वतन्त्र युवतीसे पाला नहीं पड़ा था। दोनों एक-दूसरेकी अजनबियतमें रस ले रहे थे। जोड़ा उठा। फाटक खोलते-खोलते युवकने कहा—"हिन्दुस्तानी बीटिल"। युवती खिलखिलाकर हँस पड़ी। अनिलको वह हँसी अच्छी लगी।

दोनों चुपचाप घर लौट आये। अनिलने कहा—"वे पति-पत्नी नहीं लग रहे थे।"

अजित ज़ोरसे हँस पड़ा—"अभी तुम मेडोनामें ही हो। यदि पति-पत्नी नहीं थे तो तुम्हें क्यों तकलीफ़ हो रही है।" अनिल झेंप गया।

टेबलके कोनेमें एक फ़ोटो रखा हुआ था। अनिलकी दृष्टि उसपर पड़ी।

"यह कौन है?"

"मेरी दोस्त?"

"दोस्त और प्रेयसी।"

"हाँ।" अजितने सिगरेट जला लिया। वह बड़े ग़ौरसे अनिलकी प्रतिक्रिया देख रहा था।

अनिलके चेहरेपर स्याही पुत गयी—तुम शराब भी पीते होगे। गलीज़ जिन्दगी! तुमसे ऐसी उम्मीद नहीं थी।"

"हम दोनों कमसे कम हफ़्तेमें एक साथ पीते हैं। इसमें गुनाह क्या है? और सोते हैं....।" अनिल खड़ा हो गया। उसका शरीर ऐंठने लगा था।

"अब जाओगे क्या? वह आती ही होगी। काफ़ी शोख है।"—अजितने कुटिलतासे कहा।

अनिल बैठ गया। उसके मनमें कुतूहल जगा। सोचा—ज़रा यह जिन्दगी भी क्यों न देख ली जाये?

"अनिल, बुरा न मानो तो एक बात कहूँ। लड़कियोंने कभी तुम्हें पसन्द नहीं किया। है न बात सच?"

अनिल अपनेको छोटा महसूस करने लगा। उसके चेहरेपर ताँबेका रंग उभर आया। क्षण-भरकी चुप्पीके बाद वह बोला, "मेरे जीवनका उद्देश्य मौज-मस्ती नहीं है। वे बराबर उन्हें ही पसन्द करती हैं जो हलके लाखैरे और शोहदे होते हैं। वे बौद्धिक नहीं होतीं, वे अकसर बोर करती हैं।"

अजितकी आँखोंमें शरारत झाँक गयी—"तुम काफ़ी बूढ़े हो चुके हो। अपनेको मारना अच्छा नहीं है। जिन्दा रहना सीखो। साधनाका केंचुल छोड़कर जिन्दगीका सीधे मुक़ाबला करो। तुम किताबी बातें करते हो। किसीको प्यार करो जिन्दगी फूल बनकर मुसकरा उठेगी।"" लेकिन हाँ, अभी तो तुम नंगल जा रहे हो ना।"

"नहीं, अब रुकूँगा। ज़रा तुम्हारी जिन्दगीका ज़ायका लूँ"—अनिल बोला। "और अगर नंगलके बाबा कहीं चले गये तो?" अजितके होठोंपर कुटिलताकी लकीरें खिच गयीं।

० ०

हॉर्न। कारका दरवाज़ा झटकेसे बन्द हुआ।

अजितने खिड़कीसे झाँककर देखा—अल्पना और वन्दना उतर रही थीं। कमरेमें घुसते ही एक अजनबीको देखकर वे अचकचा गयीं। अजितने स्थिति सँभालते हुए कहा—"ये मेरे जिगरी दोस्त हैं। साधनाके प्रेमी।" वह मुसकरा पड़ा। दोनों युवतियोंके होंठ हिले। सामाजिक मुसकराहट आयी और चली गयी।

दोनों लड़कियोंने एक-दूसरेको कनखियोंसे देखा। दोनों आधुनिक युवतियाँ थीं। अल्पनाने ढीला कुरता और चूड़ीदार पाजामा पहन रखा था, वन्दनाने हलके नीले रंगका टाइटस्कर्ट और कमीज। ऊपरसे स्लेटी कार्डिगन डाल ली थी। अल्पनाका रंग कश्मीरी और तराश पारसी थी। वह अपने एकहरे शरीरमें भी भरी-भरी लगती थी। देखनेमें बहुत ही कोमल, आकर्षक और गम्भीर वन्दना उसके मुक़ाबले खूबसूरत तो नहीं कही जा सकती। वह किंचित् स्थूल पर शोख और चंचल थी। उसने अपने होंठको दाँतों तले दबाकर अनिलकी ओर देखा। अनिलकी आँखोंमें चमक आ गयी।

अजित कुछ देर तक मौन और बनावटी गम्भीरता ओढ़े बैठा रहा। फिर अपना मौन तोड़ते हुए उसने कहा—"यह मेरी दोस्त अल्पना है और वह मेरी दोस्तकी दोस्त वन्दना।"

"आप लोग आर्टिस्ट हैं?"—अनिलने पूछा।

दोनों जोरसे हँस पड़ीं। अनिल झेंप गया। अल्पनाने धीरेसे कहा—"मैं थोड़ा-बहुत स्केच कर लेती हूँ। यह मॉडलका काम करती हैं।"

"क्या मैं कोई स्केच देख सकता हूँ।" अनिलका पुराना कलाकार सचेत हो रहा था। अल्पनाने अपने बैगसे एक 'न्यूड' निकाला और उसे अनिलको थमा दिया। अनिलने रेखाओंको तीखी निगाहसे देखा और युवतियोंपर दृष्टि दौड़ायी। वन्दनाने पूछा—"कैसा लगा आपको?"

"मैं किसकी तारीफ़ करूँ—अँगुलियोंकी या मॉडलकी?"

अजित दूसरे कमरेमें गया और ह्विस्कीकी बोतलें ले आया। उसकी भौंहें मिलीं, आँखें कुछ संकुचित हुईं। बोतल खोलते हुए वह हँस पड़ा। फिर धीरेसे बोला—"अनिल, तुमको आपत्ति न हो तो हम लोग दो-एक पेग लें।"

अनिलने अचरज-भरी दृष्टिसे देखा। उसे अपना टूटा मठ याद आया, 'रामः रामौ रामाः' रटते हुए मरियल बटुक याद आये। ठण्डी, खामोश, बर्फ़ीली, चट्टानोंकी बाँहोंमें बँधा हुआ आसमान दिखाई पड़ा। साधनाके बन्द टूट-टूटकर बिखरने लगे। वह सहेजनेकी जितनी कोशिश करता वे उतने ही बिफर जाते। इतना अधिक सुख उसने पहली बार देखा, लेकिन वह उसके अनुभवके परे था। वह ऐसी सीमा-रेखापर खड़ा था जहाँसे वह दोनों प्रदेशोंको देख रहा था। किन्तु उस वर्जित क्षेत्रमें घुसनेकी हिम्मत नहीं हो रही थी।

वन्दनाने गिलासमें ह्विस्की उँड़ेली। वह बग़लमें बैठे हुए अनिलकी ओर झुकी। उसके बालोंकी लट खुलकर उसके गोरे गालपर लहरा उठी। अनिलकी आँखें उसपर थमी ही थीं कि वन्दनाके होठ अनिलके होठोंके इतने पास पहुँच गये कि दोनोंने एक-दूसरेकी साँसोंका अनुभव किया। उसने धीरेसे कहा—"आप इतने अकेले क्यों हैं ?"

"वन्दना !" अपनी जाँघोंपर कुहनियाँ रखे हुए अनिल उसकी ओर कुछ इस तरह झुक गया मानो वह अनजाने ही कहीं समर्पित हो गया हो। वन्दनाने ह्विस्कीका गिलास उसकी ओर बढ़ा दिया। वह गटगट आखिरी घूँट तक पी गया।

"तुम ईश्वरमें विश्वास करते हो अनिल ?" वन्दनाने पूछा।

अल्पना और अजित मुसकरा रहे थे।

अनिलने ज़ोर देकर कहा—"हाँ, और तुम ?"

"देहमें, सेक्समें और प्रेम·······" उसका स्वर लड़खड़ा गया। उसके सामने एक चेहरा गुज़रता तो दूसरा उभर आता। दूसरा ग़ायब होता तो तीसरा आ जाता। चौथा, पाँचवाँ, छठा·······। फिर सब एकमेक हो जाते। किसीके साथ चाँदनी रात उग आती तो किसीके साथ कनॉट प्लेस, इण्डिया गेट और राजघाट। उसके चेहरेपर मैलकी पर्त चढ़ गयी। उसने जोरसे सिर झटका गोया सारे चेहरोंको एक साथ ही फेंक देना चाहती हो। अनिलको थोड़ा नशा चढ़ रहा था। वह मुक्त होने लगा। उसने अपना सिर कुरसीकी बाँहपर टिका दिया।

"अनिल"—अजितने उसकी दाढ़ी ऊपर उठाते हुए पूछा—"दोनोंमें कहीं समझौता हो सकता है ?"

"दोनोंमें कोई फ़र्क़ नहीं है।" उसने आँखें खोलते हुए कहा। फिर वह झटकेसे उठा और घुटनेके बल जमीनपर बैठ गया। उसकी आँखें बन्द थीं। हाथ जुड़े और माथा झुक गया।

वह उठकर कुरसीपर बैठ गया। नशा गहरा आया था। उसे लगा—किसीने कुरता उतार लिया है, किसीने पाजामा खींच लिया है, कोई चप्पल ले भागा। वह एकदम नंगा हो गया था।

वह सहसा उठ खड़ा हुआ। अटैची हाथमें लेते हुए उसने कहा—"मुझे नंगल जाना है।" अल्पनाकी ओर मुँह करते हुए वह बोला—"तुम्हें एक न्यूड और खींचना है।" अल्पना और अजित मौन थे। वन्दना उसे बसस्टैण्ड तक छोड़ने चली गयी।

वह काफ़ी देरमें लौटी। अजित और अल्पना या तो उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे या उन्हें नींद नहीं आ रही थी। अजितने अल्पनाको अपनी बाँहोंमें खींच लिया। वन्दना रो पड़ी। उसे हिचकियाँ आने लगीं। अजित और अल्पनाने देखा—उसके चेहरेपर पहली बार और शायद आखिरी बार प्यारकी छाप उभर आयी थी। वे दोनों एकबारगी शिथिल और ग़मगीन हो गये।

■
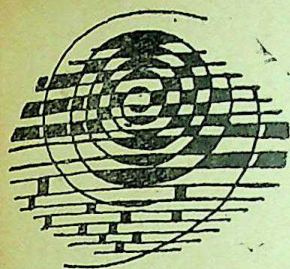
जब मैं कुण्डलिनी जागरण के अनुभव से गुज़रा

वीरेन्द्रकुमार जैन

लेखककी अलौकिक अनुभूतिके हेतु-स्रोत और केन्द्रीय व्यक्तित्व स्वामी मुक्तानन्दजी-की षष्टिपूर्ति १२ मई, १९६८ को बम्बईमें आयोजित है। यह अवसर रचनाको विशेष रूपसे सामयिक बनाता है। ■

बचपनसे ही किसी अज्ञात सत्ताकी विरह-वेदनासे मेरा चित्त व्याकुल रहने लगा था। 'कहीं और····कहीं और···' की प्राणहारिणी पुकार निरन्तर मेरे भीतर गूंजती रहती थी। आठ वर्षकी उम्रमें ही जगत्‌की भंगुरता और मरणके बोधने मुझे जीवन-जगत्‌से वियुक्त-सा कर दिया था। कभी भी अचानक लग आता कि इस जगत्‌में मेरा कहीं घर नहीं है। मेरा घर कहीं और है। हर कहीं कुछ चूकता-सा लगता : सब-कुछमें एक अधूरेपनका भास होता! आठ वर्षकी उस नन्हीं वयमें ही, एक दिन दोपहर अचानक, मृत्यु-भयका मेरा बोध परा-काष्ठापर पहुँच गया।····अरे एक दिन ये सारे स्व-जन मुझे छोड़कर सदाके लिए चले जायेंगे····? और मैं····मैं भी तो एक दिन नहीं रहूँगा····? और एक भयंकर अकेलेपन और

अरक्षाके भयसे पागल होकर मैं रोने लगा। आत्मीयोंने भगवान्, आत्माकी अमरता और धर्म-शास्त्रोंकी दुहाइयाँ देकर बहुत समझाया, पर मेरे बालक-चित्तके उस प्रश्नका समाधान न हो सका, तो फिर कभी न हो सका।

मृत्युके रहस्यको भेदने और किसी अमर सत्ताको पानेकी यह पुकार, जो उस दिन मेरी चेतनामें ज्वलित हो उठी थी, वह फिर कभी शान्त न हो सकी। इस बीच जीवनकी विकास-यात्रामें, सुख-दुःखके अनेक अनुभवों, दारुण संघर्षों, उपलब्धियों, धर्म-अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, के तलगामी अध्ययनों और मन्थनोंके बावजूद, अपने सर्जनमें अमर जीवनका स्पर्श पानेके बावजूद, मरण और भंगुरताके तीखे प्रश्नोंकी चिर बेचैन शूल-शैयापर ही, इस घड़ी तकका मेरा जीवन बीता है।

सन् १९४८ में मृत्युका वही प्रश्न और भी कई गुना भयंकर होकर उठा, और उस सर्वस्व-हारिणी महावेदनामें फिर चार वर्षों तक मैं जिस भयावने शून्यके एकाकीपनमें उच्चाटित होकर भटकता रहा, अपनी उस अमानुषी यातनाका वर्णन मैं शब्दोंमें नहीं कर सकता। तभी मैं श्री अरविन्दके योगके सम्पर्कमें आया। एक जबरदस्त बौद्धिक समाधान श्री अरविन्दके दर्शन और 'विज़न'में मुझे मिला, पर कोई आन्तर अनुभव-जन्य प्रतीति न होनेसे, मैं अपनी व्यथामें वैसा ही भटकता रहा। उसके बाद अपनी खोजमें, अनेक-सन्त-महात्माओं, योगियों, महापुरुषोंके सम्पर्कमें आया, उनका गहरा प्रेम भी मुझे प्राप्त हुआ, लेकिन अनुभवका पारस-परस कहीं भी प्राप्त न हो सका।

सन् १९६२ के आरम्भमें, एक दोपहर, बम्बईके समीपस्थ गणेशपुरीके 'श्री गुरुदेव आश्रम' की अम्मा, कु० प्रतिभा त्रिवेदी, कुण्डलिनी-शक्ति पर एक लेख लेकर 'भारती' कार्यालयमें, मेरे पास आयीं। इस जीवन-जगत्को ही दिव्य सत्ताका अधिष्ठान बनानेकी एक तीव्र पुकार मेरे भीतर सतत रहनेके कारण, तन्त्र-विद्यामें मुझे गहरा रस था, सो कुण्डलिनी-शक्तिपात सम्बन्धी उनका लेख मैंने सहर्ष स्वीकार लिया। उन्होंने बातचीतके दौरान बम्बईके समीपस्थ गणेशपुरीके 'श्री गुरुदेव आश्रम' तथा शक्तिपातके समर्थ योगी-गुरु श्री स्वामी मुक्तानन्दके बारेमें भी बहुत-कुछ बताया। अपने सम्पादकीय कार्यकी व्यस्ततामें, मैंने उनकी सूचनाओंको भीतर नोट कर लिया, और यही सोचकर छुट्टी ले ली कि देखो, अवसर मिला तो कभी उधर अवश्य जाऊँगा।

सन् '६४ में, शायद दीपावलीके आसपास, मेरे एक पुराने पड़ोसी और अति सज्जन भक्त-पुरुष श्री प्राणजीवन ठक्करके हाथ, सुश्री प्रतिभा बहनने, आश्रमकी वार्षिक पत्रिका—'गुरु वाणी' का ताजा अंक मेरे पास भेजा। प्राणजीवन भाईने स्वामी मुक्तानन्दके सान्निध्यमें जो दुर्लभ सुख-शान्ति उपलब्ध की थी, उसका अपना वैयक्तिक अनुभव भी मुझे बताया, और

एक स्नेही हितैषीके नाते, मुझे गणेशपुरी आनेका आग्रह-भरा आमन्त्रण भी दिया। 'गुरुवाणी' के कई लेख मैं पढ़ गया। और मेरी जिज्ञासा तीव्रसे तीव्रतर होने लगी। सभी लेखोंमें विभिन्न साधकोंने श्री गुरुदेवके सामीप्यमें पाये अपने गहन आन्तरिक अनुभव दर्शनोंका ज्वलन्त आत्म-निवेदन किया था। सबसे ज़्यादा आकर्षित किया मुझे महाराष्ट्र सरकारके लॉ-सेक्रेटरी श्री बी० पी० दलालके कुण्डलिनी-जागृतिके परम साक्षात्कारी अनुभवने।

सुविधा पाते ही कभी गणेशपुरी जाना है, ऐसा एक निश्चय मेरे मनमें दृढ़तर होने लगा। तभी १९६५ के जनवरी-फ़रवरी महीनेमें मेरी एक अभिन्न आत्मीयाने मेरी कॉरेलीके दो-एक उपन्यास पढ़े और बोलीं कि—"सामान्य जीवन अब सह्य नहीं है, किसी उच्चतर अनुभवकी भूमिकामें पहुँचे बिना चित्तको विराम नहीं है....! कोई ऐसा गुरु खोजो न, जो हमारे जीवनोंको बदल दे...जो हमें अमृतका अनुभव कराये....?" मैंने तो इसी प्रकारकी अग्नि-शैयापर सारा जीवन बिताया था। इस दिशामें, अभिन्न संगीका साथ-साहचर्य पाकर, मैं सन्नद्ध हो उठा, और गणेशपुरी जानेका संकल्प मनमें रूप लेने लगा।

तभी अचानक एक रात मुझे स्वप्नमें सुनाई पड़ा : 'कुण्डलिनी जागृत करके मेरे पास आओ...!' किसकी आवाज़ थी पता नहीं चल सका। पर गणेशपुरी जानेकी पुकार अनिवार्य हो उठी, मैं प्रतिपल अधीरतासे 'श्री गुरुदेव आश्रम' और स्वामी मुक्तानन्दकी अनेक कल्पना-मूर्तियाँ अपने मनमें रचने लगा।....

...आखिर ठीक मुहूर्त-घड़ी आ पहुँची और १ मार्च १९६५, रविवारकी सुबह ७ बजे, लोकल ट्रेनसे हमने गणेशपुरीके लिए प्रस्थान कर दिया। विरारमें बसके लिए अधिक इन्तज़ार करना पड़ा, और गणेशपुरी पहुँचते हमें १० बज गया।

बससे उतरते ही आसपासके पार्वत्य वन-प्रदेशका अपार सौन्दर्य देखकर, मैं मुग्ध-विभोर हो उठा। आश्रमके अहातेमें प्रवेश कर हमने सुश्री प्रतिभा अम्माको सूचना भेजी। तुरन्त ही वे आयीं और बड़े स्नेहसे हमारा स्वागत करती हुई बोलीं : "गुरुदेव दो-तीन दिनसे निरन्तर तुम्हें याद कर रहे हैं...। मैंने उनको तुम्हारे बारेमें सब बताया था।....अभी सवेरेसे वे बराबर तुम्हारी प्रतीक्षामें हैं....!" सुनकर मेरा चिर-विरही हृदय मिलनके लिए आतुर हो उठा।

मुँह-हाथ धोनेके उपरान्त, तुरन्त ही हमें, एक बड़े हॉलमें श्री गुरुदेवकी उपस्थिति में ले जाया गया। एक कोनेमें, एक विशाल-काय आराम-कुरसीपर, घुटनों तकका काषाय अधो वसन पहने, एक घनश्याम वर्ण भव्य पुरुष टाँगपर टाँग डाले, एक अजीब सिंह मुद्रामें बैठा दिखाई पड़ा। अति सुडौल विशाल मस्तकपर अस्त-व्यस्त केश, सहज बाल्य निर्दोषता लिये, फिर भी गौरवशाली चेहरेपर खसखसी श्मश्रु दाढ़ी, परमहंस

देव और क्राइस्टका स्मरण दिलाती-सी। आँखोंमें आरपार सरलपन। दक्षिणेश्वरके ठाकुर-जैसा ही वात्सल्यसे उफनता विपुल वक्ष-मण्डल और उसपर झूलती दोहरी रुद्राक्षकी माला।....

एक पारदर्शी प्यारसे छलकती मुसकान के साथ गुरुदेवने हमारा स्वागत किया। भर आये मनसे मैंने चरणोंमें माथा रख दिया। उन्होंने माथेपर हाथ फेर, अपने पास ही बैठनेका आदेश दिया।

सामान्य प्रश्न-वार्त्ताके बाद, वे अपने आसपास बैठे प्रिय भक्त-जनोंको मेरा परिचय देने लगे: "ये 'भारती'का सम्पादक, प्रसिद्ध कवि....बड़ा साहित्यकार....! ये बहुत अच्छा साधक बननेवाला है....बहुत अच्छा साधक बनेगा....बहुत उच्च साधना करेगा....।" मैं अचम्भेमें था कि मेरे आने के पल-मात्रमें ही कैसे यह जान लिया गया कि मैं अच्छा साधक बनूँगा। अपनी अपात्रताका भान मुझमें इतना तीव्र था कि स्वामीजीकी बात मुझे महज़ एक औपचारिक प्रोत्साहन जान पड़ी। पर वे बालककी तरह, अपनी उस भविष्यवाणीको, अपने हर नये आनेवाले शिष्यके सामने बारम्बार दुहराते चले जा रहे थे: "ओ बहुत उच्च साधना करनेवाला है....ओ महापुरुष है....?"

ग्यारह बजेके क़रीब गुरुदेव भोजनके लिए उठे। उठते समय मेरे माथेपर हाथ रखकर बोले—"बैठो...अभी दस मिनिटमें आता हूँ....।" सच ही अपना स्वल्प भोजन समाप्त कर वे दस मिनिटमें लौट आये। लौटनेपर भी हर आनेवाले भक्तसे मेरा परिचय करानेका क्रम जारी रहा। साढ़े-ग्यारहके क़रीब गुरुदेव बोले: "प्राणजीवन, इन्हें आश्रम दिखाओ, फिर भोजन कराने ले जाओ....।"

उठते समय मैंने कुरसीपर सिमटे हुए गुरुदेवके एक चरणके अँगूठेसे अपना ललाट, बहुत ही उमड़कर सटा दिया!...माथा उठाकर देखा कि गुरुदेवका मर्म कहीं बहुत गहराईमें छू गया है....और उनकी आँखें एक निविड़ आघातसे मुँद-सी गयी हैं।....मुझे शंका-सी हुई, जैसे कुछ घटित हुआ है....!

० ०

घुमा-फिराकर हमें आश्रम दिखाया गया। आश्रमका उद्यान इतना सुरम्य, सुन्दर और सुरचित था, कि सहज ही मनमें आया, अरे, यह तो देवोंकी क्रीड़ा-भूमि है!....उद्यानके बीचो-बीच एक सायबानके नीचे नटराजकी एक सुन्दर मूर्ति संस्थापित है। उनके चरणोंमें शंख, नीराजन, धूपायन तथा पूजा-कलश सजे हैं। दूरपर दिखाई पड़ते मन्दारगिरि पर्वतके विशाल घननील पार्श्वपर, उद्यान के छोरपर झूलती मोतिया-गुलाबी फूलों-वाली बोगनवेलियाकी विपुल पुष्पित वेलियाँ किसी अलौकिक दिव्य सौन्दर्य लोकका द्वार मुक्त करती-सी लग रही थीं।

आश्रमके पीछे पहाड़ीपर 'तुरीय-मन्दिर' नामक एक भव्य साधना-भवन है। उसके अगुरु-धूप सुवासित विशाल 'मेडीटेशन हाल' में प्रवेश करते ही, उसके शीर्ष भागमें एक विशाल चाँदीके सिंहासनमें, वर्तमान

दक्षिणावर्तके अनन्य योगीश्वर भगवान् नित्यानन्दकी पूर्णाकार छवि विराजमान है। ज्यों ही मैं उसके सम्मुख पहुँचा, तो मेरा अंग-अंग रोमांचित होकर विगलित हो आया, और मेरे हृदयसे आँसुओंका एक समुद्र-सा उमड़ पड़ा। पल-मात्रमें ही मैं आत्म-विस्मृत हो, भगवान् नित्यानन्दके चरणोंमें साष्टांग प्रणिपातमें विसर्जित हो गया।

भोजन और किंचित् विश्रामके उपरान्त, हम भगवान् नित्यानन्दकी समाधिके दर्शनके लिए गणेशपुरी गये। समाधि-मन्दिरमें प्रवेश करते ही विरह और मिलनकी आकुलताके आँसू एक साथ ही मेरी आँखोंसे बहने लगे। जितनी देर मैं समाधिके समीप रहा, एक अपूर्व रोमांच, पुलक और अश्रुपातसे मेरी समूची सत्ता गलती ही चली गयी।···

समाधिसे लौटकर तीसरे पहर, मैं गुरुदेव श्री मुक्तानन्दके साथ एकान्त मिलनके लिए बेचैन होता रहा। तभी अचानक एक बालिका मुझे पुकारती हुई आयी : कि बाबा आपको बुला रहे हैं। मेरी पुकारका उत्तर मिल गया : श्री गुरुदेव अपने ध्यान-कक्षके बाहर शैयापर लेटे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। निकट पहुँचते ही मैं विह्वल-व्याकुल होकर, उनके चरणोंमें माथा ढाल, फूट-फूटकर रोने लगा, और उमड़ते आँसुओंसे उनकी पग-तलियोंका प्रक्षालन करने लगा।···बाबा गहरे स्वरमें बोले : 'कैसा अगाध प्रेम है····!'' उन्होंने पास ही खड़ी मेरी साथी और मेरे मित्र प्राणजीवन ठक्करसे यह भी कहा कि "मैंने इसे शक्तिपात किया है····!" बाबासे विदा लेकर जब चलने लगा तो मुझे बताया गया कि—मैं परम भाग्यशाली हूँ—बाबाने पहले ही दिन मुझपर शक्तिपात किया है····! अब मुझे अद्भुत अनुभवोंका सुख मिलेगा। सुनकर मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही।····मुझे तो कहीं कोई 'शॉक' या 'सेन्सेशन' अनुभव नहीं हुआ—फिर यह शक्तिपात कब, कैसे हो गया?

···पर रात घर लौटकर जैसे ही मैं शैयामें लेटा और तकियेपर सिर ढाला कि अद्भुत कम्पनों (Viberations) की अनुभूतिके साथ जैसे मेरी चेतनाकी भूमिका बदलती-सी अनुभव हुई। थोड़ी ही देरमें एक गहरी सुषुप्तिके समुद्रमें डूबकर, मैं जाने कब सो गया। अगले दिन तीसरे पहर, रास्तेपर चलते हुए, अचानक जैसे मेरे हृदयका अतल खुल गया : एक अगाध गहराईसे मेरे भीतर आनन्द उमड़ने लगा। शरीर जैसे फूल-सा हलका होकर बहता-सा अनुभव हुआ : मानो मैं चल नहीं रहा हूँ : मानो कि बिना किसी आयास-प्रयासके मैं 'ईथर'के समुद्रमें तैर रहा हूँ। उस रात सोते समय फिर—तरंग-कम्पनों (Viberations) के साथ तन्द्रा-सा आया और अचानक एक चरण-तलके मुझे दर्शन हुए, जिसमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि चिह्न अंकित थे : एकाएक मुझे भान-सा हुआ—अरे यह तो भगवान् विष्णुकी पगतली है।···

अगले दिन फिर सोते समय जैसे ही, सुखद 'उल्लास' (Bliss)की लहरोंके साथ

मैं तन्द्रालीन हुआ—मैंने अपनी आँखोंके सामने अत्यन्त नमनीय (Plastic), लचीले, लहरीले, कोमल द्रव्यको लहराते देखा—मानो कि अभी उसमें से कुछ आकार लेने जा रहा है। स्तब्ध, अन्तर्लीन, मैं देखता ही रह गया : कि अचानक उस लहराते द्रव्यमें से एक अद्भुत दिव्य, सुन्दर, अलौकिक लम्बे शङ्खने आकार ले लिया। आह, अपूर्व था वह दर्शन : पहली बार अनुभव हुआ कि दिव्य वस्तुका सौन्दर्य कैसा होता है। इसी प्रकार हर रात शयनमें लेटते हुए मुझे तन्द्रालीन अवस्थामें—अनेक दिव्य चिह्नोंके दर्शन होने लगे।

एक सवेरे उठा कि अचानक मैंने गहरे नशेके उन्मादका-सा अनुभव किया। नहा-धोकर तैयार हुआ तो वह नशा और भी खिल उठा : आईनेके सामने होकर देखा : भारी पलकोंके भीतर, गहराइयोंमें डूबती मेरी आँखोंमें रातुल वारुणीके समन्दर उछल रहे थे। तैयार होकर बाहर निकला तो मैंने सारे जीवन, जगत्, प्रकृतिको नयी ही आँखोंसे देखा : आसपासके उन्हीं परिचित मकानों, रास्तों, वृक्षों, चेहरोंमें एक नया ही सौन्दर्य और आनन्द उमड़ रहा था। नशेका उन्माद बढ़ता ही जा रहा था, और मेरे हृदयमें आनन्द समा नहीं रहा था। लगता था कि इस आनन्दसे मैं पागल हो जाऊँगा। मकानोंकी छतोंपर चढ़कर संसारसे यह कहनेको जी चाहता था कि : "अरे सुनो, गणेशपुरीमें एक स्वामी रहता है, जिसने मेरे चैतन्यके भीतर अपार आनन्द और सौन्दर्यके समुद्र खोल दिये हैं।......"

दो-तीन महीनों तक मैं इस नशेकी अनुभूतिमें रहा : और उस समय लगा कि बर्गण्डीकी पुरातनसे पुरातन, क़ीमतीसे क़ीमती मदिरा भी इस नशेके सामने तुच्छ है। वह तो वह अलौकिक नशा था, जिसमें डूबकर हम भगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्य और दिव्य विभूतियोंके दर्शन कर सकते हैं। उस नशेमें मुझे, नाशवान् जगत्‌के आवरणके पीछे सनातन विद्यमान अविनाशी विश्व-सत्ताकी बारम्बार अनुभूति हुई, दर्शन हुए। अचूक प्रतीति हुई, कि मूल रूपमें, इस जीवन-जगत्‌में कुछ भी भंगुर और नाशवान् नहीं है।

पन्द्रह दिन बाद, फिर दूसरी बार गणेशपुरीकी यात्रा की, और गुरुदेव मुक्तानन्दके सामीप्यमें परम प्रेम-लाभ करके लौटा, तो एक अद्भुत आनन्द, उन्माद, प्यारकी उमड़न लिये, मैं सौरभके समुद्रमें तैरता-सा चारों ओर विचरने लगा। मेरी भूख कई गुना बढ़ गयी : भोजनके स्वादमें एक अनोखा दिव्य स्पर्श आ गया।

इस यात्राके बाद, रातको जैसे ही मैं शयन-ध्यानमें लीन हुआ कि एक अद्भुत शक्तिका दबाव, मुझे अपने मस्तकमें अनुभव होने लगा। मन शून्य हो गया : चेतना आपो-आप ही केन्द्रित हो गयी।...और एकाएक प्रकाशके एक चमकारे (Flash) के साथ, भगवान् नित्यानन्दके विराट् स्वरूपके दर्शन हुए। फिर यह दर्शन हर रातके ध्यानका नित्य-क्रम-सा हो गया।

एक साँझ वेलामें, मैं अपने 'टेरेस-गार्डन' में ध्यानमें बैठा तो मुझे दूरीमें श्रीगुरुदेव मुक्तानन्दके दर्शन हुए। उसके बाद रात्रि ध्यानमें हर दिन अनुक्रमसे भगवान् नित्यानन्द और स्वामी मुक्तानन्दके परम प्रकाश, सौन्दर्य और आनन्दसे जाज्वल्यमान दर्शन होने लगे। बीच-बीचके चाहे जब ध्यान-तन्द्रामें, अचानक तीर्थंकरोंकी भव्य आत्मलीन मुद्राओंके भगवती माँ के अपरूप सुन्दर नाना रूपोंके, अन्य अनेक देवी-देवताओंके दर्शन भी होते रहे। क्राइस्ट जीजसके उस वल्लभ चेहरेको अपने अति सामीप्यमें देखा, तथा श्री अरविन्दका एक युरॅपियनके रूपमें दर्शन पाया; सामने पाकर मैं उनके घुटनोंसे लिपट गया : किंचित् झुककर अपने दोनों प्रलम्ब हाथोंसे उन्होंने मेरे सारे शरीर को दुलरा दिया।

एक रात ध्यानमें अचानक गुरुदेव श्री मुक्तानन्दके मुसकराते हुए दर्शन हुए।···· फिर अनुभव हुआ कि मैं वनस्पतियोंकी एक शैयामें प्रलम्ब लेटा हूँ, और मेरी छातीके पास एक झाड़-सा झुक आया है। एकाएक मेरा वह वनस्पति-शैया कौच, मुझ सहित ऊपर उठने लगा। थोड़ी ही देरमें बड़ी तीव्र गतिसे मेरा वह वनस्पति-शैयामें लेटा शरीर ऊर्ध्वमें···ऊपर····और ऊपर····और ऊपर····और ऊपर···परात्परमें उत्तोलित होता चला गया।···मैं आनन्द, भक्ति और प्रेमसे उमड़कर मन-ही-मन चिल्ला उठा—'जय नित्यानन्द····जय मुक्तानन्द···जय नित्यानन्द····जय मुक्तानन्द···।' उस अन्तहीन उत्तोलन क्रियाके साथ मैं बराबर ही यह जयकार करता चला गया।

····एकाएक मुझे भय हुआ कि ऐसे ऊपर उठते हुए मैं जाने कहाँ पहुँच जाऊँगा, और वहाँसे गिरा तो जाने किस अतलान्त खन्दकमें जा गिरूँगा····। पर तभी सहसा मैंने अनुभव किया कि, उस ऊर्ध्व उत्तोलनकी चरम सीमापर पहुँचकर मेरी वह प्रलम्ब शयित, वनस्पति आच्छादित देहाकृति मानो सागरके एक घनश्याम कोमल ज्वारमें विगलित हो गयी।····उसके बाद करवट बदलकर सुखासीन सो गया। फिर भी शक्तिका दबाव बराबर ही आता रहा। रातमें एकाध-बार नींद खुलनेपर भी पाया कि मेरा समस्त शरीर शक्तिके दबावसे जकड़ा हुआ है।

२९ मार्च १९६५ की रातको शैया-ध्यानमें लीन होते ही, पहली बार अत्यन्त सामीप्यसे गुरुदेव मुक्तानन्दके अनेक रूपोंमें ज्वलन्त दर्शन हुए। बीच-बीचमें प्रकाशकी झलकोंके साथ नित्यानन्द महाराजके दर्शन भी होने लगे।····एकाएक दृष्टि ऊर्ध्व होती गयी : ऊँचाईमें प्रकाशके बीच नित्यानन्द स्वामीका मस्तक प्रकट हुआ—विराट् और प्रकाण्ड प्रकाशसे उद्भासित मस्तक। फिर वह मस्तक ठीक मध्यमें-से विभाजित होकर, विपरीत दिशाओंमें अन्तर्धान होता चला गया। बीचमें एक उत्तुंग दरारकी घाटी खुल पड़ी। उसमें वनस्पतियों—उगी माटी धारासार नीचे आने लगी। नीचे, और नीचे, नीचे ही नीचेकी ओर वह माटी जाने लगी—निरन्तर। मैं भी उसके साथ अतलान्तोंमें जाता ही

चला गया। फिर वह माटी एक एकान्त पृथिवीके कोनेमें जाकर विसर्जित हो गयी।

....उसके बाद फिर मुक्तानन्द प्रभु लीला दिखाने लगे। आसपासके अनेक स्नेहियोंके चेहरे उन्होंने मुझे बारी-बारीसे दिखाये। फिर अनेक रूपोंमें दोनों गुरुदेवोंकी दर्शन-परम्परा चलती रही। शक्ति खूब मुलायम, लचीली, घनीभूत होकर मस्तकमें लहराती ही चली आयी। अचानक एक ओरसे स्वामी नित्यानन्दका चिद्घन प्रकाण्ड मस्तक आता दिखाई दिया....और अन्ततः वह आकर मेरे मस्तकमें समा गया। ऐं....? भगवान् मेरे मस्तकमें समा गये?

मेरे साथ तदाकार हो गये....? सच-मुच....?

फिर करवट बदलकर सोनेपर भी नींदमें बराबर शक्ति-संचार होता रहा। अनिर्वच थी आन्तर दर्शनकी वह रात!

० ०

इस बीच अनेक परिस्थितिगत कठिनाइयों, बाधाओं, विफलताओं और निराशाओंके कारण बड़ी यातनामें दिन बीते थे। चित्तका स्थिरीकरण और ध्यान भी नहीं हो पाता था।

बड़ी ही आन्तर पीड़ामें दिन बीत रहे थे, तभी २१ मई १९६५ की रात, एकाएक शैयामें तन-मन निश्चल हो गये।....किसी आविर्भाव की-सी अनुभूति होने लगी। तभी त्रिशूल कमण्डलु धारण किये, दूरीमें-से आते हुए भगवान् दत्तात्रेयके धुँधले-से दर्शन हुए। फिर अपनी कठिनाइयों और समस्याओंको लेकर अनेक भय, कुशंकाओं, बेहद परेशानी और भयकारी रोमांचका अनुभव होने लगा।....घबराकर उठ बैठा: फिर सोचा—तो भीतर कुछ स्फुरण-सी होने लगी।.... लगा कि मुक्तानन्द प्रभु सम्मुख हैं और कुछ कहना चाहते हैं। अपने-आप ही अपनी अनेक समस्याओंको लेकर मेरे मनमें प्रश्न अंकुरित होता, न होता, कि तुरत तपाक्-से गुरुदेवकी ओरसे उसका बहुत सुनिश्चित, अविकल्प उत्तर आ जाता। प्रश्नोत्तर और वार्त्तालापका वह सिलसिला बड़ी देर तक जारी रहा, जिसमें मेरे भावी जीवन-सम्बन्धी अनेक प्रश्नोंके उत्तर भी दिये गये।

इस वार्त्तालापके बीच ही कहीं अचानक भगवान् साँईनाथकी उपस्थितिका बोध हुआ: वे बोले: "आँख खोलकर देखो, मैं तुम्हारे पास ही खड़ा हूँ....!" कि अचानक फिर वार्त्तालाप जारी हो गया। बड़ी देर बातचीत होते रहनेके बाद बाबाने कहा: "अच्छा उठो, अब सो जाओ....!" बाथ-रूम जाकर मैं सो गया। फिर भी आरम्भिक तन्द्रामें आवेशके साथ कोई-कोई इक्का-दुक्का वाक्य बराबर सुनाई पड़ते रहे।

बीचके इन दो वर्षोंमें, अनेक संकटोंने एक साथ मुझपर आक्रमण किया है। बड़ी ही प्राणहारी संघर्षके बीच जीना चलता रहा है। कई बार लग आता है, जीवित हूँ—यह भी गुरुदेवके ही अनुग्रहका परम प्रसाद है। इस समय ध्यान दर्शन-अनुभूति

विलुप्त-प्राय हैं। वैसे--सविशेष प्रयास करने-पर, अब भी चाहे जब, मैं अपने मनको निश्चल, विचार-विकार शून्य कर सकता हूँ। बीचमें आ गये इस व्याघातका कारण गुरुदेव-से पूछनेपर, उन्होंने बताया कि यह सांसारिक बाधा-प्रतिबन्धके कारण है। अवधि समाप्त होनेपर यह विघ्न टल जायेगा और यथासमय फिर शक्तिका और भी प्रबलतर प्राकट्य होगा।

····पर अनुभूति-दर्शनके वे पिछले दिन याद आते हैं, तो मेरे आनन्द, आश्चर्य और वेदनाकी सीमा नहीं रहती है। उन दिनों चेतना कैसी सहज प्रवाही, मुक्त, मृदुल, ज्वारिल, एकाग्र हो गयी थी। हर वस्तु और व्यक्तिकी सीमाएँ अनायास एक माधुर्य-में पिघलकर तिरोहित हो जाती थीं। चाहे जब अनायास चित्तको शून्य किया जा सकता था। चाहे जब ध्यान सम्भव हो सकता था। कण्ठमें चाहे जब अमृत झरने लगता था। इन्द्रियाँ अधिक सशक्त, सजीव और अति संवेदनशील हो गयी थीं। मुझे तो उस अवस्थामें ऐन्द्रिक और अतीन्द्रियमें कोई विरोध ही नहीं अनुभव होता था।

····चाहे जब देह फूल-सी हलकी हो जाती थी: मन चिन्ता-मुक्त होकर, आनन्द-का एक निरवधि, स्तब्ध, स्निग्ध, अनन्त, निःसीम समुद्र हो उठता था। हृदयमें अतल, अगाध माधुर्यसे उफनता शून्य चाहे जब खुल उठता था। अस्तित्व ईथरमें तैरता-सा अनुभव होता था। साँसोंमें स्वर्गोंकी हवाएँ बहती थीं। कण्ठमें निरन्तर अमृतका प्रस्रवण जारी रहता था, और आँखें दिव्य मदिराके नशेमें झूमती रहती थीं। शास्त्रोंमें, योग-अध्यात्मके ग्रन्थोमें आजतक जो मात्र पढ़ा था, वह उन दिनों मुझे प्रत्यक्ष अनुभव-गम्य हो गया। मेरी रक्त-मांसकी ठोस देहमें, मेरी नसोंके बहते हुए खूनमें, वह अतीन्द्रिय चैतन्यकी अनुभूति, इन्द्रियगम्य और सांगोपांग साकार हो उठी।

श्री गुरुदेव नित्यानन्द और स्वामी मुक्तानन्दके प्रति मेरी कृतज्ञताकी सीमा नहीं है। आश्चर्य होता है, यह सब क्या हुआ, कैसे हुआ?····वह सब मेरी इसी देहमें इतने ज्वलन्त रूपमें घटित हुआ!····

■ ■

प्रिया नीलकंठी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
विक्रय-केन्द्र : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-

पंजाबी की कविताएँ

अन्धा कुँआ / प्रभजोत कौर

अनुवाद : इन्दु जैन

यह मेरा अनचाहापन
सच नहीं
दिखावा भर है।
अपने मन को धोखा दे
रंगीन बनाती,
परचाती,
बहला, फुसला
सोच लिया करती हूँ…
"आज नहीं कल पा लूँगी
अपना मनचाहा,
ले लूँगी अपना मनभाया…
चाह बना लेगी बीहड़ वन में पगडण्डी।"

अपने मन को नित समझाती—
"उसके हित हूँ छीज रही क्यों
जिसे नहीं मेरी प्रत्याशा ?
जिसके भरे–पुरे जीवन में
तिल-भर स्थान नहीं ख़ाली है···?
व्यर्थ उसी के मोह–सिन्धु में
डूब रही क्यों ?
उसके मिलने पर पा लूँगी
क्या मैं दुर्लभ प्यार ?
क्या भर लूँगी रिक्त हृदय को ?
बिना बँटाये होता कोई
दुख क्या अस्वीकार ?"

क्या लेना है उससे मिलकर
जो कटु हो,
विषपान कराये !
प्रिय को ही
निष्प्राण बनाये !
क्षण का मिलन
प्राणपीड़ा को
मर्मान्तक कर जाये !

क्यों रोऊँ, पछताऊँ ?
बिना मिले क्यों मर-मर जाऊँ ?
क्या उसका ख़ाली, निष्ठुर मन
जागेगा, रीझेगा ?
अन्धा कुँआ, पुकारा कितना
भला कभी गूँजेगा ?

■

घृणा के घेरे / अत्तर सिंह

अनुवाद : फूलचन्द 'मानव'

रेडियो पर रात्रि का अन्तिम समाचार बुलेटिन
सुनाया जा रहा है
मन में संशय के सागर उमड़ रहे हैं
एनाउन्सर कितने अथक स्वर में
कलकत्ते की दुर्घटनाओं का ब्योरा दे रही है
न उसकी आवाज़ में कोई उतार है
और न ही वह अपनी उच्चारण-सफलता से अनभिज्ञ है
टैगोर, नज़रुल इस्लाम, चैतन्य महाप्रभु के स्वर
क्यों मौन हैं ?
बंगाल लहर खण्डित क्यों है ?
देवस्थलों की मार्ग-रेखाएँ
पटरियों से भटककर
राहगीरों के माथों पर जा बजी हैं—
गालियाँ बनकर, गोलियाँ बनकर।
अनार, आतिशबाज़ियाँ पेट में से फूटती हैं
और सिर में जाकर फट जाती हैं।
स्मृति के बरामदों में मुखौटों के प्रेत घूरते हैं—
शिशिर, आनन्द शंकर, अणु, सय्यद अयूब, गौरी
मुखोपाध्याय, नीहार बाबू।
मुखौटों की भीड़ में अमृता की आवाज़ बिलखती है—
'मेरी माँ दी कुख मजबूर सी'
(मेरी माँ की कोख मजबूर थी।)
हर मुख नयन बनकर रो रहा है
और मैं सोचता हूँ
पीड़ा में सहयोग (सान्त्वना !) के पुल
बाँधने का यह कैसा सलीका है ?
इसलिए रात मैं और शिशिर
एक–दूसरे के बोलों का ताप सेंकते

भारत की दिव्य दृष्टि की
चर्चा करते रहे।
असीम मौत में अरविन्द के बोल
जादूबत्तियों की तरह सुलगते रहे
और जब प्रभात का अण्डा फूटा, तो हम दोनों
शाम का एक नया अहसास लेकर जागे।
हमारी आँखों में स्वप्न लटकते रहे
जो स्वप्न रहते तो सुखाते हैं
और सत्य बनते ही दुखाते हैं।
एनाउन्सर की आवाज़
कभी की अनन्त में विलीन हो चुकी
अपना कर्त्तव्य निबाहकर
वह अपने घर लौट गयी होगी—
अपने पति के साथ अपने बच्चों के पास :
अथवा उसका कोई घर ही न हो ?
अथवा अपने घर में वह सुवासित न हो ?

चिन्ता के घेरे फैलते जाते हैं, मिटते ही नहीं,
भारी कड़ुवाहट
नींद-रहित उदासी बनकर
फेफड़ों में से उठती है
शिशिर क्या सोचता होगा ?
कृष्ण पक्ष में अन्तिम प्रहरी चाँद
शान्तिनिकेतन के उपवन को
विमुखता नहीं दिखा रहा क्या ?
और वह कुछ भी सोचे
मैं जानता हूँ
वह भी
नपुंसक क्रोध की
ठण्डी आग में
मेरी तरह
मिट रहा होगा, घट रहा होगा। ■ ■

मंच के बदलते रंग

भानु मेहता

हिन्दी रंगमंच की सौवीं वर्षगाँठ पर

"तीन अप्रैल १८६८ को बनारसमें 'जानकी मंगल' नामक नाटकका अभिनय हुआ।" एक सौ साल पुराना समाचार है जो कहता है कि हिन्दी रंगमंच कमसे कम सौ वर्षका हो गया। और तमाशा यह है कि अब भी लोग पूछते हैं 'हिन्दी रंगमंच है कहाँ ?'

वैसे हिन्दी नाटक पहले भी खेले गये--सन् १८४२-४७ में युवराज वाजिद अली शाह-द्वारा लखनऊमें 'राधा कन्हैयाका क़िस्सा', सन् १८५३ में बम्बईमें सांगलीकर नाटक मण्डली-द्वारा 'राजा गोपीचन्द ऑपेरा', सन् १८५३ में ही लखनऊमें मियाँ अमानतकी 'इन्दर सभा'। सन् १८५० के क़रीब झाँसीमें राजा गंगाधर राव भी, कहते हैं, नाटकोंके आयोजन करते थे। इस इतिहासकी खुदाई अभी बाक़ी है। मगर आधुनिक हिन्दीके

जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने जिस रंगमंचका शुभारम्भ किया उसका पहला उल्लेख यही मिलता है, सम्भवतः इस नाटकमें १८ वर्षीय हरिश्चन्द्रने 'लक्ष्मण'की भूमिका अदा की थी। अतएव यदि ३ अप्रैल १९६८ को हम हिन्दी रंगमंचकी सौवीं वर्षगाँठ कहें तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वह सौ साल पहलेका रंगमंच निश्चय ही आजके रंगमंचसे काफ़ी भिन्न था। इन सौ वर्षोंमें संसारके सभी रंगमंचोंने लम्बे डग भरे हैं। रंगमंचके रूप, आकार और प्रकारमें विस्मयकारी परिवर्तन हुए हैं। अपने पास मौलिक नाटकोंकी बड़ी निधि न होते हुए भी, अत्यन्त शिथिल गतिसे चलते हुए भी, 'हिन्दी रंगमंच' इन परिवर्तनोंसे अप्रभावित नहीं रहा है। सही है कि विदेशी रंगमंच विकासकी जिन सीढ़ियोंपर पैर रखकर ऊपर उठा है, उनमें-से भले ही हर सीढ़ीपर हिन्दी रंगमंच रुका न हो, पर गिरते-पड़ते चढ़ता ज़रूर रहा है। आज कलकत्ता या बम्बईके किसी मंचपर यदि आप हिन्दीमें एक 'अनाटक' अवतरित होते देखें तो आश्चर्यचकित होने या हैरान होनेकी आवश्यकता नहीं है। वर्तमान तीव्र गतिशील जगत्में हर क्षेत्रमें ऐसा ही हुआ है और हो रहा है। जैसे अनेक अछूते जंगली प्रदेशके लोगोंने साइकिलसे पहले हेलिकाप्टरके दर्शन किये हैं, तीन गुण और पाँच तत्त्वका हिसाब जोड़े बग़ैर, कणयुगको डाँककर आदिम अन्धविश्वासी सीधे परमाणुयुगमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

मगर चलना सीख रहे शिशुकी भाँति हिन्दी रंगमंचके डग अस्थिर रहे हैं। और ठीक भी है। लम्बी छलाँगें मारकर विकासकी मंज़िलें डाँकनेका प्रयास करनेमें ऐसा तो होगा ही। देखिए पुनर्जीवित होकर भरत मुनि मंचपर विराजे भी न थे कि पारसी बाबा आ गये। रूपहले परदेकी चकाचौंधमें पारसी बाबा भाग खड़े हुए और अभिनयके शौक़ीन, राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राममें असली लड़ाई लड़ने लगे। रंगमंच कलाकारोंकी प्रतीक्षा करता रहा। नयी चेतना नयी वेशभूषामें सामाजिक नाटकोंका रूप धरकर आयी। आदर्शवादी यथार्थवाद उभरा। मगर द्वितीय महायुद्धके बाद परमाणु युगकी विभीषिकाओंसे संत्रस्त मानवताको आदर्शवादी चरखे चलानेकी फ़ुरसत कहाँ थी। बन्धन टूटे। परम्पराएँ और रूढ़ियाँ चरमरायीं, नयी विद्रोही पीढ़ी जन्मी। समाजसुधारका स्थान समाज-भंजकोंने ले लिया। एक ऐसे नये आन्दोलनका जन्म हुआ जिसकी पच्चीस वर्ष पूर्व किसीने कल्पना भी न की थी। नयी कला, नया साहित्य, नये रंगमंच उभरे। अकविता, अकहानी, अनाटक, अमूर्त कलाओं और अनोखे रंगमंचोंका युग आ गया। संत्रस्त विद्रोही नवयुगको लम्बे अरसे तक एक ही प्रयोग करते रहने, रूपविशेष स्थिर करने और किसी दर्शनविशेषको विकसित करनेकी फ़ुरसत नहीं है। वह परिवर्तन चाहता है, गति चाहता है, तीव्रतर और तीव्रतम गति। नये-नये वाद जन्म ले रहे हैं और शैशवमें ही काल-कवलित

भी हो जा रहे हैं। इससे पूर्व कि किसी नवप्रचलित वादका दर्शन समझा जाये, उसकी आलोचना-विवेचना की जाये—वह पुराना और त्याज्य हो चुका होता है। इस उथल-पुथलसे कलाका कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं बचा है, 'हिन्दीका रंग-मंच' भी नहीं। होलीके हुड़दंगमें कौन अछूता रहता है—बच्चा हो या बूढ़ा?

मगर यह हिन्दुस्तान है। सनातन देश। यहाँ अब भी आदिम सभ्यताका युग जीवित है, प्राचीन, मध्य और अर्वाचीन युग जीवित है। और इस शम्भु मेलेमें आधुनिकतम भी हास्य रसके अतिरेकमें आँसू-सा आ पहुँचा है। यहाँ सड़कपर बैलगाड़ी भी चलती है आधुनिकतम ट्रक भी, ओझाई और डॉक्टरीमें संलाप होता है, रंगमंचपर नौटंकी भी चलती है, पारसी, आधुनिक और 'ऐबसर्ड' 'अनाटक' भी। परदेके आगे भी नाटक चलते हैं, परदेके पीछे भी। अभिनव रंगमंचपर भी होते हैं, रंगमंचके नीचे भी। बड़े सौभाग्यशाली हैं रंगमंचके विकास-पर शोध-प्रबन्ध लिखनेवाले विद्यार्थी जिनके लिए नाटकका हर युग अब भी साँस ले रहा है। किसी भी नाट्य-समारोहमें इस कथनकी झलक मिल सकती है। यह कोई आलोचना नहीं है, गुलशनपरस्त तो हर रंगोंके फूल देखकर खुश होते हैं। 'भूतनाथ चन्द्रकान्ता सन्तति से' 'चाँदका मुँह टेढ़ा है' तककी हर विधामें आनन्द उठानेवालेके लिए किसीके द्वारा मंच-विशेषको अविकसित, दकियानूसी और पिछड़ा बताया जाना, मनोविनोद मात्र होता है। उसके लिए आधुनिक रंगमंचीय हलचल किसी भी क्षेत्र-की धमाचौकड़ी-जैसी ही रोचक है।

आजकल जोर-शोरसे नाट्य-गोष्ठियाँ, 'सेमिनार' होते हैं। खूब गहरे उतर-उतरकर विचार होता है और बातके बतंगड़में, नाट्य-लेखन और प्रस्तुतीकरणकी बहसमें, रंगमंच-की मूल समस्याएँ उलझकर रह जाती हैं। रंगमंचके बदलते रंगोंकी चर्चा करनेसे पूर्व कुछ पारिभाषिक स्थिति स्पष्ट करना आवश्यक है क्योंकि यहाँ रंगान्धताकी बीमारी बहुत जोरपर है। नाटक और रंगमंचमें विशेष भेद नहीं किया जाता है। मोटरकारकी चर्चामें मोटरवालेकी चर्चा हो जाती है। अपनी मोटी समझमें नाटक (लिखा हुआ साहित्य, पुस्तक) और रंगमंच (जिस पर अभिनय होता है) दो अलग चीजें हैं। अतएव जब 'हिन्दी रंगमंच', 'बंगला रंगमंच' कहा जाता है तो मामला उलझ जाता है। हम-जैसे कूढ़मग़ज़ोंको समझमें नहीं आता कि यह लकड़ीकी चौकियों और साटिनके परदों-से बना 'इस्टेज' हिन्दी, अँगरेज़ी या बंगला कैसे बन गया? रंगमंचकी समस्याएँ तकनीकी हैं, भाषाई नहीं। स्पष्ट है कि विकासशील देशोंमें रंगमंच भी समानुपातमें पिछड़ा होगा। इस सन्दर्भमें नाटकके कला-पक्षकी थोड़ी चर्चा आवश्यक है। नाट्य-कला एक मानेमें चित्रकला या मूर्तिकलासे कुछ भिन्न है। चित्रकार एक कल्पना करता है और उसे रंगोंके माध्यमसे केनवासपर चित्रित करता है। सम्भव है कि चित्रकारके

रंग उसकी कल्पनाके रंगोंसे थोड़े भिन्न हों पर चित्र सदा उसकी कल्पनाके अनुरूप ही होता है। मगर 'नाटक' में दो कलाकारोंकी कल्पना साकार होती है। पहली कल्पना तो नाट्य-लेखककी होती है। यह मानसरके तट-पर मनचाहे रंगमंचकी सृष्टि करता है और शाब्दिक रंगोंमें कल्पनालोकके समक्ष अपना नाटक पेश करता है। (बहुधा प्रकाशित नाटकमें वह उस नाटक और रंगमंचकी सविस्तार व्याख्या करना भूल जाता है!) वह मान लेता है कि उसने एक नाट्य-कथा-की सृष्टि की थी जिसे सभीने देखा होगा। दूसरा कलाकार है 'निदेशक'। 'निदेशक' नाटक पढ़ता है, प्रभावित होता है और अपने कल्पना-लोकमें अपने ढंगसे नाटककी सृष्टि करता है। यही कारण है कि भिन्न निदेशक एक ही नाटकको भिन्न रूपमें प्रस्तुत करते हैं। मंच तो केनवास है, जिसपर संगीत-प्रकाश-अभिनयके रंगोंसे एक चित्र बनता है जो सम्भव है लेखककी कल्पनाके अनुरूप हो, और यह भी सम्भव है कि उसके बिलकुल विपरीत हो। एक बात साफ़ कहनी है कि रंगमंचपर खेला गया नाटक निदेशक की कृति होती है लेखककी नहीं। अतएव जब लेखक-निदेशककी कल्पनामें वैषम्य होता है तो अकारण ही लेखक शिकायत करता है 'फलाँ संस्थाने मेरे नाटकको तोड़-मरोड़कर परिवर्तित रूपमें पेश किया।' अभी हमारे यहाँ निदेशकको उसका उचित स्थान नहीं दिया गया है। इस क्षेत्रमें दो-चारको छोड़-कर अधिकतर अधकचरे नौसिखुवा कलाकार ही हैं। यही कारण है कि 'हिन्दी रंगमंच' पिछड़ा है। सही है कि यदि लेखकको रंगमंच की सीमाओंका ज्ञान हो तो मंचपर प्रस्तुत नाटक उसकी इच्छाके अनुरूप होता है, पर किसी जड़ रंगमंचके अनुरूप नाटक लिखना, लेखककी कल्पना-परिधिको बाँध देने-जैसा है, या चित्रकार-द्वारा केनवासके अनुरूप चित्र बनानेकी चेष्टा करने-जैसा है। कलाके क्षेत्रमें पूर्ण स्वतन्त्रता अनिवार्य है और यह नाटक-लेखक और निदेशक दोनों ही[illegible] मिलनी चाहिए। इस सन्दर्भमें 'अनभिनेय नाटक'की बात सहज ही समझमें आ जाती है अर्थात् इस नाटकको मूर्तिमान करने[illegible] क्षमतावाला निदेशक नहीं है। तथाकथित 'अनभिनेय नाटक' निदेशकके लिए [illegible] चुनौती हैं, वे उसे नया मंच, नया केनवास ढूँढ़नेको प्रेरित करते हैं।

तो रंगमंच एक केनवास है, शिलाखण्ड है, माध्यम है—जिसपर कला (या अ-कला) का सृजन (या विसर्जन) होगा। [illegible] परिप्रेक्षमें हिन्दी, बंगला, अँगरेज़ी [illegible] अमेरिकी रंगमंच शब्द उलझाते हैं। केनवास की क्या कोई भाषा होती है? तब शा[illegible] रंगमंचसे तात्पर्य है—सम्पूर्ण नाट्य-क[illegible] समूचा नाटक लेखन और निदेशन, ना[illegible] आन्दोलन और कलात्मक उपलब्धियाँ। [illegible] व्यापक अर्थमें रंगमंच अपना इतिहा[illegible] वर्तमानकी हलचल और भविष्यकी आ[illegible] एक-साथ समेटे चलता है और इसी अ[illegible] निश्चित रूपसे वह हिन्दी, मराठी, अँगरे[illegible] या बंगला हो सकता है। लेखककी [illegible]

इस भावकी अभिव्यक्तिके लिए 'नाटक' शब्द-का प्रयोग अधिक श्रेयस्कर होगा और बात यों कही जा सकती है कि 'हिन्दी नाटक' 'पुराने' या 'आधुनिक' रंगमंचपर खेला गया।

चित्र और मूर्ति कलाकी भाँति रंगमंचीय चित्रोंमें भी इन सौ वर्षोंमें बहुत-से परिवर्तन हुए हैं। रंगमंचका रूप-आकार, साज-सज्जा, प्रकाश, संगीत-व्यवस्था, अभिनय शैली, कथावस्तु और प्रस्तुतीकरणकी तकनीक—सभी-कुछ बदल गया है। और ये परिवर्तन विज्ञानकी प्रगति और समसामयिक दर्शनसे प्रभावित रहे हैं। तो आइए रंगमंचोंकी सैर कर आयें।

भारतेन्दु युगसे पूर्व हिन्दी क्षेत्रमें नाटक अभिनीत होनेके उल्लेख नहीं मिले हैं। हां 'रामलीला' और नौटंकी, रासलीला और स्वाँग जरूर थे। रामलीलाके रंगमंचने आधुनिक नाट्य-चिन्तकोंको काफ़ी प्रभावित किया है। रामलीलाके रंगमंचका रूप अभी तक अपरिवर्तित है। वह चार क्षेत्रोंवाला मंच, रामायण पाठ, एकाक्षरी संवाद और परम्परागत वेशभूषा, रूप सज्जा अभी भी वर्तमान हैं। तीस दिन तक चलनेवाला यह महा-नाटक कथाके अनुसार भिन्न स्थलोंपर खुले मैदानोंमें खेला जाता है। रामलीलाके प्रभावमें महल्लों या स्थलोंने वही नाम धारण कर लिये हैं। अयोध्या भी है, जनकपुरी भी। बगीचेमें चित्रकूट भी है, पंचवटी भी। तालाबका तट सेतुबन्ध रामेश्वर है; तालाब-के उस पार लंका है। रामलीलामें सभी दृश्य, घटनास्थल स्थायी रूपसे दर्शकके साथ रहते हैं, लीलाके समय दर्शक स्वयं मंचपर ही रहता है। अभिनेताओं और दर्शकोंका जितना निकटतम सम्पर्क रामलीलामें होता है, आधुनिकतम नाटकमें भी सम्भव नहीं है। हर लीलामें चार क्षेत्र होते हैं। उत्तरकी ओर रखा सिंहासन रामका शिविर है तो दक्षिण छोरपर स्थित चौकी रावणकी लंका है। पूर्वकी ओर रखी चौकी अशोक वाटिका है और पश्चिममें एक चौकीपर कथावाचक 'रामायनी' मण्डली वर्तमान है (और यह मण्डली लीलाका संगीत-वादन पक्ष है)। चारों क्षेत्रको पतली गलियां जोड़ती हैं जिसमें बन्दर और राक्षस उपद्रव करते हैं, दर्शकोंसे छेड़छाड़ कर लेते हैं, और इसी गैलपर कथा-का बड़ा अंश अभिनीत होता है। चौकियों और गलियोंके बीच दर्शक बैठते हैं। नाट्य-कलाके अभिनव मानदण्डपर 'रामलीला'का सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन और मूल्यांकन होना अभी बाक़ी है।

नौटंकी अपने स्वर्ण युगकी 'बॉक्स ऑफ़िस' फ़िल्म थी। उसमें जनताको बारह-मसाले मिल जाते थे। नाच-गाना, हास्य-व्यंग्य, कवित्त और साहित्य, उपदेश और चुटकियाँ सभी कुछ तो होता था। उसका रंगमंच हमारे देहात-जैसा ही सरल होता था। किसी चबूतरे या ऊँचे स्थलपर चारपाई-के सहारे, या किसी पेड़के नीचे चौकियां रखकर पेड़की डाल या बाँसके खम्भेसे एक चटक रंगका परदा लटका दिया। दर्शक सामने भूमिपर जम गये, ढोलपर थाप पड़ी और

शुरू हो गयी नौटंकी। बहुत पहले दिनकी रोशनी, मशाल या दियोंकी रोशनीमें तमाशा होता था, अब गैसबत्तीमें तो बहुत ही अच्छा लगता है। अभिनेता रूप-सज्जा, वेश-भूषासे ज्यादा ध्यान ताल और लटके पर देते थे। परदा उठाने-गिरानेकी झंझट नहीं थी, भूमिका शेष हुई तो परदेके पीछे चले गये। 'ग्रीन-रूम' तम्बूमें होता था। नाच-गानेके रंगारंग हंगामेका आधार बनानेके लिए कोई धार्मिक कथा जैसे 'राजा हरिश्चन्द्र' या 'राजा-मोरध्वज' चुन ली जाती थी। नयी नौटंकी अब बिजलीकी रोशनी, फ़िल्मी गीत और नृत्य, नये बाजे-गाजे, नये परदेके साथ चोला बदल रही है। सम्भव है कोई कल्पनाशील नौटंकीका आचार्य 'बीटल बाबू' नौटंकी पेश करे जिसमें 'ट्विस्ट' और 'रॉक एन रोल' नृत्योंकी नयी बहार हो।

रासलीला और स्वाँग-भाँड़के तमाशे बिना मंचके तमाशे हैं जिनकी ओर 'अनाटक' वालोंका ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

अब आयें 'नाटक'-तमाशेके मैदानमें। भरत मुनि-द्वारा वर्णित रंगमंच कब था, कबतक चलता रहा यह कहना कठिन है। विगत सौ वर्ष पूर्व हिन्दीने जिस मंचको अपनाया वह सम्भवतः कलकत्तामें सक्रिय 'अँगरेजी रंगमंच'का भारतीयकरण-मात्र था। चूंकि पहले-पहल पारसी महानुभावोंने व्यावसायिक नाटक कम्पनियाँ स्थापित कीं, इस कारण आज भी यह विधा 'पारसी थियेटर'के नामसे जानी जाती है। और यह पारसी शैली आज भी हमारे अधिकतर छोटे नगरोंमें जिन्दा है। 'पारसी रंगमंच' कहते ही आँखोंके आगे शानदार प्रोसीनियम और सुन्दर दृश्यावलीयुक्त 'ड्रॉप-सीन' और उसके पीछे गराड़ीके सहारे रोल हो जानेवाले दर्जनों शानदार परदे, और परदेके अनुरूप मिनिटोंमें 'ट्रान्सफ़र' हो सकनेवाले 'विंग्स' आ जाते हैं। पारसी रंगमंचपर खड़े हो जाइए तो बारम्बार 'जंगलका परदा', 'महलका परदा', 'सड़कका परदा', 'कॉमिकका परदा' सुनाई पड़ेगा। आजके टेक्निकलरकी भाँति उन दिनों 'नये परदे'का प्रचार होता था। नाटकका परदा रँगना एक विशिष्ट कला थी जो अब रंगमंचसे उतरकर सिने-सेट्स और सिने-पब्लिसिटी विभागकी सम्पत्ति बन गयी है। अच्छे कलाकार उन दिनों रात-भरमें नया चकाचौंध कर देनेवाले परदे रँग देनेका दम भरा करते थे। तेरेशे, अन्तरपट या यवनिकाके विकासकी कहानी बड़ी रोचक है। क्रमसे देखनेपर पता चलेगा कि कैसे परदेमें खिड़कियाँ, दरवाज़े, पेड़ोंके तने कटने लगे, कैसे ये परदे खुलेके खुले ऊपर या दायें-बायें भागने लगे, कैसे ढीले-ढाले परदे चारों ओरसे फ्रेममें कसे गये और कैसे वे परदेसे सेट बन गये तथा अब कैसे 'अ-सेट' बन रहे हैं।

पारसी रंगमंच चला तो सादगीसे था मगर सामन्ती युग था और उसमें टीमटाम, चमक-दमककी बड़ी पूछ थी। चीज़ें सस्ती थीं और नाटकके शौक़ीन रईसोंके पास फालतू पैसा बहुत था। अतएव जी खोलकर वेशभूषापर, चमत्कारपर, हुनरमन्दीपर खर्च

होता था। 'ट्रिक सीन्स'का बोलबाला था। सरल यान्त्रिक तरक़ीबोंसे सीधे-सादे दर्शकको हैरतअंगेज़ क़रिश्मे दिखाये जाते थे। इशारेसे रस्सी खींचते ही एक दर्जन राम-सीताके 'कट्स' उठ खड़े होते और पार्वतीका मोह-भंग हो जाता, गणेशजीका सिर कटकर उड़ने लगता, आकाशमें उड़ता हुआ रथ, विमानोंसे पुष्प-वर्षा करते देवता, ऋषियोंके श्रापसे नहुषका नाग हो जाना आदि बहु-चर्चित ट्रिक सीन हुआ करते थे। इसी पारसी रंगमंचपर घूमते रंगमंचका जन्म हुआ। 'धर्मी बालक'में जेलकी दीवार घूमने लगी थी।

पारसी थियेटरकी अपनी अभिनय शैली थी जो अभीतक कमोबेश अंशमें छायी हुई है। लाउडस्पीकर तो थे नहीं कि हर-एकको संवाद सुनाई दे। अतएव सारा ध्यान ज़ोर-से बोलनेपर केन्द्रित था। कमज़ोर फेफड़े-वालोंका रंगमंचपर कोई स्थान नहीं था। तड़पकर, दहाड़कर बोलनेवाले कलाकारोंका बड़ा मान था। आजके युगमें मरता हुआ पात्र यदि चीखकर बोले तो बहुत खराब माना जायेगा पर उस क्षीण प्रकाशवाले रंगमंचसे प्रेक्षकको सिर्फ़ 'डायलॉग' सुननेका मज़ा मिलता था अतएव अस्वाभाविक ही सही पर उसे इस आनन्दसे वंचित कैसे किया जा सकता था? दूसरी विशेषता थी लम्बे संवाद, जिनमें शेरो-शायरीकी भरमार होती थी। बढ़िया शेर पढ़ते ही, शाइरीके शौक़ीन दर्शक 'वंस मोर' की झड़ी लगा देते थे। इसी सिलसिलेमें वे हास्यास्पद घटनाएँ भी आती हैं जिनमें शेर पढ़कर मर जानेवाला पात्र 'वंस मोर' की लाज रखनेके लिए बार-बार जीवित होकर शेर दुहराता और प्राण त्याग देता था। एक बारमें केवल एक अभिनेता अपना 'पार्ट' बोलता और दूसरे अभिनेता उसकी ओर पीठ किये खड़े रहते, और अपना 'कैचवर्ड' आनेपर अपना संवाद बोलने लगते। दर्शक भी सिर्फ़ पार्ट बोलने-वाले की ओर ही ध्यान देते थे, बेकार मौन खड़े कलाकारको देखकर क्या करना था? तारीफ़ बस 'डायलॉग' की 'डेलीवरी' की थी। 'डेलीवरी' की अपनी अदा थी। सम्बोधनोंकी भरमार होती थी और वाक्य-का अन्तिम अंश विशेष रूपसे खींचकर कहा जाता था। संस्कृत नाटकोंका 'स्वगत' भाषण भी खूब चलता था।

पारसी रंगमंचने प्रकाशके सभी रूप देखे हैं। पारसी रंगमंच पर प्रकाशका मतलब केवल इतना था कि दर्शकोंको 'नाटक' दिखाई दे। बिजलीकी रोशनीसे पहले दीपक, मशाल, गैस-बत्ती और रंगीन कारबाइड-की रोशनी उसने देखी। बिजलीकी रोशनीके पहले प्रयोग भी किये। ऐसी 'फुटलाइट' आयी कि सबके सिरपर चढ़ गयी। नाटकके चौखटेमें सबसे प्रमुख सीमा 'फुटलाइट' ही बन गयी। 'सीता बनवास' में प्रोजेक्टरसे रंग-बिरंगी स्लाइडें फोकस करके ऋतु-परिवर्तनका नया कौतुक दिखाया गया था। (आज थोड़ी और उन्नति हो गयी है। रोटे-टिंग स्लाइड प्रोजेक्टर अब आकाशमें चलते-फिरते बादल या जलते हुए नगरका दृश्य

प्रस्तुत कर सकते हैं।)

पारसी रंगमंचपर गाना-बजाना जमके होता था। हारमोनियमका जमाना था। संगीत मास्टर स्टेजके सामने ऑर्केस्ट्रा बॉक्स-में बैठते थे और कभी-कभी तो गाना-बजाना ऐसा जमता, इतने 'एनकोर' होते कि मूल नाटक हवा हो जाता था। आजके सिनेमाके गानोंकी तरह उन दिनों नाटकके गाने ही लोकप्रिय थे, अब भी कुछ बुजुर्ग मौजमें आकर 'छोटी-बड़ी सुइयाँ···' गुनगुनाने लगते हैं। पार्श्व संगीत या ध्वनि प्रभाव-जैसी कोई चीज नहीं थी।

पारसी नाटकमें 'फ्रेम्स' और दृश्य संयोजन आदिकी चर्चाएँ नहीं थीं पर हर दृश्यकी समाप्ति एक कलात्मक चित्रवत् संस्थितिमें की जाती थी। पूरे दृश्यमें गतियाँ कैसी ही अनिर्देशित क्यों न हों पर निर्देशक महोदयका सारा ध्यान दृश्यके अन्तमें प्रस्तुत 'टेब्ला' पर होता था।

पारसी नाटकोंमें भरतके नाट्य-शास्त्र-की एक चीज अवश्य ही वर्तमान थी। नाटकके आरम्भमें नान्दी (प्रार्थना), सूत्र-धार, नटीका संलाप और आगे तीन, चार, पाँच अंकोंका नाटक और हर अंकमें अनेक दृश्य। निर्देशककी चुस्ती यही थी कि बिना रुके एकके बाद दूसरा दृश्य-परिवर्तन होता रहे। नाटक खेलनेवाले समझ सकते हैं कि बहुधा अनेक दृश्योंवाले नाटकोंमें दो गहरे दृश्य लड़ जाते हैं और दृश्य-परिवर्तनके लिए अवकाश अनिवार्य हो जाता था। इस समस्याका हल पारसी नाटकमें 'कॉमिक' नाटक था। यह वस्तु अब लुप्तप्राय है यानी एक नाटकमें दो नाटक। मूल नाटक बहुधा पौराणिक या ऐतिहासिक होता था और उसमें वीर, करुणा, शृंगार रसोंका ही बाहुल्य होता था। हास्य-व्यंग्यसे भरपूर कॉमिक मूल नाटकसे एकदम अलग अपने-आपमें सम्पूर्ण नाटक होता था। सुना है कि जब प्रथम बार 'चन्द्रगुप्त' नाटक खेला गया तो प्रसादजीने उसके लिए एक कॉमिक लिखा था जिसकी दुर्भाग्यसे कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। नाटकसे अलग 'कॉमिक' पेश करनेकी परम्परा अब शेष हो गयी है, पर अभी हाल तक ऐसे अवकाशमें नाच-गाना करानेकी विचित्र प्रथा चलती थी जो नाटक-द्वारा उत्पन्न रसको धो डालनेका अच्छा काम करती थी। सन् १९६० तक वाराणसीमें लेखकने नयी नाट्य-संस्थाओंको आधुनिक नाटकके दो अंकोंके बीच नाच-गानेका प्रोग्राम फिट करते देखा और अब भी कुछ लोग इसे आवश्यक मानते हैं।

अब पारसी रंगमंचके दर्शकोंको देखें। फ़ुरसतका ज़माना था। नाटक रात दस-ग्यारह बजे आरम्भ होता और सवेरे 'चिरैय्या' बोलने पर खत्म होता था। लोग आते-जाते रहते, पान पत्ता, जल-जलपान चलता रहता। बड़े रईस किसी भी समय घण्टे-आध घण्टेके लिए आ जाते। नाटकसे उन्हें कम मतलब था। धावक दौड़कर कोठी-पर खबर पहुँचाता कि थोड़ी देर बाद फलाँ बाईकी वहीवाली ग़जल होगी और रईसेआज़म चले आते। मज़ा आ जाता तो सेटपर सौ-

पचासके घोट भी बरसा देते या बाईको बहुमूल्य हार भेंट कर आते। एक बार श्री पृथ्वीराज कपूरने वाराणसीमें दर्शकोंसे कहा था कि नाटक एकदम खामोश होकर देखें, यहांतक कि खाँसीपर भी नियन्त्रण रखें और तब उस सन्नाटेमें अभिनेताकी हलकी-सी 'आह' भी सुनाई पड़ेगी। मगर पारसी थियेटरके दर्शक जड़ मूर्तियाँ नहीं थे। नाटकके बीच टीका-टिप्पणी होती रहती, बोली-अवाज़ा चलता रहता। कोई शेर या गीत अच्छा लगता तो 'एनकोर' होता और नाटककी सफलता 'वंस मोर' की संख्यासे ही आंकी जाती थी। किस गर्वसे नाटकके संचालक कहते थे, अजी फलाँ दृश्यपर सत्रह 'एनकोर' हुए थे। दर्शकोंका ध्यानसे नाटक न देखना अभिनेताओंको बुरा नहीं लगता था। दर्शकके फब्ती कसने पर चुस्त अभिनेता मुँह-तोड़ जवाब दे दिया करते थे। और ये सवाल-जवाब आज नाटक-पुराणकी अनमोल निधि हैं। आज फिर मौन तन्मय दर्शकोंसे ऊबकर नाटकवाले नये रूपसे 'आडियंस-पार्टिसिपेशन' की चर्चा करने लगे हैं।

पारसी रंगमंचके दिन तो बीत गये पर उसके 'वंस-मोर' दर्शक अभी भी भारी संख्यामें मौजूद हैं (आधुनिक अनाटक वालों के मुँह बिचकानेके बावजूद)। वे मेलोड्रामा देखना चाहते हैं, लम्बे-लम्बे डायलाग सुनना चाहते हैं, तालियाँ बजाकर रस लेते हुए 'एनकोर' करना चाहते हैं। उन्हें बन्दूककी आवाज़के दन्नाटेके साथ दृश्य-परिवर्तन देखनेमें मज़ा आता है। सूफ़ियानेपन और कलात्मक बारीकियोंसे उन्हें चिढ़ है। वे आज भी फ़ुरसतसे रात-भर बैठकर आठ दस घण्टेवाला नाटक देखनेके शौक़ीन हैं।

'मगर बदलता है रंग ज़माना' और पारसी रंगमंचका आधुनिकीकरण हुआ। पेण्ट किये परदोंके स्थानपर सादे रंगीन कपड़े-वाले परदे आ गये। इसे हमारे यहां नाटक-के परदेवाले 'बंगला स्टेज' कहते हैं। सादे एक-रंगे विंग्स, एक-रंगे परदे जो कड़ी और तारपर दौड़ते और एक ओर सिमिट जाते। शानदार पीला, वासन्ती या हरा ड्रॉप सीन, जो बड़े नक़्शेसे, बड़ी अदासे लचक कर उठता था। नाटककी कथावस्तु सामा-जिक आदर्शपूर्ण यथार्थके निकट होने लगी। राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ गया था अतएव स्वदेशी और राष्ट्रभक्ति, समाज सुधारकी थीम्स बड़ी लोकप्रिय बन गयी थीं। गाना-बजाना कम हुआ, कॉमिक मुख्य नाटकका ही अंग बन गया। वेशभूषाकी प्रामाणिकता और रूप-सज्जापर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। प्रकाशकी व्यवस्थामें सुधार हुआ। 'टेब्ला'में दृश्य-समाप्तिकी विधा शेष हुई और उसके साथ ही फ्रेम्सकी बात कुछ कालके लिए बिलकुल ही शेष हो गयी। नाटकके समयमें कमी हुई। ज़ोरसे बोलना ज़रूरी था पर उसमें अधिक स्वाभाविकता लानेकी ओर ध्यान दिया जाने लगा। संवाद बोलनेके साथ ही आंगिक अभिनयकी ओर भी ग़ौर किया गया। रिहर्सलोंमें अभिनेताके 'बिज़नेस' की चर्चा होने लगी।

अब उसे संवादके बीच जड़वत् खड़े नहीं रहना था, कुछ करते रहना था। अभिनेता को बार-बार चेताया जाता था 'दर्शकोंकी ओर पीठ न हो'। नयी फिजांमें अनेक अंक, अनेक दृश्यवाले महानाटकोंके क़दम डगमगाये। अब तीन अंक और कुल अट्ठारह बीस दृश्य-वाले नाटक 'स्टैण्डर्ड' बन गये। नाटकोंके खेलनेका समय भी कम हुआ। 'वंस-मोर' अब भी होता था पर अभिनेता अपना अभिनय दुहराते नहीं थे। अच्छे अभिनयका स्वागत तालियाँ बजाकर होने लगा और दर्शकोंमें शान्तिपूर्वक बैठकर पूरा नाटक देखने-की आचार संहिता चल पड़ी। शेरोशायरी-का चलन भी कम हुआ। अब दर्शक नाटक-में ज़ोरदार कथा चाहता था। पर नाटक 'रंगमंच' की चार सीमाओंमें ही बँधा रहा—पीछे परदा (बैक ड्राप), दायें बायें विंग्स और आगे फ़ुट लाइट।

दो महायुद्धोंके साथ स्वतन्त्रता-संग्राम-की समाप्ति हुई। विज्ञानकी बहुत उन्नति हुई। मैदानमें मनोरंजन करनेवाले सिनेमा और रेडियो आ गये। अतएव रंग-मंचने भी रंग बदला। इस बार वह अपने आस-पासकी हलचलसे बहुत प्रभावित था। परदोंका स्थान सेट्सने ले लिया। फुटला-इटसे ज्यादा महत्त्व स्पाट लाइटका हो गया। तीन सेट-तीन अंक या एक ही सेट-पर तीनों अंकवाले नाटक चुने जाने लगे। तकनीकी सुविधाओं और वैज्ञानिक उपकरणों-ने अभिनेताको सर्वोच्च स्थानसे नीचे उतार दिया। नयी वैज्ञानिक ट्रिकों और प्रकाशीय चमत्कारोंने यह हालत कर दी कि दर्शक नाटकके बदले रोशनीका तमाशा देखने आने लगे। नाटक भी जादूके तमाशा-सा विस्मयकारी हो गया। अब संगीत, ध्वनि और प्रकाशको नाटककी सृष्टि करनेमें, भावोंकी अभिव्यंजना करनेमें प्रमुख स्थान मिलने लगा। विशिष्ट रूप-सज्जा और यथार्थवादी सेटोंने अन्य विधाओंके साथ मिलकर अभिनेता और नाटककार (कथा) का बहुत-सा बोझ हल्का कर दिया। विज्ञानकी चकाचौंधमें कला लुप्त होने लगी, पथभ्रष्ट हो गयी। नाटकका मानवी तत्त्व लुप्त हो गया।

देरसे ही सही, पुन. रंगमंचने अभिनेता-का महत्त्व पहचाना और युगके साथ एक करवट और ली। प्रयोगका युग आया। लोग रंगमंच और नाटकको ढूंढ़ने लगे, प्रश्न पूछने लगे। मर्यादाएँ बदलीं, सीमाएँ टूटीं। फ़ुटलाइट तोड़कर रंगमंच दर्शकोंकी ओर बढ़ा। अब अभिनेता दर्शकोंकी ओर पीठ करके खड़ा होने लगा। सेट, प्रकाश, संगीत केवल सहायक रह गये। अभिनय शैली सहजताके एकदम निकट आ गयी। अभिनय-के मनोवैज्ञानिक पक्षका, भाव पक्षका सूक्ष्म अध्ययन किया जाने लगा। रंगमंचके विभिन्न स्थलोंकी महत्ता पहिचानी गयी। निदेशक 'फ्रेम्स' की चौखटोंकी चर्चा करने लगे। 'वंस-मोर' और तालियाँ बन्द हो गयीं। अब चतुर निदेशककी तूलिका ऐसे नये चित्रों, ऐसे प्रभावशाली फ्रेम्सकी सृष्टि करने लगी कि दर्शकके होश-हवास ग़ायब

हो जायें, वह अपने-आपको भूल जाये। रंगमंचका वैज्ञानिक अध्ययन कितने ही नये पहलू सामने ले आया। संगीत,-रंग और प्रकाशका नये आधारोंपर, नये अर्थोंमें उपयोग होने लगा (यहाँ हिन्दी रंगमंच बहुत लड़खड़ाया)। नाट्य गोष्ठियाँ विभिन्न समस्याओंकी चर्चा करने लगीं।

पर जैसा हमने आरम्भमें कहा कि वर्तमान त्वरित परिवर्तनोंका, क्षणिक दर्शनोंका युग है। संत्रासका, एबसर्डका, 'अ' का युग है। रंगमंच भी क्यों पीछे रहता। उसने कहा दर्शकको नाटक दिखाना चाहिए, किन्तु उसे भ्रमित नहीं करना चाहिए। इल्यूज़नका बराबर भंजन होते रहना चाहिए। सभी बन्धन टूटने लगे। यह परदोंकी क्या ज़रूरत है? प्रेक्षागृह, रंगमंच, रोशनी, संगीत आदिके टण्ट-घण्टकी क्या ज़रूरत है? नाटकमें कहानीकी क्या ज़रूरत है? नाटक लिखा हुआ ही क्यों हो? विद्रोही पीढ़ीको कोई नियम-क़ानून नहीं चाहिए। इस तोड़-फोड़के बीच नाटक रंगमंचसे उतरकर रंगशालामें, सड़कोंपर उपद्रव कर रहा है। उसकी दिशा क्या है, उद्देश्य क्या है, उपलब्धि क्या है, ये सब बेकारके प्रश्न हैं। ऐसा है और हो रहा है, बस इतना जानना काफ़ी है। इसमें सन्देह नहीं कि दिगम्बर पुनः कपड़े पहनेगा, शीघ्र यह एबसर्ड, अ-सेट रंगमंच नया रूप धारण करेगा। यह दुनिया एक रंगमंच है, तो फिर यह मान लेनेमें क्या हर्ज है कि एक अशान्त दृश्य चल रहा है और अभी सीटी बजते ही अ[...] सरस दृश्य सामने आयेगा।

जो नाटक लेखक सम-सामयिक रंगमं[...] चौखटेको समझकर उसकी परिधियोंके अनु[...]कूल नाटक लिख रहे हैं उन्हें साधार[...] निदेशक आसानीसे मंचपर मूर्तिमन्त क[...] रहे हैं। जो लेखक दकियानूस हैं या आग[...] जानी हैं, भीड़से अलग प्रतिभावाले, अनो[...] हैं उनके नाटक इक्का-दुक्का असाधार[...] निदेशक अपनी प्रतिभाके अनुपातमें रंगमं[...] पर रख रहे हैं। ऐसे निदेशक कम हैं औ[...] लेखक ज़्यादा हैं, अतएव बहुत-से नाटक रं[...] मंचके द्वार तक भी नहीं पहुँच पाते हैं। जनतामें नाट्य लेखकके नामसे नाटक देख[...] की कोई प्रवृत्ति नहीं है। 'नाटक' को [...] प्रसिद्धि मिल जाये पर नाट्य-लेखक[...] रंगमंच कोई प्रसिद्धि नहीं देता। इसी त[...] निदेशकको भी ख्याति नहीं मिल रही है[...] उसकी कलाकृति कहकर नाटककी सराह[...] नहीं की जा रही है। (जैसी सिने-निदेश[...] को मिली है)। फलाँ निदेशकका नाटक[...] यह जानकर दर्शकोंकी भीड़ टिकिट घ[...] के सामने नहीं जुटती। अभी हिन्दीके [...] नव भरत ठीकसे खड़े भी न हो पाये थे [...] यह अराजकताका युग आ गया। अब [...] जाने लेखक-निदेशकका क्या हश्र हो[...] संत्रासके त्रासमें दर्शकका क्या होगा। हाँ [...] अपनी जानते हैं कि राम झरोखे बैठे गुन[...] रहे हैं—"बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे

अनाज के दाने

राजा गंगा सिंह

'हरिया हाऽत्, होऽऽहरिया'

बिरखे जब घरमें घुसा तो उसने हठीला-की ऊंची आवाज़ सुनी। तो आज विट्टा (वेटा) मगा रहा है हरिया। दुचाई (पिटाई) ने काम तो किया, नहीं तो खेलसे फ़ुरसत ही नहीं थी। मका (मक्का) उजड़ी जा रही है, इधर ध्यान ही नहीं।

घरमें अन्धी लड़की केलासी चूल्हेपर कुछ पका रही थी, पमाड़की भाजी होगी। उसके घरमें घुसनेकी आहट पा केलासोने उसकी ओर अपनी कौड़ी-सी एक आंख घुमायी, "काय दादा नाज ले आयो।"

"काल लांगो (कल लाऊँगा) ।"

केलासी रांधने में व्यस्त हो गयी। पश्चिममें घटा उठी थी सो अँधेरा, कुछ समयसे पहले ही सिमट चला था। चार दिनमें आज बूंद-बूंद हुई थी। भादोके भिड़ थे और बिरखेके घरमें अनाज नहीं था। पमाड़की भाजीके लड्डुओं और सिके महुओंपर गुज़ारा चल रहा था। मजदूरी थी नहीं और भादोके भिड़ोंमें मिलती भी कहाँ? आज ही खुला था सो खेड़ापतीके झड़ो (पड़ती खेतसे जंगल झाड़ी काटकर सफ़ाई) करने चला गया था। सोचा था मजदूरीमें अनाज मिलेगा, लेकिन नहीं मिला। डेढ़ रुपया देरखा दिया। तीन पावके गेहूँ और सेरकी ज्वार इलाकेमें मिल रही है, मका तो कोई बतलाता ही नहीं। इनसे डेढ़ सेर ज्वार आयगी। तीन प्राणी हैं, कबतक चलेगी? महुआ भी बीत चले होंगे। भादोके पन्द्रह दिन और समझो। मक्का आयी जाती है, फिर हरियों (तोतों) और बन्दरोंसे बच जाय तब। मोड़ी भापड़ी आंधरी (लड़की बेचारी अन्धी) है, उससे रखवाली बनती है क्या? और हठीला? नवींमें लग गया मगर खेलसे फ़ुरसत नहीं, घरकी कोई फ़िकर नहीं।

'अरे ओ हठीला रोटी खा-जा रे।"

हठीलाने कोई उत्तर नहीं दिया। मेह फिर झिरने लगा था। सन्ध्या उतर आयी थी, घिरे काले मेघोंसे अंधेरा ज़्यादा सिमट आया था। बाड़ा (जमीनका छोटा-सा टुकड़ा कोई पाँच बिस्वा—एकड़का आठवाँ भाग, जिसमें ख़रीफ़की कोई फ़सल खासक[र] मक्का बोयी जाती है) घरके पिछवाड़े [...] था। रखवालीके लिए उसमें मचान पर[...] था और उसपर सागबानके पत्तोंसे म[...] टोपा। इसी टोपेमें बैठा हठीला अपने बापक[ी] पुकार सुन रहा था।

हठीला यह निश्चय कर चुका था कि [...] तो वह अब मचानसे उतरेगा और न क[...] अपने दादासे बात करेगा। लेकिन रोटी[...] नामने एक बार उसके निश्चयको विचलि[त] अवश्य करना चाहा। रोटी! सोंधी-सों[धी] मीठी-मीठी कुरकुरी रोटी! आज [...] दिनसे रोटी आँखों नहीं देखी। पमाड़[...] भाजीके लड्डू, सिके चने और महुआ। ये [...] कुछ ठीक भी लगते हैं लेकिन पमाड़[...] भाजीसे तो उसके पेटमें जाने कैसी ऐंठन हो[ने] लगती है। केलासीको कुछ टिपता तो [...] नहीं, पमाड़के जैसे पत्ते तोड़ लाती है बो[...] उनके समेड़ेमें (साथ) न जाने काहे-काहे[...] पत्ते, जो कड़वे भी लगवे हैं।

और अब तो भुटियों (मक्काकी भुट्टी[...] में दूध पड़ गया है। उसने सुबह ही [...] खायीं थीं। कैसी मीठी-मीठी लगती है[...] उसने जब भुटियोंमें दाँत गड़ाये थे तो उन[...] रूखा गाढ़ा मीठा दूध ऐसे उसके मुखमें [...] गया था जैसा भैंसका दूध, जो उसने [...] बार, खेड़ापतीकी भैंसका, जंगलमें जब[...] निचोड़कर पिया था।" अरे हठीला! [...] हठीला !! सो गयो का ?"

हठीलाने फिर कोई जवाब नहीं दि[या] दुधिया भुटियोंमें अब वह रोटीके स्वा[द]

भूल चुका था और रोटियोंके लालचसे ऊपर उसे अपना इरादा याद आया तो वह और अकड़ गया। उसके बदनपर मारके स्थान टीस-टीस उठते थे और उसे दादासे बहुत चिढ़ हो जाती थी। अब मेह मूसलाधार गिर रहा था। पछाईं बयार साँय-साँय चल रही थी; हवाके साथ मेहकी महीन बौछार कभी-कभी टोपेमें घुस जाती थी और हठीलाको कँपकँपी छूट जाती थी। उसके बदनपर सिर्फ़ धोतीका फटा हुआ टुकड़ा था जिसे वह कमरसे लपेटे रहता था। उसे ज़ोरकी सर्दी लगने लगी थी और बदन न जाने कैसा ऐंठने लगा था। मारकी चोटें तो क्या, अब तो सारा शरीर ही मानो टीस उठा था और माथा तो जैसे फटनेकी कोशिश कर रहा था।

रात-भर वह कूल्हता-कराहता रहा, प्याससे उसका गला चटकता रहा लेकिन उसे किसीने नहीं सँभाला। सुबह बूँदा-बाँदी बन्द थी लेकिन सारा आकाश भूरे बादलोंसे ढंका था। हवामें ठण्डक थी। हठीला कुछ देरतक अँगड़ाइयाँ लेता रहा। रातका कष्ट उसे बारी-बारी अपने दादा और केलासीकी याद दिलाते रहे और उसके मनका हठ जैसे कुछ पिघलने-सा लगा था लेकिन सुबहके उजाले-ने जैसे उसे फिरसे कुछ हिम्मत बँधा दी हो और वह मन-ही-मन फिर अकड़ गया। वह मचानसे उतर नदीपर चला गया और उसने डटकर पानी पिया। लौटा तो हरियोंके समूह चक्कर काट रहे थे, कें-कें-किरांव-किरांव, टें, टें, "हाड़त-हरियाऽऽ अरे बाँडया रेऽऽबाँडया ओ। हाऽऽ" उसने गोफनसे चार-छह गुटके सब दिशाओंमें फटकारे।

बिरखे चौतरीपर बैठा चिलम पी रहा था और हठीलाके स्वर सुन रहा था। केलासी मही (छाछ) लेने खेड़ापतीके घर जा चुकी थी,, बिरखेने कह दिया था कि मुठी-दो मुट्ठी कनूका (मुट्ठी दो मुट्ठी अनाजके दाने) खेड़ापतीके यहाँसे माँग लाये तो राबड़ी राँध (महेरी पका) लेगी। हठीलाने रात कुछ खाया नहीं सो खा लेगा। लेकिन बिरखे उसके इन्तज़ारमें अधिक समय रुका न रहा और अनाज लेने दूसरे गाँव चला गया, सोचा रोटियोंके समय तक लौट आयेगा।

मेघ ऐसे सिमट आये जैसे अपनी ऊँचाइयोंसे नीचे उतर आये हों और पेड़ोंकी फुनगियोंका सहारा ले-लेकर तैर रहे हों। रिमझिम फिर हो गयी थी। हरियोंका आक्रमण भी कम हो गया था और हठीला अपने हठमें अकड़ा टोपेमें बैठा था। वह सोच रहा था कि नदीमें बलिया डालता तो मछली ज़रूर लगती और बड़ी इमलीके नीचे लड़के भौंरे खेल रहे होंगे लेकिन उसके पास भौंरा नहीं है। दादाने पिछली हाटपर भी नहीं दिलाया। हलका अहीरके लड़के बटुआने गुलेलके बदले भौंरा देनेकी कही थी लेकिन वह अपनी गुलेल देगा नहीं। दादाने ऐसी उम्दा गुलेल बना कर दी है कि क्या बात! उसके मनमें अपने बापके प्रति सहानु-भूति जाग उठी।

केलासीपर दया कर खेड़ा-पताइनने

आध सेर ज्वार दे दी थी, इस शर्तपर कि उनके बाड़ेमें दो दिन मक्का काटनी पड़ेगी। केलासीने ज्वार दल कर रावड़ी रांधी और पूरी हांड़ी मचानपर ही ले गयी, दादा आयेगा तब खा लेगा, घरमें कुत्ता घुस आये तो ? हठीलाके नथुनोंमें जब राबड़ीकी गन्ध पहुँची तो उसके मुँहमें पानी आ गया। मुँह-का अजीब कसैला-सा स्वाद हो रहा था और आँतें मानो अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही हों।

हठीलाको फिर अपना हठ याद आया और उसने केलासीकी ओरसे मुख फेर लिया। अन्धी लड़की मचानके नीचे खड़ी निहोरे करती रही, ले ले रे बीरा। याय (इसे) ऊपर ले ले। खा ले रे !! कालसे भूकोई ए। ले ले रे बीरा।"

हठीला ललचायी आँखोंसे हँड़ियाको देखता रहा मगर अकड़ा रहा।

"मोय नयी खानी, हठ विते (हट उधर)।"

"नेकइसी (थोड़ी सी ही) खा ले रे बीरा।

केलासी ऐसे लहजेमें कह रही थी जैसे वह उसकी बहनसे बढ़कर माँ हो। हठीला-को एकाएक अपनी माँकी याद आ गयी, जो दो साल पहले ही तो मरी थी और बरबस ही उसको केलासीपर दया आ गयी, उसका गला भर आया। वह मचानसे नीचे उतरा, सहारा देकर केलासीको ऊपर चढ़ाया और उसे हँड़िया थमाकर खुद ऊपर चढ़ गया। दोनोंने अपने-अपने हिस्सेकी राबड़ी बाँटकर खा ली और बिरखेके लिए रख दी। केलासी मचानपर बैठी फूटा टीन लकड़ियोंसे पीटती रही, नगड़ियोंकी तरह, और हठीला नदी पर पानी लेने चला गया।

बिरखे शामको लौटा। दिनमें वर्षाकी लहरें-सी आती रहीं। कभी फुहारें कभी एक या दो झले और कभी कुछ नहीं। जब वह आया उस समय हरिये जोरोंसे गिर रहे थे और हठीला पूरे ज़ोर-शोरसे उन्हें उड़ानेमें लगा था। बिरखेने दूर ही से हठीलाके मुरझाये मुखको देखा, उघाड़े बदनको देखा, फटी धोतीको देखा, रातकी शीतलतामें हठीला-की सिहरनकी कल्पना की और उसका मन दयासे भर गया। केलासी मचानपर बराबर फूटे पीपेको पीटे जा रही थी और बांड्या रे बांड्यांकी रट गीत गानेकी तरह लगाये हुए थी। बिरखे मचानके नीचे पहुंचा तो आहट पा हठीलाने मुँह फेर लिया और गोफनके फटकारे उड़ाने लगा।

"लेरी केलासी नाज ले आओ याय (इसे) पीस पोले।"

'दादा तेने कछु खायो' केलासी बड़ी बूढ़ी की तरह बोली।

'नईं।"

'तो राबड़ी खा ले धरी है।"

"कन्का (अनाजके दाने) मिल गये ते का।"

"आस्सेर दोन्नाकी (आधा सेर दो दिन की) मका कटाईपे पण्डतानने दये।"

बिरखेने यह पूछनेकी ज़रूरत नहीं समझी कि उन दोनोंने खाया था कि नहीं। वह हँडिया लेकर घरकी ओर चल दिया और अनाजकी पोटली उठाये उसीके पीछे

केलासी। और हठीला बग़ैर उन लोगोंकी ओर देखे, बड़ी तन्मयता दर्शाता-सा हरिये उड़ाता रहा और इतने ज़ोरसे चीखता रहा कि उसका गला बैठने लगा।

बिरखेसे कुछ खाया नहीं गया। चार-छह कौर खा उसने एक लोटा पानी पिया तो उसे लगा उसका मन फिर रहा है। आकाश मेघाच्छन्न था मगर बूंद बूंद थी। पछाईं बाज फिर तेज़ चल रही थी और ठण्डक काफ़ी थी। बिरखेने चूल्हा जलाया और चिलम-भर तापने लगा। उसे सर्दी लग रही थी। केलासीने पीसने-पोनेका कोई आयोजन नहीं किया। राबड़ी काफ़ी बच गयी थी। उसने हठीलाको आवाज़ दी लेकिन वह न बोला ही न आया। बिरखे बुरी तरह काँप रहा था। और अंगड़ाइयां ले रहा था। वह चूल्हेके सामने लेट गया। तो केलासी राबड़ी ले, टटोलती मचान तक गयी और हठीलाको मनुहार कर उसे खिला आयी।

बिरखे सारी रात तेज़ बुखारमें तपता रहा और खाँसता रहा। उसकी छाती मानो किसीने जकड़ ली थी और उसका दम घुटा जाता था। तेज़ बुखारमें वह न जाने क्या-क्या सपने देखता रहा और बड़बड़ाता रहा। उसे लगा कि उसकी कलकी मारसे, हठीला-के बदनपर उभरी हर चोट हठीला बन उसे गालियाँ दे रही है। रात-भर बादल छाये रहे, हवा चलती रही और जब-तब हलकी बूंदा-बांदी होती रही।

सुबह जब बिरखे उठा तो उसका सिर भारी था और सारा बदन दुख रहा था। उसमें उठनेकी हिम्मत नहीं थी फिर भी वह उठा, कारण बादलोंकी पतली चादरको छानकर सूर्यकी फीकी किरणें सब ओर फैल गयी थीं और वर्षा बिलकुल बन्द थी। वह बड़ी देर तक चूल्हेके आगे बैठा तापता रहा और तमाकू पीता रहा और केलासी घट्टी (चक्की) में ज्वार पीसती रही। उधर हठीला हरिया उड़ाता अब चुप हो गया था।

बिरखे उठा और बाड़ेमें चला गया। मचानपर देखा, हठीला नहीं था। सोचा—पानी भरने नदीपर गया होगा। हरिये कम पड़ रहे थे। उसने मक्काके एक भुट्टेके आवरणको चीरकर देखा, तो जैसे उसे देख अपने मोतियोंसे दाँत फैला भुट्टा मुसकरा दिया। एक दानेमें उसने नाखून गड़ाया और सन्तोष अनुभव किया कि भुट्टे खाने लायक़ हो चले। उसे हठीलापर शक हुआ कि वह ज़रूर सेंककर भुट्टे खाता होगा और वह मचान-के चारों ओर भुट्टेके छिलके और बुझी हुई राख ढूंढ़ता फिरा। तब उसने सारा बाड़ा छाना कुछ न मिला और मनमें एक अजाब-सा अविश्वास लिये वह मज़दूरीकी तलाशमें गाँवमें निकल गया।

केलासीने ज्वारकी रोटी पकायी और नमक-मिर्चकी चटनी पीस ली। माँग-तूंग कर एक घोलिया मही (मिट्टीकी छोटी मटकी-भरी छाछ) ले आयी। उसने हठीला को आवाज़ दी तो वह नहीं बोला। केलासी ने सोचा कि दादाकी मारसे अभीतक अकड़

रहा है। वह सारा खाना ले मचानपर गयी भैया, बीरा कह कई आवाजें दीं लेकिन हठीला नहीं बोला तो रोटियाँ रख, वह टटोलकर मचानपर चढ़ी। हठीला वहां नहीं था, पानीका घड़ा भी नहीं था, उसकी बांसकी गुलेल अवश्य पड़ी थी। और उधर हठीला पानी भरने नदीपर जो गया तो नदीमें बलिया फेंक वहीं रम गया।

बिरखे दोपहर तक लौट आया। काम वहीं मिला। सिर फिर चटकने लगा था और सीनेपर ऐसा वजन मालूम हो रहा था मानो दीवारके नीचे दब गया हो। उसे जोरका जाड़ा लगने लगा था। खानेको जी नहीं हो रहा था, सो घरमें जा उसने चूल्हा चेताया और लेट रहा। बाहर फिर रिमझिम शुरू हो गयी थी। वर्षाने हठीलाकी शिकार बिगाड़ दी तो वह भी लौट आया। मचानपर दोनों भाई-बहनोंने रोटी बड़े स्वादसे खायी और छाछ पी। केलासीको थोड़ी देरके लिए यह ख्याल जरूर आया कि दादा अभीतक रोटी खाने नहीं आया लेकिन दोनों टूटा पीपा बजा-बजाकर बांड्याऽरे बांड्याऽ और हरिया हो त् की तान लगाये रहे।

तीसरे पहरसे बादल फिर बड़ी तेजीसे पूर्वकी ओर उड़ने लगे थे और ऐसा मालूम होता था कि वे धरतीको छू लेंगे और बूँदा-बाँदी लगातार हो रही थी। शामसे पहले केलासी घर आयी तो अंधेरेमें टटोलते वह बिरखेसे टकरा गयी। उसने उसका शरीर टटोला तो वह बुरी तरह जल रहा था। उसने बिरखेसे रोटीकी पूछी तो वह नट गया, पानी मांगा सो केलासीने पिला दिया और अपने दादाका माथा दबाने लगी, फिर कुछ सोचकर उसने हठीलाको पुकारा,

"ओ बीरा हठीला! घरे आ जा रे भैया।"

हठीला घरके पिछवाड़े तो था ही, सुनकर भी चुप रहा तो केलासीने फिर पुकारा, "आ जा रे बीरा। दादाए ताप (बुखार) चढ़ रईए।"

"तो मैं का करंगो, रातमें मकाए (मक्काको) लड़ैया (स्यार) खा जांगे।"

फिर नीरवता व्याप गयी। केवल रातके स्वर मुखर हो उठे और मेढकोंका टरटराना। बिरखेकी बेचैनी बढ़ती ही गयी। केलासी उसके शरीरको इतनी राततक दबाती रही जबतक उसकी आँखें नींदसे झपने न लगीं और फिर वह थकी-मांदी वहीं लुढ़ककर नींदमें खो गयी। आधी रातके बाद बिरखेको ऐसा लगा जैसे उसका दम घुट रहा है, सीनेमें बरछे-से चुभ रहे हैं। उसने बोलनेका प्रयत्न किया तो उठ नहीं सका। इधर-उधर हाथ पैर मारे लेकिन केलासीको न छू सका। बहुत जोर लगाकर, हठीलाको पुकारा तो गलेसे सिर्फ़ दबे हुए गों-गोंके स्वर निकलकर रह गये। उसकी आँखोंके आगे कभी अन्धी केलासी, तो कभी अबोध हठीला, तो कभी गहरा अँधेरा, आने लगे और लगभग एक पहर तक तड़पनेके बाद उसने प्राण त्याग दिये।

दिन आज और दिनोंसे जल्दी निकल आया जान पड़ता था। साफ़ नीले आकाश-में रुईके गालों-से बादल तैर रहे थे और चारों ओर सूर्यका उजला सुनहरा प्रकाश फैला था। हठीलाने टोपेमें करवट ली तो उसे केलासीका रोना सुनाई दिया। वह झटकेसे उठ बैठा। केलासी कुछ गाते-से स्वरमें विलाप कर रही थी : 'ओ मेरे दादा रेऽ! ए दादा रे ए ऽ!!"

हठीला मचानपर-से खड़ा हो कूदकर घरकी ओर भागा। भीतर उसका दादा मरा पड़ा था और बग़लमें बैठी केलासी उसके शरीरपर हाथ फेरकर विलाप कर रही थी। कटे पेड़-सा वह बिरखेकी छातीपर गिर पड़ा और चीखने लगा। वह हठ न करनेकी क़समोंपर क़समें खाता रहा कि उसका दादा जी उठे। तब अन्धी केलासीने हठीलाको अपने अंकमें ऐसे भर लिया जैसे आजसे वही उसकी माँ थी और वही बाप थी।

उधर मक्कामें टेंऽटेंऽ करते हरिने झुण्ड-के झुण्ड गिर रहे थे।

■ ■

कथ्य और शिल्पकी दृष्टिसे
आधुनिक भारतीय रंगमंचका
महत्त्वपूर्ण नाटक—

० ० ० ० ० ० ०

ज्ञानदेव अग्निहोत्री लिखित

शुतुरमुर्ग

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

०

मूल्य
२.५०

: एक

कुछ छोटी कविताएँ

मोना गुलाटी

: एक :

आकाश एक गन्ध है
और फूल एक प्यार
तुम अभी भी, वही
आदिम, आदिम, आदिम !

: दो :

शाप-मुक्त होने से पूर्व लौट आना तुम ! मैंने
नीत्शे की क़ब्र खोद दी है और ऑस्कर वाइल्ड के ठहाकों
से, देख ली हैं पागल होती गायें !
तुम चाहो तो आकाश को मुट्ठी में भरकर उछाल
सकते हो, विश्वास के साथ !
पर तुम्हें देना होगा होम यज्ञ में :
काले और रक्तिम गुलाबों का !

: तीन :

आकाश गन्ध से तैरकर तुम
लौट आओ मेरे पास; मैं पाताल को
खोजने से पहले किसी तिलिस्म में खो जाऊँगी

: चार :

हवा के कानों में फुसफुसाने का नहीं होता है
कोई अर्थ
मैं करती हूँ तुम्हें प्यार
मेरे कन्धों पर झुकता हुआ मुक्ति का स्पर्श !

: पाँच :

गोल हवा में घूमता है सिर, मैंने थाम लिया है
तुम्हारा चेहरा,
मैं पागल होने से पहले बदबूदार गली से छुटकारा
पा लेना चाहती थी, और तुम वहशी क़ैदखाने से :
मुझे सहानुभूति नहीं है
प्रायश्चित्त करने वाले मूर्खों से
मैं भयभीत क़ब्र में नहीं दरकना चाहती। तुम
नहीं हो मेरे प्यार—।

: छह :

ग्लोब के कन्धों को पीटते हुए झर गया है
पसीना मेरी हथेलियों से,
मैं अपनी मुट्ठियाँ खोल देने से पहले
मुक्त कर देना चाहती हूँ
अण्डे के खोल में फँसी आत्मा, गर्भाधान कर
मैं नहीं दूँगी तुम्हें मुक्ति। और दूँगीं तुम्हें नकार !

: सात :

सख़्त नापसन्द हैं—
घरेलू और आवारा गायें और
साँड़ और कुत्ते !

■ ■
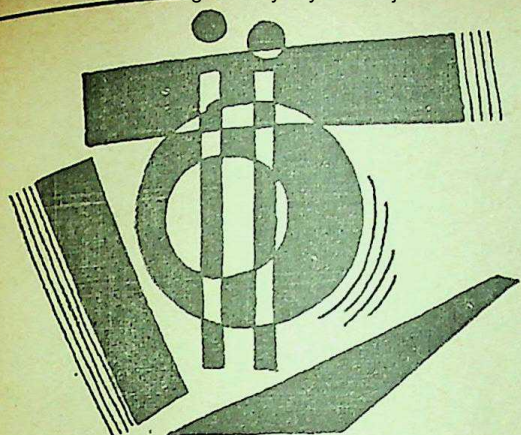
नीग्रो लेखन में आक्रोश के स्वर

कनक कुमार तिवारी

अमरीकी नीग्रो साहित्यका इतिहास ज़्यादा पुराना नहीं है। अठारहवीं सदीके पाँचवें और छठे दशकमें लूसी टेरी और फिलिस व्हीटले नामक नीग्रो कवयित्रियोंने अपनी रचनाओंका प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था। जार्ज वाशिंगटन फिलिसकी कविताओंका प्रशंसक था। जुपिटर हैमन नामक लेखक और कविका भी प्रवेश इसी समय हुआ परन्तु तबतक नीग्रो कविताका कोई स्वरूप नहीं निश्चित हो पाया था। सन् १७६० और १७८९ में ब्रिटन हैमन और ओलादा इक्विआनों नामक दो नीग्रो गुलामोंने आत्मकथात्मक संस्मरण लिखे जिनमें नीग्रो जातिपर किये जानेवाले अत्याचारका भयावह वर्णन मिलता है। नीग्रो जातिको सामाजिक और शैक्षणिक सुविधाओंसे वंचित कर दिया गया ताकि उनमें स्वाधीनताके तत्त्वोंका बीजारोपण न हो सके। उनके लिए क्रूरतम क़ानून बनाये गये जिनका उल्लंघन करनेपर कठोर दण्ड दिये जानेका प्राविधान था। नीग्रो आन्दोलनोंका बर्बरता पूर्वक दमन कर दिया गया। प्रकाशनकी सुविधाओंके अभावमें तत्कालीन नीग्रो-साहित्य भूमिगत-सा हो गया। कवियोंकी चेतना मौखिक अभिव्यक्ति तक ही सीमित रही। इस युगकी कवितामें निराशा, कुण्ठा और हीनताकी भावनाओंका चित्रण प्रतिनिधि नीग्रो कवियोंने किया।

परेशानी, खीझ और जकड़नकी मनोवैज्ञानिक परिस्थितिके खिलाफ़ पहला सशक्त विरोध युवा छात्रोंके लोकप्रिय कवि जार्ज मोजेज़ हार्टनने किया। हार्टनने नीग्रो कविताकी विद्रोही

वाणीको सर्वप्रथम समर्थ स्वर दिये । १८२९ में उत्तर केरीलिनामें उसका पहला कविता संग्रह 'स्वतन्त्रताकी आशा' प्रकाशित हुआ । उसने गुलामीकी-प्रथाके विरुद्ध जेहाद छेड़ा । हार्टन पहला नीग्रो कवि था जिसने 'फ्री-लॉन्सर' बननेका खतरा मोल लिया और भूखा ही मर गया । असहनीय वेदनासे छटपटाकर उसने कहा—

"आह ! मैं इसीलिए जन्मा हूँ,
कि गुलामी की जंजीरों से जकड़ा रहूँ ?
जिन्दगी की रंगीनियों की याद बटोरे,
आँसू, दर्द और पीड़ा ही पकड़े रहूँ ?
कब तक यह गुलामी सहूँ ?
आज़ाद बयार के ताज़ा झोंके,
अब तक मेरे ललाट को चूम नहीं सके,
हाय रे दुर्दैव नियति,
अब भी पराधीनता का दर्द उठाये जी रहा हूँ ।"

बेचारा हार्टन न तो जीवनमें सफल रहा और न ही उसकी कविताओंके संस्करण उसके जीवन-कालमें बिके । समकालीन कवयित्री फ्रान्सेस एलेन हार्परने १८५४ में अपनी कविताएँ प्रकाशित कीं । वह एक उत्कृष्ट वक्ता और नीग्रो आन्दोलनकी प्रखर प्रवक्ता भी थी । नीग्रो स्वाधीनता उसकी कविताओंका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय था । उसने अपने पहले कविता-संग्रहमें ही विश्वास पूर्वक यह घोषणा की—

"मुझे अपनी कीर्ति पताका फहराने के लिए
कोई गर्वीला गुम्बद नहीं चाहिए
पर यह ज़हरीला प्याला मैं पी नहीं सकता,
गुलामोंकी मौत मरने मैं जी नहीं सकता।"

इस कविताके प्रकाशनके सात वर्ष पश्चात् ही अमेरिकामें 'मुक्ति आन्दोलन'का श्रीगणेश हुआ । श्रीमती हार्परको एक 'राष्ट्रीय कवि'के रूपमें प्रसिद्धि मिली। श्रीमती हार्परकी कविता, भाषणों और लेखोंका मूल उद्देश्य तात्कालिक लाभ नहीं वरन् भविष्यकी आशा-आकांक्षाओंके बुनियादी जीवन-दर्शनका निर्माणका था। 'ऐंग्लो अफ्रीकन' नामक मासिक पत्रिकाके सम्पादक टॉमस हैमिल्टनको लिखे एक पत्रमें उसने अपने इस आशयको स्पष्ट करते हुए लिखा—"यदि अपनी प्रतिभाका परिचय देना हो तो हमें तात्कालिक समस्याओंके प्रति कम और सामान्य जन-भावनाओंके सम्बन्धमें अधिक लिखना चाहिए।""हमें आश्वस्त होकर भविष्यकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए जो ईश्वरेच्छासे भूत तथा वर्तमानसे बेहतर ही होगा ।" श्रीमती हार्परका गद्य और पद्य दोनोंपर असाधारण अधिकार था। उनकी लेखनी जीवनपर्यन्त अनवरत गतिसे चलती रही ।

दर्जनों आत्मकथाओं, भाषणों और निबन्ध-संग्रहोंका प्रकाशन इसी बीच जारी रहा । ये अमरीकी साहित्यिक और सांस्कृतिक विरासतका महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। इनमें एक नीग्रो गुलाम फ्रेडरिक डगलसकी आत्मकथाका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह अपनी तरहके बुद्धिजीवियोंमें सर्वोपरि था।

१८४४ में प्रकाशित उसकी आत्मकथाका एक अंश इस तरह है—"मैं गुलाम क्यों हूँ ? कुछ लोग गुलाम और दूसरे मालिक क्यों होते हैं ? क्या दुनियामें कभी ऐसा समय भी था जब कोई गुलाम नहीं था ? यह रिश्तेदारी आखिर शुरू कैसे हुई ?—किंचित् आधारोंपर मैंने यह निष्कर्ष निकाला था कि आसमानवाले ईश्वरने ही सबका निर्माण किया है, उसने ही 'श्वेत' व्यक्तियोंको मालिक और 'अश्वेतों'को गुलाम बननेको पैदा किया है।—मुझे आखिर इस समस्याका हल जाननेमें देर नहीं लगी कि 'वर्ण' नहीं वरन् 'अपराध', 'ईश्वर' नहीं बल्कि 'मनुष्य' गुलामीकी प्रथाके लिए जिम्मेदार हैं। चूँकि मनुष्यने मनुष्यको गुलाम बनाया है, इसलिए वही उसे मुक्त भी कर सकता है। मेरे दिमागपर छायी अन्धकारकी परतें उठ गयीं। और मैं इस विषय (दासप्रथा)-का ज्ञाता हो गया।" इस तरहकी ढेरों पुस्तकें लिखी जाने लगीं और उनकी बिक्री भी खूब जोरोंसे बढ़ने लगी।

इस सम्बन्धमें विलियम वेल्स ब्राउनकी कृतियोंका उल्लेख करना आवश्यक होगा क्योंकि वह अपने युगके नीग्रो साहित्यका सर्वोत्तम प्रतिनिधि है। ब्राउनने कनाडा, इंग्लैण्ड आदि देशोंकी यात्रा की और गुलामीकी प्रथाके विरुद्ध आजीवन कार्य किया। वह नीग्रो गद्य-साहित्यका सर्वश्रेष्ठ कृती था। उसने निबन्ध, आत्मकथात्मक वृत्त, उपन्यास और नाटक सभी कुछ लिखा। उसका पहला उपन्यास 'द प्रेसीडेण्ट्स डॉटर' १८५३ में लन्दनमें प्रकाशित हुआ। प्रख्यात समालोचक साण्डर्स रेडिंगके शब्दोंमें "ब्राऊनको एक ऐसे उद्देश्यका प्रोपेगेण्डा करना पड़ा जिससे वह सम्बद्ध था। उसकी सफलताएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वह सृजनात्मक नीग्रो साहित्यके इतिहासका पहला उपन्यासकार, नाटककार, इतिहासकार सभी कुछ था।" उसके उपन्यास 'द प्रसीडेण्ट्स डॉटर'में एक नीग्रो लड़कीके नीलाम किये जानेका नग्न वर्णन है।

सिविलवारके बादकी कृतियोंसे ब्राउन और भी प्रसिद्ध हो गया। वह अमरीकाका पहला नीग्रो शब्द-शिल्पी था जो अपनी लेखनीके दम-खमपर ही अपनी रोटी कमा सका।

ब्राऊनका समकालीन उपन्यासकार मार्टिन आर० डिलैनी भी गुलामीकी प्रथाके विरुद्ध छेड़े गये राष्ट्रीय आन्दोलनोंका प्रणेता था। उसका प्रसिद्ध परन्तु अधूरा उपन्यास 'काला आदमी' ऐंग्लो-अफ्रीकन पत्रिकामें जनवरी १८५९ से प्रकाशित होना शुरू हुआ। इस उपन्यासका नायक एक शिक्षित वेस्ट इण्डियन नीग्रो है जो जालसाजी और धोखेसे अल्पवयमें गुलाम बनाकर बादमें अमरीका लाया जाता है। वहाँ अपनी पत्नीके बेचे जानेपर अमरीकनोंकी कृतघ्नताका बदला वह उनके विरुद्ध एक गुप्त संस्था बनाकर लेता है। इसके अतिरिक्त हैरियट जेकब्स, एलिजाबेथ केक्ले, सारा बेडफोर्ड और बुकर टी० वाशिंगटन (आत्मकथा : 'अप फ्रॉम स्लेवरी १९००) का इस सन्दर्भ-

में उल्लेख आवश्यक है। बुकर टी० वाशिंगटनकी आत्मकथा नीग्रो साहित्यकी 'क्लासिक' होनेके अतिरिक्त उन्नीसवीं सदीका अन्तिम 'स्लेव नैरेटिव' भी था। उसने अमरीकी और नीग्रो चेतनाको संवेदनात्मक स्तरपर झकझोरकर रख दिया।

बीसवीं सदीके प्रारम्भिक लेखकोंने स्वाधीनता संघर्षकी मुख्य धारासे हटकर लिखना शुरू किया, जिससे निश्चय ही नीग्रो आन्दोलनको क्षणिक क्षति पहुँची। बीसवीं सदीका सबसे जानदार कवि क्लाड मैके था। वह नये स्वरोंका अग्रज था। नीग्रो साहित्यमें यह युग रिनेसांका युग कहलाता है। कवि ब्रेथवेटके अनुसार मैके 'मानसिक अन्तर्द्वन्द्व' का शिकार था। वह अपने कवित्वको कोई निश्चित दिशा दे पानेमें असमर्थ था। कभी वह जीवनका चित्रण व्यापक मानवीय अनुभूतियों और सहानुभूतियोंके आधारपर करता था तो कभी अपनी काव्यात्मक शक्तियोंका उपयोग विशिष्ट मतवादके प्रवर्तन और राजनीतिक उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए करने लगता था। नीग्रो कुण्ठाओं, विवशताओं और आत्मविश्वासका सच्चा वर्णन हमें उसकी कविता 'यदि हम मरे ही'में मिलता है। मैककी एक अमर कविता इस प्रकार है—

"यदि मृत्यु ही हमारी नियति हो
हम गीदड़ की मौत नहीं मरें,
गोरे हमारा शिकार छल कर न करें
हमारे सामने शौर्य नमन करे।
हमारी अरथी की परिक्रमा कुत्ते न करें,
श्वेत सहानुभूति के समवेत स्वर न गूंजें।
यदि मृत्यु ही हमारी नियति हो-
हमारा खून पानी की तरह न बहे
गोरे शैतान का हम दमन करें,
हमारे सामने शौर्य नमन करे।
दोस्तो! अपने दुश्मन को जानो,
अपनी नियति पहचानो।
हम इने-गिने हैं तो क्या?
हर सर्पदंशी नापाक इरादे पर
वज्र प्रहार करें।
यदि मृत्यु ही हमारी नियति हो-
हम शौर्य-देव का पुण्य-स्तवन करें
खूनी बेशर्म दानवी इरादों पर
देवत्व का अन्तिम प्रहार करें।"

इस सन्दर्भमें काउण्टी कतेन, फ्रैंक हार्न, हेलेन जॉनसन, डोनाल्ड जेफ़री हैज प्रभृति कवियोंका भी सम्मानजनक स्थान है।

महायुद्धोत्तर युग नीग्रो साहित्यकारोंके लिए नयी आशाएँ और चुनौतियां लेकर उपस्थित हुआ। नीग्रो लेखकोंके लिए उप[युक्त] युक्त विषय क्या है? क्या उन्हें लोकशैली का इस्तेमाल करना चाहिए? उनके प्रतिपाद्य चरित्र अश्वेत ही हों या श्वेत भी? क[्या] वे अभिजात्यवर्गके चरित्र चुनें?—[ऐसे] प्रश्न नीग्रो कलाकारोंके मस्तिष्क[में] चक्कर काटते रहे। यह संक्रान्तिका [युग] था। रिनेसांका युग समाप्त हो चला था। चेतनाके इस नये युगका पूर्वघोष लेख[क] समीक्षक एर्ना बोण्टेम्सने अपने एक [लेख] 'नीग्रो कलाकार और जातीयताका प[्रश्न]' में इस तरह किया—"हम नौजवान नी[ग्रो]

सर्जक कलाकार अपनी काली चमड़ीके उजले अन्तर्मनकी अभिव्यक्ति डर या झिझकके बिना करना चाहते हैं। यदि 'श्वेत' व्यक्ति इससे खुश हैं, तो अच्छा ही है। यदि नहीं तो कोई बात नहीं। हम जानते हैं कि हम सुन्दर भी हैं और कुरूप भी। हममें वेदना भी है और अट्टहास भी। यदि अश्वेत जातियाँ इससे खुश है तो अच्छा ही है। यदि नहीं तो उनकी अप्रसन्नताकी हमें परवाह नहीं। हम भविष्यके लिए अपने मजबूत पूजा-गृहोंका निर्माण कर रहे हैं। हम पर्वतकी ऊँचाईयोंपर अपने अन्तर्मनकी आज़ादी लिये खड़े हैं।" उक्त घोषणाके बाद ही नीग्रो-साहित्यमें परिवर्तनकी तेज आँधी आयी। समाजशास्त्री और सम्पादक चार्ल्स एस० जॉनसनके शब्दोंमें "पिछले दस वर्षोंके नीग्रो साहित्यमें अधिक आश्वस्त आत्माभिव्यक्ति और कलात्मक ऊँचाइयोंका स्पर्श हमें देखनेको मिलता है जितना लम्बी और उदास दो शताब्दियोंमें भी नहीं हो पाया था।"

केवल उग्र-अमरीकी नीतियोंका विरोध ही नीग्रो साहित्यकी नियति नहीं रही। राजनीतिक और जातिगत प्रतिबद्धताओंके दायरेसे निकलकर (जोकि वह भी आवश्यक है) नीग्रो साहित्य सार्वभौम अन्तर्राष्ट्रीय धरातलपर खड़ा है। उनकी समस्याएं और अभिव्यक्तियाँ टूटती सरहदोंवाली भूगोल और सिमटते इतिहास तक सीमित नहीं हैं। नीग्रो समस्या आज एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। नीग्रो अन्य किसी भी देशवासीके समान विश्वनागरिक हैं। उनके प्रति किया जानेवाला क्रूर व्यवहार और भेद-भाव दुनियाके हर काले आदमीसे पूछा गया एक जलता सवाल है। अमरीकनोंसे कहीं बढ़कर नीग्रो लोगोंने सभी क्षेत्रोंमें अमरीकी उपलब्धियोंके विजयध्वज फहराये हैं। उन्हें विश्व-पौरुषकी मान्यताओंको नये प्रतिमान दिये हैं। नीग्रो-साहित्यका सन्देश आज व्यापक मानवीय संवेदनाकी गहराइयोंतक पहुँच चुका है। यह हमारे अन्तर्राष्ट्रीय रिश्तेकी गरमाहटका सबूत है। युद्धहीन विश्वका 'यूटोपिया' स्वीकारनेके पहले दुनियाके प्रबुद्ध राजनीतिक चिन्तकोंके समक्ष नीग्रो आज़ादीका भी एक अनुत्तरित सवाल है। नयी दुनियाके निर्माता क्या ऐसे और भी सवालोंका जवाब दे सकेंगे?

कृष्ण कुमार

आँखों का धोखा

सड़कपर बिजलीके खम्भेके पास थोड़ी-सी महीन लाल मिट्टी पड़ी थी जिसका गोल घेरा काली सड़कपर अलग दिखाई पड़ रहा था। दोपहर थी; काफ़ी देरमें कोई आदमी सड़कपर आता-जाता हुआ दिखाई पड़ता था।

उम्रमें थोड़े-बहुत अन्तरवाले तीन बच्चे एक तरफ़से आ रहे थे। उनकी कमीजें सफ़ेद होते हुए भी मैलके भिन्न-भिन्न अनुपातके कारण अलग-अलग रंगोंकी दिख रही थीं। दोकी निकरें खाक़ी और तीसरेकी स्लेटी थी। तीनों मैली पट्टियोंवाली हवाई चप्पलें पहने हुए थे। बीचवालेकी गोदमें एक बहुत छोटा बच्चा था जिसका सिर एक हरे ऊनी टोपेसे ढँका था। गोदीमें चढ़े बच्चेकी आँखें ख़ूब बड़ी-बड़ी थीं और उनके चारों ओर गहरा काजल लगा था जिससे वे और बड़ी दिख रही थीं। वह अपनी लम्बी पलकोंको जल्दी-जल्दी झपकाता था। तीनों लड़कोंकी मैली कमीज़ोंके कॉलर मुड़े हुए थे। बायीं तरफ़वाला होठमें कॉलर चबा रहा था। उनके घुटनों और टाँगोंपर धूल लगी थी। सूखे व अस्त-व्यस्त बाल अनजानेमें बीटलोंकी तरह माथेपर आ गये थे। निकरें कई बार पहने जानेके कारण फूली-फूली थीं और जेबकी कटानके पास मैलसे काली हो चली थीं।

बिजलीके खम्भेके पास, जहाँसे सीधे हाथको एक सँकरी पगडण्डी निकलती थी वे ठहर गये। शायद किसीको सड़क छोड़कर उधर जाना था। वहीं गोल घेरेमें लाल बारीक़ मिट्टी पड़ी थी। कॉलर खानेवाले

लड़केको न जाने क्या सूझा उसने मुट्ठी-भर धूल उठाकर गोदमें बैठे बच्चेकी आँखोंमें झोंक दी। पर उस वक़्त बच्चेकी बड़ी-बड़ी आँखें बन्द थीं। मिट्टी माथे और कनटोपेपर लगी; बच्चा रोया नहीं, केवल आँखें खोलकर विस्मित दृष्टिसे नीचे लाल गोलाईकी तरफ़ देखने लगा—जैसे वह स्वयं उड़कर उसके ऊपर पड़ी हो।

पर उसके अभिभावकने एक क्षणकी भी देर नहीं की। उसके लिए यह बड़ी गम्भीर बात थी; आश्रितपर उसकी आँखोंके सामने इतना अमानवीय अत्याचार? गोदमें बैठे बच्चेको उसने ऊपर खिसकाया और झुककर मिट्टी नीचेसे उठाकर शुरुआत करनेवालेकी आँखोंमें फेंक दी। इस बारके शिकारको भयानक चोट पहुँची। उसकी कोमल आँखें धूलसे भर गयीं और दिलमें नुकीली कसक और असह्य वेदना पैठ गयी। धूलके बारीक़ चमकीले कणोंने उसकी पुतलीका स्पर्श किया; वह सारा धैर्य, वैमनस्य और प्रतिहिंसा बिसारकर ज़ोरसे चिल्ला उठा—"बाई··· बाई···।" उसकी पलकोंमें मिट्टी चिपक गयी थी और गालोंपर गर्म-गर्म आँसुओंके कारण कीचड़ बन गया था। वह दोनों हाथोंकी मुट्ठियाँ बनाकर आँखोंको मसल-मसलकर रो रहा था।

तीसरेके लिए यह हदसे बाहरकी बात थी। मेरे लिए भी। गोदवाले बच्चेकी बड़ी-बड़ी आँखोंकी तरफ़ अपनी अदम्य जलनसे भरी आँखोंसे देखकर वह बोला—"साले, तुझको शरम भी आती है कि नहीं?" बच्चे-वाला मुझे पंच बनाकर बड़े संयत स्वरमें बोला—"भाई साहब, छोटे बच्चेकी आँखोंमें धूल पहले इसने डाली।" इसमें ज़्यादती कैसी? यदि न जवाब देता तो अगली बार फिर डालता। सारी बातें इस तरह साफ़ ज़ाहिर थीं। मगर तीसरेका तरकश अभी पूरी तरह खाली नहीं हुआ था। रोनेवालेकी तरफ़ उँगली दिखाकर वह बोला—"जब इसने डाली तो उसकी आँखें बन्द थीं।" अभि-भावक बना बच्चा क्या कहता? यहाँ कौन समझता था साध्य, साधन और परिणामका गणित? अपनी स्थितिकी सच्चाईपरसे उसकी निष्ठा उठ गयी और उसीके साथ चेहरेका विश्वास भी हवा हो गया। वह बुरी तरह घबरा गया; सोचने लगा—मामलेकी अब इति आयी। मेरे समेत तीनों उसकी आँखें निकाल लेंगे क्योंकि झगड़ा आँखोंकी ही बाबत था।
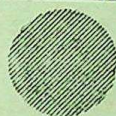
मुझे स्वयं फूँक-फूँककर चलना था।

मेरा पंच न्यायको स्पष्टतः देखकर भी अन्याय-की तरफ़ जानेको मचल रहा था। आँसुओंसे सना भोला चेहरा और चेहरेपर अटकी पीड़ित आँखें मेरी सहानुभूतिको बलात् मुँहसे निकलवा रही थीं। पर सब-कुछ दबाकर मैं बोला—आँखें ठण्डे पानीसे पहले धो लो वरना सूज जायेंगी।" यह बिलकुल असामयिक बात थी पर रोने वालेकी आँखोंमें गुलाब-जलकी ठण्डी बूँद-सी पड़ी। वह अपने उदास चेहरेमें-से मुसकराहट ढूँढ़कर मुझे देने लगा। उधर न्यायका याचक इस कच्चे नैयायिकको देखकर दिलमें उबल रहा था। इतने बड़े आदमीसे क्या बहस करता? एक घुटना टेढ़ाकर मुझे अपनी आँखें तरेरकर देखने लगा। उसकी गोदीमें बैठा बच्चा भी अन-जानेमें उपयुक्त भाव समझकर मुझे अपनी विशाल पुतलियोंसे एकटक ताकने लगा।

तभी एक बस आयी। उसके हरे रंग और इंजनकी घरघराहटमें न जाने क्या जादू था। अभी बस खम्भेसे पूरी नहीं गुज़र पायी थी कि रोनेवाले लड़केने अपनी सिसकियाँ दबाकर एक पत्थर उठाया और पूरे दमसे बसकी टीनपर दे मारा। वाह! क्या चीज़ आयी। उसके साथीने भी झटपट मौक़ा जाता देखकर एक और पत्थर उठाया और देखते-देखते बसकी पीठपर तड़ाकसे दे मारा। बसका पिछला दरवाज़ा खुल रहा था—मगर उसके पहले एक और पत्थर बसकी पिछली दीवारपर ज़ोरसे लगा। यह मुझसे नाराज़ होनेवाले लड़केका था। उसकी गोदमें बैठे मोटी-मोटी आँखोंवालेने भी अपना नन्हा-सा हाथ आगेकी तरफ़ ढकेलकर मानो चौथा पत्थर मारा।

बस घर्र-घर्र करके क्षण-भरको रुकी और तेल-भरे काले कपड़ोंवाला एक आदमी तेज़ीसे पिछले दरवाज़ेमें-से उतरा। बच्चे अभी पत्थर मारनेकी खुशीको आत्मसात् नहीं कर पाये थे कि कई चाँटे उनके कोमल गालों-पर तड़ातड़ बरस पड़े। कान मरोड़कर वह भूत वापस बसमें सवार हो गया।...

लाल तमतमाये हुए गाल और आँसुओं-से उफनाती पुतलियोंसे एक-दूसरेकी तरफ़ देखते हुए वे अलग-अलग जानेकी जगह इकट्ठे सँकरी पगडण्डीपर चल दिये। मैं हतप्रभ खड़ा था।

B.Samarth
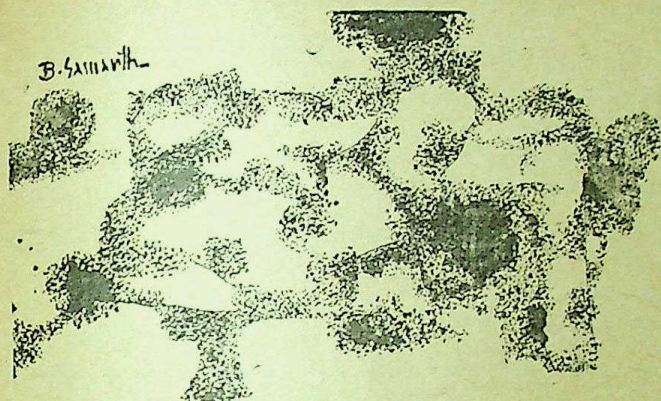
पीछा करती परछाइयाँ

कृष्ण कुमार गुप्त

■

दुतरफ़ा बेला रोडकी कोई चर्चा की जाये, ऐसा कुछ नहीं है। बूढ़ी दिल्लीकी, अबसे कुछ समय पहले तक उपेक्षित और एकदम बदहाल एक सड़क। अब कुछ 'फ़ेस लिफ्टिंग' हो गया है। गोलेके उस छोरसे या इस ओरसे जो भी अतिथि या टूरिस्ट भारत भू-खण्डपर आता है, वह दिल्ली ज़रूर आता है। जो दिल्ली आता है, वह सौ काम छोड़कर बेलारोड जाना चाहता है। यह सड़क अपने एक आँचलमें टूटे-टूटे-से पुराने परकोटेमें, खुले-खुले-से दिल्ली शहरको बाँधे है। और दूसरी तरफ़···हाँ, दूसरी तरफ़ व्यतीत शताब्दी-अंशका ताज़ा, जीवन्त इतिहास सो रहा है। सो रहा है यानी धड़कन है, जीवन है मगर माहौलसे बेखबर। गति नहीं रह गयी है।

चलिए, आपको ज़रा दूर तक ले चलें। सामने सजी-सँवरी हरी-हरी दूबसे ढँकी जो चढ़ाई नज़र आ रही है इसके नीचे लाल पत्थरकी एक ख़ूबसूरत कलाकृति छिपी है। बीचमें खुला मैदान है। संगमरमरका एक छोटा-सा चबूतरा है, लिखा है—हे राम! यह अमर बना रहा है अहिंसाके अग्रदूत, युग-पुरुषको। हमारे राष्ट्रपिताको। हर तीस जनवरीको यहाँ एक तोप दाग़ी जाती है, राष्ट्रपति माला चढ़ाते हैं, जवान बन्दूक़ोंका मुँह नीचे कर देते हैं और यों शहीदोंकी श्रद्धांजलि अर्पित हो जाती है। हर दो अक्टूबरको····'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे····' की मधुर स्वर-लहरी हवाकी लहरोंपर तैर जाती है। मनका कोई दुबका हुआ कोना कुछ द्रवित-सा होने लगता है। बुद्धिकी अकड़ जमीकी जमी रहती है। आइए, आगे चलें।

···यह चबूतरा अमर बना देगा पंचशील-के उद्घोषक और शान्तिके पुजारीको। चालीस सालों तक तूफ़ानकी तरह जो इतिहास बनाता रहा, अट्ठारह सालों तक जो देश-विदेशके राजनैतिक क्षितिजपर पूरी तरह छाया रहा। लाल गुलाब उसे तब भी पसन्द था, आज भी। हर रोज़ चबूतरेपर लाल गुलाब सजाये जाते हैं···अचकनका बटनहोल अब पत्थरका चबूतरा बन गया है। शेष शताब्दीके वर्षोंमें यहाँ एक विशाल वन बनेगा। कहा जाता है उसमें हिरन विचरा करेंगे। सुना जा रहा है, कुछ ऐसा होगा वहाँ जो वहाँ जानेवालेको सुकून दे सकेगा। सुकून···

जब देश सुकूनकी साधना कर रहा था, बाहरवालोंने हल्ला बोल दिया। सुकून भीतर-की चीज़ है और बाहरकी भी। बड़ों-बड़ोंकी भीड़से एक छोटी-सी-मगर मज़बूत आवाज़ आयी···जवानो बढ़े चलो। जय जवान जय किसान—आकाशमें गूँज उठा। सामने जो चबूतरा खड़ा है—अभी यहाँ भी कुछ बनेगा। वहाँ लिखा होगा—जय जवान, जय किसान! कहा जाता है—धूप हो या वर्षा, आंधी हो या तूफ़ान—यहाँ हर रोज़ एक देवी आती है। नंगे पाँव, झुकी-गीली-सी निगाहें, हाथमें एक पूजाकी डलिया लिये। फूल चढ़ाती है, आँख बन्द करके हाथ जोड़ती है, शीश झुकाती है, परिक्रमा देती है और चुपचाप बिना किसीसे कुछ कहे-सुने चली जाती है। आसपासके खड़े लोग धीरेसे कभी नमस्कार कर देते हैं। आप कहाँ रुक गये? आगे आइए।

यह बग़लवाली पीली-सी इमारत भी एक स्मारक है। हाँ, स्मारक! दिल्ली बहुत बढ़ गयी है। यहाँ बढ़ी तादादमें लोग यों ही मर जाते हैं। उनपर कोई रोनेवाला नहीं होता। उनकी मिट्टीको ठिकाने लगानेके लिए कोई मित्र, बन्धु-बान्धव नहीं होते। किराये-की गाड़ीमें मेहतर लाशको डाल देते हैं। इस स्मारकमें एक बटन दबाया जाता है और यों ही मर जानेवालेको देखते-देखते राखमें बदल देता है। राखको पीछेकी जमुना-रेतीमें फेंक दिया जाता है। नहीं जानता—कितने अनजाने इस स्मारकमें मरकर, मिट जानेके लिए आ चुके हैं, आते रहेंगे। यहाँ हरी दूब नहीं है

लाल पत्थरकी कलाकृति भी नहीं। न यहाँ लाल गुलाब है, न यहाँ कोई देवी आती है। अतिथि और टूरिस्ट कटकर निकल जाते हैं। कुछको दहशत होती है, कुछको कुछ और!···

यहाँसे सड़क एकदम घूम गयी है। हाँ, सामने जमुनाका पुल है। छोड़िए पुलको। बेला रोडपर ही बढ़ें।····जो इज़्ज़तसे मर जाते हैं, अपनी आखिरी यात्रा चार भाइयोंके कन्धोंपर करते हैं, राख बननेके लिए जिन्हें पांच-सात मन लकड़ी, शुद्ध घी और हवन-सामग्रीकी आवश्यकता होती है, जिनके जुलूसमें नारे लगाये जाते हैं—'राम नाम सत्त है। सत्त बोलो गत्त है'—यह स्थान उन लोगोंके लिए सुरक्षित है। घाटों, वनोंकी परम्परामें, बेला रोडपर यह आखिरी घाट है—निगम बोध घाट।···राज घाट, शान्ति वन, विजय घाट, बैनाम घाट और निगम बोध घाट। अतिथि-पर्यटक घाटोंमें अटककर रह जाते हैं। आगे घाटियाँ हैं—गहरी, अँधेरी, अनजानी।

बेला रोडके दूर पास, सँकरे, फैले मार्गों, पथों, 'रोडों' और 'लेनों' का जटिल जाल बिछा है। तिरछी-आड़ी, सीधी-सपाट, टेढ़ी-मेढ़ी ये सड़कें जहाँ एक-दूसरेको चीरती हैं वहाँ बड़े-बड़े लैम्पपोस्ट खड़े हैं। इनके सिरपर लाल-हरी बत्तियाँ जड़ी हैं, जो जलती हैं, बुझती हैं और इनके इशारेपर दबी-सहमी-सी मांसकी मूर्तियाँ रुकती हैं, रेंगती हैं···· रुकती हैं रेंगती हैं। अगल-बग़ल, दायें-बायें, आगे-पीछे शोख हेकड़ घड़घड़ाती मशीनें झटकेसे हाल्ट हो जाती हैं····फुर्सते आगे बढ़ जाती हैं—लम्बी-लम्बी क़तारोंमें। मांसकी मूर्तियाँ सिकुड़ती जा रही हैं, मशीनें फैलती। लगता है कब मशीन मेहरबान न हो जाये। सिमटी-सिमटी ये मूर्तियाँ, मौतको मुट्ठीमें दबाये, मरते-मरते बच जाती हैं।···खुदाका शुक्र है।

मशीनें ज़मीनपर ही नहीं, उसके नीचे भी हैं। हवामें भी, पानीमें भी। मानव कहाँ-से चला था, कहाँ जा रहा है, या कहाँ पहुँचेगा, बिलकुल नहीं जानता। हाँ, इस समय वह अपनी राहपर लगे उस बोर्डके आस-पास कहीं है, जिसपर लिखा है—मानव खुद एक मशीन है। मानवका इतिहास पुराना है। इतना पुराना, कोई उसे ठीक-ठीक बताने-वाला भी इतनी बड़ी दुनियामें नहीं रह गया है। मशीनोंकी कहानी नयी है। रफ़्तार बेहद तेज़ है। अभी इतनी तेज़ है, कि पकड़ कठिन हो गयी है। दस-बारह साल पहले चाँदकी सैरकी बात बकवास लगती थी। अब उसकी असलियतका एहसास बच्चे-बच्चे-को है। आगे आ रहे दस-बीस सालोंमें मशीनोंकी तरक़्क़ीका एहसास कितना विचित्र होगा, आज तो बस कल्पना ही की जा सकती है। लेकिन एक बात ज़ाहिर है, मशीनें बढ़ रही हैं। मांसकी मूर्तियाँ लड़ रही हैं। कुछ मानते हैं मशीनोंकी तरक़्क़ी मानवताकी जीत है। दूसरे कहते हैं यह मान-वताका पतन है, उसकी पराजय है। यह कशमकश जल्दी खत्म होनेवाली नहीं है।
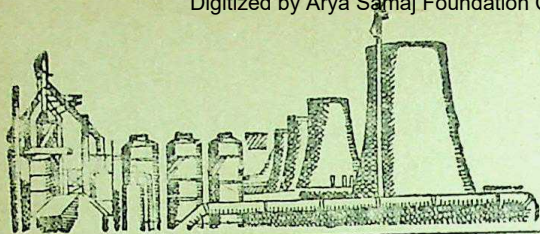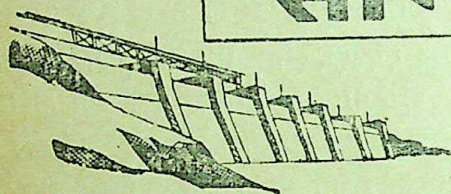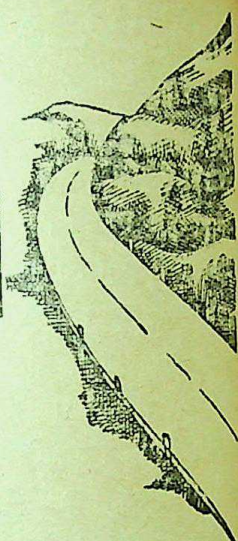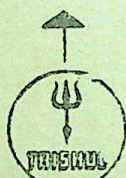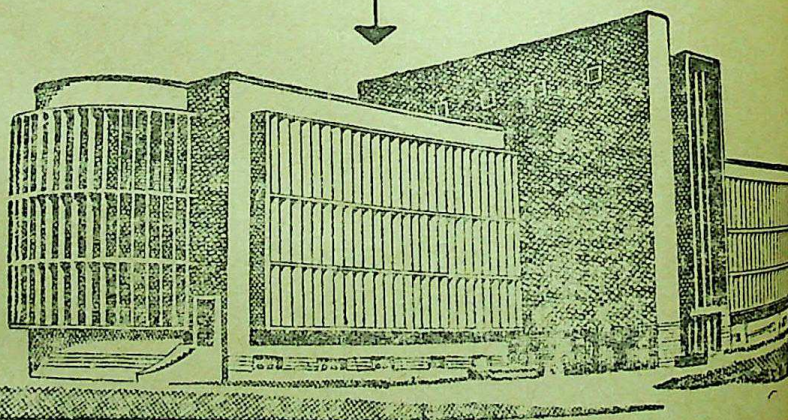
आनेवाले सालोंमें—उम्मीद है—और बढ़ेगी।

मशीनोंकी शक्ति बढ़ रही है और शक्तिकी भूख। कोयले और पेट्रोलियमके विशाल भण्डार ना-काफ़ी लगने लगे हैं। परमाणुके विखण्डनसे जो ऊर्जा मिल सकेगी, उसकी अपनी सीमाएँ हैं। यों अपने देशमें ही तारापुर, राणाप्रताप सागर और मद्रासमें परमाणु-चालित बिजली घरोंपर तेज़ीसे काम चल रहा है। तब गाँव-गाँवमें मिट्टीके दीये और कुप्पियाँ नहीं रह जायेंगी, वहाँ बिजलीके बल्ब जगमग करेंगे। खेतों और कारखानोंमें पहिये ही पहिये घड़घड़ायेंगे। सागरका खारा पानी, मीठा होने लगेगा···! हाँ, तो बात कह रहा था, मशीनोंके लिए ऊर्जाकी बढ़ती आवश्यकताको पूरा करनेकी। सम्भावना है आगेके दस वर्षोंमें परमाणु-संगलनको नियन्त्रित कर उसे उपयोगी बनाया जा सकेगा। अभीतक यह सम्भव नहीं हो सका है। और जब यह सम्भव हो जायेगा तब एक ग्राम ड्यूटीरियमके संगलनसे जो ऊर्जा प्राप्त होगी वह एक ग्राम कोयलेके दहनसे प्राप्त ऊर्जासे एक करोड़गुना अधिक होगी। या यों समझ लीजिए कि पानीसे भरा एक तालाब जिसकी लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाई हरेक दो सौ तीस मीटर हो, इतनी ही ऊर्जा दे सकेगा जितनी आजकल पूरी दुनिया कोयला जलाकर एक सालमें उपलब्ध कर पाती है।

शक्तिकी छानबीन बड़ी दूर तक होनेवाली है। सूर्य हमारी पृथ्वीपर प्रति सेकेण्ड ४,०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००० कैलारी ऊर्जा भेजता है। कोशिश की जा रही है कि प्रकाशवैद्युत् और तापवैद्युत् प्रक्रमों और सैलोंको इतना विकसित किया जा सके कि यह ऊर्जा भी हमारे लिए उपयोगी बन सके। सूरज चाँदपर जो ऊर्जा भेजता है, बहुत सम्भावना है कि उसको भी काममें लाया जा सके। कौन जाने चाँदपर कल बिजली-घर खड़ा हो जाये और पृथ्वीपर उसकी सप्लाई शुरू होने लगे। हमारी पृथ्वीके गर्भमें अपार ऊर्जाका भण्डार है, उसे भी सतहपर लाये जानेकी सम्भावनाएँ प्रबल होती जा रही हैं यानी चाहे ज़मीन हो, चाहे सूरज, चाहे चाँद और चाहे पानी––विज्ञानने समझ लिया है, ये सब शक्तिके अपार भण्डार हैं। किसीको छोड़ना नहीं है।

बात सिर्फ़ शक्तिकी नहीं, गतिकी भी है। मशीनोंकी गति बढ़ रही है और गतिकी भूख। हवाई जहाज़ोंने हवाको पीछे छोड़ दिया है, अब रेलें भी हवासे बातें करनेवाली हैं। दुनियाका सफ़र कुछ घण्टोंमें बँधकर रह जायेगा। लेकिन मामला कुछ ज़्यादा गम्भीर है। मूल प्रश्न मानव और मशीनके बीचकी मर्यादाओंका है। मर्यादाओंके अतिक्रमण, उल्लंघन और रक्षणका है। मांसकी मूर्तियोंने दिमाग़ी-सम्भोग किया है और यों मशीनोंको जन्मा है। अपनी औलादपर वह किस सीमा तक लग़ाम लगा सकेगा या लगाये रखना चाहेगा, इसका फ़ैसला इस सदीके आनेवाले वर्षोंमें लगता है, हो जायेगा।

कलकी ही तो बात है। जीवन बीमा निगमके कर्मचारियोंने एक भारी हड़ताल की थी—पैसेके लिए नहीं, अधिकारियोंके खिलाफ़

भी नहीं। यह हड़ताल थी कम्प्यूटरोंके खिलाफ़ जो अभी-अभी भरती किये गये हैं। एक बात एकदम साफ़ है, ये नये 'कर्मचारी' दो हाथवाले कर्मचारियोंसे कहीं अधिक कुशल, दक्ष, चतुर और तेज़ हैं। खतरेकी बत्ती सामने नज़र आ रही है। मामलेको खत्म करनेके लिए दिलासा दे दी गयी—किसीको छँटनी नहीं की जायेगी। काम चल पड़ा। मगर मनमें डर है। यह डर अभी बढ़ता जायेगा!

थोड़ा आगे चलकर साकार-से होते लगनेवाले सपने कुछ बड़े मीठे हैं। सर्वेयर चाँदपर गया था। उसने वहाँ हल चलाया, ज़मीन खुद गयी। यानी चाँदपर जुताई हो सकती है। अब पता लगा है कि चाँदकी सतहके नीचे पानी भी है। यानी हालात मौजूद हैं कि चांदपर खेती की जा सकेगी। तो वहाँ एक नयी दुनिया बस जायेगी। कौन जाने कोई नयी-नयी दुल्हन रूठकर चाँदपर जा दुबके और तब कोरे-कोरे दूल्हेको अपनी रानीको मनानेके लिए चन्द्रलोक तककी यात्रा करनी पड़े! यात्रा सुखद हो सकती है। मगर रास्तेमें कम्प्यूटरने टाँग अड़ा दी तो! खैर! अभी तो कम्प्यूटर एक शिशु ही है, मगर कल यह किशोर होनेवाला है और फिर अगले दिन इसपर जवानी लद जायेगी। जवानीके नशेमें झूमता कम्प्यूटर अपने बूढ़े जनकसे कैसे पेश आये, यह बात देखनेसे ही ताल्लुक़ रखती है।

कुछ मीन-मेख शुरू होने भी लगी है। हाल ही में कै० डब्लू० हार्डसने 'इन-प्रॉसेस गैजिंग' और 'रोबोट इन्सपेक्टरों'की जो बात कही है, उससे भविष्यका कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। आज जीवन बीमा निगमके क्लर्क हड़ताल कर रहे हैं मगर 'रोबोट इन्स्पेक्टरों' के बन जानेपर 'फाउण्ड्री इन्चार्ज' और 'प्रोडक्शन इंजीनियर' हड़ताल करनेपर उतारू हो जायेंगे। लेकिन लगता ऐसा है कि मांसकी मूर्तियोंकी हड़तालें हमेशा यह जान नहीं रह सकेगी। कारण स्पष्ट है। कहाँ-कहाँ हड़ताल होंगी—एक जगह, दो जगह। कल ही सूचना मिली है कि जापानने एक ऐसी मशीन तैयार कर डाली है जो हाथके लिखे, टाइप किये हुए या छपे हुए यानी हर क़िस्मके पत्रोंको खुद छांटकर अलग-अलग डिब्बोंमें डाल दिया करेगी। यानी पोस्टल सार्टरोंको हड़ताल करनी चाहिए। इंगलैण्डने तोपखानोंका ऑटोमेशन कर डाला है। यानी तोपचियोंके बिना तोपें अपना काम करनेमें सफल हो गयी हैं। तो फिर तोपचियोंको हड़तालकी तैयारीमें लग जाना चाहिए। प्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक एलेक्जेण्डर वोलेगोवने हाल ही में कम्प्यूटरके आधार पर आर्कियो-वीडियो-फोनके निर्माणकी सम्भावनाओंपर प्रकाश डाला है—ज़रा डायल घुमाइए और यूनानके महादार्शनिक अफ़लातून से तत्त्वशास्त्रपर बहस शुरू कर दीजिए, या महाभारतका युद्ध हूबहू अपनी आँखोंसे अपने घरमें देखिए। अब भूतकालकी मनचाही घटना, मनचाहा व्यक्ति आपके सामने आ सकेगा।

आनेवाला कल कम्प्यूटरका दिन होगा।

अब तो यहाँतक विचार किया जाने लगा है कि—क्या कम्प्यूटर भी सोच सकता है? टी० डी० कालहाउनने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऑटोमेशन—भविष्यकी सम्भावनाएँ'में एक पूरा अध्याय इसी तोड़-जोड़पर खपाया है। शीर्षक है—'व्हाई मैशीन्स विल नेवर थिंक!' निष्कर्ष यही है कि यह मान लेना कि मशीन कभी भी नहीं सोच सकती, एकदम सही है, गारण्टीके साथ नहीं कहा जा सकता। एक कम्प्यूटर विशेषज्ञसे एक बार पूछा गया—कम्प्यूटर तो आदमी-द्वारा तैयार और तय किये गये प्रोग्रामके मुताबिक ही काम करता है या कर सकता है। फिर उसके सोचने या विचारनेकी सम्भावनाएँ कहाँसे पैदा हो जाती हैं। वैज्ञानिकका उत्तर था—लेकिन कैसे कहा जाये कि आदमी कभी भी कम्प्यूटरोंके लिए ऐसा प्रोग्राम नहीं बना सकेगा कि कम्प्यूटर खुद परिस्थितियोंको ग्रहण करे, आवश्यकतानुसार खुद निर्माण ले सके और खुद अपने प्रोग्राम बना सके। आखिर आदमीने भी धीरे-धीरे ही सोचना शुरू किया था और प्रकृतिने उसे विचारशील प्राणी बनानेमें मदद भी की थी। आज भी कर रही है। अब कोई और सवाल पूछनेकी गुंजाइश नहीं रह गयी थी।

हर्बर्ट ए० साइमनने कम्प्यूटरके भविष्यको लेकर अपनी गूढ़ तकनीकी, तर्कसम्मत और सन्तोषजनक भाषामें जो कुछ कहा है, उस सबके लिए यहाँ स्थान नहीं है। मगर सार देना ज़रूरी है। वह यह है कि अभी कम्प्यूटरका विकास आदमीके सहायकके रूपमें ही हो रहा है। मगर एक दिन वह आदमीको हटाकर उसका स्थान भी ले सकता है। तब आदमी अपने मस्तिष्कके कार्य-सिद्धान्तको ज़रूर समझ सकेगा मगर अपने बारेमें उसने जो अनेक ग़लतफ़हमियाँ पाल रखी हैं, उनका सफ़ाया भी हो जायेगा। यों हर रोज़ आदमीको इस तरहके धक्के अब भी लग रहे हैं। मनुष्यने यह कल्पना की हुई है कि वह सम्पूर्ण सृष्टिमें सर्वोत्तम एवं अद्वितीय कृति है। मगर उसे अब पता लग गया है कि उसकी पृथ्वी ब्रह्माण्डके केन्द्रमें नहीं है, वह अकेला बौद्धिक प्राणी नहीं है, उसे डर है कि कहीं अबतक अज्ञात किन्हीं नक्षत्रोंपर उससे भी अधिक विकसित जीवधारी मौजूद न हों जो किसी दिन आकर उसपर हावी हो जायें। और अब तो परछाईं भी भूत बनने लगी है—उसकी खुदकी ज़मीनपर मशीन उसके प्रतिद्वन्द्वीके रूपमें प्रति-पल पनप रही है।

इस सबको समझने-बूझनेवाले एक विदेशी व्यंग्यकारने एक मीठी चुटकी लेते हुए पिछले दिनों लिखा था : एक दिन कम्प्यूटर घूमते-फिरते स्वर्गके दरवाज़ेपर जा पहुँचा। उसने तैनात द्वारपालसे अन्दर जानेकी इजाज़त माँगी। मगर जवाब मिला—यह दरवाज़ा मनुष्योंके लिए है, तुम चाहो तो पीछेके दरवाज़ेसे अन्दर जा सकते हो। कम्प्यूटर कुछ देर खामोश खड़ा रहा फिर धीरेसे लौट लिया, मगर उसने द्वारपालसे कहा—इन्तज़ार करो। तुम जल्दी ही रिटायर होनेवाले हो। यहाँ जो तुम्हारा उत्तराधिकारी

आयेगा—वह आदमी नहीं, कम्प्यूटर होगा। और तब मुझे नहीं तुम्हारे आदमीको पीछे-के दरवाज़ेसे जाना पड़ा करेगा।

कम्प्यूटर निरन्तर तरक़्क़ी कर रहा है, आज सामने है। वह कितनी तरक़्क़ी कर सकेगा, कल सामने आनेवाला है। लेकिन आदमीमें मिलावट बढ़ती जा रही है। परखनली बच्चोंकी बात शायद आप जानते ही हैं। यानी बिना बापकी औलाद। मगर बिना माँ की औलाद भी कल हमारे बीच साँस लेती नज़र आने लगेगी। न्यूजर्सीके प्रसिद्ध जीव रसायन डॉ० बैप्टेले ग्लासके अनुसार अब यह सम्भव हो गया है कि स्पर्म्सकी भाँति अण्डाणुओंको भी 'फ़्रीज़' किया जा सके और फिर आवश्यकता-नुसार उनका निषेचन प्रयोगशालामें कर दिया जाये। कुछ विकसित हो जानेपर उसे किसी भी औरतके गर्भाशयमें पहुँचाया जा सकता है, जहाँ बाक़ीका विकास पूरा हो सकेगा। फिर यह औरत उस बच्चेको जन्मेगी। मगर वह औरत उस बच्चेकी माँ नहीं होगी। न उसे यह पता होगा कि उस बच्चेका बाप कौन है? कहाँ है? ज़िन्दा भी है या मर गया?...

एक तरफ़ ऐसी निकम्मी मांसकी मूर्तियाँ होंगी और दूसरी तरफ़ चतुर-दक्ष मशीनें।... जीवन-पथ तब एक भूलभलैया-भर रह जायेगा। मरी मूर्तियाँ निगमबोध घाट और बिजली घाटपर यथावत् जाती रहेंगी। जो नहीं मर पायेंगी वे शायद राजघाटपर जायें—'वैष्णव जन तो तेने कहिए...'की धुन सुनने शान्ति-वन जायें सुकून बटोरने और विजय घाटके चक्कर मारें कुछ साहस जुटाने के लिए। मगर...मगर उन्हें वहाँ क्या कुछ मिल सकेगा?...क्या कुछ मिल सकेगा?

■

लेखकोंसे अनुरोध है कि अनूदित रचनाओंके साथ मूल कृति या उसकी प्रतिलिपि भेजनेका यथा-सम्भव प्रयत्न करें। रचना स्वीकार्य होनेपर मूल लेखक अथवा स्वत्वाधिकारीकी अनुमति के सम्बन्धमें भी हम आश्वस्त होना चाहेंगे, अतः यदि रचना-के साथ यह अनुमति भी संलग्न हो तो रचनापर विचार करनमें सुविधा होगी।

—सम्पादक

'उग्र'-घोष— स्वतन्त्रता आन्दोलन के सन्दर्भ में

लक्ष्मीशंकर व्यास

प्रथम वार्षिक पुण्य-तिथिके अवसरपर

■

दो अप्रैल, उन्नीस सौ सरसठ। रविवारका दिन। सवेरेके नौ बजे थे। काशी नागरी-प्रचारिणी सभाके मुख्य द्वारपर सज्जित ट्रकपर हिन्दीके अवधूत और क्रान्तिकारी साहित्यकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का अस्थि-कलश पुष्पहारोंसे शोभित हो रहा था। अगरबत्तियोंका सुगन्धित धूम्र वातावरणमें सौरभ बिखेर रहा था। अस्थि-कलशके पास ही खड़े थे 'उग्र' जीके भ्रातृज श्री विभूति भूषण पाण्डेय, जो दिल्लीसे 'उग्र'जीके भस्मावशेषको गंगाकी लहरोंपर प्रवाहित करने काशी लाये थे। 'उग्र' जी-की अन्तिम इच्छा थी—गंगाके तटपर ही अन्तिम सांस लेनेकी। वह कालचक्रके कारण पूर्ण न हो सकी! इसीलिए उनका भस्मावशेष गंगाको समर्पित होनेको यह घड़ी मार्मिक हो गयी। काशीके साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियोंकी मण्डली माल्यार्पण-कर अस्थि-कलशके जुलूसमें जानेके लिए तैयार खड़ी थी।

पुलिस बैण्डने अपनी शोक-धुन शुरू की। उधर ट्रक चलायमान हुई। अस्थि-कलशके पार्श्वमें ही काशीके तरुण कलाकार श्री बैजनाथ वर्माका एक ही रात्रिमें बनाया हुआ 'उग्र'का मुसकराता भव्य चित्र रखा था। मानो इस समय भी 'उग्र' सदाकी भाँति प्रसन्न-बदन थे। जो जीवन-भर विषमसे विषमतम स्थितियोंमें सदा-सर्वदा मुसकराता ही रहा, वह भला इस अन्तिम यात्रामें कैसे आह्लादित-प्रमुदित न रहता? काशीकी जिन सड़कोंपर युवावस्था और मौज-मस्तीमें 'उग्र' 'उग्र' बने थे, उन्हींके बीच आज उनका अन्तिम अवशेष बाजे-गाजेके साथ चल रहा था। जिस ट्रकपर उनका अस्थि-कलश रखा था, उसीपर काशीके संगीत कलाकारोंकी मण्डली बैठी शहनाईपर चैतीकी धुन बजा रही थी। दशाश्वमेध घाटपर पहुँच अस्थि-कलशको बजड़ेपर ले जाया गया। साथमें कई नौकाओंपर साहित्यकारोंकी टोलियाँ चलीं। एक नौकापर गंगाके शान्त वातावरण-को शहनाई वादक संगीतमय बना रहे थे। बजड़ा और नौकाएँ मध्य गंगाकी ओर बढ़ रही थीं। चर्चाका एक ही विषय था—'उग्र', 'उग्र'का साहित्य और उग्रका हास्य-व्यंग्य! मतवालामण्डलके महाप्राणके स्मरणके साथ ही हास-परिहासका भी क्रम चल रहा था।

एक ओर शहनाईका सुमधुर संगीत—दूसरी ओर विनोद और मोदमय वातावरण। बीचमें अस्थि-कलशका बजड़ा—उसके चारों ओर नौकाएँ—काशीके प्रसिद्ध-पुरातन बुढ़वा मंगलका दृश्य उपस्थित कर रही थीं। वस्तुतः यह सब 'उग्र'की इच्छाके अनुरूप प्रकृतरूपसे हो रहा था। अल्हड़-उल्लासमें पचपन वर्ष पूर्व 'उग्र'ने काशीमें यही प्रतिज्ञा अपने बालसखा पण्डित विनोदशंकर व्यासके साथ की थी। यह प्रतिज्ञा क्या थी? यही कि दोनोंमें-से किसीकी मृत्यु होनेपर क्या होगा? उस समय एक स्वरसे दोनोंने प्रतिज्ञा की थी—'उस दिन नगरकी गायिकाओंका जशन होगा और रात-भर ख़ूब ढलेगी, ऐसी कि जिसमें सब-कुछ भूल जाय।' बुढ़वा मंगलका उक्त प्रतीकरूप इस प्रतिज्ञाके सर्वथा अनुरूप विधि-विधानतः संयोजित-आयोजित हो गया था।

• •

वर्षके बाद वर्ष आते-जाते रहेंगे पर 'उग्र'-भारतीय साहित्यमें अमर रहेंगे। कारण 'उग्र'-ने साहित्यको यथार्थकी नयी दृष्टि है, मानव-के शाश्वत तत्त्वोंको नवीन अभिव्यक्ति दी है और दी है हिन्दी भाषा एवं साहित्यको एक अभिनव शैली। उग्र-साहित्यके तथ्य और कथ्य ही स्मरणीय नहीं रहेंगे अपितु उग्रकी अनूठी साहित्यिक शैली युग-युग तक उनका सहज स्मरण कराती रहेगी। उच्चकोटिके सफल उपन्यासकार, नाटककार, कवि, निबन्ध-कार, हास्य-व्यंग्यके अनोखे स्रष्टा, श्रेष्ठ सम्पा-दक तथा हिन्दी साहित्यमें सर्वथा नवीन, मोहक और मनोरम शैलीके प्रवर्तक 'उग्र'से हिन्दी-जगत् भलीभाँति परिचित है किन्तु इस महान् साहित्यकारने देशके स्वातन्त्र्य आन्दोलनमें, सन् १९२० में महात्मा गान्धीके राजनीतिक रंगमंचपर आगमनके समय,

अपनी सफल, सशक्त और स्फूर्तिदायक विविध साहित्यिक विधाओं-द्वारा जो राष्ट्रीय जागरण तथा नवचेतनाका प्रचार-प्रसार किया, वह अपेक्षाकृत अज्ञात और अविदित ही है।

'उग्र' बहुमुखी प्रतिभाके क्रान्तिकारी साहित्यकार थे, पचास वर्षोंकी साहित्यिक-साधनामें आपने निरन्तर राष्ट्रीय नवजागरण, चेतना और विचारधाराकी सृष्टि की। असहयोग आन्दोलनकी आँधीमें गान्धीके प्रति आकृष्ट होकर आपने पढ़ाई छोड़ी और राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलनमें कूद पड़े। राष्ट्रीय नवजागरण तथा भावनाओंकी क्रान्तिके विविध कार्यक्रमोंको आपने नगरों तक ही सीमित नहीं रखा अपितु गाँवोंमें भी स्वतन्त्रता आन्दोलनका शंखनाद किया। उन दिनों तिरंगा झण्डा लेकर चलनेवाले गिरफ़्तार कर लिये जाते थे। उग्रने एक ऐसी कमीज़ बनवायी, जिसमें राष्ट्रीय झण्डेके तीनों रंग विद्यमान थे। इसे पहनकर आप नगर और ग्रामोंमें निर्द्वन्द्व होकर राष्ट्रीय प्रचार करते थे।

स्वाधीनता आन्दोलनमें योगदान करने और त्याग-बलिदानकी भावना उत्पन्न करनेमें उन दिनों राष्ट्रीय गान तथा कविताओंका माध्यम अत्यन्त शक्तिशाली एवं प्रभावशाली था। 'उग्र'ने सन् १९२० से ही इस दिशामें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मातृभूमिपर मर-मिटनेवालोंपर आपने दर्जनों कहानियाँ, सैकड़ों कविताएँ, लेख और व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ लिखीं तथा राष्ट्रीय क्रान्तिकी भावनाओंका बीजारोपण किया। 'आज' से ही 'उग्र' के साहित्यिक जीवनका श्रीगणेश हुआ। 'आज'के आरम्भिक वर्षोंमें राष्ट्रीय भावनाओंसे ओत-प्रोत आपकी जो रचनाएँ प्रकाशित हुईं, उनसे स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता संग्राममें राजनीतिक नेताओंसे श्रेष्ठतर योग-दान आपका है।

सन् १९२० के 'आज' में 'देशभक्तकी राख' शीर्षक टिप्पणी टेरेन्स मैकस्विनीपर प्रकाशित हुई थी जिसमें लिखा गया था कि वास्तवमें देश-भक्तकी राख भी ओजस्विनी होती है, वह क्या-क्या नहीं कर दिखा सकती। तोपका सामना करना सरल है, इस राखका सामना करना कठिन है। इसी सन्दर्भमें 'उग्र' की प्रणपालक मैकस्विनी शीर्षक कविता प्रकाशित हुई थी। १९ जून, सन् १९२१ में उग्रने जो राष्ट्रीय-गान लिखा, उसकी काफ़ी चर्चा हुई। श्री बेनीमाधव खन्नाने इस राष्ट्रीय गानपर ५१) रुपयेका पुरस्कार प्रदान किया था। तत्कालीन राज-नीतिक परिस्थितियोंमें यह सामान्य घटना न थी। इस राष्ट्रीय गानकी कुछ पंक्तियाँ स्मरण आ रही हैं—

विमल भूमि जय !
सजल, सफल, सदल, सबल, अमल भूमि जय !
विमल भूमि जय !

राम की पवित्र भूमि
श्याम की पवित्र भूमि
गौतम सुचरित्र भूमि—सकल भूमि जय।
जय अशोक-अकबर कर
जय प्रताप शिव सुखकर

दरशन तव चहत
अमर-अचल भूमि जय !

विदेशी वस्त्र-विरोध और उसका बहिष्कार भारतीय राष्ट्रीय संग्रामका अत्यन्त प्रमुख कार्यक्रम था। उग्र भला इससे कैसे अछूते रहते। आपने 'विदेशी वस्त्र बायकाट' शीर्षक लम्बी कविता लिखी, जिसकी ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'उग्र' शान अब न रहेगी व्यूरोक्रेसी देख।
ब्रह्मवाण विकट विदेशी वस्त्र बायकाट ॥

साम्राज्यवादी शक्तियोंका प्रहार, केवल क़ानूनी अथवा राजनीतिक दमनचक्र तक ही सीमित नहीं रहता था। जनताको विभ्रमित कर भेद-बुद्धि उत्पन्न करनेके लिए उन्होंने अन्य साधन भी ग्रहण किये थे। १९ मई, सन् १९२१ में 'श्री रामचन्द्र' नामसे किसी व्यक्तिके 'बेतुके परचे' वितरित हुए। इसी नामसे बादमें 'भारत-भजन' नामक कविता काशीमें बाँटी गयी। इसमें ब्रिटिश पक्षका समर्थन किया गया था। इसका उत्तर देते हुए श्री बेचन शर्मा 'उग्र' ने जो कविता लिखी, उसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

तू असहयोग संहार चाहता क्यों है ?
निज जननी का अपकार चाहता क्यों है ?
कह ? क्यों करता है कुक्षि कलंकित मेरी ?
तू समझ सका नहिं, बुद्धि नष्ट है तेरी।
तू रामचन्द्र का नाम हँसाता क्यों रे ?
मेरी नौका को बोल डुबाता क्यों रे ?
कर असहयोग, बन उग्र, लगा मत देरी।
तू समझ सका नहीं, बुद्धि नष्ट है तेरी ॥

३० सितम्बर, सन् १९२१ में गान्धी-जयन्ती मनानेके लिए उग्रने आह्वान किया था। यह हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्रामके ऐतिहासिक काव्यका महत्त्वपूर्ण अंग है—

चलो आज गान्धी जयन्ती मनायें
नहा लें किसी पाक दरिया में जाकर
वहाँ से जो लौटें ख़ुदा से दोआ कर,
बला से हों दरवेश या हो तवंगर
मगर जिस्म पर हो सभी के ही खद्दर।
वतन हिन्द की आबरू को बचायें।
चलो ! आज गान्धी जयन्ती मनायें ॥

'उग्र' जीने लोकसाहित्य तथा धुनपर भी अनेक राष्ट्रीय एवं उद्‌बोधक कविताओं की रचना की, जिसमें प्रथम महायुद्धमें भारतीय सहयोगके प्रति ब्रिटिश सरकारके विश्वासघातकी चर्चा की गयी है। एक ऐसी ही रचनाकी ये पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—

यारो अँगरेज़ रजवा
कटारी मारे ना।
दे के जन-धनवाँ
हरऊली जरमनवाँ।
सो बिसारे सारे ना ॥

अँगरेज़ोंकी साम्राज्यवादी नीतियों और हथकण्डोंपर भी उग्र जमकर अपनी व्यंग्यात्मक टिप्पणियों तथा छींटोंके माध्यमसे प्रहार करते थे। ये छींटे 'आज'के 'ऊटपटांग' शीर्षक हास्य व्यंग्यके स्तम्भमें प्रकाशित होते थे। ऐसे ही तीन छींटोंका रसास्वादन आप भी करें। इनकी प्रकाशन तिथि है—
५ मई, सन् १९२१ ईसवी—

'हमें डर लगता है कि कहीं भारतकी उन्नति दो-ही चार हफ़्तोंमें न हो जाये क्योंकि अब 'स्टेट्समैन'के अनुसार श्रीमती लेडी रेडिंग भारतमें 'समाज सुधार' का काम करेंगी। उनके पति राजनीतिक सुधारपर डटे ही हैं। श्रीमान् और श्रीमतीके संयुक्त प्रयत्नसे देशका उद्धार होते कितनी देर लगती है ?'

× × × ×

'प्रताप' इधर, कुछ दिनोंसे बहुत मोटा हो गया था। नौकरशाहीकी मारसे वह दुबला होकर केवल चार पृष्ठोंमें प्रकाशित होगा। खुदा नौकरशाहीकी मातामहीको खुश रखे।'

× × × ×

'ईश्वरने लॉर्ड कर्जनको दो चर्म-चक्षुओंके अतिरिक्त दो दिव्य-चक्षु भी प्रदान किये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। कारण वे सात समुद्र-पार बैठे हुए यह जान गये कि असहयोगियोंके साथ लॉर्ड रेडिंगकी सहानुभूति है, हम समझते हैं कि उन्हें दिव्य नेत्रोंसे सहानुभूतिके प्रमाण भी नज़र आते होंगे। भारतीय बन्दीगृहों और न्यायालयोंमें हज़ारों प्रमाण जीते-जागते हैं।'

सन् १९२४ में 'स्वदेश' पत्रके विशेषांकका सम्पादन उग्रने किया। इसमें ऐसी विद्रोही तथा क्रान्तिकारी पाठ्य-सामग्री थी कि विशेषांक तत्काल ही सरकार-द्वारा ज़ब्त कर लिया गया। इतना ही नहीं, इसी अपराधमें वे गिरफ़्तार कर लिये गये और एक वर्षका कारावास-दण्ड मिला। कारावासमें भी आप सदा-सर्वदाकी भाँति प्रसन्न रहते थे। कालकोठरीके ३६५ दिन-रात आपने सहज मौज़-मस्ती और राष्ट्रीय राग-अनुरागमें हँसते-हँसते बिता दिये थे।....

■ ■

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की नयी आलोचना-कृति

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या

मूल्य ५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

कलकत्ता • दिल्ली • वाराणसी

निवेदन

हरि शरण लाल

उन सभी देशों के
वे रंगबिरंगे फूल—
जिनके नाम मैं नहीं जानता,
—जो वसन्त की प्रतीक्षा किये बिना ही खिलते हैं
मैं उनको प्यार करता हूँ।

वे हाथ
हंसों-से असंख्य हाथ—जिनकी भाग्य-रेखाएँ पढ़ नहीं सकता
जिनका भविष्य बतला नहीं सकता,
वे हाथ—जो निःस्वार्थ किसी-न-किसी का भाग्य रचते हैं
मैं उन युवा हाथों को नमस्कार करता हूँ।

वे शब्द–जो हमारे शब्दकोश में नहीं हैं :
वे, कड़वे, मीठे, अटपटे बोल—
जिन्हें कहीं पढ़ा नहीं जा सकता,
वे शब्द–
जो किसी भाषा की गरिमा क़ुबूल किये बिना ही व्यक्त होते हैं
मैं उनको स्वीकार करता हूँ।

वे लोग—
हमारे अग्रज, जो हमें समर्पित हैं :
क़हक़हों और भाषणों में विरम गये हैं दुर्भाग्यवश,
कालातीत इतिहास से उपेक्षित हैं :
सच्चाई के मसीहों को जिन्हें हम नहीं जानते,
जो रोज़ जनमते और शहीद होते हैं—
मैं उन अनाम लोगों को याद करता हूँ।

विद्याधर मोदी

भीड़तन्त्र – एकान्त

अर्पणाने व्याकुल होकर बुदबुदाहटके स्वरमें कहा : "महाशयजी !"

लेकिन जिससे निवेदन किया गया था, उसे अर्पणाके चेहरेका विरक्त भाव और संकोच देखनेका अवकाश नहीं था। ट्रामके झकझोरोंमें पास ही बैठे महाशयजीका नींदसे बोझिल सिर अर्पणाके कन्धोंको तकिया बनाये बैठा था। ट्राममें काफ़ी भीड़ थी। लेकिन कण्डक्टरको बुलाकर कहनेका अर्थ था उपस्थित लोगोंमें-से सबका ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो जाये। इसलिए हिम्मत करके उसने दुबारा पुकारा : "महाशयजी, सुनिए आपकी दाढ़ी चुभ रही है।"

पास बैठे साहबने एक बार आँखें खोलीं। अर्पणाकी ओर चुपचाप देखते रहे, इसके बाद बोले : "हँ—हाँ। दो-तीन दिनसे दाढ़ी बनानेका समय ही नहीं मिला।" इतना कहकर उन्होंने फिर आरामसे आँखें मूंद लीं।

"मेहरबानी करके आप सीधे बैठिए!"

लेकिन समीपस्थ बैठे तरुणने शायद अर्पणाकी ओर ध्यान नहीं दिया। गुस्सेमें आकर उसने एक तरहसे धक्के देते हुए ही कहा—"कुछ लोगोंको ज़िन्दगी-भर तहज़ीब आ ही नहीं सकती। जाने अपने-आपको क्या समझते हैं ?"

पासकी सीटपर बैठा गौतम सावधान होकर बैठ गया। कुछ देर खिड़कीके बाहर देखता रहा। इसके बाद अर्पणाकी ओर देखकर मुसकराकर बोला—"किसीको किसीसे थोड़ा-सा भी सुख मिल जाये तो सचमुच कितनी चिन्ताकी बात है! तीन दिनसे

नहीं सका हूँ, नींद तो इसलिए आ गयी थी; लेकिन नींदमें आप क़रीब हैं इसलिए यदि मिठास आ गयी हो तो देखिए न, आपको कितना एतराज़ होने लगा! है कि नहीं। लेकिन अभागोंकी ज़िन्दगी होती ही ऐसी है कि जहाँ थोड़ा-सा भी सुखका आभास मिला, हाथ पसार ही देते हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ, भगवान्‌ने दो हाथ इसीलिए दिये हैं कि एक हाथसे माँगनेपर न मिले तो दूसरा हाथ पसार दिया जाये। ऐसे!"

अर्पणाने अपनी हँसी छिपानेके लिए मुँह फेर लिया।

गौतम अपनी ही झोंकमें कहता ही चला गया—"ज़िन्दगीकी हर दास्तान बड़ी दिलचस्प है। लेकिन इसकी लम्बाई बोरिंग है। इसलिए जिस तरह आप मुँह छिपा रही हैं, मैंने भी कोशिश की है कि अपनी ज़िन्दगीके सारे इतिहाससे मुँह छिपा लूँ—लेकिन वन कैन नॉट डिसऑन हिमसेल्फ़! आप मेरी कहानी सुनेंगी?"

"जी नहीं, माफ़ कीजिए।"

गौतमने ठण्डी साँस लेकर कहा—"ठीक है, ठीक है। किसीको किसीकी पड़ी नहीं। फिर स्त्री होनेके नाते पुरुषोंके सामने यह ज़ाहिर करना ज़रूरी जो है कि उन्हें किसीकी पड़ी नहीं है। जाने दीजिए। जानती हैं, मैं अपना क़िस्सा आपसे क्यों बयान करना चाहता था?"

"नहीं जानती। और जाननेकी ज़रूरत भी क्या है?"

"ठीक कहा आपने हर आदमीको अपने मतलबसे मतलब। क्यों किसीकी फ़िकर की जाये। लाभ क्या? लाभ, लाभ, लाभ! उफ़, लाभके चक्करमें लोग कितने व्याकुल हुए फिरते हैं···मगर जब भी नज़र उठाकर देखता हूँ तो सच बात सबके मुँहसे निकल जाती है। सभीको ज़िन्दगीमें कहीं-न-कहीं घाटा हुआ ही है। बहुत सावधान रहनेके बावजूद।"

अर्पणाने चारों ओर देखा, किसीका ध्यान उनकी ओर नहीं था। बोली—"नींदके झोंके-में अपना स्टाप तो नहीं भूल गये हैं आप?"

---

i

गौतम अचानक हड़बड़ाकर उठ बैठा: "स्टाप! हाँ स्टाप। लेकिन जिसका कोई डेस्टिनेशन ही न हो, जिसका कोई गन्तव्य-स्थल ही न हो उसके लिए तमाम पड़ाव एक-जैसे ही हैं! मैं यहाँ किसी स्टापपर उतरने-के लिए थोड़े ही बैठा हूँ। बैठा था शान्तिके साथ नींद लेनेके लिए। ट्राम घूम-फिरकर जहाँ कहीं पहुँचेगी, वहीं उतर पड़ूँगा। लेकिन तक़दीर—तक़दीर—तक़दीर।" इतना कहते हुए उसने कपालकी ओर संकेत करते हुए कहा, "तभी तो लेडीज़की सीटें भरी हुई हैं।

आप क़रीब बैठी हैं कि मेरा शान्तिके साथ सोना भी आपसे सहा नहीं गया।''

''जी नहीं, आपके सोनेसे हमें एतराज़ नहीं है। बल्कि जागनेसे अधिक एतराज़ है। हमारी तो एकमात्र प्रार्थना इतनी ही है कि इस तरह नींद लीजिए कि दूसरेपर गिर न पड़ें।''

''मतलब कि जागते हुए सोनेका बहाना करें। सचमुच हम लोग झूठके भी कितने आदी हो गये हैं। हैं न? मेरा नाम गौतम है। डरिए नहीं, अपनी ज़िन्दगीकी दास्तान नहीं सुनाऊँगा। आप अपना नाम बता सकती हैं।

''नहीं, उसके बिना भी काम चल जायेगा।''

''सचमुच! अच्छी बात है।—इतना कहकर ग़ौरसे उसने अर्पणाकी ओर देखा। फिर अपने चेहरेपर हाथ फेरकर कुछ देर तक सोचता रहा। इसके बाद सीटके पिछले हिस्सेपर माथा टेककर उसने आँखें बन्द कर लीं।

अर्पणाने ठण्डी साँस ली। उसे घर पहुँचनेकी जल्दी थी और ट्राम है कि रेंगती हुई चल रही है। अचानक झटका खाकर ट्राम रुक गयी। भगदड़-सी मच गयी। जिसको जिस ओर रास्ता सूझा भाग खड़ा हुआ। सामनेसे एक विशालकाय जन-समूह ट्रामकी ओर आ रहा था। विह्वल दृष्टिसे अर्पणा ट्रामकी ओर आती हुई भीड़, भागते हुए ड्राइवर, व्याकुल कण्डक्टर तथा एक-दूसरे-को धक्का-मुक्का करते हुए किसी तरह ट्राम-से निकल जानेके लिए चीत्कार मचाती हुई भीड़को देखती रही। लेकिन पासमें पड़ा उसका पड़ोसी अभी भी उसी तरह आँखें बन्द किये सो रहा था।

पता नहीं उसे क्या सूझा, उसने उसे झकझोरकर उठाते हुए कहा—''सुनो!''

बिना आँखें खोले ही वह बोला—''नहीं सुनूँगा। कारण मेरा सिर खिड़कीके सहारे टिका हुआ है और हाथ-पाँवमें दाढ़ी नहीं है कि आपको चुभ जाये!''

''देखो तो!''

गौतमने आँखें खोलकर देखा। मुसकरा दिया। बोला, ''भीड़-विप्लव! मैंने तो पहले ही कह दिया था शान्ति कहाँ है? कहीं भी नहीं! लेकिन आप भाग क्यों नहीं रही हैं?''

''इसलिए, इसलिए...''

गौतमने समझदार आदमीकी तरह सिर हिलाकर कहा—''भागकर भी कहाँ जायेंगी! ठीक है। तो फिर बैठी रहिए। कुछ भी नहीं होगा और जो कुछ होगा उससे हम लोग बच भी नहीं सकते!''

कहते हुए उसने ट्रामकी खिड़कीका पल्ला पटक दिया।

बाहरके उपद्रवकी आवाज़ अब स्पष्ट होकर क़रीब आ रही थी—शासनतन्त्रके विरुद्ध नारे! लोकतन्त्र ज़िन्दाबादके नारे! वर्तमान सरकारके मुरदाबादके नारे!

अर्पणा गौतमके बिलकुल क़रीब खिसक आयी। बोली—''अब क्या होगा?''

''कोई खास बात नहीं। अधिकसे अधिक इस ट्रामको आग लगा दी जायेगी। जबतक यह नहीं होता फ़िक्र करनेकी ज़रूरत नहीं

ट्रामको खाली देखकर छोड़ भी सकते हैं !"

अर्पणा एक तरहसे रो-सी दी। बोली—पिताजीने मुझे पहले ही मना किया था। हाय, मैं घरसे बाहर निकली ही क्यों ?"

तभी मालूम हुआ पुलिस घटनास्थल-पर पहुँच गयी है। टीयर गैस छोड़े जा रहे हैं। लोगोंकी आँखोंमें धुँआ छा रहा है कि गीली आँखोंको पोछते हुए लोग इधर-से-उधर भागनेकी कोशिश कर रहे हैं।

गौतमने हँसकर कहा—"मैंने तो समझा था कि आप पढ़ी-लिखी समझदार महिला हैं !"

"नहीं, मैं बिलकुल मूरख औरत हूँ। लेकिन इस भीड़में समझदार भी होती तो क्या कर लेती। देखो तो, चारों ओर कैसी भागा-दौड़ी हाहाकार मचा हुआ है।"

इससे पहले कि गौतम अर्पणाकी बातका जवाब देता उसने फुर्तीके साथ उसका हाथ पकड़ लिया और एक तरहसे घसीटते हुए दरवाजेकी ओर लपका। जैसे ही वे दोनों बाहर निकले आगका जलता हुआ पलीता ट्राम गाड़ीके ठीक बीचमें जाकर सुलगने लगा।

अर्पणाका हाथ कसकर पकड़े, भीड़ और पुलिससे बचते हुए दोनों फ़ुटपाथकी ओर लपके। इसी समय पुलिसकी एक गोली सन्नाती हुई गौतमके कानके पाससे गुज़री। अर्पणाको ढकेलते हुए, वह जरा-सा झुक गया। दोनों नहीं जानते थे कि वे कहाँ हैं और किस ओर जा रहे हैं। लेकिन धुँएसे आच्छादित इस दमघोंटू माहौलसे निकलनेके लिए दोनों प्राणपणसे भागनेकी कोशिश कर रहे थे। फ़ुटपाथके दोनों ओरकी दुकानें बन्द थीं। फिर भी दीवारोंसे सटे हुए लोग दम-साधे खड़े थे। ऊपरकी खिड़कियोंके पट थोड़े-से खुल जाते और कोई चेहरा झाँककर देख लेता उसके बाद फिर बन्द हो जाते। पुलिस-का विक्रम देखने ही लायक़ था। भारतके सारे शासन तथा गणतन्त्रकी एकमात्र रक्षक—इन वीर-पुत्रोंके करतब और बहादुरीको कैसे विशेषण दिये जायें। इसी समय सामने अर्पणाने देखा—एक प्रौढ़-अवस्थाका आदमी अपने हाथमें मैला गन्दा-सा थैला लिये तथा दूसरे हाथमें केलेके पत्ते और कुछ साग-भाजी लिये भागा चला आ रहा है। क्रुद्ध तथा सजग पुलिसकी दृष्टिसे वह बच नहीं सका। दौड़ते हुए उस आदमीको जैसे ही पुलिसने पकड़ा, उसने कान पकड़कर आजिजीसे माफ़ी माँगते हुए उँगलीसे इशारा करते हुए कहा, मुझे उस ओर जाना है। लेकिन पुलिस इन्सपेक्टरके एक ही थप्पड़से उसके झोलेके चावल और साग-भाजी सड़कपर बिखर गये। वह उलटा होकर वहीं सड़कपर गिर पड़ा। लेकिन बिना किसी तरहका प्रतिवाद किये जल्दी-जल्दी उसने साग-भाजी बटोरनी शुरू की।

इसी समय एक अप-टू-डेट बंगालीने कह दिया—"ब्रूट !"

अभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रताकी गारण्टी देने-वाले इस देशमें अभिव्यक्तिकी परम स्वतन्त्रता है, इसमें बिलकुल सन्देह नहीं—लेकिन उसकी सजा भुगते बिना भी कोई राह नहीं। लिहाज़ा दूसरे पुलिसके हवलदारने उन सज्जन-

के इस विशेषणको सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए दर्पसे कहा—"ब्रूट ! यू डोण्ट नो ऐक्च्यूअली ! सी ऐण्ड रिमेम्बर !" इसके बाद जाने वह और भी बहुत-कुछ बंगला भाषामें कह गया। बड़े बाबूने अपना चश्मा सँभालने तथा टाईकी इज़्ज़त बचाये रखनेकी बहुतेरी कोशिश की। यहाँतक कि नम्बर नोट करके फ़रियाद करनेकी धमकी तक दे दी। लेकिन पुलिसके बहादुर जवानने किसीकी बिना परवाह किये, उनकी ऐसी मरम्मत की कि वे चाहें तो भी कभी पुलिसके चरम-आतंकको ज़िन्दगी-भर न भूल सकें। अर्पणाने दोनों हथेलियोंमें मुँह छिपा लिया।
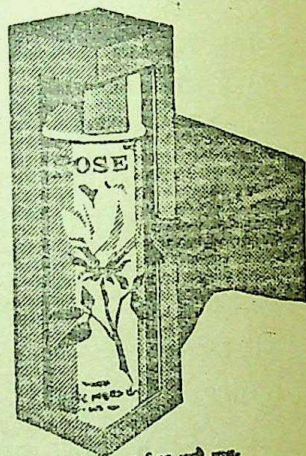
गौतमने हँसकर कहा—"तुम इस पुलिसको ब्रूट मत कह देना ! बल्कि ज़रूरत पड़े तो दयामय, करुणानिधान तथा हमारे संरक्षक, देशके गौरव कहकर इनकी स्तुति करना। उसके बदलेमें अपने प्राण बचाकर ज़िन्दा रह सकोगी !"

धीरे-धीरे सरकते हुए वे एक गलीकी नुक्कड़पर आ गये। इतनी सारी भीड़ जाने कहाँ बिला गयी कि चारों ओर एक जीवित प्राणी दिखाई नहीं देता था। तभी एक ढाई-तीन सालका रोता हुआ बच्चा ठीक सड़ककी ओर चल दिया।

अर्पणाने लपककर बच्चेको पकड़नेकी कोशिश की।

गौतमने उसी तरह हँसते हुए कहा—"फ़िज़ूल है। मौतको टालनेका हज़ार बहाना किया जाये, वह टलेगी नहीं। यह बच्चा समझता नहीं है, इसीलिए रोते हुए पुलिसके साम्राज्यमें बिना डर प्रवेश कर रहा है। समझदार होता तो इतनी हिम्मत थोड़े ही कर पाता।"

एक पलके लिए छटपटाती हुई अर्पणाका मजबूतीसे हाथ थामे गौतम दीवारसे सटा खड़ा रहा। इसके बाद अचानक उसने हाथ छोड़ दिया और भागकर बच्चेको उठा लाया ! एक पुलिस कान्स्टेबलने उस ओर बन्दूक़ तानी। लेकिन बच्चेको देखकर उसने अपनी नज़र फिरा ली। कौन कहता है कि पुलिसके आदमियोंमें मानवता नामकी चीज़ ही नहीं होती।

गौतम बच्चेको लेकर अर्पणाके पास लौट आया। बोला—"चलो, इस गलीमें-से कहीं निकल चलें। यह बच्चा तो शायद ठीकसे बोल भी नहीं सकता, सो इसका परिचय पाना मुश्किल है। अपना परिचय दे चुका हूँ। आपके परिचय पानेकी इच्छा ज़रूर थी। लेकिन अब लगता है उसकी भी ज़रूरत नहीं। आपको मालूम है, यहाँसे आप अपने घर कैसे पहुँच सकती हैं ?"

अर्पणा रो पड़ी। बोली—"नहीं।"

"चलो अच्छा हुआ। अब आपका परिचय मैं दे सकता हूँ। कलकत्तेकी सैर करने आयी थीं सो भटक गयीं। फिर विप्लवका यह दिन। अजी लड़कियोंमें भी थोड़ी-बहुत एडवेंचरस स्प्रिट हो ही सकती है ! थोड़ी देर इस बच्चेको गोदमें ले लीजिए। सुना है औरतोंकी मृदुलताका आभास मासूम बच्चोंको आसानीसे हो जाता है !"

"अब इस बच्चेका क्या करेंगे ?"

"पहला उपाय तो यह है कि जहाँ गोली नहीं चल रही हो, वहाँ उसी तरह, सड़कपर छोड़ दिया जाये !

"दूसरा उपाय ?"

"इसे अपने साथ तबतक रखा जाये जबतक कि—"

"जबतक कि ?"

"—रखना सम्भव हो ।"

"वरना ?"

"जब बहुत आवश्यक हो जाये और कोई उपाय बाक़ी न रहे तो आपके साथ ही इसे भी पुलिसके हवाले कर दिया जाये कि वे आपको आपके घर तक पहुँचा दें तथा इस बच्चेको उसके माँ-बापके पास । रह जाता हूँ मैं, जिसकी ज़िम्मेदारी पुलिस हरगिज़-हरगिज़ नहीं लेगी । है न मजेकी बात ?"

कहकर अपनी ही बातपर वह 'हो-हो' करके हँस पड़ा !

"इस गलीमें रोशनी बिलकुल नहीं है । लगता है बिजली कट गयी है, अथवा काट डाली गयी है । लेकिन फिर भी पूछनेसे पुलिस-चौकीका पता चल सकता है । आप लोगोंको वहाँतक पहुँचा दूँ..."

अर्पणा गौतमसे बिलकुल सटकर खड़ी हो गयी । व्याकुल होकर बोली—"नहीं, नहीं ।"

"तो फिर ? रात-भर, एक नौजवान युवकके साथ ! बाप रे ! दूसरे दिन आपके घरवाले, आसपासके लोग—सभी मिलकर खाँव-खाँव करने लगेंगे !"

गौतमके मुँह बिगाड़नेको देखकर अर्पणा चुप हो गयी । उसने आगे कहा—"लेकिन मेरी दुर्गतिका इतिहास अलग है । मान लो अभी आपके पिताजी साक्षात् आकर सामने खड़े हो जायें तो बिना कुछ पूछे एक ही साँसमें मेरी मरम्मत करना शुरू कर दें। उस समय तुम भी मुँह फेरकर खड़ी हो जाओगी । शपथपूर्वक कहोगी, तुम मुझे बिलकुल नहीं पहचानतीं !"

अर्पणाकी इस घबराहट और दैवी-प्रकोप-ग्रस्त स्वस्तिके क्षणिक अवकाशमें गौतमके बोलनेका तरीक़ा बड़ा मजेदार लगने लगा था । बच्चेने अर्पणाके कन्धेपर अपना मुँह रख दिया था । शायद सो गया हो !

गौतमने धीरेसे अर्पणाके कानके पास मुँह ले जाकर पूछा—"इन हज़रतकी दाढ़ी तो नहीं चुभती ?"

अर्पणाने ज़ोरसे सिर हिला दिया। अन्धकारमें अर्पणाके कानोंके दोनों बूँदे ज़ोरसे हिल उठे ।

गौतमने ठण्डी साँस लेकर कहा—"बचपनमें रॉबिन्सन क्रूसोकी कथा पढ़ी थी। बड़ा हुआ तो लगा कि वह सब कपोल-कल्पना है । लेकिन आज बिलकुल बड़ा हो गया हूँ—परम ज्ञानी—तो लगता है कि इस सारी भीड़में मैं ही हूँ वह रॉबिन्सन क्रूसो जो अनजाने देशमें, अनजाने लोगोंके बीच किसी निर्दिष्ट कर्त्तव्यके बोझसे दबा हुआ चलता जा रहा हूँ । कोई पाथेय नहीं, कोई लक्ष्य नहीं, कोई आशा नहीं । लेकिन जंगलमें आकर डरनेसे तो काम चलेगा नहीं । जंगल तो जंगल ही रहेगा चाहे उसे नन्दनवन क...

अथवा नैमिषारण्य ! जंगल होगा तो जीव-जन्तु भी होंगे। प्राण-धर्म स्वतः सिद्ध है, सो इन सबके बीच अपनी जान बचानेके लिए मारे-मारे फिरना—ओफ़ ओह ! जाने हम लोग कहाँ पहुँच गये ! सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस अनजान जगहमें रात गुज़ारेंगे कैसे ? इसी तरह भटकते-भटकते ?''

इसी समय उस पारसे भीड़ दौड़ती हुई आयी—पुलिस पुलिस !

गौतम तथा अर्पणा स्तब्ध रह गये। किस ओर जायें ? इसी समय सामनेवाले मकानमें-से एक हृष्ट-पुष्ट सज्जन बाहर निकल आये, उन्होंने बाड़ीका बड़ा-सा दरवाज़ा खोल दिया। बोले–''सब लोग अन्दर चले आओ। डरनेकी कोई बात नहीं। इसके बाद आने दो पुलिसको !''

बंगला भाषा गौतम ठीक-ठीक नहीं जानता। लेकिन आश्रयदाताके अभयवचन उसकी समझमें बिलकुल ठीक-से आ गये। वह अर्पणाका हाथ पकड़े बच्चेको गोदमें लिये उस बाड़ीमें चला गया ! बहुत सारे लोग विभिन्न कमरोंमें दम साधे मन-ही-मन अपने इष्ट देवताओंका सुमरन कर रहे थे ताकि या तो यह संकट टल जाये और इस संकटके दौरान मृत्यु अवश्यम्भावी हो तो वे सीधे स्वर्ग पहुँच जायें। कम-से-कम वापस कलकत्ते आनेकी किसीकी लालसा नहीं थी।

इसके बाद सामनेकी अन्धकारमय वीरान गलीमें पुलिसका दल-बल अपने हथियारोंसे लैस निकला। अर्पणाने पासकी खिड़कीमें-से झाँककर देखा—एक कान्स्टेबल वीर-दर्पसे अकड़ा हुआ ड्राइवरके पास बैठा दिशा-निर्देश दे रहा है ! अचानक उसने चेहरा उठाकर इस बिल्डिगकी ओर देखा और इसके बाद उसके मुँहसे एक ही आवाज़ निकली—''बाप रे।''

कहींसे एक बम आकर ठीक जीपपर पड़ा और जीपके ज़र्रे-ज़र्रे उड़ गये। अन्धकार-में आगकी उठती हुई लपटें और धुँएँ तथा गर्दका-गुबार !

जाने बिल्डिगके किस भागसे समवेत स्वर उठा—इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !

जीपके पीछे आनेवाली पुलिसकी टुकड़ी-ने बन्दूक़ें तान लीं—ठाँय-ठाँय-ठाँय !

खिड़कियोंके काँचके शीशे टूटकर गिर पड़े। उठता हुआ शोर ख़ामोश हो गया ! लेकिन बन्दूक़से उगलनेवाली आग ख़ामोश नहीं हुई ! जाने कितनी गोलियाँ इधर-उधर दीवारोंसे टकराकर अन्दर बैठे लोगोंको आतंकित करती रहीं !

हरिनामका जाप करती हुई एक बुढ़िया अर्पणाके पास ही बैठी थी। बोली—''बेटा, तुम लोग कहाँ रहते हो ?''

अर्पणा घुटनोंमें मुँह छिपाये बच्चेके सिर-पर हाथ रखे चुपचाप बैठी रही।

इसी समय एक मर्मभेदी चीत्कारसे सारी बिल्डिग काँप उठी। तीसरे तल्लेका एक लड़का उत्सुकताके मारे खिड़की खोल बैठा था और—शेष रह गयी थी उसकी माताकी करुण वेदना ! वह होश-हवास खोकर पागल-सी सड़ककी ओर दौड़ने लगी। बहुत-से लोगों-ने उसे पकड़ लिया। लेकिन अमानुषिक बलके

साथ वह ठीक सड़कके मध्य पहुँच गयी। छाती पीट-पीटकर बोली—"मारो, मारो! बच्चोंको मारते हो। मुझे मारो, देखूँ तुममें कितनी ताक़त है!"

उसके बाद—

अर्पणा सह नहीं सकी। उसने मुँह फेर लिया।

पास बैठी बुढ़ियाका हरि-जाप थम गया।

सामनेकी वक्र खुली हुई खिड़कीसे सबने देखा—पुलिसवाले करुणानिधानने एक गोलीसे माताके कलेजेकी आग बुझा दी। आग तो बुझ गयी, लेकिन गोली खाकर जिस तरह वह खून उगलती हुई उछलकर बीच सड़कपर पड़ी, वह शायद किसीसे देखा नहीं जाता।

इसके बाद पुलिसकी टुकड़ीपर ईंटों, पत्थरों, लकड़ीके कुन्दोंकी सामूहिक वर्षा होने लगी!

फिर गोलियोंकी आवाज़। आँसू-गैसके छूटे हुए सिलेण्डर! अर्पणाने सोते हुए बच्चेको उठाकर छातीसे लगा लिया!

तभी एक महाशयने आवाज़ दी—"जितने भी मर्द हैं बाहर निकल आवें। बेरिकेड बनाना है ताकि पुलिसकी जीप इधर न आ सके वरना लॉरी-भर-भरकर पुलिसवाले आकर सब लोगोंको भून डालेंगे।"

गौतम उठकर जाने लगा तो अर्पणाने मना किया "तुम मत जाओ?"

हँसकर गौतमने जवाब दिया—"क्यों, मैं मर्द नहीं हूँ क्या?"

अर्पणाने होठ भींच किसी तरह बुदबुदाकर कहा—"मर्द होनेके अहंकारके मारे जान दोगे क्या?"

"अहंकारके लिए ही जान दी जाती है। सुना नहीं तुमने, आत्मसम्मान न होनेपर आदमी मृतक समान माना जाता है। एक दिन किसी बादशाहके दरबारमें दो बच्चोंको हाज़िर किया गया। बादशाह उनकी छोटी उम्र देखकर बोले—'ये कौन हैं?' जो आदमी उन्हें लेकर आया था, उसने परिचय दिया—'जहाँपनाह राजपूत हैं!' बादशाह मुसकराये, बोले—'सो अच्छी बात है। इन्हें थोड़ा बड़ा होने दो, बादमें इनकी बहादुरी देख लेंगे।' इसपर अपने बुजुर्गके इशारेपर दोनों बच्चोंने तलवार निकाल ली। दोनोंकी बहादुरी देखने ही लायक़ थी। इसके बाद जानते हो क्या हुआ?"

अर्पणा दम साधकर एकटक गौतमकी ओर देखती हुई सुन रही थी, बोली—"क्या हुआ?"

"सचमुच दोनों बच्चे बहादुर थे। उनके हाथमें छोटी-छोटी तलवारें, दीर्घ अभ्यासकी निपुणता और बहादुरी क़ाबिले तारीफ़ थी। लेकिन इस लड़ाईमें दोनों ही मारे गये।"

"ठीक यही हालत आज है। पुलिस और जनतामें बहादुर कौन? इसका फ़ैसला होना ज़रूरी है ताकि अन्ततोगत्वा खि[illegible] मिल सके कि जनताकी शक्ति दुर्जेय है अ[illegible] पुलिस-शक्ति असीम है। जब इसका नि[illegible] हो जायेगा तो विजेता छातीपर बड़े-[illegible] तमगे लगाकर शानके साथ घूम सकेगा [illegible]

यह भी हो सकता है कि दोनों ही मर मिटें। तो क्या हुआ। शान तो बच जायेगी। यह शान ही सब-कुछ है देवी—यही सब-कुछ। अच्छा चलता हूँ।"

गौतम जब चला गया तो अर्पणा चुपचाप बैठी रही। बत्तियाँ गुल कर दी गयी थीं। अँधेरेमें कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। पासमें पड़ा छोटा बच्चा निश्चिन्त होकर सो गया था। अर्पणा बैठी-बैठी सोच रही थी, संयोग ही तो है। पता नहीं कहाँ-से कहाँ आ गयी और इस अजान आदमीके लिए कितनी व्याकुलता? यह क्या प्रेम है?

नहीं। यह सिर्फ़ प्राण बचानेकी उत्कण्ठा स्वाभाविक प्रवृत्तिका एक रूप मात्र है। इसीलिए अपने रक्षकके प्रति चिन्तित हूँ। लेकिन देखो न, कौन कब अपना बनकर अपनी भुजाओंके नीचे किसे आश्रय दे बैठता है—इसका हिसाब सिवाय विधाताके किसीके पास नहीं है।

फिर भी वह मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करती रही, इस भले मानुसकी रक्षा करना!

दम साधे एक-एक क्षण काटना मुश्किल हो रहा था। आध घण्टा गुज़र गया। गौतम वापस लौट आया। बोला—"चलो भाग चलें। इससे बढ़िया मौक़ा फिर नहीं मिलेगा। अगली गलीके लोगोंने मोरचा सँभाल लिया है। खूब जमकर संघर्ष हो रहा है। लगता है पुलिसवालोंको नाकों चने चबाने पड़ेंगे।"

अर्पणा बच्चेको उठाकर गोदमें लेने लगी। गौतमने कहा—"इसे यहीं छोड़ दो। इसका भगवान् मालिक है?"

"छोड़ दूँ?"

"और नहीं तो क्या? हम दोनों किसी तरह बचकर सही-सलामत यहाँसे निकल जायें यही बहुत होगा। सुबह इस बच्चेका कुछ-न-कुछ इन्तज़ाम हो ही जायेगा। यहाँ काफ़ी घर-गृहस्थ लोग रहते हैं। तुम्हारे और मेरेसे ज़्यादा साधन उन लोगोंके पास हैं। चलो उठो।"

अर्पणाने नींदमें सोते हुए बालककी ओर देखा। फिर मुँह फेर लिया। बोली—"चलो!"

ट्रामकी घरघराहटके स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगे थे। लगा कि इस विप्लवके बाद चारों ओर शान्ति व्याप गयी है। सूर्योदय हो रहा था। गौतमने सामनेके एक रेस्तराँकी ओर इशारा करके कहा—"चलो, वहाँ चलकर कुछ नाश्ता कर लें! आपके पास पैसे हैं?"

अर्पणाने जवाब नहीं दिया। उसकी इच्छा कुछ भी खाने-पीनेकी नहीं थी। अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे बोझिल मन-मस्तिष्क लिये वह गौतमका दत्तचित्त होकर खाना देखती रही। इतने तमाम झंझावातोंके बावजूद आदमी इतना निर्विकार हो सकता है, आँखों देखे बिना इस बातपर विश्वास नहीं हो सकेगा। अचानक गौतमने कुछ शर्मिन्दा होकर कहा—"ओह, आप तो कुछ भी खा-पी नहीं रही हैं। चाय भी बिलकुल ठण्डी हो गयी है। लीजिए ना?"

"आप लीजिए।"

गौतमने अधिक आग्रह नहीं किया। चुपचाप खाता रहा। अर्पणाने होटलका बिल चुका दिया। गौतमने सिर खुजाते हुए कहा—"आपके पास पाँच रुपये और होंगे ?"

"हैं। लीजिए।"

"देखिए, रात-भर आपकी जैसी बन सकी, सेवा करता रहा हूँ। इन पाँच रुपयोंके लिए आपको अफ़सोस तो नहीं होगा ? सच बात तो यह है कि इतनी मज़दूरी तो मुझे मिलनी ही चाहिए।"

अर्पणाके कलेजेपर हथौड़ेकी चोट-सी पड़ी। अपनी ही मूर्खताकी विरक्तिपर मानो उसे रुलाई आने लगी। हाय, न जाने अब-तक वह क्या-क्या सोचती रही। यह सब कुछ नहीं था, सिर्फ़ एक आदमीकी मज़दूरी !"

गौतम ख़ुद ही कहने लगा—"देखिए, एक ज़माना था कि स्त्रीकी रक्षा करना परम उपकारकी बात समझी जाती थी। आज भी शायद हो। लेकिन मैं मुफ़्तमें साइनबोर्ड बनाते-बनाते तंग आ गया हूँ। जो कुछ करता हूँ, उसकी मज़दूरी माँगनेपर पता नहीं लोग क्यों अजीब-सी शक्ल बना लेते हैं ! ख़ैर जाने दीजिए। मैंने पहले अपना परिचय देना चाहा था, तो आप बोलीं कि उसकी ज़रूरत नहीं। उसके बिना भी काम चल जायेगा और सचमुच चल गया ! अच्छा नमस्ते चलूँ !...."

कण्डक्टरने अर्पणाके कन्धेपर धीरेसे हाथ रखकर अत्यन्त विनयके स्वरमें कहा, "माँ तुम कहाँ जाओगी ? पता नहीं तुम कबसे सो रही हो ?"

अर्पणाने आँखें खोलकर चारों ओर देखा। ट्राममें बैठे पैसेंजर अखबार पढ़ रहे थे। कुछ लोग खिड़कीके बाहरके दृश्य देखनेमें व्यस्त थे—शेष लोग चुपचाप धीरजके साथ रास्ता काट रहे थे। कहाँ ? कहीं भी तो कुछ नज़र नहीं आता।

कण्डक्टरने आवाज़ दी—"चौरंगी !"

अर्पणाने अपना हैण्ड-बेग सँभाला। बहुत धीमे मगर स्पष्ट शब्दोंमें बोली—"मैं भूत-प्रेतोंपर विश्वास नहीं करती !"

इनसे मिलिए—
डॉ० प्रभाकर माचवे

■

परमानन्द पांचाल

पश्चिमी जर्मनीकी सरकारके विशेष निमन्त्रणपर हिन्दीके प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० प्रभाकर माचवे, उस देशकी यात्रापर गये थे। २१ जुलाईसे २६ अगस्त तककी अपनी इस यात्रामें, उन्होंने वहाँके अनेक नगरों, ऐतिहासिक स्थानों तथा शिक्षा-संस्थाओंको देखा। साहित्य और दर्शनके क्षेत्रमें नयी मान्यताएँ स्थापित करनेवाले अनेक विशिष्ट विद्वानों, लेखकों, कवियों तथा दार्शनिकोंसे उनकी भेंट हुई। यह उनकी दूसरी युरॅप यात्रा थी। इससे पूर्व वे १९६१ में भी युरॅपके विभिन्न देशोंके भ्रमणपर गये थे।

उनकी यात्राके अनुभव जाननेके लिए मैंने उनसे भेंट की, कुछ प्रश्न पूछे और उत्तर माचवेजीने दिये। पूछे गये प्रश्नों और उत्तरोंका विवरण इस प्रकार है—

प्रश्न : डॉक्टर साहब ! मैंने सुना है कि आप हाल ही में, पश्चिमी जर्मनीकी विदेश यात्रापर गये थे। वहाँ आपने विश्वविद्यालयोंमें भारतीय भाषाओं और साहित्यके अध्ययनके विषयमें क्या-क्या देखा ?

उत्तर : हाँ, मैंने उस देशके अनेक नगरों, ऐतिहासिक स्थानों तथा विश्वविद्यालयोंको देखा, विशिष्ट विद्वानों, लेखकों तथा प्रकाशकोंसे भी भेंट करनेका मुझे अवसर मिला। मैंने देखा कि जर्मनीमें संस्कृत, पाली एवं अर्द्धमागधी अर्थात् हिन्दू, बौद्ध और

जैन धर्मोंके प्राचीन ग्रन्थ हस्तलिखित पोथियोंमें बहुत बड़ी संख्यामें सुरक्षित हैं। 'ट्यूबिगेन' विश्वविद्यालयके डॉ० क्यूमेरेरने बताया कि उनके प्राच्य विद्या विभागमें एक हज़ार हस्तलिखित ग्रन्थ मौजूद हैं। उन्होंने उनमें-से कुछेक ग्रन्थ हमें दिखाये भी जिनमें, १. कावीवार केवडी–सन् १४३० (कन्नड़) २. स्मृति मुक्तावली (संस्कृत), ३. अथर्ववेद–शाके सं० १७४६ (शारदा लिपिमें), ४. माधव निदान–(१५५८ ई०), ५. अरण्यपर्वटीका–(तमिल ग्रन्था लिपि में). ६. कालिका पुराण–भोजपत्रपर (बंगलामें) इत्यादि प्रमुख थे। इनमें कई ग्रन्थ इतने जीर्ण अवस्थामें हैं कि छूनेसे बिखर जाते हैं। अभी तो इन ग्रन्थों-की सूचियाँ तक तैयार करनी शेष हैं। जहाँ-जहाँ प्राच्य विद्या विभाग हैं वहाँ-वहाँ संस्कृत और एक आधुनिक भारतीय भाषा अवश्य पढ़ायी जाती है। हाइडल बेर्गमें 'डॉ० ज़ैदी' उर्दू पढ़ाते हैं। उन्होंने 'तारीख़े कुतुब' पर बॉन विश्वविद्यालयसे डॉक्टरेट ली है। यहींपर मराठी बोलनेवाले एक जर्मन सज्जन भी मिले, जिनका नाम ग्रुन्थर सौथेमेयर है। संस्कृत और गुजराती बोलनेवाले भी हमें जर्मनीमें मिले। प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालयमें एक बहुत विशाल ग्रन्थ संग्रहालय है, जहाँ प्राचीन कालसे ९ वीं शताब्दी तकके वेद, वेदांग, व्याकरण, काव्य, नाटक इत्यादिके सभी प्रमुख ग्रन्थ प्राप्य हैं।

प्रश्न : क्या आधुनिक भारतीय साहित्यके विषयमें भी उन्हें कुछ रुचि है? इस दिशामें अनुवाद विनिमय कार्यके द्वारा वहाँ क्या कुछ किया जा रहा है?

उत्तर : हाँ, टैगोरका नाम वे जानते हैं उसके बादके साहित्यके बारेमें वे प्रायः कोरे हैं। वहाँ एक कहानी संग्रह, भारतकी सब भाषाओंसे अनुवादके रूपमें प्रकाशित हुआ है जिसमें हिन्दीके पाँच लेखक हैं–अश्क, भीष्म साहनी, प्रेमचन्द, कृष्णबल्देव वैद और यशपाल। इसी संग्रहमें ऐसे भी लेखक हैं, जिन्हें उस भाषाके लेखक भी नहीं जानते होंगे, जैसे गुजरातीमें पुपुल जयकर, बंगलामें हुमायूँ कोबिर, अँगरेज़ीसे भवानी भट्टाचार्यके दो उपन्यास जर्मनमें मिलते हैं। कुछ पुस्तकें गान्धी, नेहरू और राधाकृष्णनकी भी हैं।

प्रश्न : यह बताइए कि क्या आपको वहाँ भारतके समान भाषाकी कोई कठिनाई नहीं जान पड़ी? क्या अँगरेज़ी सब समझते हैं? क्या विश्वविद्यालयोंमें माध्यमकी कोई समस्या वहाँ नहीं है?

उत्तर : मैं जिन आठ नगरोंमें गया वहाँ मेरे साथ एक पुरुष या महिला, विद्यार्थी व अध्यापक, गाइड तथा दुभाषियेके रूपमें रहता था। मेरा मिलना प्रायः उन्हीं प्रोफ़ेसरों और लेखकोंसे हुआ जो अँगरेज़ी समझ लेते थे किन्तु साधारण जनता अँगरेज़ी बिलकुल नहीं जानती। वहाँ शिक्षाका माध्यम केवल जर्मन भाषा है। रेडियोसे जर्मनमें ही कार्यक्रम प्रसारित होते हैं किन्तु २९ विदेशी भाषाओंमें भी कार्यक्रमकी व्यवस्था है।

एक विशेष बात यह है कि वहाँ संस्कृत[illegible] भी एक नाटक प्रसारित किया गया [illegible]

अब नियमित रूपसे संस्कृतमें कार्यक्रम प्रसारित होते रहेंगे। 'कोलोन' में स्व० डॉ० रघुवीरकी पुत्री डॉ० सुषमा लोहिया हिन्दी-संस्कृत कार्यक्रमोंकी संचालिका हैं। उन्होंने मेरी भेंट-वार्ता और कविता हिन्दीमें रेकॅर्ड की।

प्रश्न: क्या आप वहाँके चिन्तक, विचारक तथा साहित्यिकों और कवियोंसे मिले थे?

उत्तर: जी हाँ, मैं विश्वविद्यालयोंमें दर्शन-के प्रमुख आचार्यों—जैसे बानमें प्रो० मार्टिन, फ्रायबर्गमें प्रो० मार्क्स (ये हाइडेगरके प्रमुख शिष्य हैं) तथा स्टुट गार्टमें मेक्स बेन्सेसे भी मिला। मैंने उनसे पूछा कि जर्मनीमें अब कौन-सी दार्शनिक विचारधारा प्रवाहित है तो उन्होंने बताया कि 'अस्तित्ववाद' के बाद कोई भी एक दर्शनधारा जर्मनीमें प्रचलित नहीं। तरुण लोग 'अडोनो' नामक 'वास्तववादी' की विचारधारासे प्रभावित हैं। वह अपनेको 'निषेधवादी' कहता है और प्रत्येक साधारणीकरणके विरुद्ध है। उसके अनुसार सत्य वही है जो सामान्यीकृत होनेसे बच जाता है।

प्रश्न: क्या आप किसी ऐसे लेखकसे भी मिले जो काव्यके क्षेत्रमें अबतककी सभी मान्यताओंको अस्वीकार करता हो?

उत्तर: हाँ, लेखकोंमें 'मेक्स बेन्से' नामके सज्जनसे मेरी मुलाक़ात हुई। वे ठोस कविता और सांख्यिक सौन्दर्यशास्त्रके प्रवर्त्तक हैं। वे एक अद्भुत व्यक्ति हैं। बोक्स वैगन मोटर कारखानेकी अति आधुनिक छठी मंज़िलपर इनका अध्यापन कक्ष है, जहाँ मशीनसे लिखी गयी कविताएँ इनके कमरेमें लगी हैं। इनका दावा है कि मनुष्यके मनमें सुन्दरताकी मात्रा-को वे यन्त्रसे माप सकते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इसको ग्रहण नहीं कर सकता और उसके योग्य नहीं है। वे काव्यको शब्दा-श्रित मानते हैं और कविता और विज्ञापन-को समान स्तरपर रखते हैं।

प्रश्न: क्या जर्मनीमें भी नयी और पुरानी पीढ़ीके कवियोंमें संघर्ष आपको प्रतीत हुआ?

उत्तर: हाँ, मैं अनेक कवियों और लेखकोंसे भी मिला और मैंने पाया कि वहाँ भी पुरानी और नयी पीढ़ीमें काफ़ी संघर्ष और तनाव है। अत्यन्त नये लेखक 'पीटर हैम' ने कहा कि सन् १९४७ के 'ग्रुपे' अब कविता नहीं लिखते बल्कि राजनीतिक घोषणा-पत्र लिखते हैं। 'गुन्थर ग्रास' आदिकी कविताको नये लोग दिमाग़ी कसरत मानते हैं।

प्रश्न: डॉ० साहब, ग्रुपे ४७ से आपका क्या अभिप्राय है? क्या यह कोई 'तार सप्तक' लेखकों-जैसा समूह है?

उत्तर: हाँ, ऐसा ही कह लीजिए। 'ग्रुपे ४७' के एक पुराने लेखक 'रिख्तर' से मिलने-के लिए मैं एक सुन्दर झीलके किनारे गया था। वहीं उनकी मित्र 'बार बारा कूनिग' नामक उपन्यास-लेखिकासे भेंट हुई थी। उनके इस प्रथम उपन्यासका नौ भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है।

प्रश्न: क्या आपने वहाँ कोई नाटक, ऑपेरा अथवा सिनेमा आदि भी देखे? उनके विषयमें आपका क्या मत है?

उत्तर : जुलाई, अगस्तमें अवकाश होनेसे प्रायः सभी थियेटर बन्द थे। 'ब्रेख्ट'का एक नाटक 'सिपाही श्वाइग' देखा। यह बहुत प्रभावशाली युद्ध-विरोधी नाटक था—रावण, कुम्भकरणके विशाल आकारके 'गोबेल्स', तथा 'हिमलर' के पुतले व्यंग्य रूपमें दिखाये गये थे। एक ऑपेरा म्यूनिखमें देखा जिसमें ४००० दर्शकोंके बैठनेकी व्यवस्था थी। तीसरी चीज़ मैंने हैम्बुर्गमें एक राजनैतिक कैबेरे या व्यंग्य नाटक देखा जिसमें वहाँके राष्ट्रपति मन्त्रियोंका मज़ाक़ उड़ाया गया था।

प्रश्न : वहाँकी यात्रासे आपके मनपर क्या प्रभाव पड़ा?

उत्तर : मैंने तीन बातें विशेष रूपसे देखीं : पहली बात प्रकृति प्रेम—स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे मकानोंमें भी कामगरोंके मकानों और बैंकोंमें भी फूल सजे हुए हैं। नदियों और समुद्रोंके किनारे पूरा परिवार सूर्य-स्नान करते हुए मैंने देखा। दूसरी बात यह है कि कला और विज्ञानमें वहाँ विरोध नहीं है। प्रत्येक शास्त्रज्ञ एक-न-एक कला भी जानता है। और तीसरी बात उद्योगीकरण बढ़ा है। वस्तुओंकी समृद्धि होनेपर भी वे परम्परासे विच्छिन्न नहीं हुए हैं। प्रत्येक चौथे व्यक्तिके पास मोटर है फिर भी घुड़सवारी भी वहाँ देखी जा सकती है। परम्पराको वे बनाये हुए हैं और धर्मके प्रति आस्था जनतामें बहुत गहरी है।

स्वप्नों के हाथ सर्जक की लेखनी

हरिमोहन शर्मा

यह बात बिना किसी संकोचके कहीं जा सकती है कि यदि सपने न होते तो विश्वके अमर साहित्यका आधुनिक भण्डार आज काफ़ी खाली दिखाई देता, कारण अनेकानेक उच्चकोटिके ग्रन्थोंको प्रेरणाके मूलमें वे सपने ही हैं, जो उनके रचयिताओंको अनायास दिखाई दिये थे। ऐसे लेखकोंकी संख्या काफ़ी बड़ी है।

जार्ज बर्नार्ड शॉ-जैसे महान् साहित्यिक और नाटककारको अत्यधिक प्रभावित करनेवाले, तथा आँग्ल-थियेटरमें एक क्रान्ति लानेवाले ब्रिटिश नाटककार विलियम आॅर्थरकी सफलताका श्रेय भी एक स्वप्नको ही है। आॅर्थर वर्षोंसे असफल नाटककार थे। सहसा, एक रात उन्हें 'द ग्रीन गॉडेस' नामक नाटकका कथानक सपनेमें दिखाई दिया। उन्होंने अगले कुछ दिनोंमें ही इस नाटककी रचना पूरी कर ली। इस प्रयोगवादी नाटकने उन्हें धन और सफलता दोनोंकी प्राप्ति करायी। बादमें उन्होंने जो नाटक लिखे, वे सब सफल रहे, और उनके कारण आँग्ल-थियेटरने एक नया मार्ग अपनाया।

शेक्सपियर, दान्ते, होमर, मिल्टन, शैली, कीट्स, रिक, पोप, टेनीसन, कन्हैयालाल मुन्शी, गंगाधर गाडगिल, त्यागराज, अरविन्द, सूर्यनारायण व्यास, कॉलरिज, विलियम ब्लैक, ईट्स, क्यूबिन, हैवलॉक एलिस, हीन, वर्ड्सवर्थ, गैब्रियल रोज़ेटी, क्रिश्चियाना रोज़ेटी, स्विनबर्न, हैज़लिट, ब्राउनिंग, मैथ्यू एर्नाल्ड,

रॉबर्ट लुई स्टीवेन्सन, बुनयान, हैंस एण्डरसन, मैरेडिथ, ब्लैक, दाफ़ेन डि. मॉरियर, थॉमस हार्डी, कारलोट क्यू, रॉबर्ट ग्रेव्स, एडवर्ड थॉमस, एलिस मेनेल, फ्रान्सिस टौम्पसन, वाल्टर डि ला मेर, घिसेलिन, डोरोथी केन-फील्ड, स्टीफ़ेन स्पैण्डर आदिने स्वप्नों और दिवास्वप्नोंकी प्रेरणा और सहायतासे उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियोंकी रचना की है, अपनी श्रेष्ठतम कृतियोंके कथानक प्राप्त किये हैं, और अमर कविताओंकी सृष्टि की है। सपनोंमें वैज्ञानिकोंने महत्त्वपूर्ण आविष्कार भी किये हैं और गणितज्ञोंने गणितकी जटिल समस्याओंको भी हल किया है।

युरॅपके लेखकोंमें सदियोंसे ऐसा विश्वास प्रचलित है कि यदि किसीको कोई सपना लगातार तीन बार दिखाई दे, तो वह अवश्य सच्चा होता है। फ्रान्सिस टौम्पसनको एक विचित्र सपना लगातार तीन बार दिखाई दिया। उससे मुक्ति पानेके लिए उन्होंने उसे हूबहू लिख डाला। आज 'द हाउण्ड ऑव हैविन' नामकी इस काव्यकृतिके कारण ही उनका नाम विख्यात है। युरॅपके ही एक लेखकका, जो नैतिक उपदेशोंसे पूर्ण अपनी रचनाओंके लिए विख्यात है, अनुभव था कि उन्हें प्रायः अश्लील सपने ही दिखाई देते हैं। वे आजीवन इस विलक्षण बातसे चिन्तित रहे। पर, एक मनोविज्ञानवेत्ताने उन्हें समझाया कि सपनोंके माध्यमसे वे उस बदीसे छुटकारा पा लेते हैं, जो हर आदमीमें भलाई-के समान ही मौजूद होती है।

पश्चिममें सदियोंसे यह विश्वास प्रचलित रहा है कि सपनोंके दो द्वार हैं—एक हाथी-दाँतका, और दूसरा सींगोंका। उपयोगी सपने सींगोंवाले द्वारमें-से गुज़रकर अन्तर्मनमें प्रवेश करते हैं, और अनुपयोगी सपने हाथी दाँत-वाले द्वारमें-से। युरॅपके कई लेखकोंने अपनी रचनाओंमें इस विश्वासका ज़िक्र किया है। ईसाई धर्मकी उत्पत्तिके अपने इतिहासके लिए प्रसिद्ध प्रोफ़ेसर हिलप्रेटको बेबीलोनकी दो पुरानी कहावतोंका अर्थ समझनेमें बड़ी कठिनाई हो रही थी। एक रात उन्होंने सपना देखा कि प्राचीन बेबीलोनका एक पादरी उन्हें उन कहावतोंकी सही व्याख्या समझा रहा है। ये व्याख्याएँ आज उनके इतिहासमें पढ़नेको मिल सकती हैं।

शेक्सपियरने एक स्थानपर कहा है "सपनोंमें कई वर्षोंकी उपलब्धियाँ कुछ सेकेण्डोंमें ही पूरी हो जाती हैं।" अपने कई नाटकोंके अनेक दृश्य उन्हें सपनोंमें स्पष्ट रूप-से या प्रतीकोंमें दिखाई देते थे। नैन्सी प्राइस नामकी लेखिकाने, जिनकी 'एक्विण्टेड विद नाइट' नामकी स्वप्न-डायरी काफ़ी मशहूर है, दन्त-विशेषज्ञकी कुरसीपर बैठे हुए, गैसके प्रभावसे अचेत होकर, कुछ ही सेकेण्डोंमें एक नाटक लिखकर प्रदर्शित भी करवा लिये, और नये कथानकोंकी खोजमें अनेक देशोंकी यात्रा भी कर ली थी।

प्रख्यात यूनानी लेखक सेमरके विषयमें कहा जाता है कि वह "अफ़ीमका सेवन करके सपनोंकी दुनियामें पहुँच जाता था, जहाँ उसे अपनी कृतियोंके लिए प्रेरणा प्राप्त होती थी।" उसके समकालीन कई यूनानी

संगीतज्ञोंके विषयमें प्रसिद्धि है कि "वे संगीत-के माध्यमसे सुखदायक स्वप्न-देशमें पहुँचकर नयी-नयी धुनोंकी प्रेरणा पाते थे ।"

प्रसिद्ध उपन्यासकार ड्रायडेन स्वप्नलोक-में पहुँचनेके लिए कच्चा मांस खाया करते थे । उन्होंने यह स्वीकार किया है कि उन्हें अपनी कई कहानियोंके कथानकोंकी मूल प्रेरणा सपनोंमें ही मिली थी ।

होमरकी भाँति कालरेज भी अफ़ीमका सेवन करते थे । उन्होंने अपनी श्रेष्ठ काव्य-रचना 'कुबला खान'की प्रेरणा उस समय प्राप्त की थी, जब अफ़ीमका सेवन कर उन्होंने स्वप्नलोकमें प्रवेश किया । एडगर एलेन पो-की कुछ विचित्र और असामान्य कहानियोंके पीछे भी अफ़ीम-प्रसूत स्वप्न ही थे ।

काउपर नामक एक अन्य लेखकका अन्त समय दारुण विपत्तिमें बीता । इस अवस्थामें, जिसका मर्मस्पर्शी चित्रण उन्होंने अपनी कृतियोंमें भी किया है, पूर्वाभास उन्हें काफ़ी पहले एक दुःस्वप्नमें हो चुका था । २ फ़रवरी १७९३ को उन्होंने अपनी डायरीमें लिखा : "आज सुबह चार बजेसे लेकर सात बजे तक, सपनेमें दीखे ऐसे संत्रासोंके विषयमें सोचता रहा, जिनकी अभिव्यक्ति लेखनी-द्वारा होनी असम्भव है ।"

बाल-कथाओंके विश्वविख्यात लेखक हैण्डरसनकी डायरीसे भी पता चलता है कि वे भी महान् स्वप्नदर्शी थे और अपनी कहानियोंमें उन्होंने जिन भूत-चुड़ैलोंका वर्णन किया है, वे उन्हें सचमुच सपनोंमें दिखाई दी थीं । वे लिखते हैं : "कभी-कभी तो मुझे बिलकुल पता नहीं चलता कि मैं स्वप्न-जगत्में जी रहा हूँ या वास्तविक जगत्-में ।" अँगरेज़ीकी एक महान् पुस्तक है— 'द पिलीग्रिम्स प्रॉग्रेस' । इसके लेखक बनयान-का कहना है कि "यह कृति मेरे एक स्वप्नकी ही प्रतिच्छाया है !"

युरॅपके प्रसिद्ध पशु-विशेषज्ञ डॉलवाफ़-को एक रात सपनेमें दिखाई दिया कि उनके आँगनमें खूब बर्फ़ पड़ी है, और उसमें दो छोटे पक्षी क़रीब-क़रीब दबे हुए पड़े हैं । पशु-प्रेमी होनेके कारण उन्होंने उन दोनोंको बर्फ़से बाहर निकाल लिया और एक गरम और सुर-क्षित स्थानमें रख दिया । उन्हें एक प्रकार-की घास भी खानेको दी । सपनेमें उन्होंने यह भी देखा कि घासका नाम ASPLENIUM RUTA MURALIS है । कुछ देर बाद, सपनेमे ही, उन्हें दो अन्य वैसे ही पक्षी दिखाई दिये । वे दोनों बाक़ी बची घास खाने-में व्यस्त थे । इसके बाद तो जैसे कमाल ही हो गया । देखते-ही-देखते, सारी जगह इन पक्षियों-से भर गयी । और, ये सब पक्षी उधर ही जा रहे थे, जिधर घास रखी थी । विचित्र सपना था···

आँखें खुलनेपर उन्होंने सपनेमें देखी उस घासका नाम याद करनेकी कोशिश की । वह नाम उन्हें तुरन्त याद आ भी गया । पर यह नाम उनके लिए एकदम नया था । यह जानने-के लिए कि इस नामकी कोई घास होती भी है या नहीं, उन्होंने विशेषज्ञोंसे पूछताछ की । मालूम पड़ा कि ASPLENIUM शब्दसे शुरू होनेवाली एक घास होती है, जिसका पूरा
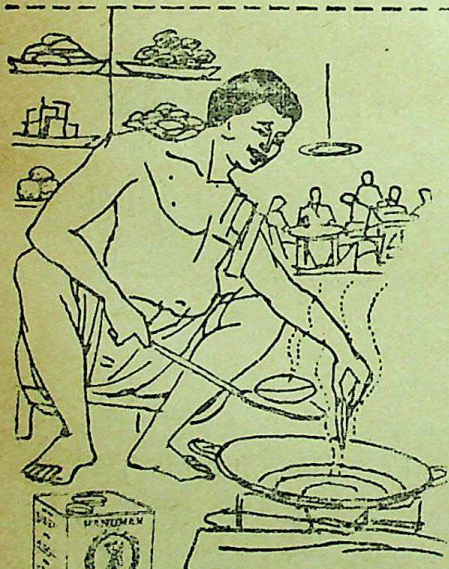
और शुद्ध नाम है ASPLENIUM RUTA MURARIA। यह नाम सपनेमें दीखे नामसे कुछ ही भिन्न था।

इस विचित्र स्वप्नका रहस्य यहीं समाप्त नहीं हुआ। १६ साल बाद, उन्हें स्विटज़रलैण्ड जानेका मौक़ा मिला। वहाँ उन्होंने विभिन्न घासों और फूलोंकी एक एलबम देखी, जो स्विटज़रलैंडमें पर्यटकोंके लिए खास तौरपर तैयार की जाती है। इस एलबमको देखते ही उनके स्मृति-भण्डारमें-से कुछ भूली हुई यादें निकलकर बाहर आने लगीं। इस एलबममें वह घास भी संग्रहीत थी, जिसे उन्होंने सपनेमें देखा था। और, सबसे अजीब बात तो यह थी कि उस घासके नमूनेके नीचे खुद उनके हस्ताक्षर मौजूद थे!

इस रहस्यका उद्घाटन कुछ समय बाद तब हुआ, जब, सहसा, कुछ और पुरानी यादें ताज़ा हो उठीं। उन्हें याद आया कि इस स्वप्नकी तिथिसे दो वर्ष पूर्व, उनके घरमें एक नव-दम्पति मेहमान बनकर आये थे। इस जोड़ीके पास ही वह एलबम था, जो उन्होंने स्विटज़रलैंडमें देखा था। एलबममें हर घास और फूलके नाम उन्होंने मेहमानोंके आग्रहपर लिखे थे।

और कुछ महीनों बाद अपनी लाइब्रेरीमें पड़ा हुआ एक सचित्र मासिक पत्र देखकर उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि सपनेमें उन्हें पक्षियोंका लम्बा जुलूस क्यों दिखाई दिया था? इस पत्रमें एक स्थानमें ऐसे पक्षियोंके लम्बे जुलूसका एक चित्र छपा था, जो कुछ समय पश्चात् उनके स्मृति-भण्डारमें न जाने कहाँ खो गया था, और उस सपनेमें अचानक बड़े अजीब ढंगसे सजीव हो उठा था।

इस घटनापर टिप्पणी करते हुए एक स्वप्न-विशेषज्ञने लिखा है कि "सपनोंमें दिखाई पड़नेवाली हर वस्तुको हम कभी-न-कभी या तो देख चुके होते हैं, या उसके बारेमें पढ़ और सुन चुके होते हैं। हमारा चेतन मन भले ही कुछ वस्तुओं, दृश्यों, अनुभवों या घटनाओं आदिको भूल जाये, पर अवचेतनके स्मृति-भण्डारमें वे सदा सुरक्षित रहती हैं, और कभी मौक़ा पाकर, या संयोगवश सपनोंमें साकार हो जाती हैं। सपनोंमें भी कभी-कभी तो अपने असली रूपमें आती हैं, और कभी-कभी अपने छद्म वेशमें।"

क्या स्वप्न किसी गणितज्ञको गणितकी किसी जटिल समस्याको हल करनेमें सहायक हो सकते हैं? कमसे कम दो महान् गणितज्ञ इस प्रश्नका उत्तर 'हाँ'में देनेको तैयार हैं। पहलेने अप्रत्यक्ष रूपसे 'हाँ' कहा है और दूसरेने प्रत्यक्ष रूपसे।

आइन्सटाइन एक महान् वैज्ञानिक तो थे ही, एक महान् गणितज्ञ भी थे। "आपकी सृजनात्मक प्रक्रियाका रहस्य क्या है?" "इस प्रश्नके उत्तरमें आइन्सटाइनने एक बार कहा था, "हम सदैव कुछ-न-कुछ देखते रहते हैं, पर उसे ठीक-ठीक देख और समझ नहीं पाते। सत्य एक मौखिक धारणा-मात्र है, पर उसे गणित या अन्य किसी विधिसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। बुद्धि तो वहींतक हमारा साथ देती है, जहाँतक वह

जानती और सिद्ध कर सकती है। पर, एक स्थिति—सुप्तावस्था और स्वप्नावस्थामें–ऐसी आती है, जहाँ बुद्धि एक छलांग-सी लगाकर बोधके उच्चतर स्तरपर पहुँच जाती है। इस स्थितिको सहजोपलब्धि या अन्तर्ज्ञान कुछ भी कह सकते हैं, पर उसे प्रमाणित करना सम्भव नहीं। संसारके अधिकांश आविष्कार ऐसी ही स्थितिमें सम्भव हो सके हैं। हर-एकके जीवनमें ऐसी स्थिति अवश्य आती है, जहाँ वह केवल ऐसे अन्तर्ज्ञानके पंखोंपर सवार होकर ही वह अनुभूति कर सकता है, जो मात्र ज्ञान-द्वारा सम्भव नहीं, और जिसका कोई हल विज्ञान फ़िलहाल प्रस्तुत नहीं कर सकता।"

एक वैज्ञानिकके नाते आइन्सटाइन हिन्दुओंके इस सिद्धान्तमें भी विश्वास करते थे कि जगत् माया है, एक स्वप्न है और मानते थे कि इसे गणित और विज्ञानसे सिद्ध किया जा सकता है। अपने अन्तिम दिनोंमें वे इसे सिद्ध करनेका प्रयत्न कर भी रहे थे। अपने देहावसानसे कुछ दिन पहले, एक पत्र-कारने भेंटके अन्तमें एक वृक्षको दिखाकर उनसे पूछा, "क्या कोई पूरी सच्चाईसे कह सकता है कि यह वृक्ष ही है?" आइन्स-टाइनने उत्तर दिया : "यह एक स्वप्न भी हो सकता है। सम्भव है कि तुम कुछ भी न देख रहे हो।"

हैनरी पाइनकेयर नामक विश्वविख्यात गणितज्ञ अपनी विख्यात 'फुकसियन श्रित'के लिए स्वप्नके ही कृतज्ञ हैं। इसके आविष्कार-की कहानी उन्हींके शब्दोंमें सुनिए : "मैं लगातार पन्द्रह दिनोंसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहा था कि जिस श्रित (फल) की कल्पना मैंने की थी, वह निरुपम है। पर, मुझे सफलता नहीं मिल रही थी। एक शाम तेज़ कॉफ़ी पीनेके बाद मेरे दिमाग़में विचार काफ़ी तीव्रतासे आने-जाने लगे, पर एक स्थिर हल मुझे उस रात स्वप्नमें ही सूझा, जिसे मैंने सुबह उठते ही लिख लिया।

मैंने पाया है गणितकी जटिल समस्याओंका हल मनोयोग या चिन्तनसे नहीं मिलता। प्रायः नींदके बाद ऐसी जटिल समस्याका हल, ताज़ा और सशक्त दिमाग़ अनायास कर देता है। नींदमें सक्रिय रहने-वाला अवचेतन मन इस सफ़ाईसे हल प्रस्तुत करता है कि बस, देखते रहिए। लेकिन, मेरा अनुभव यह है कि अवचेतनसे ऐसे हलकी आशा करनी हो, तो चेतन मनको भी उससे पूर्व सक्रिय करना आवश्यक है।"

चिकित्सा-विज्ञान और शरीर-विज्ञानमें नोबेल-पुरस्कार जीतनेवाले डॉक्टर आट्टो लोइबीको एक रात स्नायविक आवेगोंके संचरणसे सम्बन्धित एक सिद्धान्त सपनेमें दिखाई दिया। जैसे ही यह सपना भंग हुआ, वे जाग गये और उन्होंने पासकी मेज़पर रखे एक काग़ज़पर उस सिद्धान्तको लिख डाला। पर, सुबह उठकर जब उन्होंने उस काग़ज़को उठाया तो अपना लिखा ख़ुद ही न पढ़ पाये। अगली रात उन्हें वही सिद्धान्त फिर सपनेमें दिखाई दिया। इस बार वे उठते ही अपनी प्रयोगशालामें चले गये। वहाँ उन्होंने सपनेमें दीखे सिद्धान्तके अनुसार एक मेंढकपर प्रयोग

किया। आगे चलकर यही प्रयोग उनके विश्व-विख्यात रासायनिक सिद्धान्तका आधार बना।

बेनज़ीनके परमाणुओंसे सम्बन्धित एक जटिल रासायनिक समस्याका हल केकुल नामक वैज्ञानिकको यह सपना देखकर ही सूझा था कि एक साँप अपनी दुमको निगल रहा है। सपना देखकर, जब उन्होंने परमाणुओंको एक अँगूठीकी तरह व्यवस्थित किया, तो हल आसानीसे निकल आया।

अवचेतन चाहे गणित और विज्ञानकी जटिल समस्याओंके हल प्रस्तुत करे, या साहित्यिक कृतियोंकी रूपरेखा, उसकी कृति कभी धुँधली या अस्पष्ट नहीं रहती। अनगिनत काव्य-कृतियाँ, कहानियाँ, नाटक और उपन्यास, जिनका जन्म सपनोंकी कोखसे हुआ था, इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। कार्ल गुस्ताव यंगने इस सम्बन्धमें ठीक ही कहा है: "प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकृति स्वप्नके समान ही होती है—अश्लिष्ट, प्रत्यक्ष और सुगम। स्वप्न कभी नहीं कहता: 'ऐसा करो', या 'यही सच है।' वह स्वयं अपनी व्याख्या नहीं करता। उसके सम्बन्धमें जो भी परिणाम निर्धारित करने होते हैं, हमें स्वयं ही करने पड़ते हैं। इसीलिए हर कलाकृतिकी व्याख्या हर कोई अपने-अपने ढंगसे करता है। पर, मैं समझता हूँ कि कलाकारके निजी स्वप्नोंमें-से जन्मी कलाकृतिका सच्चा अर्थ जाननेके लिए हमें उसे उसी निगाहसे देखना होगा, जिस निगाहसे उसे कलाकारने देखा था और इसलिए उसके स्वप्नको अपना बनाकर उसे उसी ढंगसे अपने ऊपर छा लेने देना होगा, जिस ढंगसे वह कलाकारपर छा गया था। एक असहाय व्यक्तिकी भाँति उसी ढंगसे उसे रूपयुक्त होने देना होगा, जिस ढंगसे असहाय कलाकारने उसे अपने सामने स्वप्नमें साकार होते देखा था, और इस स्थितिमें वह स्वयं इस प्रक्रियाका एक माध्यम-भर बनकर रह गया था।....यही प्रक्रिया प्रत्येक कलाकारके भाग्यका, उसकी सृजनात्मक शक्तिका निर्णय करती है। गेटेने Faust का निर्माण नहीं किया था, Faust ने कवि गेटेका निर्माण किया था।....और यही कारण है कि स्वप्नकी नाईं व्यक्ति-निरपेक्ष होते हुए भी प्रत्येक महान् कलाकृति हर दर्शकको गहरे ढंगसे छूती और प्रभावित करती है। इसीलिए कलाकारके वैयक्तिक जीवनकी विशेषताएँ, सहायक या बाधक होते हुए भी, उसकी सृजनात्मक-प्रक्रियाके लिए अपरिहार्य नहीं हैं। कलाकारके वैयक्तिक जीवनके अध्ययनसे कलाकारको नहीं समझा जा सकता।...कला एक प्रकारकी अन्तर्जात सहज प्रवृत्ति है, जो कलाकारको ठेलकर अपना माध्यम बना लेती है। कलाकार इच्छित ध्येयकी पूर्तिमें व्यस्त स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं होता; ऐसा असहाय व्यक्ति होता है जो कलाके ध्येयकी पूर्ति अपने माध्यमसे होने देता है।...यह एक सच्चाई है कि जब चेतनाको ग्रहण लग जाता है, जैसे स्वप्नावस्थामें, नशे या पागलपनकी हालतमें तो प्रायः कुछ वह उभरकर ऊपर आ जाता है, जिसमें मानसिक विकासके आदिकालीन स्तरोंके सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। ऐतिहासिक, पौराणिक

और धार्मिक विषयोंपर आधारित कला-कृतियोंके निर्माणके मूलमें वे बिम्ब ही हैं, जो इन अवस्थाओंमें उभरकर ऊपर आये थे। इस प्रक्रियाका सुनिश्चित और अविशंक्य रूप सपनेमें आसानीसे देखा जा सकता है।"

अपने इस कथनके प्रमाणस्वरूप जुंगने नीत्शे, दान्ते, वैगनरकी कृतियोंके अतिरिक्त राइडर हैगर्डके विख्यात उपन्यास 'SHE'का उल्लेख किया है, जिसका जन्म और विकास स्वप्नोंमें हुआ था।

इस सन्दर्भमें विलियम ब्लेक, कॉलरिज, ईट्स, क्यूबिन आदिकी कृतियोंका उल्लेख भी किया जाता है। जॉन पाल विशप नामक कविने तो कई बार कहा था कि वे अपनी कविताएँ सुबह उठते ही लिखते हैं, जब उनकी स्वप्न-स्मृति ताज़ी रहती है। गेटेने अपनी मृत्युसे पहले कहा था—"अधिक प्रकाश आने दो।" उनकी कृतियोंकी कोख वह अँधेरी दुनिया ही थी, जहाँ सपने जन्म ले-लेकर मरते रहते हैं, और जिन्हें अभिव्यक्त करनेका संघर्षमय प्रयत्न ही उनकी काव्य-कृतियोंके रूपमें अमर है। जैसा कि हम पीछे कह आये हैं, 'कुबला खान' नामक कविताकी कल्पना कवि कॉलरिजने स्वप्नमें ही की थी। जागनेपर, उन्होंने उसके पहले ५४ पद लिख डाले। वे और पद भी लिखते, पर व्याघात हो जानेके कारण ऐसा न कर पाये। और बादमें उन्हें शेष पद याद नहीं रहे। स्वप्न-विज्ञान-सम्बन्धी प्रायः सभी प्रामाणिक ग्रन्थोंमें इन विख्यात रचनाओंके स्वप्नोंमें जन्म और विकासका सविस्तार वर्णन पढ़नेको मिल सकता है। इसलिए, इन बहु-परिचित उदाहरणोंको छोड़कर, आगे कुछ ऐसे उदाहरण ही प्रस्तुत हैं, जो अपेक्षाकृत अपरिचित और अज्ञात हैं।

आँग्ल-कवि स्टीफ़ेन स्पेण्डर अपने काव्य-सृजनकी प्रक्रियाको समझाते हुए कहते हैं: "कविताके दो अपरिवर्तनीय गुण हैं—प्रेरणा और छन्द। प्रेरणाको मैं एक ऐसा अनुभव कहना चाहूँगा, जिसमें कविको कोई पंक्ति या विचार प्राप्त हो। अमर कविताका सृजन प्रेरणाके क्षणोंमें ही हो सकता है। छन्दकी व्याख्या ज़रा कठिन है। यह वह संगीत है जो अजन्मा कविताका एक अंग बनेगा।" अर्द्धचेतनावस्थामें, जब मैं न जागा होता हूँ, न सोया हुआ, कभी-कभी मुझे शब्द अपने मस्तिष्कमें-से गुज़रते लगते हैं, ऐसे शब्द जिनके अर्थ नहीं होते, पर जिनमें ध्वनि होती है, ऐसी सशक्त ध्वनि जो मुझे किसी भूली हुई कविताकी याद दिलाती हो। कभी-कभी कविता लिखते समय भी मैं शब्दोंसे परे कहीं पहुँच जाता हूँ—वहाँ जहाँ मात्र अनुभूति शेष रह जाती है किसी शब्द-विहीन नृत्यकी, किसी शब्द-विहीन प्रचण्ड रोषकी, किसी शब्द-विहीन लयकी।"

सृजन-भावनाका यह उद्‌गम-स्थल क्या वही स्थल नहीं है जिसमें-से सपने जन्म लेकर पनपते हैं? मानस-शास्त्री प्रोफ़ेसर प्रेस्काटने तो पूरी एक पुस्तक ही इस विषयपर लिखी है कि कविताका जन्म दिवास्वप्नोंमें ही होता है।

घिसेलिन नामक प्रतिष्ठित कवि अपना एक अनुभव इन शब्दोंमें सुनाते हैं: "

दिन एक अस्पष्ट-सा विचार मेरे मनमें आया, जो अस्पष्ट होते हुए भी मुझे सुन्दर लगा, और मैंने उसे किसी-न-किसी प्रकार कुछ शब्दोंमें बाँध लिया। लेकिन, शब्दोंमें बाँध लेनेपर भी अर्थ स्पष्ट नहीं हुए थे, और मुझे लग रहा था कि वास्तविक कविताका जन्म होना शेष है। कई सप्ताह बाद, शायद एक स्वप्नके फलस्वरूप, सुबह उठते ही, मुझे प्रेरणा आयी कि मैं उस कविताको लिख डालूँ। इस बार लिखना आरम्भ किया तो शब्द इस प्रकार चले आ रहे थे, मानो उसी दृश्यका क्रमबद्ध वर्णन करनेके लिए ही खास तौरपर बने हों, जो पहले प्रयत्नके समय मेरे मनमें अस्पष्ट था, पर अब धूपकी भाँति खिला हुआ था। उस सुबहको कुछ ही लाइनें लिखी गयीं। मुझे ठीक याद नहीं कि कविता तब अधूरी क्यों रह गयी थी? उसकी समाप्तिके लिए फिर मुझे स्वप्नवत् अवस्थाकी प्रतीक्षा करनी पड़ी, जो कहने या माँगनेसे नहीं आती, अपने-आप आ जाती है। यह एक विचित्र परन्तु सच्ची बात है कि स्पष्ट और व्यक्तका सृजन करनेवाली कविताको अपने जन्म और विकासके लिए स्पष्ट और अव्यक्त अवचेतनपर निर्भर रहना पड़ता है।"

वैसे यह एक वैज्ञानिक तथ्य भी है कि हमारा चेतन मन विविध प्रवृत्तियोंमें पड़कर जिस भावको नहीं पकड़ पाता, उसे हमारा अवचेतन मन स्वस्थ-चित्त अवस्थामें केन्द्रित प्रवृत्तिके कारण सहज ही स्थायी रूपसे उपलब्ध कर लेता है। इसीलिए, देखा जाता है कि जब किसी रचनाकी प्रगति प्रेरणाके साथ न देने या अन्य किसी कारणसे रुक जाती है, तो स्वप्नावस्थामें उसे सहज प्रेरणा मिल जाती है। यह आगे दिये हुए उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायेगा।

"कवि कविता कैसे लिख पाता है?" और "कविता उसे किस स्रोतसे प्राप्त होती है?"—इन दो प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कवि एलेन टेट कहते हैं: "मेरे विचारसे कविताका जन्म कला-विन्यास, स्वप्न और दमित इच्छाओंके मिले-जुले प्रभावके फलस्वरूप होता है।"

डौरोथी केनफील्ड नामक लेखिकाने एक पारिवारिक कहानी लिखनी आरम्भ की, जो आरम्भमें अच्छी बन पड़ी थी। पर, एक स्थानपर आकर उनकी समझमें न आया कि कहानीको कैसा मोड़ प्रदान किया जाये, ताकि वह प्रभाव उत्पन्न हो सके, जो वह चाहती थीं। बहुत सोचनेपर भी यह मोड़ उन्हें नहीं सूझा। "यह सोचते-सोचते ही मैं सो गयी, और मुझे सपनेमें दिखाई दिया कि दो बहनें आपसमें ईर्ष्या कर रही हैं। मैंने सुबह उठकर अपनी कहानीकी बहनोंमें ईर्ष्या दिखाकर कहानीको एक ऐसी नयी दिशामें मोड़ दिया, जिसकी कल्पना मुझे जाग्रतावस्थामें नहीं सूझी थी।"

फ्रान्सीसी नाटककार जीन काक्टयूका कहना है कि लेखकको जो प्रेरणा मिलती है, वह तन्द्रिलताके परिणामस्वरूप ही प्राप्त होती है। मेरे लिए क़लमसे स्याहीपर लिखना गौण बात है, मुख्य बात है, नाटकके कथानकका स्वप्न लेना। यह सपना, बिना किसी

शारीरिक या बौद्धिक प्रयत्नके अपने-आप, सहज ही आ जाता है, और तब मैं रुग्ण व्यक्तिकी भाँति चुपचाप पड़ा, इस सपनेको देखा करता हूँ, हर क्षण यथार्थको आगे ढकेलता हुआ। ऐसे अवसरोंपर मैं महा आलसी बन जाता हूँ, और आसपासकी दुनियासे विमुख होकर हज़ारहा यही चाहता रहता हूँ कि यह सपना कभी खत्म न हो, अन्तहीन बन जाये। मेरे लेखनके लिए स्वप्नसंचरण एक आवश्यक शर्त है। स्वप्नाचारी हुए बिना मुझे यह सूझ ही नहीं सकता कि मैं क्या लिखूँ? इसलिए मैं सदा अपने स्मृति-भण्डारको स्वच्छ रखता हूँ, ताकि स्वप्नाचारके सब सूक्ष्म विवरण मुझे बादमें अच्छी तरह याद रहें। हाल ही मैंने 'The Kuiughts of the round table नामक नाटक लिखा था। मैंने क्या लिखा, सपनोंमें प्रकट होनेवाली किसी अदृश्य शक्तिने मुझसे लिखवाया था। एक रात मैं सचमुच बीमार था, और काफ़ी थका हुआ भी। अगले दिन उठा तो मुझे लगा जैसे मैं किसी थियेटरकी सीटपर बैठा यह नाटक देख रहा हूँ। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस नाटकके पात्रों और परिस्थितियोंसे मेरा कोई पूर्व-परिचय न था, और न ही मैंने कभी इसके कथानककी पूर्व-कल्पना की थी।

सुविख्यात कथा-लेखिका राकेन दु मारिये-ने 'पीटर इब्बतसन' नामक अपनी कहानीमें एक ऐसे बन्दी युवकका वर्णन किया है, जो हर रात, सपनोंमें, जेलसे बाहर आकर अपनी प्रेमिकासे मिलता है, और वे दोनों साथ विगत जीवनको दुबारा जीते हैं। दु मारियेका कहना है कि यह कहानी निरी कपोल-कल्पना नहीं है, उनके एक स्वप्नानुभवपर आधारित है।

मार्टन प्रिन्स नामक मनोवैज्ञानिकने एक कवयित्रीके एक कविता लिखनेके अनुभवका वर्णन उसीके शब्दोंमें इस प्रकार किया है: "सहसा रातमें तीन और चारके बीच मेरी आँख खुल गयी। मैं पूरी तरह जागी हुई थी, और अपने आसपासकी वस्तुओंको भलीभाँति देख और पहचान रही थी। लेकिन फिर कुछ समयके लिए—शायद दो या तीन मिनिटके लिए ही—मैं बिलकुल निश्चल-सी हो गयी। अब मेरे सामने एक अलौकिक दृश्य उपस्थित था। कमरेकी सामनेवाली दीवार ग़ायब थी, और मैं अन्तहीन, सीमारहित क्षितिजमें देख रही थी। हलका कुहरा छाया था, पर सूर्यकी किरणें उसे पार करके आ रही थीं। अचानक, कुहरेके दो गुच्छे नर-नारीका आकार बनाने लगे। जब ये दोनों आकार सुस्पष्ट हो गये तो मैंने देखा पुरुष साधारण क़िस्मके कपड़े पहने हुए है और स्त्री काले वस्त्रोंमें है। स्त्रीका चेहरा झुका हुआ था और उसने अपनी बाँह पुरुषकी गरदनमें डाल रखी थी। पुरुष उसकी कमरमें हाथ डाले उसकी ओर देखकर प्यारसे मुस्करा रहा था। फिर उनके सिरके ऊपर एक चमकीला तारा चमकने लगा, और पुष्प-वर्षा होने लगी। इसी समय पुरुषने स्त्रीका चुम्बन ले लिया। सारा दृश्य इतना अलौकिक, मनोरम और सुस्पष्ट था कि मैंने तुरन्त रोशनी

जलाकर उसे लिखना आरम्भ कर दिया। १४-१५ पंक्तियाँ लिखकर मैं सोने चली गयी। जहाँतक मुझे याद है कि उस दृश्यको मैंने बड़े सीधे-सादे ढंगसे लिखा था, और उसमें कोई छन्द या तुक नहीं थी। पर, सुबह उठकर मैंने जब अपने लिखेको पढ़ा तो यह देखकर चकित रह गयी कि सारा वर्णन कवितामें था। कविता तुकान्त और छन्दमय थी। उसमें कई भाव ऐसे भी आ गये थे, जिनके बारेमें मैं पूरे विश्वासके साथ याद करके यह कह सकती हूँ कि दृश्य देखते समय या वर्णन लिखते समय मेरे मनमें बिलकुल नहीं थे।''

प्रिन्सने कवयित्रीसे पूछा कि क्या उसने यह दृश्य देखनेसे पूर्व कोई सपना देखा था? उसने कहा कि सपने उसे कम ही आते हैं, और उस रातको या उससे पहले तो उसने निश्चय ही कोई सपना नहीं देखा था। लेकिन सम्मोहनावस्थामें उसने स्वीकार किया कि उसने यह दृश्य देखनेसे पूर्व, सचमुच इस दृश्यसे मिलता-जुलता एक स्वप्न देखा था। 'वह दृश्य, वास्तवमें उससे पहले दिखाई दिये सपनेके समान ही था, और उसकी संविरचना उसी प्रक्रियाके फलस्वरूप हुई थी, जिसके फलस्वरूप सपनेकी हुई थी।''

गुजरातीके लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार कन्हैयालाल मुन्शीके सृजनात्मक जीवनका मध्य-बिन्दु जानना हो, तो उनका यह वक्तव्य पढ़िए: ''बालपनसे ही मुझे दिवास्वप्न देखनेका मोह जाग्रत हो गया था···अपने घरके दुमंजिलेके छज्जेमें बैठकर सरस्वतीके सपने देखा करता था। मोर छज्जेके सामनेके छप्परपर आकर नाचते, तो मुझे लगता कि सरस्वती-माँ उनके द्वारा मुझे सन्देश पहुँचाती हैं···ध्रुव-प्रह्लाद, विश्वामित्र-वशिष्ठ, व्यास, परशुराम आदिकी कथाएँ सुनकर, उनकी सृष्टिमें विहार करता। उस समय उनके व्यक्तित्वकी कल्पनामें निहारी हुई रेखाओंको जीवन-भर साहित्यमें उभारनेकी प्रेरणा उसी समय मिली होगी, ऐसा कहा जा सकता है···तनमन नामकी एक बाल सखी मेरे खेलकी संगिनी बनी—कुछ ही दिनोंके लिए। मेरे मनमें तनमनकी जो छवि अंकित हुई, वह अमिट होकर रह गयी। प्रथम कैशोर्यमें कल्पनाके तीर सींच-सींचकर, जिन स्मृतियोंको सँजोया था, उससे पहले १९१३-१४ में 'वैरका बदला' प्रकट हुआ, तथा बादमें अन्य कई उपन्यास। जैसे माँको खबर नहीं होती कि वह कैसे बालकको जन्म देगी, इसी प्रकार मुझे खबर नहीं होती कि मेरी कल्पनामें कैसा पात्र सृजित होगा।''

मराठीके प्रसिद्ध आलोचक माधव आचवलकी दृष्टिमें मराठीके प्रख्यात कथाकार और लेखक गंगाधर गाडगिल अपने लेखनमें ''मूल तत्त्वके अनिवार्य रूपको बनाये रखनेके साथ, अपनी रचनाओंको सृजनात्मक कलाकारके संवेदनका ऐसा स्पर्श प्रदान करते हैं कि वे गद्यगीत, और इम्प्रेशनिस्ट लैण्डस्केप (प्रकाश और छायाकी चेतनासे पूर्ण) लगती हैं। उनमें लेखकके मस्तिष्कके सूक्ष्म परदे-द्वारा बाहरी संसारका दर्शन होता है।''

गाडगिलके इस सूक्ष्म, स्वप्निल और अन्तर्मुखी दृष्टिकोणका रहस्य क्या है, यह

स्वयं उन्हींके शब्दोंमें सुनिए······"तारुण्यका जादू मुझपर असर कर चुका था, और मैं स्वप्न-जगत्‌में विचरने लगा था। उस स्वप्न-जगत्‌में चारों ओर कलाबत्तूकी-सी चमक थी। कृतित्वके सभी विलास थे। सभी इच्छाओंकी पूर्ति वहाँ होती थी। कल्पनाके स्वच्छन्द विहारके लिए नन्दनवन मेरे सामने खुला पड़ा था, और मेरे अहंका प्रचण्ड महासन्तापी नाग उस स्वप्न-जगत्‌में आनन्दके नशेमें अन्धा होकर डोल रहा था। उस स्वप्न-जगत्‌में जीवनका आह्वान था, और मृत्यु भी थी—नर्सिससकी भाँति उस स्वप्न-जगत्‌में रम न गया होता तो हमेशाके लिए दरिद्र बनकर रह जाता, और यदि उसीमें फँसा रह जाता, तो कबका मर चुका होता। उसकी पकड़से मुक्ति पानेके लिए मुझे असीम कष्ट झेलने पड़े। आज भी वह कष्ट झेल रहा हूँ। एक ओर था यह स्वप्न-जगत् और दूसरी ओर था विषमताओंसे पूर्ण यथार्थ जीवन, जो कहता था, मेरा अर्थ समझ। इस अर्थको समझनेसे बचना असम्भव था, कारण सारे संसारका सुख-दुःख मैं भुगत रहा था।"

सपनोंकी अँधेरी, रहस्यमयी पर फलवती दुनियासे साहित्यिकोंका ही परिचय हो, ऐसा नहीं है। अनेक भविष्यवक्ता, नेता और संगीतकार और चित्रकार आदि भी अपनी 'प्रेरणाओं' के लिए रातमें आनेवाले सपनों या दिवास्वप्नोंके ऋणी हैं।

विश्वविख्यात संगीतकार मौजार्टको उनकी एक संगीत-धुन, जो आज भी अपनी सुललित गेयताके लिए प्रसिद्ध है, एक बग्घीमें उस समय सूझी थी, जब वे यात्रा करते-करते झपकियाँ लेने लगे थे। इस अनुभवका विशद वर्णन उन्होंने अपने एक पत्रमें किया था, जो काफ़ी प्रसिद्ध हुआ। मेसमरेजिमके आविष्कारक मेसमरके घनिष्ठ मित्र होनेके कारण वे यह भलीभाँति जानते थे कि "जब-तक कलाकार अवचेतन-जगत्‌के स्वप्न-गगनमें स्वच्छन्द विहारी पक्षीकी भाँति नहीं उड़ता, तबतक वह किसी नये सृजनका माध्यम नहीं बन सकता।"

एक अन्य महान् संगीतकार चौपीन, जो अपनी मर्मस्पर्शी संगीत-सृष्टिके लिए प्रख्यात हैं, के संगीत-सृजनका आधार सपनोंसे प्राप्त प्रेरणामें उनकी निष्ठा थी। "अमरता-का जन्म क्षणभंगुर सपनोंमें ही होता है," वे कहा करते थे।

नृत्य-विशारदा मेरी बिगमैनने, जिनकी कई नृत्य-शैलियाँ अपनी अछूती महानताके कारण सदाजीवी हैं, अपने एक नृत्य 'पास्तोरेल' की कल्पनाकी कहानी इस प्रकार कही है : "एक दिन मैं स्टूडियो आयी, तो काफ़ी थकी-माँदी थी। आते ही आराम करने बैठ गयी। धीरे-धीरे, मेरे मनपर किसी अज्ञात पर गहरे साक्षात्कारकी तन्मयताकी छाप पड़ने लगी, और मैं बिलकुल खो-सी गयी। जब जागी, तो अपनेको पूरी तरहसे शिथिल पाया। सहसा, न जाने मुझे क्या सूझा, मन्द-मन्द गतिसे एक अनजान नृत्य करने लगी। सहायकोंसे कहा: "मालूम नहीं मैं क्या कर रही हूँ, पर चाहती हूँ कि इससे

हाथ कोई नरकुलके डण्ठलोंसे बना कोई वाद्य-नृत्य बजाता रहे।" "इस यन्त्रकी शरमय ध्वनिने मिलकर इस नये नृत्यको जन्म दिया। पर, उसका जन्म तो पहले कहीं—मेरे अन्दर ही मेरे सपनोंमें—हो चुका था।"

चित्रकलाकी नयी शैली—'कोलाज़' में असम्बद्ध और अपूर्ण वस्तुओंका उपयोग किया जाता है, जो कलाकारके चेतन और अचेतन मनके बीच चलती रहनेवाली आँख-मिचौनीकी अतर्क्य स्थितियोंको ही अभिव्यक्त करती है।

कलामें 'अतियथार्थवाद' नामक आन्दोलनके प्रवर्त्तकोंमें-से एक, सल्वादोर दालीकी विसंगत और अननुरूप कलाकृतियाँ, स्वयं उन्हींकी स्वीकारोक्तिके अनुसार उनके "विभिन्न सपनोंकी प्रतिलिपियाँ और प्रतिच्छायाएँ ही हैं।" अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त भारतीय कलाकार और कथा-लेखक बदरीनारायणका भी कहना है कि अपने सृजनात्मक क्षणोंमें कलाकार अपने निजी स्वप्नोंको ही स्वीकारता और मूर्त्त रूप देता है।

निजी सपने ही हैनरी मूर, पिकासो, वॉन गॉग आदि मूर्धन्य कलाकारोंके सफल कला-सृजनका मूल स्रोत भी थे। "दिवा-सपनोंमें पली उनकी जादुई कल्पना-शक्ति ही, जो उन्हें इष्ट था, उसका निर्माण करती थी।" यह कथन है पिकासोके एक अन्तरंग मित्रका।

■■

पुष्पा सुरेश

दो छोरों का विग्रह

खूबसूरत कोठियोंकी क़तारमें तीसरे नम्बरकी कोठीके सजे-सजाये ड्राइंग रूममें कुछ अल-लेटी-सी सुधा किसीके आनेका इन्तज़ार कर रही थी। आज उसने अपने-आपको रोज़ाना-से काफ़ी पहले तैयार कर लिया था और वह अपने नीले रंगके साड़ी-ब्लाऊज़में बहुत सुन्दर लग रही थी। राकेशको उसकी ड्रेसका यह मैच सबसे अधिक पसन्द था।

आज राकेशका कार्यालयसे जल्दी लौटने-का वादा था। शाम शॉपिंग, आऊटिंग पिक्चरमें बितानेका प्रोग्राम था। वैसे भी आज उसकी शादीकी तीसरी वर्षगाँठ थी और उसने कहा था—"आज शामको मैं एंजॉय करूँगा, केवल एंजॉय !

सुधाने घड़ीकी ओर देखा। साढ़े चार बज रहे थे। उसने अपने कपड़ोंमें आयी हुई सलवटोंको बड़ी बारीक़ीसे सँभालते हुए सोचा, "बस अब पाँच बजने ही वाले हैं। वे ठीक समयपर आ जायेंगे। और फिर" उसकी आँखोंमें सपने तैरने लगे जैसे कि वह कोई नयी-नवेली हो और उसके सपनोंका राजा प्रथम बार प्रणय निवेदन करने आ रहा हो।

बाहर एक खटका हुआ। उसे लगा शायद वे आ गये। उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा, "आहा, कितने अच्छे हैं वे। कितना ध्यान रखते हैं मेरा। बस पाँच बजनेको ही हैं और वे आ गये!"

सुधा जल्दीसे उठी। उसने ड्राइंग रूमका दरवाज़ा खोला। होठोंपर एक मुसकराहट लायी और बाहर राकेशके स्वागतके लिए

चल पड़ी। किन्तु वहाँ कोई नहीं था। वह एक क्षण रुकी, एक बार फिर बाहरकी ओर देखा। दूर—बहुत दूर सड़कपर उसकी आँखें किसीको खोजती रहीं। किन्तु जब कहीं उसको अपना मनचाहा जाना-पहचाना चेहरा दिखाई नहीं दिया तो वह मन मारकर निराश ड्राईंग रूमकी ओर लौट पड़ी। उसने घड़ीकी ओर देखा—साढ़े पाँच बजनेको थे। मन एक झुँझलाहटसे भर उठा। अभीतक नहीं आये! यदि आज भी इतनी बात नहीं रख सकते तो फिर कब रखेंगे। आठ बजे तो बाज़ार ही बन्द हो जाती है। अब आयेंगे, हाथ-मुँह धोयेंगे, कपड़े बदलेंगे तो सात-सवा सात बजे ही जायेंगे और फिर बाज़ार पहुँचते-पहुँचते साढ़े सात। ये आदमी किसी बातके पक्के नहीं होते। कैसा भी मौक़ा हो, कोई बात हो। बस अपने ही तरीक़ेसे चलेंगे!···

एक बार फिर खड़का हुआ। उसका जी चाहा कि उठकर देख ले; पर वह उठी नहीं। कहीं एक क्रोध था जिसने उसे उठने नहीं दिया। जैसे नहीं उठनेसे वह अपना बदला चुका रही हो। उसने सोचा, जो होगा सो अपने-आप अन्दर आ जायेगा। उसे ही कहाँका उतावलापन मचा है। राकेश अन्दर आया तो उसने देखते हुए भी अनदेखा कर दिया। लेकिन जब वह उसके काफ़ी क़रीब आ गया तो अपने-आपको वह न रोक सकी। बोली, "आज भी तुम देरसे आये। कमसे कम कुछ ख्याल तो रखा होता। देखो मैं कबसे तुम्हारे इन्तज़ारमें तैयार बैठी हूँ।"

फिर उसने सोचा, क्यों बेकार बात बढ़ाकर मूड ख़राब किया? उसने अपने चेहरेका भाव बदल दिया। मुसकराहट लाती हुई बोली, "अब ज़रा जल्दी तैयार हो जाइए। सवा छह तो बज चुके हैं। शॉपिंग न सही कुछ चेंज तो हो जायेगी :"

राकेश आकर चुपचाप सोफ़ेपर बैठ गया और अपने जूतोंके फ़ीते खोलने लगा। जैसे उसने किसीको यहाँ देखा ही नहीं हो। जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो।

सुधाने सोचा शायद बन रहे हैं। उसके

क़रीब जाकर कन्धेपर हाथ रखकर बोली, "अब जल्दी भी कीजिए न, पहले ही बहुत देर हो चुकी है।"

राकेशने उसका हाथ झटक दिया, "मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता सुधा। मुझे इस तरह परेशान न किया करो! यह भी कोई जिन्दगी है। उधर बॉसकी फ़रमाइश, इधर बीवीकी। रोज़ आउटिंग, रोज़ शॉपिंग। आज शादीकी वर्षगाँठ है तो कल बच्चे-की। आज तबीयत नहीं लग रही है तो आज तबीयत बेहद ख़ुश है। समझ ही नहीं आता कि बिना आउटिंग शॉपिंगके मेम साहबका काम ही नहीं चलता। अरे वे भी तो लोग हैं जो···"

शायद राकेश आज रुकनेके इरादेमें नहीं था। बीचमें ही सुधाने उसे टोंककर, उसका हाथ अपने हाथमें प्यारसे लेकर कुछ सहमे-सहमे कहा, "क्या हुआ आज, आपकी तबीयत तो ठीक है न! कहीं नहीं चलना तो न सही। चलिए एक प्याला चाय पी लें। मैंने तो इसलिए कहा था कि सुबह आप ही तो कह रहे थे कि जल्दी आऊँगा, शॉपिंग, आउटिंगको चलेंगे। केवल एंजॉय करेंगे।"

"यह सब ठीक है सुधी"—कहते-कहते राकेश सोफ़ेसे उठ खड़ा हुआ। "लेकिन कभी यह भी तो सोचा होता कि पाँच सौ रुपये महीनेकी कमाई भी कोई कमाई होती है। इसमें जिन्दगीका कौन-सा स्तर जिया जा सकता है। मैंने तुम्हें कितनी बार बताया है कि मैं ग़लत तरीक़े नहीं अपना सकता। पाँच सौ रुपयेमें एक हज़ारकी ज़िन्दगी नहीं जी सकता। किन्तु तुम हो कि बस सहयोग तो देनेसे रही, रोज़ एक नयी बात पैदा कर देती हो।"

सुधासे अब और आगे नहीं सुना गया। बात सच थी, जिसने उसके दिलपर ज़हरसे बुझे हुए तीरका काम किया था। वह तिल-मिला उठी। बोली, "मैंने आपसे कितनी बार कहा है कि इस रुपये-पैसेका हिसाब आप ख़ुद रखा करें। अजीब मुसीबत है, न इधर चैन न उधर चैन। आप तो समझते हैं पता नहीं मैं कितनी फ़िज़ूलख़र्ची करती हूँ। जो ख़र्च करती हूँ वह अपने और आपके ऊपर ही तो, किसी बाहरके आदमीको तो दे नहीं आती। अरे यही तो दिन खाने-खेलनेके हैं। फिर बादमें कोई कहाँ जाता है? आपको तो न जाने क्या हो गया है। बस हमेशा वही ग़लत-सहीकी रट, जैसे सब सही काम करने-का ठेका आपने ही ले रखा हो। इससे अच्छा तो था कि साधु-संन्यासी हो जाते। क्यों विवाह किया था? क्यों एक और फ़िज़ूल ख़र्च अपने पल्ले बाँध लिया? अरे और भी तो लोग हैं। मिस्टर वर्माको देखिए—ड्रिंक करते हैं, क्लब जाते हैं, बड़ी-बड़ी सोसाइटीमें उठना-बैठना है, डी० एम०-एस० पी० के यहाँ आना-जाना है। मिसेज़ शर्माको देखिए। अब हनीमून मनानेको कश्मीर गयी थीं। अब फिर एक महीनेकी छुट्टी लेकर पुरी जा रहे हैं। और एक आप हैं, मियाँकी दौड़ मस्जिद तक! शामकी आउटिंग भी आपको खलती है। पता नहीं किस दुनियाकी बात

सोचते, कहते रहते हैं।…"

सुधा एक झटकेके साथ उठी और गोदरेज खोलकर उसमें जो रुपये रखे थे उन्हें राकेशके सामने डाल दिया। "लीजिए सँभालिए इन्हें। मैं तो बाज आयी आपकी तिज़ोरीसे। अपने-आप रखें—चाहे जैसे ख़र्च करें।"

बस राकेश यहीं कमज़ोर था। उसे रुपये-पैसेके हिसाब-किताबसे बेहद डर लगता था और फिर वह इसे सुधाकी अधिकार-सीमामें अपना अनधिकार प्रवेश समझता था। मनानेकी आवाज़में बोला, "नाराज़ हो गयी मेरी रानी, मैंने तो बस यूँ ही कह दिया था। अरे हम तो तुम्हारे खादिम हैं। जो चाहे जैसे लादो चूँ न करेंगे।"

किन्तु सुधा रूठी तो फिर नहीं ही मानी। डिनरका समय हुआ तो सुधाने नौकर-से राकेशको टेबलपर आनेके लिए कहला दिया। और दिन होता तो वह स्वयं आती। वह अब भी नाराज़ थी। राकेश कुछ देर चुप रहा फिर उसने कह दिया कि अभी आते हैं। नौकर चला गया। राकेश वहीं बैठा रहा, उठा नहीं। सुधा डिनर-टेबलपर उसका इन्तज़ार करती रही। वह जानती थी कि राकेशने रामबाण छोड़ा है। अब सुधा उसे ज़रूर मनाने जायेगी यह राकेशको पता था। चाहे जो हो चाहे जितना लड़ाई-झगड़ा हो, किन्तु जबतक वह राकेशको अपने सामने बैठकर खाना खाते नहीं देख लेती तबतक उसे खाना नहीं भाता। वास्तवमें वह राकेशको अपने सामने खिलाना अपना कर्तव्य समझती थी।

राकेश ड्राइंग रूमसे नहीं उठा। सुधा खानेकी मेज़पर उसकी प्रतीक्षा करती रही। वह प्रतीक्षा करते-करते थक गयी, उसे उठना पड़ा। राकेशके पास जाकर बोली, "चलिए, खाना खा लीजिए।"

राकेशने अनसुनी कर दी। वह अपने हाथकी पत्रिकामें खोया रहा।

सुधाने उसके हाथसे पत्रिका लेकर उसे अपने हाथसे खींचते हुए कहा, "अब चलिए भी, बहुत हो गया, खाना ठण्डा हो रहा है।"

राकेशको उठना पड़ा। डिनर हुआ। और फिर नींद….।

वैसे तो उन दोनोंमें समझौता हो गया था। किन्तु कहीं कोई गाँठ थी जो लग तो गयी थी, खुली नहीं थी। राकेशको नींद नहीं आयी। उसके साथ सदैवसे ऐसा ही हुआ। जब कभी उसकी सुधासे कहन-सुनन हो जाती है उसे नींद नहीं आती। वह बहुत चाहता है कि उसमें और सुधामें मतभेद नहीं हो। अपनी तरफ़से उसकी हर बात माननेकी करता है। मगर फिर भी कभी-न-कभी कोई-न-कोई बात ऐसी हो ही जाती है।

हाँ तो, राकेशको नींद नहीं आ रही थी। वह बार-बार करवटें बदल रहा था। उसे रह-रहकर झुँझलाहट छूट रही थी अपने-आपपर, अपने बग़लके पलंगपर बेसुध सोयी हुई सुधापर। उसका जी चाह रहा था कि किसी चीज़को बुरी तरहसे मसोस दे, मसल डाले। तरह-तरहके विचार उसके दिमाग़में आ रहे थे। सुधाने उसके साथ कभी सहयोग नहीं किया। उसकी बातको कभी महत्त्व

नहीं दिया, हमेशा उलटा ही समझा है।

उसे सुधाके पास लेटना भी बुरा लगा। वह उठ खड़ा हुआ। बेड रूमका दरवाज़ा खोला, ड्राईंग रूममें जा लेटा, शायद इसलिए कि यदि सुधाका चेहरा नहीं दिखाई दे तो यह बात भूल जाय, उसे नींद आ जाये।

किन्तु ऐसा हुआ नहीं। विचारोंका ताँता जो एक बार बँधा तो फिर उसका छोर नहीं आया। वह सोचता रहा: उसमें ही कहीं कुछ क़मी है। वह सुधाको क्यों नहीं समझा पाता? वास्तवमें उसने प्रारम्भमें ही कोई ग़लती की है जो शायद अब सुधर नहीं सकती। उसे सुधाको प्रारम्भमें ही अपनी सीमाओंसे अवगत करा देना चाहिए था। अब उसे रोक पाना असम्भव है।

उसे नींद नहीं आ रही थी। वह करवटें बदल रहा था। बहुत चाहते हुए भी सोचनेका क्रम समाप्त नहीं हुआ। सिरमें हलका दर्द होने लगा। उसे क्रोध आता रहा अपने-आपपर, सुधापर। बहुत ज़िद्दी है सुधा एकदम 'इल्लॉजिकल'। बात समझती ही नहीं। बस अपनी ही अपनी लगाती है।

बातमें-से बात निकलती रही। स्वयंसे सुधासे, बॉससे। उसे आज दोपहरकी बात याद आ गयी। उसने बॉससे काफ़ी विनयके साथ कहा था, "सर यह काम नहीं हो पायेगा। यह नियम विरुद्ध है। ऊपरके अफ़सरोंको लिख दीजिए उनकी स्वीकृति आ जानेपर कर लेंगे।" किन्तु बॉस तो बॉस ही था। उसने उसकी एक न सुनी। उलटा उसपर ही बरस पड़ा। बोला, "मिस्टर राकेश! आप एक उत्तरदायी अधिकारी हैं। आपको सब-कुछ अपने-आप सोच-समझकर करना है। हर बात ऊपरके अफ़सरोंको लिखनेसे ही काम नहीं चल जाता। बहुत-कुछ अपने-आप भी करना होता है। मैं कुछ नहीं जानता, आपको यह करना ही होगा। नियम इजाज़त दें या न दें। मैं ऊपरके अफ़सरोंको नाराज़ नहीं कर सकता।"

लेकिन राकेश फिर भी झिझका। वह ग़लत काम करनेका आदी नहीं है। उसने बॉससे कहा, "माफ़ कीजिए साहब, मैं यह नहीं कर पाऊँगा। मैं नियम-विरुद्ध काम करके अपने-आपको फँसा नहीं सकता।"

अफ़सर चीख़ उठा, "नियम-नियम! क्या बच्चोंकी-सी बातें करते हो? क्या सारे क़ानून तुम्हीं जानते हो? क़ायदा अफ़सरकी ज़बानमें होता है।"

फिर वह समझानेकी-सी अदामें बोले थे, "देखो राकेश, यह नौकरी है। नियम-विरुद्ध काम करोगे तब भी फँसोगे, अफ़सरकी बात नहीं मानोगे तब भी फँसोगे। फँसना तो सब तरहसे है। भई, काम करेंगे तो ग़लत भी करना पड़ेगा और सही भी। नौकरीमें अफ़सरका कहना तो मानना ही होता है।"

उसने चाहा कि वह उसे खरी-खोटी सुना दे। उससे कह दे कि तुम्हारे-जैसे नौकरी-पेशा लोगोंकी वजहसे ही सबकी ज़िन्दगी बर्बाद है। पता नहीं अपनी एक कमज़ोरी छिपानेकी वजहसे कितने गुनाह करते हैं? पथ-कुपथ का कोई ध्यान ही नहीं। किन्तु वह कहीं

सका। मन मारकर चुप रह गया। उसके सामने सिन्हाकी सूनी आँखें नाच उठीं। वह भी तो ऐसा ही था। बिलकुल राकेशका-सा और इसी अपराधपर इन सब लोगोंने मिल-कर कैसे उसकी ज़िन्दगी बरबाद कर दी? बेचारा कहींका न रहा। उसे नौकरीसे निकलवाकर ही चैन लिया।

उसने चाहा कि वह त्यागपत्र दे दे। उसे लगने लगा कि उसने अपने-आपको बेच दिया है। तनखाहमें कम और ऊपरकी आमदनीमें ज़्यादा। वह जाये भी तो जाये कहाँ? कौन उसे जगह देगा अब? अब तो उसपर मोहर लगी हुई है सरकारी नौकरीकी यानी कि नाकारेपनकी, भ्रष्टाचारकी। अब उसे यहीं रहना पड़ेगा। चाहे कोई उसका अपमान करे या उसे दुतकारे। और कोई चारा नहीं है।

वह निरीह-सा सूनी आँखोंसे ड्राईंग रूम-की छतकी ओर देखता रहा। नींदने साथ नहीं दिया। दिमाग़ने भी काम करना बन्द कर दिया। बोझिल आँखोंने मुँद जाना चाहा। उसे अपने-आपसे नफ़रत-सी होने लगी। सजे-सजाये ड्राईंग रूमकी हर चीज़से नफ़रत होने लगी। उसे लगने लगा कि वह इस चमचमाते ड्राईंग रूममें एक ज़िन्दा लाश है। एक ऐसी ज़िन्दा लाश जो हिल नहीं सकती। डुल नहीं सकती। जिसके नीचे एक ख़ूबसूरत क़ालीन है। आगरेका बना हुआ क़ीमती क़ालीन। मगर जैसे वह कोई क़ालीन न होकर काँटों-की सेज हो। नोंकदार काँटे उसके सारे शरीरमें चुभने लगे। उसे लगा कि उसके दोनों ओर दो खाइयाँ हैं। बहुत गहरी और अँधेरी खाइयाँ। और वह, एक ज़िन्दा लाश!, उन दोनों खाइयोंके बीच पड़ा हुआ है। हिल-डुल नहीं सकता। उसकी करवट लेनेकी अत्यधिक आकांक्षा हुई। किन्तु ले नहीं सका। उसे लगा कि उसके शरीरके हर हिस्सेसे सौ-सौ मनका बोझ बँधा हुआ है। उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया।

उसका जी चाहा कि उसकी ज़िन्दा लाशको कोई वाल्टियरके समुद्र तटपर ले जाये। जहाँ उसे ठण्डी हवा लगे। शीतल मन्द उन्मुक्त बयार। उसे कुछ चेतना आये, नयी ज़िन्दगी मिले। जहाँ वह मिल सके, उठ-बैठ सके, मेहनतके उन सपूतोंके बीच जिनके तनपर वस्त्रोंके नामपर एक फटी-फटाई लँगोटिया है। जो काले हैं तनसे और मनसे साफ़ हैं। जो भोर होनेसे पहले ही अपनी जर्जर तरी लेकर समुद्रकी लहरोंमें खो जाते हैं। जो जीते हैं, अपने आत्मविश्वासके सहारे, अपने बाहुबलके सहारे। जो कुछ है उससे प्रसन्न वे प्रकृतिके पूत। उसे भी कोई उन लोगोंके बीचमें ले जाये। उन्हें न आउ-टिंगका शौक़ है न शॉपिंगकी ज़रूरत है। वे जो पाँच सौ रुपयेमें एक हज़ारकी ज़िन्दगी नहीं जीते। जीते हैं एक मुट्ठी कोदोंकी ज़िन्दगी। जिनसे कोई कुछ छीन नहीं सकता। जिनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। हर दानेके लिए ख़ून-पसीना एक करते हैं वे। समुद्रके वक्षको चीर निकल जाते हैं जो धरतीके लाल, मेहनतके सपूत। स्वच्छन्द, चिरकार्य रत, चिरविजयी!····

■ ■

ENGLISH

अँगरेज़ी के निर्माण की पृष्ठभूमि

एक पुनर्निरीक्षण

राजमल जैन

'वारबेरस' से 'विण्डो टु द वर्ल्ड' तक अँगरेज़ीके विकासकी कहानी। हिन्दीके सन्दर्भमें विशेष रूपसे पठनीय।

अंगरेज़ीको सिंहासनच्युत करनेकी अधिकांश भारतीय जनताकी स्वाभाविक इच्छा एवं प्रयत्न-को दबानेके उद्देश्यसे हिन्दीपर इस समय जो लांछन लगाये जा रहे हैं, उन्हींका समाधान स्वयं अँगरेज़ी भाषाके इतिहासके माध्यमसे ढूँढनेका ही प्रयास यह लेख है। हिन्दीको अविकसित, सूक्ष्म अर्थ-व्यंजनामें असमर्थ आदि जिन विशेषणोंसे इस समय विभूषित किया जाता है, उन्हींसे किसी समय स्वयं अँगरेज़ीको भी लाँछित किया जाता था। किन्तु अँगरेज़ी न केवल लैटिन और फ्रेंचके मुक़ाबले टिक सकी अपितु उनसे बहुत आगे भी निकल गयी। इसके कारण थे अँग-रेज़ी-भाषियोंका अदम्य उत्साह और अविराम प्रयत्न। हिन्दी-भाषियोंमें भी इसकी कमी नहीं है। अतः वह भी किसी दिन विश्वकी प्रमुखतम भाषाओंमें अपना गौरवपूर्ण पद ग्रहण करेगी।

अँगरेज़ीमें कोश-निर्माण और अनुवाद-कार्यका प्रारम्भ धार्मिक कारणवश हुआ। बाइब्रिलके अनुवादके लिए ही शब्द-सूचियाँ तैयार की गयीं और अँगरेज़ अपनी भाषामें बाइबिल पढ़ सकें इस प्रेरणाने ही अँगरेज़ी भाषामें अनुवादकी परम्परा डाली जिसका प्रारम्भ १३वीं शताब्दीमें हुआ। यह वह सदी थी जिसमें अँगरेज़ीको निम्न-स्तरके लोगोंकी ही भाषा माना जाता था—यानी उच्च वर्गकी लैटिन और फ्रेंचके मुक़ाबले अविकसित तथा अस्थिर भाषा।

तेरहवीं सदीमें चूँकि धार्मिक ग्रन्थका ही अनुवाद अभिप्रेत था, इस कारण स्वभावतः ही अँगरेज़ी अनुवादकी प्रवृत्ति शाब्दिक अनुवादकी ओर रही। किन्तु अँगरेज़ी-अनुवाद-के क्षेत्रमें देशभक्ति भी एक क्षीण प्रेरणा मध्ययुगमें रही। रिचर्ड स्यूर लायनके अनुवादकको ऐसा लगा कि अँगरेजी वीरकी गाथा अँगरेज़ोंको अपनी ही भाषामें पढ़नी चाहिए। इस कारण उसने उपरोक्त लेखककी रचना 'कर्सर मुण्डी'का अनुवाद अँगरेज़ीमें किया।

बाइबिलके प्रारम्भिक अनुवाद सन्तोष-जनक सिद्ध नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि बाइबिलकी शब्द-सूचियाँ वर्णक्रमा-नुसार आधुनिक कोश-कलाका प्रथम चरण—बनायी जाने लगीं। पहले लैटिन-अँगरेज़ी कोश बने। फिर सन् १४५० तक अँगरेज़ी-लैटिन कोश भी सामने आये, इनमें प्रमुख हैं—'Promptorium Parvulorum, The catholion Anglicum और Manipulus Vocabulorum. कोश-कलाका और विस्तार हुआ और उसके परिणामस्वरूप फ्रेंच-अँगरेज़ी कोश भी १६वीं सदी तक बनने लगे।

अँगरेज़ी कोश-कलामें विकासका सीधा परिणाम अँगरेज़ी भाषामें किये जानेवाले अनुवादोंपर भी पड़ा। क्योंकि १६वीं सदी तक इस बातपर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा कि विदेशी शब्दके अँगरेज़ी समानार्थी शब्द दिये जायें। साथ ही यह भी प्रयत्न हुआ कि एक ही शब्दके विभिन्न समानार्थियोंमें प्रयोग-का अन्तर भी दिखाया जाये। यह तो स्पष्ट ही है कि समानार्थियोंके सूक्ष्म अन्तरका ज्ञान अच्छे अनुवादके लिए कितना महत्त्वपूर्ण है।

सोलहवीं शताब्दीमें भी अँगरेज़ीमें अनुवाद करनेवालेका काम इतना सरल नहीं था। उस समय उसका कार्य शायद उसी प्रकार अमहत्त्वपूर्ण माना जाता था जिस प्रकार हिन्दी अनुवादकका स्वतन्त्रता-पूर्व युग में। अँगरेज़ीमें अनुवादकको एक ओर उन लोगोंका सामना करना पड़ता था जो अँगरेज़ीको 'बैरन' 'बारबेरस' तथा 'वल्गर' और 'अनबर्दी' समझते थे और लैटिन तथा फ्रेंच पढ़नेमें ही अपनी शान समझते थे, तो दूसरी ओर उसे अपनी भाषाके शब्द-भण्डार-की अल्पताका दुःखपूर्ण भान भी सताता था। यही कारण है कि आजकी हिन्दीकी ही भाँति उसे अपनी भाषाको इस आरोपसे बचानेका भी प्रयत्न करना पड़ता था कि उसकी भाषा तो इस बातके योग्य भी नहीं है कि उसमें अनुवाद किया जा सके।

आत्मविश्वास और महत्त्वाकांक्षा ही प्रगतिके पंख हैं। इन्हीं दो प्रेरणाओंने अँगरेज़ी भाषाको अनुवादके माध्यमसे भी समृद्ध किया। अँगरेज़ी अनुवादकोंकी ये प्रेरणाएँ सिलवेस्टर नामक अनुवादककी पद्यमयी पंक्तियोंमें जिस प्रकार व्यक्त हुईं उनका गद्य-सार इस प्रकार है—"यह ठीक है कि फ्रेंच इतनी समृद्ध है किन्तु हमारी भाषा (अँगरेज़ी) भी अभिव्यक्तिकी उतनी ही सामर्थ्य रखती है।"

रानी एलिज़ाबेथके शासनकाल तक इस ओर ध्यान दिया जाने लगा कि अँगरेज़ीमें शब्दावलीकी जो कमी है, उसे दूर किया जाये। इसके लिए ग्रीक, लैटिन और फ्रेंच शब्द भी आत्मसात् किये जाने लगे। किन्तु आरम्भ, अभिवृद्धिके बाद अति प्रारम्भ हो जाती है और अति अनादरका कारण बनती है। यही कारण है कि विदेशी शब्दोंके अत्यधिक प्रयोगकी भी निन्दा हुई। कारण यह था कि जो विषय विदेशी भाषाके कारण पहले ही रहस्यमय थे, उन्हें अनुवादमें भी विदेशी शब्दोंका प्रयोग कर और भी अधिक अस्पष्ट क्यों बनाया जाये।

विदेशी शब्दोंके विरुद्ध प्रतिक्रियाका परिणाम यह हुआ कि ऐंग्लो-सेक्सन शब्दोंसे ही शब्द-निर्माण की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। 'फिलिप ऑव मोर्न' नामक रचनाके अनुवादकने यह अभिमत प्रकट किया कि लैटिन, फ्रेंच या अन्य किसी भाषाके शब्दोंको अपनानेकी अपेक्षा उसने इसी बातका प्रयत्न किया है कि वह अपनी ही भाषा (अँगरेज़ी) से शब्द-निर्माण करे या अपनी अभिव्यक्तियाँ ढाले। अँगरेज़ी भाषाकी इस अवस्थाकी तुलना हिन्दीके उन घोर संस्कृत हिमायतियोंसे की जा सकती है जिनको इस बातमें अटूट श्रद्धा है कि हिन्दीमें संस्कृतके शब्द घुसाये बिना (मैं अतिकी बात कर रहा हूँ। ये लोग अमेरिका-को भी पाताल लोक कहना चाहते हैं) हिन्दी सदा ही लँगड़ाती रहेगी। प्रसंग है, इस कारण मैं १८८७ में व्यक्त फ्रेडरिक पिंकॉटके इस मतकी ओर भी इंगित कर देना चाहता हूँ कि हिन्दी वे सभी भाव—वैज्ञानिक भी—व्यक्त कर सकती है जिनमें यथार्थताकी आवश्यकता हो।

इस प्रकार इस युगकी विशेषता संक्षेपमें इस प्रकार कही जा सकती है कि रानी एलिज़ाबेथके कालमें जहाँ अँगरेज़ीके शब्द-भण्डारमें वृद्धि हुई, वहाँ ऐंग्लो-सेक्सन शब्दों-की भी पुनः-प्रतिष्ठाके साथ-ही-साथ विदेशी भाषाओंके शब्द भी अँगरेज़ीने सहर्ष लिये। सत्रहवीं सदीमें तो पण्डित, मुन्शी, तोला, राज, जोगी, डोली, मन, खोपरा-जैसे हिन्दी शब्द भी अँगरेज़ी भाषा-प्रवाहमें जा मिले।

अभीतक यह माना जाता था कि अनुवाद अल्प-प्रतिभाशालियोंका काम है। किन्तु जब पोप और ड्राइडन-जैसे कवियोंने भी अनुवादकी ओर ध्यान दिया तो यह भ्रान्ति भी दूर हो गयी। अनुवादका गौरव यहाँतक बढ़ा कि ल्युकनका जो अनुवाद 'रो' ने किया है, उसे जॉनसनने 'अँगरेज़ी काव्य-क्षेत्रमें एक महान् रचना' बताया। और भी आगे चलकर 'उमर खैयामकी रूबाइयों'के अनुवादकको

जो ख्याति प्राप्त है, वह सर्वविदित ही है।

अँगरेज़ीके अनूदित साहित्येतिहासकी सत्रहवीं और अठारहवीं सदीमें अनुवादके प्रमुख विषय लैटिन और ग्रीक गौरव-ग्रन्थ ही थे।

अनुवादोंकी वृद्धिके साथ-ही-साथ अनुवाद-कार्यके सैद्धान्तिक पक्षोंपर भी विचार प्रारम्भ हुआ। सन् १६१६ में जार्ज चेपमेनने होमरकी समस्त रचनाओंका अनुवाद प्रकाशित किया। ईलियडकी भूमिकामें उसने उन लोगोंपर नाराज़ी प्रकट की है जो 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका'के अनुसार शाब्दिक अनुवाद करते हैं। उसने यह विचार प्रकट किया कि ग्रीक और अँगरेज़ीमें मूलभूत अन्तर है, इसलिए अनुवादकको कुछ स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किन्तु उसे मूलकी आत्मा नष्ट करनेका अधिकार नहीं है। हिन्दीमें भी यह रोग कुछ सीमातक पाया जाता है किन्तु पाठकोंकी जागरूकतासे इसमें अब कुछ कमी आयी है। अब हिन्दी जिस रोगसे सर्वाधिक ग्रस्त है, उसका सम्बन्ध वाक्य-विन्याससे है। किसी भी अनुवादको देखकर यह सरलतासे कहा जा सकता है कि यह अनुवादी हिन्दी है। अनुवादमें भी हिन्दी वाक्य-विन्यास गौण नहीं हो जाना चाहिए।

अनुवादके सिद्धान्तोंपर अँगरेज़ीमें 'एसे ऑन द प्रिन्सिपल्स ऑव ट्रान्सलेशन' नामक पहला लेख श्री टेलरने लिखा। किन्तु डॉ० जॉनसनका मत उस समयके लोगोंको अच्छा लगा। उनका मत था कि अनुवाद पढ़नेमें अच्छा लगना चाहिए। वे इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए यहाँ तक तैयार थे कि अनुवादक मूल लेखककी भाषामें सुधार भी कर सकता है।

अठारहवीं शताब्दी तक अँगरेज़ीमें यह स्थिति आ गयी थी विदेशोंके श्रेष्ठ समकालीन काव्यका अनुवाद किया जाये। उन्नीसवीं सदीमें न केवल अनुवादोंमें वृद्धि हुई अपितु अनुवादके लिए विषयोंमें विस्तार भी।

बीसवीं सदीमें अँगरेज़ीमें अनुवादकी स्थितिके सम्बन्धमें यदि पूछा जाये, तो यही कहा जा सकता है कि अँगरेज़ी इस क्षेत्रमें सबसे आगे है। किन्तु उसके अति-उत्साही समर्थकोंका यह दावा है कि दुनियाकी कोई भी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशनके एक वर्षके अन्दर ही या उससे भी अल्पावधिमें अँगरेज़ीमें अनूदित रूपमें मिल सकती है। यह तो ठीक है कि अँगरेज़ी इस दिशामें सतत प्रयत्नशील है किन्तु यह भी सत्य है कि फ्रॉयड-जैसे महान् मनोविश्लेषकके समस्त ग्रन्थोंका अनुवाद भी अँगरेज़ीमें काफ़ी देरसे प्रकाशित हुआ।

आज अपनी सारी समृद्धिके बावजूद भी अँगरेज़ी यह अनुभव कर रही है कि उसमें जो अनुवाद होते हैं वे वांछित संख्यामें नहीं होते और उनकी गति भी धीमी है। अँगरेज़ीका पाठक अब ललित साहित्यके लिए लालायित नहीं होता। उसका एक बहुत बड़ा वर्ग वैज्ञानिकोंका भी है जो नवीनतम खोजोंकी तुरन्त जानकारी अनुवादोंके माध्यमसे प्राप्त करनेके लिए सदा उत्सुक रहता है। मनमौजी अनुवादक और लाभप्रेरित प्रकाशकोंके भरोसे वह कब तक रहे ? इसलिए वह अब मशीनसे अनुवाद करानेके लिए सतत प्रयत्नशील है।

प्रो० अश्विनीकुमार का अश्व बोध

लक्ष्मीकान्त वैष्णव

■
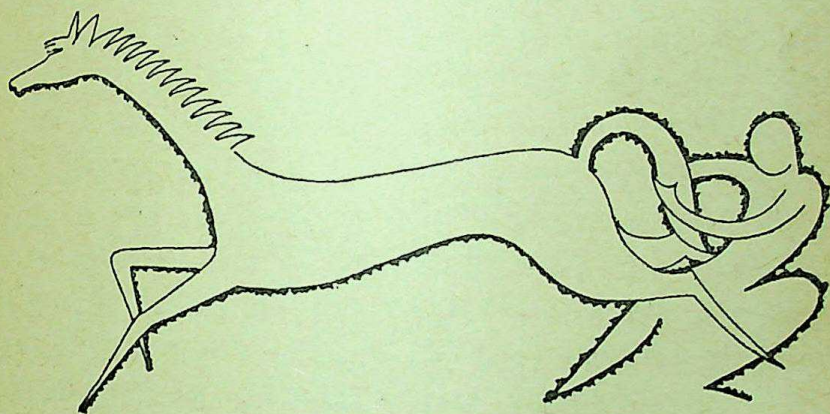
जहाँतक बोधका सवाल है बुद्धिजीवियोंको बहुत जल्दी बोध हो जाता है। अब यह बोध भले ही आभ्यन्तरिक अन्तश्चेतनाका हो अथवा बाह्य भौतिकताका बोध हो। चाहे भाव बोध हो जिसमें साहित्यिक भाव अथवा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भावसे लेकर गुड़-शक्कर, मिट्टीके तेल और राशनके भाव तक सम्मिलित हैं, चाहे अस्तित्वबोध—जिसमें अपने आत्मिक चिरन्तन शाश्वत अस्तित्वसे लेकर भौतिक नश्वर शरीरका अस्तित्व तक सम्मिलित है—सर्वप्रथम बुद्धिजीवी वर्गके मस्तिष्कमें ही बोधका प्रादुर्भाव होता है।

अब ऐसा कुछ नहीं है कि प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको अपनी आत्माके शाश्वत, चिरन्तन

अथवा अमर हानेका बोध हो आया हो। या ऐसा भी कुछ नहीं है कि सतत साधनारत ऋषि-मुनियोंकी तरह प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको आत्मबोध हो आया हो। लेकिन चूंकि प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमार एक बुद्धिजीवी हैं अतः उन्हें किसी भी प्रकारका बोध हो आना स्वाभाविक ही था। और चूंकि हर बोधके पीछे कोई न कोई प्रेरणाशक्ति होती है जैसे सिद्धार्थको संसारकी नश्वरताका बोध कुछ विशेष परिस्थितियोंने ही करवाया था और जैसे तुलसीदासको ईश्वरकी सत्ताका बोध उनकी पत्नीने ही करवाया था, ठीक उसी प्रकार प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको जो बोध हुआ उसके पीछे भी एक प्रेरणाशक्ति थी—अश्वत्थामा, द्रोणाचार्यका पुत्र अश्वत्थामा नहीं और न ही महाभारतका हाथी अश्वत्थामा, बल्कि अश्वत्थामा 'अश्व' प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारका एक विद्यार्थी। और चूंकि बोध एक हक़ीक़त होती है, एक सचाई होती है, अतः आप इसे एक ग़लतफ़हमी नहीं कह सकते। कमसे कम प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको जो बोध हुआ उसे तो ग़लतफ़हमी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह बोध एक प्रोफ़ेसरको हुआ था, एक बुद्धिजीवीको हुआ था।

और प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको जो बोध हुआ वह बोध था अश्वबोध! यानी घोड़ाभास, यानी अपने घोड़ेपनका अहसास! और जिस प्रकार ऋषि-मुनियोंको आत्मबोध हो आनेपर सारा संसार एक दिव्यशक्तिसे आच्छादित प्रतीत होने लगता है तथा कण-कणमें अलौकिक ब्रह्मकी सत्ताके दर्शन होने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको अश्वबोध होते ही सारा संसार अश्वमय दृष्टिगोचर होने लगा। आस-पासके समूचे वातावरणमें, सारे परिवेशमें, कण-कणमें, अणु-अणुमें अश्वोंका अस्तित्व परिलक्षित होने लगा। सब-कुछ अश्वमय हो गया। सब-कुछ अश्वसत्तासे आच्छादित प्रतीत होता था। सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र सब-कुछ अश्वाकार हो गये थे।

आत्मबोधके लिए आवश्यक नहीं कि यह ब्राह्ममुहूर्तमें हो हो लेकिन फिर भी प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको अश्वबोध प्रातःकाल ही हुआ। रविवारके दिन प्रातःकाल आठ बजे। सामने आइना रखकर दाढ़ी बनाते ही उन्हें अपने लम्बे मुंहसे घोड़ाभास हुआ था। रेज़रसे बाल खरोंचते-खरोंचते ही अश्वबोध हो आया था उन्हें। अपने अचेतन मस्तिष्कमें ग्रहण किये हुए अश्वत्थामाके वे शब्द उनके सचेतन मस्तिष्कमें आकर विप्लव मचा रहे थे—"महाशय, क्या किसी आदमीका मुँह जानवरों-जैसा हो सकता है?" अश्वत्थामाके शब्द और उनकी अपनी आँखोंके 'रेटीना'पर पड़ा हुआ उनके लम्बूतरे मुँहका प्रतिबिम्ब मिलकर उन्हें बोधिकी एक विचित्र अवस्थामें खींचे ले जा रहे थे और वह अवस्था थी अश्व-बोधकी अवस्था, जहाँ पहुंचकर अपने सुन्दर किन्तु नश्वर भौतिक तथा आकर्षक व्यक्तित्वका अस्तित्व अपने-द्वारा अर्जित

'रेपुटेशन' तथा 'प्रेस्टिज'के साथ धराशायी हो गया था और शेष रह गया था अश्वबोध ! अपने घोड़ेपनका अहसास ! अश्वत्थामाके प्रश्नके साथ-साथ महाविद्यालयके मैदानमें घास चरते हुए एक घोड़ेकी हिनहिनाहटके स्वरने भी उनका ध्यान क्षण-भरको आकर्षित किया था। और ठीक उसी समय कक्षाके समस्त विद्यार्थी उनकी ओर कुतूहलपूर्ण मुद्रामें देख रहे थे।

तो अश्वत्थामा उनके चेहरेको देखकर ही पूछ रहा होगा—"महाशय, क्या किसी आदमीका मुँह जानवरों-जैसा हो सकता है" उन्हें लगा कि सामने रखे आइनेमें उनका मुँह कुछ और लम्बा हो गया है। मस्तकके ऊपर घोड़ोंकी तरह दो कान निकलकर खड़े हो गये हैं। प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारका मानसिक सन्तुलन अव्यवस्थित हो उठा तथा इसी बीच रेज़र ग़लत चल गया। कटी हुई दाढ़ीसे खून बह निकला। फिटकिरी ढूँढ़ी पर नहीं मिली। अश्वबोधकी उस अवस्थामें किसी प्रकार रो-झीखकर दाढ़ी बनायी उन्होंने। रविवारका दिन था, छुट्टीका दिन, अतः अश्वत्थामासे साक्षात्कारकी सम्भावना ही नहीं थी अन्यथा आज यदि अश्वत्थामा मिल जाता तो उसे वे अपने क्रोधकी आगमें भस्म करके ही चैन लेते।

दिन-भर प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमार खिन्न रहे, व्यग्र रहे, चिन्तित रहे। दिनमें अनेक बार आइना उठाकर देखा उन्होंने। प्रत्येक बार उन्हें अपना लम्बूतरा चेहरा और अधिक लम्बा होता प्रतीत हुआ। उन्हें लगा उनकी आँखें भी घोड़ोंकी आँखोंकी तरह बिल्लौरी होकर फिट हो गयी हैं। दो आइने मँगाकर अपने चेहरेका साइड-कट देखा—स्पष्ट घोड़ाभास ! आजतक प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमार अपनी सुन्दरतापर स्वतः मुग्ध थे। किन्तु अब उनकी सुन्दर व 'इम्प्रेसिव पर्सनैलिटी' को अश्वबोध हो आया था—एक ऐसा बोध जिसके अस्तित्वको स्वीकार न करना चाहते हुए भी वे नकारनेकी स्थितिमें नहीं थे। अश्वत्थामाने कहा था—"महाशय, क्या किसी आदमीका मुँह जानवरों-जैसा हो सकता है ?" उसी समय बाहर घोड़ा घास चर रहा था। दाढ़ी बनाते समय अश्वत्थामाके शब्द उनके मुँहपर आकर फिट हो गये थे।

"क्या उन्हें अपने बाह्य अस्तित्वका सही बोध हो आया है ? क्या यही सत्य है जो नग्न रूपमें उनके समक्ष खड़ा है ? क्या सचमुच उन्हें साधनारत ऋषि-मुनियोंको हो आये आत्मबोधकी तरह अपने घोड़ेपनका अहसास—अश्वबोध हो आया है ? क्या सचमुच उन्होंने अपने बाह्य स्वरूपको पहचान लिया है ?" उत्तरमें कनफर्म करनेके लिए उन्होंने एक बार फिर आइना उठाकर देखा, फिर दो आइने मिलाकर साइडकट देखा—एक घोड़ेका जाज्वल्यमान प्रतिबिम्ब था वह। आइना देखकर सिहर गये।

जलती आगमें घीका काम किया छोटे बिल्लूकी पढ़ाईने। कमबख्तको उसी समय पढ़ास छूट रही थी। अपनी वर्णमालाकी पुस्तक लेकर वह ज़ोर-ज़ोरसे चिल्ला-चिल्ला-

कर पाठ याद कर रहा था। क कुत्तेका, ख खरबूजेका, ग गधेका और घ घोड़ेका आया तो प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारने आइने उठाकर फ़र्शपर पटक दिये और बिल्लूके गालोंपर तड़ातड़ चार-छह थप्पड़ जड़ दिये। अबोध बालक चीखकर रो पड़ा। धीरे-धीरे उसका रुदन सिसकियोंमें बदल गया और प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको लगा कि उसकी सिसकियोंमें घुड़शावकों-जैसी हलकी हिनहिनाहट है। उसकी सिसकियाँ घुड़छौनों-जैसी ही प्रतीत हुईं उन्हें।

इसी बीच श्रीमती अश्विनीकुमारने बाजारसे सब्ज़ी लानेके लिये झोले थमा दिये। बारिश होनेकी सम्भावना थी अतः छाता भी थमा दिया। छातेका कपड़ा 'डबल घोड़ा" ब्राण्ड था। बाजारमें सब्ज़ीवाले घुड़दौड़पर बहस कर रहे थे। किरानेवालेने अपनी दूकानके आगे घोड़ा बाँधकर रखा था। प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको लगा संसार-की हर वस्तु उन्हें अश्वबोध करा रही है। हर जगह घोड़े-ही-घोड़े बँधे हैं। हर जगह घोड़ोंकी ही बात चल रही है। उन्होंने निश्चय किया कि नहीं लेंगे उस उद्दण्ड किरानीकी दूकानसे सामान। किन्तु मजबूरी थी और वह मजबूरी थी जो हर बुद्धिजीवीके समक्ष होती है कि स्थितिको स्वीकारना न चाहते हुए भी नकारते नहीं बनता। अन्यत्र उधारी कहीं नहीं चलती थी। अतः खिन्न होकर उसी किरानीकी दूकानसे सामान लिया। किरानी भी कमबख्त पाजी था। दूकानके चबूतरेपर चढ़ते समय ही उन्हें आगाह करते हुए बोला था—"घोड़ेसे बचके प्रोफ़ेसर साहब, दुलत्ती झाड़ता है!" और प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारकी आँखें बरबस घोड़ेकी आँखों-से जा टकरायी थीं। घोड़ेने उनकी आँखों-से आँखें मिलाकर झुका लीं, मानो झेंप गया हो। मानो अपने घोड़ेपनकी हीनताके बोधसे दबा जा रहा हो, मानो कह रहा हो "भला कहाँ आप एक बुद्धिजीवी प्रोफ़ेसर और कहाँ मैं अकिंचन एक किरानीकी धनियाँ-मिर्चीको अपनी पीठ-पर ढोनेवाला!" न जाने क्यों एक क्षण-को उन्हें लगा कि उनके अपने ही गलेमें रस्सी बाँध दी गयी है और उनका ही प्रति-रूप किरानीकी दूकानके समक्ष बँधा खड़ा है।

दोपहर होते-होते तक प्रोफ़ेसर अश्विनी-कुमारपर 'घोड़ा' शब्द इस बुरी तरह सवार हो गया कि वे बेहद चिड़चिड़े हो उठे। आत्मबोधके बाद ऋषि-मुनि एक प्रकारकी शान्ति अनुभव करते हैं, अश्वबोधके पश्चात् प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमार अशान्ति अनुभव कर रहे थे। अशान्ति इसलिए कि वह एक बुद्धि-जीवीका अश्वबोध था……अपने घोड़ेपनका अहसास!

अशान्त मन एकान्तमें प्राकृतिक सौन्दर्य लखकर प्रसन्न हो जाता है। अतः आज शाम प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमार नदी-तटकी ओर घूमने निकल गये थे। किन्तु वहाँ भी चैन नही मिला। नदीके किनारे अनगिनत घोड़ों-के झुण्ड-के-झुण्ड घास चर रहे थे। नदीमें मुँह-हाथ धोनेके लिए उतरे तो घोड़ोंके झुण्ड पानी पीनेके लिए उनके आसपास आकर खड़े हो गये। नदीके जलमें पड़ते हुए अपने

प्रतिबिम्बसे उन्होंने घोड़ोंके प्रतिबिम्बका मिलान किया। लगा—एक आदमीके धड़-पर घोड़ेका मुँह फिट है। एक अर्द्धघोड़ेश्वर नदीके जलमें खड़ा है। घोड़ा हाथ-मुँह धो रहा है।

लड़कपन बीत जानेके बादसे न जाने कितने बरस बीत गये थे उन्हें दौड़ लगाये हुए। आज वे नदी-तटसे घरकी ओर बेतहाशा भाग रहे थे सिरपर पैर रखकर। भागते समय उन्होंने मुड़कर नहीं देखा। यदि मुड़कर देखते तो पाते-कि घोड़ोंके रूपमें एक ऐसा सत्य उनका पीछा कर रहा था जो एक नग्न सत्य था तथा जिसे स्वीकारना न चाहते हुए भी वे नकारनेकी स्थितिमें नहीं थे—अपने घोड़ेपन-का अहसास !

बारह घण्टे हो गये थे प्रोफ़ेसर अश्विनी-कुमारको अश्वबोध हुए। आज वे बहुत खिन्न थे, व्यग्र थे, चिन्तित थे। सोच रहे थे कि क्या ही अच्छा होता जो यह घोड़े संसारमें न होते। न अश्व होते और न ही उन्हें अश्वबोध होता। "क्या संसारसे घोड़ोंका नामोनिशान नहीं मिटाया जा सकता ?" उन्होंने बिल्लूकी किताब ढूँढ़कर निकाली। जहाँ-जहाँ 'घ' घोड़ेका लिखा था वे पन्ने फाड़कर फेंक दिये। मुन्नेका घोड़ानुमा खिलौना पैरसे कुचलकर तोड़ डाला। जिस कैलेण्डरपर घुड़सवारकी फ़ोटो बनी थी उसे दीवारसे नोंचकर फेंक दिया।

उनका ध्यान रह-रहकर कक्षामें जा रहा था। वह लड़का दूसरे लड़कोंसे कहेगा, वे लड़के अपने-अपने माँ-बापसे कहेंगे, उनके माँ-बाप दूसरोंके माँ-बापोंसे कहेंगे और इस तरह धीरे-धीरे सब जान जायेंगे कि प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमार एक 'इम्प्रैसिव पर्सनेलिटी' नहीं हैं, अपितु अश्व हैं, उनके मुँहसे सौन्दर्यबोध नहीं होता, अश्वबोध होता है—अपने घोड़े-पनका अहसास ! उन्हें लगा सारी दुनिया उन्हें घोड़ा कह रही है। और प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारने जीवनमें पहली बार अपने-आपको असमर्थ पाया था, निरीह अनुभव किया था, किंकर्तव्यविमूढ़ताकी स्थितिमें डूबते हुए महसूस किया था।....

सत्य सचमुच कटु होता है। आज एक सत्य अपने नग्न रूपमें उनके समक्ष उठ खड़ा हुआ था। अब तक वे एक भ्रममें जीते रहे थे। एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्तिकी सुन्दर व शानदार पर्सनैलिटीको अचानक अश्वबोध हो आया था और सारी महत्त्वाकांक्षा, सारा ओज, सारा आत्मविश्वास घोड़ोंकी-सी तेज रफ़्तारसे काफ़ूर हो गया था, उनसे दूर भाग गया था और छोड़ गया था एक अश्वबोध—अपने घोड़ेपनका अहसास !

सारी रात प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको नींद नहीं आयी। बोधिकी विचित्र अनुभूति थी वह। वे विज्ञानके प्रबल समर्थक थे। भौतिकताके विशुद्ध पक्षपाती थे किन्तु चिन्तन-की उस अनुभूतिमें उन्होंने अनुभव किया कि भौतिकता वास्तवमें मिथ्या है। विज्ञानकी हर थ्योरी ग़लत है। पृथ्वी सूर्यके आसपास नहीं घूमती बल्कि सूर्य घूमता है और सूर्य भी नहीं सूर्यदेव घूमते हैं, अपने सप्त अश्वमय रथपर आरूढ़ होकर—जिसमें एक नहीं,

दो नहीं, सात घोड़े जुते हैं, सात प्रबल वेग-वाले अश्व !····

दूसरे दिन उन्होंने दाढ़ी नहीं बनायी। अब वे अपने चेहरेसे परिलक्षित सत्यका सामना करनेसे कतराने लगे थे! उनके अपने चेहरेसे टपकता हुआ अश्वबोध उनसे सहा नहीं जाता था—अपने घोड़ेपनका अहसास!

कक्षामें विद्यार्थियोंकी हाज़िरी भरते समय जब अश्वत्थामाका नाम आया तो उन्हें इस नामसे इस बुरी तरह नफ़रत हो आयी कि उसका पूरा नाम ही नहीं पुकारा उन्होंने। कारण यह कि यही वह नाम था जिसने उन्हें एक नग्न सत्यके दर्शन करवाये थे तथा जिस नग्न सत्यने उन्हें कलसे आजतक परेशान कर रखा था। उन्हें आजके युगमें बढ़ती हुई विद्यार्थियोंकी अनुशासनहीनतापर बहुत क्रोध आया। साथ ही प्राचीनकालीन आश्रम-परम्पराओंपर गौरव भी हुआ जहाँ विद्यार्थी गुरुको देवता मानते थे, उसके चेहरेकी आकृति जानवरोंसे नहीं मिलाया करते थे!

"····त्थामा खड़े हो जाओ।"

सुदामा खड़ा हो गया।

"क्या नाम है तुम्हारा?"

"सुदामा, महाशय।"

"बैठ जाओ सुदामाके बच्चे। वह त्थामा कहाँ है?" प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमार अब अश्व शब्दका उच्चारण भी नहीं कर पा रहे थे क्योंकि अश्व एक सत्य था, नग्न सत्य जिससे साक्षात्कार कर सकनेकी स्थिति-में वे नहीं थे।

और उनकी पैनी आँखोंने कक्षाकी पिछली बेंचपर बैठे हुए अश्वत्थामाको खोज ही निकाला। उनकी आँखोंमें कुछ चमक-सी आयी—एक ऐसी चमक जो भागे हुए अपराधीके पकड़ जानेपर पुलिसवालोंकी आँखोंमें आती है। उन्होंने अश्वत्थामाको खड़े होनेका इशारा किया :

लड़का खड़ा हो गया।

"क्या नाम है तेरा?"

"ए० टी० आस्वा सर, अश्वत्थामा 'बत्रा' महोदय···।"

"बस-बस, हाँ क्या ऊलजलूल सवाल किया था उस दिन तुमने?"

"सर, क्या आदमीके फीचर्स जानवरोंसे मिलते जुलते हो सकते हैं?"

प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारकी आँखोंसे बरसती आगसे लड़का सहम गया। झपटकर अपने साथीकी जेबसे उसका 'आइडेण्टिटी कार्ड' निकालकर प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारको बताता हुआ बोला : "देखिए महाशय··· ये देखिए फ़ोटोमें हनुमानप्रसादके फ़ीचर्स बन्दरसे कितने अधिक मिलते-जुलते हैं।"

प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारने झपटकर आइडेण्टिटी कार्ड छीन लिया। काफ़ी देर तक वे ग़ौरसे कभी फ़ोटोकी ओर देखते कभी हनुमानप्रसादकी ओर। हनुमानप्रसादका मुँह उतर गया था! किन्तु प्रोफ़ेसर अश्विनी-कुमार धीरे-धीरे सन्तुलनकी अवस्थामें आ रहे थे। उनके अपने मनकी अपराध-भावना

दूर हो रही थी ! चौबीस घण्टोंकी बेचैनीके बाद वे राहतका पहला क्षण महसूस कर रहे थे। उन्हें लगा कि उनका सारा अश्व-बोध महज एक ग़लतफ़हमी ही था और वे व्यर्थ ही एक बेकार-से बोधको लेकर चिन्तित रहे थे।

उन्होंने अश्वत्थामाको बहुत डाँटा—इसलिए नहीं कि उसने हनुमानप्रसादके चेहरेको बन्दरसे मिलाया था, बल्कि इस-लिए कि अश्वत्थामा अनजानेमें ही उन्हें बोधिकी एक विचित्र अवस्थामें खींचकर ले गया था, लेकिन इस बातको कोई नहीं समझ सका। काश कि कोई समझ पाता कि बाहर घोड़ा घास चर रहा था और प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारकी आँखें रह-रहकर घोड़ेके मुँहपर जाकर टिक रही थीं। फिर भी वे घोड़ेसे आँखें चार करनेमें सहम रहे थे, क्योंकि घोड़के चेहरेसे उन्हें एक बोध हो रहा था—एक ऐसा बोध जिसका प्रेरणा-स्रोत अश्वत्थामा था—एक ऐसा बोध जो बुद्धिजीवीको ही हो सकता है—एक ऐसा बोध जो अश्वबोध था—अपने बाह्य अस्तित्वका बोध ! प्रोफ़ेसर अश्विनीकुमारका अश्वबोध—अपने घोड़ेपनका अहसास !

■ ■

पटाक्षेप : अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-शक्तियों का असफल नाटक अंकटाड + − = ?

पुष्पधन्वा

अँगरेज़ीमें एक कहावत है—Fame is the last spur of the noble mind—अर्थात् ख्याति अच्छे-अच्छोंको ले डूबती है । लगता है अंकटाडकी कुछ ज़्यादा ही चर्चा हो गयी और जैसे फिर उसे नज़र लग गयी । '७७' देशोंने (जिनकी संख्या अब ८८ हो चुकी है) बड़े सब्र, शान्ति और विश्वाससे काम किया । वे बराबर सोचते रहे कि हम निराशावादी नहीं हैं, निराश न होंगे । इसलिए कि मरीज़ उठ बैठे उन्होंने ऑक्सिजन कैम्प, एनिस्थीज़िया और प्लास्टिक सर्जरीका साज़ोसामान रातोंरात जोड़ डाला । लेकिन बीमारी अन्दर तक पैठ चुकी थी । तिजारतका स्थान राजनीति ले चुकी थी । ऑपरेशन थियेटरमें भीड़ इतनी थी कि वातावरण दूषित हो गया । इस हवाको दूषित करनेमें सभीका हाथ था । विकासशील देश कुछ अधिक ही आशावान रहे, उन्नत देश अपनी मजबूरियोंकी दुहाई देते रहे । हवामें स्वर्ण-हाहाकार, वियतनामके युद्धपर अन्धाधुन्ध खर्च और डॉलर व पाउण्डके अवमूल्यनका ज़हर घुला था ।

तो क्या यह अट्ठावन दिनकी सेवा-शुश्रूषा और व्यय व्यर्थ गया ? नहीं···नहीं···मरीज़ने कई बार आँखें खोलीं और ऐसा ही लगा कि मरीज़ अस्पतालसे घरकी ओर रवाना हो गया ।

मरीज़की रोज़ भरमानेवाली साँसोंकी हरक़तसे एक विदेशी संवाददाताका ध्यान हो आया। हुज़ूर विशेष रूपसे अंकटाडके लिए भेजे गये थे लेकिन उससे उकता कर सिनेमामें जा बैठते थे। पीछेसे सभामें जान पड़ जानेके ख़तरेकी ओर उनका ध्यान खींचा गया तो बड़ी बेबाक़ीसे बोले—"जब मुझे समाचार मिलता है कि सभा-भवनमें कुछ समझौते हुए हैं तो मैं जान लेता हूँ कि बेशुमार कमेटियोंमें कुछ और नयी कमेटियाँ बनकर जा मिली हैं।' आम जनता भी सभाकी समाप्तिके पहले ही जान चुकी थी कि बात कुछ बनेगी नहीं। खुले अधिवेशनमें पब्लिक गैलरी ख़ाली ही-सी पड़ी रहती थी। पर्यटन एजेण्ट और फ़ोटोग्राफ़रोंका धन्धा फ़ीका था। विशेष रेलगाड़ियाँ स्थगित कर दी गयी थीं क्योंकि आगरा, जयपुर, वाराणसी और खजुराहो शायद अब अपनी नवीनता खो बैठे थे या शायद मौसमी पारा ऊपर उठता जा रहा था।

इस अंकटाडने ५१५९ प्रपत्र जारी किये जिनमें कुल जमा ४२,५१७ पन्ने हैं। कुल मिलाकर २७,६९१,११९ स्टेन्सिल कटे। ५६० संयुक्त राष्ट्र-सचिवालय-सदस्योंके अतिरिक्त ५०० और नर-नारियोंने काममें हाथ बँटाया। संयुक्त राष्ट्रसंघने दो मिलियन डॉलर इस सभा-पर ख़रचे। आइए, इस सम्पन्न सभाकी एक अन्तरंग झाँकी लें :

आरम्भमें ही यह जान लें कि अंकटाडका मंच एकमात्र वाद-विवादके ही लिए निर्मित किया गया। यह 'गाट' (G.A.T.T.) जैसी संस्था न थी जिसके निर्णयोंको क़ानूनी ताक़तका सहारा है। विशेष रूपसे दो बातें सामने थीं। पहली वह जिसका बीज 'कैनेडी राउण्डमें' बोया गया कि उस सामग्रीपर-से, जिनमें विकासशील देश दिलचस्पी रखते हैं, सम्पूर्ण टैरिफ़ १९६८ में ही उठा लिया जाये। दूसरा प्रश्न था इन्हीं देशोंके विधायित सामान इत्यादिपर विशेष टैरिफ़-कटौतीका ताकि इन देशोंको निर्यातमें लाभ मिले। बात सही ही है। एक-न-एक दिन उन्नत देशोंका निर्यात एक ऐसे मोड़पर पहुँच जायेगा कि जबतक वे इन देशोंका माल अपने बाज़ारोंमें नहीं लायेंगे उनके अपने मालका विस्तरण भी नहीं हो पायेगा। विकासशील देशोंका विश्वतिजारतमें योगदान जो १९५० के आँकड़ोंके अनुसार, २७ फ़ी सदी था अब सिकुड़कर १६ फ़ी सदी रह गया है। यह प्रतिशत उतारपर ही है। अमरीकाकी औसत प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय ४००० डॉलर है और भारतकी ६७ डॉलर है। साथ ही वे देश इन्हें अपनी लाठीसे हांकते हैं। वे अपने बनाये मालकी ऊँची क़ीमत वसूलते हैं और इनके कच्चे मालकी क़ीमत बढ़ने नहीं देते। इनकी आरक्षित-निधि (Foreigh reserves) गिरती है उनकी चढ़ती है और फलस्वरूप विकासशील देशोंकी निधिसे पाँच गुनी हो गयी है।

अतिरिक्त सहायता वित्त

विकसित देशोंने यह तय किया कि एक ऐसा कोष होना चाहिए कि यदि विकासशील

देशोंको निर्यात-द्वारा प्राप्त पूँजीमें कमी पड़े तो उस कोषसे पूरी की जा सके। किन्तु योजना कार्यान्वित न हो पायी क्योंकि उन्नत देश आपस ही में सहायताके मूलभूत मापदण्डोंके निर्धारणमें एकमत न हुए। मसला अधिक खोजबीनके लिए व्यापार व विकास बोर्डको सौंप दिया गया। १९६९ में इस बोर्डकी मन्त्री-स्तरीय बैठक होगी। उसीमें सम्भवतः इस सम्बन्धमें कुछ तय हो पाये! यों, सिद्धान्ततः इस योजनाका विरोध न होना और विचारके लिए तारीख तय हो जाना उन्नतिशील देशोंकी विजय ही समझनी चाहिए। भारतने प्रस्तावना की कि अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष पैसा निकालनेकी सीमापर जो पूरक-वित्त सुविधा देता है उसका नियत भाग हर देशके लिए बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर देना चाहिए।

किन्तु यह व अनेक अन्य प्रस्ताव सन् '६९ की दराज़में बन्द कर दिये गये। फ़िलहाल बिना शर्त सहायता और क़र्ज़की दरोंमें उतार-के प्रश्नोंपर कोई प्रगति नहीं हुई।

वरीयता निर्धारण

अंकटाडके सामने यह बहुत ही जटिल समस्या थी। इस क्षेत्रमें एक अत्यन्त सीमित ही उपलब्धि हुई क्योंकि विरोधका क्षेत्र बड़ा व्यापक था यद्यपि तर्क भी बड़े ज़ोर-शोरसे हुए। कौन-सा माल किस श्रेणीमें लिया जाये यह तय न हो पाया और इस मसलेको 'खुला' रहने दिया गया है। सभाने यह प्रस्ताव पास किया कि वे सब चाहते हैं कि जल्दी ही एक

अंकटाड : कुछ प्रतिक्रियाएँ

'ओ माइ! आइ हैड अ लवली टाइम टेकिंग सम डेलिगेट्स राउण्ड द सिटी'

—एक सुन्दरी कॉलेज-छात्रा

'अंकटाड या अंकटैड?'

—एक प्राध्यापिका

'मैंने तो कुछ ख़ास फ़ौलो नहीं किया है। वैसे आपको मैटीरियल चाहिए तो निकलवा दूँ।'

—एक समाचार-पुस्तकालयके कर्मचारी

'विज्ञान भवनके सिर एक और स्टेलमेटका सेहरा'

—एक पत्रकार

'क्या बंकटाड?'

—एक हाज़िरजवाब

'वे कुछ कह तो रहे थे! कहाँ लगी हुई है ये नुमायश!'

—एक भोली गृहिणी

'ट्रीनालेसे अवकाश ही नहीं मिला!'

—एक कवि

'अजी आप ये बताओ के चीनी चावलका दाम उतरेगा के नइं!'

—एक चपरासी

○ ○ ○ ○ ○

ऐसी सामान्य, अदलाबदलीकी अन्धी शर्तोंसे दूर और भेदभाव-रहित प्रणाली स्थापित की जाये जो सबको स्वीकार्य हो। फलतः, विकासशील देश अपनी निर्यात आयको बढ़ा सकेंगे, उनके उद्योग भी बढ़ेंगे और उनकी आर्थिक दशा भी सुधरेगी। इसके लिए एक विशेष कमेटी बनेगी जिसकी बैठक नवम्बर-में होगी और आशा की जाती है कि १९७० में इस प्रकारकी प्रणाली लागू हो सकेगी।

पहले तो विकासशील देशोंने कहा था कि यदि अंकटाड वरीयतापर समझौते नहीं कर पाती है तो सभा व्यर्थ ही समझी जानी चाहिए। लेकिन सौदेबाज़ीमें उन्होंने इस आश्वासनपर ही सन्तुष्ट हो जानेमें अक़ल-मन्दी समझी कि इस विषयपर बातचीत जारी रहेगी। सभान्त तक यह बात साफ़ हो गयी थी कि वरीयताके विषयमें उन्नत देश पिछले नवम्बरमें तय पायी 'युरॅपीय भाईचारा व विकास आयोग' योजना (O. E. C. D.) से ज़्यादा कुछ और देने-लेनेको तैयार नहीं थे। इस तरह विकासशील देशों-की विधायित-कृषि-सामग्रीमें वरीयताकी बात यहीं खत्म हो जाती है।

निर्यात-सामान

आशाके विपरीत इसमें वह सफलता न मिल पायी जिसकी अपेक्षा थी। सभामें केवल सब सदस्योंको न्योता दिया गया कि वे जिन्स व्यवस्थाके सामान्य समझौतेपर जारी की गयी सचिवालय-व्याख्या-रिपोर्टपर अपनी-अपनी टिप्पणी दें। जब उनकी सम्मतियां आ जायेंगी तभी जिन्स-कमेटी तथा व्यापार और विकास बोर्ड मिलकर सामान्य-समझौतेकी अन्तिम रूपरेखा निर्धारित करेंगे और उसे लागू करनेकी दिशामें क़दम उठाना तय करेंगे।

'७७' चाहते थे कि बातचीत और समझौतोंके वर्तमान उपकरणोंके स्थानपर अन्तर्राज्यीय सलाहकार आयोगोंकी स्थापना हो। यहाँ समाजवादी देश जी-जानसे उनके साथ थे। लेकिन बात कुछ न बनी। यही दशा भारतके उस प्रस्तावकी हुई जिसमें प्राथमिक-जिन्सके उत्पादकोंके बीच विमर्शकी बात रखी गयी थी ताकि उनके अधिकार सुरक्षित रहें। पश्चिमने इसे भी वीटो कर दिया क्योंकि उन्हें क़ीमतोंकी सौदेबाज़ीमें नुक़सान गले पड़नेका डर था। यह दूसरी बात है कि इस प्रस्तावके अस्वीकारका कारण उन्होंने यह बताया कि 'हवाना चार्टर' के अनुसार उत्पादक और उपभोक्ता पारस्परिक बातचीतके लिए विवश नहीं हैं।

नौ वहन

अंकटाड सचिवालयकी रिपोर्टने बताया कि यदि व्यापारी नौबेड़ेमें धन लगाया जाये तो शोधन-सन्तुलन (Balance of Payments) दशा सुधरती है। १९६१ में किये मूल्यांकनके अनुसार विकासशील देशोंने वहन-शुल्कके रूपमें लगभग ४९०० मिलियन डॉलर दिया जिसका अधिकतर भाग उन्नत देशोंके पास पहुँचा। व्यापार-संचार और निर्यात लाभमें जहाज़ोंका अपना महत्त्व है।

बन्दरगाहोंपर प्रस्ताव पास तो हुआ किन्तु उनका आधुनिकीकरण करनेके लिए पैसेकी मदद कैसे मिले, बड़ी समस्या यही है।

इस सम्बन्धमें भारतीय प्रस्ताव कि अन्तर्राष्ट्रीय-विधानका समावेश होना चाहिए, १९ के बदले ७३ वोटोंसे पास हुआ। वोट देनेमें ५ अनुपस्थितियाँ थीं जिनमें फ़ॉरमूसा भी शामिल है। खुले अधिवेशनमें जो प्रस्ताव पास हुए उनमें यह चर्चा उठायी गयी कि उन्नत देश अस्थगित विक्रय-दरों' (Deferred Payments) और कम सूद-पर जहाज़ बेचनेकी ओर ध्यान दें। जहाज़ी बीमाके बारेमें भी इसपर ज़ोर दिया गया कि उन्नतिशील देशोंसे बीमेकी रक़म कमसे कम ली जाये।

इंगलैण्ड-जैसी बड़ी जहाज़ी ताक़तने इस ओरसे '७७' को निरुत्साहित किया। उसका कहना था कि विकासशील देशोंको इस क्षेत्रमें क़दम बढ़ानेकी लालसा नहीं पालनी चाहिए। यह क्षेत्र बेहद प्रतियोगितासे भरा है और इसमें निराशा ही मिलनेकी सम्भावना है क्योंकि इन देशोंके पास इस मैदानमें जमनेकी न तो कार्य-क्षमताका पैमाना है और न ही कार्य-प्रणालीका अर्थ-ज्ञान।

आर्थिक सहायता

इस दिशामें एकमात्र उपलब्धि यह थी कि भविष्यमें संकुल-राष्ट्रीय-उत्पादन (G. N. P.) का १% (कुल राष्ट्रीय आय का नहीं) विकासशील देशोंको सहायता रूप प्राप्त हो सकेगा। इस तरह निर्धारित सहायता-राशि ३०,००० मिलियन डॉलर और बढ़ जायेगी। स्वीडन और नार्वे १९७५के बाद यह १% देनेको तैयार थे किन्तु अमरीका और इंगलैण्ड अपने हाथ बाँधनेको तैयार न हुए क्योंकि उनकी अपनी शोधन सन्तुलनकी समस्याएँ सामने आ गयीं। अमरीका किसी हालतमें ऐसी कोई तारीख़ निर्धारित करता न दिखाई दिया जबसे वह अपनी सहायताको निर्बन्ध करना स्वीकार कर ले। वह तो सहायता-निर्बन्धताकी बातसे ही कन्नी काट गया। कारण भी स्पष्ट ही है—वियतनामकी लड़ाईका व्यय-भूत अमरीकाको कुण्डली मारे हुए है। आगामी राष्ट्रपतिका चुनाव भी उसके पैर बाँधे है। माना कि वह इस लड़ाई-पर ३०,००० मिलियन डॉलर सालाना व्यय कर रहा है किन्तु इस राशिमें उसका विदेशी मुद्रा-व्यय केवल १५०० मिलियन डॉलर ही है। फिर भी दुनियाके तमाम विकासशील देशोंकी प्रगतिके लिए आवश्यक कुल जमा ३०,००० मिलियन डॉलरमें वह अपना योग-दान इस सैद्धान्तिक संकटकी स्थितिमें भला कैसे दे सकता है।

केवल फ्रान्सने १% की मंज़िलपर पहुँचनेकी निकटतम तिथि सुनायी और वह थी—१९७२ ई०।

इन देशोंने सभाकी अन्तिम बैठकमें अपने-अपने मन्त्री ही नहीं भेजे जिससे कि उन्हें कोई वायदा न करना पड़ जाये। आर्थिक कमेटीमें उसका ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया कि 'मार्शल प्लान'में लगभग १२,५०० मिलियन डॉलर युरॅपमें उँड़ेल दिया

गया था जिससे जर्मनी और दूसरे देश महायुद्धसे खण्डित अपनी अर्थ-व्यवस्थाका पुनर्वास कर सकें। यद्यपि यह देश इस राशिको क़र्ज़के रूपमें लेनेमें समर्थ थे, यह उन्हें यों ही, बिना शर्त, दे दी गयी थी। भारतने याद दिलाया कि इस प्लानके अतिरिक्त अमरीका और कनाडाने ५००० मिलियन डॉलर क़र्ज़ भी दिया था जो ५० वार्षिक समान क़िश्तोंमें २% सूदपर वापस होना था। शुरूमें पाँच सालका रियायती समय भी दिया गया था। सिरपर पड़ती देख इंगलैण्डका प्रतिनिधि बिदक गया। उसने कहा कि भारतने यह नया शोशा छोड़ा है और इससे विकासशील देशोंको कोई लाभ होनेवाला नहीं है। किन्तु इन सब दबावोंसे इतना तो हुआ कि इंगलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी भी, यदि सब अन्य सहायक देश इसपर एकमत हों तो, सहायताको निर्बन्ध करनेपर राज़ी हो गये।

और अन्तमें....

लेन-देन कुछ हुआ या न हुआ, प्रस्ताव उठे और गिरे परन्तु एक प्रस्ताव एकमतसे पास हुआ। सारेके सारे सदस्योंने एक स्वर होकर सभा समाप्तिसे पहले करतल ध्वनिकी गूँजके साथ प्रतिनिधियों और गजराज-अंकटाडके लिए संयोजित भारतके अति-उत्तम प्रबन्धोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

पहली अंकटाडके विपरीत इस सभाने सीधे-सीधे रोटी-पानीकी चर्चा की और इसलिए ही इस बार कशमकश भी काफ़ी हुई। कुछ और बातें साफ़ हुईं जैसे कि—फ्रान्स और अमरीकाके बीच असली लड़ाई राजनीतिक है। वरीयता लागू न होनेसे फ्रान्सका आर्थिक लाभ बना रहता है। जिसे वह सहायताके रूपमें 'युरॅपीय साझा बाजार' (E. C. M.) को दे सकता है। इस तरह पेरिसका राजनीतिक प्रभाव इन देशोंपर बढ़ता चला जाता है। और शायद इसी फ्रान्सीसी पाँसेको अमरीका उलटना चाहता है। जापानको भी चिन्ता हुई। वह अपनी राष्ट्रीय नीतिपर आँच न आने देते हुए उन्नत देशोंके साथ क़दम मिलाना चाहता है। वरीयताके प्रश्नपर उसे भी भारी चिन्ता होती है कि कहीं उसके ट्रांज़िस्टर रेडियोका बोलबाला बेसुरा न हो जाये।

समाजवादी देशोंसे भी रियायतें पानेकी बात की गयी लेकिन हाथ कुछ न लगा। रूसके दबावपर यह बात खत्म हो गयी। यद्यपि चेकोस्लोवाकिया और हंगरीका रुख इस तरफ़ था। मॉस्कोकी दलील थी कि विकासशील देश जो छूटें माँग रहे हैं उनकी पूर्त्ति करना पश्चिमका काम है। अपने उपनिवेशिक पापोंकी क़ीमत उन्हें चुकानी ही चाहिए।

यह ज़रूर है कि समाजवादी देशोंका रुख हितकर दिखाई दिया क्योंकि उनके प्रस्तावमें यह आश्वासन था कि अपने व्यापारके क्षेत्र और गठनको बढ़ायेंगे। यदि विकासशील देशोंकी प्राथमिक जिन्स-क़ीमतें प्रतिस्पर्द्धात्मक हैं तो वे माल उनसे ही खरीदेंगे। वे प्राथमिक-जिन्सके मूल्योंकी मात्रा व स्थिरताके बारेमें विलम्बित समझौते करेंगे। कच्चे

[शेषांश पृष्ठ १५० पर]

चार दिनों का नाटक !

वाराणसी में आयोजित हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह

पद्मधर त्रिपाठी

हिन्दी रंगमंचकी अवतारणा हुए सौ वर्ष हो चुके हैं। ज़ाहिर है कि अपने रंगमंच-की इस लम्बी उम्र (शतवार्षिकी) पर हमें प्रसन्नता होगी, विशेष रूपसे काशी-वासियोंको—और शायद इसीलिए अपनी प्रसन्नताका सर्वप्रथम इज़हार हिन्दीकी प्रतिष्ठित संस्था नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) ने इस अवसरपर आयोजित चार दिवसीय 'हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह' के माध्यमसे किया। यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि सभा-द्वारा आयोजित यह समारोह भी बहुत हद तक किसी नाटक-से कम रोचक और दस्तावेज़ी नहीं कहा-माना जायेगा।

अंक एक : दीपदान : ३ अप्रैल १९६८

नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा मनाये गये इस समारोहका शुभारम्भ १८६८ के 'असेम्बली रूम्स' और आजके 'राधा स्वामी बाग़' (?) में कलश-पूजन और दीपदान-से हुआ। शंखध्वनि और तालियोंकी तड़तड़ाहटके बीच पहला दीप जलाया समाज शास्त्री और पुराने राजनीतिज्ञ, काशी विद्यापीठके उपकुलपति प्रो० राजाराम शास्त्री-ने। फिर समारोहमें उपस्थित अन्य विशिष्ट लोगोंने भी दीप जलाये।—और दीप

जलनेके साथ ही बातें शुरू हुईं, जिनका होना स्वाभाविक भी था। बातोंकी शुरूआत करते हुए सभाके प्रधान मन्त्रीने आजके दिनका महत्त्व बताया और जोरदार शब्दोंमें कहा कि जिस प्रकार रवीन्द्र शती समारोहके समय विभिन्न स्थानोंपर रवीन्द्र भवनोंकी स्थापना की गयी, उसी प्रकार हिन्दी-प्रेमी इस अवसरपर अपनी सीमा और सामर्थ्यके अनुसार आधुनिक हिन्दी रंगमंचोंकी स्थापना करें तभी इस शती समारोहका कुछ महत्त्व और मूल्य हो सकता है। सुधाकरजी की अपीलको बल मिला प्रो० राजाराम शास्त्रीके कथनसे : रंगमंच सामयिक सामाजिक स्थितिका प्रतिबिम्ब होता है। जैसी सामाजिक अवस्था होती है वैसा ही उसका रंगमंच होता है। अतः जिन प्रवृत्तियोंको हमें अपनाना है उन्हींके अनुरूप हमें रंगमंचका भी निर्माण करना होगा।

● अंक दो : भारतेन्दुकी देहरीपर : ४ अप्रैल १९६८

शतवार्षिकी समारोहका दूसरे दिनका आयोजन आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंचके जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके आवास 'भारतेन्दु भवन' में आयोजित था। उस दिन वहाँ भारतेन्दुजीके चित्रों और उनकी पाण्डुलिपियोंकी प्रदर्शनी लगायी गयी थी। समारोहमें उपस्थित 'रंगमंच प्रेमियों' ने प्रदर्शनी देखनेके बाद भारतेन्दुजीको श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं।

अध्यक्ष पदसे श्री श्रीप्रकाशजीने मानो उनके 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नतिको मूल' की व्याख्या करते हुए भारतेन्दुजीको श्रद्धांजलि अर्पित की और कहा कि भारतेन्दुका सबसे बड़ा गुण यही था कि उन्होंने किसी दूसरी भाषापर आघात किये बिना अपनी भाषाकी उन्नति की और उसमें विविध प्रकारके उत्कृष्ट साहित्यकी रचना की। नाटकोंकी चर्चा करते हुए श्रीप्रकाशजीने बताया कि साहित्यका महत्त्वपूर्ण अंग नाटक होता है, क्योंकि वह वास्तविक जीवनको सामने प्रस्तुत करता है। वास्तवमें नाटक एक ऐसा साधन है जिसके माध्यमसे हम अपने-आपको देख सकते हैं। अन्य वक्ताओंमें, हिन्दी विधि-आयोगके सदस्य श्री बालकृष्णका जहाँ यह कहना था कि भारतेन्दुने अस्थि-मज्जा-मांस-पिण्डमें आध्यात्मिक चेतना पैदा की और मनुष्यको मानवताकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा दी वहीं श्री करुणापति त्रिपाठीने उन्हें युगबोधसे सम्पन्न क्रान्तिचेता पुरुष बताया और कहा कि भारतेन्दु रूढ़ियोंके विरोधी और परम्पराके उन्नायक थे। अपने साहित्यके द्वारा वे समाजमें क्रान्ति लाना चाहते थे और उसे संस्कारित करना चाहते थे। डॉ० भानुशंकर मेहताने भारतेन्दुको बहुमुखी

प्रतिभाका धनी बताया और श्री लक्ष्मीशंकर व्यासने भारतेन्दुके क्रान्तित्वके इस पक्ष-पर बल दिया कि उन्होंने केवल नाटकोंकी रचना ही नहीं की, नाटकोंके अभिनयकी भी उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। और फिर अन्तमें धन्यवाद देते हुए श्री सुधाकर पाण्डेयने कहा कि भारतेन्दुजी स्वदेशी और स्वतन्त्रताके 'श्रीगणेशकर्ताओं' में थे। नाटकके क्षेत्रमें तो वे अद्वितीय थे ही। फिर उन्होंने पुनः अपील की कि इस अवसर-पर हमें ऐसे रंगमंचको स्थापनाका प्रण करना चाहिए जिसमें सारा भारतवर्ष अपनी आत्माका दर्शन कर सके।

• अंक तीन : प्रसाद मन्दिरमें : ९ अप्रैल १९६८

पिछले दिनके नाटकका खुमार उतरा भी न था कि ५ अप्रैलकी शामको फिर उसी निदेशन और उन्हीं मुद्राओंमें परदा उठा! मज़ेकी बात एक यह भी हुई कि सर्वश्री अमृतलाल नागर, पृथ्वीराज कपूर, वाचस्पति पाठक और रुद्र काशिकेयके अलावा मंचपर आज भी वही-वही लोग अवतरित हुए जो कलके मंचपर आ चुके थे, यानी—सर्वश्री सुधाकर पाण्डेय, डॉ० भानुशंकर मेहता, विधि आयोगके सदस्य बालकृष्ण, करुणापति त्रिपाठी, लक्ष्मीशंकर व्यास। वही-वही स्वर और वही-वही बातें! कुछ मामूली फेर-बदलके साथ वही मन्त्रपूत शब्द भारतेन्दुके लिए भी और 'प्रसाद' के लिए भी! कहना न होगा कि यह प्रसंग निस्सन्देह इस सचाईको प्रमाणित करता है कि काशीमें सफल अभिनेताओंकी वाक़ई बहुत कमी है।—और राय कृष्ण-दास, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र वर्मा, डॉ० देवराज, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, डॉ० बच्चन सिंह, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, निर्गुण आदि तथ्यतः 'मंच' के क़तई प्रतिकूल हैं! ख़ैर, अक्सर होता यही है कि मुग़ालतेमें हम बिना पात्रताका खयाल किये ग़लत अपेक्षाएँ सँजो लेते हैं और उन्हें पूरी न होते देख खीझते हैं, झुँझलाते हैं।....हमें 'भारतेन्दु' और 'प्रसाद' की आत्माओंसे यह कहकर क्षमा माँगनी पड़ी कि असलमें यह सारा कमाल उस राजनीतिका है जिसकी कृपावश आज किसी साहित्यकारकी अपेक्षा राजनीतिके मामूली झण्डाबरदार भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं! बहरहाल...

इस तीसरे अंकके भी कार्यक्रम थे : प्रसादजीके चित्रों और पाण्डुलिपियोंकी नुमायश, माल्यार्पण, श्रद्धांजलियाँ और 'रसपान'। माल्यार्पणके बाद पहली श्रद्धांजलि दी 'रुद्र'काशिकेयने। रुद्रजीने बताया कि प्रसादजीके नाटक-लेखनकी शैली कुछ और

ही थी, जिसे कोई छू नहीं सका। भारतेन्दुजी यदि हिन्दी नाटकके जन्मदाता थे तो प्रसादजी उसके उन्नायक और पोषक।

प्रसादजीके सहकर्मी और मित्र श्री वाचस्पति पाठकने अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा कि हिन्दीमें रंगमंच है ही नहीं—यह कहना ग़लत नहीं होगा। वस्तुतः इस दिशामें अपेक्षित प्रयास ही नहीं किया गया। इस सन्दर्भमें काशीको ही लिया जा सकता है, जहाँके लोग यह दम्भ तो अवश्य करते हैं कि हिन्दीमें रंगमंचकी अवतारणा सौ साल पहले सर्वप्रथम यहीं हुई थी, किन्तु यहां आजतक सम्पन्न रंगमंचका निर्माण नहीं हो सका है। पाठकजीने नाटकोंको मनो-रंजन-करसे मुक्त करानेके लिए सरकारपर दबाव डालनेकी भी अपील की।

अध्यक्ष पदसे श्री अमृतलाल नागरने प्रसादजीको विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की और रंगमंचके विकासकी एक संक्षिप्त और रोचक कहानी सुनायी। नागरजीने यह भी कहा कि बिना रंगमंचके नाटक अधूरा है, रंगमंच ही उसकी शोभा है। प्रसादजीके नाटकोंको अनभिनेय बतानेवालोंका प्रतिवाद करते हुए नागरजीने कहा कि प्रसादजीने नाटकोंमें पुरानी परम्परा तोड़ी है। वे नयी धाराको समझनेवाले एक समर्थ व्यक्ति थे और नये रंगमंचकी स्थापनाके लिए उन्होंने बराबर संघर्ष किया। पश्चिममें ब्रेख्त-जैसे नाटककार आज जिस रंगमंचकी आधुनिकताके नामपर दोहाई दे रहे हैं उसे भारतमें 'भँड़ैती' और 'नौटंकी' कह कर काफ़ी पहले छोड़ा जा चुका है।

और अन्तमें श्रद्धांजलि अर्पित की श्री पृथ्वीराज कपूरने। पृथ्वीराजजीने प्रसादजीके तथाकथित अनभिनेय कहे जानेवाले नाटकोंपर टिप्पणी करते हुए कहा कि महाकविने जो लिखा है वह व्यर्थ नहीं जायेगा। उनके नाटक यदि अबतक मंचपर नहीं प्रस्तुत किये जा सके तो इसमें निराश होनेकी बात नहीं है। शेक्स-पीयरके नाटक भी पचास साल तक मंचपर प्रस्तुत नहीं हो सके थे, क्योंकि उनके योग्य उस समय अभिनेता ही नहीं थे। इस अवसरपर पृथ्वीराजजीने एक प्रीति-कर घोषणा भी की कि इस बार फ़िल्मोंसे संन्यस्त होनेपर वे श्री जयशंकर प्रसादके नाटकोंको मंचपर अवश्य ही प्रस्तुत करेंगे। बल्कि अत्यन्त विगलित होकर उन्होंने कहा था कि 'यदि मैं इस जन्ममें प्रसादजीके नाटकोंको रंगमंचपर न प्रस्तुत कर सका तो अगले जन्ममें करूँगा, लेकिन करूँगा ज़रूर।'

फिर धन्यवाद ज्ञापनके साथ यह तीसरा अंक भी समाप्त हुआ और अगले अंककी तैयारी···

• अंक चार समापन : ६ अप्रैल १९६८

एक ख़ूबसूरत शाम : नागरी प्रचारिणी सभाके प्रांगणमें हिन्दी रंगमंच शत-वार्षिकी समारोहका मुख्य आयोजन। आयोजनमें वाराणसीके विशिष्ट नागरिक, रईस, राजनीतिक नेता आदि उपस्थित हैं। यदि नहीं हैं तो केवल साहित्यकार। इस मुख्य समारोहकी अध्यक्षता कर रहे हैं श्री पृथ्वीराज कपूर। सभाके बाहर शोर हो रहा है, नारे गूँज रहे हैं····और अन्ततः काफ़ी सतर्कताके बावजूद भारतके गृहमन्त्री श्री यशवन्तराव चह्वाणके विरोधमें परचे, नारे और घेराव।···· यहाँतक कि श्री चह्वाण ज्यों ही समारोह-उद्घाटनके लिए खड़े होते हैं, एक नौ-दस सालका किशोर गृहमन्त्रीके विरोधमें नारे देता है। पुलिस उसे भी पकड़कर हिरासतमें ले लेती है। ख़ैर····

कार्यक्रमकें प्रारम्भमें नागरी प्रचारिणी सभाके अध्यक्ष श्री कमलापति त्रिपाठी-ने श्री यशवन्तराव चह्वाण और श्री पृथ्वीराज कपूरका स्वागत किया। और फिर समारोहका उद्घाटन करते हुए श्री चह्वाणने कहा कि रंगमंच साहित्यका ऐसा रूप है जिसे विचार-संकीर्णता सीमाओंमें नहीं बाँध सकती, जिसे भाषाकी विभिन्नता विवादका विषय नहीं बना सकती और जिसे राजनीतिक मतभेद उसकी लोक-प्रियतासे वंचित नहीं कर सकते। इसीलिए हमारा दृष्टिकोण केवल राजनीतिक अथवा केवल साहित्यिक नहीं होना चाहिए। समयकी माँग है कि हम मानवीय तथा सामाजिक दृष्टिकोणको भी प्रोत्साहन दें। विशेष रूपसे नाटकोंके सम्बन्धमें श्री चह्वाणने कहा कि नाटक यथार्थ जीवनसे बहुत निकट होनेके कारण समाजसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जीवन-सम्बन्धी वास्तविकताओंके आधारपर ही नाटकों-की सफलता आँकी जा सकती है। समाजसे सीधे सम्बद्ध होनेके कारण नाटक जीवनकी सच्चाईकी अवहेलना नहीं कर सकता। नाटक तो सर्वकला-सम्पन्न होता है—इस दृष्टिसे भी वह साहित्यिक प्रतिभाका प्रतिनिधि रूप है। और आजके परि-वेशमें तो नाटक या रंगमंचकी अवहेलनाकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि बौद्धिक और भावात्मक स्तरपर सामाजिक जीवनकी धड़कनोंको समझना आजके युगमें जितना रोचक है उससे अधिक आवश्यक भी है। अपने वक्तव्यके अन्तमें श्री चह्वाणने हिन्दी नाटकके जनक भारतेन्दुजीको अपनी श्रद्धांजलि भी अर्पित की।

श्री पृथ्वीराज कपूरने समारोहके अध्यक्ष पदसे दिये गये अपने भाषणमें रंग-मंचको राजनीतिसे पृथक् रखनेकी जोरदार अपील की और यह चेतावनी भी दी कि राजनीतिके घुसनेसे रंगमंचका विध्वंस हो जायेगा। श्री वाचस्पति पाठकको ही

भाँति पृथ्वीराजजीने भी आज रंगमंचको लोकप्रिय बनानेके लिए देश-भरमें उसपरसे मनोरंजन-कर माफ़ करनेकी माँग करते हुए कहा कि मनोरंजन-करकी मुक्तिसे देश-भरमें नाटक और रंगमंचको प्रोत्साहन मिलेगा और उनकी जड़ें मज़बूत होंगी।

भाषणोंके बाद काशीकी पुरानी नाटचसंस्था 'नागरी नाटक मण्डली'ने सभामें निर्मित मंचपर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक प्रस्तुत किया। प्रस्तुतकर्ताओंके अनुसार इस प्रस्तुतिकी विशेषता थी कि यह उसी सौ वर्ष पुराने परिवेशमें रंगमंचपर प्रस्तुत किया गया जिस रूपमें वह भारतेन्दुजीके समयमें खेला जाता रहा होगा। बहुत अंशोंमें यह दावा सही भी था क्योंकि मंचपर प्रकाशके लिए गैस-बत्तियोंकी व्यवस्था थी, परदे, पात्रोंकी वेशभूषा और संवादकी शैली भी वही पुरानी थी तथा महिला पात्र 'शैव्या'का अभिनय भी भारतेन्दुके समयकी भाँति एक पुरुषने ही किया था। नाटकका निदेशन डॉ० भानुशंकर मेहता कर रहे थे।

और अन्तमें एक बात और—हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोहके अवसरपर नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा आयोजित 'चार दिनोंके नाटक'का समापन 'जन गण मन'से नहीं, प्रसिद्ध ठुमरी-गायिका श्रीमती गिरिजा देवीके गायनसे हुआ!··· निस्सन्देह काशीकी 'नाटच-प्रेमी' जनताके लिए इस समारोहकी सफलताएँ प्रीतिकर और एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होंगी, लेकिन कुछ ऐसे भी ज़रूर होंगे जिन्हें नाटकका यह समापन नहीं रुचा होगा और उन्होंने चुपचाप यह याद कर लिया होगा—'दिल पे जब कोई चोट खाते हैं, अहले-दिल और मुसकराते हैं!'····

[पृष्ठ १४४ का शेष : अंकटाड···]

और पक्के मालपर प्रशुल्कके खत्म करने या कम करनेपर भी वे राज़ी हैं। उन्हें यह भी मंज़ूर है कि वे विकासशील देशोंके लिए मालका पुनः निर्यात नहीं करेंगे। इस प्रस्तावपर बोलते हुए भारतने कहा कि व्यापार-विकासमें यह ठोस प्रतिवादन है।

सम्भवतः कुछ विज्ञोंका यही विचार है कि वास्तविक लाभ अंकटाडकी बैठकके बाहर ही हुआ। सैकड़ों सम्भाव्य क्रेता साथ बैठे, मिले-जुले और उन्हें पता चला कि भारत नटों और सँपेरोंका देश ही नहीं है। भारतकी व्यापार-मंजूषामें पहली बार फ्रेंच-भाषी केमरून्ज़ और ब्राज़ीलके अनुबन्ध-रत्न सहेजे गये। पहली बार भारत और श्रीलंकाने साथ-साथ बैठकर पूर्वी अफ्रीकाके संवरणे चाय पी और इस पेयके विषयमें वार्तालाप भी किया। भारत और थाईलैण्डमें पटसनको लेकर कई मुलाक़ातें हुईं। और पाकिस्तानके हमारे देशमें दो संवाददाता भी पधारे। १९६५ की लड़ाईके बाद यह पहला मौका। अंकटाडने दोनों देशोंको मैत्रीका प्रदान किया।

हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह

कलकत्ता में आयोजित
नाट्य परिसंवाद गोष्ठी

सतीश मोदी

●२३ मार्च १९६८

कलकत्ताका 'शिक्षायतन कॉलेज' और अनामिका कला संगम-द्वारा आयोजित हिन्दी रंगमंच—शतवार्षिकी समारोह। गोष्ठीके प्रथम दिनके अध्यक्ष कलकत्ता विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० कल्याणमल लोढ़ा, संयोजक विष्णुकान्त शास्त्री। अतिथियोंमें नाटककार मोहन राकेश, नाटक-समीक्षक सुरेश अवस्थी और नेमिचन्द्र जैन, कन्नड़के युवक नाटककार गिरीश करनाड, बंगलाकी विख्यात नाट्य संस्था बहुरूपीके परिचालक शम्भु मित्र।

गोष्ठीका विषय रखा गया था : हिन्दीका रंगमंच और दर्शक-वर्ग, अर्थात् हिन्दी रंगमंच और प्रेक्षककी एक-दूसरेसे क्या अपेक्षाएँ हैं ? उन अपेक्षाओंकी पूर्ति हो सकती है या नहीं ? क्या नाटककी सफलता दर्शकके परितोषमें ही है ? इस सन्दर्भमें नाटककारका क्या दायित्व होना चाहिए।

इस विषयपर बोलते हुए नेमिचन्द्र जैनने अपने निबन्धमें कहा कि किसी भी नाटकके अभिनयके लिए दर्शक-वर्ग आवश्यक है, बिना दर्शकके नाट्य-रंजनका कोई अर्थ नहीं है, किन्तु नाटककार इसके लिए बाध्य नहीं है कि दर्शक जो चाहता है वही सब-कुछ वह अपने नाटकोंमें दे। दर्शकको रंगमंच तक लानेके लिए नाटकोंमें विभिन्न प्रकारके आकर्षणोंका समावेश करना पड़ता है। इस प्रकार दर्शक-वर्गकी प्राप्ति होनेपर एक छोटी-सी नाट्य-संस्था भी विराट् उद्योगके रूपमें परिवर्तित हो सकती है, जैसा कि अमेरिका, इंगलैण्ड आदि देशोंमें होता है। नेमिजीने देहाती और शहरी—दो जन-समुदायकी बातें बतायीं। देहातमें नौटंकी देखनेके लिए बहुत अधिक मात्रामें दर्शक जुटते

थे। सिनेमा, रंगमच आदिके प्रभावसे नाटकोंकी लोकप्रियता कम हो गयी है, क्योंकि आज शहरोंमें रहनेवाले अधिकांश व्यक्ति देहातोंसे आये होते हैं। शहरी जनसमुदाय देशी भाषाओंको निकृष्ट मानते हैं तथा विदेशी भाषाओंको ही ज्ञानका अक्षय भण्डार मानकर चलते हैं। उनकी रुचि, उनका रंगबोध भी विदेशीपन लिए होता है, वे फ़ैशनपरस्त होते हैं, भीतरसे खोखले होते हैं, ढोंगी होते हैं।

दूसरा जनसमुदाय वह है जो नाटक करता है, देखता है किन्तु सिर्फ़ मनोरंजन चाहता है। जीवनसे सम्बन्धित किसी समस्याकी सार्थक खोजमें उनकी दिलचस्पी नहीं होती। तीसरे प्रकारका जनसमुदाय नाटकको कलात्मक कृति मानता है—जो बोधकी दृष्टिसे कभी सन्तुष्ट नहीं होता।

ऐसा सामान्य रूप शीघ्र नहीं मिल सकता जिससे सभी सन्तुष्ट हो सकें। समाजमें कई वर्ग हैं, उनके लिए अलग-अलग नाटक हैं, क्योंकि उनके रंगबोध, भावबोध अलग-अलग हैं। समस्या सिर्फ़ रंगमंचकी ही नहीं है, सामाजिक भी है, सांस्कृतिक भी है। दर्शक वर्गका निर्माण भी हमें करना है और उसको प्रबुद्ध बनानेका दायित्व भी अपने ऊपर लेना होगा। क्योंकि 'मून लाइट'का दर्शक 'अनामिका' का दर्शक कदापि नहीं हो सकता। नाटकका अभिनय अच्छा हो—हम अपनी आन्तरिक प्रेरणासे नाटक खेलें, सिर्फ़ मनोरंजनके लिए नहीं। इसके लिए प्रबुद्धता आवश्यक है। हमें भारतीय मानसके साथ गहराईमें प्रवेश करना होगा। तड़कभड़कको त्याग दें, सादगी हो, सम्प्रेषणके लिए आन्तरिक अभिव्यक्ति नितान्त आवश्यक है। यह सच है कि विश्वमें रंगमंचको वही आगे ले जानेवाले हैं जो बौद्धिक हैं, जो गम्भीर नाटक खेलते हैं। नया दर्शक-वर्ग बनेगा—यह निश्चित है। जो दर्शक अभी हमें प्राप्त हैं, उनकी गिरती रुचियोंको रोकना प्रथम कार्य है। नाटककार दर्शक-वर्ग, समाज, रुचियों, शिक्षा आदिकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

डॉ० सुरेश अवस्थीने पश्चिमी देशोंके रंगमंचोंकी सफलताका उल्लेख करते हुए कहा कि—दर्शक-वर्गकी समस्या सभी देशोंमें रही है। पश्चिमी देशोंमें टेलिविजनने रंगमंचको एक नया मोड़ दिया है। उसी प्रकार यहाँ रंगमंचपर सिनेमाका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। जिसके चलते रंगमंचकी महत्ता कम हो गयी है। पश्चिममें टेलिविजनमें देखनेके बाद लोग उसे पुनः रंगमंचपर देखना चाहते हैं, इससे रंगमंचके प्रति लोगोंकी रुचि बनी हुई है।

गिरीश करनाडके विचारसे अधिकांश दर्शक सिर्फ़ मनोरंजनके लिए नाटक देखते हैं। हमें दर्शक प्राप्त नहीं हैं तो इसमें नाटककारका दोष है। वे ऐसा नाटक दें जो दर्शक चाहता है।

मोहन राकेशका कहना था कि हम लोग पढ़े-लिखे हैं, इसीलिए सन्तुष्ट नहीं हैं नाराज हैं—किसी विषयपर चर्चा करते हैं—वह भी एक बिन्दुपर स्थिर होते नहीं। आज हिन्दी रंगमंच सीमित है, इस

लिए प्रयोग भी सीमित परिधिमें हो रहे हैं। रंगमंच और दर्शकके बीच एक खाई है। गिरीश करनाडके इस विचारसे मैं कुछ हद तक सहमत हूँ कि नाटककार ही दोषी है; किन्तु दर्शक वैसा है कहाँ ? वह तो उदासीनताकी स्थितिमें गम्भीर नाटक देखता है, अतः संस्कारमें परिवर्तन आवश्यक है। यह ठीक है कि हमारे पास नाटक नहीं हैं, कुछ नाटक हैं जिनका अभिनय सफल नहीं हुआ। जिस समाजमें, समुदायमें हम जी रहे हैं, उस समुदायकी अपेक्षाको ध्यानमें रखकर कुछ करें—यह आवश्यक नहीं।

आज मनुष्यकी ढेर सारी समस्याएँ हैं—जीवन संघर्षमय हो गया है, जटिलताके जालमें मनुष्य फँसा हुआ है—इन सभी मूल्योंका चित्रण आजके नाटकमें हम नहीं पाते। पश्चिममें ऐसे प्रयोग हो रहे हैं। वे दर्शक-वर्गको अपने साथ रखना चाहते हैं। एक अच्छी कॉमेडी भी गम्भीर नाटकका रूप ले सकती है, और मनोरंजनके साथ-साथ मनुष्य-मनके भीतरी संघर्षको भी प्रतिफलित करते हैं। ऐसे प्रयोग यदि किये जायें तो वे नितान्त अपने होंगे। किन्हीं भी तत्त्वोंको मिलाकर सोचना है—ऐसी कोशिश मात्र कोशिश बनकर रह जाती है, और कोशिश फ़ार्मूला है—फ़िल्मी गीतकी तरह नाटक वैसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि फ़ार्मूला फ़ार्मूला है—जबतक वह मनुष्यके संस्कारसे उद्भूत नहीं हो।

विख्यात बंगला नाट्य संस्था बहुरूपीके परिचालक शम्भु मित्रने बंगलामें बोलते हुए कहा कि आजकी गोष्ठीका जो विषय रखा गया है, कि रंगमंचको दर्शक प्राप्त नहीं हैं, उसे कैसे रंगमंच तक लाया जाय—यह समस्या एक घरमें रहनेवाली विवाह योग्य लड़कियोंकी तरह ही है, उन लोगोंके सेमीनारकी तरह कि किस प्रकार पुरुषोंको फाँसा जाय। अपनेको विविध प्रसाधनोंमें सजाना, हाव-भाव, साज-सज्जा, गान-नृत्य आदि सीखकर ही पुरुषोंको लुभाया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार दर्शकको रंगमंचतक लानेके लिए नाटकमें विविध आकर्षणोंका समावेश करना होगा। पश्चिमवालोंके सामने भी यही प्रश्न है कि दर्शक नाटक देखने क्यों नहीं आते ? अधिकांश दर्शकोंको नाटक अच्छे नहीं लगते।

मेरा विचार है कि स्कूलोंमें बच्चोंको अन्य पुस्तकोंकी तरह यह शिक्षा भी देनी चाहिए कि आगे चलकर वे कैसे बौद्धिक दर्शक हो पायेंगे।

आज हमारे देशमें सामाजिक नेता नहीं हैं, राजनैतिक नेता अनेक हैं। अँगरेज़ चले गये, फिर भी हम अपने बच्चेको अँगरेज़ी स्कूलोंमें पढ़ने भेजते हैं। अपने देशके साधारण मनुष्योंके साथ हमारा मेल-जोल नहीं हो पाता। उनके साथ हम बातें नहीं कर सकते। यही बात नाटकके साथ भी लागू होती है। सामान्य दर्शककी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

● २४ मार्च १९६८ : चर्चा—परिचर्चा

गोष्ठीके परिचालक थे श्यामानन्द जालान। विद्वानों और श्रोताओंके बीच

प्रश्नोत्तरके रूपमें कार्यक्रम आरम्भ हुआ। विषय वही था—आजका हिन्दी रंगमंच और दर्शक—अथवा रंगमंच और दर्शकके बीचकी खाईको कैसे पाटा जाये ?

इसका उत्तर देते हुए अभियान, दिल्लीके परिचालक राजेन्द्र नाथने कहा कि—हम सब लोग किसी सचकी तलाशमें रहते हैं, किन्तु उससे मिलती-जुलती चीजको ही सच मान लेते हैं, वस्तुतः हम भ्रमके शिकार हो जाते हैं। मेरा अनुभव तो दिल्ली तक ही सीमित है। मैं जो भी कहूँगा दिल्ली-रंगमंचको ध्यानमें रखकर ही कहूँगा ! प्रश्न उठता है कि दर्शक नाटक देखने क्यों नहीं आता। मेरा विचार है दर्शक है ही नहीं, फिर वह क्या चाहता है, इसका प्रश्न ही नहीं उठता। दर्शक खुद नहीं आया करते—उन्हें पकड़कर लाना पड़ता है उन्हें लानेके लिए क्या करना चाहिए—यही समस्या है !

दिल्लीमें कुछ ऐसे थियेटर हाल हैं—जहाँ दर्शकोंका पहुँचना ही मुश्किल है। किसी भी नाट्य-संस्थाके लिए श्रेष्ठ नाटक खेलना महँगा पड़ जाता है, वस्तुस्थिति यह होती है कि आमदनी नहींके बराबर। सरकारकी ओरसे थियेटर चलाया जाये, लोगोंमें थियेटर तक जानेकी आदत डाली जाये। फिर प्रश्न उठता है कि थियेटर कैसा हो ? मेरे विचारमें हर तरहका थियेटर हो तो किसीको भी शिकायतका मौक़ा नहीं मिलेगा।

प्रतिमा अग्रवाल : क्या बात है कि दिल्लीके एक दल 'थ्री आर्ट्स क्लब' को दर्शक आसानीसे मिल जाते हैं, फिर दूसरे दलको दर्शक क्यों नहीं मिलते ?

राजेन्द्र नाथ : वे एक विशेष प्रकारका नाटक खेलते हैं, जिनमें हास्य होता है, कॉमेडी होती है—मनोरंजन होता है। रमेश मेहताका दल संगठित हो चुका है—२५ वर्षोंसे वे नाटक खेलते आ रहे हैं, इसलिए अब उनको दर्शकके न मिलनेकी शिकायत नहीं होती। इतना होनेपर भी वे अधिक नाटक नहीं खेलते। यह भी सच है कि यदि वही नाटक दूसरा दल करेगा तो उसे दर्शक नहीं मिलेगा।

कुन्था जैन : जहाँतक मेरा विचार है दिल्लीमें अभिनीत 'अन्धा युग'-जैसे गम्भीर नाटकको देखनेके लिए बहुत लोग आये थे।

नेमिचन्द्र जैन : दर्शक-वर्गके स्तर भिन्न-भिन्न हैं—मनोरंजक, आकर्षक नाटकको दर्शक मिल पाते हैं—गम्भीर नाटकोंको देखनेवाले भी एक विशेष समुदायके दर्शक होते हैं। जहाँतक 'अन्धा युग'के प्रदर्शनका के प्रश्न है, खुले मंचपर उसका अभिनय हुआ था—प्रयोग सफल रहा, किन्तु दर्शकोंकी संख्या सीमित थी। कुल २०० सीटें थीं, यदि सात दिन अभिनय हुआ तो कुल मिलाकर १४०० दर्शक हुए।

मोहन राकेश : एक विशेष ध्यान देने लायक़ बात यह है कि जैसा नाटक रमेश मेहता खेलते हैं, उस जगह तक दूसरे नहीं पहुँच पाते। जैसे गुलशन नन्दा जैसा उपन्यास लिखते हैं, वैसा लिखनेवाले दूसरे लेखक भी हैं, किन्तु जितने पाठक गुलशन नन्दाको

पढ़ते हैं, दूसरोंको उतने पाठक नहीं मिलते। राजेन्द्रनाथके इस मतसे सहमत हूँ कि हिन्दीमें दर्शक-वर्ग नहीं है, क्यों नहीं है, उसके लिए क्या करना है? यही सोचना है।

गिरीश करनाड : मैसूरमें भी दो प्रकारके दर्शक हैं। एक प्रकारके दर्शक भारी संख्यामें नाटक देखते हैं। दूसरे प्रकारके दर्शक बहुत कम आते हैं।

नेमिचन्द्र जैन : जहाँतक मद्रासकी बात है, वहाँके लेखकोंने हँसी-मजाकके नाटक लिखकर अपने लिए दर्शक बना लिया—मद्रास तथा बंगालके नाटकोंमें फ़िल्म अभिनेता भी अभिनय करते हैं, व्यक्तियोंके आकर्षणसे लोग नाटक देखने जाते हैं। फिर उन नाटकोंमें सांस्कृतिक जीवनकी झाँकी रहती है, संगीत-नृत्यसे परिपूर्ण—इन आकर्षणोंके कारण दर्शक अधिक जाते हैं।

कुन्था जैन : यह ठीक है कि एक दलके पास दर्शक हैं, दूसरेके पास नहीं। किन्तु हमें शिकायत यह है कि हमारे पास अच्छे नाटक नहीं हैं। यदि अच्छे नाटक हों तो दर्शक मिलेंगे ही। गिरीश करनाडका 'तुग़लक' दिशान्तर-द्वारा अभिनीत किया गया था, जो काफ़ी सफल रहा। मोहन राकेशका 'आषाढ़का एक दिन' काफ़ी गम्भीर नाटक है, किन्तु इसके अभिनयके समय भी काफ़ी मात्रामें दर्शक आये। इन बातोंसे प्रमाणित होता है कि नाटक हास्य-प्रधान हों या समस्या-प्रधान—उनका प्रस्तुतीकरण कैसा हुआ—यह प्रमुख तत्त्व है। 'लहरोंके राजहंस' भी सफल रहा। यह लेखकपर निर्भर करता है कि नाटककी रसकी प्रक्रिया तक वह कैसे पहुँचे। 'सुनो जनमेजय' आधा पढ़कर मैंने छोड़ दिया था, अच्छा नहीं लगा, किन्तु वही नाटक जब 'दिशान्तर'-द्वारा अभिनीत हुआ तो देखकर स्तब्ध रह गयी। इसी प्रकार 'गणदेवता', 'कंजूस', 'तुग़लक' आदिको भी काफ़ी सराहा गया! 'सुनो जनमेजय'की अभूतपूर्व सफलताके लिए मोहन महर्षिको बधाई देनी चाहिए, कि उसे इस प्रकार प्रस्तुत कर सकनेमें वे सफल हुए!

मोहन राकेश : हिन्दी नाटकको ऐसा दर्शक-वर्ग प्राप्त नहीं जिसपर निर्भर रहा जा सके। नये प्रयोग यदि हम करें तो कितने दिन चलेंगे—पाँच-सात शो चलें किन्तु सौ-दो-सौ अभिनय करके (भिन्न-भिन्न नाटकों का) भी यदि दर्शक प्राप्त हो जायें तो परिश्रम सार्थक मान लिया जाना चाहिए। दर्शक नहीं हैं—यह भी बहुत सच नहीं है। दर्शक हैं किन्तु हालके बाहर हैं, उन्हें भीतर लानेका प्रयत्न करना होगा। किन्तु नाटककार दर्शककी रुचिके साथ समझौतेकी बैसाखीका सहारा न लें। तकनीकी समृद्धि अवश्य हो।

श्रीकान्त शास्त्री : (श्रोता) आठ-आठ घण्टे ऑफ़िसमें खटकर आनेवाले कर्मचारियोंकी ऊब मिटानेके लिए गम्भीर नाटकको आप सरस रूपमें प्रस्तुत कर सकते हैं?

श्यामानन्द जालान : आपके विचारसे नाटककी परिभाषा यह हुई कि वह ऊब मिटानेका साधन है!

डॉ० सुरेश अवस्थी : लेखक दर्शकसे समझौता कर नाटक लिखें? जिस युगमें वह

रह रहा है, उस युगके परिवेशसे अलग कैसे रह सकता है—दर्शकोंकी इच्छा, रुचिकी अवहेलना नाटककार नहीं कर सकते ?

वासु भट्टाचार्य : ('तीसरी क़सम' फ़िल्मके दिग्दर्शक) मैं जानता हूँ, दर्शक क्या चाहता है ! यह मैं जानता हूँ, यदि वे जानते तो आज जो हो रहा है, वह नहीं होता। दर्शक भी नहीं जानता कि वह क्या चाहता है ? पहले दर्शक यह जानें कि वह क्या चाहता है, फिर वह रंगमंचसे उसकी अपेक्षा करे। नाटक, फ़िल्म आदि 'पार्ट टाईम' जॉब है।

हम लोग साधारण जीवनको जीते हैं, अनुभव करते हैं, लिखते हैं। हमारा अनुभव जितना व्यक्तिगत होगा उतना ही यूनिवसल होगा। हिन्दी फ़िल्मोंकी यही ट्रैजेडी है। यदि उसमें हम यथार्थ चित्रण करेंगे तो सभी देखेंगे, प्रशंसा करेंगे।

इस गोष्ठीके वाद-विवादके मध्य कई प्रश्न उभरकर आये। श्रीकान्त शास्त्री प्रेमलता, मनमोहन ठाकौर, नेमिचन्द्र जैन (कलकत्ता) ज्ञानवती लाठ आदिने समस्याके विभिन्न पहलुओंपर विचार प्रकट किये। जो बातें, शिकायतें दर्शकोंके मनमें घुमड़-घुमड़कर रह जाती थीं, उन्हीं बातोंको खुलकर कहनेका साहस किया। कुछ समाधान भी सुझाये। इस प्रकार गोष्ठी रोचक वातावरणमें चलती रही।

परिणामस्वरूप कुछ निष्कर्ष निकले कि हिन्दी रंगमंचको दर्शक मिल सकते हैं, यदि नाटककार दर्शककी रुचियोंके साथ समझौता कर नाटक लिखें। उनमें बौद्धिकताके साथ-साथ मनोरंजन भी हो। हँसी-मजाक़में ही कोई चुभती-सी बात कह दी जाये।

नाटकोंके टिकिटोंके दाम इतना कम कर दें कि साधारण दर्शक भी रुचिके साथ नाटक देख सके। नाटकोंका अभिनय वर्षमें सौ-दो सौ बार हो।

अन्तमें प्रो० कल्याणमल लोढ़ाने अपने भाषणमें कहा कि जिस पश्चिमकी दुहाई हम बार-बार देते हैं वहाँ रंगमंचकी समस्या दूसरे रूपमें है। वहाँका रंगमंच सुव्यवस्थित है, परिष्कृत है। वहाँ समस्या है दर्शक-वर्गको रखनेकी। हमारी समस्या है दर्शक-वर्गको पानेकी। आजका दर्शक व्यक्ति-केन्द्रित हो रहा है। समाज और व्यक्तिके बीच एक मानसिक विघटन उत्पन्न हो गया है। दर्शक व्यक्तिबोध और व्यक्तिकेन्द्रित होते हुए भी हालमें समाजगत हो जाता है। मॉमने लिखा है कि—मेरे सम्पूर्ण अनुभवोंका सार यह है कि दर्शक-वर्ग प्रबुद्ध होते हुए भी उतना प्रबुद्ध नहीं होता, व्यक्तिबोधके धरातलपर होते हुए भी रागात्मक बोध तक नहीं पहुँच पाता। दर्शकका अपना रागात्मक धरातल है, उसे जानना लेखकके लिए आवश्यक है।

अन्तमें नन्दलाल सुरेका-द्वारा धन्यवाद ज्ञापनके साथ गोष्ठी विसर्जित हुई। ■

Price Annual Rs. 15.00. This Copy Rs. 1.50.
For abroad extra postage 24 P.
GYANODAYA : May 1968

License No 51. Licensed to post without prepayment of postage. REGD. No. L-2036

भारतीय ज्ञानपीठके लिए जगदीश अग्रवाल-द्वारा दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५ से प्रकाशित तथा सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसीमें मुद्रित।

[जू]न १९६९ | मूल्य १.५०

ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और
अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान
और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

[स्थापित १९४४ ई०]

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

विक्रय कार्यालय
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध, कला-संचेतना और
नवोनता का प्रतिनिधि मासिक

वर्ष २० : अंक १२

जून १९६९

सम्पादक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

मूल्य : वार्षिक १५.००, १.५० प्रति अंक

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानोदय

जून १९६९

प्रतिक्रियाएँ : पत्रांश

मई अंक में प्रकाशित रचना 'क्या जीवन के प्रश्नों के उत्तर अहिंसा के पास हैं ?' के लेखक श्री वीरेन्द्र कुमार गुप्त को लिखे गये श्री जैनेन्द्र कुमार के २ मई के पत्र का अंश—

प्रिय वीरेन,

कल तीसरे पहर 'ज्ञानोदय' का मई अंक मिलते ही तुम्हारा लेख फिर पूरा पढ़ गया। गहरा और सारभरा चिन्तन है तुम्हारा। मैं लगभग पूरी तरह सहमत हूँ। शब्दों के प्रयोग में थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है, आशय में नहीं। 'सत्य-नैतिकता' के विकास में तुम आशा पाते हो। 'नैतिकता' का क्षेत्र परस्परता का है इस लिए। 'अहिंसा' जब कि निरपेक्ष सिद्धान्त-सूत्र है। रूढ़ और प्रचलित 'अहिंसा' की हालत यही है। पर मेरे मन की 'अहिंसा' का विचार परस्परता के सन्दर्भ के बाहर सम्भव ही नहीं है। फिर नैतिकता का विचार बेहद सापेक्ष हो जाता है। इस तरह 'सत्य-नैतिकता' की जगह मेरे लिए 'सत्य अहिंसा' का पद अधिक ग्राह्य बन आता है। लेकिन यह निरी शब्द और भाषा की बात है। यों इस लेख में तुम्हारी चिन्तन-प्रक्रिया मुझे बहुत सार्थक और आज के समय के लिए बड़ी उपयोगी मालूम हुई है।

—तुम्हारा जैनेन्द्र

दिल्ली–६]

●

"दर्शन और चिन्तन निष्प्राण न हो जायें इस लिए कभी-कभी यह आवश्यक होता है कि कोई व्यक्ति परम्परागत विचारसरणि पर साहस के साथ एक प्रश्नचिह्न लगा
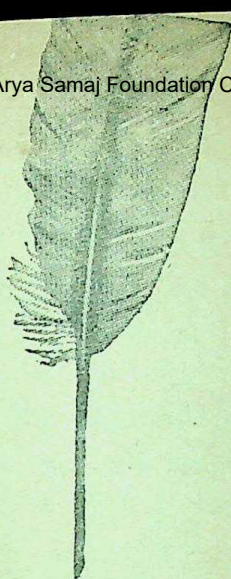
दे,'''नये प्रकाश ने तीव्रता के साथ क्या उद्भाषित किया और दर्शक इस चकाचौंध के कारण क्या कुछ देखने से वंचित रह गया; तथा समग्र दृष्टि वास्तव में क्या है—यह सब समझने का अवसर साहसी व्यक्ति ही हमें देते हैं,"—प्रसन्नता की बात है कि मई अंक में प्रकाशित श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त के लेख 'क्या जीवन के प्रश्नों के उत्तर अहिंसा के पास हैं ?' के साथ आप की पंक्तियाँ सार्थक हुईं। वस्तुत: वीरेन्द्र जी ने एक सही और समग्र दृष्टि को उजागर करने में साहस दिखाया है। उन की ये पंक्तियाँ हम सब के लिए, और विशेषकर आज की कलही राजनीति के महानायकों के लिए—अहिंसा जिन के लिए सिद्ध-कवच का काम करती है, गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं कि : "अहिंसा और सत्य-नैतिकता के बीच असामंजस्य ही नहीं, गहरी खाई है जिसे पाटा नहीं जा सकता, भले ही कितने ही अतिरिक्त अर्थ अहिंसा से चिपकाये जायें। सामाजिक और सांसारिक सन्दर्भ में कूटनीतिक के सिवा और कोई प्रयोजन अहिंसा सिद्ध नहीं करती। अहिंसा इतनी असांसारिक और नकारी है कि मानव की व्यक्तिगत या सामाजिक प्रकृति वह बन ही नहीं सकती। प्रशासनिक और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिकता के स्तर पर उसे लागू करने की बात प्रवंचना के सिवा और कुछ नहीं है।"

अवश्य ही इतने गम्भीर और महत्त्वपूर्ण सामयिक प्रश्न पर सहचिन्तन जरूरी है। 'ज्ञानोदय' के प्रति आभार कि इस मुद्दे पर उस ने पहल किया।

पीलीभीत]

—सुदर्शन एम० ए०

'ज्ञानोदय' के मई अंक में प्रकाशित कहानियाँ। वैसे तो हिन्दी कहानी व्यावसायिकता की अन्धघाटी में इस क़दर फँस गयी है कि उस से उस के उबरने की कल्पना भी अब बेमानी लगने लगी है। तमाम पत्र-पत्रिकाएँ इस सत्य की गवाह हैं। हाँ, 'ज्ञानोदय' के अंकों में प्रायः अच्छी कहानियाँ पढ़ने को मिल जाती हैं। लेकिन, क्षमा करेंगे, इस अंक की कहानियों को पढ़ कर बड़ी निराशा हुई। 'कथान्वेषण : सुबह तक' को छोड़ शेष चारों (हिन्दी की) कहानियाँ कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से 'ज्ञानोदय' के योग्य नहीं लगीं। अवश्य ही इस अंक की सर्वोत्कृष्ट कहानी, अनुवादगत कई खामियों के बावजूद, सेआड फाटोहाजिक की 'सच्चरित्र स्त्री, लोना' है।

—इन्द्रा तिवारी

वाराणसी–५]

●

मई अंक में प्रकाशित कविताओं के लिए बधाई लें। सेज़ार वेलेजो और केशव कालीधर की कविताएँ विशेष पसन्द आयीं। 'काव्य कणिकाएँ' भी मर्मस्पर्शी और प्रभावपूर्ण हैं।

—अशोक सक्सेना

लखनऊ]

●

ज्ञानोदय का मई अंक। साहित्य के सूर्य-पात्र में तो साग का एक कण ही सारे विश्व को तृप्त करने में समर्थ होता है, और फिर यह अंक तो कई महत्त्वपूर्ण रचनाओं से भरापुरा है। विशेष रूप से मेरा संकेत 'विरूपाक्ष', 'ज़रूरत क्या है', 'नयी कहानी की भाषा' और 'ओ हेनरी : एक कॅन्फ़ेशन' शीर्षक रचनाओं की ओर है। मैं यह दावे के साथ कहना चाहूँगा कि समसामयिक हिन्दी-लेखन में 'विरूपाक्ष' जैसी सशक्त रचना पढ़ने को नहीं के बराबर मिलती।....

'नारी की मुसकानें और महाकाव्य के कमल का खिलना' लेख अपने-आप में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी 'जबर्दस्त तान्त्रिक भाषा' के कारण काफ़ी ठस हो गया है। भाषा कुण्डली मार कर इस क़दर यदि गुम न हुई होती तो निस्सन्देह यह लेख अपने विषय-क्षेत्र की उपलब्धि माना जाता।

—रमण माडगूलकर

पूना–४]

■ ■

स्वर्गीय डॉ० ज़ाकिर हुसेन को भारतीय ज्ञानपीठ परिवार की भावभीनी विनम्र श्रद्धांजलि :

डॉ० ज़ाकिर हुसेन भारत के तृतीय राष्ट्रपति थे। वह देश के एक विशिष्ट विद्वान् थे, चिन्तक मनीषी, सृजेता शिक्षाविद् और विवेकशील राजनीतिज्ञ। अपने नितान्त सादे, आडम्बरमुक्त और निष्कलुष तपस्वी जीवन के द्वारा उन्होंने सदा भारतीय संस्कृति को प्रतिच्छवित किया।

गान्धी जी के आदर्शों का अनुसरण करते हुए, शिक्षा के क्षेत्र में तो उन्होंने अत्यन्त मूल्यवान कार्य किये ही, राजनीति के सहज पंकिल क्षेत्र में भी उन का कृतित्व उज्ज्वल और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे उन महान् व्यक्तियों में से थे जो यथार्थ में देश और देश के जन-जन के प्रति समर्पित थे।

१३ मई १९६७ को राष्ट्रपति-पद का गुरु-गम्भीर दायित्व-भार ग्रहण करते हुए उन्होंने कहा था : "समूचा देश अब मेरा घर है और यहाँ के निवासी मेरा परिवार।" उन की भावना कितनी स्वाभाविक थी और कितनी सार्थक हुई, यह इसी से प्रकट है कि सारा देश आज शोक-सन्तप्त है।

८ फ़रवरी १८९७ को हैदराबाद में उन का जन्म हुआ था और बहत्तर वर्ष दो मास तीन दिन की आयु प्राप्त कर के ३ मई १९६९ को दिन के ११.२० पर हठात् हृदय की गति रुक जाने के कारण शरीरान्त हुआ। भगवान् उन की साधु आत्मा को चिरशान्ति प्रदान करे और दुःखनिमग्न परिवार को यह क्षति-वेदना सहने की शक्ति !

चतुर्थ साहित्य पुरस्कार सम्मान महाकवि पन्त को

इस वर्ष के लिए ज्ञानपीठ साहित्य-पुरस्कार के निर्णय की उत्सुक प्रतीक्षा की जा रही थी। २८ अप्रैल १९६९ को प्रातः ९.३० बजे प्रवर परिषद् की बैठक हुई। प्रस्ताव-प्राप्ति से ले कर निर्णय तक समूची पुरस्कार-प्रक्रिया के सुचारु निर्वाह का अन्तिम दायित्व प्रवर परिषद् पर ही रहता है। डॉ० बेजवाड़ा गोपाल रेड्डी परिषद् के अध्यक्ष हैं और अन्य सदस्य हैं : डॉ० रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, डॉ० हरेकृष्ण महताब, डॉ० नीहार रंजन रे, डॉ० कर्ण सिंह, डॉ० ख्वाजा ग़ुलामुस्सैयदैन, महाकवि गोविन्द शंकर कुरुप, डॉ० आदित्यनाथ झा, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीमती रमा जैन (अध्यक्षा भारतीय ज्ञानपीठ), श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन (मन्त्री ज्ञानपीठ एवं सचिव-सदस्य प्रवर परिषद्)।

बैठक में परिषद् के सदस्यों ने प्रत्येक संस्तुत पुस्तक से सम्बन्धित मन्तव्यों-सूचनाओं आदि पर गम्भीर एवं व्यापक रूप से विचार-विमर्श किया और सर्वसम्मति से इस वर्ष पुरस्कार के लिए श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य-संग्रह 'चिदम्बरा' का वरण किया। यह चौथा पुरस्कार है : वर्ष १९६८ का, और भारतीय भाषाओं की १९४५ से १९६१ के बीच प्रकाशित सर्जनात्मक साहित्यिक कृतियाँ इस के लिए विचारित हुईं। वर्ष १९६५, १९६६ और १९६७ के पुरस्कार विगत तीन वर्षों में क्रमशः महाकवि गोविन्द शंकर कुरुप, श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय और सम्मिलित रूप से डॉ० कु० वें० पुट्टप्पा तथा डॉ० उमाशंकर जोशी को समर्पित किये गये। पुरस्कार के लिए चुनी गयी इन की कृतियाँ थीं : 'ओटक्कुष़ल', 'गणदेवता', 'श्री रामायण दर्शनम्' एवं 'निशीथ'।

देश का यह सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार है; और सर्वोच्च केवल पुरस्कार की राशि के कारण नहीं, बल्कि विशेषकर इस लिए कि इस की समूची प्रक्रिया में निर्धारित प्रकाशनावधियों की कृतियों के यथाविधि निरीक्षण-परीक्षण एवं तुलनात्मक मूल्यांकन में, देश की संविधान-विहित सभी भाषाओं के जाने-माने डेढ़ सौ से अधिक साहित्य-समीक्षकों का सहयोग रहता है। पुरस्कार सम्मान द्वारा कृती साहित्यकार का अभिनन्दन वस्तुतः उस का अखिल भारतीय अभिनन्दन होता है और इस प्रकार वह प्रतीकित करता है कि समकालीन भारतीय साहित्य में पुरस्कार के लिए चुनी गयी कृति एक विशिष्ट कृति है। भारतीय ज्ञानपीठ का विनम्र गर्व यह है कि उस ने अपनी देश की भावात्मक एकता विषयक दृढ़ प्रतीति और आधुनिक भारतीय भाषाओं में कृती साहित्य-रचना को प्रोत्साहित करने की दृष्टि-भावना को एक नया सार्थक आयाम देने के लिए इस वार्षिक साहित्य-पुरस्कार का प्रवर्तन किया।

'चिदम्बरा' के प्रणेता महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त को यह पुरस्कार-सम्मान इसी वर्ष शरदकाल में समर्पित किया जायेगा। समकालीन भारतीय साहित्य-सृजेताओं में उन का स्थान विशिष्ट है। ये इस युग के उन इने-गिने कृती भारतीय साहित्यकारों में हैं जिन्होंने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया है; पन्त जी ने तो हिन्दी-काव्य को नयी दिशा, नयी ऊर्जा, नये भावायाम दे कर उसे महिमान्वित किया है, 'चिदम्बरा' उन की तेईसवीं काव्यकृति है और विभिन्न साहित्यिक विधाओं की प्रकाशित सब चालीस कृतियों में बत्तीसवीं। यह उन की काव्य-चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायिका है। इस में 'युगवाणी' से ले कर 'अतिमा' तक की उन की रचनाएँ संचयित हैं; साथ ही 'सौवर्ण' और 'आत्मिका' आदि कुछ अन्य परवर्ती रचनाएँ भी हैं। इस प्रकार जहाँ 'पल्लविनी' में १९१८ से १९३६ तक के उन के उन्नीस वर्षों के कृतित्व के पदचिह्न देख मिलते हैं, 'चिदम्बरा' में उस से आगे १९३७ से १९५७ तक के बीस वर्षों की विकास-श्रेणी का विस्तार प्रत्यक्ष होता है।

'चिदम्बरा' की कविताओं में मनुष्य के अन्तर के शक्तिमय अमृतत्व के प्रति उन की अडिग आस्था व्यक्त हुई है; और मात्र व्यक्त ही नहीं हुई है यह आस्था, उन की परिपक्व लेखनी ने उसे प्रभावशाली रूप दिया है। उन के अपने शब्दों में: "वर्तमान के संघर्ष और संहार की विभीषिका से भी अधिक महत् तथा शक्तिमय जो अमृतत्व का सागर आज संवेदनशील हृदयों के भीतर नवीन चेतना ज्वारों में उठ कर मानव अन्तर के नवजीवन बोध के स्तरों को स्पर्श कर रहा है, उस का मंगल सन्देश कैसे भुलाया जा सकता है। इस युग के विक्षोभ का मुख्य कारण है मानव जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों में सामंजस्य अथवा सन्तुलन का अभाव। आज हमें भूत-अध्यात्म, यथार्थ आदर्श सम्बन्धी अपनी धारणाओं को अधिक व्यापक बना कर उन्हें एक-दूसरे के निकट लाना है। जिस प्रकार कभी भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्मोहन से दिग्भ्रान्त हो गया था, उसी प्रकार आज के शिखर-राष्ट्र भौतिक क्षमता से मदोन्मत्त हो विश्व-जीवन एवं मानवता को विनाश की ओर ले जाने की स्पर्धा कर रहे हैं। मुझे मानव-चेतना पर विश्वास है, वह इस अणु-संहार के नृशंस हिंस्र नाटक को अवश्य ही नवीन निर्माण तथा रचना-मंगल की दिशा एवं भूमिका दे कर मानवता की प्रगति का द्वार उन्मुक्त कर सकेगी।"

'चिदम्बरा' में संचयित सब १९६ कविताएँ इसी भाव-दृष्टि और दृष्टि-सृष्टि को रूप-स्वर प्रदान करती हैं। इस का प्रथम संस्करण १९५८ में प्रकाशित हुआ था। महाकवि पन्त के व्यक्तित्व और कृतित्व का विस्तृत परिचय अंक में अन्यत्र प्रस्तुत किया जा रहा है। ■■

श्रेयस्-सन्धानी कवि पन्त

•

विष्णुकान्त शास्त्री

कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त का स्मरण करते ही मेरी आँखों के आगे मूर्त्त हो उठती है—दिल्ली की एक धूसर सन्ध्या ! दिनांक ९ अक्टूबर १९६१ । दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में पन्त जी के सम्मान में उन के रूस-गमन के पूर्व आयोजित मंगल-गोष्ठी। समवेत साहित्यकारों की शुभकामनाओं के लिए आभार मानते हुए सब के अनुरोध पर पन्त जी अपनी प्रसिद्ध कविता सुना रहे हैं : "जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन!" कैसी अपूर्व शक्ति है उन में भाव-प्रेषणीयता की ! कविता जैसे साकार हो उठी । इतना मधुर स्वर और ऐसी कोमल तन्मय प्रार्थना ! मानो अपने सामने विराजमान 'महाजीवन' को सीधे सम्बोधित करता हुआ वह महाकवि कह रहा हो कि, हे संसृति के सावन !

बरसो कुसुमों में मधुवन
प्राणों में अमर प्रणय धन
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में
उर अंगों में सुख यौवन !
छू-छू जग के मृत रजकण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का,
दे प्राणों का आलिंगन !

उन के हाथों की सूक्ष्म क्रियाएं भाव को स्पष्ट करने में अद्भुत रूप से सहायक हो रही हैं। मुझे निराला का काव्यपाठ याद आ गया! ओह, कितना अन्तर है दोनों के काव्यपाठ में, एक जैसे तरंगायित शक्ति सिन्धु हो तो दूसरा जैसे ज्योत्स्नामण्डित स्वर्ण निर्झर। किन्तु कितना साम्य है दोनों में काव्यनिष्ठा की दृष्टि से। दोनों के लिए कविता जीवन्त प्रक्रिया है आत्माभिव्यक्ति की। सच, मेरा तो दृढ़ विश्वास हो गया है कि कविता सुनने की चीज़ है, पढ़ने की नहीं!

और शुभकामनाओं के उत्तर में दिया गया, उन का वह छोटा-सा सारगर्भ वक्तव्य : "मेरी आशा है कि मैं भारत के बाहर भी एक ही मूलभूत मानवता का साक्षात्कार कर सकूँगा। विदेशों से ग्रहण करने की कई कोटियाँ होती हैं। बाहर जा कर बालक समस्त जीवनधारा को ही आत्मसात् करता है, युवक सौन्दर्यबोध एवं भावुकता को, वृद्ध मंगलपीठिका को! मंगलपीठिका की खोज की कामना ही मुझे विदेश ले जा रही है। वहाँ जो कुछ मिलेगा उसे मैं सब के साथ अवश्य बाँट लूँगा।[१]

उस श्रेयस्-सन्धानी कवि की निश्छल, सरल वाणी हृदय को छू गयी थी, इसी लिए उस की याद आज भी है। देने की बात वे स्वयं कैसे कहते, किन्तु मुझे लगता है कि कर्म-ज्वर से ग्रस्त रूस के हिल्लोलित जन समुद्र को भारत की आत्मा के निष्कम्प हिमालय का सन्देश देने के सब से योग्य अधिकारी पन्त जी ही हैं।

पन्त जी उनहत्तर वर्ष के हो गये हैं, यह सच है, किन्तु वे वृद्ध हो गये हैं, यह कहना झूठ है। अभी पिछले ही वर्ष इलाहाबाद में दिसम्बर के पहले सप्ताह में अनामिका के नाटक 'मन माने की बात' के प्रदर्शन के समय उन के दर्शन का पुनः सौभाग्य मिला था। कलकत्ते में हिन्दी रंगमंच के अभ्युदय की साधना में रत संस्था को अपना स्नेह देने वे इलाहाबाद की कड़ाके की सरदी के बावजूद महादेवी जी के साथ पधारे थे। नाटक की विनोदमयी स्थितियों में वे बालकों की तरह खिलखिला कर हँस उठते थे। उन क्षणों में मैं नाटक देखना छोड़ उन्हें ही देखने लगता था। मुझे लगा कि उन की प्रार्थना को स्वीकार कर उन के चित्रकार ने उन के यौवन के अंचल में ही नहीं, सारे जीवन के अंचल में उन का भोला बालापन चित्रित कर दिया है! हम लोगों की धारणा के अनुसार उस दिन उस नाटक का प्रदर्शन उतना अच्छा नहीं हो पाया था, जितना अच्छा होना चाहिए था, किन्तु पन्त जी सरस भाव से उस की प्रशंसा किये चले जा रहे थे। नाटक की समाप्ति के बाद वे ग्रीन रूम में जा कर कलाकारों से मिले। उन की आत्मीयता-भरी शुभकामनाएं और बधाइयाँ पा कर कलाकार पुलकित हो गये।

बढ़ती हुई उम्र जैसे उन के हृदय की शुभ्र सरलता को मलिन नहीं कर पायी है, वैसे ही उन की सुकुमार सरस मुखमुद्रा को

---

१. लेखक की १९६१ ई० की डायरी में सुरक्षित।

विरस नहीं कर पायी है। आज भी इन्हें देखने के बाद देखते रहने का मन करता है। 'घने लहरे रेशम के बाल' आज भी उसी खूब-सूरती से कढ़े और सजे रहते हैं। हाँ, अब वे सुनहले न रह कर रूपहले हो गये हैं, जिस से मुख की सौम्यता और बढ़ गयी है। रंग वैसा गोरा नहीं रहा, कुछ संवला गया है, पर उस का पानी क़ायम है। प्रशस्त ललाट पर शोभित बालों का कलात्मक कुण्डल उस की रेखाओं से प्रतिहत नहीं हो सका है। पतली धनुषाकार भौंहें, तीखी नाक आज भी किसी जायसी को प्रेरणा दे सकती हैं। तरल विश्वास से दीप्त कल्पनाप्रवण, पारदर्शी नेत्र प्रकृति की सुन्दरता और प्रज्ञा के सत्य-स्वरूप के साक्षात्कार की साधना में आज भी रत हैं, हाँ, उन पर चश्मा जरूर चढ़ गया है। गालों की हड्डियाँ कुछ उभर आयी हैं, पर उन की चिकनाई पर आँखें आज भी बिछलती हैं। पतले होठों की कसावट में कमी नहीं आयी है, सुडौल ठुड्डी जैसे इस सुन्दरता की प्रहरी हो। सोचता हूँ, अपने भरे यौवन में पन्त जी कैसे रहे होंगे!

तन और मन का यह सौन्दर्य उन की कोमल परिमार्जित रुचि में, उन की विशिष्ट वेष-भूषा में, उन के बँगले और बैठक की सुष्ठु सज्जा में भी झलकता है। सौन्दर्य की इतनी अन्तर्बाह्य प्रतिष्ठा करने वाला कोई दूसरा कवि हिन्दी में नहीं हुआ। अक्सर लोग पन्त को प्रकृति का कवि कहते हैं, प्रकृति की ओर अभिगमन उन्होंने समसामयिक सामाजिक जीवन की कुरूपता से खिन्न हो कर ही किया था। छायावाद का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है, "सामाजिक ढाँचे के बासी सौन्दर्य से ऊब कर वह प्रकृति की ओर मुड़ा और वहाँ से नया सौन्दर्य वैभव संचित कर कला को सौरभमण्डित तथा भावना जगत् को सद्यःप्रस्फुटित कर सका।[१]

नवयुग का यह स्वप्नद्रष्टा कवि आज के कठोर, निर्मम, निर्वैयक्तिक, यान्त्रिक महानगरीय जीवन से ताल-मेल नहीं बैठा पाता। न उन्हें भीड़ सह्य है, न धूल, न शोरगुल! कवि नरेन्द्र की पत्नी के समुचित शिक्षादान के बावजूद बम्बई की सड़कों को अकेले पार करना उन के लिए कभी सम्भव नहीं हो सका! ट्रेन में यात्रा करते समय वे अपने डिब्बे की खिड़कियाँ धूल के भय से सदा बन्द रखते हैं। एक बार दिल्ली पहुँच कर भीड़ छँट जाने की प्रतीक्षा करते हुए १५-२० मिनिट तक वे अपना डिब्बा बन्द किये गाड़ी में ही बैठे रहे, और तब तक उन्हें लेने के लिए आये हुए डॉ० नगेन्द्र प्लेटफ़ॉर्म का तीन-चार चक्कर काट कर और पन्त जी इस गाड़ी से नहीं आ सके यह मान कर घर लौट गये। महानगर के ही नहीं, युग के वातावरण में व्याप्त कोलाहल से मर्माहत हो उन्होंने 'रजतशिखर' में लिखा है—

> "कौन सुनेगा पर मेरे ये तूती के स्वर
> इस भीषण गर्जन-तर्जन, कटु चीत्कारों के
> निर्मम युग में;"

यह आशंका उन्हें मूक तो नहीं कर सकी

१. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन, पृ० १६।

किन्तु जन-जीवन के बहुत पास भी नहीं ला सकी ! बृहत् जन-समावेश में वे आश्वस्त नहीं रह पाते । बच्चन के शब्दों में केवल दो ही क्षेत्र ऐसे हैं जिन में पन्त जी बड़े आनन्द से विचरण करते हैं—"प्रकृति की वनस्थली में या अमूर्त्त सिद्धान्तों की वाटिका में । उन्हें प्रकृति के बीच या किसी विचार के साथ या अकेले भी छोड़ दीजिए, वे मस्त रहेंगे, उन्हें कुछ लोगों के बीच छोड़ दीजिए, वे खोया-खोया-सा अनुभव करेंगे । वे उसी जगह पूर्णतया आश्वस्त रहते हैं—जहाँ उन की कल्पना उन्मुक्त रह सकती है, यथेच्छ पर फैला सकती है । एक छाया भी यदि बाधा बन कर खड़ी हो जाये तो वे अनमने हो उठते हैं ।[१]" इसी लिए कौसानी, अल्मोड़ा, कालाकाँकर के प्रशान्त परिवेश उन के भाविक एवं बौद्धिक विकास में इतने सहायक हुए । पुरातन और नवीन सांस्कृतिक धाराओं का संगम-स्थल इलाहाबाद भी उन्हें रास आ गया है । किन्तु दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता उन के अनुकूल नहीं पड़ते ।

सहज एकाकी होते हुए भी जब वे भरे-पूरे गृहस्थ परिवारों में अतिथि बनते हैं तो उन से समरस हो जाते हैं । कहते हैं, महिलाओं और बच्चों को रिझाने की कला में वे पारंगत हैं । उन के कारण किसी को कोई असुविधा न हो, इस का वे बहुत ध्यान रखते हैं । 'चांदनी का स्वभाव में भास' भले ही यह पंक्ति पन्त जी ने 'आँसू की बालिका के प्रति' लिखी हो, उन के लिए भी समान रूप से सत्य है ।

किन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि पन्त जी में दृढ़ता का अभाव है । रीतिकाल के नीति-गलित एवं रूढ़िबद्ध काव्य पर पल्लव की भूमिका में किये गये उन के प्रबल प्रहार ने उस के आधुनिक समर्थकों के छक्के छुड़ा दिये थे । छायावाद का अनुचित विरोध करने पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वानों के आरोपों का खण्डन कर जिस योग्यता एवं निर्भीकता से उन्होंने छायावादी काव्य की उत्कृष्टता प्रतिपादित की वह विस्मयकारिणी है । अपनी अन्तःप्रेरणाओं के कारण जब-जब उन्होंने अपनी काव्यधारा को नयी दिशा दी, तब-तब उन के पुराने प्रशंसकों में कुछ हताश हुए, कुछ क्षुब्ध, किन्तु अन्यों के समर्थन या विरोध का विचार कर उन्होंने अपनी आत्मा के स्वर को कभी रुद्ध नहीं किया । यह उन की दृढ़ संकल्प-शक्ति का असन्दिग्ध प्रमाण है ।

यह भी नहीं कि केवल साहित्य-क्षेत्र में उन की यह दृढ़ता व्यक्त हुई हो । कर्म-क्षेत्र में भी स्वीकृत उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में वे पश्चात्पद नहीं हुए । महात्मा गान्धी की पुकार पर उन्होंने जो विश्वविद्यालय छोड़ा तो फिर उस के मायापाश में नहीं बँधे । यह ठीक है कि वे सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन में नहीं कूदे किन्तु वह उन के लिए आवश्यक भी नहीं था । देश के सांस्कृतिक पुनर्निर्माण में उन की महती देन उस से सम्भवतः खण्डित ही होती । सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की

१. कवियों में सौम्य सन्त, पृ० ८२ ।

वाहिका के रूप में कल्पित अपनी मानसी संस्था 'लोकायन' को मूर्त्त रूप न दे पाने की आंशिक क्षति पूर्ति उन्होंने श्री उदयशंकर के दल से सम्बद्ध हो कर की। ऑल इण्डिया रेडियो के प्रमुख हिन्दी नियोजक के रूप में सात वर्षों तक जिस ज़िम्मेदारी के साथ उन्होंने अपना काम किया, उसे देख उन्हें केवल भावुक सुकुमार कवि मानने वालों को अपनी धारणा में संशोधन करना पड़ा। आज भी वे आकाशवाणी के सम्मानित परामर्शदाता हैं। आज भी वे नियमपूर्वक लिखते हैं और काव्य के नये क्षितिजों के उद्घाटन की साधना में निष्ठापूर्वक रत हैं! सुकुमार कलेवर में छिपी यह कर्मठ दृढ़ता अपनी उपमा आप ही है।

•

पन्त जी पर बहुधा एक आरोप लगाया जाता है कि वे ध्वनि से कहीं अधिक प्रतिध्वनि हैं अर्थात् उन के काव्य में अन्यों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है, मौलिकता कम। बताया जाता है कि छायावादी युग में उन की कविताओं पर टेनीसन, शेली, कीट्स, गान्धी, रवीन्द्र की गहरी छाया थी, जिस ने न केवल उन की तत्कालीन जीवन-दृष्टि को निर्मित किया बल्कि अभिव्यक्ति को भी प्रभावित किया; तो प्रगतिवादी दौर में उन का मार्गदर्शक मार्क्सवाद था और 'चेतना काव्य के काल' में उन का रास्ता है श्री अरविन्द दर्शन। यह सतही आरोप इस सत्य को भुला कर ही लगाया जा सकता है कि जीवन का धर्म ही है प्रभावित होना और प्रभावित करना, जो किसी से विशेषतः अपने से महत् से प्रभावित नहीं होता, वह तो जड़ है और जो जीवन्त ही नहीं, वह मौलिक क्या होगा। प्राणवन्त सर्जक प्रतिभा अपने संस्कारों के अनुरूप विचार, भाव, संवेदना, अपने समशीलों से (और कभी-कभी विरोधियों से भी) ग्रहण करेगी ही, किन्तु जिस प्रकार असंख्य फूलों का रस आहरण करने वाली मधुमक्खी का मधु उस की मौलिक सृष्टि है, उसी प्रकार उस प्रतिभा की नव सर्जना (यदि वह सचमुच सर्जन है तो) असंख्य प्रभावों को समाहित किये हुए भी मौलिक है, प्रतिध्वनि मात्र नहीं! और पन्त जी की सर्जक प्रतिभा 'स्वतः प्रमाण' है उसे 'परतः प्रमाणों' की आवश्यकता नहीं! अपने ऐसे आलोचकों को उत्तर देते हुए पन्त जी ने सम्भवतः 'वाणी' में कहा है:

> "वे कहते
> मैं भाव नहीं, केवल प्रभाव हूँ,
> सूझ नहीं, केवल सुझाव हूँ!
> सच यह :
> मैं केवल स्वभाव हूँ।"

प्रकाश को 'इस से, उस से' ही यदि ग्रहण किया गया हो तो ग्रहीता इस को उस की एक ही बात, इस के उस के अनुसार ही करेगा! किन्तु कहाँ पन्त जी ने ऐसा किया है? क्या उन्होंने अन्तःस्थित प्रकाश की ज्योति में ही बहिरागत प्रकाश को समन्वित करने का निरन्तर प्रयास नहीं किया है? यह सत्य स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि उन्होंने किसी भी चिन्तनधारा को निःशेष आत्म-समर्पण नहीं किया है, मार्क्सवाद को

तो नहीं ही, अरविन्द दर्शन को भी नहीं ! वे पथ के पड़ावों को ही मंज़िल नहीं मान सके हैं, जिस से जितना पाथेय मिला है, उन्होंने कृतज्ञता के साथ स्वीकारा है, किन्तु अपनी तलाश जारी रखी है। उन की स्वप्नदर्शी आँखों में भावी का जो बिम्ब पड़ता रहा है, उसे उपलब्ध दर्शनों की सहायता से उन्होंने व्याख्यायित एवं पुष्ट करना चाहा है और जहाँ वे दर्शन उस बिम्ब को विकृत या आच्छन्न करते प्रतीत हुए हैं वहाँ वे उन की बैसाखियाँ छोड़ कर आगे बढ़ गये हैं··· वे सचमुच 'प्रभाव' नहीं केवल स्वभाव हैं।

क्या इस से उन की पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती अभिव्यक्तियों में अन्तर्विरोध नहीं उभरा है ? क्या इस से उन पर 'असंगति' (इन्कॉन्सिस्टेन्सी] का आरोप नहीं लगाया जा सकता ? मेरी समझ में नहीं। क्योंकि उन्होंने अपने अतीत को नकारा नहीं है, केवल उस की अपूर्णता को पूर्णता के निकट लाने के प्रयास में उस के चुक गये अंश को दुहराते रहने के स्थान पर उस में नवोपलब्ध सत्यों का संयोजन किया है। वे मिथ्या से सत्य की ओर नहीं, सत्य से बृहत्तर सत्य की ओर अग्रसर हुए हैं। किसी प्रश्न विशेष पर बदले हुए सन्दर्भों में भी अपनी पूर्ववर्त्ती मान्यताओं के अनुरूप होना आन्तरिक संगति नहीं, जड़ता है ! औचित्य तो इसी में है कि किसी विशेष स्थिति में 'सत्य' अपने को जिस रूप में हमारे सामने अभिव्यक्त करता है, हम अपने को उस के अनुरूप बनायें। स्मरण रहे, यह ढुलमुलयक़ीनी नहीं है, न 'आया राम, गया राम" की सुविधावादी नीति है, क्योंकि सत्य के अनुरूप होने की आत्मविकासी साधना में प्राय: भौतिक दृष्टि से 'पाये हुए' को खोना पड़ता है, अपने को होमना पड़ता है और निःसन्देह पन्त को ऐसा करना पड़ा है—किन्तु सत्य का महसूल चुकाये बिना कोई उसे कैसे पा सकता है।

हम यदि इस दृष्टि से उन के काव्य-कृतित्व की विवेचना करें तो न केवल उस में आन्तरिक संगति ही पायेंगे बल्कि श्रेयस् के उन के सन्धान-पथ में आये मोड़ों को उन के लिए स्वाभाविक विकास के रूप में ग्रहण कर सकेंगे।

पन्त जी के कवि-जीवन का आरम्भ जिस सामाजिक परिवेश में हुआ था वह राजनीतिक दासता, जड़ीभूत नैतिकता एवं संकीर्ण रूढ़िवादिता के शिकंजों में जकड़ा हुआ था। कवि पन्त ने सांकेतिक रूप से इस तमसाच्छन्न स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है :

> "स्नेह हीन तारों के दीपक
> श्वास शून्य थे तरु के पात,
> विचर रहे थे स्वप्न अवनि में
> तम ने था मण्डप ताना।
> ....
> मूर्च्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग
> जड़ चेतन सब एकाकार
> शून्य विश्व के उर में केवल
> साँसों का आना जाना।"

जिस कट्टर पवित्रतावादी एवं व्यावहारिक सुधारवादी दृष्टि को समाजनेताओं द्वारा इस के स्थूल समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जा

रहा था, उस से तरुण स्वप्नदर्शियों को सन्तोष कैसे हो सकता था ? युग की तरुणाई जिस स्वच्छन्दतावादी भावात्मक विद्रोह के द्वारा इस तम को विदीर्ण करने के लिए तड़प रही थी, उस का स्वागत करते हुए जब पन्त की प्रत्यूष-काकली मुखरित हुई तो मानो युग-चेतना आश्चर्यचकित हो उन्हीं से प्रश्न कर बैठी :

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणी
तू ने कैसे पहचाना
कहाँ कहाँ हे बालविहंगिनी
पाया यह स्वर्गिक गाना ।"

'तू ने ही पहले बहुदर्शिनि, गाया जागृति का गाना' को यदि विवादास्पद भी मान लें तो भी इस में तो कोई सन्देह नहीं है कि प्रसाद और निराला के साथ पन्त जी ने हिन्दी काव्य में जो युगान्तर किया उस से 'भाव-मुक्ति' अवश्यमेव साधित हुई, पलकें खुलीं, सुवर्णछवि फैली और मधुबाल नवजीवन के स्पन्दन से डोल उठे। विचार, भाव, कल्पना, भाषा और अभिव्यंजना के स्तरों पर इस नये काव्य-सृजन ने मानव हृदय और प्रकृति के सौन्दर्य से अभिभूत हो जिस श्री, सुख, सौरभ का ताना-बाना गूँथा, उसे हिन्दी जगत् में छायावाद का नाम मिला। पन्त जी की रचनाओं के माध्यम से ही यदि इस का लेखाचित्र अंकित किया जाय तो 'वीणा' और 'ग्रन्थि' में इस का आरोह, पल्लव में शीर्षबिन्दु और गुंजन, ज्योत्स्ना में अवरोह परिलक्षित होगा। अवश्य ही यह अवरोह अन्य उड़ान भरने की पूर्व सूचना देने वाले आत्ममन्थन का परिणाम है। अतः इसे दूसरी दृष्टि से ठहराव भी कह सकते हैं।'३२ से '३६ तक चलने वाला यह आत्ममन्थन व्यक्तिगत और युगीन परिस्थितियों के यथार्थ साक्षात्कार का परिणाम था। भाव-जगत् की वैयक्तिक मुक्ति को वस्तु-जगत् की सामूहिक मुक्ति में रूपायित करने का कोई ठोस बौद्धिक और व्यावहारिक आधार छायावाद के वायवीय चिन्तन में न पाने के कारण ही पन्त जी मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए थे। वर्गवादी चेतना को स्वीकार करने के बाद धनपति, मध्यवर्ग, कृषक, श्रमजीवी इन वर्गों पर रचित अपनी कविताओं में पन्त जी ने उन की भूमिकाओं के बारे में दिये गये मार्क्सवादी विश्लेषण को प्रायः ज्यों का त्यों मान लिया। पन्त जी स्वयं मध्यवर्ग के थे जो इस विश्लेषण के अनुसार,

"उच्च वर्ग की सुविधा
का शास्त्रोक्त प्रचारक
प्रभु सेवक, जनवंचक
वह निज वर्ग प्रतारक !
भोगशील, धनिकों का
स्पर्धी, जीवनप्रिय अति
आत्मवृद्ध, संकीर्ण हृदय
तार्किक व्यापक मति।"

आदि आदि था और जिस की 'सद्गति' अववर्गित (डिक्लास्ड) हो श्रमजीवी बन कर उन के संघर्ष का नेतृत्व करने से ही हो सकती थी :

"श्रमजीवी वह, यदि
श्रमिकों का हो अभिभावक

नवयुग का वाहक हो,
नेता लोकप्रभावक ।

इस विश्वास को उन्होंने इतनी निष्ठा के साथ ग्रहण किया कि उन के मन को तथाकथित सभ्य, शिष्ट और संस्कृत केवल कुत्सित लगने लगे तथा पीड़ित, शोषित, असुन्दरजन सुन्दर प्रतीत होने लगे ! 'युगपथ', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मुख्यतः बौद्धिक विश्लेषण और बौद्धिक सहानुभूति के आधार पर रचित कृतियाँ हैं । अपना अववर्गन कर इन गद्यवत् सपाट रचनाओं के द्वारा हिन्दी के प्रगतिवादी काव्य का आरम्भिक नेतृत्व करना, पल्लव के सौन्दर्य और कल्पना के उपासक चित्रभाषा के विश्वासी कवि की कितनी बड़ी क़ुर्बानी थी, इस का ठीक-ठीक अनुमान कोई दूसरा पन्त ही कर सकता है ! किन्तु पन्त जी को इस का अफ़सोस नहीं हुआ । यह भी सच है कि इन रचनाओं में, विशेषतः 'ग्राम्या' में एक दूसरे प्रकार की सुन्दरता और कलात्मकता के बीज निहित हैं, किन्तु पल्लव से फूल और फल न बन कर पुनः दूसरी भूमिका बीज बनना एक बहुत बड़ी क़ुर्बानी तो है ही !

आत्ममन्थन के दूसरे दौर में १९४० से '४५ तक पन्त जी को मार्क्सवाद की सीमाएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगीं । 'युगवाणी' में ही उन्होंने कोरे भूतवादियों से असहमति प्रकट करते हुए कहा था,

"दयाद्रवित हो गये देख दारिद्रय असंख्य तनों का
अब दुहरा दारिद्रय उन्हें दोगे निरुपाय मनों का ।"

अब उन्हें निश्चय हो गया कि वस्तु जगत् की मुक्ति के लिए अध्यात्म जगत् की बलि नहीं चढ़ायी जा सकती । उस से तो सामाजिक स्वर्ग के स्थान पर सामाजिक नरक की ही सृष्टि होगी । श्री अरविन्द के पावन संस्पर्श में आने पर उन्हें उन के पूर्णयोग दर्शन से अपने मानस विश्वासों के अनुरूप स्पष्ट, सुव्याख्यात, परिपूर्ण जीवन दर्शन प्राप्त हुआ उस की सहायता से उन्होंने पुनः अपना बहिरन्तर संयोजन किया एवं निन्दास्तुति से निरपेक्ष हो जिस 'चेतना काव्य' का सृजन किया उस में जीवन को उस की समग्रता में ग्रहण किया गया है, उस का मूल स्वर समन्वय एवं उन्नयन का है, वर्जन का नहीं! उस की वैचारिक पीठिका स्वर्णधूलि की इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है :

"वही सत्य कर सकता
मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिस का रजतन,
प्राणिवाद जिस का मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका
हृदय गभीर चिरन्तन,
जिस में मूल सृजन विकास के,
विश्व प्रगति के गोपन ।"

मानव मन को आत्मा के अभिमुख करने का प्रयास करने वाला यह काव्य छायावादी काव्य शैली का प्रत्यावर्तन नहीं है, इस में स्वतः चेतना या प्रेरणा अपनी अतिशयता में रूप-विधान को अतिक्रम करती रही है फलतः इस की 'शब्द योजना में प्रस्फुटन सौन्दर्यबोध एवं से अधिक परिणति है ।'

भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से इस शैली का चरम परिपाक 'उत्तरा' में हुआ है, जिस में काव्य तत्व एवं भाव चैतन्य दोनों घुल-मिल कर एक हो गये हैं।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि पन्त का उत्तरवर्ती चेतना काव्य अरविन्द दर्शन की कार्बन कॉपी मात्र है। वास्तव में अरविन्द दर्शन से अतिशय उपकृत होते हुए भी पन्त जी श्री अरविन्द की इस स्थापना को नहीं मानते कि मन जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं अतिमन मन से अधिक महत्त्वपूर्ण है। पन्त जी की दृष्टि में ''अन्तश्चैतन्य तथा अन्तर्बोध की दृष्टि से भी जीवन तत्त्व का ही सर्वोपरि मूल्य है।''[1] मन या चैतन्य को जीवन का प्रबुद्ध अंश तथा जड़ को उस का बाहरी छिलका मान कर उन दोनों का अन्तःसमन्वय करने वाली अपनी दृष्टि का निरूपण उन्होंने लोक जीवन के महाकाव्य 'लोकायतन' में किया है, जो न अतीतोन्मुख है न अतीत का अस्वीकार, जिस में भारतीय लोकभूमि पर विश्व-मानव के अन्तःबाह्य विकास की परिकल्पना चित्रित हुई है।

किन्तु यह दुःखद सत्य है कि पन्त जी का उत्तरकालीन काव्य अपेक्षाकृत रूप से पढ़ा कम और कोसा या सराहा अधिक गया है। बात यह है कि छायावाद काल में पन्त जी प्रसाद और निराला के साथ अपनी समग्र नयी पीढ़ी की आशा-आकांक्षाओं, स्वप्नों-कुण्ठाओं को वाणी दे रहे थे। उदार, स्वच्छन्दतावादी जीवन-दृष्टि तत्कालीन भारतीय तरुणाई का मर्मस्पर्श कर उसे एक ही साथ मुग्ध और उद्बुद्ध इस लिए कर सकी थी कि वह अपने समय के साथ रह कर भी उस से कुछ ऊपर थी। राष्ट्रीय, सांस्कृतिक जागरण और राजनीतिक स्वातन्त्र्य आन्दोलन से सर्जनात्मक स्तर पर सम्बद्ध रह कर भी उस में विश्व मानवतावाद एवं प्राकृतिक अध्यात्मवाद की अपूर्व सुन्दर झाँकी मिलती थी। स्वभावतः पुरानी पीढ़ी के प्रखर विरोध के बावजूद शीघ्र ही छायावाद नयी पीढ़ी के साहित्यिकों के हृदय का हार बन गया।

उन के प्रगतिवादी बन जाने को उन के प्रशंसक छायावादी आलोचकों ने भले ही साहित्यिक दुर्घटना कहा हो किन्तु व्यापक सामाजिक भूमि पर आने एवं आंशिक रूप से ही सही मार्क्सवादी दृष्टि को अपनाने के कारण एक सुसंगठित दल ने उन की इन रचनाओं को बहु विज्ञापित किया। १९३६ तक आते-आते बहुत से मेधावी तरुण विचारकों को यह विश्वास हो गया था कि भारत की अपनी राजनीतिक-आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में मार्क्सवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। मार्क्सवाद का स्वागत करने की बुद्धिजीवियों की इस मनःस्थिति ने साहित्य में प्रगतिवाद के अनुकूल पीठिका प्रस्तुत कर दी थी। फलतः पन्त जी के इस ओर झुकते ही एक बड़ी संख्या में हिन्दी के कवि इस ओर झुके। काव्य सौन्दर्य के क्षीण होते हुए भी पन्त जी की युगवाणी, ग्राम्या की रचनाएँ ही हिन्दी के क्षेत्र में उन का

१. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन, पृ० ७७।

आदर्श बनीं।

किन्तु पन्त जी ने जब 'स्वर्ण चेतना' का काव्य लिखना शुरू किया तब (और अब भी) हिन्दी के क्षेत्र में उस के अनुरूप कोई पीठिका नहीं थी। श्री अरविन्द की योग साधना और अतिमानस की कल्पना का प्रभाव हिन्दी-भाषी जनता के ऊपर नगण्य-सा था। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में जिस तेजी से आध्यात्मिक मूल्यों का विघटन और अनास्था, कुण्ठा आदि ऋणात्मक वृत्तियों का प्रकटन हुआ उस से सामान्य बुद्धिजीवी के लिए अनतिदूर भविष्य में अतिमानस के निर्माण एवं दिव्य जीवन के अवतरण की कल्पना पर विश्वास करना कठिन हो गया। परिणामस्वरूप पन्त जी का स्वर यदि एकदम अकेला नहीं पड़ गया तो भी एक अत्यन्त छोटी गोष्ठी में ही तत्त्वतः स्वीकृत हो सका। फिर एक बात और है। युगवाणी की प्रवृत्ति के अनुरूप ही पन्त जी के स्वर्ण काव्य में और लोकायतन में भी बहुत बड़ा अंश ऐसा है जो छन्दोबद्ध गद्य है। जिस के कारण उन के वास्तविक काव्यांश को भी क्षति पहुँची है। पन्त जी बहुत ही गठा हुआ और विचारपूर्ण गद्य लिखते हैं। कितना अच्छा होता यदि ऐसे अंशों को जिन में चिन्तन-मनन का तात्त्विक पक्ष ही प्रमुखतः उभरा है वे अपने निबन्धों का अंग बना लेते। जो हो, साहित्य की दृष्टि से यह निश्चय ही दुर्भाग्यजनक है कि पन्त जी जैसे द्रष्टा कवि का यह उत्तरकालीन प्रदेय विशाल संख्यक पाठक वर्ग या नये कवियों को आकृष्ट नहीं कर पा रहा है। उन से सहमत-असहमत होने का प्रश्न अलग है पर उन के काव्य के अनुशीलन से विरत होना निश्चय ही एक बड़ी उदात्त अनुभूति के आनन्द से वंचित होना है।

तात्कालिक लोकप्रियता से निरपेक्ष हो कर यह सन्त कवि जीवन-भर की साधना से उपलब्ध सत्यानुभूति को काव्य के रूप में उन सब को सौंपता चला जा रहा है जो अभी या सुदूर भविष्य में उस के माध्यम से जीवन और जगत् के पुनर्निर्माण के कार्य में अपने को होम कर, अपने को सचमुच पायेंगे। जिस प्रकार तुलसीदास ने विनय पत्रिका में "राम राज भयो काज, सगुन सुभ राजा राम जगत विजई है" कह कर कलिकाल में भी राम राजत्व की प्रतिष्ठा के भावसत्य को वस्तुसत्य के रूप में परिणत करने की प्रेरणामयी वशीवत आने वाली कर्मठ आस्था के नाम की थी, उसी प्रकार पन्त जी भी लोकायतन के अन्त में मानव के मंगलमय भविष्य के प्रति दृढ़ विश्वास व्यक्त करते हुए भू-मन के विषाद को प्रेम के प्रभु को अर्पण कर देते हैं। उन की यह दिव्य आस्था युग को कल्मषमुक्त करे:

"कवि मन के रस सित दर्पण में
देख भविष्य मनुज का आनन
आओ, भूमन के विषाद को
करें प्रेम के प्रभु को अर्पण।"

॥

एक अद्वितीय रोचक और मर्मस्पर्शी उपन्यास

कृष्णकली

शिवानी

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ऐसा कभी-कभी ही होता है कि कोई कृति पुस्तक का आकार लेने भी न पाये किन्तु अपनी प्रसिद्धि से साहित्य-जगत् को चौंका दे। 'कृष्णकली' के साथ ऐसा ही हुआ है। कौन है यह कृष्णकली ? सौन्दर्य और कौमार्य की अग्निशिखा से मण्डित एक ऐसा नारी-व्यक्तित्व जो शिवानी की लौह-संकल्पिनी मानस-सन्तान है, एक अद्भुत चरित्र जो अपनी जन्मजात ग्लानि और अपावनता के कर्दम में से प्रस्फुटित हो कर कमल-सा फूलता है, सौरभ से महकता है और मादक पराग से अपने सारे परिवेश को मोहाच्छन्न कर देता है। नये-नये अनुभवों के कण्टकाकीर्ण पथों से गुज-रती और काजल की कोठरियों में रहती-सहती यह विद्रोहिणी समाज की वर्जनाओं का वरण करती है किन्तु फिर भी अपनी सहज संस्कारशीलता को झटक नहीं पाती। कृष्णकली ने न कभी हारना जाना, न झुकना—उस ने टूटना भले ही स्वीकारा। कृष्णकली का क्या हुआ, जो हुआ वह क्यों हुआ—इन प्रश्नों के समाधान में अनेकानेक पाठकों की विकलता लेखिका ने अत्यन्त निकट से देखी-जानी है। मूल्य ७.००

भारतीय ज्ञानपीठ : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६

ग्राम

मन्दोदरी,
अहल्या,
तारा,
कुन्ती,
औ' द्रौपदी—पंच कन्याओं को तो
ब्याह दिया तुम ने
घर सुन्दर,
मनोनुकूल योग्य वर पा कर,
किन्तु छठी
ग्रामा सुभगा को
नगर-वधू दुर्भगा बना कर छोड़ दिया है।

नगर भोगते उसे
लूटते उस के
नित नव यौवन रस को,
पर बदले में क्या दे जाते !

चूल्हा रोज़ नहीं उस के घर जलता है,
अलंकार, शोभा-परिधानों की न चलाओ,
लज्जा-रक्षक बसन
बदन पर धारण करना
उस को दुष्कर—
शायद फटे हुए वस्त्रों से
झलक मारता यौवन उस का
नगरों का विशेष आकर्षण,
नयन-तृप्ति का निर्घृण साधन।
उस का माटी का घर-विवर
उजड़ता, गिरता-पड़ता चूता
सीला, बुसा-बुसा, अँधियारा।
महा व्यंग्य है
कर्दम-तम पर
अक्षत यौवन पंकज-कलिका का
उजियारा !

अक्षत यौवन का
अक्षय वरदान
शाप क्या अक्षय बन कर बना रहेगा ?

नागर-नगर
ग्राम-वामा को
तू
मींजता-मसलता, भार-दबाता,
देता दन्त-नखक्षत,
औं' झिंझोड़ता,
औं' निचोड़ता,
और सोखता,
तनासक्त, कब तक जायेगा ?

काश, देखता मन भी उस का !

तो उस का
औं' तेरा भी इतिहास
दूसरा ही कुछ होता ।
किन्तु याद रख,
उसे भोगते, और भोगते, और भोगते हुए
स्वयं तू भुग जायेगा;
उस को पाये
रूप और यौवन-श्री क्षीणा,
राग और रस विरहित-वंचित
सत्ता-खण्डित,
कभी नहीं,
हाँ, कभी नहीं,
वह युग आयेगा !

प्रथम पुरुष

•

प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय

मैं ने रूमहीट को रेगुलेट कर के काफ़ी तेज़ कर लिया था। फिर मोजे पहन लिये थे। आखिर में मैं अपने दस्ताने मेज़ के ऊपर, वार्ड्रोब में और शेल्फ़ में लगी किताबों के बीच देर तक यह जानने के बावजूद खोजता रहा कि ये यहाँ नहीं हैं। हालाँकि मैं दस्ताने पहन नहीं पाया था, फिर भी इस स्थिति में था कि अपने को काफ़ी आराम में महसूस कर सकूँ।

मेरा खयाल है, कलकत्ते में इतनी सर्दी कभी नहीं पड़ी होगी। कोहरा भी इतना ज्यादा था कि खिड़कियों के शीशे घिसे हुए से लग रहे थे। बेशक यह स्थिति बहुत अच्छी नहीं होती लेकिन मुझे उन शीशों को तरफ़ देख कर बेहद मज़ा आने लगा। वैसे मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम, लेकिन मेरा खयाल है, मजा इस लिए आया होगा कि उन शीशों से हो कर अब कुछ भी नहीं देखा जा सकता था।

इस वक्त मैं इस स्थिति में नहीं था कि माँ के बारे में कोई अन्दाज़ लगा सकूँ। या उस से मिलती-जुलती कोई धारणा बना सकूँ लेकिन मुझे लगा, वह मेरे और सुभद्रा के बारे में भयंकर रूप में कुछ सोच रही होंगी। हम लोगों को एकदम एक साथ न सोच कर अलग-अलग भी सोचा जा सकता था, लेकिन उस के लिए जिस ताक़त की ज़रूरत है, उस की ग़ैर-मौजूदगी उन में एकदम साफ़ है।

आज की छुट्टी का मज़ा मैं इस तरह ले सकता था कि कुछ भी न करता और नशे की हालत में पलँग पर पड़ा रहता। या फिर बहुत सारी किताबें साथ ले कर घण्टों गुज़ार देता। या फिर पहले से बिना तय किये किसी दोस्त के यहाँ पहुँच जाता और देर तक दफ़्तर के अलावा दूसरी बातें करता रहता। मेरा खयाल है, ऐसी हालत में कोई आदमी कुछ ही देर में ऊब महसूस करने लगेगा। जब वह वाक़ई अच्छी तरह ऊबने लगता तब अपनी ऊब मिटाने के लिए सड़कों पर देर तक घूम कर किसी पार्क में आ जाता।

मैं ने दराज खोल कर ज़रूरी चिट्ठियों का पैकेट निकाला। फिर नीले रंग का लिफ़ाफ़ा खोला और हलके पिंक काग़ज़ पर लिखी हुई अपि की चिट्ठी पढ़ने लगा। चिट्ठी के आखिर में उस ने काफ़ी बड़े-बड़े अक्षरों में अपना नाम लिखा था—अर्पिता। यह चिट्ठी तीनेक साल पहले अपनी मम्मी के साथ मसूरी जा कर उस ने लिखी थी।

मुझे एकदम लगा, गोया अपि एकाएक सामने आ कर खिलखिला उठेगी—'हल्लो पापाऽऽ।' आख़िरी शब्द पर ज़ोर देना उस की आदत थी।

लेकिन इस स्थिति का मुक़ाबला करने के लिए जिस साहस की ज़रूरत है, उस से मैं खाली हूँ। यानी मैं इतना भी नहीं पूछने की हिम्मत कर सकता—'हाऊ आर यू अपि डार्लिंग?···और तुम्हारी मम्मी का क्या हाल है····?'

लेकिन इन तीन सालों में अपि काफ़ी बड़ी हो गयी होगी। वह एकदम पूछ सकती है—'माई मम्मी? यू मीन दैट लेडी नेम्ड अरुन्धती····? फिर वह देर तक ठहाकों में मेरा मुआयना कर सकती है।

यहाँ से चले जाने के बाद अरुन्धती कर क्या रही है, इस से मैं वाक़िफ़ नहीं हूँ। वाक़िफ़ नहीं हूँ और कभी जानने की कोशिश भी नहीं की। सिर्फ़ इतना मालूम हो गया था कि अब वह इन्दौर छोड़ कर भोपाल आ गयी है। अपि के बारे में मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम, लेकिन मेरा खयाल है, अभी भी वह शिमले में 'सेण्ट मेरी' में ही होगी।

मुझे एकदम परेशानी-सी होने लगती है, जब कभी सड़क पर मुलाक़ात हो जाने पर अवस्थी अपि के बारे में बातें करने लगता है। मैं ने ग़ौर किया है, शुरू में तो वह अपि की बातें करता लेकिन कुछ ही देर में अरुन्धती का प्रसंग शुरू कर देता। हालाँ कि उस की बातों में सवाल कहीं भी नहीं होता लेकिन महज़ इतने ही से मैं खुद को बेहद डरा हुआ

और अपाहिज-सा पाने लगता हूँ। मैं साफ़-साफ़ जानता हूँ, इस के पीछे इकट्ठी ढेर सारी मजबूरियाँ हैं। यानी मेरी कमज़ोरी और संस्कार।

अपि की चिट्ठी को मैं कई बार पढ़ गया। यह पहला मौक़ा नहीं है, इस से पहले भी अलग अलग मौक़ों पर इसे कई-कई बार पढ़ता रहा हूँ, लेकिन इस बार, आखिरी बार चिट्ठी पढ़ना शुरू करते ही एकदम परेशानी-सी होने लगी थी। इस तरह की दुर्घटनाएँ अलग-अलग मसलों में मेरे सामने इस से पहले भी पेश होती रही हैं लेकिन मेरा खयाल है, मेरी इस बार की तक़लीफ़ बहुत ज्यादा नुकीली है।

मैं उठ कर खड़ा हो गया था। फिर खिड़की के सामने जा कर कर्टेन हटा देते ही मैं ने महसूस किया, बिलकुल इस वक्त मेरे चेहरे पर ठण्डी हवा का एक तीखा हमला है। मुझे दुबारा इस बात पर मज़ा आया कि खिड़की खोलते ही मैं सामने की सड़क का काफ़ी दूर तक का हिस्सा देख पा रहा था।

मैं ने रेगुलेटर को ज़ीरो पर ला कर रूमहीटर को ऑफ़ कर दिया और यह देखने लगा कि कितनी देर में इस का कॉएल एकदम ठण्डा हो जाता है। उस के हलके पड़ते हुए लाल रंग को देख कर मुझे कई उपमाएँ याद आ गयी थीं। लेकिन मेरा खयाल है, उन में से एक भी उपमा ऐसी नहीं होगी कि जिस के ताज़ेपन से मैं खुद को काफ़ी खुश और आराम में पा सकूँ।

मैं ने पतलून की जेब में हाथ डाल कर सिगरेट का पैकेट और लाइटर निकाला ही था कि माँ बिना किसी आहट के एकदम मेरे कमरे में आ गयीं। मैं ने उन का चेहरा काफ़ी ध्यान से देखा लेकिन महसूस नहीं कर पाया कि अभी वह किस मूड में हैं। ऐसी स्थितियों में, जब कि कुछ भी अन्दाज लगा पाना सम्भव नहीं होता, मुझे लगातार एक भयंकर क़िस्म के खतरे का सामना करने का अहसास होने लगता है। मुमकिन है, माँ एकदम कुछ भी पूछने लगें। या फिर बनारस लौट जाने के लिए तुल सकती हैं""। या फिर···

वह पूरी सतर्कता बरत कर मेरा चेहरा परखने लगी थीं। मैं ने मार्क किया।

"अगले महीने सुभद्रा बनारस जायेगी।"

मुझे लगा, यह एक सूचना भर है। और इस बात की कुछ भी ज़रूरत नहीं थी कि इतने दिन पहले मुझे किसी तरह की जानकारी दी जाती। सुभद्रा बनारस क्या, कहीं भी जा सकती है। और मैं कभी भी यह उम्मीद नहीं करता कि मुझ से किसी तरह की अनुमति भी ली जायेगी। 'कभी भी' कहना ग़लत होगा। कभी ज़रूर करता था लेकिन अब नहीं करता। ज़रूरत भी नहीं महसूस करता।

मुझे इस बात से भी कोई दिलचस्पी नहीं है कि शाम को या शाम के बाद ऑफ़िस से लौट कर सुभद्रा करती क्या है। पिछले महीने एक दिन जब वह 'मेट्रो' के सामने एकदम मिल गयी थी, मैं हड़बड़ा कर हाँफने लगा था और आखिर में इतना भी साहस

नहीं कर पाया था कि उस से कोई सवाल करूं। एक अजीब तरीक़े से मुझे महसूस होने लगा था, गोया मैं उस का पति ही न होऊँ। और ऐसी हालत में मुझ जैसे किसी कमज़ोर आदमी का एकदम खत्म हो जाना क़तई स्वाभाविक था। लेकिन इत्तफ़ाक़ है कि कुछ भी नहीं हुआ था, सिवाय इस के कि मुझे लगातार हारते रहने का अहसास होता रहे।

""सुभद्रा के पति न होने जैसे इस अहसास के साथ मुझे एकबारगी यह भी महसूस हुआ था कि अब आगे भी कभी मैं उस का पति नहीं हो सकता। हालांकि यह एक खतरनाक़ क़िस्म का मसला था लेकिन मैं ने इसी में अपने को सुरक्षित महसूस किया। एकदम तब जैसे यह साफ़ होने लगा था कि अरुन्धती से अलग होते ही मैं किसी भी हालत में पति नहीं रहा। पति नहीं रहा और इस के साथ ही पिता भी नहीं।

पिछले इतवार आहूजा देर तक मुझ से बातें करता रहा। शुरू में तो वह क्रिकेट की बातें कर रहा था लेकिन आखिर में राजनीति पर। मेरा खयाल है, महज़ एक यही विषय है, जिस पर वह बिना किसी तरह की ऊब के घण्टों बहस कर सकता है। अपनी आदत के मुताबिक़ बहस करते वक़्त जब उस का चेहरा एकदम सुर्ख होने लगता, तब मुझे बेहद मज़ा आता। और तब मुझे अन्दर से महसूस होता कि अब भी दिल के किसी-न-किसी कोने में वह पुरुष है।

मैं सिर्फ़ सुन भर रहा था। मेरा खयाल है,' बीच में एक-आध बार हूँ-हाँ कहने के अलावा, जिस की कुछ भी ज़रूरत नहीं थी, मैं ने कुछ और हरकत नहीं की थी। मैं ने पूरी तैयारी के साथ मन-ही-मन उसे कई गालियाँ दी थीं और हास्यास्पद रूप में कई बार योजना बनाता रहा कि मौक़ा पाते ही उस की गरदन मरोड़ दूँ। आख़िर में एकबारगी मुझे हँसी आ गयी थी और मैं ने अपने बचाव की कोशिश में तपाक से एक नयी बात शुरू कर दी थी।

मेरा खयाल है, मेरे साथ लगातार लगभग दो घण्टों से फ़िज़ूल की बातें कर वह ज़रूरत से ज़्यादा थक चुका था। चूँकि सुभद्रा घर पर नहीं थी, सिर्फ़ मैं ही उस के सामने बैठ कर अपनी योजनाएँ बना सकता था। मैं ने मार्क किया, आखिर में सुभद्रा के आते ही आहूजा इस अन्दाज़ में व्यस्त हो गया, गोया शुरू से ही इस कमरे में मैं अनुपस्थित रहा हूँ।

पूरी सतर्कता के साथ मैं उठ खड़ा हुआ और इस तरह अपने को उन के सामने से छिपाने लगा, गोया चोरी करने के बाद मैं पकड़े जाने से बाल-बाल बच गया होऊँ। अपने कमरे में आ कर मैं ने अपने को काफ़ी निरापद महसूस किया और सिगरेट जला कर पूरी ताक़त के साथ कश खींचने लगा। मुझे लगा था, जैसे एक बहुत बड़ी लड़ाई में शरीक होने के बाद मैं वापस आया हूँ।

यह सर्दी का मौसम है लेकिन मुझे कुछ भी सर्दी नहीं महसूस हुई और मैं सोचने लगा था कि कुरसी को बालकनी में किस जगह लाकर डाल दूँ और कुछ देर कुछ भी बिना

सोचे एकदम आराम करता रहूँ। अन्त में बहुत जल्द मैं ने अपना निर्णय बदल दिया था और कमरे में ही कुरसी को शेल्फ़ के नज़दीक ले जा कर कुछ पुरानी मैगज़ीन्स उलटने लगा था। मैं ने कई एक तस्वीरें देखीं और उन के कैप्शन्स पढ़ कर सोचने लगा, इन से बढ़िया कैप्शन्स मैं भी दे सकता था। मैं पूरी दिलचस्पी के साथ काले बॉर्डरों में छपा किसी राजनैतिक नेता का चित्र देखने लगा था। मेरा खयाल है, इस व्यक्ति के नाम से अब इमारतें बन जायेंगी और हॉस्पिटल और स्कूलों के नाम बदल कर इन के नाम से रख दिये जायेंगे। अपनी ताक़त से मैं अच्छी तरह वाक़िफ़ हूँ लेकिन मुझे लगा था, इस मरे हुए व्यक्ति पर मैं बहुत ज़्यादा दया कर सकता हूँ। यहाँ तक कि आहूजा की असहाय स्थिति को देख कर जितनी दया करने को मजबूर हो जाता हूँ, कहीं उस से भी ज़्यादा। आखिर मैं ने तेज़ी के साथ हाथ में थमे मैगज़ीन को बन्द कर लिया था और भयंकर तरीक़े से महसूस कर रहा था कि मैं बेहद थक गया हूँ।

मुझे यह सोचते हुए अच्छा लगा कि सुभद्रा अब कुछ देर और मेरे कमरे में नहीं आयेगी। बहुत मुमकिन है, वह आहूजा के साथ कहीं निकल जाये और तब तक न लौटे, जब तक मैं और माँ सो न जायें। वक़्त होने पर मैं सो ज़रूर जाऊँगा लेकिन दिक़्क़त है, माँ को ले कर। मेरा खयाल है, देर तक तो वह झुंझला कर इन्तज़ार करती रहेंगी फिर ऊँघना शुरू कर देंगी। यह सिलसिला तब तक जारी रहेगा, जब तक कि सुभद्रा वापस नहीं आ जाती। मुझे इस बात पर भी कोई दिक़्क़त न होगी, अगर किसी दिन सुभद्रा रात को घर पर लौट भी न सके।

मुझे यह सोच कर दुबारा अच्छा लगा कि अभी वह आहूजा के साथ व्यस्त है और इस बीच पूरी निश्चिन्तता से मैं कुछ देर आराम कर सकता हूँ। लेकिन अगर आहूजा बहुत जल्द वापस चला गया और सुभद्रा उस से निबट कर मेरे सामने आ गयी तो मैं एकदम खत्म हो सकता हूँ।

मुझे लगा, सुभद्रा जैसी महिलाएँ माँ होना पसन्द नहीं करतीं। यह उन के लिए तक़लीफ़ और समस्या, दोनों इकट्ठे या अलग-अलग, कुछ भी हो सकती है। वैसे जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं पिता था। और अगर किसी दिन मैं अपने अतीत के साथ सुभद्रा के सामने विस्फोटित हो गया, तो खतरनाक क़िस्म का कुछ भी घट सकता है।

पाँचेक दिन पहले सुभद्रा बिना किसी भूमिका के एकदम मेरे सामने आ गयी थी। वह काफ़ी देर तक खामोश रही थी और मेज़ के ऊपर रखे हुए मैगज़ीन्स में से एक को उठा कर उस के पन्ने पलटने लगी थी। मैं सिर्फ़ इस बात से डर रहा था कि अगर दराज़ खोल कर उस ने अपि की चिट्ठी निकाल ली तो मैं एकदम खत्म हो जाऊँगा। वैसे मैं यह नहीं समझता कि इस चिट्ठी की मौजूदगी के बारे में वह वाक़िफ़ नहीं है।

"हाँ याद आया। उस दिन सक्सेना अचानक मिल गया था तो देर तक तुम्हारे बारे में पूछता रहा।" बात मैं ने ही शुरू की

थी। शुरू की थी और बेहद अप्रतिभ हो गया था।

"मैं मार्क कर रही हूँ, तुम ज़रूरत से ज़्यादा बीयर और सिगरेट पीने लगे हो।" सुभद्रा की तरफ़ से यह कोई सूचना नहीं, लगभग खुला आक्रमण-सा था।

मुझे खामोश रहना ज़्यादा अच्छा लगा।

"मालूम, सक्सेना क्या कह रहा था? मुझे तो कहते हुए शर्म आती है.........कहाँ-कहाँ जाते हो....क्या-क्या करते हो....।"

मैं ने कहना चाहा—"कुछ भी कह सकता है वह।" कहना चाहा लेकिन आखिर मैं उत्तर दिये बिना नयी सिगरेट सुलगाने लगा।

"कब तक चलेगा ऐसे?" सुभद्रा की आवाज़ से लगा था गोया वह फ़ौज में कर्नल हो।

अन्त में वह उठी। उठी और जिस रफ़्तार से बग़ल के कमरे तक गयी, बेशक उस में मेरे खिलाफ़ एक लम्बी योजना थी। उस वक़्त मैं ने उस के चेहरे की रेखाएँ नहीं पढ़ी थीं वरना मुमकिन है, उस की हिक़ारत भरी नज़रों का मतलब एकदम साफ़ हो जाता।

बग़ल के कमरे में जा कर वह घण्टों बुत-सी बैठी रह सकती है और एकदम उठ कर कहीं चलने की योजना बना सकती है। मुझे इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं है कि बिलकुल अभी या भविष्य में उस का कार्य-क्रम क्या है।

कई बार मैं ने आहूजा और सक्सेना के बारे में अलग-अलग और इकट्ठे सोचा। लगभग हर बार मुझे यह अहसास होता रहा कि हालाँ कि इन में कभी मैं दिलचस्पी नहीं ले सकता, लेकिन बेशक ये अच्छे आदमी हैं। वैसे यह बिलकुल स्पष्ट है कि इन की ओर से जिस खतरे का अन्देशा मुझे है, फ़िलहाल कुछ दिनों तक उस की मौजूदगी खत्म नहीं हो सकती। नहीं होगी।...और यह सिलसिला और भी मज़ेदार हो सकेगा अगर मैं एकदम इनके सामने से हट जाऊँ।

कई बार मैं ने सुभद्रा को यह कहने की योजना बनायी कि आहूजा और सक्सेना आदमी की हैसियत से दोनों बहुत अच्छे हैं। लेकिन यह महज़ एक शुरूआत हो सकती थी। सिलसिले को आगे बढ़ाने के लिए जिस ताक़त की ज़रूरत पड़ती है, वह मेरे अन्दर नहीं है। मेरा खयाल है, अरुन्धती से अलग होते ही उस ताक़त से मैं खाली हो गया हूँ।

मैं ने किताबें पलटनी शुरू कीं तो माँ मेरे सामने आ गयीं। हालाँ कि यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी लेकिन मैं डरता रहा। लगातार डरता रहा।

इस से पहले कि वह कुछ कहे, बात मैंने ही शुरू की—"एक बढ़िया सर्कस आया है। कल चलोगी देखने?"

वह चुप थी।

"कल छुट्टी है मेरी। कहो तो मैटेनी शो के लिए टिकट ले लूँ...।"

"और?" माँ ने इस तरह पूछा कि मैं एकदम चौंक गया। चौंक गया, हाँफने लगा।

मुझे एकदम यह महसूस होने लगा कि मैं भयंकर रूप में घायल हो रहा हूँ। झटके

से मैंने किताब खोली और उसे इस तरह पलटने लगा, गोया इसे अभी खत्म कर लेना बहुत ज़रूरी हो।

अन्त में वह उठी और बहुत ही सतर्क क़दमों से अपने कमरे की तरफ़ बढ़ने लगी। मुझे यह महसूस कर अच्छा लगा कि अभी एक आक्रमण के खतरे से मैं अपने को बिलकुल बचा लाया। मेरा खयाल है, बात शुरू करने के लिए जिस भूमिका की ज़रूरत थी, वह भूमिका बनते-बनते रह गयी थी। अगर इत्तफ़ाक़ से अभी यह भूमिका बन गयी होती, मैं एकदम टुकड़ों में बँट जाता।

मुझे अच्छी तरह याद है, अरुन्धती जब घर में आयी थी यह घर अजीब-सा बन गया था। कम से कम मुझे महसूस यही होता रहा कि यहाँ 'कुछ' है और 'कुछ' नहीं है। मेरा खयाल है इस सिलसिले में एक पति को क़ायदे से जितना सोचना चाहिए, मैंने कहीं उस से ज्यादा ही सोचा था। और जब अरुन्धती इस घर से हमेशा के लिए चली गयी तो भी बिलकुल पहले की ही तरह 'कुछ' होने और 'कुछ' न होने का अहसास होता रहा।

मेरा खयाल है, बीच के दिनों में मैं बिलकुल नार्मल था। यानी सुभद्रा के आते ही मैं ने एक अजीब तरीक़े से महसूस किया कि मैं पति हूँ। और यह अहसास फिर से उसी तरह लगातार 'कुछ' होने और 'कुछ' न होने का बोध कराता रहा।

पिछले महीने दफ़्तर से निकल कर शाम को एसप्लनेड तक आया ही था कि जतीन मिल गया था। मैं ने मार्क किया, तीन साल के इस फ़ासले में भी वह बिलकुल तीन साल पहले का है। वही गेरुआ रंग के खद्दर का कुर्ता, अधमैली धोती, चेहरे पर दसेक दिनों की बढ़ी हुई दाढ़ी और पाँवों में पुरानी चप्पलों का जोड़ा। कन्धे से लटका हुआ कपड़े का मणिपुरी बैग।

बात जतीन ने ही शुरू की थी—"सुनता हूँ, आजकल बहुत बड़े आदमी हो गये तुम। अच्छा लगता है सुन कर। वह कविता याद है···ए लेटर टू ए फ्रेण्ड। आई टू रिमेम्बर दिस पोयम।"

"क्या कर रहे हो आजकल!""और अभी तक अकेले ही···"

जतीन हँसा था—"कर कुछ भी नहीं रहा हूँ। हाँ, कुछ करने का इरादा ज़रूर है। एक साप्ताहिक पत्रिका निकालने की कोशिश में हूँ। बट यू नो माइ फ्रेण्ड, स्टिल आई एम पैनीलैस।"

"शादी की है?" सवाल पूछ डालने के बाद मुझे नहीं लगा कि इस की ज़रूरत भी थी।

"स्ट्रेंज!" जतीन ने मुट्ठी को हवा में उछाला -"फ़ुरसत नहीं मिली। लेकिन तुम्हारे सुखी जीवन के लिए मेरी शुभ कामनाएँ। माई हार्टिएस्ट विशेज आर ऑलवेज विद यू।"

मैं अप्रतिभ होते-होते बच गया था। मन हुआ था, कह ही दूँ—"अरुन्धती अब मेरी पत्नी नहीं है। उस की जगह अब जो सोती है, शी इज ए फ़ाइन लेडी नेवर

सुभद्रा। लेकिन हमेशा मुझे यह महसूस होता रहता है गोया मैं सुभद्रा का पति ही न होऊँ।" मैं ने सारी बातें इकट्ठे कह डालने की योजना बनायी और आखिर में सिगरेट सुलगा कर पूरी ताक़त से कश खींचने लगा।

"और कैसे हो?"

उत्तर में मैं उसे कभी घर पर आने के लिए आमन्त्रित कर सकता था। कर सकता था लेकिन नहीं किया। लगा, इस बात की अब कुछ भी ज़रूरत नहीं है कि बिना बचने का मौक़ा दिये उसे मैं एकदम घायल कर दूँ।

"कभी-कभी मन करता है, कलकत्ता छोड़ दूँ और अपने बनारस के गाँव लौट जाऊँ। हाऊ यू विल डिफ़ाइन इट, सिटी डिप्रेशन?"

"मुझे एक कविता याद आ गयी। किसी नीग्रो कवि की है—ऐण्ड हिज एटरनल पीस। इतनी जल्दी घबरा गये, दोस्त?" उस ने मेरे कन्धे पर हलकी-सी थपकी दी। मुझे एकदम यह महसूस होने लगा था कि उस की हथेली अभी भी कितनी नरम है।

"तुम अपने दिन कैसे गुज़ारते हो। आई मीन, ह्वाट इज़ योर वे टु लिव?"

"ए फ़ाइन क्वेश्चेन।" जतीन हँसा था—"हमेशा यह महसूस होता रहता है कि बहुत सारे काम अभी बाक़ी हैं। बस इसी तरह दिन गुज़र जाता है।"

कुछ रुक कर उस ने कहा, "अच्छा चलूँ अब। फिर कभी सकड़ पर इसी तरह मुलाक़ात हो जायेगी। तब तक के लिए बहुत सारी शुभकामनाएँ।" उस ने अपनी बात खत्म की और बग़ल से गुज़रते हुए ट्राम का हैण्डिल पकड़ कर झूलने लगा।

कुछ देर बाद, जब वह ओझल हो गया, मुझे एकाएक खयाल आया, एक सवाल पूछने से रह गया—तुम सुखी हो, जतीन? हालाँ कि मुझे मालूम है, सुख के बारे में तुम्हारी धारणाएँ कितनी जटिल हैं लेकिन इस बीच मुमकिन है, तुम किसी और नतीजे पर पहुँचे हो।

मुझे मालूम है, मेरा सवाल सुन कर शुरू में तो वह अपनी आदत के मुताबिक़ एकदम खामोश हो जाता फिर इस तरह ठहाके मारने लगता कि मैं डरने लगता। ऐसी हालत में मुझे निरुपाय देख कर वह कह सकता है—'नहीं सोचा, सुखी हूँ या नहीं। लेकिन दुःखी ज़रूर नहीं हूँ।'

●

वार्ड्रोब में मैंने अपने कपड़े देखे। फिर सुभद्रा की साड़ियाँ और ब्लाउज़। मुझे लगा, मेरे कपड़े आसानी से कहीं और भी हो सकते थे। ये चाहे कहीं भी होते, मुझे कुछ भी दिक़्क़त न होती। दिक़्क़त न होती और फ़र्क़ भी कुछ नहीं पड़ता। इस वार्ड्रोब में से अगर मैं अपने कपड़े कहीं और हटा लूँ तो बची हुई जगह सुभद्रा के काम आ सकती है। काम आ सकती है और इस जगह की ज़रूरत भी उसे अरसे से होगी।

सुभद्रा ऑफ़िस से लौटी तो मैंने घड़ी की डॉयल देखी। आठ बज रहे थे। वह पाँच तक ऑफ़िस में रही होगी और उस के बाद का वक़्त उस ने अपने व्यक्तिगत कामों में

लगाया होगा, मैंने सरसरी तौर पर सोचा।

मैंने मार्क किया, वह बेहद थकी हुई। उसे इस क़दर थकान महसूस हो रही होगी कि कपड़े बिना बदले अभी ही वह सो जाना चाहेगी! लेकिन मेरा अनुमान एकदम ग़लत था। उस ने कपड़े ज़रूर नहीं बदले थे लेकिन अपने हाथ से कॉफ़ी बनायी। कॉफ़ी पी। फिर महिलाओं की एक विदेशी पत्रिका खोल कर तसवीरें देखने लगी। इस वक़्त वह पढ़ने के मूड में नहीं होगी वरना कुछ भी पढ़ सकती थी—कोई भी किताब या किसी मैगज़ीन में छपी फ़ैशन के बारे में सूचनाएँ।

वह उठी और मेरे नज़दीक आ कर वार्ड्रोब खोल कर दराज़ में कुछ ढूँढ़ने लगी थी। कुछ भी ढूँढ़ा जा सकता था—कोई व्यक्तिगत चिट्ठी या क़लम या नेकलेस या राइटिंग पैड····

"आहूजा आया था। देर तक तुम्हारा इन्तज़ार करता रहा।" बात पूरी कर लेने के बाद मुझे लगा, कहने में मैंने काफ़ी देर कर दी है।

कुछ देर के लिए उस ने अपना ढूँढ़ने का काम बन्द रखा फिर लगभग उसी रफ़्तार से व्यस्त हो गयी।

"उस ने मुझ से कहा तो नहीं, (क्षमा करना, उस से पूछने का साहस मैं नहीं कर सका था।) लेकिन मेरा ख़याल है, कोई बहुत ज़रूरी काम होगा। ऐसा करना कि सुबह ऑफ़िस जाने से पहले उस के यहाँ एक बार हो लेना।"

"व्हाट ? तुम्हारा इशारा क्या मैं नहीं समझती ? तुम समझते हो कि मुझ पर कोई रहम किया जा रहा है?"

"सॉरी। मैंने तो तुम्हें इन्फ़ॉर्म भर कर दिया। किसी भी तरह के इशारे-विशारे से मेरा मतलब नहीं था।"

"तुम्हारा ख़याल है कि हर कोई तुम्हारी ही तरह ज़िन्दगी बिताता है··· हैल।" आख़िरी शब्द को उस ने ज़ोर लगा कर ज़रूरत से ज़्यादा फैला दिया था।

मुझे चुप रहना ज़्यादा सुखप्रद लगा। मैं ने इतना ज़रूर किया था कि सिगरेट सुलगा कर कश खींचने लगा था।

उस ने दराज़ में रखा सारा सामान उलट-पलट कर देखा। साड़ियों की तहों की तलाशी ली फिर ख़ाली-ख़ाली एकदम मेरे कमरे से निकल गयी। मेरा ख़याल था, वह फ्लास्क में से ले कर फिर एक और कप कॉफ़ी पियेगी और आख़िर में कुछ खाये बिना अलग सो जायेगी।

अपने कमरे का स्विच ऑफ़ कर के वह घण्टों कुछ सोच सकती है फिर रात बहुत ज़्यादा बीत जाने पर ऐस्प्रो की गोलियाँ ले कर निढाल पड़ी रह सकती है। एक बार मन में इच्छा हुई कि दरवाज़े में कोई सूराख़ निकाल लूँ और यह देखता रहूँ कि अन्दर वह करती क्या है ? लेकिन मैं बेहद डर कर खिड़की से बाहर की तरफ़ देखने लगा था। रोशनी की तरफ़।

दूकानों के ऊपर लगे विज्ञापनों के विभिन्न... देख कर मुझे एक ख़ास क़िस्म का मज़ा आने लगा। यानी बहुत ज़्यादा उन्मुक्तता का अहसास...

हास। मैंने मेज़की दराज खोल कर चॉकलेट का डिब्बा निकाला और उस में से दो एक साथ ले कर चूसने लगा।

मेरे पास कोई काम नहीं था और इस समय का उपयोग किसी पार्क तक जा कर या कुछ देर के लिए न्यू मार्केट तक जा कर कर सकता था। लेकिन मुझे लगा, बिलकुल अभी इन सब को ड्रॉप करना ज़रूरी है।

•

माँ एकबारगी मेरे कमरे में आ गयी थीं। मैंने उन की सफ़ेद साड़ी की ओर देखा और अपने को काफ़ी ताज़ा महसूस किया। यह पहला मौक़ा है, जब कि एक सफ़ेद साड़ी में वह मुझे इस क़दर आकर्षक लगीं।

वह किस मूड में हैं, इस से मैं वाक़िफ़ नहीं हूँ। लेकिन इस के बावजूद मैंने किसी भी तरह का डर महसूस नहीं किया।

"सुभद्रा नहीं जायेगी बनारस।"

मैंने मार्क किया, वह कुछ और कहने वाली थी।

मैं ने यह भी पूछने का साहस नहीं किया कि इस की वजह क्या है। साहस नहीं किया और दूसरी तरफ़ देखता रहा।

"मेरे लिए कल ही बनारस के लिए टिकट ले ले। तुझे शायद छुट्टी भी न मिलेगी दफ़्तर से। मैं अकेली चली जाऊँगी।"

एक बार इच्छा हुई, एकदम चीख पड़ूँ—"तुम कैसे जानती हो कि मुझे दफ़्तर से छुट्टी मिलेगी या नहीं···। ऐसा क्यों नहीं करतीं कि तुम लोग साजिश कर के मुझे कोई ज़हर दे देतीं····!"

लेकिन मैंने कुछ भी नहीं कहा था और एकाएक डर कर अपने ही अन्दर बुरी तरह सिकुड़ता जा रहा था।

माँ मेरे सामने से उठ कर चली गयीं तो मैं ने फिर से सुभद्रा के बारे में नये सिरे से सोचा। मुझे लगा, वह लगातार कई ऐस्प्रो की गोलियाँ ले चुकी होगी लेकिन इस के बावजूद उस का सिर-दर्द कुछ भी नहीं घट पाया होगा।

मेरा खयाल है, मुझे उस की सहायता करनी चाहिए। मुझे बहुत जल्द कोई प्लान बना लेना चाहिए और सुभद्रा के सामने उसे प्रॅपोज़ कर देना चाहिए। इकट्ठे मैं ने बहुत सारी बातें सोच ली थीं और पाने लगा था कि मैं एकदम असमर्थ हो गया हूँ। असमर्थ और भयाक्रान्त।

अन्त में मैं अरसे बाद अपनी पसन्द की कविता पढ़ने लगा था—'द वर्ल्ड इज़ टू मच विद अस।' मुझे एकदम याद आया, अपने यूनिवर्सिटी के दिनों में जतीन अकसर मेरे साथ राह चलते-चलते इसे रिसाइट किया करता था। विक्टोरिया मेमोरियल हाल के सामने बैठकर अकसर हम लोग कविता पर, सुख पर और प्रागैतिहासिक संस्कृति पर बातें किया करते थे। जब कि हम दोनों में से किसी का भी विषय साहित्य, दर्शन या इतिहास नहीं था।

मुझे लगा, इधर एक लम्बे अरसे से मैं ने कविता पर कुछ भी नहीं सोचा है। एकदम लगने लगा, यह मेरे लिए एक खतरनाक

प्रथम पुरुष : प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय

क़िस्म की तक़लीफ़ है।

हाथ में थमी किताब को बन्द कर मैं अपने को टटोलने लगा था। इस वक़्त जो अनइज़ीनेस फ़ील कर रहा हूँ, चाहे उस की वजह कुछ भी क्यों न हो, मुझे परेशानी नहीं होगी। लेकिन मैं माँ और सुभद्रा के बारे में सोच रहा था। उन दोनों में से कोई भी, मुमकिन है कभी एकदम कुछ भी कर दे...। और उस ख़तरनाक परिणति से मैं एकाएक चिन्दियों में बिखर सकता हूँ।

●

मेरी कैज़ुअल लीव एक और बाक़ी है। और आज का दिन मैं आसानी से छुट्टी में गुज़ार सकता था। इस पर शुरू में कई बार अलग-अलग तरीक़ों में सोचता भी रहा लेकिन अन्त में एकाएक मैं ने छुट्टी न लेने का निर्णय ले लिया था।

शाम को दफ़्तर से लौटा तो पाया कि सक्सेना लिफ़्ट से उतर रहा है। सिर्फ़ एक सेकेण्ड या उस से भी कम समय के लिए रुक कर उस ने 'हलो' कहा और तेज़ क़दमों से बाहर की तरफ़ बढ़ गया।

ऊपर आ कर माँ के कमरे के सामने से गुज़रते हुए मैं ने परदे की तरफ़ देखा और महसूस किया कि परदा एकदम बहुत तेज़ हिलने लगा है। हालां कि गाड़ी के छूटने को अभी काफ़ी वक़्त है लेकिन मेरा ख़याल है, माँ अभी से एकदम तैयार हैं। इतनी तैयार कि अब किसी भी वक़्त बाहर निकल कर टैक्सी बुला सकती हैं।

मैं ने एक अलग अन्दाज़ में सुभद्रा के बारे में सोचा। मेरा ख़याल है, दफ़्तर से लौटते वक़्त सक्सेना ने उसे लिफ़्ट दिया होगा और लौटने के बाद वह किसी फ़ैशन-मैगज़ीन के पन्ने उलट रही होगी। वह कुछ भी कर सकती है, मुझे इस से परेशान नहीं होना चाहिए, मैं ने पूरी सतर्कता के साथ सोचा। यह भी मुमकिन है कि वह कहीं बाहर निकलने की तैयारी कर रही हो और माँ के निकल जाने से पहले ही सक्सेना या आहूजा या किसी और के साथ निकल जाये।

अपने कमरे में आ कर मैं ने कपड़े नहीं बदले। सिर्फ़ जूते के फ़ीते ढीले कर दिये थे और टाई की नॉट को खींच कर काफ़ी नीचे ले आया था।

सिगरेट सुलगा कर मैं ने कश खींचा और खिड़की से सामने की तरफ़ देखने लगा। हावड़ा ब्रिज का खम्भा यहाँ से बहुत साफ़ दिखाई दे जाता। साफ़ और उजला।

फिर से एक बार मन हुआ कि काफ़ी ज़ोर से जतीन की वह प्रिय कविता रिसाइट कर डालूँ—'द वर्ल्ड इज़ टू मच विद अस'। महज़ जतीन की ही नहीं यह मेरी भी प्रिय कविता है। लेकिन इस के साथ जतीन का नाम जोड़ कर इस लिए सोचा था कि लगा था, सिर्फ़ वही इस का हक़दार है।

आख़िर किताब हाथ में उठायी और सिर्फ़ पन्ने उलट कर ही उसे मेज़ पर छोड़ दिया। गोया, मुझ में अभी इतनी ताक़त न रह गयी हो कि इसे रिसाइट कर सकूँ।

सुभद्रा के कमरे का परदा हटा कर मैं ने सामने देखा। हलके गुलाबी रंग की एक

बूटीदार साड़ी में उस का समूचा शरीर एक-दम ठण्डा लगा। लगभग बर्फ़-जैसा। मैं ने मार्क किया, उस के चेहरे की दोनों तरफ़ की नीली नसें बहुत ज़्यादा उभर आयी हैं। ऐसी हालत में अगर एकाएक उस ने कुछ भी कर डाला तो मुझे बहुत ज़्यादा ताज्जुब नहीं होगा।

परदे को छोड़ कर मैं फिर से मेज़ के पास आ गया। बहुत ज़्यादा ज़ोर लगा कर सोचा कि इस बार जतीन की प्रिय कविता को रिसाइट कर ही डालूँ। इतने ज़ोर से कि माँ भी चौंक जायें। सुभद्रा भी। मैं ने सोचा और आखिर में एकबारगी हार जाने के अहसास से डूबता रहा।

माँ बिलकुल इस वक़्त क्या कर रही होंगी, इस से मैं वाक़िफ़ नहीं हूँ। सुभद्रा की तरह वह कुछ भी कर सकती हैं। कुछ भी और कभी भी।

अपने बँधे हुए सामान के बीच बैठ कर वह समय का इन्तज़ार या कमरे का मुआयना कर सकती हैं। लेकिन अगर वह एकदम फ़फ़क कर रोना शुरू करती हैं, तो मेरा ख़याल है, मैं कुछ हलका हो सकूँगा। हलका और मुक्त।

...लेकिन ऐसी कोई बेबसी नहीं है कि माँ रोयें। सिर्फ़ उन का चेहरा बहुत ज़्यादा स्याह पड़ चुका होगा।...और कठिन से कठिनतर हो रहा होगा।
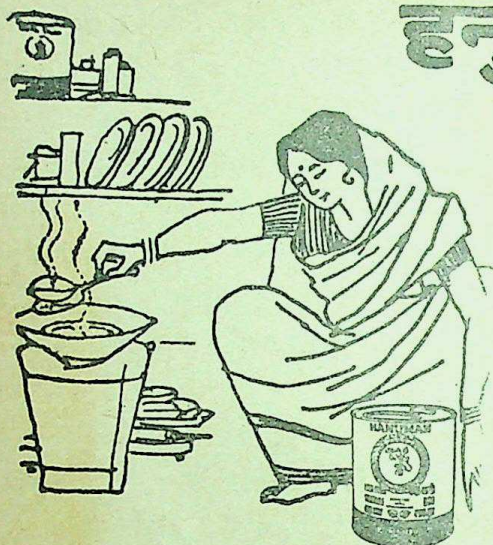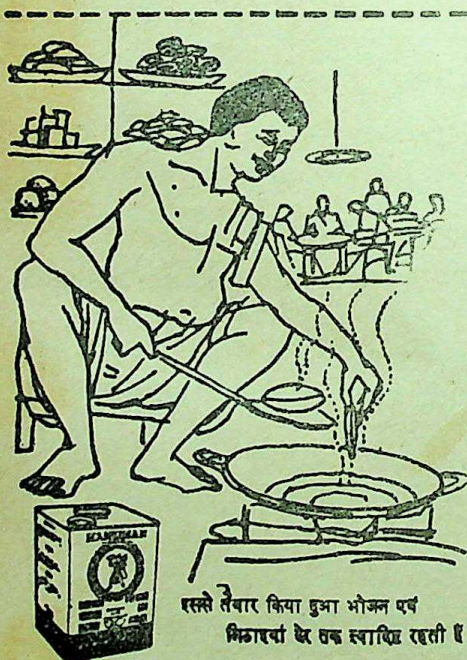
एक 'अन्तर-व्यू'
एक 'इण्टरव्यू'

मिलिए—धर्मवीर भारती से

•

रुद्रनारायण शुक्ल

न जाने किस भले या बुरे क्षण में यह धारणा अन्तर में बहुत गहरे पैठ कर स्थापित हो गयी कि लेखक या कवि अगर 'मनई' नहीं है तो उस का साहित्य कर्म अच्छा हो या बुरा मेरे लेखे निरर्थक है। खासी ऊलजलूल क़िस्म की धारणा थी लेकिन उसे धारे रहने का मौलिक अधिकार, किसी भी अन्य नागरिक की तरह मुझे था, आज है।

प्राय: बीस वर्ष हुए होंगे, लखनऊ में भारती की दो-तीन रचनाएँ पढ़ीं। इन रचनाओं में ताजगी दिखी, स्वच्छता मिली और लेखक में एक आवेग-युक्त आत्मविश्वास का आभास भी हुआ। मन को लगा, कभी इस धर्मवीर भारती नामक व्यक्ति से मिलना चाहिए, कौन जाने 'मनई' टाइप का आदमी हो। कुछ दिनों बाद, इलाहाबाद जाना हुआ। उन दिनों 'संगम' साप्ताहिक का प्रकाशन आरम्भ हो चुका था। भारती उस में संयुक्त सम्पादक थे। मैं सम्पादकी का पेशा छोड़, उत्तर प्रदेश में 'ब्लिट्ज' के विशेष प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। 'निराला' जी इलाहाबाद में ही थे। बहरहाल, प्रयाग की उस यात्रा का वह दिन आज भी याद आता है। सुबह से तीसरे पहर तक निराला जी के साथ बीता, पंजा

लड़ाते, ऊँचाई नापते, खैनी-तमाखू चबाते और उपलों की आँच पर खीर पकाते, और ....निराला जी की हिन्दी-अँगरेज़ी सूक्तियाँ और कटूक्तियाँ सुनते। मैं ने भारती का नाम लिया तो बोले : "आइ थिंक ही राइट्स वैल, ही हैज़ नॉट कम्पेल्ड मी टु रीड हिज़ वर्क्स-आइ एम नॉट इण्टिमेट मच, व्हाइ नॉट यू सी हिम....देखो शायद दमदार हो! हू नोज़!"

सन् १९४९ का प्रयाग में बीता वह दिन और वह शाम आज तक याद है। शाम को दारागंज से अपने ठीहे पर, बार्नेट होटेल लौटा और उसी शाम, रात, भारती से भेंट हुई। मेरे दो बुज़ुर्ग दोस्त, श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री वाचस्पति पाठक साथ थे। घण्टे-डेढ़ घण्टे गपशप रही और ऐसा लगा कि एक खतरे से कहीं ज्यादा खून इस धर्म-वीर भारती नामक व्यक्ति के दिल-दिमाग़ को भिगोता रहता है। दूसरी चीज़ उस पहली मुलाक़ात की जो याद है वह है भारती का अट्टहास। मुक्त कण्ठ से हँस पड़ने वाले हर नर-नारी के प्रति मेरे मन में एक प्रशंसा का भाव सदा से रहा है, और, प्रेमचन्दजी, स्व० बैरिस्टर छेदीलाल और फिर श्रीपत राय और अमृत राय के प्रति मेरे मन में स्नेह और आदर जगाने के कारणों में इन सब की ठहाका-क्षमता का कुछ-न-कुछ हाथ रहा है। भारती का अट्टहास और बेसाख्ता हँस पड़ने की आदत मुझे ठीक याद है, उस रात, मुझे खूब अच्छी लगी थी।

फिर, कुछ बरस बीते। मैं अपने लिखे शब्द बेचने का धन्धा छोड़ कर दूसरों के लिखे शब्दों को खरीदने-बेचने के धन्धे में फँस चुका था। एक विलायती प्रकाशन संस्थान से सम्पृक्त हो कर, लिखित शब्दों के उद्योग को दुनिया के क्षितिजों को, इस के परिप्रेक्ष्य को, आँकने और समझने की क्रिया में फँसा-उलझा था। भारती से फिर भेंट हुई। कहाँ? नैनीताल के पास 'ताकुला' में।....सुन रहा था कि महादेवी जी ने ऐसा आयोजन किया है कि साहित्यिक बन्धु उन की संस्था-द्वारा संचालित 'ताकुला' के 'पर्व-तीय धाम' में एकत्र हों। मैं नैनीताल के मेट्रोपोल होटेल से, एक दिन बड़े सवेरे, इस 'ताकुला' धाम से अपने एक बुज़ुर्ग दोस्त श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव को 'साल्वेज' करने के लिए जा धमका। वे (यानी रम्मू काका) 'साल्वेज' हुए लेकिन वहाँ जा कर जिन तमाम विभूतियों से टकराया उन में भारती नामक 'मनई' विशेष मनभावन लगा। मैं ने कहा इस 'मनई' से कि मैं दो दिन बाद अलमोड़ा, कौसानी, डुमलोट जा रहा हूँ" नैनीताल के आस-पास का इलाक़ा तो शौक़ीनों, सरकारी अफ़सरों और पैसेवालों की मारामार से असह्य हो उठा है....तो, भारती ने कहा, "मैं भी चलूँगा....मुझे भी यहाँ की बोरियत से उबारिए।"....भारती के इस रिमार्क ने, मेरे दिमाग़ में उस की इज्ज़त चौबाला कर दी थी....इतना ही अब याद है। थोड़े में ये कि हम लोग, इस बतकही के चार-पाँच दिन बाद अल्मोड़े में टकराये—लक्ष्य कौसानी था। कौसानी पहुँचते-पहुँचते,

बस में, हम दोनों एक दूसरे के बहुत निकट आ चुके थे। खूब याद है मुझे कौसानी के बस-स्टॉप पर, बस से उतर कर, मैं मगन हो रहा था भारती की निराशा पर कि 'अरे यहाँ तो कुछ भी नहीं।' (चूँकि जानता था कि दो घड़ी बाद 'रिज' के ऊपर पहुँच कर भारती सुध-बुध खो देगा)···'शुक्ल जी बेकार मुझे यहाँ घसीट लाये।'···वही हुआ जो होना था। कौसानी के डाक-बँगले में पहुँच कर जीवन में पहली बार भारती और मैं गले मिले थे, और उस गोधूलि वेला में 'त्रिशूल', 'नन्दा देवी,' 'नन्दा कोट' और 'पंचाचूली' की गवाही में दो गलों और दो छातियों के साथ ही दो 'मनइयों' के दिल भी सदा के लिए एक हो गये थे। भारती को नये क्षितिजों के दर्शन हुए····वह नीचे की धरती पर···इलाहाबादी दुनिया में लौटा ···'ठेले पर हिमालय' लिये!·········मेरे लिए, एक शैव के नाते, वह यात्रा 'देश' की दसवीं यात्रा थी। हिमालय, रवीन्द्रनाथ के शब्दों में 'सब कुछ पा लिया का देश' है। मेरे लिए तो वह मेरे अपने पुरखों के 'देहरी दुआर' की यात्रा थी····और, चूँकि भारती 'ठेले पर' मेरे पुरखों की रियासत का एक टुकड़ा ले कर लौट रहा था इस लिए उस, हिमालय की पथरीली विरासत को हीरों की खान समझने वाले के प्रति प्यार का एक अटूट-सा रिश्ता जुड़ जाना सहज-सी बात थी। नगाधिराजों की छाया में, 'सब कुछ पा लिया के देश में' जुड़ा हुआ दो 'मनइयों' के बीच का वह नाता पिछले बीस वर्षों में अटूट रहा है। (प्रस्तुत सन्दर्भ में यह सफ़ाई देना मुझे जरूरी लगा है।)

बीती हुई इस अवधि में भारती की जीवन-धारा के मोड़ और कर्तृत्वों का लेखा-जोखा समझ कर कई बार दुःख हुआ है कि 'ऐसे से ऐसा न हुआ होता' तो भारती ने अब तक न जाने कितनी सफलताओं की ऊँची-ऊँची चोटियों को रौंद लिया होता।

खुशी होती है यह सोच कर कि नियति का जो जैसा विधान था, उस के बावजूद, भारती ने सफलता की कितनी-कितनी मंज़िलें तय कर डालीं!····

"शकस्तो फ़तेह नसीबों पे हैं वले ऐ मीर,
मुक़ाबिला तो दिले नातवाँ ने खूब
किया।"

···भारती ने इन बीते वर्षों में, मर्मान्तिक पीड़ाओं की कितनी भयानक गहरी घाटियों में परिभ्रमण किया है, इसे जानने वाले ही जानते हैं। लेकिन यह बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि निराशा और सर्वनाश के गहनतम गर्तों में भटकते हुए भी भारती ने अपने 'ठेले पर लदे' हुए 'हिमालय' की आभा को और उस की अविनश्वर शुचिता को अक्षुण्ण रखा है।

यह मात्र संयोग की बात है कि भारती के 'ठेले पर हिमालय' की दीप्ति ने सब से अधिक आलोक 'धर्मयुग' पर बिखेरा। ये अलग बात है कि इस प्रक्रिया में ठेले वाला अपने माथे का पसीना पोंछता रह गया और उस की टेंट में बँधी हुई अहियापुरी अठन्नियाँ 'कल्दार' नहीं बन पायीं।

प्रस्तुत इण्टरव्यू के पाप-पुण्य का सारा

उत्तरदायित्व ज्ञानोदय के सम्पादक का है। मेरे लेखे तो यह दो मित्रों की अनगढ़ बात-चीत है।

●

रुद्र ना० शु० : दो-तीन बार हम लोग 'इण्टरव्यू' के लिए लँगोटा बाँध कर बैठे और हर बार इब्तिदा होते-न-होते हँसी के मारे बुरा हाल हो गया। अब परिस्थिति बहुत विषम हो गयी है, टाल-मटोल चलेगा नहीं। पहले दो-चार साहित्यिक नुक़्तों पर बातें करें फिर और, और, साहित्य से अच्छे विषयों पर भी बातें करेंगे।

भारती : अब अगर आप इस पर तुल ही गये हैं कि हँसी-मज़ाक़ पर पाबन्दी लगा, साहित्यिक झारखण्ड में विचरण किया जाये तो विवशता है। रास्ता आप ही बतायें। कहाँ से मुड़ा जाये ?

रुद्र ना० शु० : क्यों न ज़िन्दगी के उस मोड़ से बात शुरू हो जब 'आतश जवाँ' था और उस ने काग़ज़ की नाव को सरकण्डे के डाँडों के सहारे खेने का प्रयत्न आरम्भ ही किया था ? स्मृतियों को इलाहाबाद के चौक की कोतवाली के चारों ओर क्यों न थोड़ी देर भटकने दिया जाये ?

भारती : कोतवाली के आस-पास के इलाक़ों की याद सदा ही सुखद रही है। हिन्दी की साहित्यिक पुलिस चौकियों की बात अलग है।....लेकिन छोड़िए इलाहाबाद को ! बात कौसानी से शुरू करें—आप को याद होगा कि कौसानी से हम लोग मीलों चढ़ाई कर के घण्टों बाद डुमलोट पहुँचे थे जहाँ आॅर्चर्ड के मालिक ने बड़ी खातिर की थी। थका हुआ देख कर बढ़िया हरी पत्तियों वाली चाय पिलायी थी और फिर एक कमरा खोल दिया था कि हम लोग आराम फ़र्मायें। आप तो थोड़ी देर में खुर्राटे भरने लगे थे पर मैं कमरे में नहीं रह पाया। बाहर धूप में टहलता रहा और मीलों नीचे कत्यूर की घाटी की चाँदी डोरियों वाली नदियाँ देखता रहा, जानते हैं क्यों ?

उस कमरे में क्या-क्या सजावट थी। शिकार किये हुए बघर्रों के सर, तेंदुए की खाल, भोली आँखों वाले शेर, दाढ़ी वाले पहाड़ी बकरे; मुझे एक दम लगने लगा कि इलाहाबाद के जिस अत्यन्त बौद्धिक साहित्यिक वातावरण से जान छुड़ा कर आया हूँ वही फिर हावी हो गया, वही सब लोग यहाँ दीवारों पर चारों ओर।....भागा जान छोड़ कर !

सच्ची बात बोलता हूँ, ईमान से अपनी कभी इस साहित्य-संसार के माहौल से बनी नहीं। साहित्यिक बनने का कभी इरादा भी नहीं था। मशहूर मोहल्ला अहियापुर—अतरसुइया का एक अन्दर से चंचल बाहर से चुप्पा लड़का, हर पास पड़ोस के घर से मिलने वाले निश्छल प्यार में पगा, हर मुँहबोले चचा, ताऊ, भइया, भाभो, दादी, का मुँहलगा; मिलने वाली हर आत्मीयता के आगे फूल-सा बिछा हुआ, नितान्त, नितान्त सामान्य, और हर प्रकार की असामान्यता से भागने वाला; ज़िन्दगी के कुछ खरे-टटके मूल्यों पर गहरी आस्था; देश के नाम पर हो या किसी

सम्बन्धों के नाम पर हो, अपने किसी न्यस्त स्वार्थ को उन के सामने बेमायनी समझने वाला; कमरे के अन्दर डेविड कॉपरफ़ील्ड, जांक्रिस्ताफ़, वार एण्ड पीस, शेले, कीट्स, बोदलेयर की कविताओं, और वानगी के चित्रों और रोदाँ के शिल्पों की दुनिया में खोये रहना, अकेले भटकते समय जमुना किनारे के उजाड़ झरबेरी के जंगलों और अमरूद के बग़ीचों और रेलवे लाइन के पार डूबते सूरज और कम्पनी बाग़ में खिले विलायती फूलों में मस्त रहना, और मुहल्ले के चार दोस्तों के साथ घूमते हुए राजा को लस्सी, बनारसी की मिठाई, हरो के समोसे, कल्याणी देवी की चाट और चौक की गुलाबजामुनों से इश्क़ फ़रमाना–! बताइए, इन तमाम निहायत खूब-सूरत चीज़ों के बीच हिन्दी साहित्य कहाँ फ़िट होता है ? छायावादी अलकें या कवि-सम्मेलनी रेशमी टाई या उस समय प्रचलित अन्य साहित्यिक सैन-बैन, इन में से कुछ भी तो भगवान् ने मुझे दिया नहीं था। हाँ, लिखने की आदत पड़ गयी थी, छपने भी लगा था लेकिन घर में, मुहल्ले में, किसी को भनक नहीं थी कि लड़का इस बुरी राह जा लगा है।

रुद्र ना० शु० : अच्छा जब यारों को पता लगा तब क्या चन्दन-चर्चन अभिनन्दन हुआ, सच-सच बताइए, छिपाइएगा नहीं ?

भारती : आप को वह क़िस्सा बताऊँ जब मेरा साहित्यिक रूप मुहल्ले में खुला। अजब हादसा गुजरा। "मुर्दों का गाँव' छप चुका था। किसी को खबर नहीं थी। 'संगम' में भी काम करता था, 'एक साहित्यिक डायरी' लिखता था, परिमल की गोष्ठियाँ भी होती थीं। तभी छपा 'गुनाहों का देवता'। हमारे अग्रज मित्र श्रीकृष्णदास ने उस की एक रिव्यू लिखी और मेरे एक चित्र के साथ 'सर-गम' में छपा दी।

मुहल्ले में सुबह का अड्डा लगता था तमोली की दूकान पर जो रात को देर तक खुलती थी और सुबह बन्द रहती थी। उसी बन्द दूकान के तख्ते पर बैठक जमती थी। सुबह यार लोग कमीज़-पाजामा पहन कर दातौन करते हुए आते थे और दुनिया भर का चबाव होता था। एक दिन हम पहुँचे कि एक दम बात बन्द हो गयी। मेरा माथा ठनका। सब ने एक दूसरे की ओर भेद-भरी निगाह से देखा, फिर परभू ने मुझ पर निगाह गड़ा कर पूछा : "कस हो धरमवीर, तुम कौनों किताब-उताब लिखे हो का ?" मेरा जी धक से हो गया। तुरत निगाह नीची कर के बोला : "नहीं यार, हम काहे किताब लिखबै। कौनो कुत्ता काटे है का !" गोपी भैया का चेहरा खिल गया। शायद देर से मेरी वकालत कर रहे थे, तमक कर बोले : "परभू ! हम ने क्या कहा था ? अरे कोई दूसरे मुहल्ले का धरमबीर होगा।" परभू अड़े थे। उन्हों ने साक्षात् तसवीर छपी देखी थी। वही काली सदरी, वही उठंगू छल्लेदार बाल, वही अठकोना काला चश्मा ! अन्त में दबी ज़बान स्वीकार करना पड़ा कि तसवीर मेरी है और किताब मैं ने लिखी है।

फिर जिरह का दूसरा दौर शुरू हुआ :

"ये श्रीकृष्णदास तो मोहतसिमगंज में रहते हैं। कॉमरेड हैं। इन को तुम्हारी किताब पर लिखने से क्या मतलब? अच्छा खैर, ये बताओ, इन्होंने लिखा क्या है? कोई बुराई तो नहीं की है?" जब मैं ने कहा कि "नहीं, बुराई नहीं की है", तो फिर समझा कर कहा गया, "देखो तुम बहुत संकोची आदमी हो। बुराई-उराई की हो तो साफ़ बताओ। मुहल्ले का मामला है, समझ लिया जायगा।" जब मैं ने ज़ोर दे कर कहा कि "नहीं, तारीफ़ ही की है", तब बात टली। फिर पूछा गया कि "किताब में तसवीर-उसवीर है?" बताया, "नहीं", तो समझाया गया कि "तसवीर-उसवीर किताब में जरूर रहनी चाहिए, अगली किताब में दे देना।" मैं ने बलपूर्वक कहा कि, "अरे हुआ सो हुआ अब किताब काहे को लिखनी है!" चारों ओर से अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण आश्वासन भरे बोल सुनाई पड़े: "नहीं: मन है तो लिखो। कोई बन्दिश नहीं, लेकिन मुहल्ले की बात पहले मुहल्ले वालों को मालूम होनी चाहिए, लिखा करो तो बता दिया करो।"

मैं ने सन्तोष की साँस ली। इतने में उधर से रामनाथ आ गया और बात इलाहाबाद बैंक पर टल गयी। उस के एक अफ़सर का नया स्कैण्डल था और दत्तचित्त होकर हम लोग वह कथा सुनने लगे। फिर कभी मुझ से साहित्य के बारे में किसी ने बात की हो यह याद नहीं आता।

लेकिन मुझ से पूछिए, यह सारे साहित्य के वाद-विवाद, यश, पद्मश्री-पुरस्कार, जयजयकार के तमाम मध्याह्न एक ओर हों और वह अड्डेबाज़ी की सुबह एक ओर, तो मैं उसी को चुनूँगा। वह कितनी अपनायत भरी, कितनी प्रगाढ़, कितनी सादी और कितनी मानवीय है। 'जेनुइन', बिलकुल प्रामाणिक, सोलह आने प्रामाणिक।

रुद्र ना० शु०: तो आप भी यह महसूस करते हैं कि हिन्दी साहित्यिकता से आप्लावित जीवन ख़ासा नक़ली या अप्रामाणिक होता है? ज़रा खुलासा कीजिए न? इतने संकेतों में उलझा कर क्यों कह रहे हैं?

भारती: देखिए, ये सब खतरनाक सवाल हैं। मुझे क्यों फँसाते हैं मुसीबत में। मैं तो सिर्फ़ यह कहता हूँ कि इस में फ़िट होना बड़ी ज़हमत का काम है। देखिए एक अदद आप का 'दर्शन' होना चाहिए, दस साल पहले वह 'जीवन-दर्शन' कहलाता था, अब बम्बइया बोली में, उस में से भी, जीवन 'खलास' हो गया। उस दर्शन के लिए आधे दर्जन बहुत भारी-भरकम शब्द होने चाहिए। उन शब्दों के साथ आप को खेलना आना चाहिए, मुँह में रख कर कान से निकालिए, कान से निकालिए हाथ पर उछालिए, पलक पर लोकिए, और बस अपनी जगह पर खड़े खड़े यही खेल ज़ोर से करते रहिए और जहाँ ज़िन्दगी की असली ज़मीन नज़र आये वहाँ इन्द्रजाल की तरह सभी शब्द हवा में गायब कर दीजिए। यह सब मैं करना भी चाहूँ तो कर कैसे पाऊँगा फिर नौकरियाँ, पुरस्कार, उपाधियाँ, कमेटियाँ, संस्थाएँ, अभिनन्दन, जयन्तियाँ आदि, आदि···एक मुसीबत है!

'खाऊँ' किधर की चोट बचाऊँ किधर की चोट ?' ये सब झेलने का 'जिगर' हो तो हिन्दी साहित्यिक बनिए। देखिए, हमारे और आप के जैसे सामान्य लोगों के लिए 'इण्टेग्रिटी' नाम की एक ज़बर्दस्त विवशता है जिस से हम मुक्त नहीं हो पाते। मसलन, एक अदद समस्या है खाने-कमाने की। महज़ साहित्यकार बन गये तो उस से पारस-पत्थर तो मिल नहीं गया। या फिर साहित्यकार होने के नाते वज़ीफ़ा-खोर बनिए। लेकिन यदि स्वाभिमान रखना चाहते हैं तो सुबह शाम की दाल-रोटी चलाने के लिए कहीं कोई काम तो करना पड़ता है। वह मास्टरी हो, या क्लर्की हो। अब या तो काम न लो, अगर लिया है तो एक ईमानदार कामगार से जो उम्मीद की जाती है उसी निष्ठा से उस काम को निभाओ, उसे समाज के लिए उपयोगी और सार्थक बनाओ और पसीने की कमाई खाओ। फिर इन्सानी रिश्ते हैं, फ़र्ज़ हैं, किसी से हम पाते हैं, किसी को देते हैं। जितनी आत्मीयता, करुणा, स्नेह, मैत्री, प्यार, ममता, सच्चे स्तर पर ज़िन्दगी में मिली है, उसी ने तो हमें बनाया है। उस का तक़ाज़ा है कि चाहे कुछ भी क्यों न लुटाना पड़े, लेकिन इन बुनियादी बातों में (अपने तमाम वैयक्तिक, आर्थिक सामाजिक राजनीतिक सम्बन्ध-सूत्रों में) उसी खरी 'इण्टेग्रिटी' का परिचय दें। वही एक बीज है जो हमारी, चारों ओर की, निहायत जटिल और पेंचदार ज़िन्दगी को प्रामाणिक और सच्चा बनाती है। यह प्रक्रिया चाहे कितनी तकलीफ़देह क्यों न हो लेकिन इस के अलावा सचमुच जीने का कोई रास्ता नहीं।

इन तमाम सन्दर्भों में बिना गहन निष्ठामयी प्रतिबद्धता के केवल अपनी साहित्यिक स्थिति पर आसीन हो कर शब्दों की बाज़ीगरी के सहारे जीते जाना, वह कहीं मुझे बहुत अभिशप्त, बहुत अमानुषिक स्थिति लगती है। उस अमानवीयता में टँगे रह कर भी, उस स्थिति में जो सुख पाने लगते हैं उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ, मगर वह साधना मेरे वश की नहीं, इसी लिए मुझे यह सारा कष्ट, दर्द, तकलीफ़, टूटन और संघर्ष का ही रास्ता बेहतर लगता है क्योंकि यहाँ 'इण्टेग्रिटी' बनी रहती है। लिखना चाहे जितने विशिष्ट ढंग से हो लेकिन जीवन जीना एक अति सामान्य मनुष्य की तरह ही हो।

रुद्र ना० शु० : आप सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते कि हिन्दी का औसत साहित्यकार जीवन जीता ही नहीं।

भारती : देखिए, ऐसे सवाल कर के मुझे धर्मसंकट में क्यों डाल रहे हैं ? उस की कोई जीवन-पद्धति होती होगी जो वह जीता होगा। मुझे साहित्यकारों में अनेक ऐसे आदरणीय लोग मिले हैं जो हमारी आप की तरह इस इण्टेग्रिटी के मर्ज़ में मुब्तिला हैं और हमारी-आप की तरह कष्ट भोग रहे हैं। लेकिन, हारते नहीं चाहे टूट जायें। किन्तु ऐसे लोग हर पीढ़ी में बस उँगलियों में गिनने लायक़ हैं, और वे सभी 'साहित्यिक दुनिया' में हमारी आप की तरह 'आउट-साइडर' हैं, दुःख से नहीं, सुख से

'आउटसाइडर'।

अन्दर जा कर तो उन्हें वही महसूस होता है जो मुझे डुमलौट वाले कमरे में हुआ था।

अच्छा, शुक्ल जी, आप ही ईमानदारी से बताइए कि ऐसे चन्द लोगों के अलावा जब हिन्दी का एक औसत साहित्यकार आप की केबिन का दरवाज़ा खोल कर दाखिल होता है तो आप को दो बातें करने के बाद ही क्या यह नहीं लगता कि हाड़ माँस के जिन साधारण लोगों से हमारी जान-पहचान, दोस्ती और प्यार है उन से बिलकुल अलग डिजाइन का यह आदमी कहाँ से आ गया? यह अलग डिजाइन का आदमी जो भाषा बोलता है उस के शब्द तो सभी हिन्दी के हैं लेकिन उन का मतलब फिर कुछ क्यों नहीं होता, उस से कहीं मन का कोई तार क्यों नहीं छूता, झंकार क्यों नहीं पैदा होती?

रुद्र ना० शु० : कोई-न-कोई मतलब तो होता ही होगा उस की बात का, आप और हम न समझ पाते होंगे। वैसे यह तो सच है कि औसत हिन्दी साहित्यकार ज़रूरत से ज़्यादा बोलता है और अनजाने, अपनी बोली और लिखाई से ग़रीब शब्दों को विश्री और निस्तेज-निरर्थक बनाता रहता है।

भारती : इस में पेंच दूसरा है। शादी, सभा-सोसायटी में जब कोई लाउडस्पीकर फ़िट करता है तो पहले जोर से बोलता है—'हलो', 'हलो'! वह सभा में किसी खास को हलो-हलो नहीं कहता। कोई उस का जवाब भी नहीं देता। वह चारों ओर भोंपुओं से अपनी हलो-हलो खुद सुनता है और सन्तुष्ट हो जाता है। वही हाल आज औसत हिन्दी लेखक का है। एक किसी लाउडस्पीकर पर खड़े हो कर वह हलो-हलो कह देता है, फिर उस छपी हुई हलो-हलो को खुद पढ़ लेता है और सन्तुष्ट हो जाता है। या इसी को बहुत व्यापक किया तो समझ लीजिए कि हिन्दी में अति-बड़े, बड़े, मझोले, छोटे, अति-छोटे, नव-जात, कुल मिला कर एक हज़ार लेखक होंगे। बस ये एक हज़ार हलो-हलो कह लेते हैं, एक हज़ार हलो-हलो सुन लेते हैं, और समग्र हिन्दीभाषी क्षेत्रका साहित्यिक काम 'तमाम' हो जाता है। आप उस दिन बहुत उत्साह में कह रहे थे कि हिन्दीभाषी इतने करोड़ हैं। वह संसार की तृतीय सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा है, यू० एन० ओ० में उस का स्थान होना चाहिए, मगर पहले हिन्दी लेखक से तो पूछिए। उस के लेखे हिन्दी कुल एक हज़ार छोटे-बड़े, अस्तमान से ले कर उदीयमान, लेखकों की भाषा है बस,···'वरना यह समुदाय अपनी निरर्थक हलो-हलो इसी समुदाय से सुन कर सन्तुष्ट हो कर, क्यों बैठ जाता।

रुद्र ना० शु० : आप ने हिन्दी भाषियों की संख्या तो गिना दी लेकिन हिन्दी-भाषी होने का अर्थ हिन्दी का 'सुसंस्कृत पाठक' तो नहीं हो जाता? हिन्दी में पाठक ही अगर वही हों जो लेखक हैं, बस, उस के बाहर पाठक ही न हों तो? हमारे बहुतेरे लेखकों-सम्पादकों की कुछ ऐसी ही धारणा है।

भारती : यही तो वह बेहद दिलचस्प

विडम्बना है जिस का शिकार अनजाने में ही हिन्दी लेखक हो गया है। बहुत पहले की बात मैं नहीं जानता लेकिन पिछले पन्द्रह सालों में हिन्दी पाठक की संख्या और सुरुचि में एक ऐसी ज़बर्दस्त क्रान्ति हुई है जिस की ओर से हमारा औसत लेखक बिलकुल आँख-कान मूँद कर बैठा हुआ है। जहाँ एक ओर लेखक अपना एक हज़ार 'लेखक-पाठकों' का दायरा बना कर जीवन के व्यापक सन्दर्भों से कटा हुआ, मानवीय तत्वों से भी विच्छिन्न, एक सामान्य मूल्यपरक सामाजिक जीवन की सारी प्रतिबद्धताओं से भाग कर, आत्म-प्रवंचनाओं और अर्थहीन खोखले शब्दों की बाज़ीगरी में जीता हुआ, सृजनात्मक स्तर पर सीमित, एकांगी, हलका और सारविहीन होता गया है, वहीं हिन्दी का बहुसंख्यक, सुशिक्षित, ज्ञानपिपासु पाठक, उत्तरोत्तर जागरूक, प्रबुद्ध और नीर-क्षीर विवेकी होता गया है।

आज से पन्द्रह साल पहले कुछ न्यस्त स्वार्थों वाले अँगरेज़ी पत्रकारों और कुछ सुरुचिविहीन हिन्दी पत्रकारों ने एक धारणा सामान्य हिन्दी पाठक के बारे में बना रखी थी कि वह पिलपिली भावुकता भरी कहानी, कवि-सम्मेलनी गीत, पाखण्डपूर्ण धर्म-प्रवचन, भड़कीले कैलेण्डरी शिव-पार्वती के चित्रों और फ़िल्मी चोचलों का पाठक मात्र है। लेकिन पिछले दस-पन्द्रह साल में हिन्दी पाठक ने आगे बढ़ कर उस धारणा को चूर-चूर किया है। आज हिन्दी की सब से लोकप्रिय पत्रिका में, कई लाख पाठक जिस सामग्री का उत्साह से स्वागत करते हैं वह एक सुखद आश्चर्य है। समाजवाद से ले कर अस्तित्ववाद तक की बारीकियों पर देश के शीर्षस्थ विद्वानों की पुरज़ोर बहसें, प्रशासन, सुरक्षा, अर्थनीति, चुनाव, राजनीतिक तनाव, सम्प्रदाय, वर्ग, शिक्षा, परिवार, जाति के द्वन्द्वों पर प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों, समाज-शास्त्रियों, विधि-शास्त्रियों और शिक्षा-शास्त्रियों के तर्क-वितर्क, और साहसपूर्ण विचार-विनिमय, पुरातत्त्व की खोज से ले कर चन्द्र-यात्रा के अभियान तक को नवीनतम प्रगति, चित्रकला, कथा, काव्य, रंगमंच से ले कर फ़िल्म विधा तक के नवीनतम देशी-विदेशी साहसिक प्रयोग और उपलब्धियों—इन सब के प्रति उन का कौतूहल कितना उत्साहवर्द्धक है? और, वह केवल इस का मूक श्रोता नहीं है, वह आगे बढ़ कर इस संवाद में भाग लेता है और जब समस्याओं पर उस की आवाज़ उठती है तो अचरज होता है देख कर कि वह कितना जागरूक है, कितना प्रौढ़ और परिपक्व! यह इस बात का प्रमाण है कि उस की बुनियादी इण्टेग्रिटी बरक़रार है। ये पाठक व्यापक सामाजिक सन्दर्भ से गहरे ढंग से जुड़े हैं, समस्याओं से पलायन नहीं ढूँढ़ते, अपनी संवेदना को ग्रहणशील बनाने और अपनी जानकारियों को और भी समृद्ध करने में लगे हुए हैं।

लेकिन हमारा औसत हिन्दी लेखक! बस कहलाइए मत। बीरबल ने एक मज़ाक़ किया था। एक लाइन के आगे बड़ी लाइन खींच दी थी और पहली लाइन अपने आप छोटी

हो गयी थी। कुछ ऐसा ही मज़ाक़ इतिहास ने हमारे लेखक के साथ किया है। पाठक बड़ा हो गया है, लेखक जहाँ का तहाँ बना रहा।

रुद्र० ना० शु० : यह एक ऐसी बड़ी सचाई है जिसे सही ढंग से समझा ही नहीं जा रहा। अधिकतर नये हिन्दी लेखकों पर इस विपर्यय की क्या प्रतिक्रिया हुई है? (खासतौरसे वह लेखक-वर्ग जो पिछले दस वर्षों में उभर कर सामने आया है?)

भारती : बहुत अद्‌भुत! एक आत्म-रक्षात्मक आक्रमण होता है न, वही! कुछ युवा पीढ़ी के गम्भीर लेखकों और कुछ अत्यन्त सशक्त रचनाओं को अपवाद मान लीजिए। लेकिन उन में जो बड़-बोले हैं उन्हों ने जीवन के व्यापक सन्दर्भों से जुड़ कर, रचनात्मक स्तर पर, अपने को ठोस, और संवेदना के स्तर पर गहन, और ज्ञान के स्तर पर जागरूक और परिष्कृत बनाने के बजाय, डरे हुए गोरुओं की तरह झुण्ड बाँध कर एकदम से सुरुचिसम्पन्न प्रबुद्ध पाठकों की दुनिया पर हमला बोल दिया! यह हुई है प्रतिक्रिया!

रुद्र ना० शु० : मगर उन का यह हमला (उन के कहे बमूजिब) तो व्यावसायिकता पर है, पाठक पर तो नहीं?

भारती : यही तो मज़ा है। उन की नज़र में व्यावसायिकता की कसौटी क्या है? वह सामग्री नहीं जो पत्र में छपती है, वह ज्वलन्त समस्याएँ नहीं जिन पर उस में व्यापक बहस चलती है।

व्यावसायिकता का एकमात्र प्रमाण है कि उसे लाखों पाठक पढ़ते हैं। गुस्सा तो उन्हें इस बात का है कि एक हज़ार लेखकों और पाठकों की एक दुनिया बनी हुई है, जिस में हलो-हलो हो रहा है, और, काफ़ी था उन का यह साहित्यिक और सांस्कृतिक अभियान! लेकिन, ये कम्बख्त लाखों पाठक कहाँ से आ गये जो हमारी आपसी हलो-हलो को अनसुनी कर के राष्ट्र, इतिहास, पुरातत्त्व, चित्रकला, काव्य, संगीत, स्थापत्य, समाज-शास्त्र, विज्ञान, सभी पर एक ज्वलन्त वाद-विवाद कर रहे हैं। इतनी हीन-ग्रन्थि इस पाठक के सामने यह 'सिन्धल-सन्दली, जाँघ जंगली' लेखक महसूस करता है कि आवेश में आ कर वह घोषित कर देता है कि उस को पत्रिका के साहित्यिक होने का एक ही प्रमाण है : उस में छपी सामग्री नहीं, बल्कि यह तथ्य कि वह पाठक-विहीन है। यानी वही नाम या वैसी ही रचना पाठक-युक्त पत्रिका में छपे तो व्यावसायिक। रचना की आन्तरिक कसौटी कुछ नहीं, बस साहित्यिक होने की एक शर्त कि उस के पाठक न हों।

लेखक के ज़्यादा जागरूक और प्रबुद्ध होने की यह सज़ा साठोत्तरी लेखक ने हिन्दी पाठक को दी है। व्यंग्य यह है कि यह अत्याधुनिकता के नाम पर बहुत पुराना सड़ा-गला कछुआ धर्म-पालन है। जब हिन्दू धर्म बहुत दलित दशा को प्राप्त था तब उस ने धार्मिकता की एक कसौटी निकाली, सब से कटकर कछुए की तरह सिमट जाओ। समुद्र-यात्रा करोगे धर्म चला जायेगा। नल का पानी पियोगे धर्म चला जायेगा। बिस्कुट खाओगे धर्म चला जायेगा। यह नये ज्ञान-

विज्ञान के आगे हीनता अनुभव करने वाले भयभीत मानव की धार्मिकता थी। वैसे ही ये लोग हैं जिन की साहित्यिकता का सार है, सब से कट जाने में···डरा हुआ हीन-ग्रन्थि-युक्त मानस !

रुद्र ना० शु० : लेकिन मैं तो यह कहता हूँ कि सामाजिक मूल्यों के सन्दर्भ में, सृजनात्मक पत्रकारिता और तथाकथित सृजनात्मक लेखन में क्या सचमुच इतना बड़ा अन्तर है कि एक को हेय और दूसरे को श्रेयस्कर मानने की अपने यहाँ की परम्परा को आज भी ग्राह्य माना जाये ?

भारती : हेय और श्रेयस्कर की बात मैं नहीं करूँगा, कुछ अंशों में वे एक दूसरे के पूरक और सहायक जरूर हो सकते हैं। लेकिन एक दूसरे नजरिये से इसे ज़रूर देखा जाना चाहिए। केवल पत्रकारिता को नहीं, उन अनेक विधाओं को जो जनोन्मुख भी हैं और कलाधर्मी भी। मसलन पत्रकारिता, रेडियो, फ़िल्म। उन का यह भी खतरा है कि वे अपरिष्कृत सस्ती रुचि का आश्रय लेकर त्वरित व्यावसायिक लाभ उठाने की कोशिश करें, और दूसरी ओर उन की सम्भावना यह भी है कि वे एक नया मार्ग अपना कर, लोकप्रिय बनकर भी, जनशिक्षण और रुचि-परिष्कार करते हुए बहुत बड़ी संख्या में पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों की सच्ची कला रुचि को उभारें। वस्तुतः इन माध्यमों के द्वारा ही यह सम्भव था, और हमारे लोकतन्त्र के विकास काल में इन माध्यमों का ऐसा वांछनीय उपयोग हो सके, इस के लिए यह आवश्यक था कि जिन के हाथ में ये माध्यम हों वे बड़े साहस, सूझ-बूझ, धैर्य, दूरदर्शिता, और ज़रूरत पड़े तो अकड़ और लड़ाकूपन से भी, इन विराट् माध्यमों को विशाल जनशक्ति और गहन कलाभिरुचि के संयोजन का सेतु बनायें। लेकिन हमारे जो भी साहित्यिक इन क्षेत्रों में गये, लगा कि वे इस विराट् चुनौती को साहस पूर्वक स्वीकार कर अपनी सार्थकता सिद्ध करने नहीं गये, बेसमझे-बूझे ललकते हुए चले गये, पिटकर बिलखते हुए निकल आये।

रुद्र ना० शु० : आपने जो 'अपरिष्कृत जनरुचि का आश्रय लेकर व्यावसायिक लाभ उठाने' और इस के विपरीत 'सच्ची कलाभिरुचि को उभारने के प्रयत्नों' से सम्बन्धित समस्या के जिन दो पहलुओं का उल्लेख किया, वे दोनों ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। क्या दोनों ही दिशाओं में हिन्दी लेखक और सम्पादक के तत्तत् क्षेत्रों में, चिन्तन और कर्म प्रायः शोचनीय और प्राणहीन नहीं लगते ?

भारती : जहाँ तक सस्ती जनरुचि का आश्रय लेकर त्वरित व्यावसायिक लाभ उठाने वाले क्षेत्र का प्रश्न है, उस दिशा में महत्त्वपूर्ण लेखकों और सम्पादकों के चिन्तन और कर्म प्राणहीन होने ही चाहिए, बल्कि प्राणवान चिन्तन वाले लेखक सम्पादक भी अगर किसी प्रतिष्ठान में जायें और अदूरदर्शी मैनेजमेण्ट और सस्ती अभिरुचि और त्वरित व्यावसायिक लाभ के लिए ही उन को मजबूर करे तो व्यावसायिक लाभ होगा या नहीं, मैं नहीं

जानता, पर वे दिनोदिन चिन्तन और कर्म के स्तर पर प्राणहीन होते चले जायेंगे इस में रंचमात्र सन्देह नहीं। लेकिन जो दूसरी दिशा है, जनोन्मुख माध्यमों [पत्रकारिता, रेडियो, फ़िल्म, टेलीविजन] के द्वारा जनशिक्षण और सच्ची कलाभिरुचि को उभारने का प्रयत्न, इस में ज़रूर उन के चिन्तन और कर्म की तेजस्विता और प्रतिभा की सूझ-बूझ का एक सृजनात्मक संयोजन हो सकता है। सच बात तो यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले दस-बारह वर्षों में यह काम पूरे ज़ोर-शोर से होना चाहिए था, लेकिन शोचनीय यह है कि उन्हीं दिनों जनोन्मुख माध्यमों से जो हिन्दी लेखक सम्बद्ध हुए उन में चिन्तन और कर्म की प्राणवत्ता तथा जनशिक्षण के लिए माध्यम की प्रवृत्ति पर अधिकार का अभाव दीख पड़ा।

रुद्र ना० शु० : जब आप यह कहते हैं कि "हमारे लेखक इन क्षेत्रों में ललकते हुए गये और बिलखते हुए चले आये," तो ऐसा ध्वनित होता है कि इन में चुनौती को जीत लेने की योग्यता थी, सामर्थ्य थी, किन्तु परिस्थितियों और उन के दुर्भाग्य ने उन्हें सफल नहीं होने दिया। लेकिन क्या आप इस से सहमत हैं या यह विचार ठीक है कि इन में न चुनौती को स्वीकारने की योग्यता थी न क्षमता। मात्र एक मिथ्या अहं और 'हलो-हलो-मण्डली' में अर्जित प्रतिष्ठा का चेक भुनाने का लोभ ही उन्हें उन क्षेत्रों में ले गया था।

भारती : नहीं, मैं यह नहीं मानता कि उन सबों में योग्यता या क्षमता की कमी थी। अनेक अवश्य अपने में प्रतिष्ठित रचनाकार होते हुए भी उस माध्यम विशिष्ट के लिए सक्षम न थे जिन में वे बेसमझे-बूझे आ लगे थे। लेकिन अनेक ऐसे थे जिन में माध्यमोचित क्षमता भी थी, सूझ-बूझ भी। लेकिन जो परिणाम सामने आया उस में उन के चिन्तन और कर्म का कोई प्रतिफलन नहीं दीख पड़ा। जिस काल की मैं बात कर रहा हूँ, यानी स्वतन्त्रता के प्रथम दस वर्ष (यानी '४८ से '५८ तक) उस समय अखबारों और पत्रिकाओं में (चाहे वे सरकारी हों या प्राइवेट), रेडियो में, शिक्षा-योजनाओं में, चुन-चुन कर प्रतिष्ठित लेखक गये। लेकिन दस वर्षों में उन्होंने जो परिणाम पेश किया उस से व्यापक धारणा वही बनी, जिस का आप ने संकेत किया है। बल्कि कई अहिन्दी भाषी तो यह कड़वी आलोचना करते हैं कि हिन्दी लेखक को हिन्दी राष्ट्रभाषा होने की बख़्शीश मिली और अनेक अभी तक पेंशन के दावेदार हैं। अगर हम ने उन दस वर्षों में इन माध्यमों का सही उपयोग कर सचमुच एक अभिरुचिपरक क्रान्ति पैदा कर दी होती तो इस तरह की बात हमें न सुननी पड़ती।

रुद्र ना० शु० : लगता है धर्मयुग में 'साप्ताहिक भविष्य' छापते-छापते आप भी ग्रह-दशा की लीला में कहीं विश्वास करने लगे हैं?

भारती : कैसे?

रुद्र ना० शु० : आप के वक्तव्य से यही आभास मिलता है। आप के कथनानुसार इन में से अनेक लेखकों में योग्यता भी

था, लेकिन वे असफ़ल ही रहे। ज़रूर यह उन के ग्रहों का ही प्रभाव होगा।

भारती : हाँ, प्रभाव तो ग्रहों का भी था लेकिन वे ग्रह नेलर मार्का आसमानी न हो कर इसी ज़मीन के थे। जिन सरकारी या ग़ैर-सरकारी हाथों में प्रतिष्ठान थे, वे भी उन दिनों इन माध्यमों की अन्तर्निहित कलात्मक सम्भावना और जनशिक्षण-प्रयोजन के सम्बन्ध में बहुत ही नासमझ थे। वे लेखकों को क्यों बुला कर ले गये उस के कारण दूसरे थे। मसलन सरकारी सूचना-विभाग को ही लीजिए। विभिन्न सरकारी पत्र-पत्रिकाओं के लिए विभिन्न नेताओं की निगाह में अपने-अपने आदमी थे। माध्यम की उपयोगिता या सम्भावना नहीं। जहाँ तक रेडियो का सवाल है, उस के ख़िलाफ़ एक आन्दोलन चल रहा था और ज़रूरत थी कुछ शीर्षस्थ लेखकीय नाम उस के साथ जोड़ने की। यहाँ भी माध्यम की सम्भावना और प्रयोजन पर सोच-विचार का कोई सरोकार नहीं रहा। अब लीजिए, ग़ैर-सरकारी प्रतिष्ठान। उन में हिन्दी-प्रेम, पुराण पन्थ और त्वरित व्यावसायिक लाभ का विचित्र मीडियाकर मिश्रण हावी था। कुछ प्रतिष्ठानों में अब नयी दृष्टि का आभास मिलने लगा है लेकिन बहुतेरे अब भी लकीर के फ़क़ीर हैं वैसे त्वरित व्यावसायिक लाभ बनाम रुचि-परिष्कार की बात हो चाहे हिन्दी बनाम अंगरेज़ी की बात हो, चाहे देश के प्रति प्रतिबद्धता की बात हो या पत्रकार के चिन्तन-स्वातन्त्र्य की बात हो—इन प्रतिष्ठानों की दोमुँही और दोगली भ्रष्ट नीति पर भी कुछ बेलाग दो टूक बातें हो जानी बहुत ज़रूरी हैं।

रुद्र ना० शु० : इस में ज़रा भी शक नहीं....ख़ूब विस्तार से इस विषय पर आप से बात होगी....ज़रा-सा आगे चल कर। अभी यह स्पष्ट हो ले कि असफलता का पूरा उत्तरदायित्व क्या 'इन का' नहीं, 'उन का' ही है।

भारती : नहीं सारा ज़िम्मा नहीं, आंशिक ! आधा ज़िम्मा लेखक का भी है। लेखक अगर निष्ठावान और साहसी हो तो वह इन चौखटों को तोड़ भी सकता है। एक उदाहरण मैं दूँ : अख़बारों और रेडियो से नहीं, सूचना-विभाग के फ़िल्म्स डिवीजन से। आप को मालूम है कि अभी पिछले वर्षों में श्री भावनगरी ने फ़िल्म्स-डिवीजन का संचालन किया और फ़िल्म्स-डिवीजन के पुराने, घिसे-पिटे, कलाहीन ढाँचे के ख़िलाफ़ उन्होंने विद्रोह किया। अफ़सरशाही और लालफ़ीताशाही से जम कर लड़ाई की और दो-चार साल के ही अन्दर जो चमत्कार हुआ उस के साक्षी हैं वे अत्यन्त कलात्मक फ़िल्म-प्रयोग जिन्हों ने बिलकुल नये प्रतिमान क़ायम किये हैं। मैं सिर्फ़ एक बात नहीं समझ पाता, कि हमारे अत्यन्त सक्षम और योग्य लेखक ने अफ़सरशाही या व्यावसायिक तन्त्र के समक्ष इस स्वाधीन चेतना, सूझ-बूझ, माध्यम की पकड़ और समझौता न करने के साहस का परिचय क्यों नहीं दिया। जब कि उन में से अनेक की प्रतिष्ठा बहुत ऊँची थी और

उन का दर्जा उन के अपने पेशे में भावनगरी से कहीं बड़ा था।

रुद्र ना० शु० : आप ने हिन्दी साहित्यिक जीवन को आमतौर पर नापसन्द करते हुए यह कहा था कि अनेक लोग हर पीढ़ी में ऐसे हैं जिन में इण्टेग्रिटी है, हालाँकि वे उँगलियों पर गिने जाने योग्य हैं ?

भारती : हाँ कहा था !

रुद्र० ना० शु० : आप ने यह भी कहा था कि तथाकथित युवालेखन में भी, बड़बोले आक्रामकों के अलावा कुछ गम्भीर लेखक हैं, और सशक्त लेखन है ?

भारती : हाँ यह भी कहा था।

रुद्र ना० शु० : ऐसे छह गद्यलेखकों और ऐसे छह कवियों के नाम दें जो चालीस वर्ष से कम वय के हों और जिन्होंने पिछले दस वर्षों में ऐसी कृतियाँ प्रस्तुत की हों जिन्हें समकालीन अँगरेज़ी कृतियों के द्वितीय वर्ग की कृतियों से तुलनीय माना जा सके। इस प्रश्न का उत्तर देते समय कृपया भावुकता, और अपने हिन्दी के प्रति निःशेष भाव से समर्पित मानस को आड़े न आने दें, प्लीज़ !

भारती : वैसे छह का भी नाम लिया जा सकता है और सोलह का भी। चालीस वर्ष से कम का भी और ज़्यादा का भी। लेकिन मेरा खयाल है कि नामों में बात उलझाने से आप के प्रश्न का सही उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। क्यों कि आप के प्रश्न में मूल आग्रह इस बात का है कि इधर का समस्त अच्छा हिन्दी लेखन भी अँगरेज़ी के द्वितीय वर्ग के लेखन का समकक्ष नहीं हो पाता। मुझे ऐसा नहीं लगता। हिन्दी की जो मसनूई साहित्यिकता है और तत्वहीन लेखन है उस के बारे में अपनी राय बता चुका हूँ, लेकिन पिछले बीस-पचीस वर्षों में हर पीढ़ी के इने-गिने लोगों की जो सचमुच सशक्त कृतियाँ आयी हैं उन में से अनेक कृतियाँ अँगरेज़ी के द्वितीय श्रेणी के समकालीन लेखन से कहीं अच्छी हैं। बल्कि मैं यह कहना चाहूँगा कि पश्चिम के अनेक बहुचर्चित नितान्त समसामयिक नामों को जब मैं ने पढ़ा तो उन में से कुछ तो बहुत ही प्रभावशाली लगे लेकिन कुछ की रचनाएँ पढ़ कर लगा कि उधर भी काफ़ी आपाधापी और भेड़ चाल आज कल चल रही है। कुल मिला कर सार्त्र, नेरुदा, पेस्तरनाक वाली पीढ़ी के बाद के जो भी लोग आये, चाहे वे गिन्सबर्ग हों या जान आस्बोर्न हों या येवतुशेंको हों, वे एक आध बहुत चमकदार चीज़ें देने के बाद फिर कुछ वैसा नहीं दे पाये। कुछ ऐसे हैं जिन की बहुत चर्चा हुई मगर उन में कुछ था ही नहीं जैसे लन्दन की बहुचर्चित दुस्साहसी लेखिका विडि ब्राफ़ी। कुछ ऐसे हैं जिन की चर्चा कुछ अन्य विकृतियों के कारण बहुत हुई पर जिन के लेखन में मुझ को ऐसी कोई गहराई नहीं मिली (जैसे जाँ गेने)। आप ने अँगरेज़ी लेखन की बात की थी, मैं ने उसे थोड़ा व्यापक कर दिया यानी वह लेखन जिस की चर्चा हिन्दी लेखकों में अँगरेज़ी के माध्यम से होती रही है।

रुद्र ना० शु० : आप के उत्तर से ऐसा लगता है कि मैंने अपना प्रश्न ही अस्पष्ट रूप

मैं आप के सामने रखा। सार्त्र, नेरुदा, पेस्तरनाक आदि की कृतियाँ विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं, किन्तु यदि हम लोग 'साहित्य' और 'लेखन' शब्दों के भेद के बारे में सचेत रह कर सोचें तो मेरे प्रश्न का परिप्रेक्ष्य थोड़ा भिन्न दिखाई देगा। उदाहरण के लिए पिछले दस वर्षों में प्रकाशित अँगरेज़ी के ऐसे दो सौ ग्रन्थों की सूची मैं आप को दे सकता हूँ जो महीनों 'बेस्ट सेलर्स' की सूची पर रहे, लाखों प्रतियाँ बिकीं और फिर भी, उन में से आठ-दस को छोड़ कर शेष के लेखक न तो अँगरेज़ी के शीर्षस्थ साहित्य चिन्तक-लेखक हैं, न ही ये रचनाएँ उस कोटि की थीं जिन्हें अपरिष्कृत रुचि को 'एक्स्प्लॉयट' करने वाले प्रयोगों की कोटि में रखा जा सके। अपनी बात को और भी स्पष्ट करने के लिए मैं यह कह सकता हूँ कि यदि पिछले पांच वर्षों में धर्मयुग में प्रकाशित सभी गद्य रचनाओं का लेखा-जोखा बनाया जाये तो शायद अधिक ताज़गी भरी, साधारण पाठक की रुचि को अधिक परिष्कृत करने वाली, और निरे क्राफ़्ट की दृष्टि से भी अधिक सरल मानी जा सकने वाली रचनाएँ, उन लेखकों ने प्रस्तुत की हैं जो विशुद्ध साहित्यिक जीव नहीं हैं,—पेशे की दृष्टि से भी नहीं, प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी नहीं।

भारती : हाँ, उत्तर देते समय मेरी दृष्टि में इस लेखन की बात नहीं थी। यह एक अलग कोटि का लेखन है। पत्रकारिता में एक ताज़गी भरा मोड़ आना ही सम्भव नहीं है—इस प्रकार के परिष्कृत रुचि वाले ताज़गी भरे लेखन के बिना। वह साहित्यिकों के द्वारा आता है या ग़ैर-साहित्यिकों के द्वारा इस से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। पश्चिम में लेखकों की एक बड़ी संख्या है जो इसी प्रकार का लेखन करती है और अपने स्तर पर लोकप्रियता भी अर्जित करती है और प्रतिष्ठा भी। कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो शुद्ध साहित्यिक लेखन के अलावा ऐसा लेखन भी करते हैं, मसलन ग्राहम ग्रीन। एक ओर उस के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास भी हैं और दूसरी ओर उस के 'एण्टरटेनर्स' भी। दोनों ही में वह अपना वही नाम देता है। और दोनों ही में उस की भारी प्रतिष्ठा है। लेकिन याद रखने वाली बात यह है कि इस प्रकार का जन-शिक्षण और जन-रंजनकारी लेखन किसी भी समाज के लिए साहित्यिक लेखन का पूरक बन सकता है उस का पर्याय नहीं। कुछ लोग उसे साहित्यिक रुचि का विरोधी मानते हैं, लेकिन यह आवश्यक नहीं। यदि सही दिशा की ओर उन्मुख हो तो ऐसा लेखन ज़्यादा बड़े पाठक वर्ग को तैयार करता है कि वे गम्भीर, सुरुचिपूर्ण, मूल्यवान, सच्ची साहित्यिक कृति को समझ सकें। लेकिन उच्च स्तर की साहित्यिक कृति की कमी को तो उच्च स्तर की साहित्यिक कृति मात्र ही पूरा कर सकती है इस लिए बेहतर हो कि हम उसी की बात पर फिर लौटें। (शेषांश अगले अंक में)
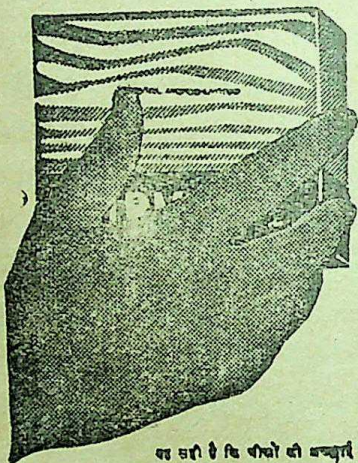
■ ■
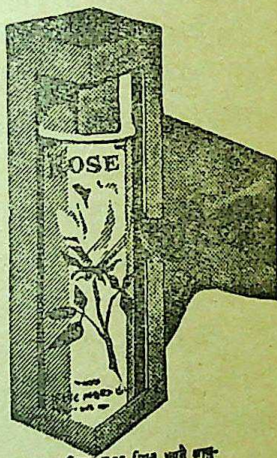
एक उपन्यास और वह उम्र

इन्द्रजीत विनायक

वे दिन कॉलेज के थे। सन् १९५८ में हम नये-नये फ़स्ट ईयर में, मेरठ कॉलेज, मेरठ, में भर्ती हुए थे। कुछ मस्ती थी, कुछ बेफ़िक्री थी जो दिन-रात इधर-उधर दौड़ते फिरने पर, या बैठने पर भी हवाई महल बनाने पर मजबूर कर देती थी। कल्पनाएँ बहुत दूर जा पहुँचती थीं। कभी अपने-आप को इंजीनियर के रूप में पाते कभी आर्मी आफ़िसर की वरदी पहने और स्टार लगाये हुए नज़र आते। कुछ ऐसा था कि विज्ञान के विद्यार्थी होने पर भी हम (मैं, पाल और अशोक) साहित्य में विशेष रूप से रुचि रखते थे। यह दूसरी बात है कि मैं कविता और जासूसी कहानियाँ अधिक पढ़ता था, पाल राजनैतिक और सामाजिक लेख और साहित्यिक आलोचनाएं आदि, और अशोक जो मिल जाये सब-कुछ पढ़ डालता था, पर हम आपस में बातें जरूर सब प्रकार की पुस्तकों के बारे में कर डालते थे। और सिर्फ़ पुस्तक ही क्यों,

दुनिया की कोई वस्तु न छोड़ते थे जिस पर बात न करते हों। शाम को दो घण्टे माल रोड पर घूमना हमारे जीवन का आवश्यक अंग था। अशोक की एक बहन उस से एक साल छोटी थी और दसवीं कक्षा में पढ़ती थी। वह भी हर तरह के उपन्यास बहुत चाव से पढ़ा करती थी। वह अपनी सहेलियों से जासूसी पुस्तकें माँग कर लाया करती थी और मुझे दे कर बदले में मुझ से उपन्यास ले कर पढ़ा करती थी। अशोक को बहुत ही कृपा कर के कभी-कभी कोई उपन्यास दे दिया करती थी, अन्यथा नहीं। हम, क्योंकि तीनों ही इकट्ठे रहा करते थे, इस लिए हमारा नाम चण्डाल-चौकड़ी तो पड़ने से बच गया पर त्रिमूर्ति या तीन मूर्ति कह कर ज़रूर लोग खुश हुआ करते थे।

एक दिन सदा की भाँति हम माल रोड के एक कोने में इकट्ठे हुए। मैं और पाल खड़े थे कि अशोक कुछ उत्तेजित-सा आया। खैर हम ने पूछा कुछ नहीं क्योंकि हमें पता था कि वह स्वयं ही कुछ-न-कुछ बतायेगा। कुछ देर उस ने प्रतीक्षा की, कि हम कुछ पूछें, पर जब हम इधर-उधर की बातें करते रहे तो बोला, "यार कहीं बाग़ में चल कर किसी कोने में बैठें।" अब हम चौंके, क्योंकि बाग़ में बैठने का प्रोग्राम तभी बनाया जाता था जब कोई विशेष बात होती थी। खैर हम कम्पनी बाग़ में फ़व्वारे के पास (जो तब नहीं चला करता था) जा बैठे। अब अशोक ने बताया कि उस ने एक बहुत ही सुन्दर उपन्यास पढ़ा था जो उस की बहन ने स्वयं उसे पढ़ने के लिए दिया था। पाल ने झट पूछा, "क्या नाम है उपन्यास का?"

"गुनाहों का देवता।"

"लेखक?"

"डॉ० धर्मवीर भारती।"

यह दोनों नाम हमारे लिए तब अपरिचित थे। पाल ने दो क्षण सोचा, फिर मुझ से बोला, "क्यों भाई, यह धर्मवीर भारती को जानते हो?" मैं नहीं जानता था—ऐसा कहना पड़ा। पाल फिर बोला, "मैं भी नहीं जानता, तू भी नहीं जानता, फिर उस ने इतना अच्छा उपन्यास कैसे लिख लिया?" मैं भी बोला, "यार देखो, धर्मवीर ने लिखा देवताओं के बारे में ही है, चाहे गुनाहों का ही सही।" पाल एक क़दम और आगे बढ़ा—"जिन लोगों के नाम में वीर आता हो, मुझे ये बिलकुल पसन्द नहीं आते, वह अपना राजवीर है न, युनियन का मेम्बर, कैसा घटिया आदमी है।" अब अशोक हमारी बक-झक से तंग आ गया तो चीखा—"तुम बकवास कर रहे हो, सुअर, गधे आदि-आदि। तुम उस की भूमिका ही पढ़ लो तो मान जाओ कि क्या चीज़ पैदा की है।" फिर हम चुप हो गये और उस से कहा कि वह उपन्यास ले आये। पर उपन्यास तो अशोक की बहन किसी सहेली से लायी थी और वह अब वापस जा चुका था। यह तय हुआ कि बाज़ार चलें और रास्ते में जो मित्र मिलें उन सब से पूछें। हम ने वाक़ई सब मित्रों से पूछा पर किसी ने भी तब तक उपन्यास नहीं पढ़ा था। हम ने समझा कि कोई ऐसी ही घटिया-सी चीज़

होगी, और मामले को निपट गया समझे।

पर दूसरे दिन ही जब क्लास में किसी लड़के ने प्रोफ़ेसर साहब को बोर कर दिया तो अशोक ने मेरे कान के पास मुँह लगा कर धीरे से कहा, "सुधा और उस की सहेलियाँ अपनी टीचर को खूब बनाती हैं।" मैं ने पूछा—"सुधा कौन ?" "अरे, सुधा उपन्यास की नायिका है, अद्‌भुत व्यक्तित्व, गेसू उस की सखी है—।" और उस ने पूरी कहानी सुनानी शुरू कर दी। मुझे इतना गुस्सा आया कि जी हुआ उसे उठा कर पटक दूँ। उधर प्रो० जैन गति-विज्ञान पढ़ा रहे हैं और इधर श्री अशोक कुमार 'गुनाहों का देवता' की कहानी चटखारे ले-ले कर सुना रहे हैं।

शाम को माल रोड पहुँचा तो पाल और अशोक खड़े थे। मुझे देखते ही पाल बोला, "इसे कुछ समझा यार, यह धर्मवीर भारती का प्रेमी, मुझे बोर कर-कर के मार डालेगा।" पता चला कि अशोक कह रहा था कि 'गुनाहों का देवता' का नायक चन्दर स्ट्रांग चाय पिया करता था और साइकिल पर बहुत चक्कर लगाता था और गंगा जी नहाने जाया करता था, और कल से हम भी सुबह सूरज-कुण्ड घूमने और नहाने के लिए जाया करें। जी किया अशोक की कस कर मरम्मत कर दूँ पर खून के घूँट पी कर रह गया। अशोक में एक ज़बरदस्त दोष था, वह यह कि जो वस्तु उसे पसन्द आ जाती थी वह हमें भी पसन्द करवा कर छोड़ता था। कुछ समय पूर्व उस ने अमृता प्रीतम का एक पंजाबी उपन्यास 'आलड़ा' पढ़ा था। (अब हिन्दी में 'नीना' नाम से संक्षिप्त रूप में पॉकेट बुक्स में छप चुका है) और रोज हमें बताया करता था कि अमृता प्रीतम की लेखनी हृदय पर सीधा असर करती है। कभी कहता कि उस उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते वह दस बार रोया था, और साथ ही यह भी कि 'नीना' का चरित्र बड़ा शानदार है और 'तेज' आम लोगों-जैसा नहीं है और यह भी कि अमृता प्रीतम बहुत सुन्दर थी और 'बलवन्त गार्गी' ने अपनी पंजाबी की पुस्तक 'निम दे पत्ते' (नीम के पत्ते) में उस की तारीफ़ की है। अब उसे एक और लेखक और एक नायक व नायिका मिल गये थे; जिन पर वह मुग्ध था।

आने वाले वर्षों में भी हम इकट्ठे ही रहे। इण्टर के बाद मैं विज्ञान में ही रहा पर पाल और अशोक साहित्य पढ़ने लगे। पर हमारी मित्रता बाक़ायदा क़ायम रही। इन चार सालों में अशोक बराबर 'गुनाहों का देवता' 'आलड़ा' और इन के लेखकों के बारे में कुछ-न-कुछ बातें करता ही रहा। उस ने कम-से-कम बीस बार ये दोनों उपन्यास पढ़े। मैं ने और पाल ने काफ़ी समय तक यह उपन्यास नहीं पढ़ा पर जिस विस्तार से अशोक हमें उस के बारे में बताता रहा, शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण बात होगी जिस से हम परिचित न रहे हों। बर्टी का पागलपन, हसरत की अचकन, गेसू के शेर, विनती का ससुर, फूल और अख्तर की शादी, चन्दर की थीसिस, बिसरिया की कविता, पम्मी की मांसलता, लेडी नार्टन की गीत, कैलास और शंकर बाबू और

बुआ आदि के बारे में उस ने हमें ज़बरदस्ती परिचित करवा दिया था। कई नयी-नयी बातें भी उस ने हमें बतायीं। एक बार उस ने कहा कि वह इलाहाबाद में बसने का विचार रखता है। हम ने सिर पीट लिया। एक दिन कहीं नोबुल पुरस्कार की बात चली तो कहने लगा कि अमृता प्रीतम और धर्मवीर भारती में से एक को ज़रूर मिलना चाहिए। एक दिन आते ही बोला—"यार बड़ी आश्चर्य-जनक बात है, 'गुनाहों का देवता' का कथा-नक सच्चा है" और उस दिन वह अपने में ही डूबा रहा। फिर एक दिन पता चला कि भारती 'धर्मयुग' के सम्पादक बन गये हैं। अब हम चौंके। इस बीच हम ने भी चोरी-चोरी उपन्यास पढ़ लिया था और उस के क़ायल भी थे। भारती की कुछ कविताओं का भी मुझ पर जादू था और अब हम खीझते नहीं थे पर अशोक को चिढ़ाना आवश्यक था।

समय बीतता गया। हम कॉलेज छोड़ बैठे। अशोक इलाहाबाद में नहीं बस सका बल्कि आर्मी में लेफ़्टिनेण्ट हो कर देहली कैण्ट में नियुक्त हो गया। अभी चार महीने पहले उस ने मुझे और पाल को पत्र लिखा कि 'कल्पना' नाम की एक लड़की से उस की मित्रता हो रही है। फिर बाद के पत्रों में कल्पना ही कल्पना होती। वह लिखता—"कल्पना बड़ी ही अच्छी कविता लिखती है, डिबेट और वाक्-युद्धों में भाग लेती रही है। टेनिस, पोस्टिंग और सितार में भी रुचि रखती है। बहुत ही साहित्यिक रुचि की है।" पर हम से इतनी प्रतीक्षा नहीं हो पा रही थी। हम हर पत्र में उसे गालियाँ लिख भेजते—बेवक़ूफ़, निकम्मा, बैकवर्ड और 'असली घोंचू' की उपाधियाँ देते। पर पिछले सप्ताह अचानक हमें अशोक का तार मिला—"जल्दी आओ।" ख़ैर, जल्दी ही पहुँचे। सकुशल हट्टा-कट्टा था।

हम ने पूछा क्या बात है तो बोला कि आराम से बताऊँगा। शाम को उस ने हमें कल्पना और उस की बहन से मिलवाया, उन से कॉफ़ी पिलवायी, कविता सुनवायी और अपने अर्दली की मज़ेदार बातें सुनाता रहा। बोर करने की आदत उसे अब भी है। रात को जब बिस्तरों में बैठे तो बोला—"बताऊँ तुम्हें क्यों बुलवाया है?"

"कल्पना ने मुझ से शादी करना स्वीकार कर लिया है।"

हमें यही आशा थी। पूछा—"कब मानी।"

"कल," वह बोला, "वास्तव में उसे मेरी साहित्यिक रुचि का विश्वास हो गया था।"

"कैसे?"

"परसों मैं ने उसे एक उपहार दिया था।"

"क्या?"

"गुनाहों का देवता" की एक प्रति।"

■■

"यह 'गुनाहों के देवता' को एक विनम्र श्रद्धांजलि है और इस में बहुत अधिक वास्तविकता है। यहाँ तक कि नाम भी सच्चे हैं।"—लेखक के एक पत्र से (१६ अक्तूबर १६६७) : सम्पादक

तीन कविताएँ
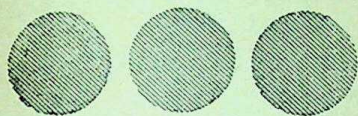
वसन्त जोशी

१

इस तरह
पलकों पर टिके शब्दों का बोझ
हल्का नहीं होता,
इस तरह
बन्द ओठों से टकराते संगीत के स्वर
मुक्त नहीं होते;
घने बादलों-से फैले
सालों की गड़गड़ाहट खोखली नहीं
इस तरह सालों पर शंका रखने से
सूखी धरती नहीं सिंचेगी—
चाहिए
चातकी-योग !
पलकों पर तिल का भी बोझ नहीं
ओठों का पल (क) भर भी मेल नहीं
स्वरों का मात्र आरोहण
निरे तार-सप्तक का सम्मोहन
पलक-ओठ-पल-मेल-स्वर-सप्तक-आरोहण
सम्मोहन केवल सम्मोहन !

२

चतुरंगिणी-सी भोर द्वारा
मनःछेद,
उन्मत्त हस्ति-से दिन प्रवेश की
पीड़ा अशेष,
मध्याह्न-मद्य के मस्तिष्क दाह-सा,
सर्पदंश की धुन्ध-सी
विषम शाम,
हिरनी-सी चौकड़ी भरती रात का कर आखेट
खड़ा है चन्द्रमा कुहनी टेक।

३

तुम ने मुझे रोका है कई बार
और मैं रुका भी हूँ कई बार,
परन्तु तुम्हारे रोकने
और मेरे रुकने के बीच के क्षणों में
जो तुम ने भुगता है
और जो मैं ने सहा है—
इस समस्त की पुनरावृत्ति
मृत्यु की अन्तिम सांस लेते समय
हो जाय तो ?
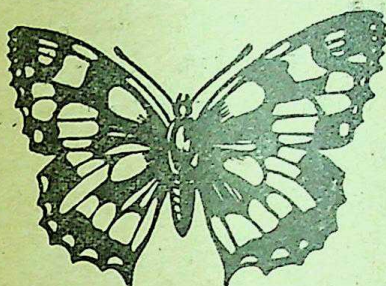
■ ■

"लौट रही हूँ तो हृदय में एक कुलन-सी उठ रही है। पूरे दो वर्ष, एक स्थान पर पूरे दो व
रहना; दो वर्ष कोई छोटी अवधि तो नहीं ! किन्तु मुझे लग रहा है, अभी कल ही तो आ
थी मैं। फिर इस जगह से मुझे इतना मोह क्यों हो गया है ? यहाँ के व्यक्ति, यहाँ के पहाड़,
पेड़, झरने और फूलों से बिलग होने पर पीड़ा की इतनी गहरी कचोट क्यों जग रही है ?

"मुझे प्रसन्न होना चाहिए, मैं अपने घर जा रही हूँ। दो वर्ष से अपने घर से दूर थी।
वहाँ मेरे आत्मीय हैं; मेरे सगे-सम्बन्धी हैं। जन्म-ज़िन्दगी के लिए तो वैसे भी मैं यहाँ न
आयी थी, पर, पर अब लगता है कैसे सहूँगी मैं यह वेदना, पार्थक्य का यह दुःख ? नौक
छोड़ दूँ ? घर बसा लूँ ? यहीं रहने लगूँ ? निशीथ ने कहा भी था....। पर निशीथ तो न जा
क्या-क्या कहता रहता था....।" —शक्ति सोचती रही।

"शक्ति, तुम में ही हिम्मत नहीं है, नहीं तो...।"

"नहीं तो क्या ?"

"नहीं तो कुछ भी हो सकता है।"

"कुछ भी क्या, तुम मेरी खातिर अपना परिवार, घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी सब छो
दोगे ?"

उभरते हुए ग़ुबार का प्रकाशबिन्दु

"सब छोड़ दूँगा, सच कहता हूँ सब छोड़ दूँगा। तुम थोड़ा साहस तो करो, सहा
तो दो।"

शक्ति के मस्तिष्क में निशीथ के छोटे-छोटे वाक्य खट-खट बज रहे थे। शक्ति उ
दिन साहस नहीं कर सकी थी। निशीथ के शब्दों में कावर्ड और क्रूएल ही बनी रही थी।

"तुम चाहती हो कुछ नहीं हो, सिर्फ़ बातें, बस बातें ही बातें...।" निशीथ ने ह
कर कहा था, और वह कुछ नहीं कह सकी थी। कैसे बताती, वह क्या चाहती है, और क्य
नहीं चाह सकती है—यानी क्या चाहने का उसे अधिकार ही नहीं है। यह नहीं कि निशी
उसे पूरी तरह जानता नहीं था, ज़िन्दगी का उस ने उस से कुछ भी तो छिपा कर नहीं र
था, फिर भी पर्त-दर-पर्त नीचे अतल में क्या-कुछ बारीक-सा खटकता रहता है, जो उसे निर्द
साहसिक और उस के परिवार के प्रति अमानुषिक नहीं बनने दे रहा था, इस को न वह जान
था, न उस क्या-कुछ को वह स्वयं समझ पा रही थी।

और वह उस से पृथक् हो कर लौट रही थी। पहली तारीख़ से फिर वही बैंक की दौड़-भाग, विशाल बिल्डिंग के एक कोने में बैठ कर फिर वही खटर-पटर, फिर वही चेहरे—नहीं नहीं; उन चेहरों में एक चेहरा नहीं होगा। उस एक चेहरे के लिए वह हमेशा-हमेशा के लिए तरसती रह जायेगी, जिसे वह प्लेट-फ़ॉर्म पर निश्चल खड़ा
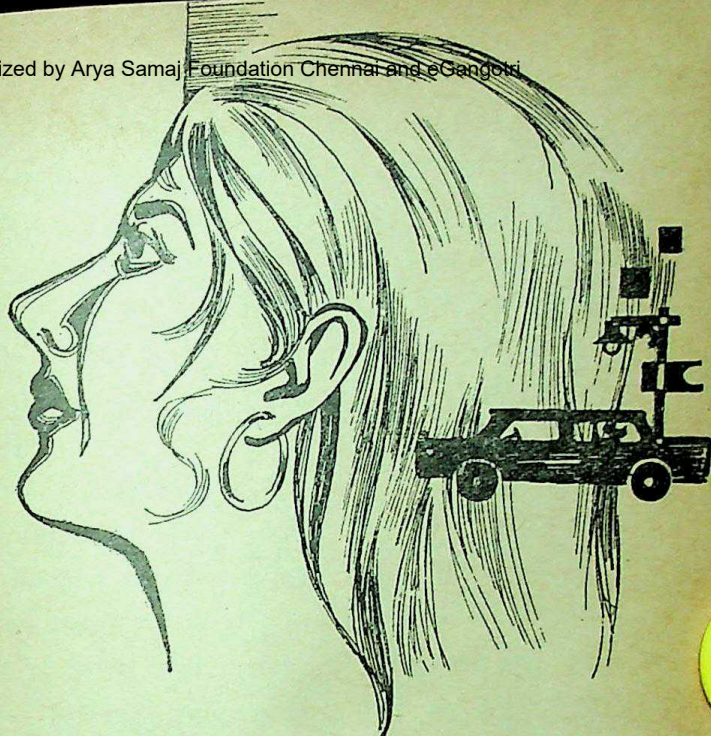
शशिप्रभा शास्त्री

छोड़ आयी है। उस का मन किया, गाड़ी की ज़ंजीर खींच ले, कूद कर वहीं दौड़ जाये, किन्तु पैरों में जैसे किसी ने डण्डा-बेड़ी अटका दिया हो। सपनों और तृष्णा में घुलती वह अपनी बर्थ पर ही लेटी रही।

लेडीज़-कैबिन की वह एकान्त रात, घोर सन्नाटा और खटर-खटर दौड़ते रेल के पहिये—कैबिन की रोशनी मद्धिम हो गयी थी, वह उठ कर बैठ गयी। खिड़की के कांच से आँखें गड़ा कर न जाने क्या-कुछ देखने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु खिड़की के परे सब-कुछ अस्पष्ट था। जो कुछ दिख रहा था, वही तो उस की जिन्दगी थी—काली, भयंकर, एकाकी और एकान्त! एक लम्बे अरसे से इस सम्बन्ध में कुछ देखने-सोचने का अवसर ही नहीं मिला था, निशीथ इस सब के लिए मौक़ा ही कहाँ देता था।

आज निशीथ उस के पास नहीं था और यह सब-कुछ वह बड़ी बेरहमी से सोचे चली जा रही थी। गत-आगत जिन्दगी के न जाने कितने पन्ने उस ने पलट डाले—पृष्ठों की उस

बिभीषिका से घबरा कर उस ने आँखें मूंद लीं और बड़ी अधीरता से सुबह के प्रकाश की प्रतीक्षा करने लगी। सवेरे का उजाला स्टेशन पर पहुँच कर ही चमका। गाड़ी के डिब्बों से उतरते यात्रियों के स्वागतार्थ पहुँचे स्वजन-सम्बन्धियों को देख कर उस के हृदय में भी नियति के सत्य से एक ललक उमड़ी, किन्तु केवल क्षणांश को। नियति के सत्य से अवगत उस ने स्वयं ही, क़ुली को पुकार कर सामान नीचे उतरवा लिया।

घर पहुँच कर मामी से बोली, "मामी, बैंक के पास ही मेरी सहेली रहती है, नाम है मधु; अभी उस का ट्रान्सफ़र भी मेरे साथ ही हुआ है, मुझ से अपने पास रहने के लिए बहुत हठ कर रही है, कुछ दिन वहाँ रह लूँ तो कुछ हर्ज तो नहीं···?"

मामी की डपट की आशंका से वाक्य को उस ने मध्य में अधूरा ही छोड़ दिया। उस के कान मामी का निषेधात्मक झाँय-झाँय स्वर सुनने की प्रतीक्षा करने लगे। मामी कह रही थीं, "हर्ज क्या होगा, तुम अब समझदार हो गयी हो, आखिर इतनी दूर भी तो अकेली ही रह कर आयी हो।"

उस ने मामी की आँखों की ओर देखा, यह मामी ही कह रही थीं? कानों पर जैसे उसे विश्वास ही न हुआ हो।

"पर···।" उस की असमंजस की मुद्रा ने मामी को क्षणांश के लिए अपराधी बना दिया। कुछ सँभलते हुए वह फिर आरम्भ करने को हुई, पर उस क्षणांश में ही वह फिर सँभल गयी, अपनी पूर्व मनःस्थिति को सहेजती हुई क्षण भर को हृदय पर अंकित मूसलों-सदृश उस विकट धक्के से मुक्त होती हुई वह मामी का निराकरण-सी करती हुई बोली, "पर-वर क्या मामी, कुछ नहीं होगा। कुछ ही दिन तो ठहरूँगी वहाँ। आने-जाने में जो बस का इतना खर्च होता है, उस की भी बचत होगी ही।"

वह फिर मामी का मुँह देखने लगी। मामी जो उस 'पर' के माध्यम से अपनी कही बात को किसी अन्य दक्ष ढंग से पुष्ट करने के लिए उद्यत हुई थीं—आश्वस्त हुई कि शब्दों के शून्य ने भी उन की इच्छा को साध लिया। स्वर को कुछ ममत्व एवं तटस्थता से आवेष्टित करती हुई बोलीं, "भई, हमें तो यह सब पसन्द नहीं, पर अब तुम देख लो, हम तुम्हें रोकें भी तो कैसे!"

उस का मन किया कि वह चीख कर कहे—"रोक क्यों नहीं सकतीं? क्या चार दिन बाहर रह कर मैं इतनी परायी हो गयी? क्या अब आप का मुझ पर कुछ अधिकार नहीं रहा? अब क्या मुझे इस घर से भी जिन्दगी भर इसी प्रकार कट कर रहना पड़ेगा?" पर शब्दों की बाढ़ ही जैसे शब्दों की प्रतिरोधक बन गयी हो। वह कुछ क्षण असमंजस-जैसे भाव से चुप रही, फिर शाम को खाना खा कर वह सामान उठवा कर मधु के यहाँ आ पहुँची। मामी का लड़का वीरेन्द्र ही उसे पहुँचा कर चला गया। गयी रात तक वह मामी के इस तटस्थतापूर्ण व्यवहार के लिए मामा की अनुपस्थिति को उत्तरदायी ठहराती रही। मामा टूर से लौटेंगे, तो मुझे फिर

वापस जाना पड़ेगा—अगले और उस से भी अगले पूरे सप्ताह वह मामा की प्रतीक्षा में ही दोलायमान होती रही। 'बैंक से लौटेगी तो मामा बैठे मिलेंगे।'—नित्यप्रति इसी कल्पना से आपूरित वह घर पहुँचती, कुछ देर बिना कपड़े बदले यों ही बैठी रहती, फिर मधु के टोकने से कपड़े बदल डालती, चाय तैयार करती और फिर अपने कमरे में पहुँच कर आराम की मुद्रा में लम्बे समय तक लेटी रहती।

●

"प्रद्युम्न जी आये हैं?"

"हाँ-हाँ, प्रद्युम्न जी हैं। उठ, ड्राइंगरूम में बैठे हैं।"

"ड्राइंगरूम में?" शक्ति जैसे सपने में बरबरा रही हो। मधु सूचना दे कर लौट गयी, नींद से शक्ति को स्वस्थ करने के लिए रुकी नहीं। शक्ति मधु के जाते ही हड़बड़ा कर उठ बैठी।

"कितने मीठे सपने से जगा दिया।" झुंझलाती-सी वह बिस्तर से उठ कर खड़ी हो गयी। बाथरूम में मुँह-हाथ धो कर जब वह ड्राइंगरूम में पहुँची तो प्रद्युम्न जी चाय का प्याला बस उठाने को ही थे, शक्ति को देखते ही सोफ़े से आधे उठते-से बोले, "आइए शक्ति जी, चाय आप का इन्तज़ार कर रही है।"

"पीजिए, आप शुरू कीजिए, मैं भी ले लेती हूँ।" मधु के हाथ से उस ने प्याला उंगलियों में थाम लिया, फिर बोली, "पटना से आप कब आये?"

"आप किस 'कब' के बारे में पूछ रही हैं? मैं आप की अनुपस्थिति में तीन बार दिल्ली आ चुका हूँ। जब आया, तभी मालूम हुआ कि आप का ट्रान्सफ़र हो गया है।"

"कैसे मालूम हुआ?"

"अरे यह भी कोई टॉप सीक्रेट था। मधुजी यहाँ थीं, आप का दफ़्तर था और···।"

"हूँ।" शक्ति मुसकरायी।

"इस बार आप शक्ति की कविताएँ सुनिए प्रद्युम्नजी, उधर शिमले से बहुत अच्छी-अच्छी कविताएँ लिख कर लायी है।"

"सच, तब तो ज़रूर सुनी जायेंगी, पर तुम ही शायद न सुन सको।" मधु की ओर देखते हुए प्रद्युम्नजी ने कहा।

"क्यों?" मधु सिप करती हुई ठिठकी।

"क्योंकि तुम्हें माँ ने गाँव बुलाया है। सच पूछो तो इतने सवेरे-सवेरे तीमारपुर से चल कर तुम्हें मैं यही सन्देश देने आया हूँ। सोचा, फिर तुम दफ़्तर चली जाओगी, शाम तक भेंट होना कठिन हो जायेगा।"

"माँ की तो कोई चिट्ठी मिली नहीं?" मधु ने आश्चर्य व्यक्त किया।

"चिट्ठी के लिए समय ही नहीं था, यहाँ आते हुए मैं घर मिलने गया था, देखा बृज बीमार था···।"

"भैया को क्या हुआ प्रद्युम्नजी, आप ने आते ही क्यों नहीं कहा?"

"घबड़ाने की कोई बात नहीं है। बच्चा है, सर्दी के दिन हैं, कहीं ठण्ड पकड़ गयी होगी।" प्रद्युम्नजी ने मधु को आश्वस्त किया किन्तु मधु अब शान्त नहीं हो सकी। छुट्टी का

आवेदन-पत्र लिख कर वह जाने की तैयारी करने लगी।

"गाड़ी तो शाम को ही जाती है। पटना स्टेशन पर पहुँच भी गयीं, तो गाँव जाने के लिए तो समय से ही गाड़ी मिलेगी।" प्रद्युम्नजीने उसे फिर संयत करना चाहा। पर मधु की हड़बड़ी और तैयारी में कोई अन्तर नहीं आया। शीघ्रातिशीघ्र घर पहुँचने के लिए वह बहुत आकुल हो उठी। शक्ति दुःखी थी, पर रोकने का अवसर नहीं था।

●

मधु को गाड़ी पर चढ़ा कर शक्ति प्रद्युम्नजी के साथ ही लौट रही थी। राह की चुप्पी बहुत गहरी हो गयी तो शक्ति ने ही आरम्भ किया "प्रद्युम्नजी, आप इस बार कहाँ ठहरे हैं?"

"यहाँ तो मेरा एक ही ठिकाना है। सुबह मधु से ज़िक्र भी किया था, इधर यूनीवर्सिटी की तरफ़ एक कॉलोनी है, नाम पड़ता है तीमारपुर, वहीं मेरे एक प्रोफ़ेसर मित्र हैं, उन्हीं के साथ ठहरता हूँ। वे मेरी सुविधाओं का पूरा ध्यान रखते हैं।"

"जी।" शक्ति ने यों ही कहा।

"आ सकें तो आइए उधर, बड़ी ख़ूबसूरत जगह है, शहर की चिल्ल-पों से काफ़ी दूर। ख़ास तौर से इसी लिए मुझे पसन्द भी है। आ सकेंगी?" कुछ रुकते हुए प्रद्युम्नजी ने कहा।

"हूँ।" शक्ति के स्वर में असमंजस था।

"शाम को अकेली इधर करेंगी भी क्या। तेरह नम्बर बस पकड़िए और पहुँच जाइए। चाय वहीं पीजिए, कुछ साहित्य-चर्चा भी हो जायेगी, कुछ विचार-विमर्श भी।"

"हूँ।" शक्ति के हुँकारे में फिर अनिश्चय था। कुछ विचारती-सी मुद्रा में बोली, "एक मन हो रहा है, घर चली जाऊँ मामी के पास। अकेले इधर शायद ठीक भी न रहे।"

"वो आप देख लीजिए। मेरा प्रस्ताव तो आप के न जाने की स्थिति के लिए है। और फिर घर भी चली गयीं तो क्या, रहेंगी तो आप दिल्ली में ही।"

"वो तो है पर···।" शक्ति कुछ अटकी।

"मैं समझता हूँ, तो फिर रहने दीजिए, अपनी सुविधा देख लीजिए। वैसे मैं भी आ सकता हूँ, पर उधर आने पर आप कुछ सुन्दर दृश्य भी देख सकेंगी, इसी लिए कह रहा था।"

प्रद्युम्नजी ने तटस्थता दिखायी तो शक्ति का हृदय आमन्त्रण के प्रति आसक्त हो उठा। बस-स्टॉप पर पृथक् होती हुई बोली, "देखिए शायद आ ही जाऊँ।"

"मुझे प्रसन्नता होगी।" प्रद्युम्नजी ने अपनी तरफ़ जाने वाली बस पर चढ़ते हुए हाथ हिलाया।

घर पहुँच कर भी शक्ति जाने-न जाने के द्वन्द्व में पड़ी रही। प्रद्युम्नजी से वह बहुत दिनों से परिचित है। उन्हें साहित्यिक के रूप में तो उस ने अभी निकट में ही जाना है, पर मधु के माध्यम से वह उन्हें पहले से ही जानती है। मधु के ग्राम में ही प्रद्युम्नजी के कई सम्बन्धी रहते हैं; इसी लिए मधु से

उन का नैकट्य है। आमन्त्रण स्वीकार कर लेने में हानि ही क्या है। अपनी विषम परिस्थिति में भी शक्ति का मन मामी के पास जाने को नहीं हुआ। मधु के ट्रान्सफ़र की गलत बात कह कर ही वह इधर आयी थी, मामी ने उस सम्बन्ध में कुछ भी पूछताछ नहीं करवायी। पूँछ काट कर उसे यों ही छोड़ दिया निरीह, अवश—उस मामी के पास एक साधारण कारण से चले जाने की उस के हृदय और मस्तिष्क ने गवाही नहीं दी।

•

प्रद्युम्नजी के यहाँ शाम को वह जायेगी ही—शक्ति ऐसा निश्चय नहीं कर सकी थी, किन्तु जब दफ़्तर से लौटी तो वह बहुत थकान अनुभव कर रही थी—थकान और ऊब। शायद इस ऊब से बचने के लिए ही उस ने नन्हीं-सी पगडण्डी ढूँढ़ ली थी—कविता की पगडण्डी—ऊब के बड़े भयंकर जंगल से वह उस सुशीतल, मृदुल पगडण्डी पर दौड़ कर स्वयं को प्रायः हलका बना लिया करती थी। तब उसे लगता था कि यह पगडण्डी ही उस की सच्ची सहचरी है। अपनी भौतिक ज़िन्दगी जीने के लिए वह जो रात-दिन जुगाड़ जुटाया करती है, वह गौण है। भौतिक ज़िन्दगी के अतिरिक्त जो उस की एक आन्तरिक ज़िन्दगी है वही सच है, प्रधान है—किन्तु आज वह कविता में सिर नहीं खपा सकी, वह उठ कर कपड़े बदल, मुँह-हाथ धो कर प्रद्युम्नजी के यहाँ चल पड़ी।

पूरे दो वर्ष बाद वह दिल्ली लौटी थी। दिल्ली की सड़कें, बस और वातावरण, सब-कुछ उसे नया-नया प्रतीत हो रहा था। बस से उतर कर प्रद्युम्नजी के यहाँ पहुँचते-पहुँचते उसे छह बज गये। प्रद्युम्नजी लॉन में आरामकुरसी पर अध-लेटे से कोई पुस्तक देखने में तल्लीन थे। अपने पीछे पदचाप सुनी तो मुड़ कर देखने लगे।

"शक्तिजी, आप! आइए, आइए! मैं तो अब आशा ही छोड़ बैठा था।"

"आप बड़ी जल्दी निराशावादी बन जाते हैं।"

"वो तो है ही। किसी बड़ी चीज़ की आशा सामान्य आदमी यूँ ही बैठे-ठाले नहीं करने लगता न। उस के लिए बहुत बड़ा साहस जुटाने की आवश्यकता होती है, उस के लिए बहुत बड़े भाग्य की अपेक्षा होती है। ख़ैर, छोड़ो भी, मैं इस क्षण बहुत खुश हूँ।"

शक्ति को प्रद्युम्नजी के कहे हुए वाक्य की गन्ध कुछ सुरुचिपूर्ण नहीं प्रतीत हुई, किन्तु वह बोली कुछ नहीं। एक मलिन-सी मुसकान मुसकरा कर सामने वाली कुरसी पर बैठने लगी। प्रद्युम्नजी ने टोका, "चलो, भीतर ही चले चलते हैं, वहाँ मेरी कुछ पुस्तकें आदि भी हैं। वहीं कुछ कविताएँ भी हो जायेंगी, यहाँ तो अभी थोड़ी देर में ही अँधेरा झुक आयेगा। लेकिन भीतर चलने से पहले कुछ देर आप कोठी देख लीजिए।"

प्रद्युम्नजी लम्बे-लम्बे वाक्य बोलते चले जा रहे थे, शक्ति लगभग चुप ही थी। कोठी के चारों ओर मेंहदी की बाड़ लगी थी, बीच में एक फ़व्वारा था जिस के बीचोबीच एक

परीनुमा बच्चा बालकृष्ण की मुद्रा में कोली पर खड़ा था। फ़व्वारे के पानी में मछलियाँ तैर रही थीं। फ़व्वारे के आस-पास फूलों की क्यारियाँ थीं। अत्यन्त मनोरम विभिन्न रंगों के फूलों से वातावरण बड़ा भव्य एवं चित्ता-कर्षक प्रतीत हो रहा था।

"आप के मित्र क्या करते हैं?" सहसा शक्ति ने प्रश्न किया।

"प्रोफ़ेसर हैं, बताया तो था। यह कोठी उन के पितामह की है। उन के बाद इस के वारिस वही हैं।"

"ओह!" शक्ति ने यूँ ही चमत्कृत होने का नाट्य किया।

"आप की चाय का प्रबन्ध आज इधर ही था, पर हुआ यह कि अचानक श्रीमती प्रोफ़ेसर की तबीयत खराब हो गयी, प्रोफ़ेसर साहब को उन्हें ले कर डॉक्टर के यहाँ जाना पड़ा है और इसी लिए हमारी योजना ठप्प हो गयी है; खैर, एक कप कॉफ़ी तो कमरे में ही पी जा सकती है।"

"आप उस की चिन्ता न करें, कॉफ़ी मैं पी कर चली हूँ।" शक्ति ने निर्णयात्मक स्वर में कहा।

"चलिए देखा जायेगा, एक कप तो और भी चल सकता है।"

कमरे में पहुँच कर प्रद्युम्नजी अपने पलँग पर बैठ गये। शक्ति कुरसी पर बैठी।

"आप को अगर असुविधा हो तो पलँग पर बैठें, मैं कुरसी पर बैठ जाऊँगा।" प्रद्युम्नजी ने क्षण-भर ठिठकते हुए कहा।

"नहीं नहीं, मैं यहीं ठीक हूँ।" स्वयं को व्यवस्थित मुद्रा में दिखाते हुए शक्ति कुरसी पर और जम कर बैठ गयी, बोली, "आप अपना कुछ सुनायेंगे न, सुनाइए।"

"पर पहले तो मैं कुछ तुम से सुनना चाहता हूँ।" प्रद्युम्नजी अचानक आप से 'तुम' पर आ गये थे, इसे लक्ष्य किये बिना ही शक्ति बोली, "मैं क्या सुनाऊँगी मेरे पास तो कुछ है ही नहीं। हाँ, ये कुछ कविताएँ जो मैं ने पहले कभी लिखी थीं आप को दिखाने के लिए लायी हूँ।"

"इन्हें छोड़ दो, मैं देख लूँगा। मैं तो कुछ तुम्हारे सम्बन्ध में सुनना चाहता हूँ, तुम्हारे निजी जीवन के सम्बन्ध में।" प्रद्युम्नजी अब निश्चित रूप से आप से तुम पर आ गये थे और शक्ति को इस सम्बन्ध में कुछ कहना बड़ा अटपटा लग रहा था, किन्तु जैसे अब वह स्वयं इस तुम की अभ्यस्त हो गयी हो, उस ने कहा, "मुझे कुछ सिखाने-पढ़ाने की क्या यही शर्त है?"

"तुम एकदम नासमझ हो शक्ति! मेरा मतलब तो यह है कि दो व्यक्तियों के समीप आने का तात्पर्य ही यह है, कि वे एक-दूसरे के सम्बन्ध में सब कुछ जानें।"

"पर मेरे पास तो कुछ जनाने के लिए है ही नहीं। मैं स्वयं अपने बारे में सिर्फ़ इतना ही जानती हूँ, कि मेरे माता-पिता बचपन में ही मर गये थे। मामा-मामी ने पढ़ाया-लिखाया, मेरे दादाजी बहुत रुपया छोड़ गये थे, उस रुपये से ही उन्होंने सब-कुछ किया, यानी विवाह भी। पर भाग्य में सुख नहीं था, तो कैसे और कहाँ से मिलता। उस के

बाद मामाजी के एक दोस्त की सिफ़ारिश से स्टेट बैंक में नौकरी मिल गयी—बस, मेरी ज़िन्दगी इतनी-सी ही तो है।"

"सच कह रही हो ?"

"झूठ क्यों कहूँगी।" शक्ति की आँखों में आश्चर्य था।

"मेरा मतलब है, व्यक्ति कितना भी अकेला हो, पर जीने के लिए उसे एक अवलम्ब की बहुत ज़रूरत होती है।"

"क्या मतलब ?"

"यही कि मनुष्य के लिए एक 'साथ' अपेक्षित है, भले ही वह कहीं हो, कोई हो। मेरा मतलब यही था, कि तुमने क्या कोई ऐसा साथी ढूँढ़ा ?"

"आप की बात मैं समझ गयी, पर ऐसा कुछ भी नहीं है। जब समाज-विहित साथी ही साथ नहीं दे सका तब····।"

"अब मुझे कहना पड़ेगा, कि तुम बड़ी भाग्यवादिनी हो। मैं चाहता हूँ, तुम इन सब खोह-खन्दकों से बाहर निकलो।"

"कैसे ? पुराने संस्कारों से कैसे कट जाऊँ ?"

"किसी सबल अवलम्ब का सहारा ले कर।"

"मेरे लिए यह सब-कुछ कठिन है।" शक्ति ने कुछ अस्वस्थता अनुभव की।

प्रद्युम्नजी ने यह सब-कुछ नहीं देखा—वे अपनी झोंक में कहते रहे, 'अगर मैं कहूँ कि वह सबल अवलम्ब मैं तुम्हें प्रदान कर सकता हूँ। मैं तुम्हारे बहुत समीप आना चाहता हूँ शक्तिजी, तो ?" और भावावेश में प्रद्युम्नजी पलंग से उठ कर शक्ति के एकदम पास आ गये—शक्ति जैसे एकदम निराश्रित हो गयी हो—प्रद्युम्नजी ने उस के चेहरे को अपने ओठों से बुरी तरह भींच दिया था। शक्ति तिलमिला उठी, वह उठ कर खड़ी हो गयी, दरवाज़े की ओर बढ़ती हुई बोली, "प्रद्युम्नजी, अब मुझ से मिलने का प्रयत्न कभी न कीजिए।"

प्रद्युम्नजी दहलीज़ पर खड़े थे और शक्ति निकली चली जा रही थी।

"सुनो शक्ति, मेरी एक बात सुनो।"

शक्ति ने मुड़ कर देखा, उस की मुद्राएँ तन्नायी हुई थीं।

"सुनो, ज़रा-ज़रा-सी बात के कारण महत् उद्देश्यों को नहीं छोड़ा जाता।"

"पर मेरा कोई महत् उद्देश्य ही नहीं है। मर नहीं सकती, इस लिए जी रही हूँ, शायद यही मेरा एक मात्र उद्देश्य है फ़िलहाल।"

"तुम मेरा मतलब नहीं समझीं।"

"समझना भी नहीं चाहती।" और शक्ति एक बार फिर मुड़े बिना, पीछे देखे बिना आगे बढ़ चली।

●

प्रद्युम्नजी के पास से शक्ति बड़े तैश में भर कर लौटी थी, उस की आँखों में जैसे अंगार जल रहे हों, पर घर पहुँच कर अपने कमरे में घुसते ही वह फूट कर रो उठी—कितना घिनघिना लग रहा था उसे, जैसे बहुत-सी चींटियों ने मिल कर उसे एकबारगी ही काट लिया हो। गुसलखाने में जा कर उस ने मुँह

रगड़-रगड़ कर धोया। कई एक कुल्ले किये और फिर बिस्तर में लेट गयी। बाहर का मुख्य दरवाज़ा बन्द था, बिस्तर के पायताने वाली खिड़की मात्र ही खुली हुई थी।

हवा का एक झोंका आ कर उसे धीमे से कुलबुला गया। क्या हो गया है उसे? क्या कभी निशीथ के स्पर्श ने भी उसे इस तरह तप्त किया था? निशीथ से तो उस ने सब-कुछ खुद कहा था, खुद बताया था कि वह कितनी अकेली है, कितनी बेकली है उसे, और जब निशीथ ने प्रत्युत्तर में उस के माथे पर अपने ओठ रख दिये थे, तब वह कैसी बेसुध हो गयी थी। सुशीतल चन्दन के लेप, जैसा वह संवेदन उस के लिए आज भी उतना ही नया है, उतना ही थ्रिल-पूर्ण। प्रद्युम्नजी का सब-कुछ कितना भोंड़ा-भयंकर था। निशीथ ने उस से कभी कुछ नहीं माँगा, कभी कुछ जानने की कोशिश नहीं की, और उस ने कितना-कुछ खुद उँड़ेल दिया।

उस दिन भी आज जैसी ही शाम थी। धुँधलापा धीमे-धीमे घट कर सतरंगे बादलों के पीछे रचे बृहद् सिलेटी समुद्र में घुलता चला जा रहा था। वह खिड़की के पास चुपचाप खड़ी सामने उगे रक्तिम फूलों की क़तार को देख रही थी, तभी निशीथ ने चुपके से प्रवेश किया था, बड़े हौले से उस ने उस की आँखों को मूँद लिया था। पहचान लिये जाने पर उस ने उसे कमर के सहारे हौले से अपनी ओर खींच कर अपने ओठों से उस की दोनों आँखों को बड़ी सुकोमलता से छू लिया था। वह एक विचित्र जंगल में खो गयी थी—जंगल एक उन्माद का, जंगल एक अनन्त तृप्ति का। एक प्रशान्त, मधुरिम-स्वप्निल सागर, एक विचित्र सन्तुष्टि, तल्लीनता और तादात्म्य।

"तुम नहीं जानते निशीथ, तुम्हारे एक नन्हें-से स्पर्श ने मेरी ज़िन्दगी को कितना मीठा बना डाला है!"

"बता कर मेरी मिठास को पी डालना चाहती हो क्या?" निशीथ फुसफुसाया था।

"और तुम्हारी ये टोटकेनुमा चुहलें?"

"खुद को खुश करने के नन्हें-नन्हें परीक्षण हैं ये शक्ति!" निशीथ ने एक लम्बी सांस ले कर कहा था।

कन्धों से झुका कर निशीथ को उस ने उस दिन खुद ही तो अपने पास कर लिया था। कभी तो उस ने निशीथ से किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की थी। एक मन दो तन—निशीथ और वह ज़िन्दगी की नाव में चुपचाप बैठे तिर रहे थे कि अचानक एक तूफ़ान आया और सब-कुछ बटोर कर ले गया। निशीथ से कट कर वह फिर अपनी उसी खन्दक़ में आ गयी जहाँ से निकल कर प्रकाश पा लेने का उस ने कभी स्वप्न तक भी नहीं देखा था—दो अनजान अपरिचित व्यक्तियों को विधाता कहाँ से ला कर, न जाने क्यों मिला देता है और फिर क्यों पृथक् कर डालता है। निशीथ के स्पर्श-सुख के लिए इस क्षण शक्ति फिर जलने लगी। निशीथ उस के गालों को, ओठों को अपने स्पर्श से पवित्र कर जाये, सिर्फ़ एक बार, सिर्फ़ एक बार!

विचारों की शृंखला में उलझी शक्ति

कब सो गयी, उसे ज्ञात ही नहीं हुआ। सुबह उठी तो देह में अकड़न थी और आँखों में जलन। रात की खुली खिड़की का एक पलड़ा हवा से बन्द हो गया था। शक्ति ज्यों की त्यों लेटी रही।

आज वह बैंक न जाये तो कैसा रहे? दिन-भर आराम करेगी और शाम को कहीं बाहर घूम-फिर आयेगी, शायद वह स्वस्थ हो सके। निश्चय करते ही पड़ोस में जा कर उस ने सुनीति भार्गव को फ़ोन कर दिया।

"प्लीज़, मैनेजर साहब से कह देना, मेरी तबीयत आज कुछ खराब है, आ नहीं पाऊँगी। प्रार्थना-पत्र बैंक डेट में कल दे दूँगी।"

सुनीति कुछ कहने जा रही थी, कि शक्ति ने रिसीवर छोड़ दिया। लौट कर आयी तो देखा, प्रद्युम्न जी बैठे हैं।

"आप?"

"हाँ, तुम ने तो आदेश ही दे दिया था कि तुम से अब न मिलूँ, पर क्या करूँ, स्वयं को रोक नहीं सका। तुम्हें क्या मालूम, रात भर मैं कितना दुःखी सन्तप्त रहा हूँ। इस समय बस मैं क्षमा-याचना करने आया हूँ।"

"आप बेकार दुःखी होते हैं। मैं ठाक-ठाक हूँ। जहाँ तक क्षमा का सवाल है, वह तो मैं ने आप को आप के कमरे से निकलते ही कर दिया था। आदमी में कमज़ोरियाँ होती हैं वह उन पर क़ाबू नहीं पा सकता। आप भी आदमी हैं, इन्सान हैं।" कल तक प्रद्युम्नजी को बड़ा मानती हुई शक्ति, आज उन्हें बड़ी संजीदगी से किसी पुरखिन की तरह समझा रही थी। प्रद्युम्नजी सिर झुकाये बैठे थे।

"चाय पियेंगे न?"

"कुछ पीने-खाने को जी नहीं करता। अपनी ज़िन्दगी से बड़ा परेशान हो गया हूँ।"

शक्ति ने देखा, प्रद्युम्नजी उसे बहुत निरीह-से प्रतीत हुए। एक दिन निशीथ ने भी यही कहा था और शक्ति ने तब निशीथ को अपनी गोद में लिटा लिया था। बहुत देर तक उसे धीमे-धीमे थपकती रही थी, फिर झुक कर उस की आँखों को चूम कर बोली थी, "पागल हो, मेरे रहते ऐसी बात कहते हो, सोचते हो?"

निशीथ ने उसे अपनी बाहों में घेर लिया था। मौन आलिंगन ने मुखर बन कर कहा था, "तुम्हारे सान्निध्य से ही तो जी रहा हूँ।"

किन्तु आज शक्ति प्रद्युम्न जी के प्रत्युत्तर में खिलखिला कर बोली, "आप जैसे पढ़े-लिखे समझदार व्यक्ति को इस तरह की निराशा शोभा नहीं देती!"

"मैं तुम्हें यही बतलाना चाहता हूँ शक्ति, कि मैं न पढ़ा हूँ, न समझदार, यानी दुनिया की निगाहों में मैं कुछ भी हो सकता हूँ, किन्तु खुद अपनी दृष्टि में मैं एकदम कंगाल, एकदम अकेला…।"

"आज की दुनिया में हर व्यक्ति इसी प्रकार का है। अकेलेपन की अनुभूति की यह बीमारी आज-कल कॉमन है, बहुत साधारण।"

"मैं यही मान कर चलता हूँ।"

"तब ?"

"तब कुछ नहीं। दुनिया में ऐसे दो अकेले मिल कर चलने लगें तो कम से कम उन दो व्यक्तियों की लोन्लीनेस तो खतम हो ही सकती है।"

'और बढ़ भी तो सकती है।" शक्ति ने कुछ देर चुप रह कर कहा, "दो अन्धकार मिल कर प्रकाश कैसे बन सकते हैं ?"

"तुम ठीक कह रही हो शक्ति, पर मैं निराशावादी कम, आशावादी अधिक हूँ। मैं पानी के आधे गिलास को अधभरा कहने में विश्वास करता हूँ, आधा खाली मानने में नहीं।"

शक्ति चुप रही।

"तुम ने मुझे माफ़ कर दिया न ?" शक्ति के मौन से प्रोत्साहित हो प्रद्युम्न जी ने कहा।

"एक बात को आप बार-बार क्यों दोहराना चाहते हैं ?"

"तो सुनो, मेरा कहना मानोगी ?"

"कहिए।"

"मेरे साथ कहीं घूमने चलो आज, सिर्फ़ आज।" प्रद्युम्न जी कह कर बड़ी लालायित दृष्टि से देखने लगे।

"मैं बेहद थकी हूँ, आज बैंक तक से छुट्टी ले ली है।"

"यह तो अच्छा ही है कि तुम ने आज छुट्टी ले रखी है।"

कुछ क्षण यों ही सन्नाटा खिंचा रहा।

"आज मात्र जाने से लाभ ?" थोड़ी देर बाद शक्ति ने ही उस सन्नाटे को भंग किया।

"लाभ-हानि की बात तुम सोचती हो शक्ति! ये सब चीज़ें व्यापार में चलती हैं, प्रेम व्यापार नहीं है।"

"तो आप मुझ से प्रेम करते हैं, अब भी ?"

"प्रेम तो एकतरफ़ा ही होता है शक्ति!"

शक्ति हँसी, बोली, "चलूँगी।"

"तो तैयार रहना! दो-एक घण्टे बाद लौट कर मैं तुम्हें ले लूँगा।"

●

प्रद्युम्नजी चले गये और शक्ति सोच में फिर गुम हो गयी। प्रद्युम्नजी क्या जानते होंगे, कि गम्भीर से गम्भीर बात को हलके-फुलके ढंग से लेने वाली शक्ति भी कभी चिन्तन की इस मुद्रा में डूब सकती है।

क्यों मैं इतनी कमज़ोर हो जाती हूँ?— शक्ति सोच रही थी प्रद्युम्नजी से भविष्य में कोई सम्बन्ध न रखने का निश्चय कर लेने के उपरान्त भी वह कैसे झुक जाती है, क्यों झुक जाती है ? हर प्राणी उस की दया का पात्र कैसे और क्यों बन जाता है ? खैर, प्रद्युम्नजी से अब उसे कोई डर नहीं है। वैसी ग़लती दोहराने की भूल अब वे कभी नहीं करेंगे। शक्ति चाय बना कर, साड़ी पहन कर खड़ी ही थी, कि प्रद्युम्नजी आ पहुँचे।

"कुछ जल्दी चला आया हूँ। जिस काम से गया था वे सज्जन मिले ही नहीं। खैर छोड़ो, यह तो चलता ही है। हाँ, तुम मुझे कुछ शॉपिंग करवा दो। चलो चलते हैं।" कहते हुए प्रद्युम्नजी उठ खड़े हुए। उन्हें सन्तोष था कि शक्ति ने अपने वचन को भंग

नहीं किया है।

बाहर निकल कर उन्होंने एक टैक्सी ली और सुपर मार्केट पर आ कर खड़े हो गये।

"आओ ऊपर चलते हैं, तीसरी मंज़िल में।" प्रद्युम्नजी और शक्ति दोनों दो क्षण प्रतीक्षा में खड़े रहे। लिफ़्ट नीचे उतरी तो दोनों जल्दी से अन्दर चले गये। अनेक अन्य आदमियों के साथ वे दोनों भी ऊपर तीसरी मंज़िल में खिंच आये। प्रद्युम्नजी कुछ छुटपुट चीज़ें खरीदने लगे। बीच-बीच में वे शक्ति से भी राय लेते चल रहे थे।

शक्ति सोच रही थी, निशीथ के साथ खरीदारी करते उसे कैसा-कैसा लगता था! दोनों बराबर हँसते-खिलखिलाते रहते थे, कभी दुकानदार की मुद्राओं को देख कर, कभी ग्राहकों और चीज़ों की नाप-जोख पर—निशीथ के साथ खरीदारी में एक मनोरंजन रहता था।

"शक्ति, चलो नीचे चल कर कुछ खा-पी लिया जाये।"

शक्ति चेती। प्रद्युम्नजी और वह लिफ़्ट के सहारे फिर नीचे आये। सहकारी बाज़ार की सहयोग-प्रणाली के अनुसार शक्ति इस बार सब चीज़ें स्वयं ले आयी—चाय, पनीर, पकौड़े, आइसक्रीम, और भी बहुत-कुछ।

"सुनो शक्ति, पैसे तुम्हें मेरे पर्स से लेने होंगे।"

शक्ति चौंक गयी "क्यों?" उस ने सहसा कहा।

"क्योंकि खरीदारी में एक जगह से खर्च करने पर स्नेहभाव बढ़ता है।" शक्ति मुसकरायी। निशीथ ने ऐसा कभी नहीं कहा। खरीदारी के समय पर्स या तो निशीथ के पास रहता था, या उस के। पर जो कुछ भी खरीदा जाता था, उस के पैसे एक ही स्थान से दिये जाते थे। निशीथ ने प्रेम-प्यार बढ़ने-घटने के कोई पैमाने निश्चित नहीं किये थे और उन का प्रेम बिना नाप-जोख के ही अक्षत था। पर प्रत्युत्तर में कुछ अन्यथा कह कर उस ने प्रद्युम्नजी को दुःखी नहीं करना चाहा, सहज भावसे बोली, "ले लूँगी, जल्दी क्या है।"

और शक्ति व्यतीत के किसी क्षण में फिर गुम हो गयी। निशीथ के साथ खाते हुए कभी गुम होने का सवाल ही नहीं था। निशीथ अपनी प्लेट में से कुछ-न-कुछ बराबर शक्ति की प्लेट में सरकाता रहता था।

"तुम्हें यह खाना ही होगा। देखो यह चीज़ मुझे बिलकुल अच्छी नहीं लगती। पर पैसे इस के भी लगेंगे। सोच लो अब यह वेस्टेज, नेशनलइकानॉमी के प्रति अन्याय होगा न! और कि लड़कियों के साथ खाना भी अच्छी-खासी तवालत है। वो तो बस टूँगती भर हैं, दूसरे को आखिर खाली पेट ही उठना पड़ेगा।" और भी न जाने क्या-क्या। निशीथ के साथ शक्ति बराबर हँसती रहती थी। वे नन्हें-नन्हें अनगिनत क्षण, जिन में दोनों के मध्य बेनाम के न जाने कितने प्रकार के व्यापार चलते रहते थे—शक्ति की स्मृति में इस समय एक टीस उत्पन्न करने लगे।

"शक्ति तुम्हें लाने से क्या लाभ। तुम तो वैसी की वैसी रहीं—गुमसुम, उदास। आखिर तुम्हें हो क्या गया है? इसी लिए न जीवन में एक अन्तरंग साथी की बहुत आवश्यकता है, जिस से व्यक्ति अपना दुःख-सुख कह सके। आवश्यक नहीं, कि वह व्यक्ति पति ही हो।" प्रद्युम्नजी फिर समझाने लगे।

"मैं जानती हूँ।"

"तुम खाक़ जानती हो। अगर जानती होतीं तो इस तरह सैकड़ों ग्रन्थियां पाले बैठी रहतीं! तुम अपने को भारतीय परम्परा और संस्कृति की संरक्षिका मानती हो। मैं कहता हूँ, तुम उस सब को पूरी तरह समझती ही नहीं हो। स्वयं को क्लेश और यन्त्रणा देने से ही परम्पराओं की रक्षा नहीं होगी। तुम ग़लत ढंग अपना रही हो एकदम ग़लत ढंग।" प्रद्युम्नजी के स्वर में हलकी खीज थी।

"सही ढंग क्या है?" शक्ति ने अकचका कर बीच में ही टोका।

"सही ढंग है—एक अच्छी ज़िन्दगी जीना, कल्पना में नहीं यथार्थ में अच्छी ज़िन्दगी जी लेना आदमी के पास एक अक्षय निधि के सदृश है, उस के बाद उसे किसी दूसरी चीज़ की ज़रूरत नहीं रहती। सच, किसी दूसरे भुलावे की अपेक्षा नहीं रह जाती। पर भीरु-दब्बू बन कर इस ज़िन्दगी को नहीं जिया जा सकता। मैं तुम्हें उच्छृंखलता का पाठ पढ़ाने नहीं जा रहा हूँ, माइण्ड दैट। सृजनात्मक कार्य, लोग-बाग जिन का कला के संरक्षक बनने की आड़ ले कर पोषण करते हैं, वे सब अच्छी ज़िन्दगी जीने के अभाव में ही जीने के माध्यम हैं, साधन हैं। कुछ समझ रही हो?" प्रद्युम्न जी ने शक्ति की आँखों में झाँका।

"जी!" शक्ति की आँखें प्रश्नात्मक स्वर में अब भी खुली हुई थीं।

"जी क्या, तुम मेरी बात कभी नहीं समझोगी।" प्रद्युम्नजी उत्तेजित थे, उन्होंने अपनी दोसे की प्लेट एक तरफ़ सरका दी थी।

"तो क्या आप भी...?"

'मैं समझ रहा हूँ, तुम क्या जानना चाहती हो। हाँ, मैं भी इसी लिए सृजन करता हूँ। कविता के माध्यम से इसी लिए रोता रहता हूँ, तुम्हारे आगे इसी लिए भिखारी बना खड़ा हूँ। तुम्हें दाता समझता हूँ इसी लिए, तुम में सामर्थ्य है इसी लिए...।"

"पर आप मुझे ग़लत समझ रहे हैं। मैं तो कुछ भी...।"

"तुम अपने को समझो, कुछ मानो। मैं तुम्हें यही समझाना चाहता हूँ।" और कहते-कहते प्रद्युम्नजी ने सामने रखे शक्ति के हाथ पर अपना हाथ हलके से रख दिया। शक्ति ने अपना हाथ बड़ी निर्लिप्तता से हटा लिया। बोली, "प्रद्युम्नजी, आप मुझे ग़लत समझ रहे हैं, या मैं ही आप को पूरी तरह नहीं समझ सकी हूँ....।"

"हाँ, यह दूसरी बात हो सकती है।" कहते हुए प्रद्युम्नजी उठ खड़े हुए। शक्ति भी उठी। रास्ते भर दोनों आपस में कुछ नहीं बोले। शक्ति टैक्सी में से उतरने लगी, तो

[शेष पृष्ठ ८६ पर]

कविता के विषय में एक कविता

अजितकुमार
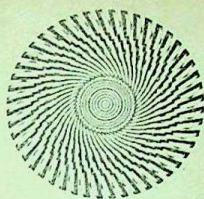
किसी कवि-द्वारा अपनी ही कविता या कविताओं की व्याख्या का महत्त्व क्या है, मैं ठीक-ठीक नहीं जानता। एक तरह से यह फ़िज़ूल काम है और दुनिया के अधिकतर कवि इस से बचते रहे हैं। फिर भी यदि हम कवि के दृष्टिकोण को उस की कविता के प्रति अनेक दृष्टिकोणों में से केवल एक—अधिक अन्तरंग और निजी जानकारी से युक्त एक दृष्टिकोण—मान सकें तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कम-से-कम पाठक की दिलचस्पी तो उस में हो ही सकती है, भले ही आलोचक नाक-भौं सिकोड़े—इस ख़याल से कि रचनाकार ने उस क्षेत्र में घुस-पैठ करनी चाही है, जिस पर आलोचक शुरू से अपना एकाधिकार समझता रहा है। हाँ, शायद उस का एकाधिकार हो। पर कवि-द्वारा दी गयी व्याख्याओं या सूचनाओं को केवल प्राथमिक जानकारी मान कर उस की पोंछ-पछोर का 'एकाधिकार' तो फिर भी आलोचक के पास बच ही जायेगा। इस अधिकार का उपयोग या दुरुपयोग वह करता ही रहा है: कभी कवि की व्याख्या को उस की एक अन्य रचना मान कर, कभी उस पर अविश्वास कर और कभी उसे महज़ कविता की अक्षमता को ढकने वाली सफ़ाई या 'अपनी सफ़ाई'—सेल्फ़-जस्टीफ़िकेशन—का दरजा दे कर। लेकिन पश्चिम के अनेक कवियों ने ही नहीं, हिन्दी के भी अनेक आधुनिक कवियों ने अपनी तथा अपने युग की कविता की अत्यन्त गम्भीर और समर्थ व्याख्याएँ प्रस्तुत कर आलोचकों को निष्प्रभ नहीं तो हतप्रभ अवश्य कर दिया है।

अपनी कविता या कविताओं के विषय में कुछ लिखने से पहले मेरे लिए इसी कारण यह कह देना ज़रूरी हो गया है कि ये बातें किसी भी प्रकार व्याख्या या आलोचना-जैसी नहीं, बल्कि उन कविताओं के 'फ़ुट नोट'-जैसी हैं, जिन में मैं ने अपने जीवन और

अनुभव के कुछ निजी पहलू उभारने चाहे हैं। एक लम्बे अरसे तक, मैं स्वीकार करना चाहूँगा, कविता मेरे लिए एक लिखने की चीज़ थी—भले ही डूब कर, लेकिन बुनियादी तौर पर लिखने की चीज; पर इधर कुछ वर्षों से वह मेरे जीवन को घेरती रही है और अब मैं उसे जीवन से अलग रख कर केवल कला के रूप में नहीं देख पाता। यह बोध इन दो-चार वर्षों में मुझे हुआ हो, ऐसा तो नहीं कह सकता, ज़रूर यह शुरू से रहा होगा। पर शायद तब मुझे उस का होना ठीक-ठीक पता न था, जब कि आज कविता मेरे लिए बहुत बार आज के युग और उस के तमाम फैलावों तक अपने आप को पहुँचाने के बहाने स्वयं अपनी ही प्रक्रियाओं को खोजना और पाना मालूम होती है। सम्भव है, यह भी कविता की मेरी निजी समझ का एक दूसरा दौर ही हो, पर इधर कुछ वर्षों से मैं कोई कविता लिख ही नहीं पाता, जब तक कि उस के साथ कहीं भीतर से मैं खुद जुड़ा न होऊँ।

सन् '६६ में मैं ने एक छोटी सी कविता लिखी थी—'असफलता'। उस का अर्थ मेरे खुद के लिए तब से लगातार बदलता रहा है, और मुझे स्वीकार करना चाहिए कि दूसरों के लिए—मेरे मित्रों-परिचितों के लिए—वह बहुत-कुछ एक अस्पष्ट और निरर्थक कविता रही है—एक उलझी हुई, कुछ कहना चाहती हो कर भी कुछ न कहती हुई कविता। पर उसे पढ़ते हुए अकसर मेरी पुरानी धारणा पुष्ट होती रही है कि चीज़ों को हम जितना अधिक समझते हैं, उतना ही हम उन्हें पसन्द भी कर सकते हैं। या इसे दूसरी तरह कहूँ कि हम उन्हीं चीज़ों को पसन्द करते हैं, जिन्हें हम अपेक्षाकृत कुछ अधिक समझते या समझ पाते हैं। जानता हूँ, पसन्द का दायरा सिर्फ़ इतना ही बड़ा नहीं होता। बहुत बार अज्ञात और अपरिचित के प्रति भी हमारे मन में बेहद आकर्षण और कौतूहल रहता है, जब कि अत्यन्त परिचित वस्तुएँ हमें बासी और उबाने वाली लगती हैं, लेकिन इन दोनों स्थितियों में कोई अन्त-विरोध नहीं, बल्कि भीतरी समानता है। परिचित कविताओं के प्रति हमारी ऊब का अर्थ वस्तुतः हमारा उन से पुनः अपरिचित हो जाना ही होता है। इस अत्यन्त गतिशील संसार में वस्तुओं के साथ हमारा सम्बन्ध एक अद्भुत प्रक्रिया-द्वारा परिचालित होता है, जिस में निरन्तर और सतत अपरिचित वस्तुएँ परिचित तथा परिचित वस्तुएं अपरिचित होती जाती हैं। उन के आधार पर किसी कविता को पसन्द या नापसन्द करने की प्रक्रिया में हम रहते हैं न कि एक गति-हीन स्थिति में, जहाँ कविताएँ और वस्तुएं हमें अन्तिम रूप से पसन्द या नापसन्द हो चुकी हों। बेशक, हम, जोकि इस अस्थिर जगत् में स्थिर होने की आकांक्षा से पीड़ित रहते हैं, अपने और दूसरों को बराबर और बार-बार यह विश्वास दिलाते रहते हैं कि हमारा निर्णय अन्तिम रूप ले चुका है और अब उस में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं। इस मरणशील जगत् में, अमरत्व की भावना से

शुरू मनुष्य की विवश और असम्भव आकांक्षा का यह एक छोटा-सा उदाहरण है ।

बहरहाल उस कविता 'असफलता' का, इस विषयान्तर में, कहीं अन्त न हो जाये, इस लिए छूटे हुए सूत्र को फिर से जोड़ना चाहूँगा । निजी और सार्वजनिक स्थितियों ने मेरे मन पर कुछ ऐसा प्रभाव डाला है और अनेक धरातलों पर मैंने न केवल अपने-आप को बल्कि अपने समय के युवा समाज को भी इतने अधिक स्तरों पर टूटते देखा है कि मेरे लिए मेरी अपनी सफलता, विजय, आकांक्षा, उत्साह और आशा आदि का कोई खास उपयोग शेष नहीं बचा है—न व्यक्तिगत स्तर पर, न किसी अन्य स्तर पर ही ।

चालीस के क़रीब उम्र होने पर, आज मैं अनुभव करता हूँ कि मैं ने या मेरी पीढ़ी ने 'नीले नभ में भूरे बादल का जो पैबन्द लगाया था, वह छितर गया' है । एक कलाकार और एक व्यक्ति के रूप में मेरा यह बोध गहराता जा रहा है कि इन दोनों की नियति असफलता ही हो सकती है । यह असफलता कलाकार के अनुभव, उस की भाषा और उस की क्षमता के किसी स्थल तक विकसित हो चुकने के बाद, आगे कोई रास्ता न खुले होने की विवशता से, अर्थात् 'डेड एण्ड' तक, अन्धी गली तक पहुँच जाने की निरोहता से सम्बन्धित है । व्यक्ति के धरातल पर, जो कि एक कलाकार के धरातल से अनेकशः भिन्न होते हुए भी, मूलतः उस जैसा ही है, वही बात देखी जा सकती है । जिन्दगी बढ़ती है और खत्म हो जाती है, लेकिन विडम्बना यह है कि खत्म होने से बहुत पहले वह अपने खात्मे का अहसास करा देती है । मौत आने से बहुत पहले हम कई बार मर चुके होते हैं और मृत्यु के उन क्षणों में हमारे चारों ओर मँडराते हैं कौवे ।

चाहे पाठक हों या आलोचक, चाहे बन्धु-बान्धव हों या स्वजन-परिजन : एक समय आता है कि वे नोच-नोच कर 'सब तन' खा डालते हैं और उतने से ही सन्तुष्ट न होकर 'भीगी हुई पलक के नीचे, ठिठकी नन्हीं पुतली' को भी नोच कर ही दम लेते हैं । वह नन्हीं पुतली कलाकार की दृष्टि, प्रतिभा, अनुभूति, प्रेरणा अथवा आन्तरिक शक्ति नहीं तो और क्या है! एक सामान्य व्यक्ति के लिए वह है—जिजीविषा, संकल्प-शक्ति, अहं या कहें, व्यक्तित्व । वह जो भी हो, मैं ने बार-बार व्यक्ति से पहले उस के व्यक्तित्व को मरते देखा है, मरते नहीं, मार डाले जाते देखा है, फिर महसूस किया है कि मँडराते हुए 'कौवे' उसे—उस नन्हीं पुतली को—ले जा कर 'नभ के अजेय वक्षस्थल पर' टाँक देंगे :

"तब भी
वह
मौन, शान्त, अविभाजित होगा,
विजय-दर्प से तना ।"

एक अन्धी शक्ति है, जिस के आगे एक नन्हीं-सी आँख का मूल्य इस के सिवा और हो भी क्या सकता है कि वह उस के वक्ष-स्थल पर झूलते हुए असंख्य पदकों में से एक होकर रह जाये ! विजय-दर्प से तने हुए योद्धा के लिए एक व्यक्ति की आशा-आकांक्षा,

प्ररणा, अनुभूति, व्यक्तित्व, जिजीविषा का मूल्य क्या हो सकता है! उस की अन्धी इच्छा केवल इतनी है कि जैसे सब, वैसे यह एक और व्यक्ति भी उस से टकरा कर पराजित हो और उस की विजय के सूचक असंख्य पदकों में एक और पदक जुड़ जाये। नियति कहें उसे या मृत्यु या केवल 'मौन शान्त अविभाजित' नभ। ठीक-ठीक वह क्या है, हम नहीं जानते। हाँ, इतना अवश्य जानते हैं कि हमारी इस दुनिया में उस ने अनगिनती कौवे, कुत्ते और गिद्ध छोड़ रखे हैं, जो बोटी-बोटी नोचने, खसोटने, खाने से ही सन्तुष्ट नहीं रहते, आँख की उस पुतली को पाने पर ही चैन लेते हैं, जिस के लिए कभी एक प्रिया ने कातर प्रार्थना की थी :

"कागा सब तन खाइयो,
चुन-चुन खइयो मास।
दो नैना मत खाइयो,
पिया मिलन की आस।"

काश, उस बेचारी को ज्ञात होता कि यह एक असम्भव और कभी न पूरी होने वाली 'आस' थी। लेकिन यह तो मैं फिर भी कहूँगा कि कलाकार की इस नियति में, उस की असफलता में, एक निराला, विषण्ण सौन्दर्य अवश्य है जिस के सम्मुख अनगिनती तथाकथित 'सफलताएँ' न्यौछावर की जा सकती हैं।

पुनश्च : मेरी उक्त 'असफलता' कविता इस प्रकार है :

नीले नभ में
भूरे बादल का
पैबन्द
लगाया था जो तूने
छितर गया।
मँडराते हैं कौवे।
सब तन खा चुकने पर-
मिल ही जायेगी
उन को
बादल की भीगी हुई पलक के नीचे
ठिठकी, नन्हीं पुतली-

टाँक उसे देंगे
नभ के अजेय वक्षस्थल पर
तब भी
वह
मौन शान्त अविभाजित
होगा
विजय दर्प-से तना।

सूत्रधार का बजट

अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

भारत के उप-प्रधानमन्त्री व वितमन्त्री श्री मुरारजी देसाई ने अपने को चतुर्थ पंचवर्षीय योजना रूपी नाटक का सूत्रधार कहा है। श्री देसाई ने अपने सातवें बजट-भाषण का प्रारम्भ इस प्रकार किया है : "मैं चौथी पंचवर्षीय नियोजन की अवधि का पहला बजट पेश कर रहा हूँ। इस काम में मेरी कठिनाई यह है कि नियोजन का प्रलेख अभी माननीय सदस्यों को नहीं मिला है। इस समय तो मैं केवल सूत्रधार के रूप में आप के सामने उपस्थित हुआ हूँ जिस का काम नाटक प्रारम्भ होने से पहले कुछ समय के लिए रंगमंच पर आ कर नाटक में दर्शकों की रुचि बढ़ाना होता है।"

जो नाटक अभी तक तैयार नहीं हुआ, जिस के तैयार होने की आशा भी धूमिल है, उस नाटक के सूत्रधार का बजट यदि देश में विश्वास, आशा और स्फूर्ति उत्पन्न न करे, तो क्या आश्चर्य ! बजट केवल आय-व्यय के आंकड़ों का मिलान-भर नहीं है, और न यह तलपट

है। यह राष्ट्रीय जीवन का एक दर्पण है। सरकारी आर्थिक और वित्तीय एवं मुद्रा नीतियों को यह परिलक्षित करता है, और भावी का निर्देश करता है। इस दृष्टि से २६० करोड़ रु० के घाटे की वित्तीय व्यवस्था के साथ और एक अरब २७ करोड़ रु० का अतिरिक्त कर-भार औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने और क़ीमतों को स्थिर करने में कदाचित् ही सहायक हो। वित्तमन्त्री ६ प्रतिशत उत्पादन-वृद्धि को 'औद्योगिक पुनरुत्थान' का वर्ष भले ही कहें, किन्तु जब तक औद्योगिक उत्पादन १५-२० प्रतिशत प्रति वर्ष नहीं बढ़ता, तब तक भारत दरिद्र ही रहेगा, समृद्ध न होगा। विकासशील देशों में उत्पादन का रेट भी भारत से अधिक है, यह वित्तमन्त्री को न भूलना चाहिए। ठीक है, १९६६ के मुक़ाबले स्थिति सुधरी है, परन्तु यह भी सत्य है कि १९६०-६१ में चीनी आक्रमण से पहले वर्ष के स्तर पर अभी तक देश नहीं पहुँचा है। वित्तमन्त्री की कर-नीति मँहगाई बढ़ाने की है। १९६७ में वित्तमन्त्री ने लगभग साठ करोड़ रु० का अतिरिक्त नया कर-भार, यह कह कर डाला था, कि घाटे की वित्तीय व्यवस्था से मँहगाई बढ़ेगी और मँहगाई का बढ़ना औद्योगिक प्रगति में बाधक है। किन्तु १९६८ में एक राज्य की धमकी के भय से कर बढ़ाया गया और कहा गया कि यदि क़ीमतें गिर गयीं, तो किसान अनाज भारी प्रमाण में न उपजायेंगे। वित्तमन्त्री के भाग्य से थोक भाव में क़ीमतें दिसम्बर १९६७ के समान ही दिसम्बर १९६८ में रहीं, इस को वित्तमन्त्री मूल्यों में स्थिरता का आना बताते हैं, जब कि फ़ुटकर गेहूँ सवा रुपया प्रति किलो मिल रहा है, सरकारी दूध की एक बोतल ५८ पैसे में दी जाने लगी है, बिजली-पानी की दर बढ़ा दी गयी है। इस कारण यह समझना भूल होगी कि क़ीमतें स्थिर हो रही हैं। क़ीमतें जिस ऊँचे स्तर पर वित्तमन्त्री स्थिर देख रहे हैं, वह इतना ऊँचा है, कि उस का बाज़ार पर और सामान्य जनता के जीवन पर जो साल-भर, या मास-भर की सारी आवश्यक साधन-सामग्री नहीं खरीदता और जमा कर के नहीं रखता, कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु वित्तमन्त्री की दृष्टि चिमनियों पर है, उस वर्ग पर नहीं है, जो कॉफ़ी के एक प्याले के लिए (जनता कॉफ़ी हाऊस) २५ पैसे देता है।

समरसेट मॉम ने अपनी एक कहानी में मानव-प्रकृति को परखने के लिए यह कसौटी बतायी है : भला आदमी बुरा काम कर रहा है, या बुरा आदमी अच्छा काम कर रहा है। इसी प्रकार, देसाई-बजट के बारे में प्रश्न उठता है : यह बुरा बजट है, कुछ अच्छे तत्वों के साथ, या, यह अच्छा बजट कुछ बुरे तत्वों के साथ है।

इस का निर्णय करने के लिए बजट की प्रकृति का अवलोकन करना आवश्यक है।

भारत सरकार का आय-व्यय

आय (करोड़ रुपयों में)

	१९६१-६२	१९६२-६३	१९६३-६४	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९ (बजट)	१९६८-६९ (अनुवीक्षित)	१९६९-७० (बजट)
कुल राजस्व	११८९.१४	१४६०.३९	१९६८.९२	२१०१.७४	२३४४.४०	२५००.१४	२५८५.२९	२७५९.७७	२७४८.९८	२८९९.९७
कुल प्राप्त आय	१९१५.४६	२३६०.२७	३००३.५१	३३५९.५३	३५४७.६०	४३२८.९६	४३०५.३८	४४१७.४७	४५४६.२४	४६२९.८५
राजस्व घाटा	—	—	—	—	—	—	—	—	—	५९.९६
कुल घाटा	११४.५१	१५६.१४	१९९.८९	१७१.८४	१७२.७६	२९५.२९	२०६.२९	२८९.३७	२५९.६७	३५०.००

१९६१–१९६९ के मध्य भारत सरकार की राजस्व आय ११८९.१४ करोड़ रु० से बढ़ कर २८९९.९७ करोड़ पर पहुँच गयी अर्थात् दुगने से भी अधिक हो गयी। यह वृद्धि असाधारण है। नौ वर्षों में १७१०.८३ करोड़ रु० की वृद्धि हुई। क्या यह वृद्धि भारत की समृद्धि का सूचक है, या जनता की बढ़ती ग़रीबी का यह प्रमाण है।

व्यय (करोड़ रुपयों में)

	१९६१-६२	१९६२-६३	१९६३-६४	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६६-६७	१९६७-६८	१९६८-६९ (बजट)	१९६८-६९ (अनुवीक्षित)	१९६९-७० (बजट)
कुल राजस्व व्यय	१०६४.२९	१३४६.९५	१६८१.३१	१८२७.८७	२०२४.६४	२२७२.३३	२४८१.३०	२६२८.८५	२७४५.०५	२८५९.९३
कुल व्यय	२०२९.९७	२५१६.४१	३१७०.३७	३५३१.३७	३९२०.४२	४६२३.९५	४५११.६७	४७०६.७४	४८०५.९१	४६७९.८५
राजस्व बचत	१२४.८५	११३.४४	१८७.६१	२७३.८७	३१९,७६	२२७.८१	१०३.९९	—	३.९३	—
कुल बचत	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

केन्द्रीय सरकार का राजस्व व्यय नौ वर्षों में १०६४.२९ करोड़ से बढ़ कर २९-५९, ९३ करोड़ रु० पर पहुँच गया है। यह असाधारण और आश्चर्यजनक वृद्धि है। नौ सालों में अठारह अरब ९५ करोड़ ६४ लाख रु० मोटे रूप में १९ अरब रु० अर्थात् प्रति वर्ष दो अरब रु० बढ़ता रहा। कुल व्यय तो ढाई गुणा बढ़ गया है। यह है, मुद्रास्फीति का प्रभाव। भारत सरकार एक सफ़ेद हाथी के समान है। यदि सरकार समझदार होती, तो उस के पास राजस्व बचत का चौबीस अरब ८७ करोड़ ८८ लाख रु० महानिधि में बचा होता और किसी अन्य देश के आगे उस को अपना हाथ पसारने और अपनी दरिद्रता एवं पिछड़ेपन का रोना न पड़ता। स्पष्ट है, भारत तेज़ी से आर्थिक एवं राजनीतिक अराजकता की ओर बढ़ रहा है। यह शुभ लक्षण नहीं है। बजट की कुछ अच्छी बातें इस प्रकार हैं :

१. निगम कर में कोई वृद्धि नहीं की गयी है।

२. वैयक्तिक क्षेत्र में १०,००० रु० से २०,००० रु० की आय पर कुछ मामूली वृद्धि की गयी है। यह वृद्धि साधारण है क्योंकि इस वृद्धि से सरकार को प्रारम्भ में २.७५ करोड़ रु० ही मिलेगा।

३. फाइनान्स एक्ट, १९६७ और १९६८ में दो संशोधन किये गये थे। एक था, चालू वर्ष की आय का मूल्यांकन और दूसरा था आगामी वर्ष की आय का मूल्यांकन। इस विधि-व्यवहार को अब और आगे नहीं बढ़ाया गया है।

४. वित्तमन्त्री का भाषण छोटा है, पर कर-भार बहुत अधिक है। सामान्य जनता इस से उलटा ही पसन्द करती।

५. करों द्वारा कुल राजस्व आय २७ अरब १५ करोड़ रु० होगी। इस का ५५ प्रतिशत, अर्थात् १५ अरब रु० अकेले उत्पाद-शुल्क से मिलेगा। जनता पर कितना कर-भार है, इस का अनुमान इस एक बात से किया जा सकता है। इस पर भी और अतिरिक्त उत्पाद-शुल्क बढ़ाया गया है।

ब्राण्डी के प्रेम ने नेपोलियन को ५० लाख फ्रांक की आय दी थी। नेपोलियन यह जानना चाहता था कि मानव का ऐसा कौन-सा गुण या व्यसन है, जो उस के खजाने को भर दे और वह लड़ाइयां जारी रख सके। इमर्सन ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया और कहा कि तम्बाक़ू की पीठ मज़बूत है, और वह प्रसन्नतापूर्वक बड़े भार को उठा सकता है। वित्तमन्त्री ने मोटर स्प्रिट और सिगरेट पर उत्पाद-शुल्क इस आशा से बढ़ाया है कि सम्भवतः फिर इन पर और बढ़ाने का अवसर प्राप्त न हो। परन्तु सिगरेट पीने वाले और मोटर रखने वाले जानते हैं कि भावी वर्षों में भी वह करवृद्धि-प्रभाव पड़े बिना रहेगा नहीं।

हैसियन, चाय, कपड़े की कुछ क़िस्मों पर से निर्यात कर हटा दिया गया है। इस की तीव्र आवश्यकता थी। किन्तु स्थिति की आवश्यकता को देखते हुए, यह दी गयी रियायत पर्याप्त नहीं है और निर्यात-व्यापार बढ़ाने में शायद ही प्रभावकारी सिद्ध हो।

क्योंकि जूट उद्योग का मुक़ाबला पाकिस्तान की नयी और अद्यतन मिलों और मशीनों से है। भारत के जूट उद्योग और वस्त्र उद्योग को नयी मशीनें लगाने के लिए बड़ी मात्रा में नयी पूंजी की आवश्यकता है। इस छूट से वह न प्राप्त होगी।

चाय पर वर्तमान बिक्री मूल्य के अनुसार ५० प्रतिशत से अधिक निर्यात कर घटा दिया गया है। इस से लागत व्यय में, लन्दन के बाजार में ४½ पें० से ५ पें० बचत होगी। परन्तु, हाल में चाय की कुछ क़िस्मों का मूल्य ९ पें० प्रति पौण्ड घट गया है। भारत के ४० से ७० प्रतिशत चाय बागानों को १९६८ में घाटा रहने का भय है। चाय से सरकार को २५ करोड़ डालर विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है।

चाय का निर्यात बढ़ नहीं रहा है, अपितु घट रहा है इस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रति युनिट चाय का दाम ८.८५ प्रति कि० ग्राम० से घट कर ८.३४ रु० प्रति किलोग्राम रह गया है। फलतः निर्यात-आय भी १८९.०४ करोड़ रु० से घट कर १७४.३८ करोड़ रु० रह गयी। भारत को सिलोन के साथ-साथ अफ्रीका की घटिया चाय से भी मुक़ाबला करना पड़ रहा है। अतः चाय उद्योग की माँग है, सम्पूर्ण निर्यात कर दूर कर दिया जाये।

७ पैसा प्रति लिटर मोटर स्प्रिट पर और शुल्क बढ़ाया गया है। देश में तेल का उत्पादन बढ़ने से आशा की जाती थी कि मोटर-परिवहन सस्ता होगा। परन्तु यह आशा निरर्थक सिद्ध हुई। भारत में 'आटोमोबाइल' उद्योग (मोटर) पर विश्व-भर में सब से अधिक कर-भार है। यथा :

व्यावसायिक मोटर गाड़ी के कुल पूंजी व्यय का ४४ प्रतिशत भाग कर है। बुनियादी संचालन-व्यय का ५६ प्रतिशत भाग कर है।

राज्यों और केन्द्र की कुल राजस्व आय का १५ प्रतिशत मोटर उद्योग से आता है।

ट्रक पर प्रति मील प्रति टन जितना कर-भार है, वह रेलवे के प्रति मील प्रति टन भाड़े के समान है।

साल भर ट्रक स्वामी को जितना लाभ होता है, उस से अधिक सरकार को होता है। इस पर भी इस साल शुल्क-वृद्धि के लिए मोटर-स्प्रिट को चुना गया है।

बजट का निर्माण राष्ट्र की आवश्यकता एवं आर्थिक विकास की सम्भावनाओं व विद्यमान विकास बीजों का विचार कर के करना चाहिए। किन्तु यहाँ वित्तमन्त्री परवश है।

भारत का बजट परिस्थितियों की क़ैद में है। जैसे—१. उस की कृषि क्षेत्र तक पहुँच नहीं है, २. सरकारी उद्योग अकार्यक्षम हैं, और भारी घाटे के हैं; ३. सरकार का व्यय नित्य बढ़ता जाता है। यदि श्री मोतीलाल नेहरू के समय ब्रिटिश शासन उस समय की सब से महँगी मोटर 'रोल राइस' के समान खर्चीला था, तो आज का शासन अतिस्वन जेट विमानों के समान खर्चीला है; ४. राज्य केन्द्रीय सरकार के अनुशासन में नहीं है। संघात्मक शासन व्यवस्था इस कारण

चर्र-मर्र कर रही है। आवश्यकता है कि संघात्मक शासन-व्यवस्था को समाप्त कर के एकावयवी (युनीटरी) शासन-व्यवस्था बनायी जाये, प्रान्तों की संख्या घटायी जाये, और सम्पूर्ण हिन्दी-भाषी क्षेत्र का एक प्रान्त बनाया जाये। परन्तु इस ओर किसी का ध्यान नहीं है।

कृषि आय कर का समावेश आय-कर ऐक्ट में नहीं किया गया यह दैवसंयोग की ही बात माननी चाहिए। भारत के वित्त सदस्य जेम्स विलसन ने अपना बजट १८ फ़रवरी १८६० को प्रकाशित किया था। इस में कृषि आय कर का भी समावेश किया गया था। अकृषि कर 'लाइसेन्स कर' के नाम से लिये जाते थे। कृषि-आय का मूल्यांकन 'असेसमेंट' 'सेस' के अनुसार किया जाता था। 'सेस' लगने के ही कारण कृषि-आय आयकर क्षेत्र से बाहर कर दिया गया। आयकर ऐक्ट १८८६ में पुनः कृषि आय पर आय-कर लगाया गया। कृषि-आय को इस समय 'सेस' से मुक्त कर दिया गया। किन्तु, कृषि-आय को आय-कर से मुक्त रखने की विसंगति जारी रही।

पिछले इक्कीस साल में दो भारी परिवर्तन हुए हैं। नरेशों, ज़मींदारों, ताल्लुकेदारों का अन्त हो गया और सम्पत्ति व आय ग्राम-क्षेत्र में पहुँच गयी है।

भारत की राष्ट्रीय आय लगभग २९,००० करोड़ रु० है। इस में कृषि आय का भाग १४,५०० करोड़ रु० है। इस का राज्य केवल ११ करोड़ रु० कर वसूल करते हैं। अकृषि-आय पर आय कर का कुल भार है ६८८ करोड़ रु०। इस के ऊपर अकृषि-भूमि पर भू-राजस्व और सम्पत्ति कर भी देना पड़ता है। इस से सरकार को १२ करोड़ रु० की आय है।

बड़े किसानों या फॉर्मरों के पास कुल कृषि-भूमि की ६५ प्रतिशत भूमि है। इन की कुल आय ६००० करोड़ रु० है। यदि इस पर ५ प्रतिशत भी कर लिया जाये तो सरकार को ३०० करोड़ रु० की आय हो। इस का विरोध राजनीतिक कारणों और १९७२ के चुनाव को ध्यान में रख कर किया जा रहा है। मध्यम वर्ग पर १४ करोड़ का अतिरिक्त कर भार बढ़ाया गया है, परन्तु इस ओर किसी ने ध्यान भी नहीं दिया है। यहाँ विचारणीय प्रश्न है कि कर-भार नगर और देहात पर समान भाव से लगाना चाहिए। सारा कर-भार नगरों पर डालने से औद्योगिक विकास अवरुद्ध होता है। इस विसंगति को दूर करने के लिए वित्तमन्त्री ने भू-सम्पत्ति कर की व्यवस्था कर के राष्ट्र की बड़ी भारी सेवा की है। यह ठीक है कि राज्यों द्वारा दबाव डाला जा रहा है और दुर्बल केन्द्रीय सरकार राज्यों को अप्रसन्न करने की हिम्मत नहीं रखती।

संविधान वित्तमन्त्री की सहायता करता है। संविधान की अनुसूची ७ की संख्या ८६ पर तो सब का ध्यान जाता है, जो कृषि-भूमि छोड़ कर चाहे व्यक्ति की या कम्पनी की हो, पूँजीगत परिसम्पद पर केन्द्र को कर लगाने का अधिकार देता है। लेकिन इस के जोत में आयी ज़मीन सम्मिलित नहीं की गयी है।

इस का राज्य सूची–२ और समवर्ती सूची–३ में भी समावेश नहीं किया गया है। केन्द्र को संविधान के अनुच्छेद २४८ के आधीन शेष अधिकार प्राप्त हैं। तीनों सूचियों में जिन का उल्लेख नहीं है, उस पर केन्द्रीय सरकार कर लगा सकती है और उस विषयक आवश्यक क़ानून बना सकती है। ऐसा कर के वह राज्य-क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करती।

भारत की कर-व्यवस्था और कर-नीति राजनीतिक दबाव से बनायी जाती है। राज्यों की आय में भू-राजस्व और कृषि आय—इन दोनों की सम्मिलित आय का भाग उत्तरोत्तर बढ़ने के बदले घटता जाता है। राज्यों की अनिच्छा ने वित्तमन्त्री को बाध्य किया है कि भू-सम्पत्तिकर को केन्द्रीय करों में स्थान दिया जाये। इस का विरोध करना केन्द्रीय सरकार की स्थिति को निर्बल बनाना है।

सरकारी उद्यमों व उद्योगों की कुल संख्या इस समय ८० है। इन में पैंतीस अरब (३५०० करोड़) रु० की पूँजी लगी हुई है। इन में से चल रहे ५५ उद्योगों में १९६७–६८ के अन्त तक ३२०० करोड़ रु० पूँजी लगी हुई थी। ३१ सरकारी उद्यमों व उद्योगों ने ४८ करोड़ रु० से अधिक का लाभ दिखाया है। परन्तु शेष २४ सरकारी उद्योगों ने ८३ करोड़ रु० का घाटा। उद्योग इस आशा से स्थापित किये गये थे कि इन का कुल लाभ औद्योगिक विकास को और आगे बढ़ाने में लगेगा। पर हुआ उलटा, वह बोझ भार सिद्ध हो रहे हैं, औद्योगिक प्रगति में बाधक सिद्ध हो रहे हैं। इन का प्रबन्ध बहुत खर्चीला है। डाइरेक्टर-मैनेजर को ४००० रु० मासिक मिलता है। यही कारण है कि निर्वाचन में पराजित मन्त्री इन के डाइरेक्टर-मैनेजर बनाये जाते हैं। ये उद्योग श्वेत हाथी के समान केवल पूँजी खाते हैं।

हिन्दुस्तान स्टील लि०, हैवी इंजीनियरिंग कॉर्पोरेशन, भारत हैवी इलेक्ट्रिकल लि०, हैवी इलेक्ट्रिकल्स (भारत) लि० और माइनिंग ऐण्ड एलाइड मशीनरी कॉर्पोरेशन लि० भारी घाटा देने वाले उद्यम हैं। लाभ देने वाले हैं—इण्डिया आयल कार्पोरेशन लि०, हिन्दुस्तान एरोनाइटिक लि०, फर्टीलाइज़र कॉर्पोरेशन ऑव इण्डिया लि०, आयल ऐण्ड नैचुरल गैस कॅमीशन, भारत एलेक्ट्रानिक लि० (इन के सिवा और २५ सरकारी उद्यम हैं। कुछ ने ५ प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक लाभांश (डिविडेण्ड) घोषित किया है। सरकारी उद्यमों और उद्योगों में पूँजी का विनियोग किस भारी मात्रा में हुआ है, वह प्रकट है)। ऐसी परिस्थिति में भी राष्ट्रीयकरण के तमाशे को जारी रखने के लिए सरकार बराबर व्यय करती जा रही है। १९६८–६९ के बजट में अनुदान व सहायता के रूप में इन को २८४ करोड़ देने का उपबन्ध किया गया था। किन्तु अनुवीक्षित अनुमान है कि इन को ४५० करोड़ रु० देना होगा। घाटे की वित्तीय व्यवस्था का क्यों अवलम्बन किया जाता है, उस का एक कारण यह है। श्वेत हाथी पालना आवश्यक हो गया है।

राज्य केन्द्र के विशेष रूप से लाडले हैं। इन का अनुशासन भारत की आर्थिक व्यवस्था

को छिन्न-भिन्न कर रहा है, परन्तु फिर भी केन्द्रीय सरकार इन को अनुशासित करना नहीं चाहती। स्थिति यह है कि राज्य तो डूब ही रहे हैं, वह केन्द्र को भी ले डूबेंगे। संघात्मक शासन व्यवस्था की इतिश्री करने का समय आ गया है। विश्व-युद्ध के संकट को देखते हुए इस का अन्त शीघ्र करना आवश्यक है।

१९६८–६९ के बजट में राज्यों को अग्रिम, अनुदान आदि के रूप में ३३७ करोड़ रु० देने की बात कही गयी थी। पर, अनुवीक्षित अनुमान में यह राशि बढ़ कर ३९६ करोड़ रु० पहुँच गयी है। १९६९–७० के साल में केन्द्र उदारतापूर्वक राज्यों को १३९४ करोड़ रु० देगा। इस पर भी राज्य सन्तुष्ट नहीं हैं, और श्री अजय मुकर्जी–ज्योति बसु समेत प्रत्येक वित्तमन्त्री और मुख्यमन्त्री केन्द्र को मुक्का दिखा रहा है। यह अवांछनीय दृश्य क्या समाप्त न होना चाहिए?

इस स्थिति में भी राज्यों के बजट भारी घाटे के हैं। राज्य सर्वथा उत्तरदायित्व शून्य हैं अन्यथा घाटा घटने के बदले उत्तरोत्तर बढ़ने का कोई कारण नहीं है। यथा :

राज्यों का घाटा (करोड़ रु० में)

प्रथम पंचवर्षीय नियोजन की कालावधि में १७ करोड़ रु०

द्वितीय पंचवर्षीय नियोजन की कलावधि में ६४ करोड़ रु०

तृतीय पंचवर्षीय नियोजन की कालावधि में ४३ करोड़ रु०

१९६९-७० में राज्यों का प्रदर्शित कुल घाटा २०० करोड़ रु०

विभिन्न राज्यों के बजट में कितना घाटा दिखाया गया है, यह निम्न तालिका में देखिए :

राज्यों के १९६९-७० के बजट में प्रदर्शित घाटा

नाम	घाटा (करोड़ रुपयों में)
मैसूर	३१.५१
मध्य-प्रदेश	३०.०१
गुजरात	२९.६६
केरल	२०.०६
हरियाणा	६.३४
आन्ध्र प्रदेश	८.५०
असम	५०.०२
बंगाल	३५.३६
राजस्थान	२०.४१
तमिलनाड	१६.७१
जम्मू-काश्मीर	९.२०
बिहार	४१.७२
उड़ीसा	२५.९३
- योग :	३०५.६३

अभी नागालैण्ड, उत्तर-प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब का शेष ही है। २०० करोड़ रु० का अनुमान केवल सात राज्यों का था, जो अपर पहले दिखाया गया है। राज्यों का बजट घाटा ४०० करोड़ रु० से भी अधिक होगा। केन्द्र के करों का स्तर इस अवस्था में कैसे मर्यादित और सीमित रह सकता है। राज्यों के अपव्यय को कठोरता के साथ केन्द्र को रोकना

चाहिए। उन के अपव्यय को पूरा करने के लिए उत्पादन शुल्क और घाटे की वित्तीय-व्यवस्था न अपनानी चाहिए। इस के अभाव में भारत की अर्थ-व्यवस्था के भंग होने का भय है। राज्य जिस प्रकार की धमकी दे रहे हैं और बंगाल के वित्तमन्त्री ने जिस रीति से केन्द्रीय सरकार को धमकाया है, और श्री कामराज नाडर जिस प्रकार आग्रह कर रहे कि राज्यों को और अधिक सहायता प्रदान करनी चाहिए वह इस बात का प्रमाण है कि भारत एक देश है, एक राष्ट्र है, यह मान्यता राज्य के शासकों की नहीं है और राष्ट्रीय एकता के नाम पर राष्ट्रीयता को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं, और उसूरी-आमूर नदियों के कांठे पर प्रज्वलित आग और ढाका, लाहौर, चटगाँव पेशावर से उठे धुँए को नहीं देख रहे हैं। भारत की सुरक्षा की दृष्टि से और भारत को रण-भूमि न बनने देने के विचार से संघात्मक शासन-व्यवस्था का अन्त करना आवश्यक है अन्यथा नम्बुद्रीपाद-ज्योति बसु का, चीनी एजेण्ट कम्युनिस्टों का शासन स्थापित होने का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। राज्यों के घाटे के बजट देश के आर्थिक संकट को बढ़ाने वाले और आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने वाले हैं।

वित्तमन्त्री ने उत्पाद-शुल्क से और अधिक धन पाने की आशा से कर लगाने की पद्धति में परिवर्तन किया है। शुल्क व कर अब माल के परिमाण के अनुसार नहीं, बल्कि माल के मूल्य के अनुसार लिया जायेगा। इस से अपवंचन में कमी आयेगी, यह अपने को सन्तोष देने के लिए तो ठीक है, पर सत्य इस के सर्वथा विपरीत है। यह पद्धति भ्रष्टाचार को बढ़ायेगी, घटायेगी नहीं।

उत्पाद-शुल्क में वृद्धि करने, वर्तमान में समयोजन करने और कुछ फेर-फार करने के लिए चुनी हुई वस्तुओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। इसमें अधिकांश वस्तुएँ जीवनोपयोगी हैं। पश्चिमी सभ्यता को अपनाने और पश्चिमी ढंग का ठाठ-बाट अपनाने के बाद बिजली के उपकरणों को विलासिता की सामग्री कहना ठीक नहीं है। परन्तु वित्तमन्त्री की देखने की ऐनक साधारण जन से भिन्न है। नीचे उत्पाद-शुल्क जिन वस्तुओं पर बढ़ाया गया है, उन की सूची दी गयी है और इस परिवर्तन से प्रत्याशित आय भी दी गयी है। यथा :

उत्पाद शुल्क-वृद्धि के लिए चुनी वस्तुएँ

(प्रत्याशित अतिरिक्त आय करोड़ रु० में)

१. फर्टीलाइज़र (रासायनिक खाद), विद्युत चालित पम्प, तैयार व डब्बाबन्द खाद्य पदार्थ, घरेलू विद्युतीय उपकरण, कच्ची फ़िल्में और वुल : २८.१६ करोड़ रु०।

२. कढ़ाही, चीनी, सिगरेट, मोटर स्प्रिट, ऊँचे दर्जे की किरासिन, रेयन, संश्लिष्ट सूत व वस्त्र, जूट वस्त्र : ८३.८४ करोड़ रुपया।

३. खाँड़सारी चीनी, रबड़-माल, वनस्पति-माल, सोड़ा ऐश, कास्टिक सोडा, सोडियम सिलीकेट, साबुन-सिमेण्ट, बिजली के बल्ब,

फलुओसेण्ट ट्यूब, बिजली के पंखे : ३.५ करोड़ रु०; योग = ११४.०१ करोड़ रु०।

वित्तमन्त्री ने यद्यपि १०४.५७ करोड़ रु० की ही परिवर्तन-संशोधन के फलस्वरूप आशा की है किन्तु सत्य यह है कि इस परिवर्तन के कारण वित्त मन्त्री को ११४.०१ करोड़ रु० मिलेगा। ९.४४ करोड़ रु० का अन्तर साधारण नहीं माना जा सकता।

फरटीलाइज़र पर शुल्क बढ़ाने का विरोध करने वाले भारतीय कृषि के हित में नहीं, अपितु १९७२ में वोट पाने की आशा से विरोध कर रहे हैं। जापान और चीन फरटीलाइज़र के युग में भी प्रति-व्यक्ति प्रति वर्ष पन्द्रह रुपये का कम्पोस्ट तैयार कर रहे हैं। भारत ५०×१५ = ७५० करोड़ रु० हर साल खो रहा है। कम्पोस्ट बेच कर हरेक जिला परिषद् दो या तीन साल में अपनी आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम प्लाण्ट लगा सकता है। इस के वास्ते किसी देश से ऋण या सहायता लेने को कोई आवश्यकता नहीं है। भारत के इंजीनियर प्लाण्ट बनाने और लगाने में समर्थ हैं। उन के लगाये प्लाण्ट में वह गड़बड़ी न होगी, जो ट्राम्बे-प्लाण्ट में हो रही है। अमेरिकी कम्पनी 'केमीको' का लगाया यह प्लाण्ट स्थापित क्षमता का केवल एक चौथाई ही उत्पादन कर रहा है। फिर भी उस को मद्रास का भी ठेका दे दिया गया है। गाँव-गाँव कम्पोस्ट खाद तैयार करने से भारतीय कृषि को स्वावलम्बी बनाया जा सकेगा। फ़ार्म-मालिकों के लिए भूमि के अनुसार पशु-पालन और मेष-पालन के लिए बाध्य किया जाये। आचार्य विनोबा भावे का कहना है कि जापानी किसान फरटीलाइज़र का उपयोग गोबर मिला कर करता है। फरटीलाइजर मंगलमय वरदान नहीं है, अपितु अभिशापपूर्ण वरदान है। खेत को बंजर और ऊसर बना देता है। खेती के साथ आवश्यक रूप से पशु-पालन को जोड़ना चाहिए। दुग्ध-चूर्ण आयात करने के बदले फार्मों और किसानों को पशु-पालन के लिए प्रेरित किया जाये।

पिछले नौ सालों में केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य स्रोतों-करों की आय में कितना परिवर्तन आया है और सरकार अधिकाधिक किस प्रकार अप्रत्यक्ष करों पर निर्भर होती जाती है, इस को जानने के लिए जो सरकारी आँकड़े दिये गये हैं उसे देख कर क्या भारत की आर्थिक व्यवस्था को स्वस्थ और सुदृढ़ कहा जा सकता है? प्रत्यक्ष कर गिनती में ६ हैं, परन्तु शेष चार 'रोगी बच्चे' हैं। इन से होने वाली आय नगण्य है। इन को कर-सूची में स्थान देना व्यर्थ है। क्योंकि इन से कुल २० करोड़ रु० की आय है। इन को वसूल करने में जो समय, धन एवं श्रम खर्च होता है वह इस से अधिक मूल्यवान् है। आय के लिए मुख्यतः सरकार अप्रत्यक्ष करों, विशेषतः उत्पाद-शुल्क पर निर्भर है। युद्ध-काल में उत्पाद-शुल्क का सूत्रपात सीमा-शुल्क में आयी कमी को पूरा करने के लिए किया गया था। आयात-व्यापार पर कठोर प्रतिबन्ध होने पर भी इस से ४२६ करोड़ रु० की आय है। ठीक है, १९६६-६७ की ५८५.९०

करोड़ रु० से आय कम हो गयी है। परन्तु १९६१-६२ की तुलना में अब भी दुगनी है। इस के कम होने का भय अकारण है। स्पष्ट है कि पिछले बीस सालों में भारत की औद्योगिक प्रगति न के बराबर हुई है। विश्व-व्यापार में आज जर्मनी के विभक्त होने पर भी प० जर्मनी का स्थान दूसरा है, कनाडा का चौथा, और जापान का पाँचवाँ है। भारत का 'गैट' (इण्टर नेशनल टैरिफ ऐण्ड ट्रेड एग्रीमेण्ट) के देशों में निम्न स्थान है। स्पष्ट है कि तीन नियोजनों के कारण देश समृद्ध नहीं हुआ और न बलवान हुआ है। इस दशा में वैयक्तिक साहस को हतोत्साह करना क्या उचित कहा जा सकता है? राष्ट्रीयता शून्य देश में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नीति कभी सफल नहीं हो सकती।

केन्द्रीय सरकार स्वतः अपव्ययी है। इस दशा में वह राज्यों को कैसे अनुशासन-बद्ध कर सकती है? विकासीय, सैनिक, कर-संग्रह के अतिरिक्त प्रशासनिक सेवाओं का खर्च हर वर्ष बढ़ता जा रहा है। यह कहना विकास कार्यों के कारण प्रशासनिक खर्च बढ़ा है, यह जनता का मति-भ्रम करना है। प्रशासनिक सेवाओं का बढ़ता व्यय अपनी कहानी आप कह रहा है। नौ सालों में प्रशासनिक सेवाओं (पुलिस, सामान्य प्रशासन, लेखा-परीक्षा, परराष्ट्र व अन्य) का व्यय १०२.६८ करोड़ रु० बढ़ गया। क्या यह वृद्धि विकास कार्यों के बढ़ने से हुई है? शासन व्यय को १९६१-६२ के ही स्तर पर ले आने से १०२.६८ करोड़ रु० की अनायास बचत हो सकती है।

भारत एक गरीब देश है। परन्तु वैयक्तिक आय पर मार्जिनल कर का रेट सर्वोच्च है। १९६८-६९ में ८९.४ प्रतिशत था, अब १९६९-७० में घटा कर ८२.५ किया गया है। परन्तु सम्पत्ति कर में संशोधन कर के यह लाभ छीन लिया गया है। एशिया के बारह विकासशील देशों में से ६ में—कम्बोडिया, लाओस, तैवान (फारमूसा), ईरान, कोरिया, थाईलैण्ड—सर्वोच्च मार्जिनल आय-कर का रेट ५० प्रतिशत है। पिछले चार देशों में आर्थिक प्रगति तीव्रतम गति से हो रही है। आर्थिक प्रगति की मन्दतम गति भारत और बर्मा में है। आय-कर और सम्पत्ति-कर को एक साथ मिला कर देखने से ज्ञात होगा कि भारत में कर सर्वोच्च है। बर्मा के कुछ खण्डों में भारत से भी अधिक कर है। बर्मा, परन्तु दरिद्र देश है, धनी देश नहीं। अतः बर्मा का अनुकरण देश को दरिद्र बनायेगा।

कनाडा में करों की जाँच के लिए नियुक्त रायल कॅमीशन ने सिफ़ारिश की है कि अविलम्ब कर रेट ८० प्रतिशत से घटा कर ५० प्रतिशत कर दिया जाये। जर्मनी में सर्वोच्च कर-रेट ५३ प्रतिशत है। सोशलिस्ट देश स्वीडन में हाल ही में, आय के सर्वोच्च खण्ड पर ६५ प्रतिशत किया गया है। सिंगापुर में ५५ प्रतिशत, फिलीपीन में ६० प्रतिशत, और सीलोन में ६५ प्रतिशत वैयक्तिक आय पर कर है। अनुभव बताता है कि औद्योगिक प्रगति को तीव्र करने के लिए वैयक्तिक आय पर ५० प्रतिशत से अधिक कर लगाना

उचित नहीं है। प्रो० एरहार्ड और कौलिन क्लार्क सदा यह कहते रहे हैं कि वैयक्तिक कर किसी भी दशा में ५० प्रतिशत से अधिक न होना चाहिए। विचित्र बात है कि भारत में कॅम्युनिस्ट और तथाकथित समाजवादी कृषि-आय व सम्पत्ति पर कर लगाने का तीव्र विरोध करते हैं, वही लोग अकृषि आय पर वर्तमान स्तर पर कर लगाने पर ज़ोर देते हैं। यहाँ भी प्रेरक कारण १९७२ का चुनाव है। निगम कर की भी यही कथा है। विश्व के १५० देशों में से १४४ देशों में निगम कर ५० प्रतिशत से अधिक नहीं है। जिन ६ देशों में निगम कर ५० प्रतिशत से अधिक है, वह हैं—वेनेजुएला, फिनलैण्ड, हिन्देशिया, भारत, फारोए द्वीप समूह, और बर्मा। फारोए द्वीप समूह ग्रेटब्रिटेन और आइसलैण्ड के मध्य स्थित है। इस की कुल जनसंख्या ३४००० है। भारत में ५०.६ प्रतिशत से ले कर ६५ प्रतिशत है। कम्पनियों के लाभ पर सरटैक्स (प्रभार) का बोझ इस के अतिरिक्त है। यदि निगम कर में ५ प्रतिशत की कमी कर दी जाये तो सरकार को ३३ करोड़ रुपये की आय में कमी होगी। किन्तु यह कमी उत्पादन तेज़ी से बढ़ने के कारण उत्पाद-शुल्क और बिक्री कर की बढ़ी आय से पूरी हो जायगी। स्टेनले प्लीजे का १९ अविकसित व पिछड़े देशों का अध्ययन बताता है कि कर के द्वारा राष्ट्रीय बचत का सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है, यह मृगमरीचिका के समान है। कर-वृद्धि करने से सरकारी और निजी बचत की रेट गिर जाती है। बचत का राष्ट्रीयकरण राष्ट्रीयकरण का सब से भद्दा रूप है। भारत में निजी बचत ६ प्रतिशत कम हो गयी है। यह भारत के आर्थिक स्वास्थ्य के बिगड़ने का सूचक है।

वर्तमान प्रत्यक्ष करों के रहते हुए आर्थिक पुनरुज्जीवन और दरिद्रता का अन्त कभी सम्भव न होगा। इस का प्रमाण यह है कि १९६८ में कम्पनियों ने केवल ६९ करोड़ के ही शेयर जारी किये हैं जब कि १९६७ में ८० करोड़ के शेयर जारी किये थे। ग्यारह करोड़ रु० की कमी बता रही है कि वर्तमान कर-स्तर औद्योगिक और आर्थिक प्रगति में बाधक हो रहा है।

३५ लाख व्यक्तियों के नाम आज भी रोज़गार पाने वालों की सूची में दर्ज हैं। निर्यात व्यापार अवश्य १३४० करोड़ पर पहुँच गया है। पर, यह साल-भर के आयात-बिल का केवल दो-तिहाई है। भारत पर विदेशी कर्ज़ १९६९ में ५७७१ करोड़ पहुंच गया है।

भारत निर्यात-व्यापार में बहुत पीछे है। हाँगकाँग में कपड़े की पहली मिल १९४७ में लगी थी। परन्तु वह भारत से तीन गुना कपड़ा निर्यात कर रहा है। आर्थिक स्वास्थ्य का अच्छा सूचक यह है कि कौन देश कितनी मात्रा में वैयक्तिक विदेशी पूँजी आकर्षित करता है। भारत में कुल विदेशी पूँजी विनियोग १५० करोड़ डालर है। मैक्सिको और तैवान छोटे देश हैं, किन्तु इन में भारत से कई गुणा अधिक विदेशी पूँजी का विनियोग हुआ है। आॅस्ट्रेलिया प्रति वर्ष १०० करोड़

और विदेशी पूंजी-विनियोग प्राप्त करता है। जापानी पूंजी विनियोग में बहुत चतुर हैं। भारत में वह केवल १ प्रतिशत अपनी पूँजी का विनियोग करते हैं। भारत से बाहर शेष ९९ प्रतिशत करते हैं। देश में जब उच्चतम बचत की प्रेरक स्थिति नहीं है, तब वैयक्तिक विदेशी पूंजी को भारत कैसे आकर्षित कर सकता है, और अधिकतम विदेशी पूँजी के विनियोग की कैसे आशा कर सकता है ?

आवश्यकता है कि बजट कल्पनाशील, और प्रेरणादायी हो और पराजित राष्ट्र को पराजय का कलंक मिटा देने का संकल्प करने की प्रेरणा करने वाला हो। इस के अभाव में भारत दरिद्र का दरिद्र ही रहेगा। क्या हम चेतेंगे ?

■ ■

[उभरते हुए गुबार··· : पृष्ठ ७२ का शेषांश]

प्रद्युम्नजी ने बड़ी सुकोमलता से पुकारा, "शक्ति, तुम्हारी ये रचनाएँ हैं, जिन्हें तुम मेरे यहां छोड़ आयी थीं।" प्रद्युम्नजी के हाथ कोट की जेब में से फड़फड़ाते कागज़ों को निकालने के लिए आतुर थे।

शक्ति उतरते हुए बड़े सहज भाव से तटस्थतापूर्वक कहती गयी, "रखिए, रखिए ले लूँगी कभी।"

एकाएक वह नहीं कह सकी, कि वह उन की बात अब पूरी तरह समझ गयी है, और कि वह अब तक सचमुच व्यर्थ ही रोती रही है।

■ ■

चेहरे के आईने में

कैमिनी कोरोट की पेण्टिंग 'इण्टरप्टेड रीडिंग' को देखने के बाद

●

अमृता भारती

जलती हुई वह मोमबत्ती
बाहर बुझ कर
अन्दर संचरण करती
दीपशिखा बन गयी
और वह क्षण
बिन पकड़े ही बहुत पीछे छूट गया—
गति और स्थिति से परे
अब मैं केवल एक नैरन्तर्य हूँ :

[पत्तों से ढके
उस मीठे सरोवर के किनारे
कभी एक डोली रुकी थी
वह सारी सीढ़ियाँ उतर कर
पानी की गहनतम कोमलता में
इतनी देर से क्या सुन रही है
जब कि बहता हुआ जलतरंग
कभी का रुक गया
क्या देख रही है
डूबी हुई आँखों की
निर्लक्ष्य दूरी में ?

भीतर चल रहे संवाद भी
एक-एक कर बिखर गये
वह मधुर आनत भंगिमा
अब केवल एक मौन स्वीकृति है]

मैं यहाँ नहीं हूँ
मैं वहाँ नहीं हूँ
इन दोनों ही छोरों से हट कर
आत्म-बोध और स्मृति-बोध से परे
हवा में काँपती
सूनी नीलिमा की तरह
मैं फैली हुई हूँ.
जिस में झरते हुए पत्तों का संगीत
पल भर ठहर कर कहीं भी टपक जाता है

[अपने से परे की
किस आत्मानुभूति ने
उसे विवश किया
इन निःसंगताओं में
निश्चल हो जाने के लिए
पहली चन्द्रकला-सी मृदुल रेख
ओठों से बिछुड़ कर
हृदय में क्यों अटक गयी
पलकें क्या पूरे आकाश को
अपने भीतर थाम कर रख सकती हैं
और दृष्टि
कर सकती है क्या इतना ठण्डा-कोमल
अपने भीतर पिघल रही बिजलियों को ?
वह किन पारदर्शी अगम्य दीवारों में
दृश्यों, संवादों और स्वप्नों को
बाहर ही छोड़ कर
चली गयी]

झील में
बार-बार तरल हो कर तैरते
ये चित्र
क्या आकाश के मेघ-मलिन होने से पहले ही
किसी दूरवर्ती सरोवर के लिए उड़ जायेंगे
और वह याद
जो कभी उस गुलाब के सहारे
बहुत देर तक
जुड़ी रह गयी थी
यों ही
जड़ित रह जायेगी ?

■ ■

सज़ा

शैवाल सत्यार्थी

"रेनू !....रेनू ! क्या बहरी हो गयी हो ?" लगभग चीखती-सी आवाज में श्रीकान्त ने पुकारा ।

"क्या हुआ ? आ तो रही थी—जवाब भी दिया था कि आ रही हूँ।" रंजना ने कहा ।

"सुनाई नहीं दिया—छत पर थीं क्या ?"

"हाँ, वहीं तो थी—कहा था न कि आलू और साबूदाने के पापड़ धूप में डालने जा रही हूँ । फिर, इतनी-सी देर में क्या हो गया ?"

"हो क्या गया—देखो न, इन कम्बख्तों ने 'सीलिंग फ़ैन' के ऊपरी हिस्से में, फिर

अपना तम्बू गाड़ना शुरू कर दिया है। शोर अलग—न कुछ लिखने दें, न पढ़ने। अब तुम्हीं बताओ, भला ?''

रंजना ने सिर पर लटकते फ़ैन की ओर देखा, फिर मुसकराकर श्रीकान्त को।

''आखिर, वह बेचारी भी तो, कहाँ जाये—फिर ऐसी हालत में !'' रंजना ने बहुत दया के भाव से पूछा।

''फिर ऐसी हालत में....?'' कुछ पूछने से पहले ही, फ़ैन के एक पंखे पर भयातुर-सी बैठी चिड़िया को श्रीकान्त ने ग़ौर से देखा—जो इस ओर बड़ी विवश दृष्टि से देख रही थी। सचमुच, रंजना ने ठीक ही कहा था—'ऐसी हालत में !' पेट उस का कुछ फूला हुआ-सा था।

उस ने रंजना की ओर देखा—वह भी तो 'एक नये मेहमान' का सुखद किन्तु, कठिन भार ढो रही थी।

''ओह ! तो, एक माँ दूसरी माँ की वकालत कर रही है !'' वह हँसा।

''मगर तुम्हारी वकालत और सिफ़ारिश में, मेरी कहानी का गर्भस्थ शिशु अजन्मा ही मरा जा रहा है। तुम तो, छत पर थीं न रेनू—तुम्हें क्या मालूम कि किस बुरी तरह चिल्ल-पों मचायी है इस चिड़िया और इस के उस ने....और तुम ने भी तो, छत से उतरने में देर कर दी ?''

''मैं ने देर कहाँ कर दी ? फिर, आप ही तो कहते रहते हैं कि संभल-संभल कर उतरा चढ़ा करो !''

''मैं—कब, क्यों ?'' श्रीकान्त ढीठ-सा मुसकराया, रंजना को पास खींचते हुए।

''चलिए हटिए—आप बड़े वो हैं !'' और कुछ शरमाती, कुछ इठलाती, वह उस के आगोश में सिमट आयी।

माँ बनने का पहला और नया अनुभव करने जा रही थी रंजना।

●

फिर, कई दिन तक—

वह कहानी लिखता रहा। उधर, तिनके-तिनके जुड़ते रहे....एक नये घरौंदे, एक नूतन सृष्टि का निर्माण होता रहा !

आज शोर, रोज़ से कुछ ज़्यादा ही हो रहा है। रंजना दूध का गिलास ले कर आयी तो, उस ने शिकायत की।

वही सदा की क्षमामयी मुसकान। बोली, ''अब मैं ध्यान रखूँगी, जब आप लिखते होंगे, मैं इसे ड्राइंग रूम में आने नहीं दूँगी।''

वह पास के सोफ़े पर बैठ गयी थी और चिड़िया को, जो बाहर से अभी-अभी एक तिनका ले कर आयी थी, देख रही थी।

श्रीकान्त दूध पीता रहा, और रंजना की
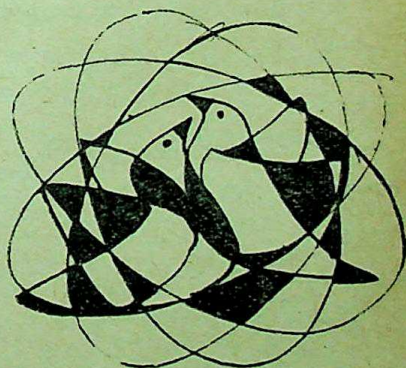
ओर देखता रहा—नारी-हृदय की कोमल, एक सम्पूर्ण कहानी, मातृत्व के महिमामय चेहरे पर पढ़ी जा सकती थी।

"रेनू, क्या सोच रही हो?"

"जी!" उस ने चौंक कर देखा, जैसे कि गहरी नींद से जाग पड़ी हो। बोली, "इसी घोंसले के बारे में सोच रही थी, कितने श्रम से बनता है यह। इन के बसेरे से—मुझे बड़ा सुख, आत्मिक शान्ति और प्रेरणा मिलती है।"

"तुम्हें इस से बहुत ममता है न, ज़रूर गये जन्म में यह तुम्हारी सगी बहन रही होगी, न रेनू?" श्रीकान्त ने गिलास का आखिरी घूंट पिया और हँसा। रंजना भी हँसी, एक ऐसी हँसी कि उसे ध्यान आया—वह अलग सोफ़े पर बैठी है!

"वहाँ नहीं रेनू, यहाँ बैठो।"

वह उठी, श्रीकान्त के हाथ का खाली गिलास ले कर उस ने खिड़की में रख दिया। फिर, उस के समीप आ बैठी। रजनीगन्धा-सी उस के ओठों पर मुसकान की सुरभि, अभी भी बिखर रही थी। सोनजुही पर, रात्रि के प्रथम ओस-बिन्दु-सा उस का सलोना मुखड़ा श्रीकान्त ने अपने दोनों हाथों में ले लिया—और····

"अरे छोड़िए—वो आ गये हैं!"

घबरा कर उस ने मुँह छोड़ दिया—"कौन?"

"चिड़िया के वो!" शरारत से खिल-खिलायी रंजना।

वह भी हँस पड़ा।

दोनों ने उधर, पंखे पर छेड़-छाड़ शुरू कर दी थी····

"बड़े स्वार्थी हैं तुम्हारे बहनोई—इस हालत में भी, तुम्हारी बहन को तंग करने से बाज नहीं आते!" श्रीकान्त ने चुटकी ली।

"धत्, जो मुंह में आता है—कह देते हैं आप। मैं ने जो—'वो आ गये' कह दिया, उस का बदला निकाल रहे हैं, यह नये-नये रिश्ते जोड़ कर? पर, यह न भूलिए कि मेरे साथ-साथ, आप के भी तो कुछ हुए वे?" रंजना ने चुटकी का जवाब दिया।

"हाँ, किन्तु तुम्हारी तरह, कोई खास नहीं। कहो तो, अभी मार कर भगा दूं?" पास में रखी छड़ी उस ने उठा ली—"क्या तुम ऐसा कर सकती हो?"

"नहीं, नहीं।"—रंजना ने छड़ी उस के हाथ से ले ली, और कन्धे पर सिर रख कर बोली, "ऐसा मत करना, आज मुझे ही आप अपने से अलग कर दें, तो मेरा क्या हो?"

"अरे—अरे, यह क्या—रोती हो रेनू?" श्रीकान्त ने उसे अपने सीने से लगा लिया, तो वह और भी सिसक पड़ी। "भई, तुम्हारे रिश्तेदारों को मैं मारूं तो तुम मुझे मार लेना—बस! मैं तो यूँ ही कह रहा था।" उस ने गुदगुदा दिया, तो वः धुले आसमान-सी साफ़ हो गयी और गोद में लेटी-लेटी उस के कुरते के बटनों को खोलती-बन्द करती रही।

तभी, बाहर डाकिये की आवाज सुनाई दी—रंजना लपक कर उठी और चिट्ठी ले

आयी।

"किस की है ?"

"माँ की।"

पढ़ कर उस ने, पत्र श्रीकान्त की ओर बढ़ा दिया। उस ने पढ़ा। सारांश यह था कि यह रंजना की पहली 'डिलीवरी' होगी—देख-भाल के लिए वहाँ कोई बड़ा-बूढ़ा है नहीं। यूँ भी, पहला प्रसव मायके में होना चाहिए। सुधीर यहाँ से कल रवाना हो जायेगा, उस के साथ रंजना को भेज दो।

पढ़ कर श्रीकान्त ने उस की ओर देखा—वह एकटक इसी ओर देख रही थी।

"बोलो रेनू ?" न चाहते हुए भी, उस के स्वर में अतिरिक्त उदासी भर गयी थी।

"क्या बोलूँ ! बस, आप को छोड़ कर मैं कहीं नहीं जा सकती।"

"छोड़ कर जाने को कौन कहता है—पगली कहीं की !" उस के सिर पर, प्यार से हाथ फेरते हुए उस ने कहा, "कुछ दिन की तो बात है, फिर मैं खुद जा कर तुम्हें ले आऊंगा।"

"नहीं, आप से एक क्षण को भी दूर नहीं रह सकती।" उस ने दोनों हाथों से उस का हाथ कस कर अपने आँचल में दबा लिया—जैसे कि वह सचमुच ही, उसे अपने से दूर किये दे रहा है।

"सुनो रेनू, जिद नहीं करते—माँ ने ठीक ही लिखा है। यह तुम्हारा पहला अवसर है। और फिर, यहाँ कोई है भी नहीं। पहला प्रसव, नारी का दूसरा जन्म होता है। तुम माँ के पास चलो जाओ।"

सज्जा : शैवाल सत्यार्थी

बहुत ऊँच-नीच समझाने-बुझाने के बाद श्रीकान्त रंजना को जाने के लिए मना पाया।

●

इस बीच—

सुधीर के आने तक के समय में, श्रीकान्त के बहुत मना करने के बावजूद, रंजना कुछ-न-कुछ तैयार करने में लगी रही। रवा के लड्डू, बेसन की बरफी, और जाने क्या-क्या बनाती रही। कहने लगी, "मेरे जाने के बाद, कुछ दिन तो आप को तकलीफ़ होगी न !"

श्रीकान्त का मन हुआ कि कह दे—"तुम्हारे देहरी लाँघते ही, मेरी तनहाइयाँ मुझे खाने को दौड़ेंगी। कुछ दिन को तो बात छोड़ो !" फिर यह सोच कर रह गया कि बहुत मुश्किल से तो, जाने के लिए तैयार किया है—ऐसी बात मुँह से निकलना तो दूर, चेहरे पर भी झाँक गयी तो, भगवान् भी इसे मना नहीं सकेंगे।

क़मीज-पायजामों की खोंप से ले कर, बटन टाँकने तक उस ने कुछ भी छोड़ा नहीं।

"रेनू···!" श्रीकान्त ने अधीर हो कर पुकारा।

"जी ?" उस ने पीतल की बाल्टी में 'लक्स' घोलते हुए ही पूछा।

"आज तो, घड़ी भर हमारे पास बैठने की भी तुम्हें फ़ुरसत नहीं !" श्रीकान्त का स्वर, आवश्यकता से अधिक ही दर्दीला हो गया था।

हाथ धो कर और पल्लू से पोंछती हुई, जल्दी से वह आयी और दोनों हाथ उस के

गले में डाल दिये। झूल कर बोली, "कहाँ? एक क्षण भी तो आप से दूर नहीं हूँ, फिर भी यह सब कह देते हैं। मेरा अपना अलग कोई क्षण हो तो बताइए, बताइए न?" आँखों से आँसू छलछला आये।

"नहीं है, रेनू--सचमुच कोई नहीं है। यूँ ही, मुँह से निकल गया था।" ओठों से आँसू पोंछ दिये, और उस ने दोनों हाथों से उसे कस लिया।

"मुझे लेने कब आयेंगे?"

"जल्दी, बहुत जल्दी--अच्छा, तुम ही बता दो कि कब आऊँ?"

"जिस दिन हिचकियाँ बहुत ज़्यादा आवें, समझ लीजिए कि आप की रेनू याद कर रही है। वैसे तो, प्रतिपल याद करूँगी—पर उस क्षण, आप को बुलाने के लिए!"

और श्रीकान्त ने तब, उस के तड़पते अधरों का सम्पूर्ण पराग—अपने बेचैन ओठों में समेट लिया—ताकि जुदाई की कठिन घड़ियों के लिए, कोई अभाव शेष न रह जाये!

"हाँ, एक बात और—मैं ने टाइम-टेबिल बना कर आप के पायताने टाँग दिया है—कितने बजे सोना, कितने बजे उठना, व्यायाम करना, कब दूध पीना और कब खाना खाना, सभी कुछ। मेरे जाते ही, लापरवाही शुरू न हो जाये!"

"वह तो होगी ही—तुम्हारे जाने के बाद और होगा भी क्या?"

"तो नहीं जाती, मैं ने पहले ही कहा था।" रंजना ने लगभग मचलते हुए कहा।

"अरे-अरे, मैं तो मज़ाक़ कर रहा था। अब तुम ही सोचो, मैं कोई नन्हा-मुन्ना हूँ क्या—या प्रायमरी स्कूल का विद्यार्थी कि तुम ने टाइम-टेबिल टाँग दिया···मेरा टाइम-टेबिल तो, तुम हो रेनू—सिर्फ़ तुम! तुम्हारे बिना तो, मुझे ठीक से साँस लेना भी नहीं आता!" श्रीकान्त को लगा कि भावना के अतिरेक में, अपनी भावुकता को उस ने कस कर चाबुक मार दिया है और वह हवा से बातें कर रही है। इतनी तेज़ रफ़्तार रंजना बर्दाश्त नहीं कर सकती। उस ने लगाम को एकदम ही खींचा—"तुम अभी तक तैयार नहीं हुई रेनू, सुधीर को लेने स्टेशन चलना है न! जल्दी से चाय बना लो तो पी कर चलें।"

●

सुधीर आया—रंजना को ले कर चला भी गया। छुट्टी न मिल पाने के कारण रुका नहीं।

घर बहुत सूना-सूना हो गया है—'बिन घरनी घर भूत का डेरा!' जाने से पहले, यह भी कहना न भूली थी कि "देखो, चिड़ियों को दिक न करना—भला"

"हाँ" में श्रीकान्त ने सिर हिला दिया था।

पतझड़ के सूखे पत्तों-से उड़ते-रुकते, फिर कई दिन निकल गये····

आज की सुबह, मूड कुछ अच्छा है—तो वह कहानी लिखने बैठ गया। थोड़ा-सा लिख पाया था कि चिड़ियों ने शोर शुरू कर दिया। कई बार भगाया, किन्तु फिर वही—स्वतन्त्रता

की प्राप्ति के पश्चात्, उच्छृंखलता, उस का दुरुपयोग, शायद, यह एक अनिवार्य-सा सत्य है! एक बुराई, जो सम्भवतः आवश्यक-भी है!

कई बार के प्रयत्न के पश्चात्, अन्ततः वह अपना सन्तुलन खो बैठा—रंजना को दिया गया वायदा भी···गुस्से में, पास रखा भारी-भरकम 'शेष प्रश्न' बन्द फ़ैन के ऊपर फेंक मारा! चिड़ियां तो उड़ गयीं किन्तु पुस्तक के धक्के से थोड़ा घास-फूस नीचे गिरा और उस के साथ ही एक गोल सफ़ेद अण्डा भी ड्राइंग रूम के पक्के फ़र्श पर गिर कर, छितरा गया ···उस का कलेजा धक् से रह गया, जैसे अनचाहे—अनजाने ही रिवाल्वर देखने-देखने में ही गोली छूट गयो हो, और किसी निर-पराध की हत्या हो गयी हो!

चिड़िया एक बार फिर आयी। एक क्षण के लिए, अपराधी की भयभीत दृष्टि से, श्रीकान्त ने उसे देखा। उस ने भी देखा, जैसे कि कहा हो—"तुम ख़ूनी हो, ख़ूनी बच नहीं सकता—गुनाह की सज़ा तो, भुगतनी ही होगी!" और उड़ गयी।

उस दिन उस से कुछ खाया-पिया नहीं गया, मानो यही पाप का प्रायश्चित्त हो। बहुत रात तक नींद न आयी, और जब आयी तो डरावने-डरावने सपने ले कर···

सुबह हुई भी न थी कि खट्-खट् की आवाज़ से नींद उचट गयी, श्रीकान्त हड़बड़ा कर उठा और दरवाज़ा खोला—टेलीग्राम!

काँपते-हाथों खोला और पढ़ा—"ज़ीने से रंजना गिर गयी····बच्चा मर गया····वह ठीक है····!!!"

■ ■

सज्जा: शैवाल सत्यार्थी
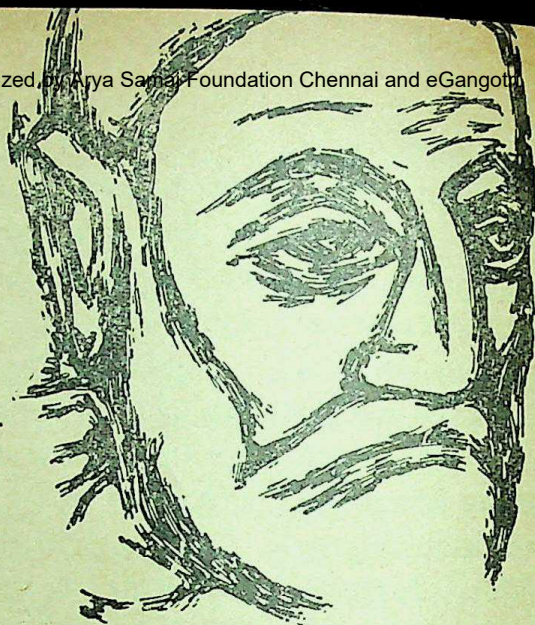
उस की ज़िन्दगी और उस के ज़माने को
एक छटपटाती हुई तसवीर जो आईना
भी है और अक्स भी।

"एक खयाली धुआँ उठ कर शामियाना-सा बन गया और हम ने उसे आसमान का नाम दिया और निगाहों में एक उलझा हुआ परेशान ख्वाब उभरा जिसे हम दुनिया समझ बैठे!"

"नहीं तो।"

"तो फिर? ये आदमी क्या है? उस की पैदाइश का राज़ क्या है? इस दुनिया के बनाये जाने में क्या भेद छुपा है? आदमी का अन्त क्या है? ज़िन्दगी और मौत, नेकी और बदो, खुशी और ग़म के क्या मानी हैं? तो क्या ये सब नजर का धोखा है?"

एक परछाइं मेरे सामने आ कर खड़ी हो गयी और कहने लगी, —"ठीक सोचते हो ग़ालिब!"

मैं ने चौंक कर देखा। ये परछाइं वही थी जो दिन-रात साये

ग़ालिब : ख़ुद अपनी ज़बानी (४)

अहमद सलीम

की तरह मेरे साथ रहती आयी। मैं ने उसे ग़ौर से देखा तो उस ने बड़ी ढिठाई के साथ जवाब दिया : "मैं तुम्हारी सोचों को भटकने से रोकता हूँ। मैं तुम्हारा साया हूँ।"

और तब मैं ने बहुत ही कड़वी हँसी हँसते हुए कहा था कि : "मेरी सोचों में तो यह तमाम दुनिया ही गुम है, फिर तुम किस गिनती में। मैं तो सारी ज़िन्दगी 'है'-'नहीं है' के सहराओं में भटकता रहा हूँ। मैं शाइरों, सन्तों, पैग़म्बरों और फ़लसफ़ियों की कही-अनकही बातों को खँघालता रहा हूँ। पहरों-पहर अपनी सोचों में डूबा रहा हूँ। लेकिन मेरी नज़रों का भटकना—वह तो न गया। कब रोका तुम ने मेरी नज़रों को भटकने से ? मैं एक इकाई हूँ : एक अमिट इकाई।"

"क्यों झुठलाते हो अपने आप को।" मेरे साये ने मुझे टोका : "तुम ही ने तो कहा है कि हस्ती के धोखे में मत आ जाइयो। ये दुनिया खयालों का ही एक जाल है।"

"मैं इस से कब इनकार करता हूँ।" मैं ने कहा : "पर सचाइयों से मुँह भी तो नहीं मोड़ सकता ! मुझे तो हर तरफ़ बस वही दिखाई देता है।"

"तो फिर तुम्हारी अपनी हस्ती क्या है ?" साये ने पूछा।

"दिल के समन्दर की हर बूँद पुकार-पुकार कर कह रही है कि मैं समन्दर हूँ, मैं समन्दर हूँ।" मैं ने जवाब दिया : "हम उस के हैं हमारा पूछना क्या !"

"तो फिर ये क्यों नहीं कहते कि तुम कुछ भी नहीं हो। महज़ एक परछाईं हो। तब—" साये ने फिर एक सवाल उठाया—"तब ये अच्छाई और बुराई, खुशी और ग़म कहाँ से आते हैं ?"

"जब नज़र के परदे उठते हैं तो देखने वाला और देखा जाने वाला एक हो जाते हैं। बुराई अच्छाई का हिस्सा बन जाती है।" मैं ने उसे समझाना चाहा : "दुःख और दर्द तो ख़ुशी के एहसास को बढ़ाता है। इकाइयाँ फैलती हैं, दूरियाँ मिट जाती हैं, और फिर ज़िन्दगी और मौत की गुत्थियाँ अपने आप सुलझ पड़ती हैं। मौत तब ज़िन्दगी के ज़ायक़े को बढ़ा देती है।"

"सब मनगढ़न्त बातें हैं।" साया मुझे झुटलाने पर उतारू था।

"नहीं नहीं !" मैं बेचैन हो गया, "यही तो ज़िन्दगी है जो ख़िज़ाँ और बहार का रूप धारती है और आँखों को हर रंग में खुला रखने की दावत देती है।"

"साफ़-साफ़ ये क्यों नहीं कहते कि इस दुनिया में तुम तमाशा देखने वाले एक तमाशाई भर हो।"

"नहीं !" मैं ने तड़प कर जवाब दिया, "मैं तमाशाई नहीं हूँ, एक हस्ती हूँ। अपनी इस अकेली हस्ती में कितनी और हस्तियाँ लिये बैठा हूँ, तुम्हें क्या मालूम। हस्ती का सारा हंगामा मुझ से है। मुझ में कितनी क़यामतें छुपी हैं तुम क्या जानो !"

"मुझे सब पता है। तुम्हारी बेचैनियों की उड़ती हुई चिनगारियों से तुम्हारे दिल की घाटियों में एक आग लग गयी है और तुम्हारी परछाईं धुएँ की तरह हवा के कन्धे पर लरज़ रही है।" मेरे साये ने मुझ से कहा और अलोप हो गया।

मैं ने दिल की जलती हुई घाटियों में झाँक कर देखा और चिल्ला उठा :

"मेरे दिल की जलन मेरी साँस को पिघला नहीं सकती। सैकड़ों शोले निचोड़ कर मेरी आग के मग़ज में डाल दो कि ये पिघल जाये।"

मेरी चीख़ मेरे अन्दर गूँज रही थी और आँखें अलोप हुए साये को तलाश रही थीं : "मेरी निगाहों से तो सितारों की चालें भी छुपी न रह सकीं—।"

"तू सितारों और आसमानों का राज़दां होने का दावा करता है और हालत ये है कि चित और पट के फ़र्क़ को भी नहीं पहचानता !" एक-ब-एक मेरा साया फिर मेरे सामने आ कर खड़ा हो गया था और उस ने मेरी बात काट दी थी : "सितारों का पुजारी न हो," वह गम्भीर होता हुआ कह रहा था, "उधर वह एक सूरज भी तो है जिस की रौशनी में सारी दुनिया लिपटी हुई है।"

"दुनिया को उजालने वाले सूरज से मुझे कोई उम्मीद नहीं है।" मैं ने झल्लाते हुए कहा, "इस जलती हुई आग के तश्त को उठा कर मेरे सर पर फेंक दो।"

"क्यों ख़फ़ा होते हो मियाँ अपने बार पर ?" साये ने जैसे फिर मेरी ज़बान काटी, "इसी लिए न कि आज तुम्हें एक ख़याली वहम ने घेर लिया है। तुम्हारे यक़ीन के पैरों में आज शक के काँटे चुभ गये हैं।" साया ज़रा देर को रुका और फिर बोला : अच्छा ये बताओ कि मस्तों को अलाप किस ने दी। और आशिक़ों को आह, ताले को चाभी और

सिक्के को बादशाह का नाम किस ने दिया। बादल को अमरित की वह बूँदें किस ने दीं कि प्यासी धरती भी सिंच कर हरी-भरी हो जाये। मिट्टी को इस पानी से यह ताक़त किस ने दी कि पेड़-पौधे भी भभक उठें। शराब को वह जलाल किस ने बख़्शा कि जब वह दमकने पर आये तो पीने वाले के माथे पर सितारे जगमगा उठें। बाँसुरी के गले में वह रस किस ने उँड़ेल दिया कि जब वह लहराती है तो लोग लहरा-लहरा कर पी जाते हैं। साक़ी को चलने का वह अन्दाज़ किस ने दिया कि औरों का तो क्या पूछना, खुद दिलरुबा उस पर लट्टू हो जाते हैं। और फिर हसीनों को वह अदा किस ने दी कि साक़ी भी देखते ही होश खो बैठे ?''

"चुप रहो !'' मैं ने बेहद झिंझलाहट के साथ कहा, "मियाँ ये क्यों नहीं पूछते कि आज़ाद मर्दों को वह हाथ किस ने दिये जो साग़र पटक देते हैं, वह पत्थर उन्हें किस ने दिये जिन्हें वह सर पर मार लेते हैं।''

ये सुनना था कि मेरा साया ठहाका मार कर हँसा, हँसते-हँसते जैसे बेदम हो गया। बोला : आ गये न अब उसी जगह !''

"आदाब अर्ज़ है हुज़ूर !'' मैं इस आवाज़ पर चौंक पड़ता हूँ। देखता हूँ और मुसकरा पड़ता हूँ : "आओ आओ महेश दास। कहो मिज़ाज कैसा है ?''

"अच्छा है, इनायत है हुज़ूर की।'' लाला महेश दास ने जवाब दिया। और फिर बोले, "सुना है करनल ब्राउन ने ताकीद की है कि न आप घर से निकलें न किसी नौकर को बेज़रूरत निकलने दें।''

"हाँ ! मगर तुम ये क्या ले आये ?'' महेश दास के साथ मैं ने कल्यान को लदा-फँदा देख कर पूछा।

"हुज़ूर, न ओल्ड टॉम है न फ्रेंच। फिर भी कॉस्टेन का मज़ा देती है। ख़ालिस अंगूरी है।'' महेश दास ने बताया : "राजा नरेन्दर सिंह के नायब जो हवेलियों का किराया वसूल करते हैं, उन के पास से दस बोतलें उठा लाया हूँ।''

मैं ने महेश दास का शुक्रिया अदा करते हुए कहा था, "आप का ये देसी ठर्रा गठैल सही। मेरे लिए तो ग़िज़ा की तरह है।''

और फिर इन बोतलों को कल्लू से कह कर तोशाख़ाने में रखवा देता हूँ; जहाँ मेरे बर्तन भी बेगम के बर्तनों से अलग रखे हैं। और तब मैं ने देखा कि महेश दास अपने साथ शराब की बोतलें ही नहीं ग़ल्ले की बोरियाँ भी लायें हैं। दिल्ली आज जिस क़यामत से गुज़र रही है उस का क्या पूछना। गिरानी आस्मान से बातें कर रही है। गेहूँ-चना बीस-बाईस सेर था, अब अट्ठारह ही मिल रहा है। घी सवा दो सेर था अब दो भी नहीं रहा।

और महेश दास ने हँसते हुए बताया था कि वह दो सेर बादाम भी लें आये हैं। वह जानते हैं कि तले हुए बादाम हों तो शराब के घूँट आसानी के साथ हलक़ से नीचे उतर जाते हैं। हालाँकि मैं महेश दास को कैसे बताऊँ कि अब मैं क्या और मेरा पीना कैसा !

भरी बरसात के बहुत-से दिन ऐसे भी गुज़र गये, पूनम की रातें यों भी निकल गयीं कि पीने को शराब न थी। और दुनिया मेरी आँखों में अन्धेर हो गयी। जब सावन-भादों की घटाएँ झूम कर आती हैं और मेरा प्याला शराब से ख़ाली होता है तो मेरे दिल पर क्या गुज़र जाती है। बाहर का मौसम और यहाँ नून-तेल की फ़िक्र में बेहाल! ग़रीबी का भरम रखने को घर का दरवाज़ा बन्द किये बैठा हूँ। अभी कल ही मुहम्मद यूसफ़ अली ख़ाँ नवाब रामपुर को सौ रुपये की हुण्डी की रसीद भेजते हुए लिखा है कि हुण्डी पहुँची और रुपया वसूल में आया और ख़र्च हो गया और मैं बदस्तूर भूखा और नंगा रहा। आगे मैं ने ये भी लिखा था कि ये बात अब मैं तुम से न कहूँ तो किस से कहूँ। और ये कि इस बँधी-टकी तनख़्वाह के इलावा दो-सौ रुपये मुझ को और भेज दें तो जिला लिया जाऊँ।

अभी ज़रा देर पहले नवाब ज़ुलफ़िक़ार अली ख़ाँ आये थे। आते ही कहने लगे: "देखिए मिर्ज़ा साहब, इस बार भी आप ने अपने मरने का सन् ग़लत ही निकाला।"

"भई, १२७७ हिजरी की बात ग़लत न थी।" मैं ने कहा था, "मगर मैं इस वबाए-आम में मरना नहीं चाहता। जब सैकड़ों-हज़ारों लोग हर रोज़ मर रहे हों उस वक़्त मरना मैं अपनी शान के ख़िलाफ़ समझता हूँ। हाँ ये फ़साद ख़त्म हो ले तो समझ लिया जायेगा।"

नवाब साहब सफ़ेद मलमल के कुर्ते और सफ़ेद बर के पाजामे पर छींट का फ़रग़ल पहने थे। उन्हें छींट का फ़रग़ल पहने देख कर बड़ी चोट लगी दिल पर। क्या ज़माना था इन का भी!

"भई, क्या उमदा छींट का फ़रग़ल आप ने पहना है नवाब साहब!" मैं ने अपने चेहरे पर बनावटी मुसकराहट लाते हुए कहा था।

"अच्छा है?" बेचारे नवाब साहब ने भोलेपन से पूछा था।

"ख़ूब है। मुझे इस की वज़ा बहुत ही भली मालूम होती है।" और मैं ने फ़रग़ल की तारीफ़ों के पुल बाँध दिये थे। और जब मैं ने फ़रग़ल की यही छींट अपने लिए मँगवाने को कहा तो वह कहने लगे:

"ये फ़रग़ल आज ही बन कर आया है और मैं ने इसी वक़्त पहना है।" और फिर बड़ी ही मुहब्बत भरे लहजे में बोले, "आप को इस क़दर पसन्द है तो यही हाज़िर है।"

मैं तो यही चाह रहा था। झट से उठता हूँ और खूँटी से अपना क़ीमती मालीदे का चुग़ा उतार कर नवाब साहब को पहना देता हूँ कि वह यहाँ से मकान तक पहन कर चले जायें। और उन का छींट का फ़रग़ल खूँटी पर टाँग देता हूँ। और बड़ी देर तक उसे देखता रहता हूँ। ■■
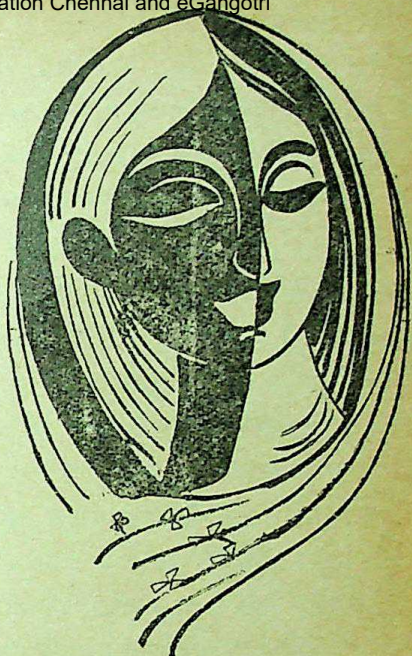
ज़नाना का यात्रा-विवरण

केशवचन्द्र वर्मा

घोर विरोध के बावजूद ठसमठस भरे हुए रेल के डिब्बे में घुस आये हुए व्यक्ति की अपनी अन्तःसंगति जिस तरह देखी जा सकती है।

और जिस तरह वही गाली खाया और डपटा हुआ व्यक्ति घुसते ही बैठे हुए लोगों के सुख-चैन का एकमात्र रक्षक बन जाता है।

भाषा की रेल में बाहरी शब्द इसी तरह भरपूर ठसमठस और रेलमपेल में अपनी जगह धीरे-धीरे बनाते हैं।

और फिर यही घुसपैठिये शब्द अपनी जवाँमर्दी से पूरे युग और उस की संस्कृति के रक्षक बन जाते हैं।

मेले में भीड़ हटाने का काम करने वाले नेता की तरह ये शब्द भीड़ में ही रहते हैं और मौक़ा हाथ लगते ही सिफ़ारिश करने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।

इस देश में तमाम रेलगाड़ियाँ सिर्फ़ चलती ही रहतीं यदि उन्हें रोकने के लिए

'स्टेशन' न होते और तमाम धर्मपत्नियाँ और 'बीवियाँ' इस जमाने में सिर धुनती होतीं यदि उन की हैसियत को ऊपर उठा कर पुन-र्मूल्यांकन कराने वाली 'वाइफ़' न होती। युगधर्म के पास 'चना और गरम' की तरह के लटके होते हैं। जायका बदलने के लिए उस का इस्तेमाल रसज्ञ करता है। बीबी और पत्नी में वह मज़ा नहीं है जो 'सह-धर्मिणी', 'सहनिवासिनी' और 'सहसेजिनी' में है। आधुनिकता कई तरह से औरत की तरफ़ टुकुर-टुकुर निहारती है लेकिन इन सब में अब भी लॉर्ड मेकाले की तरह 'वाइफ़' को ही बीच में बैठा हुआ पाती है।

बेचारी टुकुर-टुकुर—दृष्टि जानती है कि 'धर्मपत्नी' का पल्ला पकड़ कर इस ज़माने में चलना अब सम्भव नहीं रह गया है। जो 'धर्मपत्नी' है उस का काम यह कि वह अपने 'पति-परमेश्वर' के पीछे चुप-चाप चलती चली जाये। अक्सर घूँघट यह अवसर ही नहीं देता कि वह देख सके कि वह किस रास्ते पर किस के पीछे चल रही है। इस लिए इस का एक तर्कसंगत नतीजा यह निकलता था कि वह जिस किसी के पीछे चुपचाप चलती चली जाये वही अन्ततोगत्वा उस का 'पति-परमेश्वर' हो जाये। सिर्फ़ 'पति-परमेश्वर' के ही पास अक़्ल होती है। उसी अक़्ल से वह अपना काम भी चला लेती है। जहाँ दो तरह की अक़्ल नहीं होती, वहाँ अक़्ल लड़ाने की भी कोई झंझट नहीं होती। इसी लिए 'धर्म-पत्नी' घर को सुचारु रूप से चलाने की एक अच्छी मशीन मानी गयी। यही मशीन वक़्त पर इस बात का अनुभव कर सकती है कि एक मर्द के लिए क्या चीज शोभा की चीज़ है और उसे किस तरह करना चाहिए।

'धर्मपत्नी' से पूछा कि "फ़लाँ साहब (अर्थात् आप के पति) कहाँ गये हैं?" 'धर्मपत्नी' ने खिड़की का एक पल्ला आधा उठँगा कर जवाब दिया—"कोठे वालो के हियाँ गये हैं।" पूछा, "कब तक लौटेंगे?" कहा, "बारह बजे तक अइहें।" और खिड़की का पल्ला खटाक् के साथ बन्द हो गया। चूँ कि सभी जगह एक तत्त्व है, इस लिए कोई दिक़्क़त नहीं उठती। 'धर्मपत्नियों' की यह नस्ल अब धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है।

'धर्मपत्नी' के खिलाफ़ सब से पहिले विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया 'सहधर्मिणी' ने। 'सहधर्मिणी' चूँ कि आर्यसमाज से सीधे निकल कर आयी थी, इस लिए उस ने 'धर्म-पत्नीत्व' को नहीं माना। जिस दिन देवी जी ने अपने को 'सहधर्मिणी' माना, उसी दिन से वे अपने पति के 'कर' या 'मत कर' की ठेके-दार बन गयीं। उन का पति क्रमशः 'धर्म-पतित्व' की ओर खिसकने लगा और वे उस के रोजनामचे में सिर्फ़ सामूहिक हवन, विधवा विवाह, चर्खा-यज्ञ और कभी-कभी 'इन्क़िलाब जिन्दाबाद' के 'इंगेज़मेण्ट' ही दर्ज करवाने लगी। 'धर्मपति' महोदय को अपनी 'सह-धर्मिणी' की मनपसन्द-मुहर लगवा कर ही जिम्मेदार आदमी की हैसियत मिलती। 'सह-धर्मिणी' ने जोखम का दायरा बढ़ा दिया—जेल ही जाना हो तो 'पब्लिक-मीटिंग' से

जाओ, कोठे वाली के घर से नहीं।"

हमेशा अच्छे-अच्छे काम करते रहने से मर्द में एक तरह का पालतूपन जागने लगता है। 'सहधर्मिणी' के घेराव से ऊब कर ही 'धर्मपति' ने 'वाइफ़' को विलायत से बुला कर अपने घर में बिठा लिया होगा। 'वाइफ़' घर में आयी तो उस ने पूरे घर का कील-कांटा चाक-चौबन्द कर के पूरा नक़्शा ही बदल दिया। उस के अधिकार पुलिस-अफ़सरों की तरह विस्तृत थे। 'सहधर्मिणी' की तरह अपने पति की हरक़तों को पास करने और उन्हें मुहरबन्द करने का अधिकार तो वह रखती ही थी, उन्हें ज़माने की रफ़्तार से सही तरीक़े से जोड़ने की एक अतिरिक्त अक़्ल का भी दावा करती थी। इस लिए :

घर में बच्चे हों तो कब हों;
घर में पढ़ाई-लिखाई कैसी चले;
कैसे लोग आयें और कैसे लोग न आयें;
कैसे रिश्तेदार घर में पलें और कैसे न पलें;
किस काम में पैसा खर्च हो और किस काम में न हो;
किस की 'स्टेटस' या हैसियत से अपने को मिलाना है और किस की हैसियत से अपने को ज़रा ऊपर उठाना है—

इस सब की सारी ज़िम्मेदारी अपनी अतिरिक्त अक़्ल के बल पर 'वाइफ़' ने अपने सिर ओढ़ ली। पति के सारे पालतूपन पर एक तरह का प्रभामण्डल लग गया।

रामलीला की चौकियों पर बैठी हुई मूरतों को जिस तरह भीड़ के धक्कम-धुक्के न झेलते हुए भी अपनी असहाय स्थिति का एक बोध होता रहता है, वैसे ही 'वाइफ़' की सम्पूर्ण चौकस पुलिस-व्यवस्था से नितान्त पंखहीनता का अनुभव करते हुए मर्द ने कन्नी काटनी चाही और क्रमशः उस ने 'धर्मपत्नी-नुमा' चीज़ों की बेतरह तलाश शुरू कर दी। व्यक्ति की इसी अन्तर्मुखी आधुनिक तलाश में यही धर्मपत्नीनुमा चीज़ें—'सहचरी' 'सह-निवासिनी' और 'सहसेजिनी'—के रूप में प्रकट हुईं। ये धर्मपत्नी की तरह सुविधाजनक भी मानी गयीं और एक घर के प्रबन्धक के रूप में अत्यन्त कुशल और सफल। इन में इसी लिए जहाँ एक ओर 'धर्मपत्नी' के गुण थे वहाँ दूसरी ओर 'सहधर्मिणी' के गुण भी विद्यमान थे। नर जब इस स्थिति से पूर्ण सन्तुष्ट था, मादा 'सहनिवासिनी, अपने स्टेटस से पूरी तरह दुःखी बनी रही और बार-बार उस ने 'वाइफ़' पद पाने के लिए कई तरह के उपाय और प्रयत्न अपनाये।

अपने साथ रहने वाले व्यक्ति को अपने आदेशानुसार हँका सकने की क्षमता बराबर बनी रहे, यह बड़ी कठिन साधना की माँग करता है। हर औरत मौक़ा मिलते ही, दूसरी औरत को इसी कसौटी पर कसती है। 'सह-सेजिनी' की 'टाइमअप' की घण्टी कब बज जायेगी, यह बताना बहुत कठिन है। बराबर साथ-साथ चलती हुई 'सहसेजिनी' को भी लग सकता है कि वह सिर्फ़ बेवक़ूफ़ की तरह एक छाया के पीछे-पीछे भाग रही थी। इस तरह की स्थितियाँ, जो दूसरों के बारे में कहानियों में पढ़ कर बहुत रोचक लगती हैं—अपने लिए हमेशा सुरक्षा का एक कठघरा

बनवाने का षड्यन्त्र कराती रहती हैं। 'सह-निवासिनी' को अपने तई 'वाइफ़' की गद्दी ही चाहिए। इस के लिए मादा हर तरह के हथकण्डे अपनाती है—कभी पड़ोसियों की नुक़्ताचीनी का भय दिखा कर और कभी होने वाले बच्चे के भविष्य के नाम पर....।

वक़्त की सुविधा का ध्यान रखने वाली नर की अक़्ल भी 'धर्मपत्नी' से ले कर 'सह-सेजिनी' की लम्बी पाँति में से 'वाइफ़' को ही छान कर निकाल लाने को मजबूर हो गयी। आपसी रगड़घिस्स और बाज़ार में तमाम 'धर्मपत्नीनुमा माल' आ जाने के कारण वाइफ़ का भी पुराना चोखा बाज़ार-भाव गिर गया। उस का मालिकाना—दबंग रुख मुलायम पड़ गया। अब वह 'भारतीय पुडिंग' की तरह प्राप्य थी। उस की नोचा-घसीटी की इच्छा का क्रमशः लोप हो जाने से, भाग्य-वान नर-पुरुष को देखते-देखते वे सारे 'लाइ-सेन्स' फिर मिल गये जिन्हें वह आदिम काल से अपने लिए चाहता था। 'वाइफ़' उस के पालतूपन के साइन बोर्ड से ही अब सन्तुष्ट थी।

इसी लिए नर-पुरुष को अब यह छूट हो गयी कि वह अपने लड़के की शादी में कस कर दहेज वसूल करे और कहे कि ऐसा वह अपनी वाइफ़ की वजह से मजबूरन कर रहा है—या वाइफ़ के नाम पर समाजवादी चोला ओढ़ कर ज्योतिषी से अपना भविष्य निकल-वाता घूमे या बाहर मार्क्स और आयोनेस्को की क़सम खाये और घर में वाइफ़ के साथ सत्यनारायण की कथा की पंजीरी खाये। वाइफ़ की फ्रेण्ड से भी उसे वह सारे सम्बन्ध रखने पड़ते हैं जो उसे वाइफ़ रखने के लिए 'मजबूर' करती है।

घर-घर में इस तरह के 'लाइसेन्स-पर-मिट-राज' हो जाने से नर-पुरुष की हैसियत अब दूसरों की निगाहों में कभी गिरने नहीं पाती। जहाँ ज़रा सी झंझट आयी कि—'वाइफ़ को पसन्द नहीं'; 'वाइफ़ ने कहा है'; 'वाइफ़ नहीं खातीं'; 'वाइफ़ ने बुलाया है'; 'वाइफ़ को जाना है'; 'वाइफ़ का मूड नहीं था'—आदि अनेक पोज में 'वाइफ़' रक्षा के लिए खड़ी हो जाती है। इसी लिए कभी-कभी 'सुपति-नर' को आधा पल्ला खोल कर 'बेबी-सिटिंग' करते हुए कहना भी पड़ जाता है—'मिस्टर टण्डन के साथ गयी हैं। एकाध घण्टे में आ जायेंगी।'

और वे दोनों चाहे जितने घण्टे मिस्टर टण्डन या 'मिसेज़ टण्डन' के साथ बिताते रहें—घर में वाइफ़ का राज अकण्टक चलता रहता है। ▪▪

दो कविताएँ

सीतेश आलोक
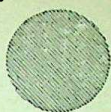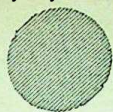
शून्य का मोल

बचपन में सीखा था
शून्य का
कुछ मूल्य नहीं होता है
केवल जब
यह किसी अंक के
दायें लग जाता है
तो उसे, दसगुना बनाता है

लेकिन अब.........
दायें क्या, बायें क्या,
आगे या पीछे क्या,
ऊपर और नीचे क्या—
जीवन के किसी अंक में
जहाँ शून्य आता है
स्थिति को कम से कम
सौ गुना बढ़ाता है

तुम भी

बहुत दिन सोचता रहा
विचारता रहा,
जतन भी कई किये—
कि एक अच्छी-सी, मजबूत-सी, लगाम बनाऊँ
और–उसे समय के गले में पहना कर
सामर्थ्य की चाबुक हवा में हिलाता
जिधर चाहूँ उधर निकल जाऊँ

अचानक, एक दिन पाया—
कि वह मेरी बनायी हुई लगाम
स्वयं मेरे मुँह में है, और
किसी अज्ञात दिशा में
ढेरों बोझ लादे कन्धों पर
सरपट दौड़ा जा रहा हूँ मैं

यह बोध होने पर
सर जो इधर-उधर घुमाया
तो यह पाया
कि समय के रथ में जुते
मेरे साथ, तुम भी हो....
तुम भी...
और तुम भी

नौकरी और नोबेल प्राइज़

नरेन्द्र कोहली

मेरी प्रेमिका ने कहा, "प्रियतम, यह भीड़-भड़क्के की दुनिया, प्रेम करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त स्थान है। यहाँ तो हमें देख कर लोग कनॉट प्लेस में भी जलते हैं, चाँदनी चौक में भी और सदर बाज़ार में भी। तुम कोई ऐसा स्थान खोजो, जहाँ मेरे और तुम्हारे अतिरिक्त और कोई न हो।"

उस की बात सुन कर मेरे मन में कई भावनाएँ जागीं। प्रेम ने मुझे भावुक बना दिया है। ग़ालिब को पता नहीं क्यों इश्क़ ने निकम्मा बना दिया था। वैसे शायद भावुक और निकम्मे में कोई अन्तर भी नहीं है।

कृष्ण इसी लिए यमुना-किनारे प्रेम करते थे जहाँ उन्हें देख कर कोई जला, उसे झोंक दिया यमुना में। जलना-वलना बन्द। पर कनॉट प्लेस में तो फ़व्वारा तक नहीं है। फिर किसी का जलना कैसे रोका जा सकता था।

फिर सहसा मुझे परिवार-नियोजन वालों की असफलता पर क्रोध आया था। क्या किया अब तक इन्होंने ? ये लोग अपने काम में तनिक भी सफल हुए होते तो प्रेमियों को देख कर जलने के लिए इतने लोग पैदा न हुए होते।

मैं एकान्त की तलाश में निकल पड़ा। इस सिलसिले में पहले मैं हातिमताई के पास गया कि वे मेरी कुछ सहायता करें, पर पता
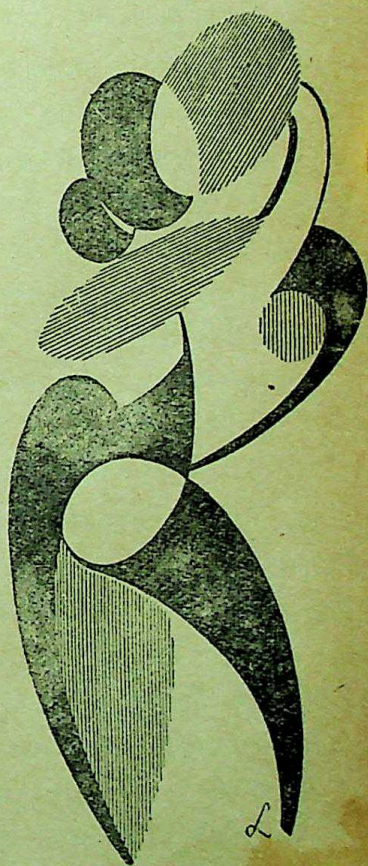
चला कि वे अब रिटायर हो चुके हैं। सोचा विदेशी सहायता नहीं तो क्या हुआ, अपने स्रोतों के आधार पर भी तो योजना बनायी जा सकती है। मैं अपने बल-बूते पर ही एकान्त खोजने चल पड़ा। बहुत ढूँढ़ा तो सोलन के पास कुमारहट्टी नाम के स्थान पर ठिठक गया। क्या देखता हूँ कि ऊँची पहाड़ियों और गहरे खड्डों के बीच में से रेल की, टी० बी० की मारी हुई, दुबली-सी लाइन जा रही है। वहाँ सड़क के पास रेल का गेट था और उस पर बोर्ड लगा था—"फाटक खोलने और बन्द करने के लिए एक आदमी की ज़रूरत है।"

मैं खुशी से उछल पड़ना चाहता था, पर खड्ड में गिर पड़ने के भय से उछला नहीं। मैं ने प्रार्थनापत्र दिया और गेट खोलने और बन्द करने की नौकरी मुझे मिल गयी। है न खुशी की बात। नौकरी मिल गयी, फ़ुल टाइम। इस देश में डॉ० खुराना को नौकरी नहीं मिली थी :

(गाइए—अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज
को मिलता एक सहारा।)

डॉ० खुराना को सहारा नहीं मिला था इस देश में, मुझे मिल गया। सहारा न मिलता तो शायद मैं भी वैज्ञानिक ही बनता। सहारा मिला तो अनजान क्षितिज या प्रेमी हो गया। मैं ने अपने आप को डॉ० खुराना से महान् माना और अपनी जन्मकुण्डली निकाल कर उस पर अपने हाथ से लिख दिया—"मुझे नोबेल प्राइज़ भी मिलेगा।" इस देश में नौकरी न पा सकने वाले को नोबेल प्राइज़ मिला तो मुझे, जिसे रेल का फाटक खोलने और बन्द करने की नौकरी मिल गयी थी, नोबेल प्राइज़ लेने से कौन माई का लाल रोक सकता था! तो नौकरी के साथ-साथ नोबेल प्राइज़ भी निश्चित हुआ।

नौकरी मिल गयी तो मैं अपनी प्रेमिका को भी उस एकान्त में ले आया। उस ने देखा—क्या एकान्त था। बस एकान्त ही एकान्त था। दूर-दूर तक या तो पहाड़ थे या फिर खड्ड थी। न आदमी था, न लाल तिकोन। पर मेरी प्रेमिका घण्टा भर ही प्रसन्न रही और फिर नाराज़ हो कर बोली, "यहाँ तो कोई भी नहीं है। हमारी रोटी क्या तुम्हारी माँ पकायेगी?"

मैं बोला, "मेरी जान! या तो एकान्त में प्रेम कर लो, या फिर बरतन साफ़ करने के लिए, घर में झाड़ू-पोचा लगाने के लिए, खाना पकाने के लिए नौकर और माइयाँ ढूँढ़ लो।"

उस की समझ में मेरी बात आ गयी। उस ने प्यार करने की ठानी। आस-पास जलने वाला कोई था नहीं। वैसे भी पहाड़ों में बारिश इतनी होती है कि जलने वाला बुझ जाता है। (इसी लिए तो सारी फ़िल्मों में प्रेमी लोग पहाड़ों पर जा कर ही प्रेम करते हैं।) बारिश न भी होती, तो भी जलने वाला हमें बुरा न लगता। इतनी ठण्ड में आग तापने के काम आता साला। पर जलने वाला वहाँ कोई था नहीं इस लिए हम ने प्रेम खाया-चबाया, ओढ़ा-बिछाया और फिर

प्रेम की चादर तान कर सो गये। पर जलने वालों के अभाव में मेरी प्रेमिका अपने प्रेम से बहुत जल्दी बोर हो गयी। बोली, "कैसी वाहियात जगह है! यहाँ कोई कम्पनी ही नहीं है। मैं अकेली कैसे जियूँगी?"

मैं बोला, "प्राणप्रिये! तुम अकेली कहाँ हो? मैं जो तुम्हारे साथ हूँ।"

वह बोली, "पर कोई और भी तो होना चाहिये, हमारे अतिरिक्त भी। मैं और तुम तो दोनों एक ही हैं।"

मैं ने सोचा, बात तो सही है। यही तो ऊँचे स्तर का प्रेम है। हम दोनों तो एक ही हैं। बड़ी विकट समस्या थी।

पर तभी माचिस की डिबिया की सी बोगियां लिये हुए छुक-छुक करती गाड़ी आ गयी। मैं खुशी से उछल पड़ा और चीख कर अपनी प्रेमिका से बोला, "लो आ गयी कम्पनी!"

वह मुझ से सट कर खड़ी हो गयी और गांव के बच्चों के समान मुँह फाड़ कर रेलगाड़ी देखने लगी। जब गाड़ी गुज़र गयी तो बोली, "गाड़ी तो रुकी ही नहीं। उस में से कोई उतरा भी नहीं और तुम कह रहे थे कि कम्पनी आ गयी।

वह बड़ी निराश लग रही थी।

मैं बोला, "ओ भलीमानस! बाढ़-पीड़ित क्षेत्र के ऊपर जब मन्त्री लोग हवाई जहाज़ में उड़ानें भरते हैं तो बाढ़ के पानी में घिरे, तबाह और बरबाद लोगों के हवाई जहाज़ की आवाज़ से पेट भर जाते हैं और तुम ने पाँच बोगियों की पच्चीस खिड़कियों में पचासों चेहरे देखे और तुम्हें कम्पनी तक नहीं मिली!"

वह चुप हो गयी। मेरी बात का क्या उत्तर था उस के पास। मैं ने सरकारी बात कह दी थी, जो झूठ नहीं हो सकती थी, जैसे सरकारी सनद-प्राप्त लाटरियाँ झूठी नहीं होतीं। यदि बाढ़-ग्रस्त क्षेत्र पर उड़ान भरने मात्र से वहाँ के लोगों का पेट न भरता तो उन उड़ानों पर खर्च किये गये हज़ारों रुपये उन लोगों को वैसे ही न दे दिये गये होते?

वह मेरी बात मान गयी और चुप हो गयी। पर बोलने की आदत है उस की। ज्यादा चुप रहने से हमारे नेताओं के समान उस का हाज़मा खराब हो जाता है। इस लिए थोड़ी ही देर में बोली, "उस गाड़ी में कितने लोग रहे होंगे?"

"दो सौ लोग तो होंगे ही।" मैं बोला।

"और उन सब लोगों की कम्पनी हम को मिली?" उस ने खुशी-खुशी पूछा।

"हाँ।" मैं ने भी खुशी-खुशी उत्तर दिया।

"फिर तो यहाँ भी भीड़ हो गयी।" वह नाराज़ हो गयी, "चलो यहाँ से। इस से तो दिल्ली ही अच्छी। इतनी भीड़ में हम प्रेम कैसे करेंगे?"

मुझे उस की बात माननी पड़ी, क्योंकि प्रेम काम से बड़ी चीज़ है। यह बात हम ने राष्ट्रीय धरातल पर मान ली है। हमारे देश में जब भयंकर बाढ़ आती है, भूकम्प आते हैं, अकाल पड़ते हैं, तब सभी बड़े-बड़े नेता

[शेष पृष्ठ ११६ पर]
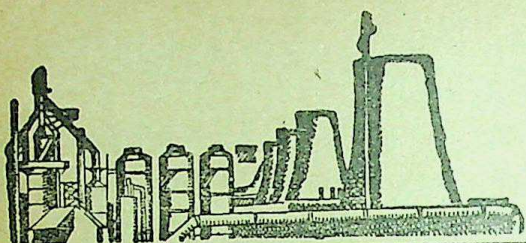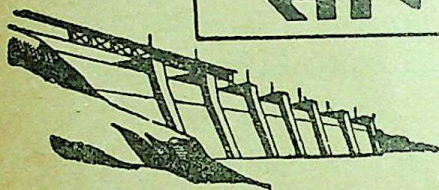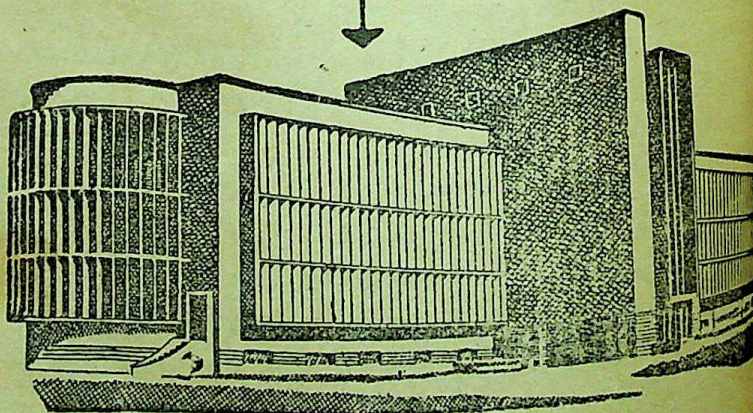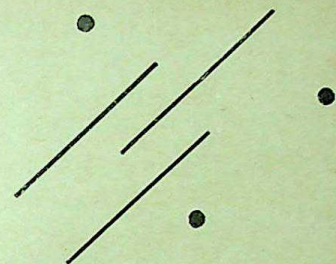
अन्तरिक्ष का कवि

हेरी मार्टिनसन और अनियारा

महेन्द्र राजा जैन

१९६९ के नोबेल साहित्य पुरस्कार की चर्चा आरम्भ हो चुकी है। सर्वाधिक चर्चित हैं — स्वीडिश कवि हेरी मार्टिनसन। लोग लगभग निश्चित रूप से आश्वस्त होते जा रहे हैं कि इस वर्ष का पुरस्कार हेरी मार्टिनसन को ही मिलेगा।

साधारणतः भारत में जिस तरह कवि-सम्मेलनों का रिवाज़ है वैसा यूरॅप में नहीं। कविता के प्रति वैसे भी वहाँ इतनी अधिक रुचि नहीं है जितनी भारत में। पर कुछ देशों में अभी भी कवियों के प्रति आदर है और लोग कविता पढ़ते हैं। स्वीडन भी एक ऐसा ही देश है। इसी लिए जब वहाँ अन्य साहित्यिक विधाओं की चर्चा होती है तो कविता का ज़िक्र भी नहीं छूटने पाता। यही कारण है कि पिछले कुछ वर्षों से वहाँ हेरी मार्टिनसन की एक लम्बी काव्यकृति 'अनियारा' बहुचर्चित रही है।

'अनियारा' को समकालीन साहित्य में एक उच्चकोटि की अतिश्रेष्ठ कृति माना जा रहा है। इस का प्रकाशन सर्वप्रथम १९५६ में हुआ था। तब से अब तक उस का कई बार मुद्रण हो चुका है और केवल स्वीडन में ही उस की पचास हज़ार से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं। स्वीडन में इस काव्यकृति की इतनी अधिक ख्याति है कि वह सभी वर्गों के बीच चर्चित होती रहती है। और तो और, वहाँ की राजधानी स्टाकहोम के एक प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र में तो 'अनियारा' नामक एक आधुनिक रेस्तोराँ भी खुल गया है।

एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृति के रूप में अनियारा की सफलता का अनुमान केवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस के कथानक का आपेरा (संगीत-नाटच) में

रूपान्तर हो चुका है तथा उसे स्टाकहोम, लन्दन, एडिनबरा, आदि प्रसिद्ध नाटच-केन्द्रों में अभिनीत भी किया जा चुका है। इतना ही नहीं, 'यूरोविजन' (यूरोपीय टेलीविजन) पर भी उसे प्रसारित किया जा चुका है और डेनिश, जर्मन, फ्रेंच, नार्वेजियन, डच और अँगरेज़ी भाषाओं में उस का अनुवाद हो चुका है।

अपनी इस काव्यकृति में मार्टिनसन ने एक काल्पनिक वैज्ञानिक कथा को आधार बना कर यह बतलाने की चेष्टा की है कि आधुनिक युग की प्राविधिक एवं वैज्ञानिक प्रगति ने मानवता को बहुत पीछे छोड़ दिया है और जनसाधारण उस से इतना अधिक आतंकित हो गया है कि भय के मारे अनजाने में ही उसे लकवा मार गया है। स्केण्डिनेवियन देशों के समीक्षकों का मत है कि मार्टिनसन की यह कृति यदि मूलतः अँगरेज़ी में लिखी गयी होती तो इस का विश्व-साहित्य पर वही प्रभाव पड़ता जो आज से एक पीढ़ी पहले इलियट के 'वेस्ट लैण्ड' का पड़ा था।

'अनियारा' एक पद्य कथा है जिस में बीच-बीच में गीत भी रहने से कथा के प्रवाह को गति मिलती है। वैसे तो शीत युद्ध के प्रति जुगुप्सा के कारण ही मार्टिनसन ने इस का कथानक चुना, पर यह भी कहा जाता है कि वे एक वैज्ञानिक कथानक को काव्य रूप में प्रस्तुत कर यह देखना चाहते थे कि ऐसा करने में उन्हें कहाँ तक सफलता मिलती है। 'अनियारा' इस दृष्टि से अपने ढंग की पहली काव्यकृति है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि अपने इस प्रयास में पूर्णतः सफल हुआ है।

यह महाकाव्य कथानक की दृष्टि से बहुत गम्भीर होने के बावजूद इतने सहज ढंग से और इतनी सरल भाषा में लिखा गया है कि पाठकों को कथानक एवं कवि की बात समझने में कठिनाई नहीं होती। स्वीडन में एक प्रथा है कि कोई नया मकान बनने पर उस के अन्दर मकान निर्माण होने से पूर्व के कुछ चित्र आदि भी रखे जाते हैं जिस से लोगों को पता चले कि पहले उस स्थान पर क्या-कैसा था। उसी प्रकार 'अनियारा' में कुछ ऐसी बातों का भी उल्लेख है जिन से पता चलता है कि पृथ्वी से अनियारा का प्रस्थान शीत युद्ध काल में हुआ होगा।

पारमाणविक शस्त्रास्त्रों के परिणाम-स्वरूप किस प्रकार का विध्वंस होगा, उस की भी कवि ने काव्य रूप में बड़ी स्वाभाविक एवं दुःखान्त कल्पना की है। पुस्तक का आरम्भ उस समय होता है जब पृथ्वी पर पारमाणविक शस्त्रास्त्र (बम) गिराये जाते हैं और वहाँ (पृथ्वी पर) रहने वाले लोगों को सुरक्षा की दृष्टि से पृथ्वी से हटा कर शु और मंगल ग्रहों में ले जाया जाता है। इस कार्य के लिए 'अनियारा' नामक एक अन्त-रिक्ष यान का उपयोग किया जाता है। पर अनियारा के यात्रियों की मृत्यु अन्तरिक्ष में ही होना है। इस से वे किसी भी प्रकार ब नहीं सकते।

'अनियारा' के माध्यम से कवि का मुख्य प्रयोजन यह बतलाना है कि मनुष्य पृथ्वी क

तथाकथित 'शून्यता' से ऊब कर अन्य ग्रहों में जाना चाहता है पर वहाँ पहुँच कर भी उसे शान्ति नहीं मिलती।

'अनियारा' वस्तुतः मानव के लिए एक परिबोधन है। क्या मनुष्य पृथ्वी पर बनाये हुए इस सुन्दर स्वर्ग से स्वयं निकल जाना चाहेगा? पृथ्वी को त्याग कर क्या वह 'अस्थि-अवशेषों का शासक' बनना चाहेगा? क्या वह कभी अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रख सकेगा? इन सब प्रश्नों का उत्तर कवि ने निराशा में ही दिया है। उस ने मानव के पृथ्वी पर रहने की आशा छोड़ दी है। उस का कहना है कि पृथ्वी उतनी बुरी नहीं है जितनी वह सोचता है। यदि मानव कुछ सन्तोषी बन जाये तो वह इन कुछ बुरी बातों को भी अच्छाइयों में बदल सकता है। 'अनियारा' का यही सन्देश है। पर कवि ने साथ-ही-साथ यह भी बतलाने का प्रयत्न किया है कि पृथ्वी और मानवता अन्त में—ऐसा होने में चाहे जितना समय लग जाये—सृष्टि में पूर्णतः विलीन हो जायेगी और उस का कहीं कोई निशान नहीं बचेगा।

'अनियारा' के कवि मार्टिनसन का जन्म १९०४ में दक्षिण स्वीडन के एक छोटे-से गाँव में हुआ था। जब वे छह वर्ष के थे तभी उन के पिता का देहान्त हो गया और उस के बाद उन की माँ भी उन्हें छोड़ कर अमेरिका चली गयी। बाद के दस वर्ष उन्होंने गाँव के ही एक फ़ार्म पर छोटे-मोटे काम करके बिताये। इस अवधि में उन का मन बराबर दूर-दूर देशों की यात्रा करने और माँ को ढूँढ़ निकालने की योजना बनाता रहा।

१६ वर्ष की उम्र में वे अपना गाँव छोड़-कर स्टाकहोम आ गये जहाँ उन की इच्छा किसी जहाज़ी कम्पनी में काम करते हुए देश-विदेश घूमने की थी। पर उस समय वहाँ बेकारी का समय था अतः वे नार्वे और स्वीडन से आगे नहीं जा सके। बड़े-बड़े शहरों में घूमते रहने के कारण यद्यपि उन के मन पर विज्ञान एवं मशीनों का बहुत प्रभाव पड़ा, पर उन के मन में अन्दर-ही-अन्दर वैज्ञानिक प्रगति के प्रति अरुचि भी हो गयी। क्योंकि वे यह अनुभव कर चुके थे कि मशीनी प्रगति ने मानव की स्वतन्त्रता सीमित कर के बेरोज़-गारी को बढ़ाने में सहायता की है।

बाल्यकाल में मार्टिनसन की शिक्षा गाँव के ही स्कूल में हुई थी। गाँव से निकलने के बाद उन्होंने स्वयं ही विद्याध्ययन आरम्भ किया और जब कभी ज्ञानलाभ का कोई अवसर मिला, उस का उन्होंने पूरा-पूरा उपयोग किया। अपने इस स्वयं अर्जित ज्ञान के कारण ही १९४९ में वे स्वीडिश अकादमी के सदस्य चुने गये। वे इस अकादमी के पहले ऐसे सदस्य थे जो अपने पैरों पर खड़ा हो कर बिना किसी की सहायता के आगे बढ़ा हो। ज्ञातव्य है कि यही अकादमी नोबेल पुरस्कार विजेताओं का चुनाव करती है। स्वीडिश अकादमी के सदस्य के रूप में मार्टि-नसन के चुनाव का मुख्य आधार अकादमी की यह मान्यता थी कि अन्य किसी जीवित साहित्यकार की अपेक्षा उन्होंने स्वीडिश भाषा और साहित्य की वृद्धि करने में अभूत-

पूर्व योगदान दिया था।

मार्टिनसन का कहना है कि 'अनियारा' की पृष्ठभूमि उन के मन में उन के बचपन के अनुभवों ने ही बना दी थी। वे बचपन में प्रतिदिन पोस्टऑफिस से अखबार लाया करते थे। पोस्ट ऑफ़िस से घर जाते समय वे रास्ते में पड़ने वाले जंगल में एक वृक्ष के नीचे कुछ देर विश्राम करते थे और इसी समय अखबार में छपी हुई खबरें भी पढ़ लिया करते थे। एक दिन जब वे सात वर्ष के थे, उन्हों ने पढ़ा कि 'टीटानिक' नामक जहाज़ समुद्र में डूब गया। यह खबर पढ़ कर वे उन्मत्त से हो गये और रोते हुए दौड़ कर घर आये। घर आ कर वे ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे। "दुनिया का सबसे बड़ा जहाज़ दुनिया के सभी आदमियों के साथ डूब गया।" इसी घटना की छाप 'अनियारा' में है। अन्तरिक्ष यान 'अनियारा' का अज्ञात सौर मण्डल की ओर प्रस्थान इसी लिए बतलाया गया है कि हमने ईश्वर पर से विश्वास खो दिया है और नित्यता हमारे लिए शून्यता का पर्याय बन गयी है। ज़िन्दगी हमारे लिए एक ऐसी यात्रा बन गयी है जो बस समाप्त हो जाती है।

एक वैज्ञानिक कथा को आधार बना कर 'अनियारा' की रचना मार्टिनसन शायद इसी लिए कर सके कि अन्य समकालीन कवियों के विपरीत उन की रुचि प्राकृतिक विज्ञान में भी है। वैज्ञानिक साहित्य के निरन्तर अध्ययन एवं प्रसिद्ध स्वीडिश वैज्ञानिकों से व्यक्तिगत परिचय होने के कारण उन्हें भौतिक विज्ञान का अच्छा ज्ञान है। 'अनियारा' में जिस विश्व की कल्पना की गयी है, उस की प्रेरणा उन्हें लगभग ३० वर्ष पूर्व एडिंगटन की प्रसिद्ध कृति 'नेचर ऑफ दी फिजिकल वर्ल्ड' से मिली थी। मार्टिनसन का कहना है कि किसी भी लेखक को विज्ञान का कम से कम इतना ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि वह वैज्ञानिक विचार-विमर्श में भाग ले सके। अन्यथा जब उसे अपनी बात कहने का अवसर मिलेगा, तब कोई भी उस पर ध्यान नहीं देगा। ▪▪

[नौकरी और नोबेल प्राइज : पृष्ठ १११ का शेषांश]

विदेशों में वहाँ के लोगों से प्रेम करने चले जाते हैं। नेहरूजी ने हमें नारा दिया था, 'आराम हराम है' उस का मतलब यही था कि काम हराम है। क्यों कि काम के बाद आदमी आराम चाहता है। काम करेगा तो आराम भी चाहेगा। पर प्रेम में आराम आवश्यक नहीं होता। आदमी शताब्दियों तक बिना थके प्रेम करता जा सकता है।

तो प्रेम करने के लिए, अपनी प्रेमिका की बात मान कर दिल्ली लौटना पड़ा। नौकरी तो छूट गयी पर नोबेल प्राइज़ की आशा अभी तक नहीं छूटी। देखें, कब तक मिलता है! ▪▪

कुछ महिलाएँ वस्तुत: सौभाग्यशालिनी होती हैं, और अपनी जन्मकुण्डली में कुछ ऐसे ग्रहों के संयोग लिये हुए होती हैं कि वे स्वयं तो उच्चतम पद, धन और ऐश्वर्य प्राप्त करती ही हैं, साथ ही उन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति भी उच्चतम पद प्राप्त कर लेते हैं। जैक्लिन कैनेडी (अब जैक्लिन ओनासिस) ऐसी ही सौभाग्यशालिनी स्त्रियों में से एक है। ३९ वर्ष की जैकी ने जब ६२ वर्षीय विश्व के अन्यतम धनी ओनासिस से विवाह किया, तो यह प्रणय विश्व-भर में चर्चा का विषय हो गया। भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति कैनेडी की पत्नी, और विश्व की प्रथम पाँच सुन्दरतम स्त्रियों में से एक—जैकी ने जब विश्व की प्रत्येक वस्तु को खरीदने का सामर्थ्य रखने वाले धनी ओनासिस से चर्च में विवाह करने के उपरान्त कहा कि "ये क्षण मेरे जीवन के अत्यन्त सुखी क्षणों में से हैं" तो इंग्लैण्ड और अमेरिका-वासियों ने सिर धुन लिया और कहा—"जैकी ! यह तुम ने क्या कर डाला ?" इन कुछ शब्दों से ही अमेरिका-वासियों की भावनाओं का पता चल जाता है।

जैकी की जन्मकुण्डली अद्भुत है, और उस का सप्तम-नवम भवन तो अत्यन्त बलवान् है। जैकी ने कभी किसी राष्ट्रपति से विवाह नहीं किया, अपितु विवाहोपरान्त वह व्यक्ति राष्ट्रपति बन गया। कैनेडी-जैकी के विवाह के समय जैकी एक साधारण फोटोग्राफ़र थी और कैनेडी अमेरिका का मात्र एक नागरिक, परन्तु विवाह के बाद ही कैनेडी का भाग्य
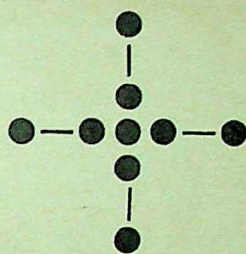
ज्योतिष की आँखों जैक्लिन-ओनासिस के आगामी पाँच प्रणय-वर्ष

नारायणदत्त श्रीमाली

चमका, और वह अमेरिका का सर्वोच्च व्यक्ति बन गया, साथ ही बन गयी जैकी भी अमेरिका की प्रथम सम्माननीय महिला। ओनासिस से जैकी का यह दूसरा विवाह है। स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि क्या जैकी की जन्मकुण्डली के ग्रह, ओनासिस को भी ग्रीस का राष्ट्रपति बना सकते हैं। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पत्र 'टाइम' की ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं :— If Aristotle Onassis becomes president of Greece, as many observers expect, his Jacqueline, will not be the first in history to become first lady of two nations. Away back in the 12th century, Eleanor of Aquitain has been queen of France and later queen of England (Time—November 22, 1968).

एक प्रश्न सहज ही मन में उठता है कि ३९ वर्षीय तरुण युवती जैकी ने अपने से बूढ़े और २३ वर्ष बड़े ओनासिस से ही क्यों विवाह किया? यदि व्यक्तित्व की दृष्टि से भी देखें, तो ओनासिस जैकी से एक इंच छोटा और साधारण व्यक्तित्व को लिये हुए हैं, इस प्रकार व्यक्तित्व के क्षेत्र में यह ओनासिस, जैकी से उन्नीस ही पड़ता है, इक्कीस नहीं।

क्या दोनों प्रेम के क्षेत्र में इतने अधिक आगे बढ़ गये थे कि दोनों का एक हो जाना अनिवार्य हो गया था? विचार पूर्वक देखें तो यह भी संगत प्रतीत नहीं होता। कैनेडी की मृत्यु के बाद जैकी कुछ अकेलापन-सा महसूस करने लग गयी थी, और वह चारों तरफ दृष्टि डालने लग गयी थी, कि उसे अकेलेपन का कोई साथी मिल जाये, जो उस के जीवन की रिक्तता भर सके, और उस की दृष्टि ओनासिस पर ठहर गयी। पर प्रश्न उठता है, ओनासिस ही क्यों? और मेरा उत्तर है, यह प्रकृति का सुनियोजित कार्य है, ओनासिस के भाग्योत्थान का सहज हेतु है और यह बहुत अधिक सम्भव है कि ग्रीस का भावी राष्ट्रपति ओनासिस हो, और जैकी के बलवान् ग्रह उस के भाग्य-निर्माण में सहायक हों, अस्तु।

अब हम पुनः ओनासिस पर आते हैं, क्या ओनासिस ग्रीस का भावी राष्ट्रपति बन सकता है? ज्योतिष एवं फलित उत्तर देते हैं "हाँ सम्भव है।" ओनासिस की कुण्डली में शनि की स्थिति अन्यतम है, वह भाग्येश है, तो राज्येश भी है। और भाग्येश राज्येश हो कर मूल त्रिकोणस्थ राशि का स्वामी होता हुआ केन्द्र में स्थित होने से 'शश' योग का निर्माण करता है। प्रसिद्ध ज्योतिषी बी० वी० रमन के अनुसार, "One born in this (sasa) yoga will command good servants. His character will be questionable. He will be head of a village or a town or even a king, will covet other's riches and will be wicked in disposition."—(Three Hundred Important Combinations, page 57)

मेरे अनुभव के अनुसार भी शश योग

सम्पन्न अथवा शनि की उत्तम स्थिति रखने वाला व्यक्ति शनि की दशा में सर्वोत्तम पद प्राप्त करता ही है। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के नेता श्री अन्नादुराई के दशम स्थान में शनि था और शनि ने अपनी दशा में उन्हें तमिलनाडु का मुख्य मन्त्री बना दिया, रिचार्ड निक्सन के दशमस्थ शनि ने अपनी दशा में उन्हें अमेरिका का राष्ट्रपति-पद दिला दिया, तो ओनासिस (जिसकी कि जन्मकुण्डली में दशमस्थ शनि प्रबल हो कर पड़ा है) को भी यदि शनि, अपनी दशा में ग्रीस का सर्वोच्च पद दे दे तो इस में आश्चर्य नहीं।

अब हम पुनः जैकी की कुण्डली पर आते हैं—क्या जैक्लिन के ग्रह इस प्रकार के हैं कि वे ओनासिस को इस पद पर पहुँचाने में सहायक हो सकें।

शनि ९
केतु ७
१०
८
६
११
मंगल ५
१२
गुरु २ शुक्र
सूर्य ४ बुध
१
चंद्र राहु
३
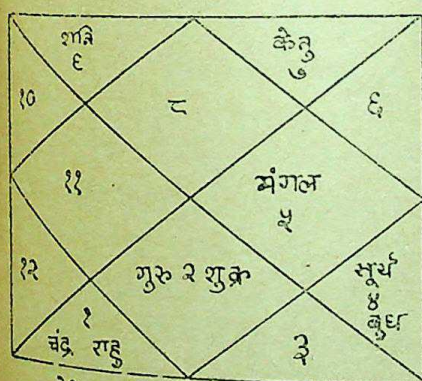
जैक्लिन ओनासिस की जन्म कुण्डली

श्रीमती जैक्लिन ओनासिस का जन्म २८ जुलाई, १९२९ को दोपहर के दो बज कर १७ मिनिट पर हुआ था, उस समय वृश्चिक लग्न चल रहा था। वृश्चिक लग्न वाले व्यक्ति सुन्दर एवं भव्य व्यक्तित्व-सम्पन्न होते ही हैं, परन्तु जैक्लिन की कुण्डली में तो लग्नेश केन्द्र में बैठ कर लग्न को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है।

अतः लग्नेश मंगल ने जैकी को विश्व की श्रेष्ठ सुन्दरी बनाने में योग दिया, तो आश्चर्य की बात नहीं। लग्न से सप्तम स्थान पति का होता है, यह स्थान जैक्लिन की कुण्डली में श्रेष्ठतम स्थान बन गया है। इस स्थान में देव-गुरु बृहस्पति और दैत्याचार्य शुक्र का अन्यतम संयोग बना है, साथ ही धनेश सप्तमेश का पूर्ण सम्बन्ध बना है, अतः जैकी को धनवान् पति ही मिलेंगे, और ऐसे धनवान् जो विश्व में अपना स्थान रखते हों, यह तो कुण्डली से ही स्पष्ट है। सप्तम स्थान में शुक्र स्वगृही हो कर बलवान् है, इस शुक्र ने जहाँ जैकी को रूप दिया, वहाँ पति का पूर्ण दुलार भी, और गुरु ने उसे अतुल धन सम्पदा दी, वहाँ मान और ख्याति भी। पर चूँकि गुरु शुक्र-क्षेत्री है और शुक्र पति का कारक है, अतः जैकी को जो भी धन-दौलत, मान-ख्याति मिली है, वह पति के द्वारा ही मिली है और मिलेगी।

भाग्य-स्थान अपनी अलग विशेषता लिये हुए है। भाग्य-स्थान में राज्येश-आयेश का सम्बन्ध स्थापित हुआ है और वह पूर्णावस्था में बना है अतः भाग्येश सूर्य राहु, मंगल और शुक्र का बल ले कर बैठा है। यह सूर्य शुक्र की पृष्ठभूमि में सहायक रहता आया है और शुक्र चूँकि पति-कारक है, अतः दूसरे शब्दों में, जैक्लिन का अतुलनीय बल-प्राप्त भाग्यस्थ सूर्य पति के भाग्य और इज्ज़त को बढ़ाने में सहायक रहा है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि जैक्लिन जिस से भी शादी करेगी, वह देश

का सर्वोच्च व्यक्ति बनने के साथ-साथ अतुल सम्पदा और ख्याति का स्वामी भी होगा।

जैक्लिन की कुण्डली के साथ-साथ ओनासिस की कुण्डली पर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

नेप० गुरु ३
१
राहु ४
चंद्र २
१२
बुध सूर्य ५ मंगल
११ शनि
६
८
केतु १०
शुक्र ७
९ हर्शल

ओनासिस की जन्म कुण्डली

ग्रीस के विश्व-विख्यात धनी एरिस्टोटल ओनासिस का जन्म ९ सितम्बर, १९०६ को रात्रि के १० बज कर २३ मिनिट पर ३८-२५ उत्तर और २७-१० पूर्व में हुआ, उस समय वृष लग्न चल रहा था।

यदि हम ओनासिस की जन्मकुण्डली पर विचार करें, तो प्रतीत होगा कि यह व्यक्ति बचपन में अत्यन्त दुःखी और दरिद्र जीवन बिताने वाला रहा होगा, क्यों कि लग्नेश शुक्र ने छठे स्थान पर पड़ कर ओनासिस को कष्टपूर्ण जीवन बिताने के लिए ही बाध्य किया होगा, परन्तु साथ ही कुण्डली में गुरु, शनि की स्थिति तो अन्यतम बन गयी है। गुरु, शनि की स्थिति देख कर यह सहज ही कहा जा सकता था कि यह व्यक्ति गुरु-दशा में विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनी और शनि की दशा में विश्व का श्रेष्ठतम व्यक्ति बन सकेगा।

ओनासिस की कुण्डली के सप्तम भाव—स्त्री-पक्ष—पर विचार करें, तो प्रतीत होगा कि सप्तम भाव पर दो प्रबल ग्रहों—मंगल और शनि—की पूर्ण दृष्टि पड़ रही है। शनि विच्छेदात्मक ग्रह है जिस ने पुनर्विवाह के लिए मार्ग प्रशस्त किया, वहाँ मंगल ने सप्तमेश होने के कारण पत्नी का अभाव भी नहीं रहने दिया। जैक्लिन का आत्मकारक और देहेश ग्रह मंगल है तो ओनासिस का पत्नी प्रधान ग्रह मंगल, इसी प्रकार ओनासिस का आत्मकारक और देहेश ग्रह शुक्र है, तो जैक्लिन का पति-प्रधान ग्रह शुक्र, अतः जैक्लिन और ओनासिस का प्रणय-सम्बन्ध स्थापित हुआ तो इस में आश्चर्य की भला क्या बात है ?

ओनासिस की कुण्डली में शनि, सूर्य और शुक्र तीन ग्रह स्वक्षेत्री हैं, और चन्द्रमा उच्चराशिस्थ है, साथ ही गुरु दूसरे भाव में बैठ कर प्रबल धन-प्रदाता ग्रह बन गया है। जन्मकुण्डली में द्वितीयस्थ गुरु अपनी महादशा में व्यक्ति को अतुल धनाधीश बना देता है। ओनासिस की जन्मकुण्डली में भी द्वितीय भाव में गुरु पड़ा है, और इस गुरु ने ही अपनी दशा में साधन-सम्पत्ति हीन ओनासिस को विश्व का धन-कुबेर बना दिया।

बृहस्पति के पश्चात् ८ अगस्त १९५५ को शनि की १९ वर्ष की महादशा प्रारम्भ हुई। शनि स्वयं ओनासिस की जन्मकुण्डली में बलशाली है, वह स्वयं ही भाग्येश और राज्येश है, शनि की महादशा ओनासिस

के जीवन में ८ अगस्त १९७४ तक रहेगा।

मैं ऊपर ही बता चुका हूँ कि ओनासिस की कुण्डली में मंगल स्त्री-पक्ष का स्वामी है, अतः शनि महादशा में मंगल की अन्तर्दशा में ही विवाह-योग बना। मंगल की अन्तर्दशा ११-२-१९६८ से प्रारम्भ हुई, जो कि १ वर्ष १ मास और ९ दिन की है तथा २० मार्च १९६९ तक चलेगी। स्पष्टतः ओनासिस का जैक्लिन से विवाह इसी मंगल की अन्तर्दशा में २० अक्टूबर १९६८ को ४ बज कर ३० मिनिट पर सम्पन्न हुआ।

१ — ११ — शनि राहु १२ — १० — २ — ३ — ९ — चंद्र गुरु ६ केतु बुध — ८ शुक्र — ४ — ५ मंगल — ७ सूर्य

जैक्लिन-ओनासिस के विवाह की कुण्डली

परन्तु विवाह के समय की जन्मकुण्डली या जैक्लिन-ओनासिस की विवाह-लग्नकुण्डली पर दृष्टि डालें तो कुछ चौंकाने वाले तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं। सप्तम भाव में गुरु और केतु का संयोग सुखदायक दृष्टिगोचर नहीं होता। इस के साथ ही इन पर शनि और राहु जैसे दो विच्छेदात्मक ग्रहों की भी पूर्ण दृष्टि है। यही नहीं अपितु विवाह-हेतु ग्रह शुक्र पर अग्नि-तत्त्वप्रधान मंगल की दृष्टि इस बात को सिद्ध कर रही है कि इस विवाह को शीघ्र ही विच्छेद हो जायेगा, काफ़ी समय तक यह विवाह-सम्बन्ध बना नहीं रह सकता।

जैक्लिन-ओनासिस का विवाह शनि की दशा में हुआ है, यह विवाह सम्बन्ध शनि की महादशा तक तो चलता रहेगा, परन्तु बुध की महादशा प्रारम्भ होते ही इस विवाह में विच्छेद स्पष्ट दिखाई दे रहा है, क्यों कि बुध ओनासिस की कुण्डली में मारकेश है, साथ ही लग्नकुण्डली में सप्तमेश भी, अतः इस विवाह-विच्छेद का सूत्रपात शनि के मिथुन राशि (ओनासिस की कुण्डली में मारकेश राशि) पर जाते ही हो जायेगा। गोचर-प्रणाली से शनि १० जून १९७३ को मिथुन राशि में प्रवेश करेगा, साथ ही ८ अगस्त १९७४ को बुध की महादशा प्रारम्भ हो जायेगी, अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि जैक्लिन-ओनासिस के विवाह-विच्छेद का सूत्रपात १० जून १९७३ से ही हो जायेगा, यह स्पष्ट है।

परन्तु इस बीच जैक्लिन दो सुन्दर कन्याओं को जन्म दे चुकेगी। पहली कन्या (जैक्लिन-ओनासिस से) ११ नवम्बर १९६९ तक तथा दूसरी ११ दिसम्बर ७० से ५ जनवरी १९७२ के बीच में होगी, जब बृहस्पति क्रमशः कन्या और वृश्चिक राशि पर होंगे।

इस बीच ओनासिस अपने भाग्य के चरमोत्कर्ष पर होगा, यह समय शनि की महादशा में गुरु की अन्तर्दशा का होगा। गुरु की अन्तर्दशा २६-१-७२ से प्रारम्भ होगी जो कि २ वर्ष ६ मास और १२ दिन की होगी।

इस प्रकार यह दशा ८ अगस्त १९७४ तक चलेगी। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि २६ जनवरी १९७२ से ८ अगस्त १९७४ के बीच ओनासिस ग्रीस का राष्ट्रपति-पद ग्रहण करेगा और इस प्रकार एक बार पुनः जैक्लिन देश की प्रथम सम्माननीय महिला होने का गौरव प्राप्त कर सकेगी।

वस्तुतः जैक्लिन–ओनासिस के आगामी पाँच प्रणय-वर्ष महत्त्वपूर्ण होंगे। इन वर्षों में जैक्लिन–ओनासिस–संयोग से दो सुन्दर कन्याओं का जन्म होगा और ओनासिस ग्रीस के सर्वोच्च पद—राष्ट्रपति-पद—को सुशोभित कर सकेगा, इस प्रकार एक बार पुनः जैक्लिन देश की प्रथम महिला बनने का गौरव प्राप्त कर ग्रीस के इतिहास में अमिट रेखाएं लिख सकेगी।

■ ■

अनावरण

रमेश बलूनी

अनिर्लिप्त एक मैं
यवनिका पर चित्रित रेखाकार
दर्शकों की दृष्टि के सम्मुख निर्विकार भाव से
तराशी कलाकृति-सा
रख दिया जाता हूँ विभिन्न भाव-मुद्राओं में

हर नाटक का प्रारम्भ मुझ से होता है
और हर अन्त मुझ पर

खचाखच भरा दर्शकागार
कम ही सोच पाता है मुझ पर
कौतूहल भर रहता है उसे उस का
जो देखना है उसे मंच पर
इस लिए
सभी चाहते हैं मंच का अनावरण

मैं लपेट लिया जाता हूँ

अन्तराल इस बीच का मुझे अच्छा लगता है--

नाटक के प्रारम्भ से ले कर नाटक के अन्त तक का,

क्यों कि मैं देख नहीं पाता यह समूचा--

जो यहाँ घटना है : नाटक या नाटक की तरह

यवनिका और उस पर लिपटे हुए मेरे मुखौटे

नहीं बन पाते व्यवधान

किसी उत्सुक दृष्टि के लिए,

और नाटक घट जाता है ।

अनावृत मंच और मंच के कलाकार

खचाखच भरा दर्शकागार

सब सभी के बीच

कुण्डली बाँध लटका दिया जाता हूँ : लपेट दिया जाता हूँ मैं

पर

नाटक से पहले मंच और दर्शक

दोनों आवृत मेरे कारण

मेरे हटते ही हो जाता है मुखौटों का अनावरण

और सब एक दूसरे को टकटकी बाँध देखते हुए

बदलते रहते हैं मुद्राएँ

■ ■

हिन्दी पत्रकारिता

जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण-भूमि

● ●

डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र का शोध-प्रबन्ध

● ●

आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में :

इस प्रबन्ध में हिन्दी पत्रकारिता के विकास के माध्यम से हिन्दी की सशक्त गद्यशैली और मानवीय संवेदना की उदार परम्परा का आकलन किया गया है।

भारत सरकार के मन्त्री डॉ० रामसुभग सिंह के शब्दों में :

यह प्रबन्ध पत्रकारिता का साहित्यिक अनुशीलन है, किन्तु इस में भाषा और साहित्य के विकास के साथ ही राजनीतिक चेतना के विकास की कहानी भी एक प्रकार से आ गयी है, जिस से इस पुस्तक की महिमा और बढ़ जाती है। इस में डॉ० मिश्र ने पत्रकारिता के अनुशीलन को एक प्रगतिशील और नयी दृष्टि दी है जो इस विषय के अध्येताओं के लिए सहायक सिद्ध होगी।

[मूल्य २५.००]

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

कलकत्ता :: वाराणसी

विक्रय-कार्यालय

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६,

चेहरा

राजेन्द्रकुमार शर्मा

सुबह ही सुबह, ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाने पर वह बौखला उठा। और तभी आगन्तुक की उपेक्षा करते हुए उस ने अपने आप को पुनः आदमक़द शीशे में देखा—वाह! गोरे-रंग पर ग्रे-सूट बेहद फ़ब रहा था, जिस पर हैण्डलूम टाई। बालों की एक लट को ललाट पर छितराते हुए, उस ने अपनी तैयारी को फ़िनिश-टच दिया और फिर आवाज़ दी—"शोभा! ले आओ न चाय, देर हो रही है!"

प्रत्युत्तर में स्टोव की आवाज़ तेज़ हो गयी, साथ ही दरवाज़ा खटखटाने की प्रक्रिया भी।

साइड-पोज़ का जायज़ा ले कर वह दरवाज़े की तरफ़ बढ़ा। चेहरे पर नाराज़ी, अवहेलना, घृणा, उकताहट के भाव थे। झटके से किवाड़ खींचे। सामने पोस्टमैन खड़ा था। उपेक्षा की अभिव्यक्ति के पूर्व ही पोस्टमैन ने नम्रता से कहा, "प्रोफ़ेसर साब, आप का टेलीग्राम है।"

उस ने लापरवाही से 'साइन' कर टेलीग्राम ले लिया। अनिच्छा से लिफ़ाफ़ा खोला और सोफ़े में धँसते हुए गुलाबी टेलीग्राम की तहें खोलीं। और चेहरा विकृत करते हुए अंकित पंक्ति की इबारत को एक ही साँस में पढ़ गया—"योर फ़ादर एक्सपायर्ड कम सून!"

पिता की मृत्यु! जन्मदाता का इन्तकाल! घर के बुर्ज़ुआ सदस्य का स्वर्गवास! उस को पसीना आना चाहिए था। आँखों में आँसू भी। हतप्रभता भी या मूर्च्छा...। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। उस ने टेलीग्राम को एक तरफ़ यूँ पटक दिया जैसे शादी के 'कांग्रेच्यूलेशन' हो।

स्टोव की आवाज़ बन्द हो गयी।

वह खुश था—चलो, हर माह सौ रुपये भेजने के झंझट से नजात मिली। बड़ी तंगी

रहती थी। और तभी हर माह पैसे भेजते समय उस को यही खयाल आता था कि शायद वह पिता को जन्म देने का टैक्स चुका रहा है जिस का अन्त शायद उन के अन्त के साथ ही सम्भव होगा। आखिर नयी पीढ़ी प्राचीनता के भार को कब तक वहन करती रहेगी ?

"चलो झंझट ही खतम हुआ ?"—उस ने लम्बी साँस खींच कर कहा। लेकिन तभी उस को शोभा की स्थिति का खयाल आया—क्या सोचेगी वह ? क्या यही इन्सानियत है ? पिता की मृत्यु का कुछ तो वातावरण बनना चाहिए। उस ने तय किया।

उस ने झपट कर टेलीग्राम उठा लिया। और देखते-ही-देखते चेहरा इस तरह लटक गया जैसे पिता की लाश उस की आँखों के समक्ष पड़ी है। उस ने आँसू लाने का प्रयास भी किया लेकिन तत्क्षण कामयाबी नहीं मिल सकी। उस की निगाहें 'ग्लेसरीन' की शीशी खोज हो रही थीं कि शोभा रोती बेबी को चुप कराती, चाय ले कर आ गयी।

एक हाथ में टेलीग्राम, दूसरा हाथ सिर पर, और भावशून्य चेहरा। शोभा हतप्रभ हो गयी। चाय टेबुल पर रख कर चौंकती-सी बोली, "क्या हुआ जी ?"

उस ने चेहरा और भी लटका लिया ताकि शोभा को किसी अप्रिय घटना के घटित होने का आभास हो सके। और ग़म का वातावरण उद्दीप्त भी, लेकिन शायद वह उस के निर्णय तक न पहुँच सकी और तभी सकपकाती-सी दुबारा प्रश्न कर बैठी, "किस का है तार ? क्या हुआ ? कुछ तो बोलिए !"

शोभा अनपढ़ है—यह बात जानते-बूझते भी उस ने टेलीग्राम उस की तरफ़ बढ़ा दिया ताकि वह उस के अकथनीय दुःख से आप्लावित हो, और तब तक वह किसी तरह आँखों में आँसू ले आये।

शोभा टेलीग्राम को उलटने-पलटने लगी। गुलाबी काग़ज़ की आकर्षकता के कारण बेबी ने रोना बन्द कर उसे झपट लिया और तुड़-मुड़ कर मुँह में खोंसते हुए गिलचने लगी उस को। पिता से भी अधिक टेलीग्राम की दुर्गति शायद उस से देखी न जा सकी। और तभी उठ कर झटके से छीन लिया। बेबी उस अप्रत्याशित हमले के लिए तैयार न थी, अतः चौंक कर ऐसे चीखने लगी जैसे पिता के पूर्व वह पिता के पिता का मातम मना रही है।

बेबी से उस को शायद प्रेरणा मिली। उस ने रूमाल से चेहरा ढँकते हुए रुँआसी आवाज़ बना कर कहा, "शोभा! पिताजी नहीं रहे! मेरे पिताजी! मैं···मैं कितना अभागा हूँ कि अन्तिम समय उन के दर्शन भी न कर पाया!"

उस का रूमाल वैसे का वैसा सूखा था, लेकिन शोभा के गाल आँसुओं से तर हो गये और वह दच्च से ज़मीन पर बैठ गयी।

यह स्थिति क़रीब दो मिनिट से अधिक नहीं रह सकी। उस ने समझाया—"शोभा! जानता हूँ, तुम पिताजी की सब से लाडली बहू थी लेकिन भगवान् के सामने किस की चलती है! ज्यादा तमाशा न करना, वरना पास-पड़ोसी परेशान करेंगे।···मैं आज ही छुट्टियाँ ले लेता हूँ, हम लोग कल ही चल देंगे।···न होगा, प्राविडेण्ट फण्ड से पाँच सौ का 'लोन' ले लूँगा।"

उस की चाय पीने की इच्छा हो रही थी, लेकिन वह इस वातावरण को हलका नहीं करना चाहता था।

सहसा ही उस को खयाल आया कि पिता की मृत्यु का कुछ वातावरण उस के साथ भी तो रहना चाहिए। उस ने सूट उतार दिया। साधारण कपड़े पहन बाल बिखरा लिये। और मन-ही-मन कई बातों के लिए अपने आप को तैयार करता रहा।

बस आने में देरी थी। अतः पास के होटल में घुस गया और चाय-नाश्ता का आर्डर दे कर सोचने लगा—गये सप्ताह बीमारी का पत्र आया था लेकिन उस ने फाड़ कर फेंक दिया था। उस ने तो ऐसा अन्दाज़ लगाया था कि इस माह मनीआर्डर नहीं पहुँचा तो ऐसा लिखा गया है। और तभी बमुश्किल कल शाम तक सौ रुपयों का इन्तज़ाम कर पाया था। अच्छा हुआ नहीं भेजे, वरना वो भी क़फ़न-काठी में एडजस्ट हो जाते।

कॉलेज पहुँचते-पहुँचते नौ बज गये थे। बीस मिनिट वाली रिसेस हो चुकी थी। वह डिपार्टमेण्ट में घुसा, देख कर सब चौंक गये। टिपटाप रहने वाला फटेहाल। निगाहों ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

कुरसी पर गिरता-सा उदास चेहरा नीचे करते हुए उस ने लम्बी मेज़ पर टेलीग्राम फैला दिया। बारी-बारी सब ने पढ़ा। तभी घोष ने आवेश से कहा, "तुम्हें आज ही चले

आना चाहिए, अभी।"

बिश्नोई ने सलाह दी—"पहले प्रिंसिपल से मिल लो। शायद वे छुट्टियाँ देने में आना-कानी करें।"

वह चुप ही रहा तो गुप्ता बोला, "अबे, छुट्टियाँ देगा उस का बाप! टेलीग्राम जो है। यार, तुम लिखो एप्लीकेशन, मैं चलता हूँ तुम्हारे साथ। देखें, छुट्टियाँ कैसे नहीं मिलतीं? कितने दिन चाहिए?"

उस ने कोई उत्तर न दिया बल्कि चेहरा इस तरह लटका लिया जैसे छुट्टियों-जैसी निरर्थक बातों का उस के दुःख के समक्ष कोई महत्त्व न हो।

घोष ने दबाव दिया—"लिखो न।"

वह लिखने को क़लम निकाल ही रहा था कि घण्टी बज गयी। गुप्ता ने कहा, "प्रिंसिपल से मिल लो, तुम्हारा पीरिएड मैं एरेंज किये लेता हूँ!"

उस ने क़रीब पाँच बार एप्लीकेशन लिखी लेकिन हर बार अक्षर सुन्दर बन पड़ते थे। उन सभी को फाड़ कर पुनः कोशिश की। बमुश्किल सफलता मिली। अक्षरों की विकृतावस्था भी उस की पीड़ा की गवाही दे रही थी।

दयनीयता का दामन थामे वह प्रिंसिपल-कक्ष में घुसा। पहली बार प्रिंसिपल ने उस को इतनी अस्त-व्यस्त हालत में देखा तो साश्चर्य कहा, "क्या बात है मिस्टर कान्ति?"

उस ने चेहरा दयनीय बनाते हुए टेलीग्राम आगे बढ़ा दिया। तत्पश्चात् छुट्टियों की एप्लीकेशन भी। प्रिंसिपल ने तटस्थ दृष्टि से देखा और संजीदा हो, सहानुभूतिवश कहा, "हौसला रखिए मिस्टर कान्ति····। आख़िर हमेशा ही माँ-बाप ज़िन्दा नहीं रहते।"

उस ने इस समय रोना बहुत ही ज़रूरी समझा। और तभी आँखों को किसी तरह नम करने में कामयाब भी हो गया। प्रिंसिपल ही बोलता गया—"मेरी तरफ़ से आप आज ही चले जाइए। अभी से।···लेकिन ये दो सप्ताह की छुट्टियाँ 'विदाउट पे' हो जायेंगी—आप को काफ़ी नुक़सान होगा मि० कान्ति! मरने वाला तो वापिस आता नहीं, वैसे अगले माह छुट्टियाँ होने वाली हैं ही।"

वह भीतर से एकदम घबरा गया। उस ने शायद इस स्थिति पर विचार ही नहीं किया था। विदाउट-पे यानी तनख़्वाह में से क़रीब तीन सौ की कटौती। और पाँच-छह सौ का नगद ख़र्च। कुल मिला कर क़रीब एक हज़ार की चपेट लगेगी। सारा बजट एक साल के लिए तहस-नहस हो जायेगा। नहीं। ऐसा नहीं करना है।

"और बच्चों की पढ़ाई का भी नुक़सान होगा सो अलग।' प्रिंसिपल ने अपनी बात समाप्त की।

उस ने रुआँसी वाणी में कहा, "सर, पैसों का तो मुझे कोई मलाल नहीं है, लेकिन बच्चों की पढ़ाई का नुक़सान! कॉलेज की प्रतिष्ठा का भी तो प्रश्न है। मैं देखता हूँ।"

वह टेलीग्राम तथा एप्लीकेशन उठा कर बाहर आ गया। डिपार्टमेण्ट में लौटा तो प्रायः सभी उत्सुकता से उसी का इन्तज़ार कर रहे थे। वैसे भी अब कोई क्लास न थी।

वह टेलीग्राम तथा एप्लीकेशन को सामने रख कर बैठ गया तो बिश्नोई ने मुसकराते हुए कहा, "इसी लिए कहा था न कि पहले प्रिंसिपल से मिल लो।"

तभी घोष ने कहा, "नहीं मिली छुट्टी ?"

गुप्ता ने भी पूछा, "क्या कहा ?"

एकदम भाव-परिवर्तन ! उस ने चेहरे पर क्रोध लपेटते हुए कहा, "साली ये भी कोई नौकरी है, कोई मर जाये तो भी छुट्टियाँ नहीं मिलतीं ! मैं ने कितना कहा कि सर, मुझे दस दिन की ही छुट्टियाँ दे दीजिए कम-से-कम पिता की राख तो सर से लगा आऊँ। लेकिन कौन सुनता है ? साफ़ मना कर दिया कि बच्चों की पढ़ाई और कॉलेज की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। छुट्टियाँ नहीं मिल सकतीं।"

घोष ने कहा, "ये तो सरासर अन्याय है !" हम सब को मिल कर प्रिंसिपल के पास चलना चाहिए।

बिश्नोई को छोड़ कर सब ने घोष के कथन का समर्थन किया। लेकिन तभी उस ने परेशानी व्यक्त करते हुए टोका--"नहीं,....। मैं अपने सन्दर्भ में ऐसा किसी भी प्रकार का विवाद खड़ा नहीं करना चाहूँगा, जिस से मेरे दिवंगत पिताश्री की आत्मा को कष्ट पहुँचे। ज़्यादा से ज़्यादा नहीं जाऊँगा--बस।....मैं बहुत दुःखी हूँ, परेशान हूँ, मेहरबानी कर के इस विषय में कहीं भी चर्चा न करें, हाँ।"

एक-एक कर सब चले गये तो उस को लगा जैसे आरोपित सारा वजन हट गया है। वह अपने आप को बहुत हलका महसूस करने लगा।

उस की जेब में पिता को भेजे जाने वाले सौ रुपये पड़े थे। उस को अब वे बेहद परेशान-से करने लगे। अतः वह उठा। बाहर आया। टैक्सी ली। और मेन-मार्केट की की दूकानों के काउण्टर्स देखने लगा।

क़रीब एक बजे घर पहुँचा। शोभा शायद रसोईघर में थी। खड़बड़ाहट सुन कर बाहर आयी और प्रश्नवाचक निगाहों से उस को घूरा। उस ने बात बनाते हुए उत्तर दिया, "शिकायत करती हो न तुम कि गर्मी बहुत पड़ती है, ये पचास की पहली क़िस्त दे कर रेलीस-फ़ैन ले आया हूँ। अरे वो पिताजी को भेजे जाने वाले रुपये थे न--सौ। और ये तुम्हारे लिए दो साड़ियाँ, बेबी के लिए खिलौने। खुश हो न ?"

शोभा हतप्रभ पति का चेहरा देखे जा रही थी, शायद इस से पूर्व वह केवल मुखौटे देखती रही थी। वस्तुस्थिति देख कर वह आने वाले प्रत्येक क्षण के लिए भयभीत भी थी, कि न जाने उस को जीवन भर और क्या-क्या देखना पड़ेगा ?

वह शोभा के मनोभाव ताड़ गया और तभी पास जा कर खिसियाते हुए बोला--"यार, बाप मेरा मरा है कि तुम्हारा ? छोड़ो भी अब उस को, और जो ज़िन्दा है उस के बारे में सोचो। खाना बनाया कि नहीं ?"

युवा जर्मन सिने क्रान्ति : एक झलक

पुष्पधन्वा

● ● ●

यदि कहीं संगीत पर बहस हो रही हो तो यह नामुमकिन-सा है कि बाख, मोत्ज़ार्ट, बिटोवन, ब्राह्मज और बागनर का ज़िक्र न हो। इसी प्रकार साहित्य वार्त्तालाप में गेटे, शिलर, बूशनर और हॉप्टमान का नाम आ कर हो रहता है। यह सब एक ही देश में जन्मे थे—जर्मनी। जर्मनी की संस्कृति विश्व-महायुद्ध के बाद नये प्रयोग कर रही है। उस के जीवन के हर भाग में नये रंग, नये भाव और नैतिक अवमूल्यनों में करवटें लेता नया जीवन-सत्य अभिव्यक्त होने की छटपटाहट में मूर्त्त हो रहा है। वह विविध रूपों में प्रकाश पाता है। उन्हीं के फलस्वरूप सामने आते हैं कुछ सिने-दृश्य :

●

घने अँधेरे से घिरे पूरे सिने-पट पर छाये होठ! एक-एक धारी खाई-सी गहरी। खुलने बन्द होने में उठते लार के तार और भीतर साँप की चिकनी त्वचा सी चमकीली, फिसलनी जिह्वा।—प्रेयसी के अधर!

●

धूप-धुली निर्जन गली में फड़फड़ाते, सूखते कपड़ों की पंक्तियाँ। एक ऐसी गली जो हर किसी के सपने में आयी है। एक ऐसी हवा जो बिना समुद्री दिखाये समुद्री है, एक ऐसा समय जो समयातीत है।

●

छत की कड़ी से उलटा लटकता, रस्सी में बँधा किशोर। घेरे खड़ा है लड़कों का आनन्दित समूह और हाथ लगे 'अपराधी' को एक हाथ से दूसरे हाथ में झुलाया जा रहा है। सताये युवक की चीखों को डुबा देने वाली युवकों को आनन्द सिसकारियाँ और हर्ष-ध्वनि!

●

लगभग आठ मिनिट तक विशाल परदे पर अन्धकार, बीच-बीच में बारूद से छोड़े गये पटाखों के रॉकेटों की अद्भुत आकृतियाँ। किसी पागल कहलाते मन का उन्मुक्त विस्फोट, मन को गुंजा जाने वाला पार्श्व-संगीत!

●

कीचड़ का तालाब! मँहगी शराब, नृत्य-गीत और सजे-धजे मेहमानों के साथ उस का

उद्‌घाटन। खुशी की किलकारियों में कीचड़-स्नान !

●

एक स्थिर आँख। मस्कारा से पपड़ाई पलकें और किसी बड़े, चमकदार गोल कीड़े-सी पुतली—पूरे परदे पर लगभग एक मिनिट को और कुछ नहीं !

अप्रैल, १९६९ में राजधानी स्थित सप्रू-हॉल में एक फ़िल्मी-सप्ताह मनाया गया। यह मैक्सम्यूलर-भवन और दिल्ली फ़िल्म-सोसायटी के सौजन्य से सम्पन्न हुआ। फ़िल्मी समारोह यदा-कदा यहाँ आयोजित होते रहते हैं। इस आयोजन की ही चर्चा क्यों? कीसिंगर की भारत-यात्रा के उपरान्त, इन देशों को बढ़ती हुई मैत्री; दोनों देशों के बढ़ते व्यापार सम्बन्ध, दोनों के विकास-प्रयत्न और सांस्कृतिक आदान-प्रदान—सब मिला कर ये दोनों काफ़ी नज़दीक आये हैं। श्रव्य-दृश्य शिक्षा के युग में सिनेमा का महत्त्व अगाध है परन्तु भारत में यह माध्यम सामान्य प्राणी के दिल-बहलाव का ही साधन रह गया है। भारत में अक्षर ज्ञान २४ प्रतिशत है अर्थात् हम में से ७६ प्रतिशत को साहित्य, विज्ञान और कला से कोई दिलचस्पी हो ही नहीं पायी है। भारत को आज़ाद हुए २० साल हो गये लेकिन सिनेमा के क्षेत्र में उस ने रंगीन चित्र और अधिक से अधिक बजट वाली फ़िल्में बनाने के अतिरिक्त विशेष प्रगति नहीं की है। वैसे यह रंगीनी भी पश्चिमी विज्ञान की देन है। यह दशा शायद इसीलिए ऐसी है कि हमारे फ़िल्म-निर्माता हर प्रिण्ट को पैसे की तराज़ू में तौलना चाहते रहे हैं। अभी तक न उन्होंने कला-महासागर में डुबकी ली है और न ही लोगों को नब्ज़ देखने का मौक़ा हासिल किया है। नब्ज़ की तेज़ हरारत पहचानी भी तो उपचार करना न आया। लेकिन जर्मनी में स्वतन्त्रता के ७ साल बाद ही, १९६२ में मुट्ठी भर जर्मन नौजवानों ने प्रण किया कि उन्हें 'पिता जी के बाइस्कोप' (Daddys Cinema) को त्याग कर नयी डगर पर चलना है। कुछ ही वर्षों में अपनी लगन और श्रेष्ठता के बल पर वे सरकार से आर्थिक सहायता लेने में सफल हुए और उन्होंने तुरन्त एक 'युवक फ़िल्म कमेटी' की स्थापना कर ली। आज लगभग २० बुद्धिजीवी युवक इस काम में लगे हैं और उन्हें 'अच्छी' व 'बहुत अच्छी' फ़िल्में बनाने का श्रेय प्राप्त है।

व्याख्या और अभिव्यक्ति

ये अध्यवसायी, गम्भीर मनचले जिस उथल-पुथल के वातावरण में रह रहे हैं वह उन्हें दुबारा-तिबारा सोचने पर मजबूर करता है और वे उसे समझने-पकड़ने और फिर अपनी अनुभूति को सम्प्रेषित करने लिए प्रयत्नशील हुए। दूसरे महायुद्ध के

पश्चात् यह युवक अपने को ऐसे चौराहे पर खड़ा पाता है जहाँ से निकलते सारे रास्ते निष्फल और अन्धकारमय हैं। उस का भविष्य वर्त्तमान के अगले पल में सिकुड़ आया है और किसी भी स्थायी मूल्य को पकड़ कर चलना उसे रेत के क़िले बनाने से ज़्यादा और कुछ नहीं जान पड़ता। कभी वह समाज-शास्त्र की बन्धनमय आवश्यकता से अपना दम घुटता महसूस करता है तो कभी व्यक्तिवाद की भयंकर एकातन्ता से घबराने लगता है। कभी अपनी सारी शक्तियाँ जगा कर मानवतावाद का सपना देखने की कोशिश करता भी है तो अणु-छतरी के घटाटोप को बेध नहीं पाता। हताश हो कर बार-बार एक एहसास उसे घेरता है कि यह सारी दुनिया जिस भी साँचे में ढली हो—उस की अपनी इकाई उस में कहीं भी फ़िट नहीं होती।

सामूहिक मूल्यों की क़ैद

निभाव करते हुए जिये चले जाने के बोझ व तनाव की समस्या 'प्यार की भूख' (Lust For Love) में दिखायी गयी है। ३७ वर्षीय एडगर राइट्ज़ की इस फ़िल्म में एक विद्यार्थी डॉक्टर और महिला फ़ोटोग्राफ़र मिले, प्रेम हुआ और विवाह हुआ। एक के बाद एक बच्चे भी आये। पद और प्रतिष्ठा पाने के लिए परीक्षा देने का मौक़ा और सार्थकता दोनों हाथ से निकल गये। फ़िलहाल उसे ज़रूरत है नौकरी की। नौकरी मिली परन्तु काम सँभल न सका क्यों कि नायक इसी नौकरी के माध्यम से अपने अपूर्ण सपनों की पूर्त्ति भी करना चाहता है। दूसरी नौकरी ढूँढ़ी किन्तु पाँच बच्चों के पिता को सारी नासमझी और अपूर्णताओं के बीच एक समझ आयी। एक सम्पूर्ण सर्वसाधक निदान—आत्महत्या।···क्या हमें यह जर्मन युवक भारतीय युवक की याद दिलाता है। क्या यह कथानक याद दिलाता है उस निरर्थक, असमर्थ भेड़-चाल में खदेड़ने वाली शिक्षा-प्रणाली की, प्रमाण-पत्रों पर आधारित योग्यता-निर्धारण की कसौटी की जो बार-बार व्यक्ति की बलि लेती है, बार-बार उस की हत्या करती है?

यही मज़ाक़ और व्यंग्य म्यूनिक के एक स्कूल की खिड़की में झाँकने पर दिखाई देता है। 'अब तुम वयस्क हो' (You are a man, my boy) के विद्यार्थी अलग़र्ज़, सुख-भोग से ऊबे और विद्रोही हैं। यहाँ हम २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चले जाते हैं। एक युवक आयु के अनुपात में अधिक बुद्धिमान् है इस लिए वह दूसरे लड़कों से अलग-अलग रहता है। कक्षा के जिन दो लड़कों के सम्पर्क में वह आता है वे उसे क्रूरता, यौन, नेतागिरी के ज्ञान में दीक्षित करते हैं। स्कूल का एक दूसरा भला व भीरु विद्यार्थी छोटी-सी चोरी करता इन 'लीडरों' द्वारा पकड़ा जाता है। ब्लैक मेल शुरु हुआ छोटी-छोटी चुटकियों से जो अन्त में मानवता की सारी सीमाएँ तोड़ जाता

है। इस सब को देखता गुनता है 'बुद्धिमान्' लेकिन न क्रूरता में साथ देता है न बाधा डालता है। वह एक तटस्थ वैज्ञानिक की स्थिति में रह कर परपीड़न और भीरुता के कारणों की मनोवैज्ञानिक जांच करता है। वह तर्क के ऐसे पिंजरापोल में जा पहुँचा है जहाँ घुटन और सड़ांध है। अध्यापक उस के पैने प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता और स्कूल-बोर्ड के पास बस एक सदाबहार नुस्ख़ा है—'इस बच्चे का मस्तिष्क अधिक उत्तेजित है और अच्छा यही होगा कि यह घर के शान्तिप्रद वातावरण में, अधिक व्यक्तिगत देख-रेख में रहे।'

नैसर्गिकता की हिमायत

यहीं सदा सब जगह होता चला आया है। फ़र्क़ बस इतना है कि नयी पीढ़ी नयी लहर बन कर, गुर्रा कर यह बात कहने की हिम्मत रखती है। नये निर्माता साफ़-साफ़, सीधे ढंग से वर्त्तमान व्यक्ति और समाज के भीतर का सूक्ष्म निरीक्षण व आत्म-परीक्षण करते हैं। आज के समाज में पैसा है, शिक्षा है, मनोविज्ञान और भविष्य की पैरवी करने वाला महाशक्तिशाली विज्ञान है। फिर भी यह असुरक्षा की भावना! इतना गहरा स्वप्न-भंग! जवान ख़ून या तो इस का विरोध करता है या फिर इस से भागना चाहता है—इस लिए इन फ़िल्मों में वातावरण की महत्त्वपूर्ण भूमिका है जैसा कि 'सीधे बात पर आओ, प्यारे!' (Come to the point, Darling) में स्पष्ट होता है। यहां कथा म्यूनिक शहर के 'कलाकारी क्षेत्र' में घटित होती है। इस के दो युवा मित्र-पात्र एक अपनी ही गढ़ी शब्दावली में, जो उलटबाँसियों की-सी विपरीतता और अटपटापन लिये है, बोलते हैं। यह फ़िल्म यथार्थवादी न हो कर फ़ैण्टेसी अधिक है—घटनाएँ बेढंगी और विचित्र हैं। इस फ़िल्म की निर्देशिका है अट्ठाईस वर्षीया मे स्पिल्ज। कहते हैं, बेचने वाले और खरीदने वाले के बीच की खाई को पाटने वाला होता है—विज्ञापक। मे स्पिल्ज़ ने भी बस, एक विज्ञापक का कार्य किया है। उस ने एक सत्य घटना को ले कर चौबीस घण्टों की कहानी में बांधा है—२१९७ मीटरों में। "मेरी फ़िल्म की कहानी एक सच्ची घटना पर आधारित है! म्यूनिक के हिप्पी और शराबी युवक जीनियस, विद्रोही और नमकीन लड़कियाँ। कई माह तक मैं ने अपने दो मित्रों को नज़दीक से देखा-परखा। ये जीवन में कोई मूल्य नहीं खोजते। जीवन इन्हें लुभाता है। वे रोजी कमाने में ज़रा भी विश्वास नहीं रखते। उन्हें पुलिस से कोई उन्सियत नहीं क्यों कि वह उन्हें उन की प्रेयसी से दूर ले जाती है....फिर भी वे जीते-जागते प्राणी हैं, एक-दूसरे के काम आने वाले। उन की कमियाँ उन्हें गिराती हैं, विशेषताएँ उठाती भी हैं।—फ़िल्म बनाये बग़ैर मैं रह ही नहीं सकती। यदि

पैसे का प्रबन्ध नहीं हो पाता तो मैं अपना फ़ार्म बेच कर भी अगली फ़िल्म बनाऊँगी।"

फ़ार्म बेचना बुद्धिमत्ता तो शायद न हो मगर यह बिलकुल ठीक है कि जब तक मे स्पिल्ज़ की तरह सब कुछ दाँव पर लगाने वाले युवक-युवतियाँ न होंगे तब तक कोई नया सक्षम प्रयोग या समर्थ-सच हमारे सामने नहीं आयेगा।

• व्यक्तिगत प्रतिक्रिया : सम्मान....

युवकों से आइए एक किशोर पर। 'गुदना' (Tattoo) में एक सोलह वर्षीय बालक है जिस की परवरिश अनाथाश्रम में हुई है। उसे एक धनी दम्पति गोद'ले लेता है, अपना बंजर प्यार उस लड़के पर न्योछावर करता है। परन्तु उसे इस दया और भीख से आत्मग्लानि होती है। उसे ऐसे यन्त्रचालित प्यार से नफ़रत हो जाती है। आश्रम की दीवार होती तो वह फाँद कर मुक्त हो जाता परन्तु यहाँ रिश्ते और सम्बन्ध के तार उसे जकड़े हैं और वह पिस्तौल उठा कर अपने 'पिता' पर चला देता है क्योंकि समाज ने उस का पोर-पोर गोद डाला है—अपने नियमों की छाप लगा कर। वे नियम जिन को उस ने स्वयं नहीं जाना, गढ़ा या स्वीकारा। आज वे नियम उस के लिए थोथे हैं। हर व्यक्ति अपने माहौल से बँधा है अतः अक्सर शहर भी एक पात्र है। यह अनाथ किशोर बर्लिन के विभाजित और असम्पृक्त-नागरिकता के वातावरण में रहता है। इसी लिए व्यक्तिगत सम्बन्धों की रगड़ और टकराहट छोटे क़स्बों व गाँवों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र और कष्टकारी है।

• ....और लाचारी

आधुनिक जीवन में भीड़ है, दौड़ है परन्तु दिशा नहीं है। ज़रा दिशा-दर्शन हुआ नहीं कि युवक उधर ही मुड़ जाता है। चाहे वह सम्बल कोरी मृगतृष्णा ही निकले—किन्तु यह उसे बाद में पता लगता है। ऐसी ही एक युवक की कहानी है 'जंगली सवार' (The Wild Rider) अनायास ही उस की मुलाक़ात एक ऐसे नियम-मुक्त दल से हो जाती है जिस का नेता एक फूहड़ जंगली घुड़सवार है। वह सियारनुमा आवाज़ें निकालता है, शोर-भरे गीत गुर्राता है, बदमाश रसिक है और नवीनता के लिए पागल दुनिया में अपने इस अनोखेपन के कारण दूर-दूर मशहूर हो जाता है। भविष्य बनाने निकला हुआ भोला युवक भी इस संस्था में आ मिलता है। जल्दी ही उसे असलियत का पता लग जाता है—वह भागने की कोशिश करता है मगर केंकड़े के हज़ार पैर उसे जकड़ कर फिर उसी दुनिया में घसीट लाते हैं।

• परम्परा और मुक्ति ?

'विशाल तम्बू के नीचे कलाकार : धुरीहीन' (Artists under the big

top : Disoriented) के निदेशक जर्मनी के विख्यात एलेक्जान्ड्र क्लूज़ हैं। यहाँ उन्होंने राजनीति, दर्शन, नग्नता, नैसर्गिकता और सर्कस—सभी का प्रयोग किया है। संघर्ष है—प्रकृति से। लेनी के पिता की मृत्यु सर्कस में 'ट्रेपीज़' का खेल करते हुए हो जाती है। बस, जैसे बदले की भावना से प्रेरित हो लेनी सर्कस के सुधार में लग जाती है। इस प्रयोग में उसे दुनिया की झाँकी मिलती है—वह दुनिया जहाँ मर्द एक शक्ति है। समस्याएँ कथा के सामने सदा रही हैं परन्तु परम्परा की समस्या उस के लिए सब से बड़ी रही है। शायद परम्परा के बन्धनों से मुक्त होने के लिए ही क्लूज़ एक सीधी-सच्ची बात को बिखेर कर कहता है।—अधकटे वाक्य, रंगीन और कभी सफ़ेद-काले चित्र तो कभी पुरानी फ़िल्म की झलक तो कभी स्थिर चित्त। क्लूज़ कहता है—'लेनी सर्कस का शुद्धिकरण करना चाहती है क्योंकि उसे सर्कस से प्यार है। किन्तु क्योंकि उसे सर्कस से प्यार है वह उसे बदल भी न पायेगी।' ऐसा क्यों? क्योंकि प्यार एक रूढ़िबद्ध नैसर्गिक भाव है? लेकिन लेनी यह भी नहीं मानती।

● त्रास

आज परिभाषाएँ बदलना चाहती हैं किन्तु चारों ओर इतनी घुटन है कि वे ताज़ी हवा में साँस नहीं ले पातीं और घूम-फिर कर या तो वापस लौट आती हैं या फिर एक बेडौल रूप धारण कर लेती हैं जो न स्वयं परिवर्त्तनकारियों को पसन्द आता है न समाज को। नतीजा? चकराहट, आवारापन और मानसिक त्रास! इस दुःख का चित्रण किया गया 'जीवन के चित्र' (Signs of life) में। ग्रीस के सुन्दर माहौल में, सुन्दर लोगों के बीच महायुद्ध से बीमार और आतंकित एक सिपाही। फ़िल्म-निर्माता वर्नर हरज़ोग ने हॉलीवुड का सुनहरा न्योता त्याग यह फ़िल्म बनायी है। इस सिपाही का पीछा करता हुआ हिलता-डुलता कैमरा मानो हमारे सामने उस के अन्तर का अक्स रख देता है। एक शारीरिक ज़ख्म क्या इतनी मानसिक चोट दे सकता है कि उस के लिए नौकरी, दोस्त, पत्नी—सारा वातावरण विषमय हो जाये? ऐसे कितने ज़ख्म देश, युग और समाज कितने ही लोगों पर लगा चुके हैं। ये फ़िल्में ऐसे ही कुछ सवाल हमें सोचने को बाध्य करती हैं। कितना अच्छा हो यदि हमारे फ़िल्म-निर्माता भी नाच-गान के क्रम से हट कर कुछ और सोचने को बाध्य हो जायें! विचार की दुनिया सीमित न कभी थी, न है। 'बहुत से जहाँ हैं' विचरने को! उन सब से क्यों वंचित रहें हम और हमारे हमजोली। यदि जर्मनी, जहाँ एक फ़िल्म के निर्माण में शायद दुनिया में सब से अधिक लागत आती है क्योंकि फ़िल्म सामग्री वहाँ बेहद मँहगी है, अच्छी कलात्मक फ़िल्में बना सकता है तो हम अपने चलचित्रों को बुलन्दी की राह क्यों नहीं दिखा पाते? ■

आश्चर्य नहीं

रमेश कौशिक

जब कि तुम समर्थ थे
दलदल में धँसते हुए
जलयान को बचाने में
और बदल सकते थे
उस पर सवार
यात्रियों के आर्तनाद को
एक उल्लासपूर्ण गाने में ।
मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ
जब तुम ने बताया—
उन की पुकार ने
तुम्हारे मर्म को ही नहीं छुआ ।

जब कि तुम सूरज को
दर्पण दिखा
उस के प्रकाश को और बढ़ा
उन खाइयों तक ले जा सकते थे
जहाँ दफ़नाये गये इन्द्रधनु
जीवित हो
फिर आकाश छा सकते थे ।

मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ
जब मैं ने देखा दर्पण में
तुम अपनी ही छवि निहारते रहे ।

जब धरती और आकाश
तुम पर प्रसन्न थे
और दिशाएँ थीं तुम्हारी मुट्ठी में बन्द
चाहते तो
मत्स्य-न्याय समाप्त कर सकते थे ।
मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ
यह देख कर
कि तुम स्वयं
अपनी वंशी में
चैन से मछलियाँ फँसाते रहे ।

उन सारी सम्भावनाओं के बावजूद
जिन में तुम पनप सकते थे,
खिल सकते थे
महमहा सकते थे
मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ
यह जान कर
कि तुम्हारा जन्म
इतिहास-पुरुष के यहाँ हुआ ही नहीं ।

■ ■

अस्तित्व की छायाएँ

•

विश्वेश्वर
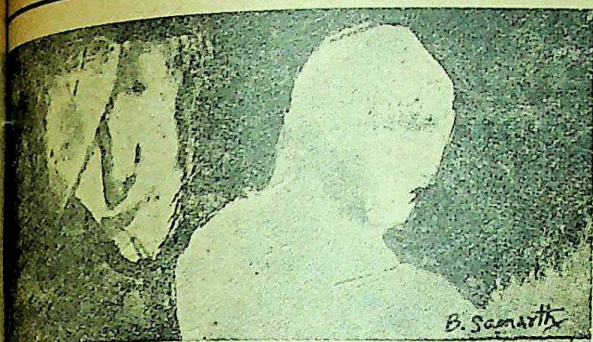
ऑफ़िस जाते वक्त उस के पाँव एक जगह रुके थे। अनायास उस की निगाह राजन पर पड़ गयी थी। वह चार-छह लड़कों के साथ पान की दूकान के सामने खड़ा था। उस ने पाया कि राजन उसे नहीं देख रहा है। दूसरे लड़के सिगरेट धौंक रहे थे और राजन उन से बात कर रहा था। उसे याद आया, जब वह ऑफ़िस के लिए निकला तो राजन खाना खा रहा था। फिर इतनी जल्दी यहाँ कैसे आ गया। उस ने उस की ओर ग़ौर से देखा। यह उस की आँखों का भ्रम तो नहीं।

एकाएक उस के एकदम बग़ल से घण्टी टुनटुनाते हुए एक साइकिल सवार गुज़र गया। वह चौंका था। उस ने उस साइकिल सवार की ओर देखा। उस की पीठ राजन की ही तरह लगी। वह टकटकी बाँधे उसे ओझल होते तक देखता रहा। और ज्यों ही वह ओझल हुआ, एक कार सामने आती दिखी—और तभी पहले वाले साइकिल सवार की तरह 'ज़रा बीच से हटो' कहते हुए एक और साइकिल सवार गुज़र गया।

वह उछल कर फ़ुटपाथ पर आ खड़ा हुआ। उस दूसरे साइकिल सवार की आवाज़ व पीठ भी राजन की ही तरह लगी। वह दुविधा में पड़ गया। कार वहाँ से गुज़र गयी, तो उस ने पुनः पान-दूकान की ओर देखा। वे वहाँ खड़े थे। राजन भी! वह पसोपेश में पड़ गया। क्या वह लड़का राजन ही है? तो फिर ये दोनों साइकिल सवार कौन थे?

और घर पर जो खाना खा रहा था, वह कौन है ? इत्ते सारे राजन।

अचानक उसे महसूस हुआ, कोई उस के पीछे आ खड़ा हुआ है। उस ने फ़ौरन चेहरा घुमाया—पीछे, बहुत पीछे एक गाय घास चरना छोड़ कर उसे ही देख रही थी। वह अन्दर से सहम गया। उसे लगा, गाय आक्रमण करने के लिए उस की ओर लपकेगी। इस विचार से वह तेज़ी से चल पड़ा।

चलते-चलते उस ने एक-दो बार फिर उन लड़कों की ओर देखा। राजन को पहचानने की कोशिश की। किन्तु राजन का कहीं पता नहीं चला ! क्या उसे देख कर वह कहीं छिप गया है ? फिर पीछे से आ कर··

उस ने पलट कर देखा—काली-डरावनी सड़क वीरान थी। पान-दूकान के सामने वे अब भी खड़े थे, किन्तु वहाँ राजन नहीं था। दो-चार क्षणों तक चलते-चलते वह उन्हें देखता रहा, फिर दायें-बायें नज़र कर के वह तेज़-तेज़ क़दमों से रास्ता तय करने लगा।

दफ़्तर पहुँचते तक वह अन्दर से ढह गया था। अपनी कुरसी में धँस कर वह लम्बी-लम्बी साँसें खींचने लगा। जैसे खौफ़नाक़ लड़ाई लड़ कर आया हो। वह दफ़्तर भी देर से पहुँचा था। एक बार उस ने अपने सहकर्मियों की ओर उड़ती निगाह से देखा, फिर पसर कर सुस्ताने लगा।

लेकिन अभी ठीक से सुस्ता भी नहीं पाया था कि चेतना में एक धमाका-सा हुआ और वह चौंक कर सीधा बैठ गया। उस ने सहकर्मियों की ओर ग़ौर से देखा। एक-एक चेहरे को। उसे पसीना निकल आया। उस का हृदय ज़ोरों से धड़कने लगा। वह पलकें भी नहीं झपका पा रहा था। बस, पुतलियाँ इधर-उधर हो रही थीं। उसे हर सहकर्मी राजन नज़र आ रहा था !

वह कुरसी से उठ खड़ा हुआ। सहमी-सहमी आँखों से सहकर्मियों की ओर देखा—वही ! सब के सब—वही ! लगा कि वह ग़श खा कर गिर पड़ेगा। पर उस ने किसी भाँति ज़ब्त किया और पुनः कुरसी में बैठ कर घण्टी बजा दी।

उस ने चपरासी से पानी मँगवाया। लेकिन इस के पहले कि चपरासी पानी का गिलास मेज़ पर रखता, उस के मुँह से निकला, "अरे ! तुम ?"

"जी····" चपरासी ने गिलास रखते हुए कहा।

"तुम···तुम यहाँ कैसे ?"

"मैं···मैं यहाँ कैसे ?" चपरासी नासमझी से उसे देखने लगा।

"क्यों···क्यों आये हो यहाँ ? कोई काम है क्या ?"

"जी···मैं तो···मैं तो यहीं काम करता हूँ !"

"कब से ?"

"बहुत दिन हो गये !" चपरासी ने चकित हो कर बताया, "शायद छह-सात बरस से ! आप तो मुझे तब से देख रहे हैं !"

आँखें फाड़-फाड़ कर चपरासी के चेहरे को उस ने कई बार देखा, देखता ही रहा····

देखता ही जा रहा था, फिर अनायास उस के मुंह से निकला, "जाओ !"

चपराची चला गया, तो उस ने गिलास उठा कर पानी पिया। उसे कुछ राहत महसूस हुई। चपरासी से हुई बातचीत को वह नये सिरे से सोचने लगा—ठण्डे दिमाग़ से। चपरासी ने उसे क्या समझा होगा ? शायद पागल ! फिर उसे ख्याल आया, कोई इतनी जल्दी किसी को पागल कैसे समझ सकता है ? और वह तो उसे बरसों से जानता है !

""तभी उस के दिमाग़ में कुछ बजा। शरीर में झुरझुरी-सी हुई। खून का प्रवाह तेज़ होता प्रतीत हुआ··· या फिर खून के साथ नलिकाओं में कोई चीज़ बह रही है। वह विचलित हो उठा। महसूस हुआ, जैसे कमरा गोल-गोल घूम रहा है और वह कुरसी के नीचे हो रहा है। फ़ौरन उस ने नीचे देखा—रद्दी की टोकरी के सिवा कुछ भी नहीं दीखा। आँखें उठा कर उस ने अपनी दोनों हथेलियों को देखा, फिर कलाई को, बाँह को···और फिर झटपट कुरसी खाली कर के बॉस की केबिन की ओर बढ़ चला।

●

टैक्सी वाले से निपट कर वह सीधे डॉक्टर के सामने जा खड़ा हुआ। हकलाते हुए उस ने कहा, "डॉक्टर सा-ब···शाब ! मैं ने ज़हर खाया है ! कुछ ही देर हुई है····प्लीज़ ! प्लीज़ मुझे बचा लीजिए ! डॉक्टर सा····"

"ज़हर !' डॉक्टर घबरा गया। उस ने उस के चेहरे को ग़ौर से देखा, फिर फुरती से उठ कर उस ने कहा, "आइए ! इधर [illegible] !"

वह उस के पीछे हो लिया।

"लेट जाइए। हरी-अप !"

वह लेट गया।

डॉक्टर ने उस के शरीर की जाँच की। उस के चेहरे पर आश्चर्य उतर आया। फिर भी उस ने दुबारा जाँच की, फिर तिबारा, चौबारा···फिर वह चकित हो गया ! उस ने उस के चेहरे को ध्यान से देखते हुए पूछा, "आप ने ज़हर खाया है ?"

"हूँ···!" उस ने एक आह-सी छोड़ी।

"कौन-सा ?"

"जी····?"

"कौन-सा ज़हर खाया है आप ने ?"

"मुझे····मुझे मालूम नहीं ! पर मैं ने ज़हर खाया है।"

डॉक्टर सोच में पड़ गया। एक बार उस ने और जाँच की।

"आप ने क्या खाया है ?" डॉक्टर ने पूछा।

"ज़हर !"

"कौन-सी चीज़ ?"

"ज़हर !"

"लेकिन ज़हर का नाम तो होगा ?"

"मैं उस का नाम नहीं जानता। पर मैं ने ज़हर खाया है !"

"आप को कैसे मालूम कि आप ने जो खाया है वह ज़हर ही है ?"

"मुझे मालूम है कि वह ज़हर ही है !"

"आप तो एकदम स्वस्थ हैं ! आप के शरीर में किसी ज़हर का प्रवेश नहीं

हुआ है !"

"नहीं डॉक्टर....! वह ज़हर ही है.... मैं ने पानी के साथ....पानी में डाल कर खाया...."

"क्या डाला था आप ने पानी में ?"

"ज़हर !"

"आप को ग़लतफ़हमी है ।"

तभी उस ने डॉक्टर को ग़ौर से देखा—वही ! वह उछल कर उठ खड़ा हुआ, तो डॉक्टर सहम गया था ।

"तुम.... तुम....तुम ....यहाँ.... यहाँ.... यहाँ...." कहते हुए वह भागता-सा बाहर निकल आया । वह फ़ुटपाथ पर दौड़ने लगा, दौड़ता ही रहा....दौड़ता हो जा रहा था कि अनायास एक आदमी से टकरा गया ।

"अन्धा है क्या ?" उस आदमी ने उस की टाई पकड़ ली, "देख कर नहीं चलने आता ?" उस ने टाई छोड़ दी, "यह सड़क है या खेल का मैदान ?" और उस ने अपना रास्ता पकड़ लिया ।

उसे लगा कि वह घिर गया है । वे शायद उस की हत्या कर के ही रहेंगे । वह सिर छिपाने के लिए बेचैन हो उठा । एक टैक्सी गुज़रने को हुई तो उस ने उसे हाथ के इशारे से रोक लिया—और लपक कर उस के क़रीब पहुँच गया ।

"क्या तुम वहाँ चल सकते हो ?" उस ने पूछा ।

"कहाँ ?" टैक्सी ड्राइवर ने जवाब दिया !

"वहाँ !" उस ने हाथ के इशारे से बताया ।

टैक्सी ड्राइवर ने आश्चर्य से उसे देखा, फिर पूछा, "कहाँ चलना है आप को ?"

"वो....वो....वो....उधर....!"

"किधर ?"

"उधरी !"

"किधरी !"

"बस....उधरी !"

टैक्सी ड्राइवर ने इस बार उसे चिढ़ के घूरा । फिर टैक्सी स्टार्ट कर के उस ने कहा, "पागल कहीं का !" और उस ने एक्सीलेटर दबा दिया ।

वह टैक्सी के चक्कों को फिसलते हुए अन्त तक देखता रहा । जब उसे तीखा हार्न सुनाई पड़ा, तो उस ने चौंक कर पीछे देखा—और उछल कर फ़ुटपाथ पर आ खड़ा हुआ । कार वाला डेड-स्पीड कर के चिल्लाया, "मरना है क्या sss....?"

तब वह दौड़ने लगा था । सीधे और सीधे—फ़ुटपाथ पर....फिर एक गली में मुड़ गया, फिर दूसरी गली, फिर तीसरी, चौथी ....और फिर पाँचवीं गली को पार कर के वह एक चौराहे पर आ खड़ा हुआ । क्षण-भर खड़ा-खड़ा तेज़-तेज़ साँसें खींचता रहा—और फिर दौड़ने लगा....दौड़ता ही रहा—देर तक, बहुत देर तक....दूर और दूर—काफ़ी दूर वह निकल गया था....लम्बी-चौड़ी सड़क पर आ गया था । सड़क के दोनों ओर गुलमोहर के पेड़ थे—घने-घने, एक-दूसरे की डालियों को छूते हुए । हवा सर्द थी । खुशबू से भरी हुई ।...

वह जैसे, अपनी थकान, डर, असुरक्षा को भूल गया। वह उस सुखद वातावरण में खोने लगा। दस-पन्द्रह क़दम चल कर एक पेड़ के नीचे जा बैठा। उस के भीतर पुलक उतर आया। उस ने लम्बी गुलामी से मुक्ति का अहसास किया। वह वहीं घास पर चित लेट गया। टाई की नॉट ढीली कर ली। उस ने ऊपर डालियों और फूलों…और फूलों की ख़ूबसूरती को देखना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उसे नींद आने लगी।

लेकिन जब जगा तो उसे फिर असुरक्षा महसूस हुई। शाम उतर आयी थी। वातावरण पहले से अधिक सुखद हो गया था। मगर उस सुखद वातावरण से उसे डर लगा। अनुभव हुआ, पास ही किसी ने फुफकारा है। वह झटके के साथ उठ खड़ा हुआ। घास को उस ने दूर-दूर तक चारों तरफ़ से देखा, फिर पेड़ों को, शाखाओं, फूलों को…और फिर दौड़ने लगा।

अभी कुछ ही दूर दौड़ पाया था कि लगा पाँव जड़ हो रहे हैं…वह रुक गया। दायीं ओर एक आलीशान बँगला नज़र आया। शायद यहाँ शरण मिल सकती है—उस ने सोचा और बँगले की ओर बढ़ गया।

ज्यों ही वह फाटक के पास पहुँचा, उस के मुँह से ज़ोरों की चीख़ निकल गयी। इत्ता डरावना! इत्ता ख़ूँखार! सिंह की तरह कुत्ता उस ने कभी नहीं देखा था। वह भागने लगा …भागता ही रहा…भागता ही जा रहा था…और फिर थोड़े समय के बाद उस ने अपने को एक जानी-पहचानी जगह पर खड़ा पाया। आस-पास गुज़रते चेहरों में से उस ने पहचान निकालने की कोशिश की। पर व्यर्थ! वह आगे बढ़ने वाला था कि किसी ने उस के कन्धे पर हाथ रखा और साथ ही उसे सुनाई पड़ा, "हैलोऽऽऽ…! यहाँ कैसे?"

वह, जैसे रक्तहीन हो गया! स्तम्भित! उस में चेहरा घुमा कर देखने की भी शक्ति नहीं रह गयी।

"कहो? यहाँ कैसे टपक पड़े?" और पूछने वाला उस के सामने आ खड़ा हुआ।

"तुम?" उस के मुँह से निकला।

"हाँ मैं…क्यों? पहचाना नहीं क्या?"

वह कोई जवाब नहीं दे पाया। टुकुर-टुकुर सामने वाले को देखता-भर रहा।

"यहाँ कैसे खड़े हो?"

उस ने मुँह खोलने की कोशिश की, पर उस के होंठ तक नहीं हिले।

"पहचाना नहीं?"

"ऐं!" जैसे वह नींद से जगा।

"अब भी नहीं पहचाना?"

"पहचान गया…पहचान गया! पर तुम मुझे परेशान क्यों कर रहे हो?… आखिर तुम्हें क्या मिलेगा मेरी जान ले कर…?"

"कौन तुम्हारी जान ले रहा है?"

"तुम…! तुम्हीं तो मेरे पीछे हाथ धो कर पड़े हो…! मैं तुम लोगों को कोई दखल नहीं दूँगा…तुम लोग जो चाहो सो करो, पर मेरी जान मत…"

"दिमाग़ ख़राब है क्या?"

"मेरा समय ख़राब है!"

"पागलों की तरह क्या बक रहा है ?"

"मैं पागल नहीं हूँ···! तुम मुझे पागल बना रहे हो····!"

"आगरा ले जाना पड़ेगा ?"

"खुद चला जाऊँगा···! तुम लोग यही चाहते हो कि मैं कहीं चला जाऊँ तो चला ही जाता हूँ····आज ही रात में चला जाऊँगा····पर मुझे मारो मत··· मेरी जान····"

सामने वाला असमंजस में पड़ गया। उस ने सोचा, इस ने खूब चढ़ायी है! वह उस के पास से खिसक गया।

उस के खिसकते ही उस ने तसल्ली की साँस खींची। रूमाल निकाल कर उस ने पसीना पोंछा। भूख महसूस हुई, तो उसे याद आया कि आज सुबह से उस ने कुछ नहीं खाया है। रेस्तोराँ के लिए इधर-उधर आँखें दौड़ायीं, एक रेस्तोराँ नज़र आया, तो वह उसी ओर बढ़ गया।

रेस्तोराँ में शोर था। काउण्टर के पास खड़े हो कर उस ने अन्दर के माहौल को देखा। एक भी सीट खाली नहीं दिखी। वह पलटने ही वाला था कि काउण्टर पर खड़े आदमी ने कहा, "बैठिए-बैठिए!"

उस ने काउण्टर वाले को उड़ती निगाह से देखा, फिर सीढ़ियाँ उतर गया। फ़ुटपाथ पर आने के बाद उसे खटका हुआ। वह ठिठक गया। मुड़ कर काउण्टर वाले की तरफ़ देखा, तो उस की आँखें उसी पर टिकी थीं। लगा, उन आँखों से लपटें निकल-निकल कर उसी की ओर बढ़ रही हैं। झटके के साथ उस ने उधर से आँखें फिरा लीं और तेज़ क़दमों से आगे बढ़ चला।

●

अन्ततः उस ने एक कठोर संकल्प किया। उसे मालूम था कि वह घिर गया है, लेकिन बावजूद इस के उस ने टक्कर लेने का संकल्प किया। पार्क में धुँधली-धुँधली नीली रोशनी थी। चेहरा उठा कर उस ने आसमान की ओर देखा। वहाँ चाँद-सितारे थे। फिर कलाई उठा कर घड़ी देखी—पौने ग्यारह! पार्क से निकल कर वह फिर भागने लगा, भागता ही रहा····भागता ही जा रहा था···

कि एक खौफ़नाक़ स्थान पर उस के पाँव ठिठक गये। शायद स्थान इतना खौफ़नाक़ नहीं था जितना कि उसे प्रतीत हुआ। वह सर्द स्थान था और सन्नाटा उस की नस-नस में घुस गया था। उस ने पाया कि वह जहाँ खड़ा है, वह एक पुल है। पुल के दोनों ओर नदी थी, किन्तु उसे लगा कि नदी चारों ओर है!

इस खयाल से उस ने चारों ओर देखना शुरू कर दिया—सामने पेड़ों की क़तारें थीं और क़तारों के बीचों-बीच सड़क और सड़क पर छायाएँ! क्या ये प्रेत-छायाएँ हैं? किन की छायाएँ हैं ये?

उस ने आसमान को देखा—चाँद खिलखिला रहा था। पूरे चाँद की रात थी वह! लगा, चाँद ने अपनी बाँहें पसार दी हैं—उसे अपने में समाने के लिए! क्या वह सचमुच उसे शरण देना चाहता है? क्या वही एकमात्र शरणदाता रह गया है?

"चन्द्रलोक!" वह बुदबुदाया। उस के

भीतर पुलक उतर आया। उस ने गर्व से उन छायाओं की ओर देखा। वे उसे सहमी हुई प्रतीत हुईं। महसूस हुआ, उस के हाथ में हथियार आ गया है—और हथियार को देख कर छायाएँ भयभीत हो गयी हैं! उसे ख़ुशी हुई कि उस ने उन्हें भयभीत कर दिया है!

वह साहस से उन छायाओं की ओर बढ़ा। उसे अपने पाँव रेल के पहियों-से लगे और पुल का अस्तित्व थरथराता महसूस हुआ। वह गद्‌गद हो आया कि उस में किसी को थरथराने की भी शक्ति है! वह पाँव पटक-पटक कर चलने लगा, ताकि पुल का अस्तित्व चरमरा जाये! उसे लगा, उस के हाथ में सत्ता आ गयी है—और अब वह एक नहीं हज़ार राजन को रौंद सकता है!

पुल पार कर के वह उन छायाओं के क़रीब जा खड़ा हुआ और उन्हें जलती आँखों से घूरने लगा। अगल-बग़ल खड़े पेड़ आवाज़ कर रहे थे, जैसे उन छायाओं की रक्षा के लिए याचना कर रहे हों। इस से उस ने अपने को निर्मम बनाया। उसे अनुभव हुआ, वह अपरिमित शक्तिवान हो गया है! ख़ूनी आँखों से वह उन छायाओं को देखने लगा। उस ने तय किया कि अन्ततः वह उन्हें रौंद कर ही दम लेगा!

उस ने पलट कर देखा—कहीं कोई नहीं था। फिर उस ने ग़ौर से देखा—सन्नाटा, वीरानी, सड़क, पुल और नदी! उस ने अपने को सुरक्षित जगह में खड़ा पाया और सीना तान कर, गरदन ऊँची-ऊँची कर के, आँखें इधर-उधर और सब तरफ़ दौड़ा कर—हरेक की सत्ता को नकारने के अन्दाज़ से अन्त में चाँद को देखा। चाँद पहले की ही तरह बाँहें पसारे हुए था। उस ने अपने को साहसी, शक्तिशाली पाया। उस के भीतर राजन को इसी क्षण रौंद कर रख देने की इच्छा ठाँठे मारने लगी।

छायाएँ उस से आठ-दस क़दम के फ़ासले पर थीं। उस ने उन्हें घूर कर देखा, फिर एक लम्बी हुँकारी भरी—और उछल कर छायाओं पर जा खड़ा हुआ। लेकिन उसे लगा कि वह नहीं उछला है, छायाएँ ही उछल कर उस के सिर पर सवार हो गयी हैं!

वह असमंजस में पड़ गया। उस ने अपने सिर पर हाथ रखा, तो पाया कि छायाएँ हाथ पर आ बैठी हैं। उस ने झटके के साथ हाथ नीचे कर लिया। इस से लगा कि छायाएँ भी नीचे आ गयी हैं! उस ने नीचे देखा, तो वहाँ भी छायाएँ ही थीं! उस ने भीतर देखा, वहाँ भी छायाएँ! उस ने अपने अंग-अंग को देखा और अंग-अंग में छायाएँ! उस ने चाँद को देखा—ग़ौर से, अनझिप आँखों से देखा, तो उस पर भी छायाएँ-ही-छायाएँ! वह देखता रहा, देखता ही रहा''देखता ही जा रहा था कि अनायास पाया''''कि कोई हाथी पुल पार कर रहा है—मतवाला हाथी! मदमाता हाथी! उस की ओर लपक रहा है—उसे लम्बवत् चीर कर रख देने के लिए'''अपने सूँड़ से उठा कर नदी में फेंक देने के लिए'''ख़ूनी नदी! ख़ून की नदी!'''इस के पहले कि हाथी चिंघाड़ता,

[शेष पृष्ठ १५१ पर]
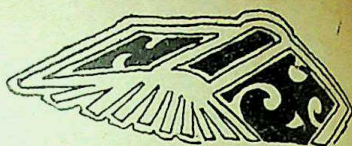
साहित्य चिन्तन

लोकायतन का पूर्व पक्ष

विश्वम्भर 'मानव'

श्री सुमित्रानन्दन पन्त का युग गीतों का युग था; लेकिन प्रारम्भ से ही उन का क्षेत्र और दृष्टिकोण कुछ अधिक व्यापक रहे। उन्होंने आत्म-प्रधान प्रगीतों के साथ लम्बी वर्णनात्मक कविताएँ भी लिखीं और बीस वर्ष की अल्प अवस्था में ही एक खण्ड-काव्य की रचना की। आकाशवाणी से सम्बद्ध होने के उपरान्त उन्होंने अनेक काव्य-रूपकों का प्रणयन किया। इस प्रकार भावना के साथ विचार प्रारम्भ से ही उन के काव्य का सहयोगी अंग रहा और तीन-चार काव्य-ग्रन्थों के उपरान्त ही उन का झुकाव छायावाद से प्रगतिवाद की ओर हुआ, जिस में वे व्यक्तिगत सुख-दु:ख से ऊपर उठ कर समाज-कल्याण की ओर मुड़े। धीरे-धीरे चिन्तन उन में बढ़ता गया और देश के स्वतन्त्र होते ही वे अरविन्द-दर्शन से प्रभावित हुए। यह चेतनावाद पिछले बीस वर्ष से उन के काव्य को निरन्तर आच्छादित किये हुए है। उन के पचास वर्ष की काव्य-साधना में कुल मिला कर तीन विशेषताएँ उभर कर आयीं—१. आत्म-परकता, २. वर्णनात्मकता, और ३. चिन्तन की प्रमुखता। अपने युग का प्रतिनिधित्व करने की आकांक्षा उन में प्रारम्भ से ही रही है। इसी से वे समय के साथ बदलते चले गये हैं। उन की रचनाओं पर रवीन्द्र-गान्धी-मार्क्स-फ़ायड-अरविन्द की विचारधाराओं का गहरा प्रभाव पाया जाता है।

लेकिन यह प्रगीतों का ही नहीं, प्रबन्ध-काव्यों का भी युग रहा है। इसी युग में प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, एकलव्य, उषा और नूरजहां जैसे प्रबन्ध-काव्यों की धूम मची। अतः कुछ तो अपनी बिखरी शक्तियों को एक स्थान पर नियोजित कर के रखने और कुछ महाकाव्यकारों की पंक्ति में आने की स्वाभाविक आकांक्षा ने उन से एक वृहदाकार काव्य की रचना करायी। इस का नाम उन्होंने रखा—'लोकायतन'। 'लोकायतन' को पन्त जी की अभी तक की काव्य-साधना का चरम-बिन्दु समझना चाहिए। उसे समझना, उन्हें और उन के पूरे काव्य को समझना है।

'लोकायतन' एक व्यक्ति की, एक गाँव की, एक देश को, एक युग की गाथा है। यह व्यक्ति एक कवि है जो पहाड़ी प्रदेश से आ कर सुन्दरपुर नाम के एक गाँव में बस जाता है और वहीं से संसार की स्थिति पर विचार करता है। वहाँ वह एक कला-केन्द्र की स्थापना करता है जिस के माध्यम से वह अपने देश में वैचारिक क्रान्ति करने की बात सोचता है। अतः इस में एक ओर सुन्दरपुर की कथा है जिस के प्रमुख पात्र हैं—वंशी, हरि, शंकर, श्री, प्रीति, माधो गुरु और वाग्विलास आदि। सुन्दरपुर के नष्ट होने पर यह कला-केन्द्र जब पहाड़ी प्रदेश में चला जाता है, तो मेरी नाम की एक विदेशी महिला, जिस का दूसरा नाम संयुक्ता है, प्रमुखता ग्रहण करती है। वहाँ प्राचीन कला-केन्द्र के निकट पायी गयी एक जारज सन्तान अतुल का भी थोड़ा उल्लेख पाया जाता है। कथानक के बीच में 'मुक्ति-यज्ञ' और 'आत्म-दान' शीर्षकों से पन्त जी ने भारतीय राजनीतिक मंच पर महात्मा जी के अवतरण से ले कर उन की हत्या तक, स्वाधीनता-संग्राम की प्रमुख घटनाओं का विवरण प्रस्तुत किया है। महात्मा गान्धी को काव्य-मंच पर आवश्यकता से अधिक स्थान देने के कारण कवि वंशी का व्यक्तित्व काफ़ी दब गया है और वह ठीक से उभर नहीं पाया। संयुक्ता के व्यक्तित्व का निर्माण जिस रूप में कवि ने किया है वह भी बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है। लेकिन उसे एकदम अन्त की ओर लाना ठीक नहीं हुआ। इस से वह एक आरोपित पात्र-सी लगती है। इस महाकाव्य का नायक तो निश्चित-रूप से कवि वंशी ही है; पर महात्मा गान्धी और संयुक्ता के व्यक्तित्व की रूप रेखाओं में कुछ ऐसे रंग भरे गये हैं कि वे कवि के प्रभा-मण्डल के एक बहुत बड़े आलोक-वृत्त को चुरा ले गये हैं। 'लोकायतन' निश्चित रूप से युग-गाथा है; पर कथानक के गठन की दृष्टि से वह एक दुर्बल कृति है।

'लोकायतन' एक चिन्तन-प्रधान रचना है। यह चिन्तन बाहरी घटनाओं, अध्ययन और अन्तःकरण के संस्कार सभी से प्रभावित है। इस ग्रन्थ में स्वतन्त्रता से पूर्व की देश की दशा का वर्णन है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति का भी और स्वतन्त्र भारत का भी। पराधीनता-काल में तो मनुष्य सभी प्रकार के अपमान और अत्याचार सहन करने के लिए बाध्य था ही, स्वतन्त्र भारत में भी कवि देखता है कि चौदह वर्ष व्यतीत होने पर भी कोई अन्तर नहीं

आया है। देश में मँहगाई और अनाचार का बोलबाला है। विदेशों के ऋण का भारी बोझ हमारे सिर पर है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने पर भी उसे उस के गौरवपूर्ण पद से वंचित किया जा रहा है। चारों ओर चारित्रिक अधःपतन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इस के पूर्व ही वह द्वितीय विश्व-युद्ध के नर-संहार, अँगरेजों के दमन-चक्र, देश के विभाजन और महात्मा गान्धी की हत्या पर क्षुब्ध हो चुका है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के बाह्य जीवन में उसे ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं देता, जहाँ उस को आत्मा सुख, और शान्ति का अनुभव कर सके।

अतीत के सम्बन्ध में जब वह चिन्तन करता है तो पाता है कि हमारे देश में शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, तुलसी और कबीर जैसे दार्शनिकों, समाज-सुधारकों, धर्मविदों और कवियों के होते हुए भी मानवीय चेतना में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। मध्य युग पर वह विशेष रूप से कुपित है। एक स्थान पर वह झुँझला कर पूछता है : "आखिर ये पीढ़ियाँ अब तक क्या करती रहीं ?"

ग्रन्थों में कामायनी के जीवन-दर्शन पर उस ने आपत्ति उठायी है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने कामायनी का जो अन्त किया है, वह पन्त जी को त्रुटिपूर्ण लगता है। उन की आपत्ति है कि श्रद्धा और मनु पर्वत पर बैठे निष्क्रिय जीवन बिता रहे हैं। धरती को सक्रियता की आवश्यकता है। इस दृष्टि से हम चाहें तो 'लोकायतन' को 'कामायनी' के आगे की कथा कह सकते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक चिन्तन, युग-चिन्तन और काव्य-चिन्तन सभी से कवि के मन में एक प्रकार की निराशा का जन्म होता है। यह निराशा उस के हृदय को निरन्तर आन्दोलित करती रहती है। उसी हृदय-मन्थन का परिणाम है यह महा-गाथा। इस प्रकार 'लोकायतन' को लोक की गम्भीर वेदना से उद्भूत एक संवेदनशील कवि का मंगल-सन्देश कह सकते हैं। 'लोकायतन' संसार की व्यापक व्यथा से प्रेरित बीसवीं शताब्दी के एक चिन्तन-शील कवि के हृदय-मन्थन का शुभ्र नवनीत है।

पन्त जी एक स्वप्न देखते हैं :

वे वैदेही जो कभी पृथ्वी में समा गयी थीं, कवि की कल्पना में उदित होती हैं। वाल्मीकि का यह निर्णय भी उसे अपूर्ण लगता है। आज मनुष्य के उपचेतन को चीर कर सीता को धरती पर आना होगा। धीरे-धीरे वाल्मीकि, राम, लक्ष्मण, ऊर्मिला, शिव, उमा, पृथ्वी आदि आ उपस्थित होते हैं।

राम अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हैं कि भविष्य में धरती पर नये स्वर्ग का उदय होगा। यह परिवर्तन एक प्रकार से प्रारम्भ हो गया है। ऊर्मिला इस बात से दुःखी है कि भू-जीवन और भगवत्-जीवन के बीच न जाने कब से एक दीवार खड़ी है। लक्ष्मण देखते हैं कि अपने जीवन-काल में व्यक्ति को उन्होंने जहाँ छोड़ा था, वह वहीं है; अतः वे कामना करते हैं कि प्राचीन कृषि-संस्कृति के स्थान

पर अब एक नयी संस्कृति की स्थापना हो और भू-जीवन स्वर्ग बने। धरती सीता को समझाते हुए कहती है : अब तक के तत्त्वविदों, दार्शनिकों, धार्मिकों और बुद्धिजीवियों सभी के द्वारा प्रचारित मूल्य अपूर्ण हैं। संसार में क्रान्ति मची हुई है। विरोधी शिविरों में संघर्ष चल रहा है। अतः शान्ति की स्थापना होनी चाहिए, जिस से एक नये कल्प का जन्म हो। वाल्मीकि चिन्तित हैं कि धरा-चेतना फिर कहीं पाताल में प्रवेश न कर जाये। अतः वे प्रार्थना करते हैं कि यदि जानकी की आज्ञा हो, तो वे पृथ्वी पर जन्म ले कर मानव-जाति को एक नया सन्देश दें। इस के लिए वैदेही की आज्ञा प्राप्त होती है। सहसा वाल्मीकि के सामने पृथ्वी की महिमा प्रत्यक्ष होती है और वे भाव-मग्न हो उठते हैं। गौरी उन्हें आशीर्वाद देती हैं कि सृष्टि के भावी जीवन-मंगल के लिए उन का स्वप्न सत्य हो। उन का विचार है कि मनुष्य को असत् वृत्तियों का विनाश कर प्रीति के प्रचार-द्वारा मानवता की प्रतिष्ठा करनी है। वे कवि को मंगल-घट सौंप कर उन्हें अपना कर्त्तव्य करने को कहती हैं और उसकी पूर्त्ति के लिए आशीर्वाद देती हैं। सीता से बातचीत करती हुई वे ऐसी इच्छा प्रकट करती हैं कि मुनि लक्ष्मण और ऊर्मिला पृथ्वी पर जन्म ले कर रचना-मंगल में भाग लें। इस के उपरान्त पन्त जी का वह स्वप्न तिरोहित हो जाता है, और वे देखते हैं कि कहीं कुछ नहीं है।

'लोकायतन' की इस भूमिका से यह सिद्ध होता है कि आज तक जो चिन्तन हुआ है, वह सब अपूर्ण है। पन्त जी वाल्मीकि के अवतार हैं जो उन के काम को पूरा करने के लिए आये हैं और वंशी कवि के रूप में अवतरित हुए हैं। लक्ष्मण सम्भवतः कवि का मित्र हरि है। हरि क्योंकि अविवाहित रहा है; अतः ऊर्मिला का पता लगाना कठिन है। शायद वह संयुक्ता है।

सृष्टि के आदि काल से ले कर जो चिन्तन आज तक हुआ है, वह अधूरा और दोषपूर्ण है और अब जो बात कही जा रही है वह पूर्ण और निर्दोष है, यह दावा किसी भी एक व्यक्ति के लिए बहुत बड़ा दावा है। किसी समय पन्त जी के विचार-जगत् का विश्लेषण कर के हम देखेंगे कि उन का यह दावा कहाँ तक ठीक है।

कुछ भी हो, इस स्थापना से इतना तो स्पष्ट ही है कि 'लोकायतन' विचारों का महाकाव्य है। ■ ■

[अस्तित्व की छायाएँ : पृष्ठ १४७ का शेषांश]

उस के मुँह से एक ज़ोर की चिंघाड़ निकल गयी—और वह दुर्घटना के शिकार हवाई जहाज की तरह आवाज निकालता हुआ छायाओं पर गिर पड़ा—और इस के बावजूद छायाएँ उस पर सवार हो गयीं! ■ ■

सा | हि | त्या | र्च | न

कोने में रखा हुआ वाद्य / श्रीराम वर्मा
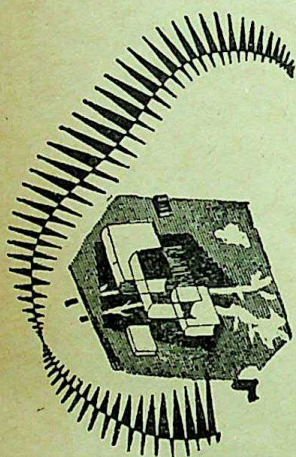
प्रत्येक रचनाकार का, यदि वह सचमुच रचनाकार है, अपना अलग शास्त्र होता है। उसे उस की भाषा से जाना जा सकता है। क्यों कि वह ज्ञात है। इस ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना चाहें तो उस की समग्र प्रक्रिया की मास्तिष्कीय, नृतत्त्वीय व्याख्या भी की जा सकती है। समग्र ज्ञान में उसे परखा जा सकता है। और यह भी देखा जा सकता है कि रचनाकार इतिहास के दबाव से बरी है या नहीं, परम्परा के बोझ से मुक्त है या नहीं। मूल्य उस के लिए बोध है या मात्र बाधा, या उस ने नये मूल्य दे कर हमें कृतार्थ किया है। उस ने रंग, रेखा या शब्द की भीड़ लगायी है या उन्हें जीवन दिया है।

इस लिए उचित होगा कि, चूँकि हम एक कथाकार—श्री नरेश मेहता—को जानना चाहते हैं, उन के नये (विकास प्राप्त) कथा-संग्रह 'एक समर्पित महिला' की भाषा से जानें। हम पाते हैं कि शब्दों को कालिक सन्दर्भों में उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। 'हत्या', पाप', 'अमानवीय या असामाजिक कृत्य' काल के विकास के द्योतक हैं और उन में निहित अर्थ भी विकसित होते गये हैं। अर्थ-परम्परा को ढूँढ़ने की यह कोशिश काल के नैरन्तर्य को (लेखक की ओर से) पहचानने की अमित जिज्ञासा का भी इशारा करती है। दूसरी प्रवृत्ति है मित कथन की : कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ भरने की। और इस के लिए कुछ प्रयोग किये गये हैं। संज्ञा को क्रिया में रूपान्तरित कर दिया गया है, नामधातु बना लिया गया है, या इतच् प्रत्यय लगा कर बहुत कुछ को संक्षिप्त से सघन कर लिया गया है। जो 'अन्ततोगत्वा' है, उसे हटा कर बंगला

के 'अगत्या' को ले कर उस का स्थानापन्न बना दिया गया है। (नरेश मेहता हिन्दी जैसी अश्लिष्ट भाषा को संस्कृत की तरह संश्लिष्ट बना देना चाहते हैं। भाषा की यह संश्लिष्टि उन की कलात्मक संक्षिप्ति एवं उन के व्यक्तित्व के संश्लेष का स्पष्ट प्रमाण है।)

समय का गणित, मित कथन और स-चेतनता जहाँ होगी, वहाँ कथ्य और अभि-व्यक्ति में अद्वितीयता अवश्य होगी। क्योंकि भिन्न और अद्वितीय होना ही वास्तविक होना है। लेकिन अद्वितीय होने में जोखम भी है। हो सकता है, समग्र धारा से फेंक दिया जाये और अपनी ही प्रभा से अभिषेक करने की विवशता स्वीकार करनी पड़े। इतना धैर्य न हो कि इस विपुला पृथ्वी पर कभी कोई समानधर्मा उत्पन्न होगा, तब हो सकता है कि जोखम को छोड़ दिया जाये और धारा में ही बहा जाये, गुरुत्वाकर्षण से बंधा उपग्रह हो कर रह जाया जाये और व्यक्तित्व को परे रख दिया जाये, इसे समाप्त या प्रारम्भ ही न होने दिया जाये। पर इस संग्रह में बचाव की स्थिति नहीं है, खोज की ही है। चाहे यह खोज किसी महत् सहज की प्राप्ति हो या कुछ और अन्यतम की। यह अवश्य है कि यह खोज प्रयोजनविहीन नहीं है, स्वयंसाध्य हो कर भी नहीं है। कहानियाँ इस का प्रमाण हैं।

नरेश मेहता ने अद्वितीय होने का जोखम उठाया है और इसीलिए वे धारा से अलग भी हैं। 'भूमिका' में उन्होंने धारा से फेंक दिये जाने का ऐतिहासिक दर्द भी व्यक्त किया है, कथ्य और अभिव्यक्ति में वे अद्वितीयता की खोज में कहीं-कहीं आरोपित या अतिरिक्त हो कर रह गये हैं जो कम स्थानों पर हो कर भी ध्यान अवश्य आकर्षित करता है। वैसे अभिव्यक्ति में जब भी नवीनता की चेतना रहती है, तब कभी-कभी यह हो जाना अप्रत्याशित नहीं है, अस्वाभाविक या चिन्त्य अवश्य है।

भाषा की दृष्टि से इन कहानियों में यह भी स्पष्ट होता है कि कथा में बार-बार जिस कथ्य को लिया जाता रहा है, मनोवैज्ञानिक और चित्र-कल्पन की बारीकियों से जिसे पर्याप्त सजाया जाता रहा है, उसे एक नयी पगडण्डी दे दी गयी है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, चित्र-कल्पन की दृष्टि से भी और इस में सब से बड़ा कारण भाषिक संरचना या वाक्य संघटना है। इस ढंग से देख लिये जाने पर यह सत्य उजागर होता जाता है कि नरेश मेहता परम्परा को छोड़ नहीं देते, उसे मोड़ देते हैं, सँवार देते हैं; जोड़ते हैं, तोड़ते नहीं। यह सही है कि वे परम्परा में जीते नहीं, अतीत नहीं होते; मात्र होने का, सम्पूर्ण काल में होने का एहसास करते हैं। इसी होने के एहसास को वे कभी रेखाओं में बाँधते हैं, कभी मूर्तियों में तराशते हैं, कभी चित्र में—परिपूर्ण चित्र में—पेश करते हैं; और यह कर सकने के लिए वे उतना ही विवरण चुनते हैं, जितना नितान्त आवश्यक हो। कहीं भी विवरण अनार्थिक या व्यंजना-विहीन नहीं है। वह गति देता है, अमूर्त को

मूर्त करता है, सूक्ष्मताओं से बिद्ध करता है।

नरेश मेहता भाषा की इकाई शब्द के प्रति ही सचेत नहीं है, शब्द के अक्षर-अक्षर के प्रति सचेत हैं। इसीलिए शब्द और शब्द के बीच, शब्द के अक्षरों के बीच अन्तराल अँधेरे में स्मिति मात्र से खिली आँख की तरह चमकता रहता है। 'वह प्यारा-सा हँस दी।' एक वाक्य लें। अकर्मक क्रिया का सकर्मक जैसा प्रयोग-भ्रम यहाँ होता है। प्यारा-सा हँसना भी पर्याप्त नहीं लगता। विशेषण और क्रिया के बीच जैसे अनाघ्रात संज्ञा है, जो शिरा-शिरा में गन्ध की तरह व्याप्त होती जाती है, पर वह अमूर्त है, उसे नाम नहीं दिया जा सकता। वह अन्तराल में है। शब्द और शब्द के बीच का यह अन्तराल व्यंजना को गति देता है। इसी प्रकार एक शब्द लें 'मुँहधेरे' जो 'मुँहअँधेरे' के रूप में प्रचलित है। 'कानन आयी थी मुँहधेरे में।' इस शब्द में 'अ' का न दीखना अँधेरे के होने का आभास देता है और शब्द में राख और केसर के रंग भरता है। राख के रंग का अँधेरा सुबह के आते केसरिया होता जाता है। इसी बीच 'मुँहधेरे' चीनी चित्रों से ज़्यादा सार्थकता पा लेता है।

अन्तराल में सौन्दर्य की खोज के अतिरिक्त विशेषणों से अधिक से अधिक कह डालने की कोशिश की गयी है। ये विशेषण सुपरिचित विशेष्यों के साथ नहीं हैं यहाँ, विशेष्य और विशेषण प्रायः स्थानान्तरित हैं। इसी प्रकार क्रियाएँ भी कहीं-कहीं अपरिचित का बोध कराती हैं क्यों कि वे असम्भावित कारकों के साथ असम्भावित तरीक़े से जुड़ती हैं। इन विशेषणों और क्रियाओं से पुस्तक भरी हुई है। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। उन से स्वयं 'कटि के निकट मेखलायित मछलियों' की तरह घिरा जा सकता है, उन से स्वयं खिंचा जा सकता है। शब्दों के प्रति यह सजगता कुछ इतनी है कि भाषा चौंकाती है, रोकती है, उस में गति है, पर उस गति में वीचि-विलास है, तीव्र बहाव है, क्षिप्रता नहीं, नयापन से ज़्यादा नवता है।

कथन की संक्षिप्ति में चूँकि क्रियाशील गति है, इस लिए क्रिया और संज्ञा में प्रत्यय-सम्बन्ध है। यह संक्षिप्ति ही प्रमुख कारण है कि नरेश मेहता संस्कृत भाषा की निकटता दिखा कर भी महादेवी की तरह व्यंजना को विस्तार नहीं देते, और न कथ्य को अलंकार बहुल करते हैं, बल्कि संक्षिप्ति से व्यंजना का परिविस्तृत क्षितिज उद्घाटित करते हैं और कथ्य को अलंकृत नहीं करते, वह स्वयं अलंकृत हो जाता है क्योंकि वह स्वभावज है, कथ्य का सहोदर नहीं, कथ्य का अंग।

उन का यह गद्य अतीत से समृद्ध होता है। वह काव्यमय व्याख्यान है, जिस में बौद्धिक अनुभूति का संभ्रम होता है, लेकिन बौद्धिक अनुभूति की परिपूर्णता नहीं, संभ्रम या उस से शायद कुछ ज़्यादा। अतीत से समृद्ध होना न परोपजीवी होना है, न अतीत होना बल्कि उस से भिन्न होना है। यह समृद्धि वर्तमान तक खिंचा हुआ, तना हुआ, अतीत का हर बार छँटता-बचता नया होता निःशेष है, नैरन्तर्य है। चाहे वह बंगला में हो, चाहे

वेद, उपनिषद् या संस्कृत के समृद्ध काव्य में । यही नहीं, अन्य भाषाओं में जीवित ललित और निष्कलुष रुचिर व्यंजना में भी । लेकिन यह समृद्धि अपना आख्यान नहीं करती, व्यंजित होती है । अतः संक्षिप्ति में उजागर होती है, छोटे से काँच में ताज का सौन्दर्य बिम्बित करती है । इसी लिए उन की भाषा जटिल और ग्रंथिल नहीं है, लघु अनुच्छेदित, वाक्य संघटना में सहज संक्षिप्त यह भाषा इसी लिए चौंकती है । यह चौंक अस्तित्व की वर्तमानता की उद्भावक है । पर यह भाषा अज्ञेय के निकट हो कर भी गहन-गम्भीर नहीं, हम फिर कहेंगे वीचि-प्रदर्शन करती 'मेघदूत' वाली छरहरी नदी की तरह है । शायद ऐसी भाषा में गहराई व्यंजना में होती है, स्पष्ट दीखती नहीं, इसलिए भी कि वह शुद्ध तर्क-भाषा नहीं, काव्य भाषा है ।

निर्मल वर्मा में पीपरमेण्ट की जो घुलनशीलता है और अपनी अनुभूति से हर स्थान को पकड़ कर हवा की तरह व्याप्त कर देने की जो क्षमता है, अपरिचित दूरस्थ के गुण से सगुण होने का जो आस्वाद है, वह नरेश मेहता में नहीं है । लेकिन चरित्र और परिवेश और उन्हीं के शब्दों में 'दृष्टान्त' को पूरी तौर पर जैसे का तैसा पहचनवा सकने का सामर्थ्य है और वह उन के भाषा-व्यक्तित्व से प्राप्त हो जाता है । नरेश की भाषा में व्यंजित होती 'तथता' निर्मल के 'सगुण' से महत्तर है । इसलिए भी कि वह आंचलिक नहीं होने देती, बृहत्तर होने देती है । नरेश की भाषा स्थिति की गति है, रामकुमार की गति की स्थिति की । इसीलिए नरेश में तन्मयत्व है, रामकुमार में स्मृतिजन्य अवसाद । और इसीलिए दोनों में भारी अन्तर है । नरेश स्थिति की चित्र-सरणियाँ प्रस्तुत करते हैं । रामकुमार चित्रों की स्मृतियाँ देते हैं । नरेश की भाषा रेलिंग पकड़ कर उतरती है, मुक्त होती हुई, रामकुमार की भाषा रेलिंग पकड़ कर अपने में खोती जाती है । नरेश की भाषा में मुक्ति की स्थितियाँ हैं, यात्रा है, रामकुमार में यात्रा की मुक्ति है, यात्रा की स्थितियाँ हैं । नरेश मेहता की भाषा जैनेन्द्र की तर्काश्रयी भाषा से भिन्न है । क्योंकि वह चित्रकल्पी भाषा है । उस में शब्द चित्रकार के स्ट्रोक्स और रंगों-रेखाओं का समाहार करते चलते हैं । इसीलिए वह स्पष्ट और मित है । जैनेन्द्र की भाषा में काव्य केवल दार्शनिक मुद्रा लेता है, नरेश की भाषा में काव्य मुद्रा, कोई भी मुद्रा नहीं लेता, वह रंग, रेखा, चिन्तन-स्मृति, सब का एकान्वयन कर लेता है । नरेश की भाषा स्पष्ट है, अन्य सभी नये-पुराने लेखकों से भिन्न और अद्वितीय है ।

अतीत से वर्तमान तक खिंचे हुए, मँजते रहते, शुद्ध होते नैरन्तर्य को नरेश 'द्विजत्व' कहते हैं । शायद, यह एक शब्द, केवल एक शब्द उन की समग्र कला-चेतना का वैसे ही पूर्ण व्याख्यान कर देता है जैसे पहले दौंगरे की पहली बूँद पार्वती के समग्र सौन्दर्य को त्वरित गति से व्यंजित कर सकी है । यह 'द्विजत्व' वर्ग से थोड़ा ऊपर उठने, दैहिक से थोड़ा उस के पार होने, भौतिक से अतिभौतिक

होने, वस्तु से वस्तुता तक देखने, अनुभव करने की पुलक का संकेत है; पर इस में छल-छलाता हुआ नयापन नहीं है, शान्तगति नवता है, अतीत की गन्ध में, स्मृति की प्रत्यभिज्ञा में डूबा हुआ अभिनव। वस्तुपरक उतना नहीं, जितना दृष्टिबिद्ध।

भाषा के प्रति नरेश पवित्रतावादी नहीं हैं, पर उस की गन्ध उस में सुरक्षित है। इसीलिए कि स्मृति प्रत्यभिज्ञा से सम्बद्ध है; अभिनव में अतीत पावनता की तरह आ जाता है। यह अतीत केवल संस्कृत का ही नहीं है, अँगरेज़ी का भी है, लोक भाषाओं का भी है। इस अतीत के तीन कोण हैं। लोकभाषा के शब्द जहाँ आते हैं, नरेश उन्हें उन के अंचल से उबार लेते हैं और उन में कुछ जोड़ भी देते हैं, उन्हें भिन्न और नये सार्थक अर्थों-तक ले जाते हैं, उन का 'मनसायनहीनता' ऐसा ही गढ़ा हुआ शब्द है। अंगरेज़ी का प्रयोग परिवेश की व्यंजना या चरित्र पर व्यंग्य के लिए प्रयुक्त है। इन अँगरेज़ी शब्दों में भी सौन्दर्य और नवता की खोज अवश्य है, जिसे अँगरेज़ीदाँ समझ सकता है। पहली ही कहानी में शीला का 'शेला' रूप इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। कई जगह ऐसे अँगरेज़ी शब्दों को स्थानान्तरित इस तरह किया गया है कि नयी अर्थ-सृष्टि हो गयी है। संस्कृत शब्दों को भरसक नयी अर्थवत्ता तो दी ही गयी है, उन्हें पूर्व प्रयोगों से भी छिनगाया गया है। ऐसे शब्द बहुत हैं और पूरे संग्रह में देखे जा सकते हैं। इन संस्कृत शब्दों में अन्य भाषा के शब्द जोड़ कर जो वर्णसंकर बनाया गया है, वह भी सार्थक है। इस तरह के शब्दों में 'हिमाँधियाँ' एक ऐसा ही सार्थक प्रयोग है।

कथोपकथनों में नरेश मेहता पात्रानुसार भाषा का प्रयोग करते हैं और यह भी ध्यान रखते हैं कि पात्र-कथन सर्वथा सटीक, चुना हुआ और चमकदार हो। लेकिन वे कथन आवश्यक नहीं कि हिन्दी में ही हों, दूसरी भाषा में उस के परिवेश और उस की छवि-मयता के साथ आते हैं। इतर भाषा जहाँ नहीं है, वहाँ पात्र और लेखक की भाषा एक सी है। शायद यह भाषा में निहित गरिमा और लेखक के मानस और पात्रों के मानस की समानता या समान ऊँचाई के कारण है। निश्चय ही वह अस्वाभाविक नहीं लगता या आवश्यक विभेद की माँग करता नहीं लगता। कहीं-कहीं उर्दू या अरबी-फ़ारसी के प्रचलित विरल शब्द ध्यान आकर्षित नहीं करते। उन के उपयोग में कोई प्रयोग नहीं है, कोई नयी कौंध नहीं है, शायद इसलिए।

यह सम्पूर्ण भाषा प्रचलित गद्य से भिन्न और आकर्षक है। कविता में जो शब्द आज अप्रयोज्य हैं, वे अपनी उपस्थिति से इस भाषा में कौंध उत्पन्न करते हैं और उन से छायावाद से ले कर प्रयोगवाद के समय तक की गन्ध आती है। देश की ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह समय द्रष्टव्य है। लेकिन उस इतिहास का भरपूर मानचित्र यह भाषा उपस्थित नहीं करती, क्योंकि दृष्टि में चयनधर्मिता है, अद्वितीय चरित्र, अपरिचित मानस, द्वीपस्थ संसार को पकड़ने की कोशिश है। निश्चय ही ये

चरित्र, ये मानस, यह संसार उसी इतिहास की देन हैं। लेकिन उन्हें इस तरह अंकित अवश्य किया गया है कि वे उसी समय में जीवन नहीं पाते, उन का जीवन उस काल से उठ भी जाता है। अच्छे और सच्चे कलाकार सच्चाइयों को सत्य की तरह, सामयिक को शाश्वत की तरह पेश करने में अक्षर सुख प्राप्त करते हैं और यही स्थिति इन कथाओं में भी मिलती है। इन कहानियों में प्रायः सूत्र से दिख जाते वाक्य हैं, एक सच्चाई को प्रायः सत्य को तरह उपस्थित करने वाले वाक्य, व्यक्तिगत अनुभव को सामान्य या सर्वानुभव की तरह प्रस्तुत करने वाले वाक्य इस के प्रमाण हैं।

इस भाषा में प्रतीकन और बिम्बन के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि वे आज की भाषा से कदाचित् दूरस्थ प्रयोग हैं। लेकिन नरेश मेहता अपनी प्रक्रिया में हो कहीं आग्रही और उस प्रक्रिया में स्वयं बनते हुए अपने विधान के प्रति विश्वस्त तथा आश्वस्त भी हैं, इसलिए प्रतीकन और बिम्बन उन की भाषा के अप्रयत्न स्वभाव हो गये हैं और यही कारण है कि उनकी भाषा की 'सौभाग्यचारुता सम्मोहक है, उबाऊ नहीं, प्रतीक और बिम्ब हर बार बेहद नये, चित्रकल्पी और नाद युक्त व्यंजना से ओतप्रोत लगते हैं। सब से बड़ी बात यह कि ऐसा गद्य रूपक-कुंठित नहीं हुआ है, जब कि ऐसी भाषा में यह खतरा बहुत ज्यादा रहता है।

उन में शब्द की गहरी और इतनी चेतना है कि वे समग्र चरित्र की पूरी परिचिति एक शब्द से करा सकने में समर्थ हैं। 'वह सांस्कृतिक जगत् की लोकोक्ति हैं' शैला के लिए यह वाक्य इस दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'लोकोक्ति' में सामान्य प्रचलित परिचिति है, पूरा व्यक्तित्व अपने वैशिष्टच से संस्कृति और उस के परिवेश का जैसे एक नाम हो गया है। इस एक शब्द से ही वे सन्तुष्ट नहीं होते, क्योंकि व्यक्तित्व के पूरे त्रिपार्श्व को दिखाना उद्देश्य है। 'लोकोक्ति' से सहज सामान्य ग्रहण होता है, तब वे उसे ठोस और गंभीर सिद्ध करने के लिए 'प्रतीक' शब्द से और व्यक्तित्व और कलामयता के अन्योन्याश्रयत्व के लिए 'पर्याय' शब्द से सिद्ध करते हैं। ये तीन शब्द शैला के समस्त को जहाँ व्यंजित करते हैं, वहीं कहीं एक चौथी बात, चतुर्थ आयाम भी पेश करते हैं, इतने कोणों से पूरे व्यक्तित्व पर एक गहरा और सूक्ष्म व्यंग्य।

शब्द से शब्द की इस यात्रा में कभी-कभी नरेश नये मुहावरे जैसे वाक्य भी रचते हैं। और ऐसा तभी वे करते हैं, जब दीखता हुआ सौन्दर्य विशिष्ट क्षण में नितान्त पूर्ण नज़र आता है। 'चमकते द्रव्य में दाँत भी चमक उठते हैं।' और 'उनके मुँह में तारे भर उठे।' कुछ ऐसे ही वाक्य हैं। एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द, एक-एक वाक्य, एक-एक अनुच्छेद कुछ इतना सधा हुआ लगता है कि प्रूफ़ की एक भी भूल पर उफ करना पड़ता है और जहाँ थकान या असावधानी के कारण संक्षिप्ति नहीं है, अनावश्यक विस्तार है, वहाँ खीझ होती है। और ऐसे स्थल इन

कहानियों में कहीं न कहीं, चाहे जितने कम हों, हैं अवश्य।

इन कहानियों में प्रकृति का उपयोग मनःस्थितियों के प्रतीकन, आन्तरिक उद्वेगों या संवेदनाओं के बिम्बन के लिए, चरित्रों के नादयुक्त संमूर्तन के लिए और अन्ततः कथ्य को, चरित्र को, उस के समय को, उस की समग्र इयत्ता के साथ परिवेश में प्रस्तुत कर देने के लिए किया गया है। कहीं-कहीं प्रकृति के स्थान पर यथार्थ की सम्भावनाओं को अधिक प्रमाणित और सत्य सिद्ध करने के लिए मिथक की तरह व्यक्ति और वस्तु का प्रयोग किया गया है, जो वस्तुतः सामयिक संसार में या हमारे निकटस्थ-दूरस्थ अतीत में या स्मृति में हैं और विशिष्ट हैं, उन का अनूठे तौर से उल्लेख किया गया है। 'एक समर्पित महिला' में दिल्ली के चित्रकारों की चर्चा, 'श्रीमती मास्टन' के कमरे में रखे चित्र, कैलेण्डर और वस्तुओं की चर्चा और 'एक शीर्षकहीन स्थिति' में चीज़ों का विशिष्ट ढंग से उल्लेख इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं।

समय और स्थान, काल और देश की पकड़ कोई छोटी चीज नहीं है और उसे पकड़ना महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण लेखक काल और देश को अलग-अलग ढंग से पकड़ते हैं। नरेश मेहता में देश से ज्यादा काल को पकड़ने की कोशिश है। देश तो प्रायः उन का सार्थक विवरण बन जाता है। इन कहानियों में दिल्ली की गन्ध मिल सकती है निश्चय ही, 'एक इतिश्री' और 'एक समर्पित महिला' में तो तीव्रता के साथ, पर अन्य में इतनी छोटी सीमा देश की नहीं है। समय को पकड़ने के उन के कई तरीक़े हैं कहीं-कहीं दृश्य में घटित परिवर्तन से घड़ी का काम लिया गया है, कहीं-कहीं एक स्मिति मात्र से समय को चित्र की तरह स्थिर कर दिया गया है और कहीं-कहीं वस्तु से उसे देश में माप लिया गया है।

'गुलमोहर कब सुर्ख से कत्थई हुए इस का भी मुझे ज्ञान था। दूकानों के लाल-हरे नियोन अक्षरों वाले विज्ञापन कैसे उजलाने लगे थे, इसे मैं कनखियों से देखता जा रहा था।' (एक समर्पित महिला)

कभी-कभी एक क्षण को झंझावात की तरह सारे अतीत की उपस्थिति से झिझोड़ भी दिया गया है और चेतना की उद्वेगभरी स्थिति में वर्तमान को ज्वार या बाढ़ जैसा बना दिया गया है। एक घटना समय को देश में कितना घिघोर सकती है, इस का प्रमाण 'श्रीमती मास्टन' के पृष्ठ ४८ का बिलकुल शुरू का हिस्सा है। अन्य कहानियों में भी इस के प्रमाण निश्चय ही हैं, जहाँ समय को वस्तु, चरित्र, घटना, दृश्य और चेतना—इतने माध्यमों से पकड़ने की कोशिश की गयी है। समय की विशिष्टता इन कहानियों में विशेष उल्लेख्य है। समय अनुभूति से तरल द्रव्य हो गया है या रचनाकार ने समय के तरल में अनुभूति के कण डाल दिये हैं और द्रव कौंधा हो गया है, उजले कुहरे में उजली बलाका-पंक्ति जैसे विद्युत् हो जाय, कुछ इस प्रकार।

'एक शीर्षकहीन स्थिति' को छोड़ कर शेष सभी कहानियाँ एक दिशा में समानान्तर

है। शेष में अपेक्षित तटस्थता से अधिक तल्लीनता है। इसीलिए 'एक शीर्षकहीन स्थिति' की भाषा में नरेश की परिचित भाषा से अपेक्षित दूरी भी मिल जाती है। कहा जा सकता है, बल्कि कहना सम्भव है कि 'एक शीर्षकहीन स्थिति' उन की सभी कहानियों से अधिक मुक्त और अग्रिम स्थिति की द्योतक है। शेष में नरेश अपने आग्रह से भाषा को बाँधते भी हैं। निर्बन्ध स्थिति केवल 'एक शीर्षकहीन स्थिति' की ही भरसक हो सकी है।

इन कहानियों में कहीं न कहीं वह सूत्र व्यंजित-अव्यंजित रूप में सुरक्षित है, जो सामयिक को, प्रश्न को, कला-मूल्यों को इस प्रकार व्यक्त कर देता है कि उस के आस-पास, चारों ओर, सामने और पीछे पूरे कथ्य और चरित्र को परखा जा सके। वे सूत्र वस्तुतः ऐसी परखी हैं, जिन से सम्पूर्ण को थाहा जा सकता है—

'कनपटी के पास आँखों से निकलती झुर्रियों की जो वृत्ताकार रेखाएँ थीं, उन में कहीं कुटिलता आ गयी थी। कहीं यह कमज़ोरी का वह क्षण तो नहीं था जिस में एक मरती हुई पीढ़ी नयी पीढ़ी को अपना संचित विष धीरे से दे जाती है?'

यह अनुच्छेद एक परखी है, जिस से श्रीमती मास्टन को, अतीतजीवी को, पुरानी पीढ़ी को प्रस्तावकुल देखा जा सकता है और 'सम्बन्धहीन चाय' की तरह हुआ जा सकता है।

नरेश मेहता में एक गुण और है, जो प्रायः कहानियों में नहीं मिलता। अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनभिव्यक्ति की व्यंजना एकान्त में कुहरे लिपटी चाँदनी की तरह इन कहानियों में प्रायः होती रहती है। यह कहानी में कथानक से अलग या भिन्न आस्वाद्य कौतूहल की सृष्टि है। इस के लिए कई तरीक़े अपनाये गये हैं। 'एक समर्पित महिला' में एक पत्र है जो अन्त तक कौतूहल को सुरक्षित रखता है और कथ्य को बेहद नाटकीय बनाता है। जैसे महार्ह पात्र में बसन्त की एक जीवित पत्ती गिरे और सारी रिक्ति को सुषमित कर दे, कुछ इस प्रकार। 'श्रीमती मास्टन' में बकुल की उपस्थिति है जो मन्द गति से उन्हें निर्वन्ध करती है और उस की प्रेमिका की अचानक प्रस्तुति तो सारे रहस्य को, नाटकीय छल को निरावरण कर देती है। 'एक शीर्षकहीन स्थिति' में परिवेश के संगत विवरण मृत्यु के एकान्त तनाव को जहाँ तानते चलते हैं, वहाँ उस के साथ व्यर्थ की सज्जा और अननुकूल स्थितियाँ उस तनाव पर इस प्रकार व्यंग्य-प्रहार करती चलती हैं कि वस्तुओं और व्यक्तियों के बीच से बहता हुआ समय उन्हें शव सिद्ध करता चलता है। 'वर्षाभीगी' में भीगे वस्त्र सारे मौन को आलोकित कर देते हैं। 'एक इतिश्री' में वार्ता और सम्बन्धहीन चाय की उपस्थिति कौतूहल को क्रमशः बहाती और भीतर के तनाव को प्रायः जड़ता तक ले जा कर समाप्त करती है। 'अनबीता व्यतीत' में डॉक्टर द्रविड़ का ठंडा चैतन्य जिधर ले जाता है, चारु का उष्ण चला जाना सारी दिशा को नाटकीय बना देता है। हम पाते हैं कि डॉक्टर द्रविड़ जो अपनी शान्त चेतना में समय के नैरन्तर्य को अनामय जी रहे हैं, एक

विशिष्ट क्वथनांक पर केवल ठण्ढ नहीं रह गये हैं, जिधर से चारु आती है, अपनी कल्पना से उसे उसी प्रकार देख रहे हैं जैसे वह पहले आती रही है। यहाँ तक कि अन्ततः वे अपने और चारु के बीच एक ... हुए क्षण को पकड़ भी लेते हैं। उन की आँखों की ज़रा सी परेशानी से उत्पन्न खीझ जो शंख-वलय में कीड़े-सी झाँकती है, शायद सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। शंख की तरह वे ... घिरे क्षण को धीरे से बजा देते हैं।

नरेश की कुछ संवेदनाएँ इतनी क्षिप्र और नुकीली हैं कि उन्हीं के कारण उन्हें कुछ चीज़ें बेहद प्रिय हैं। आँखें, हँसी, शरीर और उस के आवरण, भीतर से झाँकता अद्वितीय (सिलहुट जिसे नरेश 'तिरस्करिणी' कहना पसन्द करते हैं) कुछ फूल, कुछ रंग, क्लासिक वस्तुएँ और सन्ध्याएँ। इन के विवरण प्रायः सर्वत्र मिल जाते हैं और उन्हें हर बार नये सिरे से देखा भी गया है। मनःस्थिति को उजागर करने के लिए या उन में अद्वितीय की प्रस्तुति के लिए या व्यंजना को गहरा करने के लिए या प्रतीकन के लिए। इन स्थानों पर वे चित्रकारों से होड़ लेते हैं और समग्रता भी देते हैं। रंग की दृष्टि से हरा उन्हें तब तक प्रिय नहीं है, जब तक वह जीवित चमक से बेध न दे। गॉथिक का उल्लेख तो उन्हें और भी प्रिय है। यह प्रियता व्यंजित होती है, लेकिन सीधे उल्लेख जहाँ हैं, वहाँ व्यंजना को ठोस आधार दे दिया गया है। शायद ऐसे स्थानों पर स्वयं रचनाकार असफल कहा जायेगा अथवा उल्लेख कर के अनुमान तक ले जाना उस का उद्देश्य है, नहीं कहा जा सकता।

अगत्या अपने गुणों के बावजूद इन कहानियों में कमियाँ हैं। संक्षिप्ति की चेतना के बावजूद कुछ या कहीं कुछ विस्तार है, जिसे सम्पादित किया जा सकता था। शब्द के प्रति लाख सचेत होने पर भी उन में कमी या भूलें ढूँढ़ने पर मिल ही जाती हैं। कहानियों का अन्त या आरम्भ नरेश मेहतापन से बँधा रहता है, मुक्त नहीं होता। यह लेखक के आग्रह के, शायद किसी ग्रन्थि के भी, और सब से ज़्यादा स्वयं से प्रभावित होने के सब से बड़े दुर्गुण के कारण हुआ है। इन कमियों का उल्लेख निर्मम हो कर करना कदाचित् रचनाकार के प्रति अविनय नहीं है। चूँकि गुणों के समझने-समझाने में उद्धरण विस्तार-भय से कम से कम दिये गये हैं, इस लिए किनका की तरह बीन कर उदाहरण सहित दुर्गुण दिखाना उद्देश्य नहीं है, तो केवल विस्तार-भय से ही, इस लिए भी कि उन्हें दिखाने से गुण कम नहीं हो जायेंगे।

'भूमिका' में रचनाकार को 'मास्टर्स' के साथ रख कर देखने की बात नरेश जी ने उठायी थी, इस लिए हम विनम्रता के ... उन्हें वाद्य की तरह कोने से उठा कर उन के बीच, 'मास्टर्स' के बीच रख देते हैं। और निर्णय की, दायित्व की बहुत सी चिन्ताएँ, बहुत से प्रश्न भी उन्हीं के लिए, उन्हीं 'मास्टर्स' के लिए छोड़ देते हैं, क्यों कि वही अनुत्तर कर सकते हैं जो बुद्ध हैं, बोधिसत्त्वता की प्रक्रिया से विगत हो चुके हैं, हम नहीं।

वार्षिक शुल्क १५.०० : प्रति अंक १.५० : प्रस्तुत अंक १.५०
विदेशों के लिए अतिरिक्त डाक टिकिट ४० पैसे

ज्ञानोदय
जून १९६९

अनुज्ञापत्र संख्यांक—५१ : बिना टिकिट लगाये प्रेषण करने के लिए अनुज्ञात । पंजीयित संख्या : ल—२०३६

भारतीय ज्ञानपीठ के लिए जगदीश अग्रवाल द्वारा दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी–५ से प्रकाशित तथा सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५ में मुद्रित ।

ज्ञानोदय

जुलाई १९६९

● ● ● बन्द गली का आख़िरी मकान

अरसे बाद
भारती की
एक और समर्थ कृति–

- गुलकी बन्नो
- सावित्री नम्बर दो
- यह मेरे लिए नहीं
- बन्द गली का आख़िरी मकान

धर्मवीर भारती
की बहुचर्चित चार कहानियों का
चिर-प्रतीक्षित संकलन

भारतीय ज्ञानपीठ
द्वारा शीघ्र प्रकाश्य

ज्ञानोदय

सम्पादक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

आधुनिक भावबोध, कला संचेतना
और नवीनता का
प्रतिनिधि मासिक

वर्ष २१ अंक १

जुलाई
१९६९

प्रधान कार्यालय :
९, अलीपुर पार्क प्लेस,
कलकत्ता—२७

प्रकाशन एवं वितरण कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग,
वाराणसी-५

मूल्य :
वार्षिक १५.००
एक प्रति १.५०

ज्ञानोदय

जुलाई • १९६९

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ज्ञानोदय' मई '१९६९ के अंक में प्रकाशित श्री वीरेन्द्रकुमार गुप्त-द्वारा लिखित 'क्या जीवन के प्रश्नों के उत्तर अहिंसा के पास हैं ?' लेख पढ़ने को मिला। लेखक ने परम्परा से हट कर कुछ मौलिक रूप में सोचने का प्रयास किया है और अपने पाठकों को भी सोचने की दिशा दी है—इस के लिए लेखक वस्तुतः बधाई का पात्र है। जहाँ तक अहिंसा के सर्व-सामान्य प्रचलित रूप का प्रश्न है मैं लेखक के साथ पूरी तरह सहमत हूँ। परन्तु 'ज्ञानोदय' के प्रस्तुत निबन्ध में कुछ भ्रान्ति-मूलक सामग्री का भी समावेश हो गया है, जिस का निराकरण करना आवश्यक है :

१. अहिंसा के सन्दर्भ में लेखक ने जैन धर्म पर विशेष कृपा की है। अहिंसा का श्रेय भी उस ने जैन धर्म को ही दिया है (जो तो खैर ठीक ही है) और अहिंसा सम्बन्धी जैन-सिद्धान्त का भी संक्षेप में स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। लेखक ने लिखा है, "अहिंसा जैन धर्म की देन है। जैन सिद्धान्तवाद ने अहिंसा को मूलमन्त्र और परमधर्म माना है।" जब कि वास्तविकता यह है कि जैनों ने धर्म के सिद्धान्तवाद में अहिंसा को नहीं, अपितु वस्तु-स्वभाव (वत्थु सहावो धम्मो) को मूलमन्त्र के रूप में स्वीकारा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने उसी वस्तु स्वभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

"चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो।" (प्रव० सार-७)

—अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वही साम्यभाव है—ऐसा कहा गया है। साम्य-भाव मोह-क्षोभ-रहित आत्मा का परिणाम (भाव) है।

प्र। ति। क्रि। या। एँ। प। त्रां। श

इस, और इस-जैसी, अनेकानेक गाथाओं से स्पष्ट है कि धर्म वस्तु-सत्य की स्वभाव-परिणति है, जिसे ही जैन सम्यक् चारित्र कहते हैं। स्वभाव-परिणति ही आत्मा का साम्य-भाव है। उक्त साम्य-भाव की पहचान यह है कि वह मोह-क्षोभ आदि अनेकानेक विभाव-वृत्तियों से मुक्त होता है। और वर्त्तमान तथ्य यह है कि आत्मा इन विभाव-वृत्तियों से युक्त है। अतः स्वभाव-दीक्षा के लिए विभाव-मुक्ति आवश्यक प्रतिबन्ध है। यह स्वभाव-दीक्षा कोई करने का विषय नहीं है, क्योंकि स्वभाव स्वतः स्फूर्त होता है। जो स्वतः स्फूर्त नहीं होता वही किया जाता है और वही वस्तु-सत्य की विभाव-स्थिति होती है। अतः सत्-स्वभाव के स्वतः स्फुरण के लिए कृत-विभाव का निरोध आवश्यक है, क्योंकि स्वतःस्फूर्त कृत नहीं है, वह अकृत है। मोह-क्षोभ स्वतःस्फूर्त वृत्तियाँ नहीं हैं। वे नैमित्तिक हैं। अतः कृत हैं। इन दोनों की सामूहिक परिणति ही कहलाती है हिंसा। और इसी का निरोध है अहिंसा। इस प्रकार हिंसा तत्त्वतः एक विभाव-वृत्ति है। विभावता एक प्रकार की नकारता है, स्वभाव का निषेध है। अतः हिंसा तत्त्व रूप में एक नकारी वृत्ति है और इसी आधार पर फिर हिंसा का विरोधी विकल्प अर्थात् अहिंसा एक सकारी स्थिति हुई जो मोह-क्षोभ विहीन आत्म-स्थित स्वभाव परिणति मात्र है। लेखक ने अहिंसा को सर्वथा नकारी स्थिति कह कर भ्रान्ति पैदा की है।

२. एक और भ्रान्ति लेखक के इन वाक्यों से पैदा हुई है, कि "कर्म पदार्थ है, जो जीव के सम्पर्क में आते ही उस से चिपक जाता है···" और फिर आगे, "पाँचों भूत दृश्य जीवों और अदृश्य सूक्ष्म परमाणु जीवों से भरे हैं इस लिए

कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जिस में हिंसा न होती हो....." इन में पहले वाक्य में लेखक कर्म को पदार्थ कहता है जो निश्चय ही जैन-सम्मत नहीं, क्योंकि जैनों ने पदार्थ केवल छह माने हैं जिन में कर्म की कोई गणना नहीं। यदि पुद्गल पदार्थ के अन्तर्गत कर्म को लिया जाता है, तो लेखक स्वयं आगे अपने लेख में ही कर्म पद को इस प्रकार प्रयोग करता प्रतीत होता है जिस से ध्वनित है कि कर्म पदार्थ न हो, केवल क्रिया हो। उपर्युक्त उदाहरण का द्वितीय रेखांकन तथा उस के परवर्ती अनुद्धरित कतिपय स्थल प्रमाण-स्वरूप लिये जा सकते हैं। अतः लेखक के कर्म को हिंसा कहने के आधारभूत तर्क में भ्रामक पदाभास या अर्थान्तर दोष है। साथ ही, कर्म जीव से चिपक जाते हैं—यह जैन-सिद्धान्त का बड़े ही बचकाने ढंग का मखौल है। कर्म-पुद्गलों के आश्रव को स्थूल दृष्टान्त से समझाने के प्रयास में कभी-कभी किसी आचार्य ने ऐसा कह दिया है कि जैसे स्नेह-मण्डित घर पर रजकण चिपक जाते हैं वैसे ही मोहग्रस्त जीव पर कर्म-रज चिपक जाते हैं। लेकिन क्या कर्म-कण, वास्तव में, चिपकते हैं—मैं ने तो कहीं आधिकारिक ग्रन्थ में नहीं पढ़ा। वस्तुतः यह केवल दृष्टान्त है, जो सदैव एकदेशीय सत्य होता है। वास्तविक स्थिति यह है कि कर्म न तो कोई पदार्थ है और न क्रिया ही, वह केवल एक स्थिति है जिस में आत्मा और कतिपय पुद्गलाणुओं का एक क्षेत्रावगाहन होता है, यानी आत्मा और पुद्गल जब निमित्त नैमित्तिक पारस्परिकता को ले कर एक ही आकाश-प्रदेश-संख्या को घेरते हैं, तो आत्मा की वह स्थिति कर्म-स्थिति होती है। इस कर्म-स्थिति का एक छोर है आत्मा और दूसरा है पुद्गल। इन्हीं दो पहलुओं की दृष्ट्या कर्म के दो प्रकार—भेद भी किये गये, यथा—भाव कर्म (जीव पहलू) और द्रव्य कर्म (पुद्गल पहलू)। यह उभयमुखी कर्म-स्थिति जीव की विभाव स्थिति है, स्वभाव स्थिति नहीं। अतः इस का निरोध स्वभाव—दीक्षा है। अब चूंकि विभाव-स्थिति उभयमुखी है, अतः उस का निरोध भी उभयमुखी होगा। यही उभयमुखी निरोध जैन-सम्मत अहिंसा है! इस अहिंसा में एक ओर द्रव्य-कर्म के स्तर पर अन्यों को न मारना आता है, तो दूसरी ओर भाव-कर्म के स्तर पर निर्मोह और निःक्षोभ की स्थिति आती है। दोनों स्तरों का भिन्नत्व एकान्तिक सत्य है, जब कि दोनों का सांकुल्य अनेकान्तिक सत्य। और इस अनेकान्तिक सत्य से ही स्व-भाव-दीक्षा का मार्ग सुगम होता है। अब जन-सामान्य केवल 'न मारना' ही अहिंसा का सम्पूर्ण तत्त्व मान बैठे, तो वह वस्तुतः स्वभाव-दीक्षा का हेतु न बन कर अनेकानेक कुण्ठाओं, अतृप्तियों और उन्मादी असामान्यताओं का कारण बनती

है, क्योंकि इस ऐकान्तिक साधना से विभाव का और अधिक विभावीकरण ही होता है, जो किसी भी तरह शुभ नहीं। और न यह जैन-सम्मत अहिंसा है ही। इस लिए शायद लेखक हिंसा का विलोम प्रेम, दया और नैतिकता को मानता है, जो वस्तुतः अहिंसा से पृथक् नहीं, बल्कि उसी के भाव-कर्म-स्तर पर अपनायी गयी एक स्थिति है। अहिंसा जीवन-स्थिति, समस्या और उस के जीवन्त कारणों पर क्रॉस का चिह्न नहीं लगाती, अपितु इन सब को स्वभावोन्मुखी करने का प्रयास करती है। जिस यथाकथित अहिंसक क्रिया में ऐसा नहीं होता, वह अहिंसा नहीं, अहिंसाभास है। इसी अहिंसाभास के कारण अहिंसातत्त्व बदनाम है।

अन्त में, मैं लेखक की एप्रोच से अवश्य सहमत हूँ। अहिंसा के नाम पर जिस क्लीबता और अशौर्य का पोषण हो रहा है वह बहुत ही खतरनाक है। अहिंसा की शास्त्रीय स्थिति कुछ भी स्वस्थ और शुभ क्यों न हो, यदि व्यवहार में वह क्लीबता की ही पर्याय समझी जाती है तो उसे तुरन्त त्याग देना श्रेयस्कर है। जीवन में किसी शाब्दिक मोह का कोई मूल्य नहीं।

टिहरी, गढ़वाल]

—प्रद्युम्नकुमार जैन

●

'ज्ञानोदय' का मई अंक 'बुद्धिजीवी साहित्यिक' के लिए संग्रहणीय सामग्री प्रदान करता प्रतीत हुआ।

रमेश कुन्तल मेघ ने प्रसाद की कामायनी का सुन्दरतम स्वरूप परावर्तित परिवेश में लेख-बद्ध किया है। 'नारी' की सफलतम अभिव्यक्ति प्रसाद के ही बूते की थी—यह उक्त लेख से प्रकट होता है। भावों, मूलभूत सिद्धान्तों, प्रतीकों और कला के जिन तत्त्वों का विश्लेषण नवीनतम स्वरूपों के उद्घाटन सहित डॉ० मेघ ने लिखा है, स्वीकृति योग्य है।

राजेन्द्र किशोर की कहानी 'चिड़िया' नयी कहानी-कला सन्दर्भ में जँचती है। बात की बात को भावमयी कल्पना के तारों में खींचते जाना कथा-तत्त्व की गत्यात्मक रुचि बनाये रखता है। 'चिड़िया की बीट' अधुनातन मानव की शंकास्पद वर्त्तमान जिजीविषा का बोध कराने में सक्षम हुई है। कमल जोशी की कहानी 'साबुन' रुचिकर है और आशा गुप्ता की 'ब्याही से सैयाँ मैं क्वाँरी भली थी' कहानी के परम्परित मापदण्डों को वर्त्तमान मापदण्डों की प्रगतिधारा में बढ़ा कर अपनी उत्कृष्टता ज़ाहिर करने में सर्वाधिक सफलीभूत हो सकी है।

जगदीश श्रीवास्तव की प्रतिक्रिया गति के अभाव में शैलीगत विशेषता न रखते हुए भी प्रथम लेख बन गयी है।

कविताओं में 'पेरू का मुक्तिबोध' और 'काव्य-कणिकाएँ' जानदार हैं। छठी भावबोध के गहनतम चिन्तन का बिम्बात्मक प्रस्तुतीकरण है।

उज्जैन]

—विष्णु भटनागर

●

'ज्ञानोदय' के मार्च तथा मई अंक लगभग एक साथ पढ़े। मार्च अंक की कहानियों में 'नहीं', 'फिर यह सब', 'शहरी ज़िन्दगी', 'सुविधावादी' पठनीय है। मई अंक में अनूदित कहानी 'सच्चरित्र स्त्री, लोना' का प्रभाव देर तक गूँजता है। 'ब्याही से सैयाँ....' कहानी भी अच्छी है। 'कथान्वेषण : सुबह तक' बड़ी मेहनत से लिखी गयी रचना प्रतीत होती है। इस में कहानी कम दिमाग़ी कसरत कुछ ज़्यादा है।

वीरेन्द्र कुमार गुप्त के लेख-द्वारा एक बहुत ही विचारपूर्ण चीज़ पढ़ने को मिली है। हिंसा, अहिंसा, सत्य तथा नैतिकता का शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक विवेचन विचारपूर्ण होने के साथ-साथ रसपूर्ण भी है। अहिंसा की सीमितता तथा हिंसा, सत्य एवं नैतिकता की व्यापकता को जीवन की व्यावहारिकता के जिन सन्दर्भों से सम्पृक्त कर के लेखक ने देखा है, वे बहुत ठोस तथा सत्यपूर्ण प्रतीत होते हैं।

'विरूपाक्ष' के लेखक ने 'साठोत्तरी कविता के प्रति क्रोध प्रकट करते हुए एक पते की बात भी कही है—"और सृजन का मूल्य है कवि का ध्यान-योग, बिना इस की यन्त्रणा को झेले साहित्य लिखा नहीं जा सकता।"

पेरू का मुक्तिबोध : सेजार वेलेजो का जीवन और रचनाएँ दोनों मार्मिक हैं। साहित्यकार एवं कलाकार की ऐसी उपेक्षाओं की कहानियाँ भारत में तो अनेक खोजी जा सकती हैं।

'ज्ञानोदय' द्वारा विभिन्न प्रकार के रसास्वादन के लिए धन्यवाद।

इलाहाबाद–२]

—निर्मला अग्रवाल

●

मई अंक में प्रकाशित 'शीतांशु' जी का 'एकेडेमिक' लेख पढ़ा। साठोत्तरी पीढ़ी की भाषागत उपलब्धियों को प्रभावहीन बतला कर उन्होंने उसे अचिह्नित और

[शेष पृष्ठ १५८ पर]

घातक तत्त्वज्ञान

•

आचार्यश्री रजनीश

आत्मा को शुद्ध-बुद्ध मान लेने से पापों का अन्त नहीं होता है। वह बहुत गहरी आत्मवंचना है। अन्धकार है ही नहीं, ऐसा मानने से आलोक नहीं हो जाता। पाप है ही नहीं, आत्मा कुछ करती ही नहीं, ऐसी विचारसरणी बहुत धोखे की है। वह स्वयं की पापस्थिति को विस्मरण करने का उपाय है। उस से पाप मिटते नहीं; केवल विस्मृत हो जाते हैं, जो कि पाप के होने से भी बुरा है। उन का दीखना, उन का बोध शुभ है; उन का न दीखना, उन के प्रति मूर्च्छा अशुभ है। क्योंकि वे दीखते हैं तो चुभते हैं, सालते हैं, और स्वयं के परिवर्तन की प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। पाप का बोध परिवर्तन लाता है और उस का पूर्ण बोध तो तत्क्षण क्रान्ति पैदा कर देता है।

इस लिए आत्मा शुद्ध-बुद्ध है, इन बातों में नहीं पड़ना चाहिए। वह मानने की बात ही नहीं है। वह तो जब पाप-व्यक्तित्व विसर्जित हो जाता है, और अन्धकार की पर्तों को तोड़ कर साधक स्वयं के निगूढ़ और गुप्त आलोककेन्द्र में प्रवेश करता है, तब अनुभव में आया हुआ साक्षात् है। वह साक्षात् है; उस की धारणा नहीं बनानी है। उस की धारणा बहुत घातक हो सकती है। वह आलोक तक पहुँचने में बाधा हो सकती है क्योंकि यदि अन्धकार है ही नहीं तो जो नहीं है उसे दूर करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? आत्मा यदि पाप-पुण्य करती ही नहीं है, तो पाप-पुण्य के ऊपर उठने का सवाल ही नहीं उठता है। इन तथाकथित तत्त्वज्ञान की थोथी बातों ने बहुतों को बेहोश किया हुआ है। यह जहर बहुत दूर तक प्रभावी हो गया है।

यह स्मरण रहे कि आत्मा की शुद्धता की ये बातें और उन का प्रभाव पाप को विस्मरण करने के लिए है। इन बातों के जाल में जो गिर जाते हैं उन का उबरना

मुश्किल हो जाता है। पाप से उबरना आसान है, पर इस घातक तत्त्वज्ञान से उबरना बहुत कठिन है। आत्मा शुद्ध है, यह सिद्धान्त नहीं, साक्षात् है। उस की चर्चा व्यर्थ है। साधना के बाद साक्षात् तो होगा ही। उसे विचार में लेना व्यर्थ है। उसे यदि किसी ने मान लिया तो साधना असम्भव हो जायेगी। और साक्षात् को बिना साधना के मान लेना कितना आसान है और सुखद है। उस भांति पाप से बिना मुक्त हुए ही, मुक्ति का रस आ जाता है और धोखे की एक गहरी धुन्ध में भिखमंगे बादशाह होने का मज़ा ले लेते हैं।

स्मरण रहे कि सत्य का भी दुरुपयोग हो सकता है और श्रेष्ठ सत्य भी निकृष्ट असत्यों को छिपाने के काम में लाये जा सकते हैं। ऐसा हुआ है और नित्य होता है। कायरता अहिंसा में छिपायी जा सकती है, और पाप आत्मा की शुद्धबुद्धता के सिद्धान्त में ढांके जा सकते हैं और अकर्मण्यता संन्यास बन सकती है। मैं आप को इन धोखों से सावधान करना चाहता हूँ। जो इन से साव-चेत नहीं है, वह स्वयं में बहुत प्रगति नहीं कर सकता है। पाप का, अन्धकार का जो घेरा हम पर है, उस से बचने को, उस से पलायन करने को किसी सिद्धान्तजाल की शरण न खोजें। उसे जानें और उस से परिचित हों। वह है, उस के होने को विस्म-रण नहीं करना है। वह स्वप्नवत् है तो भी है; 'वह नहीं है', ऐसा नहीं है। स्वप्न की भी अपनी सत्ता है। वह भी घेर लेता है और वह भी हम में आन्दोलन करता है। उसे स्वप्न कह कर और मान कर ही कोई गति नहीं है। उस से जागे बिना कोई रास्ता नहीं है।

पर कोई चाहे तो बिना जागे भी, स्वप्न में ही जागने का स्वप्न देख सकता है। थोथा तत्त्वज्ञान, साधनाशून्य तत्त्वज्ञान, यही करता है। वह जगाता नहीं है, स्वप्न में ही जगाने का स्वप्न पैदा कर देता है। यह स्वप्न के भीतर स्वप्न है। ऐसे स्वप्न आप ने नहीं देखे हैं क्या, जिन में आप देख रहे हों कि आप जागे हुए हैं? पाप नहीं है, अन्धकार नहीं है, ऐसा कहने और विश्वास करने से कुछ भी नहीं होता है। इस से सत्य नहीं, केवल हमारी आकांक्षा की ही घोषणा होती है। हम चाहते हैं कि पाप न हो, अन्धकार न हो। पर चाहना ही काफ़ी नहीं है। अकेली चाह नपुंसक है और तब धीरे-धीरे जैसे भिख-मंगा सम्राट् होने की चाह करते-करते अन्ततः स्वप्न ही देखने लगे कि वह सम्राट् हो गया है, ऐसी ही तत्त्वज्ञानियों की गति हो जाती है। वे चाहते-चाहते उसे मान ही लेते हैं जो केवल उन्होंने चाहा था, और जो उन्हें मिला नहीं है। पराजय को इस भांति भूलना आसान हो जाता है और जो सत्य में नहीं मिला उसे स्वप्न में मिला जान कर वे तृप्ति की सांस ले पाते हैं।

मैं आप को कोई भी स्वप्न नहीं दे सकता हूँ, और आत्मवंचना के लिए भी कोई सहारा नहीं दे सकता हूँ। मैं तो स्वप्नभंजक हूँ और आप की निद्रा को तोड़ना चाहता हूँ। इस है

पीड़ा भी हो तो मुझे क्षमा करना । जागरण सच ही पीड़ा है, क्योंकि वही एकमात्र तपश्चर्या है । इस पीड़ा, इस तप का प्रारम्भ स्वयं की वास्तविक पापस्थिति, स्वयं की वास्तविकता को जानने से होता है । कोई भ्रम नहीं पालना है, और जो है और जैसा है उसे वैसा ही जानना है । इस से दुःख होगा, पीड़ा होगी; क्योंकि वे स्वप्न टूटेंगे जो मधुर थे और जिन में हम सम्राट् थे । सम्राट् तो मिटेगा और भिखमंगा प्रकट होगा, सौन्दर्य मिटेगा और कुरूपता प्रकट होगी, शुभ वाष्पीभूत हो जायेगा और अशुभ के दर्शन होंगे । वह पशु अपनी नग्नता में हमारे सामने होगा जो हम में छिपा है । यह आवश्यक है । अत्यन्त आवश्यक है । इस पीड़ा से गुज़रना अनिवार्य और अपरिहार्य है । क्योंकि यह प्रसवपीड़ा है । इस के बाद हो, इस पशु से मिलन के बाद ही, हम में उस का बोध स्पष्ट होना शुरू होता है जो कि पशु नहीं है ।

पशु का जिसे साक्षात् होता है, वह इस साक्षात् के कारण ही पशु से भिन्न और अन्य हो जाता है । यह जागरण, अपने पशु के प्रति, हमारे उस से तादात्म्य को तोड़ देता है । यह निरीक्षण, निरीक्षित से निरीक्षक को अलग कर देता है और उस बिन्दु का हम में जन्म हो जाता है जिस की पूर्णता पर आत्मा अनुभव होती है । इस लिए पाप से, पशु से, अन्धकार से भागना साधना नहीं, पलायन है । वह शुतुरमुर्ग़ के तर्क की भाँति है जो शत्रु को देख रेत में मुँह छिपा कर निश्चिन्त खड़ा हो जाता है, यह सोच कर कि जो उसे अब दिखाई नहीं दे रहा है वह अब नहीं है । काश, ऐसा ही होता ! पर ऐसा है नहीं : शत्रु का न दिखाई पड़ना, उस का न हो जाना नहीं है । इस भाँति तो वह और भी घातक हो जायेगा । आँखें बन्द करने पर आप उस के और भी आसान शिकार हो जायेंगे । शत्रु है यदि तो आँखें और भी खुली चाहिए, उस का पूरा ज्ञान हमारे हित में है । अज्ञान से अहित के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता । मैं इसी लिए स्वयं की समग्र अन्धकार स्थिति को उघाड़ कर देखने को कह रहा हूँ ।

अपने सारे वस्त्रों को अलग कर के देखो कि आप क्या हो ? अपने सारे सिद्धान्तों को दूर रख के देखो कि आप क्या हैं ? रेत से मुँह बाहर निकालो और देखो ! वह आँख का खोलना ही, उस भाँति देखना ही, एक परिवर्तन है : एक नये जीवन की शुरूआत है । आँख खुलते ही एक परिवर्तन शुरू हो जाता है, और उस के बाद ही जो हम करते हैं वह सत्य तक ले जाता है । अन्धकार की पर्तों को उघाड़ कर प्रकाश तक चलना है । पाप की पर्तों को उघाड़ कर प्रभु तक चलना है । अज्ञान के विनाश से आत्मा को उपलब्ध करना है । साधना का यही सम्यक् पथ है । और उस के पूर्व स्वप्न नहीं देखने हैं, सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप के स्वप्न नहीं देखने हैं । वे सब शुतुरमुर्ग़ के रेत में मुँह छिपाने के उपाय हैं । वह पुरुषार्थ का मार्ग नहीं, पुरुषार्थ-हीनों की मिथ्या तृप्ति है । ■ ■

इन दिनों

रामदरश मिश्र

चन्दन वनों को बन्द कर लिया गया है
संगमरमरी मकानों में
डाल-डाल पर लिपटे हुए साँप
हवाओं को
अपने फेफड़ों में क़ैद करते रहते हैं
और सुबह होते ही
उन्हें छोड़ देते हैं अपने ज़हर से दाग़ कर
सारे शहर पर
शहर से गाँव पर···

लोग विभोर हो कर कहते हैं
मलयानिल बह रहा है

किन्तु कोई नहीं जानता—
इन दिनों क्यों
शाम होते-होते
धरती पटी दिखाई पड़ती है
अनगिनत ऐंठे हुए कण्ठों से
कुछ उलटी हुई नदियों और तालाबों से
कुछ सपनों-भरी ठण्डी आँखों से

जाता हुआ दिन
उन्हें व्यथा से देखता हुआ
एकाएक आँखें बन्द कर लेता है
और रात झपट कर आती है

उन्हें घसीट-घसीट कर फेंक देती है
किसी अन्धे तहख़ाने में
और खाद बना कर
नये चन्दन वन उगाती है
लोग
उदास आँखों से देखते हुए
खड़े-खड़े बुदबुदाते हैं—
ओह, कैसी हवा चल रही है आजकल
कि अमराई के सारे बौर
देखते-देखते झुलस जाते हैं
बच्चे पैदा होते ही
विकलांग हो जाते हैं
अन्न
खाने के पहले ही अपच करने लगता है
नदियाँ
अपना जल लिये-दिये
ख़ुद ही प्यास जाती हैं
बादल आ कर
बिना बरसे, जल लिये लौट जाते हैं
धरती के रस को पीती हुई
बालियाँ फ़सलों के कन्धों पर
लाशों की तरह लटक जाती हैं

हवाएँ····हवाएँ····हवाएँ···
आँसू गैस-सी हवाएँ भर गयी हैं

हर आँख में
और हर आदमी स्वतन्त्र हो कर भी
स्वतन्त्र होने के लिए छटपटा रहा है
देश की अपनी दूषित ज़बानें काट कर फेंक
दी गयी हैं
और विदेश से प्लास्टिक की सदाबहार
ज़बानों का आयात हो रहा है
अपनी धरती की साँसों को
पी लिया है साँपों ने
उसे समुद्रों पार से
आॅक्सीजन दिया जा रहा है
हमारी धूप को लक़वा मार गया है
उस के लिए
विदेशों में बैसाखियाँ तैयार की जा रही हैं

बड़े साँप
छोटे साँप
पतले साँप
मोटे साँप
लाल साँप
नीले साँप
काले साँप
पीले साँप

सुबह होते-होते
गायों के थन सूख जाते हैं
कोई नहीं जानता
कि रातों-रात दूध कहाँ चला जाता है
नलों पर खाली घड़े
लाइन में घण्टों ऊँघते रहते हैं
कोई नहीं जानता
कि पानी कहाँ रुक जाता है
स्कूल के बच्चे
बसों के पहियों में फँसे
घिसटते दूर तक चले जाते हैं
कोई नहीं जानता
कि ढेर की ढेर बनती हुई गाड़ियाँ
कहाँ जा कर समा जाती हैं

रात
फूटे परनाले के काले जल की तरह
बिखर जाती है
जिस में सूरज का भटका हुआ रथ
कहीं फँसा होता है
वह बड़ी मुश्किल से
हाँफते मरियल घोड़ों को लिये हुए
बाहर निकलता है
तो सुबह हो जाती है
यानी कि ज़िन्दगी ढोने की
एक और शुरूआत होती है
कूड़े के ढेर पर खड़े हो कर
बाँग देते हैं मुरग़े
और झुण्ड के झुण्ड लोग
गन्दे नाले के किनारे पास-पास बैठे हुए
नंगे यथार्थ का साक्षात्कार करते हैं
और समझते हैं
कि सुबह हो गयी
कोई नहीं जानता
कि मन्त्रालयों और फैक्टरियों में
गढ़े जाते हुए इतने सपने कहाँ जाते हैं ?

एक मौन आतंक घूमता है हवाओं पर

कौआ को तरह
छायाएँ छायाओं से कतराती हुई
निकल जाती हैं
कौन जाने
पास बैठा हुआ चेहरा
कब मुसकराना छोड़ कर डँस ले
कौन जाने कब
हँसिया, खेत काटना छोड़ कर
गला काटने लगे
हथौड़ा, कब लोहा पीटना छोड़ कर
सिर पीटने लगे
कौन जाने कब
बैलों की जोड़ी खेत जोतना छोड़ कर
औरों की फ़सल चरने लगे
कब यह चिराग़
रास्ता दिखाना छोड़ कर
किसी झोंपड़ी में लौ लगाने लगे

कौन जाने कब
चट्टानों पर फूल उगाता हुआ वह चित्रकार
काले रंग से लथपथ कूची
पास के चेहरे पर झाड़ दे
कौन जाने कब
यह कवि
प्रेम के आकाश से धरती पर चू कर
किसी के सिर पर अपना संचित रस थूक दे
कौन जाने कब
मानव-मात्र की मुक्ति के लिए
उठा हुआ भुजदण्ड
सड़क पर अपनी औरत को पीटने लगे

अन्धे कुएँ में कौन चिल्ला रहा है
शायद कोई नंगी बेलौस आवाज़ है
जिसे प्रेत समझ कर कोई पास नहीं जाता
मीनार पर खड़ा हो कर कौन गा रहा है
शायद कोई असफल प्रेमी है
जिस के पास गाने के सिवा और
कुछ बचा ही नहीं

धाँय धाँय धाँय····
लगता है—
सरकारी आत्मा का विस्फोट हो रहा है
और सड़क पर कबूतर-सी लोट रही है
असत्य माया
यानी जनता की अधम काया
सारी सड़क चिपचिपा रही है
खून के चलते-फिरते धब्बों से
आकाशवाणी शान्ति-पाठ कर रही हैं

हिजड़ों के हाथों में
कामशास्त्र की पोथियाँ हैं
भेड़ियों के गले में टँगा है
वैष्णव संगीत
बन्दूक़ों पर पंचशील की मुहर है
इन दिनों बाज़ार में सेण्ट की खपत
बहुत बढ़ गयी है
मछलियाँ तब से बहुत डरी हुई हैं

तहखानों के ऊपर गद्दियाँ हैं
गद्दियों पर धर्म-ग्रन्थ
धर्म-ग्रन्थों पर बैठे हैं आत्मा छाप आदमी
जो रह-रह कर नश्वर काया से

चिरन्तन सत्यों का वायु-विस्फोट कर रहे हैं
चिड़ियाँ भड़भड़ा कर उड़ जाती हैं
और सुरक्षा की घबराहट में
सफ़ेद पंख काले पंखों को नोचने लगते हैं
धरती जगह-जगह दरक कर
अपने से बँट जाती है
जल पर नाम लिख जाता है
अलग-अलग धूप और छाया का
और एक बड़ा-सा झण्डा
इन सब को ढँकने की कोशिश में
स्वयं नंगा हो जाता है

अब तो जल में झाँकने से डर लगता है
कि कहीं अपनी परछाइँ की जगह
एक मगर न दिखाई पड़ जाये
किसी के विरुद्ध आस्तीन चढ़ाने में
खतरा महसूस होता है कि
कहीं उस में पलता हुआ कोई साँप न
निकल आये

इस लिए इन दिनों
न कोई जल में झाँकता है
न आस्तीनें चढ़ाता है

■ ■

पक
गयी
है
धूप
●
डॉ० रामदरश मिश्र
की मर्मस्पर्शी
कविताओं का
संग्रह
भारतीय ज्ञानपीठ
द्वारा शीघ्र
प्रकाश्य

अँधेरी कविताएँ

भवानीप्रसाद मिश्र

रूप में संश्लिष्ट, शिल्प में प्रातिभ,
प्रयोगों की दृष्टि से
स्वयं अपनी ही पहले की कविताओं से अलग—
एक विशिष्ट मनःस्थिति से घिरे रह कर लिखी गयी ये
'अँधेरी कविताएँ',
कविता के पाठकों और आलोचकों के लिए
चुनौती-सी देती हैं।

मूल्य : ५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

अकेली दमयन्ती

•

सुवास कुमार

बड़ी लड़की शीलू उस से बोलती नहीं। सिर्फ़ सुबकती रहती है जब-तब। जब से दमयन्ती ने वह निर्णय लिया, तब से बराबर उस का चेहरा रुआँसा रहा है। और छोटी नीलू तो खुल कर विद्रोह कर देती है। दमयन्ती की छोटी-से-छोटी आज्ञाओं की भी अवमानना करने लगी है। अपने सदा से अनुशासित घर में यह सब पा कर दमयन्ती बहुत क्षुब्ध होती है। लेकिन वह क्या करे। क्यों नहीं ये दोनों लड़कियाँ उस के मनोभावों को समझने की कोशिश करती हैं। अब तो ये बच्चियाँ नहीं रहीं। शीलू बी० ए० में और नीलू प्री-युनिवर्सिटी में है। लेकिन सारी तर्क-बुद्धि के बावजूद दोनों नासमझ बनी रहना चाहती हैं। और यही दमयन्ती को पसन्द नहीं है।

छोटे सोमेश का मनोविज्ञान भी परख रही है दमयन्ती। पिछले कई दिनों से वह विचित्र रूप से चुप हो गया है। उस के चेहरे से ऐसा लगता है मानो वह कुछ जानना चाहता हो कि यह सब क्या हो रहा है और यह सब क्यों हो रहा है। जब ये बच्चे अपने इस नये ओढ़े हुए रूप में होते हैं तो दमयन्ती को लगता है कि उस का सारा दर्प, उस का सारा निश्चय तेज़ आँच के आगे रखे शीशे की भाँति चिटख कर चूर-चूर हो जायेगा।

उस का मातृत्व पूरे वेग से उफन उठता है किन्तु वह बलात् अपना ध्यान इस तरफ़ से हटा कर जैसे अपने आवेग और उफान पर पानी के छींटे दे देती है। नहीं, मैं हारूँगी नहीं। अपनी इन कमज़ोरियों से लड़ूँगी और जीतूँगी—वह अपनी दोनों मुट्ठियाँ कस कर बाँधती हुई बुदबुदाती है। मुट्ठियाँ भींचने से उसे बल मिलता है। संघर्षपूर्ण क्षणों में मुट्ठियाँ बांधने की उसे आदत रही है। परीक्षाओं में परचे लिखते वक्त भी वह बायें हाथ की मुट्ठी बाँधे रखती थी और सोचती थी कि जो कुछ वह लिख रही है, वह शत-प्रतिशत सही है। वह मुट्ठी बाँध कर आत्मविश्वास अर्जित करती रही है। ऐसा करने से उस की छलछलायी हुई आँखें सूख जाती हैं और उन में सूनापन छा जाता है। ऐसा होने से वह कोई तृप्ति महसूस करती है।

कॉलेज जाते समय शीलू उस के कमरे में आयी। एक काग़ज़ का पुर्जा उसे थमा कर तेजी से निकल गयी। दमयन्ती भी अपने कॉलेज के लिए तैयार हो रही थी। ऐसी चिट तो शीलू ने आज तक कभी नहीं दी। जो कुछ उसे कहना होता था, वह मुँह पर ही कह देती थी। हो सकता है इस में कुछ वैसा लिखा हो जो वह आमने-सामने कह पाने में समर्थ नहीं हो पायी हो। शायद इसी लिए वह कॉलेज जाते वक्त यह पुरजा थमा गयी हो। सयानी कहीं की!

दमयन्ती ने तैयार हो कर वह मुड़ा हुआ काग़ज़ खोला। दरअसल वह इस काग़ज़ के रूप में किसी लम्बे पत्र का इन्तज़ार कर रही थी, जब कि उस की आशा के विपरीत इस में बहुत कम पंक्तियाँ लिखी हुई थीं। दमयन्ती ने बहुत ही धीमे-धीमे एक-एक शब्द को पीते हुए पढ़ा—"माँ, शायद मैं सहानुभूति पूर्वक तुम्हारी पीड़ा नहीं समझ रही हूँ। लेकिन मुझ को इस का दुःख नहीं है। मेरी समझ से पापा को तलाक़ देने का निर्णय लेने में तुम से बहुत देर हो गयी। काश, यह निर्णय तुम ने हमारे जन्म से पहले, या कम-से-कम जब हम बच्चे और नासमझ थे तब लिया होता। हम भाई-बहन तुम्हें, या पापा को या दोनों को छोड़ कर रहने की कल्पना भी नहीं कर सकते। क्या तुम उन तिलमिला देने वाली बातों और तानों की ओर से बिलकुल बेखबर हो, जो हमें हरदम झेलने-सहने पड़ते हैं? माँ, तुम खुद को और हम सबों को अब और जर्जर मत करो। कम-से-कम अपनी उम्र का भी तो कुछ खयाल करो (यद्यपि उम्र ने अपना कोई चिह्न तुम पर नहीं छोड़ा है।)...."

अन्तिम पंक्ति ने और खास कर ब्रैकेट वाली ने दमयन्ती में चिढ़ पैदा कर दी। उसे झकझोर दिया। आखिर वह माँ है, क्या बच्चों की पीड़ा नहीं समझती? लेकिन उसी की बेटी उस के गालों पर तमाचा लगाये—वह इसे सह नहीं सकती। अन्तिम शब्दों को पढ़ कर उसे परसों कॉलेज में कही हुई इकॉनॉमिक्स की प्राध्यापिका मिसेज कपूर की बात याद हो आयी। मिसेज कपूर के कथन का

थोड़ा-सा हिस्सा ही वह सुन पायी थी लेकिन उतना ही उसे तिलमिला देने को काफ़ी था। प्राध्यापिका-कक्ष में जब वह प्रवेश कर रही थी तो उस ने मिसेज़ कपूर को कहते सुना था, "....हिन्दी की प्राध्यापिका है, कहानियाँ लिखती है, फ़ैशन भी कुछ कम नहीं है और सब से बढ़ कर रूप और स्वास्थ्य सभी उस के पास हैं। इतने सामान यदि मौजूद हों तो चार-चार पतियों को तलाक़......"

हिन्दी की नयी प्राध्यापिका मिस गीता ने मिसेज़ कपूर को चुप होने का इशारा किया तो वे सँभल गयीं। दमयन्ती ने व्यर्थ का झगड़ा मोल लेना उचित नहीं समझा, वरना वह ऐसे मौक़ों पर चूकने वाली न थी। वह 'ऐज-यूज़ुअल' ही बनी रही थी।

'....उम्र ने अपना कोई चिह्न तुम पर नहीं छोड़ा है'....तो क्या शीलू भी यही सोचती है कि यह तलाक़ मात्र वासना के सन्दर्भ में है। वह इस उम्र में भी सुन्दर दीखती है—यह एक ऐसा सच है जिस से वह कतराना चाहती है। उसे रंज इस लिए होता है कि लोग समझते हैं कि सिर्फ़ यही सच है। संयोग से उस ने जो अपना भावी पति चुना है, पांच बच्चों का पिता हो कर भी वह उतना ही स्वस्थ और सुन्दर है। लोग कितनी जल्दी कितनी बड़ी ग़लतफ़हमी पाल लेते हैं--दमयन्ती ने सोचा। लेकिन उस के अपने बच्चों का तो ऐसा संस्कार न था। उस ने अपने हाथों बच्चों का निर्माण किया है यद्यपि यह सच है कि विगत कुछ वर्षों से वह अपनी ही व्यक्तिगत समस्याओं को ले कर कुछ इस क़दर उलझी रही कि बच्चों की ओर ध्यान नहीं दे पायी। प्रत्येक को अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा का हक़ है—वह ऐसा मानती है और ऐसी शिक्षा उस ने अपने बच्चों को दी है। वह प्रायः बच्चों से कहती है कि स्वयं को दूसरों के व्यक्तित्व पर और दूसरों को अपने व्यक्तित्व पर हावी मत होने दो। लेकिन उस के बच्चे आज दुनिया की आवाज़ में कैसे बोलने लगे? यह 'उम्र और सुन्दरता' वाली बात! क्या ही अच्छा हो कि वह खुद अपना चेहरा खराब कर ले और तब वह दुनिया को सबूत दे कि प्रेम के लिए परिवार छोड़ रही है—सिर्फ़ प्रेम के लिए। लेकिन क्या तब वह चेहरा पॉल को पसन्द आयेगा?--यदि पॉल ने इनकार कर दिया तो? यह सोच कर दमयन्ती सिहर उठी। नहीं, वह अपना कुरूप चेहरा ले कर नहीं जी सकती। इस समय दमयन्ती ने आईने में खुद को निहार लेना ज़रूरी समझा। लेकिन वह आईने में ख़ुद को नहीं पाती। लगता है, आईने में कोई दूसरी दमयन्ती बैठी हुई है। आम खूब-सूरत लड़कियों की तरह वह आईने के सामने आत्मरति की मुद्रा में कभी नहीं होती। आईना उसे ऐसा लगता है जैसे टेबलफ़्रेम में जड़ी हुई कोई तसवीर हो, जिसे नकार कर वह अपना टेबल-वर्क कर सकती है।...दो-तीन पत्रिकाओं में कहानियों के साथ उस की फ़ोटो भी छपी थी। कई पाठकों के प्रशंसात्मक पत्र आये थे। 'यह कहानियों की करामात नहीं है"—उस ने अपने पति महेश-

नाथ चौधरी को वे पत्र थमाते हुए हँस कर कहा था—"...फ़ोटो की करामात है। ज़रा पढ़ो तो।"

●

पिछले सप्ताह से ही महेशनाथ की उस ने सूरत तक नहीं देखी है। कब दफ़्तर जाते हैं और कब आते हैं—दमयन्ती को नहीं मालूम दुबले-पतले, गुमसुम, खोये-खोये रहने वाले कमज़ोर इरादों के अधेड़ हैं महेशनाथ, जिन की चाँद दफ़्तर के हिसाबों ने सफ़ाचट कर डाली है—और दमयन्ती ज़ोर दे कर कहना चाहेगी घर के हिसाबों ने नहीं। महेशनाथ को देख कर अजनबी व्यक्ति में भी जो भाव सर्व-प्रथम जगेगा वह दया का होगा। महेशनाथ के प्रति यह दया-भाव पहले दमयन्ती में प्रेम था, अब घृणा है। दमयन्ती के लिए जीवन का अर्थ जीवन, जीवन का सम्पूर्णत: स्वीकार है, जिस में थोड़ा दु:ख, थोड़ा सुख, थोड़ा 'थ्रिल'—सब-कुछ है। महेशनाथ में घर-बार और दुनिया के प्रति ही नहीं, स्वयं अपने प्रति भी एकान्त उदासीनता और विराग-भाव है। अब तक दोनों का साथ निभता गया इस के मूल में दमयन्ती का धीरज ही था। पॉल जब से दमयन्ती के सम्पर्क में आया वह उस की प्रत्येक गतिविधि को तुलना महेशनाथ से करती और पॉल को अपने पति के ठीक विपरीत पाती। 'महेशनाथ'—इस पुराने ढंग के नाम तक से अब दमयन्ती को चिढ़ हो आयी है। पॉल को देखो—'हेमेन्द्र पॉल' इस नाम में कितनी आधुनिकता है। पॉल विजातीय हो कर भी दमयन्ती को अपना सकता है। अपनाने की शक्ति रखता है। वह ज़िन्दादिल है। उस की प्रैक्टिस अच्छी चलती है और वह पैसे बोतलों में उड़ा देता है। फिर भी वही एक ऐसा व्यक्तित्व है, जो मुसकरा कर कह सकता है—"जो पीता है सो जीता है।" मज़ा तो यह कि वह कितना भी पी ले, बहकता नहीं। ज़रा भी नहीं। सच यह है कि वह बिन पिये ही ज़्यादा बहकता है।... इस उमर में भी उस की 'स्मार्टनेस' बनी है।

शादी के बाद के कुछ वर्षों में महेश का दार्शनिकपन उसे भाया था और वे दिन दमयन्ती ने कुछ मजे में ही काटे थे। उस का परिवार उसे सुख देता था लेकिन हार्दिक तृप्ति नहीं। बाद में दमयन्ती को यह छोटा वृत्त जकड़ता हुआ मालूम देने लगा। वह खुद इस वृत्त से बड़ी थी। उस का व्यक्तित्व जीवन की राह के सारे अन्तरायों को ठोकरें मारता हुआ अब तक बढ़ता आया था। विरोधों के सारे फन उस ने कुचल डाले थे। हर जगह वह विशिष्ट रहती आयी थी यहाँ तक कि चार भाइयों के पैत्रिक परिवार में दमयन्ती की ही डॉमिनेटिंग पर्सनालिटी' थी। कॉलेज-युनिवर्सिटी में भी जब वह छात्रा थी तब और अब भी जब वह प्राध्यापिका है, स्वयं को विशिष्ट बनाये रखने में सफल हुई है। प्रदेश की कहानी लेखिकाओं में दमयन्ती चौधरी का नाम लिया जाने लगा है।

आधुनिक बनना उतना कठिन नहीं जितना कठिन है आधुनिक बने रहना—दमयन्ती को इस सिलसिले में अपनी कहानियों के साथ दिये गये कुछ 'शॉकिंग'

वक्तव्यों की याद आती है। इधर की कुछेक रचनाएँ उस ने सिर्फ़ 'दमयन्ती' नाम से छपवायी हैं, दमयन्ती चौधरी नाम से नहीं। दमयन्ती चौधरी—यह नाम उसे उधार लिया हुआ लगने लगा है। अब दमयन्ती को सन्तोष है कि उस ने उधार चुकता कर दिया है।···इस सप्ताह तक कोर्ट की इजाज़त मिल ही जायेगी।

लोग व्यक्तिगत निर्णयों पर भी अपनी भलमनसाहत और बिन माँगी सलाह की मुहर क्यों लगा देते हैं? ख़ैर, उन्हें भी तमीज़ सिखा दी गयी। लेकिन कितनों को तमीज़ ख़ैरात बाँटी जा सकती है। निर्णय लेने के पूर्व से ही दमयन्ती को व्यापक तौर पर उठने वाली प्रतिक्रियाओं और विरोधों का आभास होता था। अनुभव ने उसे समाज के ताल में उठने वाली लहरों की माप का परिज्ञान दे दिया है। कॉलेज की प्रिन्सिपल ने कहा और दमयन्ती ने उसे महिला-अधिकारों, उन की नव जागृति और पुरुष के सदियों से बदस्तूर चले आ रहे अत्याचारों की बात चला कर निरुत्तर कर दिया। पिता ने खबर सुनी तो दौड़े आये। "हमेशा से तू बे-वजह लड़ती और अपने मन की करती आयी है"—उन्होंने कहा, "मगर मुझे नहीं पता था कि इस उमर में भी तू इतनी नासमझ है। क्या तुझे समाज की कोई चिन्ता नहीं, दमयन्ती?"

दमयन्ती ने बचपन वाली दमयन्ती बन कर भोलेपन से पूछ लिया—"समाज किस चिड़िया का नाम है, पिता जी?"

पिता बिगड़ पड़े। उन्होंने ग़ुस्से से कहा—"समाज चिड़िया नहीं; शेर होता है, शेर! दमयन्ती, तुम्हारी भावुकता उस के ख़ूँखार पंजों से तुम्हें बचा नहीं सकती। इन बच्चियों का भविष्य क्यों रौंद रही हो अपने पैरों तले? तुम्हारी ज़िद के आगे मैं हमेशा झुका हूँ, मगर तुम्हारे तर्क तो मेरी समझ में आते ही नहीं।"

दमयन्ती के पास सभी आक्षेपों के माक़ूल जवाब हैं। बच्चों के भविष्य उन के अपने हैं, दमयन्ती उन में क्यों दख़ल दे? यदि उन्हें ताने सहने पड़ते हैं तो इस से उन की सहन-शक्ति ही बढ़ती है जो प्रतिकूल स्थितियों में उन के 'ऐडजस्टमेण्ट' में काम आयेगी। हर प्रयोग की शुरूआत प्रतिकूलताएँ सहती है।

गहरे मानसिक तनाव के समय दमयन्ती अपना अलबम देखना पसन्द करती है। परसों रविवार को इस में से वे सारे चित्र उस ने निकाल दिये थे, जिन में महेशनाथ उस के साथ थे। अब अलबम में विभिन्न मुद्राओं में दमयन्ती स्वयं है और अन्य उस से सम्बन्धित उस की पसन्द के चेहरे। शहर की वह एकमात्र चर्चित कथा-लेखिका है और इस हैसियत से स्थानीय स्टूडियो वाले ने उस के कई चित्र खींचे थे—आकर्षक चित्र।

लेकिन इस अलबम में उसे कोई कमी महसूस होती है। पॉल के कुछ और चित्र क्या इस कमी को नहीं भर सकेंगे?

उन चित्रों का दमयन्ती क्या करे जिन में वह महेश के साथ है। क्या वह उन्हें महेशनाथ को लौटा दे? किन्तु क्या जो

अतीत वह महेशनाथ को वापस कर देगी वह सिर्फ़ अकेले महेशनाथ का था? क्या दमयन्ती उस से कहीं भी, कुछ भी जुड़ी हुई नहीं थी? इन व्यतीत क्षणों के क्या कोई अर्थ शेष नहीं बचे हैं? क्या उस के ग़लत निर्णयों ने ही वे 'निरर्थक क्षण' रचे थे? इस क्षण के निर्णय को भी क्या कोई सम्भावित अगला ('आधुनिक'?) क्षण ग़लत नहीं कर जायेगा—इस को क्या गारण्टी है? अपने वक्राकार प्रश्नों से दमयन्ती स्वयं घिर जाती है। मूल चिन्तन-बिन्दु ही इन में खो गया लगता है। इस स्व-सर्जित स्थिति में वह खुद कहां निरापद है?

•

अतीत को कोई तोड़ कर फेंक नहीं सकता। दमयन्ती को इस प्रश्न से कि वह पॉल को क्यों चाहती है, बड़ा यह प्रश्न लगने लगा है कि वह महेशनाथ से क्यों घृणा करती है? लड़कियों ने यदि उस से दो-टूक लफ़्ज़ों में इन प्रश्नों के उत्तर की अपेक्षा की तो क्या उस से सामना कर पाना सम्भव होगा? उन्हें 'प्यार एक अनिवार्य दुर्घटना है' कह कर तो टाला नहीं जा सकता, जैसा कह कर उस ने बचपन की एक सहेली से पिण्ड छुड़ाया था।

नहीं, दमयन्ती इन प्रश्नों में नहीं फंसेगी। वह उलझेगी नहीं। अतिशय चिन्तना व्यर्थ का सिरदर्द होगी। वह यह परिवार छोड़ देगी। उसे विद्रोह चाहिए। सीधा और सीधा विद्रोह। बस।

विद्रोह!—दमयन्ती अपनी मुट्ठियाँ कसना चाहती है। तुरत निश्चय पर पहुँच जाती है। लेकिन फिर···यह विद्रोह क्यों?····किस लिए···?···किस से?···वह मुट्ठियाँ नहीं बाँध पाती। उसे विद्रोह करने की खुली छूट है। महेश उसे भला या बुरा करने से कभी मना नहीं करता। बच्चों को भी वही सब-कुछ अन्ततः स्वीकार्य होगा, जो वह चाहेगी। दमयन्ती ने सदा से मनचाहे प्रयोग किये हैं। किसी ने उसे मना नहीं किया है।

उसे ग़ुस्सा होता है। कोई अपने सम्पूर्ण सामर्थ्य से क्यों नहीं उसे बरजता है, जिस से वह भी प्रतिरोधी शक्ति को देख ले? सब इतने लिजलिजे क्यों हैं?····

····दमयन्ती किस से विद्रोह करे? अब उस के निश्चय पर उस की मुट्ठियाँ जैसे बँधना नहीं चाहतीं। सहसा उसे आभास होता है मानो वह असहाय हो गयी है। इस युद्ध में वह अकेली है और पराजय झेलने को शापित है। यह 'महत्त्वहीन' विजय पराजय नहीं तो और क्या है? वह 'ईज़ी चेयर' में बिखर जाती है।

उसे लगता है कि सर्वथा आधुनिक नहीं हुआ जा सकता।····कि उस ने आधुनिक बने रहने के लिए हठपूर्वक प्रयोग-शृंखला रची है····कि वह परम्परित हो गयी है। वह आधुनिकता की अपनी पुरानी परिभाषा में संशोधन करेगी। (उस ने अपने निर्णय में संशोधन कर लिया है)।

दमयन्ती अपनी मुट्ठियाँ दबाती है। उन में से उसे बालू-जैसी कोई चीज़ फिसलती-सी लगती है। ■■
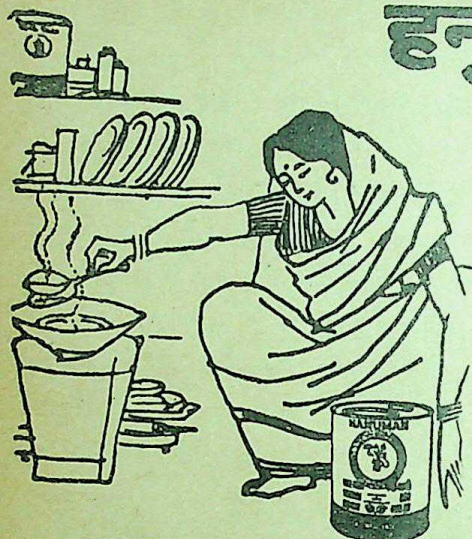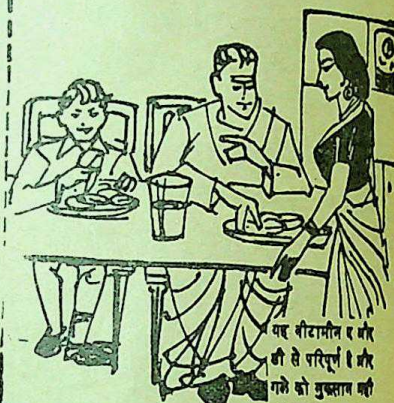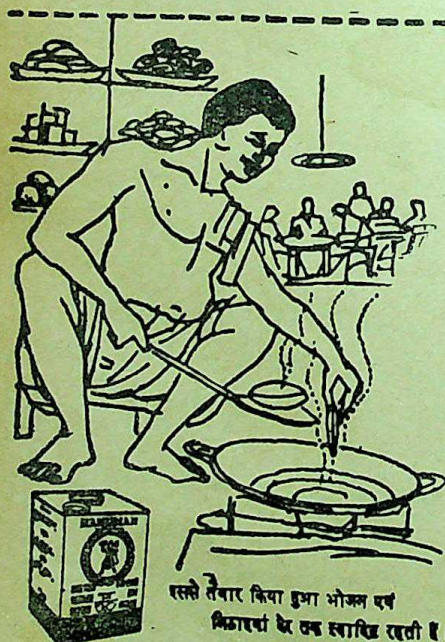
अस्तित्व की परिभाषाएँ : : इन्द्रचन्द्र शास्त्री

दर्शनशास्त्र में अस्तित्व की परिभाषा अनेक प्रकार से की गयी है। तथ्यातथ्य चर्चा को छोड़ कर यदि उन के पीछे काम करने वाली मनोवृत्ति का अध्ययन किया जाये तो वे समाजशास्त्र के अध्ययन में भी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

न्यायदर्शन वस्तु की परिभाषा जाति के आधार पर करता है, गुण अथवा कर्म को उस का आधार नहीं मानता। उदाहरण के रूप में गोत्व नाम की एक जाति है। वह जिस में है उसे गाय कहा जायेगा। यहाँ इस का आधार आकृति है, गुण नहीं। दूध दे या न दे, विशेष प्रकार की आकृति होने-मात्र से उसे गाय कहलाने का अधिकार मिल जाता है।

दूसरी ओर बौद्धदर्शन अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजन को ले कर चलता है। गाय दूध देने का प्रयोजन पूरा करती है। जिस में यह सामर्थ्य नहीं है, उसे गाय नहीं कहा जा सकता।

वेदान्त अस्तित्व की परिभाषा स्थायित्व के आधार पर करता है। उस की दृष्टि में परिवर्तन अवास्तविकता है। इसी प्रकार एकत्व वास्तविक है और भेद निरी कल्पना। किन्तु बाह्य प्रतीत होने वाले समस्त पदार्थों में परिवर्तन और भेद दिखाई दिया। फलस्वरूप उन का निराकरण करता हुआ वह एक ऐसे तत्त्व पर पहुँचा जहाँ वे दोनों नहीं हैं। जब उसे लगा कि विधिमुखी व्याख्या करने पर भेद आ ही जायेगा, क्योंकि प्रत्येक विधान का अर्थ है दूसरे का निषेध। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिए उस ने निषेधमुखी व्याख्या प्रारम्भ की। उसी को उपनिषदों में नेति-नेति शब्द-द्वारा प्रकट किया गया है। ब्रह्म को निर्गुण तथा निरा-

कार भी इसी लिए बताया जाता है, क्योंकि परिवर्तन गुणों में होता है, वस्तु में नहीं। परस्पर भेद भी गुण अथवा आकृति के आधार पर किया जाता है।

दूसरी ओर बौद्धदर्शन ने परिवर्तन और परस्पर भेद को वास्तविक बताया। उस ने कहा कि एकत्व तथा स्थायित्व निरी कल्पना है। एक क्षण पहले जो राम था वह अब नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न है। इस ओर बढ़ते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि केवल गुण वास्तविक हैं। उन का अधिष्ठान जिसे गुणी कहा जाता है, निरी कल्पना है। वेदान्त ने गुणों को अवास्तविक कहा और बौद्धदर्शन ने गुणी को।

जिस समाज का वर्तमान उज्ज्वल नहीं होता वह अतीत के गुण गा कर आत्मतृप्ति करना चाहता है। वहाँ उच्चता का मापदण्ड गुण न हो कर जाति अथवा सम्प्रदाय बन जाता है। ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाती है जो विद्या, पुरुषार्थ, त्याग, सेवा आदि वास्तविक गुण न होने पर भी आदर प्राप्त करना चाहते हैं। वे कुल-विशेष में उत्पन्न होने अथवा विशेष प्रकार की वेशभूषा पहन लेने-मात्र से अपने को प्रतिष्ठा का अधिकारी मानने लगते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार जिस घड़े में छेद है और पानी भरने के काम नहीं आ सकता वह भी घड़ा तो है ही। इसी प्रकार अतीतजीवी वर्ग उस व्यक्ति को भी महत्त्व देना चाहता है जिस में अपना कोई गुण नहीं है। न कमा सकता है, न दूसरों की सेवा करता है, फिर भी सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है।

दूसरी ओर प्रगतिशील समाज वर्तमान को महत्त्व देता है। वह अतीत-अनुभवों से लाभ उठाता है। साथ ही ऐसी बातों को दूर रखता है जो प्रगति की राह में रोड़े अटकायें और जो प्रगति में सहायक सिद्ध हुई हैं उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है। यहाँ मूल्यांकन का आधार अतीत न हो कर वर्तमान उपयोगिता है। अतीतजीवी समाज में उस कम्बल को महत्त्व दिया जाता है जो गुरु के गुरु ने ओढ़ी थी चाहे अब वह किसी काम की न हो। फिर भी उसे रेशमी चद्दर की पोटली में बाँध कर ऊँचे स्थान पर रखते हैं। हाथ जोड़ते हैं, फूल चढ़ाते हैं, गाजे-बाजे के साथ जुलूस निकालते हैं और सिर पर उठा कर घूमते हैं। बताने की आवश्यकता नहीं कि यह पोटली सिर का बोझ बन जाती है। वह हमें ऊँचा न उठा कर नीचे दबाती है। दूसरी ओर वर्तमान को महत्त्व देने वाला समाज कम्बल का मूल्यांकन शीत-निवारण के आधार पर करता है। यदि ठण्ड नहीं मिटती तो उसे सँभाले रखना व्यर्थ समझता है।

अमेरिका नया राष्ट्र है। उस ने समयानुसार नयी परम्पराओं को जन्म दिया और प्रगति करता गया। किन्तु जहाँ बाह्य प्रगति के साथ-साथ चरित्र का विकास नहीं होता वहाँ जीवन में वैषम्य आ जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने को दूसरे से ऊँचा मानने लगता है और अपहरण एवं शोषण की मनोवृत्ति बल पकड़ लेती है। साथ ही सत्तारूढ़ वर्ग दूसरे वर्ग को दबाये रखना चाहता है। इस मनो-

वृत्ति के फलस्वरूप अमेरिका को एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है, दूसरी ओर जातीय संघर्ष बल पकड़ रहा है।

सोवियत रूस ने वैषम्य का पोषण करने वाली राजनीति तथा धर्म—दोनों के विरुद्ध क्रान्ति की और साम्यवाद की स्थापना हुई। वर्तमान समय में उस के दो रूप मिलते हैं। एक ओर रूस उदार दृष्टि अपना रहा है और सामयिक उपयोगिता के अनुसार मूल्यों में परिवर्तन कर रहा है। दूसरी ओर चीन कठोर एवं उग्र दृष्टिकोण अपना रहा है। दूसरे शब्दों में रूसी साम्यवाद को प्रगतिशील कहा जायेगा और चीनी साम्यवाद को कूटस्थ। प्रथम परिस्थिति के अनुसार सिद्धान्तों में परिवर्तन कर रहा है जो जीवन का चित्र है। दूसरा सिद्धान्तों के अनुसार युग का निर्माण करना चाहता है, वहाँ सिद्धान्त मनुष्य के लिए नहीं है, किन्तु मनुष्य सिद्धान्तों के लिए है। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त उन्माद का रूप ले लेते हैं। आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ जाता है और प्रत्येक तथ्य को उसी रूप में देखा जाता है।

अतृप्ति प्रगति का प्रथम चिह्न है। जो व्यक्ति उपलब्ध सुख-सामग्री से तृप्त नहीं है, वह उद्योग के क्षेत्र में आगे बढ़ता है। जो प्रचलित धारणाओं से तृप्त नहीं है वह छान-बीन तथा बौद्धिक-विवेचन करता है। फलस्वरूप स्वस्थ धारणाओं को पोषण मिलता है और अस्वस्थ धारणाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। किन्तु धर्म ने सन्तोष पर बल दिया और अतृप्ति को पाप बताया। फलस्वरूप भारतीय मानव प्रगति के स्थान पर स्थितिशील हो गया।

हमारे सामने दो शब्द आते हैं—संस्थान और प्रतिष्ठान। प्रथम का अर्थ है मिल कर खड़े होना और द्वितीय का अर्थ है आगे बढ़ना। प्रथम में सुरक्षा की भावना मुख्य है और द्वितीय में प्रगति की। प्रश्न है कि हम किस लक्ष्य को अपनायेंगे? जब तक भारतीय संस्कृति विदेशियों के साथ संघर्ष में उलझी रही तब तक प्रथम बात को महत्त्व दिया गया। उस समय यह नहीं देखा गया कि कौन-सा तत्त्व अच्छा है और कौन-सा बुरा। निजी होने-मात्र से प्रत्येक के गुणगान और रक्षा का प्रयत्न किया गया। वह संघर्षकालीन मनोवृत्ति थी। शान्ति के समय वही हेय हो जाती है। अब हमें प्रत्येक बात पर उपयोगिता की दृष्टि से विचार करना होगा। स्थायित्व का नारा छोड़ कर संस्कृति को प्रगतिशील बनाना होगा।

■ ■

अँधेरा सूरज-मन

इन्दु जैन

गीले फ़र्श पर कितना तेज़ है सूरज
कितना ठण्डा, बेअसर भी !
मौसम से प्रतिध्वनित पशु – मन
कितना उन्मत्त
कितना निश्चेष्ट भी !

कदली पत्तों से फिसलती धूप पर उतरता
चीटियों की लम्बी क़तार में समाता
सूरज है
मन है
अँधेरा है—अन्तहीन।
सब अनवरत हैं
और उतने ही सारहीन।
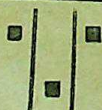
हर बार जब नींबू पर फूल आता है
हर शरद—ठण्डे तीरों से खदेड़ा मन
कुँलाच लगाता है।
शब्द उठता सिहराता है—
हर बार नियम का सुनहरा पाश उस का दम घोंट
जाता है।

प्रमाद—
कायरता—
भय—
अनवरत हैं—सचेष्ट हैं
उतने ही सारहीन—धारहीन।
गीले फ़र्श पर चमकता बेजान सूरज
कितना तेज़ है! ▪▪

काफ़ी का ऑर्डर

भगवान सिंह

"असलियत तो यह है कि हम जिस तन्त्र में जी रहे हैं उस में हमारे लिए कोई स्थान नहीं है। हम इस में अनपेक्षित घुसपैठिये हैं।"

"ठीक वैसे ही जैसे हर बच्चा अपने मां-बाप की असावधानी से एक घुसपैठिये के रूप में दाखिल हो जाता है, हम ने समाज की लापरवाही का फ़ायदा उठा कर इस में अपने लिए एक कोना छेंक लिया है।"

"नहीं, बात ऐसी नहीं है। हर आदमी दुनिया में अपने मां-बाप की लापरवाही का फ़ायदा उठा कर ही आता है, पर उस के आ जाने के बाद उस का स्वागत किया जाता है और उसे एक कोना सुरक्षित मिल जाता है। हमारी स्थिति इस के विपरीत है। हमें समाज में

एक कोना नहीं मिला है, बल्कि हमें समाज से बाहर कर दिया गया है। हम समाज में रहते हुए भी इस के लिए बाहरी हैं। निकाले हुए लोग।"

"और इस के बावजूद यह समाज चाहता है कि हम इस के नियमों के पाबन्द रहें।"

"हाँ, यह हमें भीतर आने भी नहीं देता और यह भी चाहता है कि हम अपने को इस के भीतर मानें।"

"बहुत-कुछ अपने सोचने पर निर्भर करता है। आदमी किसी मकान के भीतर रहता हुआ भी खिड़की पर खड़ा हो कर महसूस कर सकता है कि वह मकान के बाहर है। हम लोग ऐसे ही हैं। हम खिड़की पर खड़े हो कर रोशनी और हवा को भी रोक रहे हैं और अपने को इस से बाहर भी महसूस कर रहे हैं। हम बाहर का भी फ़ायदा उठाना चाहते हैं और भीतर का भी और उत्तरदायी कहीं के लिए नहीं रहना चाहते।"

"हाँ, हम समाज से सब-कुछ लेना चाहते हैं और इस के बावजूद इस के क़ायदों के पाबन्द नहीं रहना चाहते।"

"हम उस कुत्ते-जैसे हैं जो गाड़ी के नीचे चलता हुआ महसूस करता है कि गाड़ी का सारा बोझ उसी के ऊपर है। मात्र अपनी रचनाएँ छपा लेने से हम समाज के महत्त्वपूर्ण अंग नहीं हो जाते। हमारा महत्त्व आज के समाज में उतना भी नहीं है जितना एक कुत्ते का होता है। कम-से-कम लोग उस से डरते तो हैं कि वह मौक़ा पा कर उन्हें काट लेगा। और हमारी हालत यह है कि हम गालियाँ भी देते हैं तो कोई परवाह नहीं करता। हमारे किये न कुछ होना है और न ही हम किसी बात के लिए ज़िम्मेदार हो सकते हैं।"

"तुम ठीक कहते हो, ज़िम्मेदारियाँ बँटाने का मतलब होता है उस शक्ति को बँटाना जो आदमी को उन ज़िम्मेदारियों को पूरा करने के लिए मिलती हैं। हमारे हाथ में कोई शक्ति नहीं है। कोई सुविधा नहीं। उसे लोगों ने बहुत पहले से ही बाँट रखा है, इस लिए हम किसी बात के लिए ज़िम्मेदार नहीं हो सकते। हम न कुछ बना सकते हैं, न बिगाड़।"

"हम एक लोकतन्त्र में जी रहे हैं जिस में एक-एक आदमी की राय का अपना महत्त्व

होता है और हर आदमी बड़े चुप-चुप ढंग से इसे बदलने में अपनी भूमिका पेश करता है। इस में हर आदमी उन नन्हें कीड़ों की तरह चुपचाप काम करता है जो चट्टानों को चालते रहते हैं और एक दिन आता है कि वह अभेद्य चट्टान जिसे तोड़ने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, अपने-आप टूट कर भहरा जाती है। हम यदि चाहें तो बहुत-कुछ कर सकते हैं।"

"हमारे चाहने या न चाहने से कुछ नहीं होता। तुम ने कीड़ों की बात ठीक कही। जनतन्त्र हर आदमी को आदमी की स्थिति से गिरा कर नगण्य कीड़ों में बदल देता है। हमें भी कीड़ों की स्थिति में पहुँचा दिया गया है। मैं ने किसी कीड़े की राय नहीं पूछी पर जहाँ तक मेरा विश्वास है, कोई कीड़ा चट्टान को तोड़ने के लिए उसे नहीं चालता है। वह अपने जीवित रहने के लिए उस चट्टान को चाटता रहता है और यदि इस से चट्टान गिर ही जाती है तो इस का न तो उसे कोई श्रेय दिया जा सकता है और न चट्टान को तोड़ गिराने का ठेका ही मैं ने कीड़ों को दिये जाते देखा है। उस पर इस का कोई उत्तरदायित्व नहीं आता कि चट्टान अभी तक खड़ी क्यों है।"

"हाँ, चट्टान तोड़ने का उत्तरदायित्व केवल उसी को सौंपा जा सकता है जिस के हाथ में इस के लिए अपेक्षित हथियार सौंपे गये हों और इस के लिए उचित पुरस्कार दिया गया हो। हम दोनों से वंचित हैं और इस लिए हम चाहें भी तो न तो कुछ कर सकते हैं और न हो किसी बात के लिए ज़िम्मेदार हो सकते हैं।"

"अव्वल तो हम यह ही नहीं जानते हैं कि हम क्या चाहते हैं या हमें क्या और क्यों चाहना चाहिए, दोयम, किसी को हमारे चाहने या न चाहने की कोई चिन्ता भी नहीं है।"

"हम अपने लेखन से जनमत को प्रभावित करते हैं और यदि हम चाहें तो इस देश में फैली यथास्थिति को बदलने में सहायक हो सकते हैं। हम चाहें तो बहुत-कुछ कर सकते हैं, भले ही किसी दूसरे को हमारे चाहने या न चाहने की परवाह हो या नहीं।"

"बात ठीक है। कोई आदमी किसी दूसरे के चाहने की परवाह नहीं करता। हर आदमी को स्वयं अपना चुनाव करना होता है। हर आदमी को अपना कर्त्तव्य और दाय स्वयं निश्चित करना होता है।"

"तुम दोनों सुखी आदमी हो। हर पागल आदमी सुखी होता है क्योंकि वह भी ठीक इसी तरह सोचता है।"

"पागल आदमी क्या सोचता है, और कैसे सोचता है, वह सोचता भी है या नहीं सोचता—यह बिना पागल हुए नहीं जाना जा सकता। हमें पागलों के विषय में कोई बात नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह अप्रामाणिक बात होगी।"

"हम सभी कम या अधिक पागल ही हैं।"

"और हम अधिक से अधिक दूसरों पर मुँह बना सकते हैं, अपने कपड़े और विचार

कीचड़ में सान कर अपने को विशिष्ट समझ सकते हैं और अपनी विशिष्टता से दूसरों का मनोरंजन कर सकते हैं। इस से आगे हमारे किये कुछ नहीं हो सकता।"

"नहीं, हम इस से आगे बहुत-कुछ कर सकते हैं। मसलन, दूसरों पर थूक सकते हैं, उन्हें ढेले मार सकते हैं और अपने मन को यह तसल्ली दे सकते हैं कि हमारे ऐसा करने से दुनिया बहुत तेजी से बदलती जा रही है।"

"दरअसल हम सभी अपने-अपने ढंग से कर भी यही रहे हैं।"

"इस का मतलब यह कि आप नहीं जानते कि आप के लिखने का उद्देश्य क्या है?"

"नहीं, न हम जानते हैं और न यह जानना अपने-आप में कोई मतलब रखता है।"

"फिर आप जो कुछ लिखते हैं वह लिखते क्यों हैं?"

"आप यह सवाल क्यों पूछते हैं?"

"यह जानने के लिए कि आप यह लेखन का धन्धा क्यों अपनाये हुए हैं।"

"मैं यह जानने के लिए लिखता हूँ कि मैं जो कुछ लिखता हूँ उसे लोग पढ़ते क्यों हैं; जैसे एक पागल आदमी अपने-आप को नंगा इस लिए कर लेता है कि वह जान सके कि लोग उसे देखते क्यों हैं, या पत्थर यह जानने के लिए चलाता है कि लोग उस से डरते कितना हैं।"

"और मैं इस लिए लिखता हूँ कि अपने लेखन से अपने चारों ओर एक ऐसी दीवार खड़ी कर सकूँ जिस के भीतर पहुँच कर मैं अपने ऊपर होने वाले आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकूँ।"

"लेकिन यह हमला हो कहाँ से रहा है।"

"मैं इसे भी अपने लेखन से ही जानना चाहता हूँ।"

"पहले आप को यह जान लेना चाहिए तब क़लम उठानी चाहिए।"

"जैसे आप को यह जान लेना चाहिए था कि मैं आप के प्रश्न का क्या जवाब दूँगा और इस के बाद सवाल करना चाहिए था। इस से पहले आप ने ज़बान खोल कर अपनी मूर्खता का परिचय दिया है।"

"देखिए, अब आप हद से बाहर जा रहे हैं।"

"हम हद के भीतर थे कब जो बाहर जाने का सवाल खड़ा हो। हम तो सदा से उस सरहद से बाहर निकाले हुए हैं जिस के भीतर से आप बातें कर रहे हैं और जिस के भीतर रह कर आप हम से जवाब तलब करने की गुस्ताखी कर रहे हैं।"

"अब आप ने आगे कुछ कहा तो ठीक नहीं होगा।"

"मैं आप को यह विश्वास दिला कर तो बात कर नहीं रहा था कि मैं जो कुछ कहूँगा वह बिलकुल ठीक होगा और ठीक के अलावा और कुछ नहीं होगा।"

इस अदालती जुमले पर सभी एक साथ हँस पड़े और एक क्षण पहले जो तीखा वातावरण तैयार हो गया था, वह इसी हँसी

में घुल गया।

हम सभी कॉफ़ी हाउस में बैठे हुए थे। किसी के सामने कॉफ़ी का प्याला नहीं था। बैरा एक साथ आठ गिलास पानी रख गया था और वे गिलास बातों के क्रम में बड़े इत्मीनान से खाली कर दिये गये थे। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद वह फिर आठ गिलास पानी रख गया था और लोगों ने फिर पानी को हलक़ के नीचे उतार लिया था। अब तक मैं इस बैरे के बारे में एक ही बात जानता था कि वह बहुत भुलक्कड़ है। एक मेज़ से लिया हुआ आॅर्डर दूसरी मेज़ पर पेश कर आयेगा और एक आदमी का बिल किसी दूसरे आदमी के सामने भी पेश कर बैठेगा। पर आज मैं ने देखा कि वह एक कुशल व्यंग्यकार भी है। दो बार वह स्वयं आठ-आठ गिलास पानी पहुँचा चुका था और वह भी बिना किसी के पानी माँगे और अब उस ने हमारे पास से गुज़रते हुए बॉय को जो ट्रे में आठ-दस भरे गिलास लिये आगे की ओर जा रहा था, टोंक कर कहा, "जितना पानी है सब उस मेज़ पर पहुँचा दो।" और उस ने सचमुच उस की आज्ञा का पालन कर दिया।

मेरे आने से पहले से ही मेज़ पर किसी का चारमीनार का एक पैकेट पड़ा हुआ था। लोगों ने उस में से एक-एक सिगरेट सुलगा लिये थे और जब मैं आया था तो मैं ने भी उस में से एक सिगरेट सुलगा लिया था। यह एक ऐसा लावारिस माल था जिसे एक बार सब के सामने कर देने के बाद उस मालिक का अधिकार उस पर से जाता रहा था। इस सयय यह पैकेट खाली पड़ा था और हम सभी को मुँह बिराता-सा मालूम हो रहा था।

बैरे को इधर आते देख कर हम में से हर आदमी बातचीत में अधिक दिलचस्पी लेने लगता था और कभी-कभी एक साथ कई आदमी इस तरह बोलने लग जाते थे कि पूरी बात सुन पाना कठिन हो जाता था। बातें किसी आदमी की न हो कर एक खास स्थिति की हो गयी थीं और चार मीनार के उस पैकेट की तरह ही उन पर किसी का अपना अधिकार नहीं रह गया था, भले ही वे किसी एक के मुँह से निकल रही हों।

ठहाके के बाद एक क्षण तक सभी टूटी हँसी हँसते रहे थे। बीच-बीच में टुकड़े-टुकड़े में। पहली हँसी का स्वाद ताज़ा करने के लिए। या शायद कुछ नया कहने को न सूझ पाने के कारण और फिर थोड़ी देर के लिए चुप्पी छा गयी थी। इस थोड़ी देर की चुप्पी में ही पूरा कॉफ़ी हाउस अजनबी-सा लगने लगा था। सच, इस में बैठे होने का अर्थ ही था कुछ बकते रहना, भले ही वह बकना एक तात्कालिक आवश्यकता से अधिक न हो।

"हम लोग यहाँ बैठे क्यों हैं?"

"सम्भवतः यह जानने के लिए कि हम यहाँ क्यों बैठे हैं।"

"नहीं, हमें यही पता नहीं है कि इस समय हम कॉफ़ी हाउस के भीतर बैठे हैं या बाहर निकाल दिये गये हैं।"

"थोड़ी देर हमें बाहर निकल कर यह

सोचना चाहिए कि कॉफ़ी हाउस हमें जगह क्यों नहीं देता ।"

"पर जगह तो हम लोग पहले से घेरे बैठे हैं ।"

"तुम गावदी आदमी हो । हर बात का अर्थ अभिधा में लगाते हो । जगह का मतलब केवल जगह नहीं होता । जगह का मतलब होता है वे सारी सुविधाएँ जो किसी विशेष जगह से जुड़ी होती हैं ।"

"हाँ, यह एक अहम मसला है । इस पर कॉफ़ी हाउस के भीतर बैठ कर विचार नहीं किया जा सकता । हमें कुछ देर बाहर निकल कर पान खा आना चाहिए ।"

"हमें तुम्हारा यह निमन्त्रण हृदय से स्वीकार है ।"

इस निमन्त्रण को तीन और आदमियों ने स्वीकार कर लिया था और अब पाँच आदमी कॉफ़ी हाउस से बाहर निकल गये थे ।

"तुम ने इन के वह छक्के छुड़ाये कि याद करेंगे ।"

"इन को क्या गिनती है । यह तो बड़े-बड़ों के छक्के छुड़ा दे ।"

"मुझे छक्के-पंजे में क्यों घसीटते हो भाई ।"

"ये लोग दुनिया को सही रास्ते पर चलाना चाहते हैं और जब देखते हैं कि दुनिया सही रास्ते पर नहीं चल रही है, यानी कोई कॉफ़ी का ऑर्डर नहीं देने जा रहा है तो खिन्न हो कर पान खाने चले जाते हैं ।"

"पान खा कर वे टलने वाले नहीं हैं । फिर आयेंगे ।"

"इसी को तो पाइथागोरस की स्वयंसिद्धि कहते हैं । पर जब तक उन के मुँह में पान है तब तक वे दुनिया को बदलने की परेशानी से बचे रहेंगे ।"

"हमारी परेशानी यह है कि हम यह स्वीकार भी नहीं करना चाहते कि कितनी टुच्ची ज़रूरतों को आड़ देने के लिए हम कितने भारी-भरकम सवाल खड़े कर लेते हैं ।"

"अगर हम अपने टुच्चेपन को साफ़-साफ़ स्वीकार भी कर लें तो हमारी आधी समस्याएँ अपने-आप खत्म हो जायेंगी ।"

"तुम फिर उन्हीं लोगों की तरह सोचने लगे जो समझते हैं कि हमारी हर समस्या इतनी सीधी है कि उसे चुटकी बजा कर खत्म किया जा सकता है ।"

"लेकिन ऐसा स्वीकार कर लेने के बाद हम तमाम वाहियात बातों से तो बच जायेंगे ।"

"तुम हमारे टुच्चेपन के एकमात्र प्रवक्ता हो ।"

"इस युग में कोई किसी दूसरे का प्रवक्ता नहीं हो सकता । हर आदमी को अपना प्रवक्ता स्वयं बनना पड़ेगा ।"

"ठीक कहते हो । हमारे युग को तुम्हारे-जैसे ही एक चिन्तक की आवश्यकता है ।"

"हमें अपना सलीब अपने कन्धे पर ढोना होगा और स्वयं अपना जुर्म इक़बाल करना होगा और स्वयं ही अपने लिए दण्ड निश्चित करना होगा ।"

"यही तो हमारे युग की सचाई है। तुम ने इस की नब्ज़ पहचान ली।"

"हमें···हमें····"

"हमें अब अधिक उत्साह में नहीं आना चाहिए और जल्द अपने लिए कॉफ़ी मँगा लेनी चाहिए, नहीं तो जनसंख्या बढ़ने का खतरा है।"

"हाँ, हमें अब जल्द से जल्द कॉफ़ी मँगा ही लेनी चाहिए।"

"कितना छोटा-सा सवाल है पर हम इसे कितनी बड़ी-बड़ी समस्याओं से ढँक देते हैं।"

"हमारी सभी बड़ी समस्याएँ किसी छोटी सचाई को ढँकने के लिए ही गढ़ी गयी हैं।"

"तुम्हारे विचार बिलकुल आधुनिक हैं।"

"हम बहुत-से शब्दों का प्रयोग बिना सोचे-समझे ही करते रहते हैं। जैसे इस आधुनिक शब्द को ही ले लो। कोई नहीं जानता कि इस शब्द का अर्थ क्या है, पर हर आदमी—मैं तुम्हारी बात नहीं कर रहा हूँ—इस का अन्धाधुन्ध प्रयोग करता चला जाता है।"

"सम्भव है लोग इस शब्द का प्रयोग इस का अर्थ जानने के लिए ही करते हों।"

"बहुत सम्भव है। पर अब वे पान खा कर लौटने ही वाले होंगे।"

"लौटने दो। जब तक वे पान खा रहे हैं तब तक कॉफ़ी का दावा नहीं कर सकते।"

"यह बहुत क़ायदे की बात कही तुम ने। अब हमें उन के पान चबा लेने से पहले तो कॉफ़ी हर हालत में पी लेनी चाहिए।"

"ठीक कहते हो। हर काम का एक उपयुक्त अवसर होता है। यदि उस अवसर पर वह काम न कर लिया जाये तो बाद में पछताना पड़ता है।"

"हाँ, हमारे बुज़ुर्ग भी ऐसा ही कहा करते थे और उस उपयुक्त अवसर का पता लगाने के लिए वे मुहूर्त-विचार कराया करते थे।"

"हमें बुज़ुर्गों की बात नहीं करनी चाहिए। हम अपने को उन की स्थिति में डाले बिना उन की बातों का मतलब नहीं समझ सकते। और चूँकि कोई आदमी अपने को किसी दूसरे की स्थिति में नहीं डाल सकता इस लिए किसी दूसरे की बात नहीं करनी चाहिए।"

मेरे पास पैसे के नाम पर केवल एक दस का नोट था और उस के सामने पेश होते ही उस की हत्या हो जानी थी। इस लिए मैं बार-बार यथार्थ को सिद्धान्त की आड़ में छिपाता जा रहा था।

"हाँ, जब हमें खुद नहीं मालूम कि हम कौन हैं, क्या हैं, हमारी औक़ात क्या है, हम चाहते क्या हैं तो हमें किसी दूसरे की बात करने का कोई अधिकार नहीं है।"

"नहीं, मुझे इन में से एक-एक बात मालूम है। हम सभी लेखक हैं और कॉफ़ी हाउस में बैठे हैं। हम कॉफ़ी पीना चाहते हैं और उस से पहले यह जान लेना चाहते हैं कि कितनी बहसों के घोल से कॉफ़ी का एक प्याला तैयार होता है।"

"देखो, उस दरवाज़े से एक जीनियस चला आ रहा है। अभी पिछले ही हफ़्ते उस की कहानी प्रकाशित हुई है। उसे बुलाओ और उस की कहानी की तारीफ़ करो और फिर कॉफ़ी पियो।"

"हाँ, इस नुस्खे पर पूरे एक महीने तक उस से कॉफ़ी पी जा सकती है।"

"लेकिन वह तो उधर ही बैठ गया।"

"रुको। मैं अभी जा कर उसे यहाँ खींच ले आता हूँ।"

अब हम में से तीसरा आदमी भी उठ कर चला गया और वह उसे खींच कर यहाँ लाने के बजाय स्वयं वहीं बैठ गया।

"अब हम केवल दो रह गये हैं।" मैं ने कहा।

"हाँ, हम अब गणित के हर सिद्धान्त से केवल दो हैं।"

"गणित के सिद्धान्तों की बात छोड़ो। उन से तो दो दो भी रह सकता है, एक भी हो सकता है और शून्य में भी बदल सकता है।" मैं ने अपने लिए डिफेन्स लाइन तैयार करते हुए फ़रमाया।

"तुम अकेले आदमी हो जिस से बातें करने पर मैं बोर नहीं होता। हाँ, ज़रा अपनी बात का खुलासा करना तो।"

"देखो, हम और तुम दोनों अपने-आप में एक-एक इकाइयाँ हैं। हम तभी दो हो सकते हैं जब कि हम किसी बिन्दु पर मिलते हों। पर यदि एक को एक में से घटा दिया जाये तो हम शून्य रह जायेंगे।"

"अब मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यह ऋण का सिद्धान्त जिस ने भी निकाला होगा उस ने इसे कॉफ़ी हाउस या ऐसी ही किसी जगह में निकाला होगा और वह भी तब जब उस के सामने का आदमी उस को निराश कर के चला गया होगा और उसे भी लाचार हो कर उठना पड़ा होगा।"

"हम इसी बात पर पान खा सकते हैं।"

"ठीक है। तुम पान खा कर आओ और इस बीच में इकाई के सिद्धान्त पर अमल करता हुआ अपने लिए एक कॉफ़ी मँगाता हूँ।"

"इस का मतलब है कि तुम्हारे पास पैसे हैं।"

"सिर्फ़ एक कॉफ़ी का।"

"तो मैं तो तभी से जोर दे रहा था कि इस युग में हर आदमी को अपना प्रवक्ता स्वयं बनना पड़ेगा।" मैं ने पान खाने का इरादा छोड़ दिया, क्योंकि पान खाने का तो कॉफ़ी पीने से पहले कोई तुक ही नहीं था। ■ ■

रवीन्द्रनाथोत्तर आधुनिक बांग्ला कविता–प्रस्वेद और पौरुष का कवि प्रेमेन्द्र मित्र

● रंगनाथ राकेश ●

जी हाँ, जहाँ की तरुणियों के नयनों में कन्दर्प (कं न दर्पयतीति) बसता है उन्हीं के देश का साहित्य। कहा था संस्कृत के रससिद्ध कवि ने 'नेत्रे गौडाङ्गनानां वसति रतिपतिः' ऐसे देश का प्रखर कोमल बांग्ला साहित्य, रतनारी, कजरारी आम की फाँकों-सी आँखों के देश का साहित्य, लहलहाते धान के खेतों और हरहराते नारिकेल गाछों वाली 'राँगामाटी' का साहित्य। रवीन्द्रनाथोत्तर आधुनिक बांग्ला कविता के प्रखरतर तरुण जीवन्त कवियों में से एक प्रेमेन्द्र मित्र भी हैं। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में दार्शनिक पैठ थी, यह उपनिषद् की दृष्टि थी। मूलतः वे सौन्दर्य, माधुर्य और आनन्द के कवि थे, जीवन का जो कुत्सित, गर्हित और पददलित पक्ष है उसे उन्होंने नहीं देखा, और उन का काव्य उन्हें विरासत में मिले संस्कारों की छाया में ही पला और फला-फूला।

'कल्लोल'-युग को रवीन्द्र-काव्य-साहित्य की प्रतिक्रिया मानने वाले समालोचक भी हैं, परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रतिक्रिया का काव्य टिकाऊ नहीं वरन् क्षणिक होता है, प्रतिक्रिया कभी महत् नहीं होती लेकिन कल्लोल-युग के असाधारण कवि प्रेमेन्द्र मित्र के काव्य की महत्ता उन के 'प्रथमा' नामक काव्य-संग्रह से ही बांग्ला कविता के ऊपर छाने लगी। यतीन्द्रनाथ सेन गुप्त, मोहित लाल मजूमदार, जीवनानन्द दास, विष्णु दे, नजरुल इस्लाम, सत्येन्द्रनाथ दत्त, बुद्धदेव बसु, और प्रेमेन्द्र मित्र, सुधीन्द्रनाथ दत्त, सजनीकान्त और विमलचन्द्र घोष आदि कवि अपनी-अपनी प्रतिभा ले कर रवीन्द्रोत्तर बांग्ला काव्य में आये हैं और सभी का अवदान महत्त्वपूर्ण है। मैं प्रेमेन्द्र मित्र पर एक विशेष दृष्टि से विवेचना

कर रहा हूँ यहाँ, वह दृष्टि है—यथार्थ की ऐतिहासिक दृष्टि, उस दृष्टि में रहस्यात्मक दर्शन का अंजन-लेप नहीं है, वह दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण है, बड़ी ही सक्षम और पौरुषवान् है। राशिभूत मानवीय दुःख को कवि-गुरु ने औपनिषदिक आनन्दवादी दृष्टि से देखा लेकिन प्रेमेन्द्र मित्र ने इतिहास चेतना की पर्तों के आर-पार चीरती हुई ऐतिहासिक दृष्टि से अधःपतित मनुष्यों की दैनन्दिन जीवन की जययात्रा के हर पहलू को देखा, सुना, गुना, उसे अभिव्यंजित किया। डी० एच० लॉरेन्स ने जिसे 'ब्लड नॉलेज' कहा था, वह ज्ञान प्रेमेन्द्र मित्र को प्रत्यक्ष जीवन में विरासत में था। हमारे यहाँ शास्त्रों में भी कहा गया है—"बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?..." भूखा कौन-सा पाप नहीं करता ? अर्थात् पाप का मूल ही 'भूख' है—जो कुछ भी नहीं करना चाहिए वह भी बुभुक्षित व्यक्ति कर डालता है। प्रेमेन्द्र ने ही पहली बार निर्भय स्वर में कहा—"विकृत भूख के फन्दे में मेरा भगवान् रोता है, माँ की गोद में मेरे करोड़ों भूखे भगवान् रोते हैं" :

"विकृत क्षुधार फाँदे बन्दी मोर भगवान्
काँदे,
काँदे कोटि मार कोले अन्नहीन भगवान्
मोर !"

काव्य-सौन्दर्य की चिकनाहट, उस की लुनाई, उस की कोमलता कहीं कुत्सित जीवन के चित्रण से छिल न जाये—यह डर पूर्ववर्ती कवियों को रहा, रवीन्द्रनाथ ने अपने चित्रों में जीवन के इस पक्ष की व्यंजना अवश्य कहीं-कहीं दी है लेकिन उसी दार्शनिक, रहस्यवादी लेप के संग। उन की क़लम जो न कह सकी, उसे उन की कूची ने कहा। कल्लोल-युग के प्रखर कवि प्रेमेन्द्र मित्र को यदि हम हिन्दी की प्रगतिवादी कविता के परिप्रेक्ष्य में खड़ा करें तो नागार्जुन की याद आती है। मार्क्स और डार्विन का प्रभाव स्पष्टतः इस काल पर उभर कर पड़ा था चाहे वह हिन्दी हो या गुजराती, मराठी हो या बांग्ला, तमिल हो या मलयालम। उद्दाम गीतात्मकता और सड़े हुए रोमांस का स्वर इस प्रगतिशील युग से नहीं सहा गया, वह उच्छल रोमान्स जिसे गेटे ने 'काव्य का क्षय-रोग' कहा था, धीरे-धीरे इस काल में स्वयं ही मर गया। दर्दे-इश्क़ के सिवा दूसरे भी दर्द थे जिसे इस काल के कवियों ने समझा। "ठठेरा जिस ठक्-ठक् ध्वनि के साथ काँसे-पीतल के बरतनों को पीटता है, लुहार निहाई पर हथौड़ा मारता है, धीवर कुमार अजाने नदी-पथ की ओर नौका की डोरी को तानता है, जो दरिया में जाल फेंकता है, पहाड़ की छाती बेध कर सुरंग काटता है, वह जो जंगल में अपनी कुल्हाड़ी की चोट से बलिष्ठ, हृष्ट-पुष्ट वृक्ष को भू-पतित करता है"—इन सभी का कवि है प्रेमेन्द्र मित्र—

"आमि कवि जतो कामारेर,
आर कांसारिर आर छुतोरेर
मूटे मजूरेर, आमि कबि जतो इतरेर।"

दृप्त कण्ठ से पहली बार शस्य-श्यामल गौड़ धरित्री के एक प्रगतिशील कवि ने घोषित किया—"मैं सभी नीच जनों का

कवि हूँ।"

"कामारेर साथे हातुड़ि पिटाइ,
छुतोरेर धरि तुरपुन।
कौन् से अजाना नदी पथे भाई
जोआरेर मुखे टानि गुन।
पाल-तूले दिये कौन् से सागरे
जाल फेलि कौन् दरियाय।
कौन् से पाहाड़े काटि सुड़ंग
कोथा अरण्य उच्छेद् करि भाइ।
कुठार घाय।"

लुहार के साथ हथौड़ी चलाता, बढ़ई के साथ बर्मा पकड़ता हुआ, माँझी के साथ जाल फेंकता यह प्रेमेन्द्र मित्र बांग्ला काव्य का वाल्ट ह्विटमैन बन जाता है। जिस विराट् मानवीय चेतना के साथ ऐकात्म्य होने पर ह्विटमैन श्रेणीगत स्वार्थों के बन्धन और गोरी चमड़ी का दर्प छोड़ कर यह कहता है :

"I am enamoured of growth
out of doors,
Of men that live among cattle
or taste
Of the ocean or woods,
Of the builders and steerers
of ships,
And the wielders of axes and
The drivers of horses."

बन्द दरवाज़ों के बाहर की जिस हाथी-दाँती मीनार वाली दुनिया से वाल्ट ह्विटमैन भाव-प्रमत्त हुआ था वह संसार था चरवाहों का, मल्लाहों का। वह संसार था लकड़हारों का, खलासियों का, जहाज़ियों का, मज़दूरों और कोचवानों का। प्रेमेन्द्र मित्र ने मनुष्य के पौरुष को जिस भाव-भंगी में उपस्थित किया, जिस दृष्टि से उसे देखा, वह दृष्टि अनन्य थी, असाधारण थी—अर्थात् मनुष्य के पौरुष को, मानवीय पुरुषार्थ को प्रकृति स्वयं वरण करती है :

"माटी मागे भाइ हलेर आघात,
सागर मागिछे हाल।
पातालपुरीर बन्दिनी धातु,
मानुषेर लागि काँदिया काटाय काल।"

अर्थात् क्वाँरी धरती चाहती है हल का आघात, समुद्र चाहता है पतवार का स्पर्श, पाताल लोक के बन्दी खनिज पदार्थ रोते हैं समय काटते हुए उद्धारक पौरुष हेतु। श्रम का जयगान और पौरुष का वर्चस्व प्रेमेन्द्र का निजस्व है। मरुस्थल, नदी और तुषार-मण्डित गिरि-चूड़ा के अन्तस्स्वर को प्रेमेन्द्र ने पहचाना और उसे अभिव्यंजित किया :

"तपती कुमारी मरु चाहे
आज प्रथम पायेर धूलि,
अजाना नदीर उत्स डाकिरे
घोमटा आधेक खूलि।
निःसंग गिरि-चूड़ा,
तुहिन तुषार-शयने आभारे
स्मरिछे (सरिछे) विरहातुरा।"

अर्थात् 'अस्पर्शिता कुमारी मरु धरती किसी साहसी पुरुषार्थी पुरुष के प्रथम चरणों की धूल लेना चाहती है, अनजाना, अचीह्ना नदी का मुहाना आधा घूँघट उठा कर पुकारता है किसी साहसी यायावर माँझी को। हिम-शैय्या पर सोयी हुई गिरिकन्या विरह-

सब हो मुझे याद करती है।" यह व्यंजना कितनी प्राणवान् है और कितनी पौरुषमय है पौरुषमय दृप्त कण्ठ-स्वर ऐसा ही होता है, महाप्राण निराला के कण्ठस्वर की याद हो आती है—मुझे, अनायासेन।

"अबे सुन बे गुलाब! भूल मत
गर पायी खुशबू रंगो आब!"

पूर्ववर्ती कवियों के स्वप्न-विलास वाली बात इस युग से झर चुकी थी। रोमाण्टिक भाव-धारा का क्षय-रोग काव्य से मर चुका था। गीतात्मकता के उच्छल भाव-विलास का शव-दाह यथार्थ की श्मशानभूमि पर हो चुका था। जिस बात को महात्मा कवि द्रष्टा वेदव्यास ने महाभारत में कहा था—"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।" अर्थात् "गूढ़ जो ब्रह्म है, वह बताता हूँ सुनो, मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ भी नहीं है।" मनुष्यत्व और मनुष्य से बढ़ कर कुछ भी तो नहीं है, स्वर्ग-अपवर्ग का प्रपंच तो भ्रम है, सत्य है यह मानव, यह मानवीय जिजीविषा। मनुष्य ही तो देवता है. प्रेमेन्द्र मित्र ने भी इस का अनुभव किया, इस अनुभव को वाणी दी उन्होंने :

"....देवतार जन्म होलो।
देवतार जन्म होलो सुपवित्र प्रभाते,
माटिर कोलेर 'परे—
मार बुके....।" (प्रथमा)

धरती की गोद में माँ के अंक में जिस शिशु का जन्म हुआ, वही तो देवता है। देव-जन्म का यही तो प्रत्यक्ष दर्शन है। हम ने तो इस देवता का सदा अपमान किया। गणदेवता तो अपमानित ही होता आ रहा है।

प्रेमेन्द्र मित्र के काव्य में जो व्यापक दृष्टिकोण है वह मुझे दॉस्ताव्स्की के 'क्राइम ऐण्ड पनिशमेण्ट' की याद दिला देता है। जिस औपन्यासिक सत्य को पकड़ में दॉस्ताव्स्की ने देखा था कि पापी और अपराधी के पाप या अपराध का प्रायश्चित्त पूरे समाज को करना चाहिए! वस्तुतः यह तो सामाजिक शोषण और सामाजिक लोभ का ही परिणाम है जो व्यक्ति को अपराधी बना देता है। जिन कलाइयों में राखी का धागा बँधना चाहिए था उन में लोहे की हथकड़ियाँ पहना देते हैं :

"राखी बन्धने बाँधिबो जाहारे ताहारे
पराइ बेड़ी,
से मोर आपन भाई।"

जीवन-विधाता के प्रति सौन्दर्यमुग्ध और श्रद्धायुत प्रणाम नहीं अर्पित कर पाता है कवि। एक विद्रोही नमस्कार दिया उस ने विधाता को :

"जीवन-विधाता, आजि विद्रोहीर
लहो नमस्कार!

लहो एइ प्रीतिहीन प्रनिपात खानि।"

जर्जर, तृषित, बुभुक्षित, धूसर-मलिन, कृश, दुःखित कोटि-कोटि नर-नारियों के ग्लानि, पाप, कुण्ठा, पीड़ा एवं क्रन्दन में सने आँसुओं का खारा सागर जीवन-विधाता के चरणों को कोटि-कोटि वर्षों से धोता आ रहा है, किन्तु कहाँ पसीजता है उस का हृदय? यह जो दीनता है उसे क्या 'भाग्य' या 'नियति'

अथवा 'ललाटलिपि' कह कर ही छुटकारा पाया जा सकता है ? प्रेमेन्द्र मित्र के उपन्यास 'पाँक' का एक चरित्र इस का उत्तर देता है :

"आमि सेइ मामूली सत्ते (सत्ये) विश्वास करि जे मानुषेर सत्तिकार मुक्ति तार निजेर भेतरकार प्रेरना छाड़ा आसे ना। आमि चाइ ओइ बीभत्सता ओइ पंगुता ओ अन्धता सम्बन्धे तादेर सचेतन करे तूले विपुल असन्तोष तादेर मने रोपन कोर्त्ते। वृहत्तर सत्तार व्याकुलता सेइ असन्तोष थेकेइ आसबे बलेइ आमार विश्वास। देहेर श्रमेर परिबर्ते ओरा जा पाय जीवन निर्बाहेर पक्खे (पक्षे) ता जथेष्ट नय ता आमि जानि एवं ओदेर मानसिक ओ नैतिक दैन्य जे आर्थिक दैन्येर फल ताओ आमि जानि।" अर्थात्—"मैं उस मामूली सत्य का विश्वासी हूँ कि मनुष्य की सच्ची मुक्ति उस के निज की भीतरी प्रेरणा के अतिरिक्त नहीं आती। उसी अन्धता, उसी बीभत्सता और उसी पंगुता के सम्बन्ध में सचेतन बना कर उन के मन में तीव्र असन्तोष जगाना चाहता हूँ मैं। मेरा विश्वास है कि उसी असन्तोष से ही विराट् सत्ता के प्रति आकुलता जगेगी। शारीरिक श्रम के बदले में वे जो कुछ पाते हैं वह जीवन-निर्वाह के लिए यथेष्ट नहीं है, यह मैं जानता हूँ और उन की मानसिक और नैतिक दीनता जो आर्थिक दैन्य का ही परिणाम है यह भी मैं जानता हूँ।" प्रेमेन्द्र मित्र की यह दृष्टि कल्पना-विलास से अंजित नहीं, जीवन के रेल-पेल, जिजीविषा के समुद्र-मन्थन से उपजी यह दृष्टि है—जिन्दगी से सीधे-सीधे।

'सम्राट्' शीर्षक काव्य-संग्रह तक आते-आते प्रेमेन्द्र मित्र सामाजिकता को पचा कर अन्तर्मुखी हो उठते हैं। मनुष्य की दो सत्ताएं सदैव जागरूक रहती हैं। व्यक्तिगत सत्ता और सामाजिक सत्ता। इसी 'व्यक्तिगत सत्ता' की प्रतिष्ठा को प्रेमेन्द्र मित्र ने यहाँ प्रतीक रूप में, स्थापित करने का काव्यात्मक प्रयास किया 'सम्राट्' शीर्षक काव्य-ग्रन्थ में। मनुष्य अपने मन का सम्राट् होता है, उस 'मन के सम्राट्' पर जब सामाजिकता हावी होने लगती है तो कुरुक्षेत्र-युद्ध आरम्भ हो जाता है :

"एकछत्र अधीश्वर आमार साम्राज्येर
से सिंहासन थेके आमाय चेतना हठाते
समवाय समिति सेखाने जेनो ना देय हाना;
ताहलेइ बाँधबे कुरुक्षेत्र।"

(—'सम्राट्'-सम्राट्)

प्रेमेन्द्र मित्र वृहत्तर सत्ता की चेतना और उस चेतना का जागरण काठ के स्टूल पर बैठे सशस्त्र प्रहरी और काठ के गमले में लगे खजूर के पौदे तक में देख लेते हैं :

"सिंड़िर एकटि बाँके,
टूलेर उपर बोसे थाके सशस्त्र प्रहरी,
आर काठेर टबे एकटि पामेर चारा,
जानि पामेर चारार मध्ये संगोपन
आछे अरन्य (अरण्य)
काठेर टबे एकदिन ताके धरबे ना,
काठेर टूले निःसंग जनता आछे थेमे
स्तब्ध हये

एक दिन तार स्थानुत्व जाबे घूचे ।
शुधू काठेर सिंड़ि कोनोदिन पौंछाबे
ना आकाशे ।"
—('काठेर सिंड़ि'–सम्राट्)

"सीढ़ी के एक कोने में स्टूल के ऊपर हथियारबन्द पहरेदार बैठा रहता है और काठ के टब में खजूर का एक पौधा। जानता हूं, खजूर के इस पौधे में सारा जंगल छिपा है, यह काठ का गमला एक दिन फट जायेगा, काठ के स्टूल पर जनता स्तब्ध-सी बैठी है, एक दिन उस जनता की जड़ता समाप्त हो जायेगी। केवल काठ की सीढ़ी किसी भी दिन मनुष्य को आकाश तक नहीं पहुँचा सकेगी।" कितनी तीव्र व्यंजना है, कितना उत्ताप है, कितनी आँच है इन शब्दों में? अरण्य-जीवन के दुर्दाम, दुर्निवार हिंसा के प्रति प्रेमेन्द्र मित्र का स्वाभाविक आकर्षण है, अफ्रीका पर लिखी उन की प्रसिद्ध कविता 'नीलकण्ठ' अथवा 'बाघेर कपिश चोखे' आदि कविताओं में यह स्पष्ट है। कितनी छोटी-छोटी मृत्युओं के ऊपर जीवन के आनन्द की अनुभूति होती है, यदि मनुष्य आमरण तत्त्व को पाले तो बाद में वह फिर मृत्यु की खोज में उन्मत्त हो उठेगा :

"मृत्यु जीवनेर शेष सार आविष्कार
आर शिव नीलकण्ठ।"

प्रेमेन्द्र मित्र के 'सागर थेके फेरा' का काव्यतत्त्व इन दोनों काव्य-संग्रहों 'प्रथमा' और 'सम्राट्' से भिन्न है। इस की बत्तीस कविताएँ अपनी व्यंजना में अनवद्य और प्रखर है, 'जोनाकि मन', 'दोकान', 'जीवनानन्द', 'सूर्यबोज', 'रात जागा छड़ा' आदि कविताएँ अपने व्यंग्य में इतनी तीव्र हैं कि सारी भावोच्छलता को चीर कर अलग कर देती हैं।

"जल पड़े पाता नड़े, एइ निये पद्य,
लिखे फेले भावलाम होलो अनवद्य।
गाछे-गाछे पाता नड़े, चाले शुधू पाता नेइ,
काकर मेशानो चाल मेले शुधू राशनेइ।"

"वृक्षों के पत्ते हिलते हैं पर चावल का पता नहीं!" प्रेमेन्द्र मित्र की यह व्यंजना उस के चारण कवि वाली भूमिका को याद दिला देती है। प्रेमेन्द्र मित्र पर रवीन्द्रनाथ ने बड़ा खीझ कर कहा था—"जीवन के जिस भू-भाग पर मरुस्थल का पक्का अधिकार नहीं हुआ है, जहाँ फूल खिलते हैं, फल फलते हैं वहाँ भी कवि को वंशी बजाने का बयाना मिला है—सिर्फ़ झाँझ-खँजड़ी बजाने का ही काम नहीं है उस का। बात भी सही है रवीन्द्रनाथ की अपनी जगह।

मृत्यु-दीप्त जीवन का यह कवि 'सागर थेके फेरा' (सागर से प्रत्यावर्तन) शीर्षक कविता में सिन्धु-सारस को जिस प्रतीक से उभारता है वह अपूर्व है—

"भाबि, बलि, सागरेर इच्छे,
शादा फेना थेके जेनो,
शांख-माजा डाना मेले,
आकाशेर तल्लाश निच्छे।

—सागर की इच्छा श्वेत फेन-प्रवाह से उठ कर शंख सदृश श्वेत डैनों को पसार कर आकाश तलाश रही है। यहाँ भी 'व्यक्ति-सत्ता' के जागरण के प्रति प्रेमेन्द्र प्रतीकबद्ध

भाषा में उभारते हैं। रवीन्द्रनाथ ने पता नहीं क्यों दुन्दुभि-स्वर का निषेध किया था प्रेमेन्द्र के सन्दर्भ में। यद्यपि 'कल्पना' काव्य-संग्रह के 'दुःसमय' शीर्षक कविता में उन्होंने पौरुष के विहंग को ललकारा था :

"आछे शुधू पाखा, आछे महानभ अंगन,
उषा दिशाहारा निविड़-तिमिर आँका—
ओरे विहंग, ओरे विहंग मोर,
एखनि अन्ध, बन्ध कोरे ना पाखा।"

—ओ मेरे प्राण-पाखी! डैने मारता चल, उड़ता चल, उड़ता चल, उड़ता चल, दिशाहारा होने पर भी इस अन्धकार में पंख मारता चल। प्रेमेन्द्र मित्र के 'सागर थेके फेरा' (सागर से प्रत्यावर्तन) में भी प्रच्छन्नतः स्वर यही है—चरैवेति! चरैवेति!!

प्रेमेन्द्र की एक सर्वश्रेष्ठ वर्चस्वी कविता है 'नील कण्ठ'; प्रेमेन्द्र का समूचा व्यक्तित्व यहाँ उभरता है।

नील कण्ठ का हिन्दी रूपान्तरण

नहीं गया हूँ दक्षिण-अर्णव के किसी द्वीप-पुंजे
नहीं गया हूँ मैं कभी हवाई-द्वीपे।
घास-घाघरो वाली छायावर्णी उस की रूपसियों को
फिर भी मैं खूब चीन्हता हूँ।
विदेशी सैलानियों की कैमरा-कलुषित दृष्टि से नहीं।
नमकीन खारी बयार के झोंकों काँपता है जैसे नारिकेलवन।
वैसे ही मैं ने नृत्य तरंगायित उन के घास-घाघरों को देखा है।
लावण्यमयी पोलेनेशिया!
महासागर के वक्ष पर प्रसंरित हो जैसे
किसी विस्मृत-भग्न-जरा-जीर्ण
सभ्यता का भग्नांश।

मैं जानता हूँ :
समुद्र के औरस से
प्रवाल-द्वीप के गर्भ से
हुआ है उस का जन्म।
सूर्य के औरस और महारण्य के गर्भ से
जो जन्मा : उस तमिस्रावर्णाभ अफ़्रीका को
भी जानता हूँ मैं।
शौकीन शिकारियों और तथाकथित विद्वान् सैलानियों
की दृष्टि से नहीं।
अरण्य के चूते हुए झुटपुटे अन्धकार में
दिगन्तस्पर्शी उत्तप्त शुभ्रता में
उद्दाम दुरन्त अफ़्रीका के उदग्र कण्ठ में
ध्वनित है एक आरण्यक उल्लास—
हे—इडि, हाइडि हाइ!
हे—इडि, हाइडि हाइ!!
काले चमड़े की छूत से बचने वाले—
लेकिन काले मन की कालिमा से जर्जर
नपुंसक क्लीव अमरीकी प्रलाप-प्रतिध्वनि नहीं है यह!

रात्रि-निविड़ अरण्य गहन अफ़्रीका का
रोमांचित उत्तालोच्चारित उद्वेग-उच्छ्वास :
हे—इडि, हाइडि, हाइ!
हे—इडि, हा—इडि—हा—इ।

अरण्य करता है आह्वान: ओ रे जाती हूँ, जाइ
व्याघ्र-दन्त हैं प्रखर
नख-पंक्ति और भी नखर
आँखें उस की हिंस्र चमकदार
जिस में झलक रही मृत्यु-कालिमा ।
हे-इडि, हा-इडि, हा-इ !
हे-इडि, हा-इडि, हा-इ !
वन-पथे विभीषिकाएँ-विघ्न है प्रचुर,
बल्लम हमारे किन्तु प्रखर तीक्ष्णतर !
कायर सिंह तो मारना ही जानता है सिर्फ़
लेकिन हम तो मरना भी चाहते हैं :
आमरा जे मरते ओ चाइ
हे-इडि, हा-इडि, हाइ
हे-इडि, हा-इडि, हाइ
नाच-नाच कर और शोख़ बन गयीं
कटावदार कजरारी आँखें : बालाओं की
मस्त हो उठी हैं वे नृत्यान्दोलन के पेंगों पर
छलक रही है मस्ती आबनूस वर्णी अंगों में
छलक रही है चिकनाई और लुनाई
हे-इडि, हाइडि, हाइ
किन्तु हमारे कण्ठ में है कहाँ
वह आदिम उल्लास ?
घास के घाघरों वाली तरुणियों का वह
सामुद्रिक दुर्निवार आन्दोलित रास ?

हो भी आखिर कैसे ?
नहीं है हमारे जीवन में ज्वलन्त मृत्यु
समुद्रवर्णी नीलाभ पोलिनेशिया की मृत्यु,
सिंह-हिंस्र पौरुषेय अफ़्रीका की मृत्यु
हमारे जीवन में नहीं है ।
है बस सिर्फ़ धुआँ देना और बुझना
सभ्यता का मुखड़ा इसी से है बीमार,
पाण्डुर ।
स्वस्थ करो, सार्थक करो अर्थ
सभ्यता के दाय का : उस की थाती का
कहीं से लाओ उस में तप्त-फेनिल मृत्यु-स्वाद
सूर्य और सागर के औरस से
जिन्होंने जन्म लिया है :
रक्त दे कर उन्होंने मृत्यु-मद पिया है ।
क्या लाभ है कीड़े-मकोड़ों की सभ्यता
बनाने से
या फिर कछुए की तरह लम्बी परमायु पा
बचने से ?
बचा तो रहता है क्षुद्र अमीबा भी
किन्तु मृत्यु जीवन का अन्तिम सारभूत
आविष्कार है
और
मृत्यु ही है शिव नीलकण्ठ ।

■ ■

कटी हुई पटरियाँ

एक कल्पना पूरी हुई। अमेरिका आने का दिन आया। उस दिन बड़े भोर ही उठ कर स्नान किया। नयी साड़ी पहनी और माँ के साथ महालक्ष्मी के मन्दिर गयी। विधिवत् पूजा की। आँखें मूँद कर मन्नतें माँगीं।

उठ खड़ी हुई। किन्तु एक क़दम आगे बढ़ाते ही पुनः लौट पड़ी। फिर से आँखें मूँद कर कहा : "और, माँ, बस एक बात और। मेरे मन में इतनी ताक़त देना कि अमेरिकी जीवन पर एक भी कहानी न लिखूँ। ज़िन्दगी में, मैं और कुछ बन सकूँ या न बन सकूँ, किन्तु मुझे 'पर्ल बक' हरगिज़ नहीं, क़तई नहीं, बनना है।"
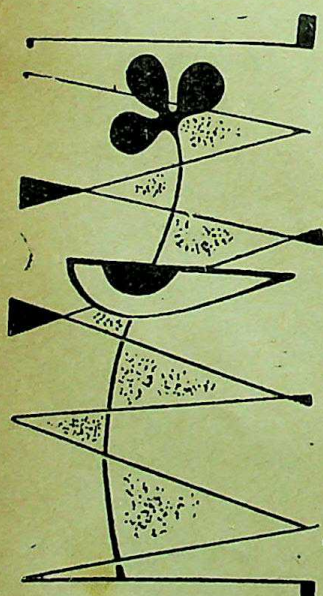
उस कच्ची उम्र की, उस बचकानी-सी माँग को सुन, क्या उस दिन जगज्जननी महालक्ष्मी मुसकरायी थीं ?

प्रतिज्ञा पूरी करने की क्या मैं ने कोशिशें नहीं कीं ? बड़े भाई ने चिढ़ाया। मौसेरे भाई ने हँसी-हँसी में धमकाया। मौसेरी बहन ने अपना ही राग अलापा। किन्तु मैं ने अपनी शपथ न तोड़नी चाही। महीनों तक, वर्षों तक ....लिखे तो सिर्फ़ 'धर्मयुग' के लिए कुछ छोटे-छोटे लेख.... 'नवनीत' के सम्पादक श्री रतनलाल जोशी जी से वादा कर आयी थी, अतः उन के लिए भारतीय परिवेश पर दो-तीन कहानियाँ....बस।

फिर अचानक एक दिन न जाने कैसे उत्साह से भर एक कहानी लिख डाली। डाक में डाल दी।

सोमा वीरा

उस रात तकिया भींग-भींग गया ।

मन्दिर की वे सीढ़ियाँ आँखों के आगे आ खड़ी हुईं । उन्हें भुलाना चाहा तो शिलाओं से टकराता समुद्र सामने आ डटा । उस हौले-हौले लहराते जल पर मानो महालक्ष्मी अवतरित हुईं—"पगली, तू एक वर्ष में लौट आने का इरादा कर के चली थी। प्रतिज्ञा एक वर्ष के लिए थी, न कि ज़िन्दगी-भर के लिए ।"

मन को समझा लेना कितना आसान है ।

किन्तु लेखनी यदि जीविका का साधन न हो, केवल 'हॉबी' हो, तो क्या इस समाज में ज़िन्दा रह सकती है ?

यह समाज 'न्यूट्रैलिटी' में, निःसंगता में, विश्वास नहीं करता । इस के लिए काले और सफ़ेद के बीच कोई घुला-मिला रंग नहीं, यहाँ व्यक्ति 'पॉलिटीशियन' है, या लेखक है; व्यापारी है, या अभिनेता है; डॉक्टर है, या कवि है । यदि कोई 'पॉलिटीशियन' कहानी लिखने की जुर्रत करे तो उस के दिमाग़ का कोई पेंच ढीला माना जाता है । किसी व्यापारी को यदि कविता लिखने का शौक़ है, तो वह दुनिया की नज़रों से छिपा कर, छद्म नाम से ही कुछ प्रकाशित करा सकता है । प्रत्येक व्यक्ति के गले में मानो एक तख्ती लटकी है । वह तख्ती ही उस का परिचय है । किसी दूसरी तख्ती को लटकाने का प्रयत्न, पहली तख्ती को उखाड़ डालना, विनष्ट कर देना है ।

ऐसे समाज में गान्धी, बुद्ध, शंकराचार्य या ईसामसीह के पनपने योग्य ज़मीन है या नहीं, यह सोचने की जैसे इस समाज को फ़ुरसत नहीं है । ऐसे होने वाले व्यक्तियों के गले में 'क्रान्तिकारी' या 'हिप्पी' की तख्तियाँ लटका कर ही जैसे यह निश्चिन्त है ।

ऐसे में लेखनी को यदि सिर्फ़ 'हॉबी' के रूप में ज़िन्दा रखने की इच्छा हो, तो वह

मनोरंजन का साधन न रह, ज़िन्दगी की पटरियाँ काटने का नश्तर बन जाती है।

और जब-जब ज़िन्दगी की कोई पटरी कटती है, मैं बेचैन हो कर सोचती हूँ—संसार में और भी तो लाखों 'हॉबी' हैं—कुत्ते-बिल्ली पालना, पत्र-मित्र बनाना, टेनिस, गोल्फ़ खेलना····ऐसा कौन-सा शनि किस घड़ी मेरे सिर सवार हुआ था, कि मैं लेखन को 'हॉबी' बना बैठीं?

पीछे की ओर नज़र जाती है। बहुत पीछे तो समझ में नहीं आता—मैं ने किस दिन 'लेखनी' को अपनाया था? या 'लेखनी' ने मुझ बेचारी को अपनी 'हॉबी' बना डाला था?

छोटी-सी उम्र। कौन-सी कक्षा थी, आज यह भी याद नहीं आता। स्कूल में सालाना जलसे की तैयारियाँ हो रही थीं। उन में से एक प्रतियोगिता कवीन्द्र रवीन्द्र पर लिखा गया एक निबन्ध भी थी। उस दिन हिन्दी प्राध्यापिका ने कक्षा में पैर रखते ही कहा, "इस प्रतियोगिता में प्रथम पारितोषिक तुम में से किसी एक को ही मिलना चाहिए। बोलो, कौन यह निबन्ध लिखेगी?"

मैं खेल-कूद की चार प्रतियोगिताओं में पहले ही नाम लिखा चुकी थी इस लिए चुपचाप हाथ नोचा किये बैठी रही। तभी सब से पिछली क़तार में बैठी एक लड़की बोल उठी, "बहन जी, सोमा से कहिए। वह लिखेगी तो हमारी कक्षा को ज़रूर पारितोषिक मिलेगा।"

मैं ने चौंक कर उस लड़की की ओर देखा। उस का प्रत्येक कक्षा में 'फ़ेल' होने का 'रिकॉर्ड' था। मेरा प्रत्येक कक्षा में 'प्रथम' आने का 'रिकॉर्ड' था। कक्षा-धर्म के अनुसार मेरा उस की ओर निगाह उठाना भी मना था। मैं और मेरी सहेलियाँ उसे 'दुशाला' कह कर चिढ़ाया करती थीं। उसी 'ग़रीब' के द्वारा भरी कक्षा में मेरा ऐसा सम्मान!

घर आयी तो सुना—माँ के पास अनुरोध आया था, जलसे का सभापतित्व वे करें। पिता के बार-बार समझाने से उन्होंने वह अनुरोध स्वीकार कर लिया था।

मैं खीझ से विफर गयी—"पारितोषिक यदि अपनी माँ के हाथ से मिले वह भी क्या पारितोषिक है! नहीं, मैं निबन्ध-विबन्ध नहीं लिखूँगी।"

बहन जी ने समझाया। प्रधान अध्यापिका (हेड मिस्ट्रेस) ने समझाया—प्रतियोगिता में जाने वाले निबन्धों पर सिर्फ़ नम्बर होगा, नाम नहीं होंगे। पारितोषिक का निर्णय दूसरे स्कूलों से चुने गये अध्यापकों की निर्णायक समिति करेगी।

और मेरे मन ने चुपके से कहा—उस लड़की की बात पर पूरी कक्षा ने कैसे उत्साह से हाथ उठाया था। क्या उस विश्वास की रक्षा तू नहीं करेगी?

पारितोषिक कक्षा में टाँग दिया गया···किन्तु वह लड़की अगले वर्ष स्कूल में थी या नहीं, यह याद नहीं····आज के पहले कभी उस को याद भी नहीं आयी····आज वह न जाने कहाँ है····

और गरमियों की किसी एक छुट्टियों का वह सवेरा। हम सब लॉन में बैठे नाश्ता कर

रहे थे। पिछली रात बड़े भैया ने शरत् की कोई कहानी पढ़ी थी। उस की चर्चा उन्होंने जो शुरू की तो वह बन्द ही नहीं हो रही थी। मैं ने कुछ खीझ कर कहा, "वह भी कोई कहानी है! वैसी तो मैं पचास कहानियाँ लिख सकती हूँ।"

भैया ने चिढ़ाया : "पचास? तू एक भी लिख सके, तो मैं अपना 'मिकैनो' तुझे इनाम दूं।"

वह 'मिकैनो' जिसे भैया मुझे छूने भी नहीं देते थे! दूध का गिलास वहीं छोड़, अपने कमरे में घुस, मैं ने किवाड़ों की चटखनी चढ़ा दी। दोपहर को भोजन नहीं किया, तीसरे पहर नाश्ता नहीं। पिताजी की क्रोध-भरी आवाज़ से मन काँपा। किन्तु 'मिकैनो' जो लेना था। मैं अपने कमरे में बन्द, स्कूल की कॉपी में से काग़ज़ फाड़, लिख-लिख कर फाड़ती रही।

सन्ध्या बीते, तीन पन्ने की वह कहानी माँ के सामने हाज़िर की।

पढ़ कर उन्होंने पीठ थपथपायी, "मेरी बेटी बड़ी हो कर रवीन्द्र, शरत्-सी लेखिका बनेगी।"

वह कहानी स्कूल की पत्रिका में छपी। उस दिन माँ की बात सुन कर भुला दी थी (माँ को तो बस प्रशंसा करने का बहाना चाहिए)। कहानी के प्रकाशन को महत्त्व नहीं दिया था। महत्त्व था बस 'मिकैनो' का।

आज माँ की याद आती है। उन काग़ज़ों पर झुका उन का वह स्नेह मधुर चेहरा याद आता है। वह ठण्डी शाम याद आती है।

ज़िन्दगी की एक पटरी कटी···माँ की मौत हो गयी। विमाता घर में आ गयीं। बीस कमरों की उस कोठी के बाहर, गंगा के किनारे बने चबूतरे को छाया देते उस पेड़ का मोटा तना, और मोटी-मोटी किताबें ही मेरा सहारा रह गयीं। उस तने की ओट बैठ जाती तो न कोई मुझे देख पाता, न मैं किसी को देख पाती।

एक तिपहरिया वहीं बैठी थी। पीछे बरामदे में पिता जी की आवाज़ सुनाई दी। वे किसी नौकर से कह रहे थे, ड्राइवर को कहने के लिए कि वह भैया के हेडमास्टर को उन के घर पहुँचा आये।

हेडमास्टर जी को पोर्च तक पहुँचा आने के लिए वे शायद लॉन में उतरे। उन के जाते स्वर मेरे कानों में पड़े, "मेरी बेटी का स्कूल-वर्क आप ने नहीं देखा। वह वीरेन्द्र से ज़रा भी कम नहीं। बड़ी हो कर वह 'विजयलक्ष्मी पण्डित' बनेगी।"

मेरे हाथ से उपन्यास छूट गया—यह मेरे पिता जी कह रहे थे? जो मेरे स्कूल-वर्क में हमेशा खामियाँ ही निकालते रहते थे। जिन्हें मेरे किये हर काम में कमियाँ ही नज़र आती थीं?

बड़ी देर बैठी गंगा की लहरों को ताकती रही। फिर एक कविता लिखी। अपनी ज़िन्दगी की पहली कविता।

दौड़ी-दौड़ी उसे पिता जी को दिखाने गयी। किन्तु वे अपने अधीनस्थ तीन इंजो-

नियरों के बीच कोई लम्बा-चौड़ा नक़्शा खोले बैठे थे।

चुपचाप लौट आयी। काग़ज़ की एक नाव बना, उस कविता को गंगा में बहा दिया, कि चाँद की किसी किरण को छू वह माँ तक पहुँच जाये।

उस के बाद कितनी ही कविताएँ लिखीं–सहेलियों की कॉपियों में। अपनी कॉपियों में। उन कॉपियों में जो गरमियों की छुट्टियाँ आने पर कूड़े की टोकरी की भेंट हो जातीं।

ज़िन्दगी की पटरी फिर कटी···सहेलियाँ छूटीं····खाली वक़्त ने कहा, "किसी भी बात में मन नहीं लगता। कुछ भी करने को जी नहीं चाहता। तो वह तेरी चिर पुरानी परिचिता क़लम तो है।"

दशहरे की छुट्टियों में भैया आये। मुझ से बिना पूछे, बिना बताये, मेरी उस छोटी-सी अटैची में से एक कहानी निकाल, उन्होंने 'सरिता' के लिए भेज दी।

मुझे पता तब लगा, जब 'सरिता' में प्रकाशित वह कहानी मेरे सामने आयी।

क्या उस दिन मेरी लेखनी ने मुझे अपनी 'हॉबी' बना डाला था।

या वह सिर्फ़ एक पड़ाव था? कि मरुथल में प्यासी भटकती मेरी कल्पनाओं को एक खूँटा मिल गया था? टिके रहने का एक साधन जुट गया था?

निश्चय ही उस साधन की सीमाएँ थीं। परिवार भरा-पूरा था। उस का प्रत्येक सदस्य अपने को विशिष्ट 'साइकोलॉजिस्ट' मानता था। कहानी में यदि असावधानी से कहीं कुछ भी 'अटपटा' 'अमान्य' होता, तो उस का विश्लेषण—खींचतान, नाप-जोख, सीधा मेरे दिल की गहराइयों तक उतर जाता। उन गहराइयों तक जो सिर्फ़ मेरी अपनी थीं। जिन के निकट किसी को भी पहुँचने देना मुझे मंज़ूर नहीं था।

अत: वे कहानियाँ कहानियाँ कम थीं, लेखनी की कसरत अधिक—कम से कम मुझे तो ऐसा ही लगता था।

किन्तु उन की सारी खामियों के बावजूद मैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहती थी। वे मेरी ज़िन्दगी की कटी पटरियों के चमकीले-से पेंच जो थीं।

और स्टेशन मास्टर बने विधाता ने एक बार फिर भाग्य की शण्टिंग की। एक नये कॉलेज में, मैं ने सेकेण्ड इयर में दाखिला लिया।

पहले दिन पहली 'क्लास' में देखा—अध्यापिका के सामने लगे डेस्कों की बेंच पर छात्राएँ कुछ इस प्रकार बैठी थीं कि एक भी 'सीट' खाली नहीं थी। बग़ल में, दरवाज़े के कुछ आगे, एक खाली डेस्क था। आँखों में सरक आयी गंगा-जमुना को बरबस कण्ठ में ढकेल, मैं उसी खाली डेस्क पर बैठ गयी। अँगरेज़ी की क्लास में अध्यापिका ने चाँदी की मोमबत्तियाँ चुराने वाले ज्याँ वैल ज्याँ की कहानी अपने शब्दों में लिख कर लाने के लिए कहा।

तीसरे दिन वे कहानियाँ उन्हें दे दी गयीं। अगले सप्ताह वे उन्हें लौटा लायीं। कक्षा में प्रवेश करते उन्होंने मुसकरा कर

मेरी ओर देखा। मेरी कापी मुझे देते, वह कहानी पढ़ कर पूरी कक्षा को सुनाने को कहा ?

उस 'क्लास' के बाद 'इण्टरवल' पड़ता था। कुछ खा-पी कर मैं लौटी तो देखा—एक डेस्क मेरे डेस्क से सटा दिया गया था, और मेरी कुरसी के अगल-बग़ल दो कुरसियाँ डाल कर वे दोनों लड़कियाँ बैठी थीं, जो क्लास की 'लीडर्स' थीं। वह पूरा वर्ष हम ने उन दो डेस्क और तीन कुरसियों पर बैठ कर बिता दिया।

उन दिनों जिस घर में थी वह हमारे क्रान्ति-वीर चाचा जी का था—वह घर, जिस में रसोइये और बैरे को यह कभी भी पता नहीं रहता था कि भोजन की या चाय की मेज़ पर कितने व्यक्ति घर के होंगे और कितने बाहर के, क्योंकि सवेरे आठ बजे से रात के दो बजे तक आने-जाने वालों का ताँता लगा रहता था—चित्रकार, कलाकार, संगीतकार, आकाशवाणी के कवि और लेखक····लखनऊ में शायद ही कोई कलाकार हो जो उस घर को न जानता हो।

और कोई भी नया व्यक्ति आता तो चाचा जी मुझे बुला कर कहते, "मेरी यह बेटी भी लेखिका है। अभी मुझ से डरती है। बड़ी होगी, तो इस की क़लम निखरेगी।"

उन्होंने उत्साह दिया। आकाशवाणी के लिए कहानियाँ लिखीं, एकांकी लिखे। साहित्य को जिन प्रखर शक्तियों का नाम सिर्फ़ पुस्तकों में ही पढ़ा था, प्रत्यक्ष परिचय पाया—

फिर बम्बई।

अजनबी नगरी। पहली-पहली बार घर से दूर, अकेले रहने का भय। बी० ए० की छात्रा, किन्तु संकोची ऐसी कि शायद कोई बारह वर्ष की लड़की भी उतनी संकोची न होगी।

मन बार-बार कह रहा था—वापस लौट जा, बेवक़ूफ़। क्यों तू यहाँ इस अजनबी, बेरुखी-भरे शहर में आयी!

कॉलेज में पहला-पहला दिन। हिन्दी की क्लास में प्रो० मिश्रा ने सभी से एक विषय पर दस-दस बारह पंक्तियाँ लिखने के लिए कहा।

फिर वे हमारी कॉपियों से फटे काग़ज़ पढ़ते रहे, और हम चुप-चुप बैठे उन की ओर देखते रहे।

पढ़ना समाप्त कर वे मुसकराये। एक नज़र पूरे क्लास पर डाली, और काग़ज़ों की ढेरी में से एक काग़ज़ उठाया। पहली पंक्ति उन्होंने जो पढ़ी तो मेरे कान लाल हो गये—वह निबन्ध मेरा था।

उस रात बिस्तर में लेटी तो लखनऊ के कॉलेज के दिनों की याद आ गयी। प्रो० मिश्रा की क्लास के बाद मानो ज़िन्दगी ही बदल गयी थी····लज्जा और मालती का परिचय मिला··हिन्दी विद्यार्थी मण्डल की प्रकाशन मन्त्री चुनी गयी····टाइम्स ऑव इण्डिया··धर्मयुग····आकाशवाणी··नवनीत।

बम्बई अजनबी न रहा। इतना स्नेह और अपनापन बम्बई ने दिया, जितना उत्तर भारत के बीसियों नगरों में से किसी ने भी

नहीं दिया था। उस के सांस्कृतिक वातावरण से अभिभूत हो कितना लिखा····सहेलियों की सहायता से, बापू की स्मृति में, एक विशेष संगीत-रूपक प्रस्तुत किया···'यूथ—फ़ेस्टिवेल' के लिए नाटक लिखा····कितना सीखा उन से जिन के कभी दर्शन पाने तक की कल्पना नहीं की थी—वृन्दावनलाल वर्मा, श्री रतनलाल जोशी, सत्यकाम विद्यालंकार, वीरेन्द्रकुमार जैन, किशोरीरमण टण्डन···· नामों की जैसे गिनती नहीं। उन्हीं में थे एक पण्डित मुखराम शर्मा भी, जिन की कुछ दिन शिष्या बनी।

वह शरत् के-से यायावर मन की भटकन थी, या टूटती पटरियों का खेल कि एक नयी-सी ज़िन्दगी देने वाली अपनी उस बम्बई को छोड़ यहाँ चली आयी।

सन् '६३ की छुट्टियों में कुछ दिन के लिए घर गयी थी। दिल्ली में लेखिका महिला समाज ने स्वागत किया। बैठते ही एक बहन ने पूछा, "नयी कहानी के विषय में आप का क्या मत है?"

प्रश्न सुन कर उलझन में पड़ गयी।

देश से दस पत्रिकाएं चलती हैं तो एक यहाँ तक पहुँच पाती है। 'नयी कहानी आन्दोलन' जैसी भी कोई चीज़ है, इस का ज़रा भी पता नहीं था।

तीन महीने की उस अवधि में देखा—कितना कुछ बदल गया है, कितना कुछ नया है, बदल रहा है···

डॉ० धर्मवीर भारती से मिली। शिकायत के-से स्वर में वे बोले, "प्रियंवदा जी की कहानियों से कुछ और लगता है। आप की कहानियों से कुछ और!"

ज़बान पर बात आयी : "मैं 'पर्ल बक' नहीं बनना चाहती····यश पाने की मुझे ज़रा भी इच्छा नहीं। कभी-कभी सीधी-सादी छोटी-मोटी कोई कहानी लिखा डालती हूँ, क्योंकि कुछ वक़्त कट जाता है।"

किन्तु बड़े भाई से, श्रद्धेय, साहित्य के एक प्रतिष्ठित आधार-स्तम्भ से, ऐसी बचकानी बात कैसे कही जा सकती है!

हँस कर चुप रह गयी। बात टाल गयी···

अपने मन को सहज ही ठेस लग जाती है। अतः लगता है—दुनिया में दूसरे भी ऐसे होंगे, जिन का मन ऐसा ही कमज़ोर होगा। इस लिए हमेशा सँभल-सँभल कर लिखा है—कि किसी कहानी के किसी शब्द से किसी के मन को हलकी-सी ठेस न लग जाये···किसी परिचित या अपरिचित को उस में अपनी झलक न दिखाई दे जाये!

और उस का परिणाम क्या हुआ? सिर्फ़ यह कि मेरी लेखनी दो देशों के खुफ़िया विभाग का सिरदर्द बन गयी—ऐसी कि पिछले वर्षों की उन की दास्तानें लिखने बैठूं तो दो-दो हज़ार पन्नों की बीसियों पुस्तकें भर जायें।

उन का विश्वास है कि मेरी लेखनी कॅम्युनिज़्म का प्रचार करती है। कहानियों के ज़रिये देश में किसी को गुप्त समाचार भेजती है। जैसे कोई अपने ही हाथ से अपने दिमाग़ में चाक़ू मार कर घाव कर ले, और खुद ही उसे खोद-खोद कर नासूर बना डाले,

ऐसे ही यह आधारहीन, मिथ्या सन्देह उन के दिमाग़ में खूँटा गाड़ कर बैठ गया है।

खीझ आती है। हँसी भी। तरस भी। किसी कमज़ोर, असमर्थ, असहाय चुहिया को कोई कंकालभक्षी गिद्ध समझ ले, तो इस में चुहिया का दोष है या देखने वाले की आँखों का ?

बड़े-बड़े विद्वान् उस विभाग में हैं—क्या एक ज़रा-सी बात उन के दिमाग़ में कभी नहीं आयी कि लेखक 'साइकालॉजिस्ट' होता है। अन्तर्द्रष्टा होता है। कि वह शकल देख कर इन्सान के दिमाग़ में चक्कर खाते ख्यालों को पहचान सकता है···कि मेरे खून के एक-एक क़तरे में बसे एक-एक ख्याल को अपनी फ़ाइलों में क़ैद करने के लिए, वे जिन तरह-तरह के व्यक्तियों को मेरे पीछे लगा रहे हैं, उन सब की रिपोर्ट ग़लत हो सकती है। क्योंकि मैं कमज़ोर हूँ। क्योंकि व्यर्थ के कलुषित सन्देहों को मैं किसी धीर-वीर व्रती संन्यासी की तरह सहन नहीं कर पाती। मुझे क्रोध आ जाता है। और उस क्रोध में मेरा दिमाग़ उन जासूसों को ऐसी-ऐसी एकदम सच प्रतीत होने वाली झूठ कहानियाँ सुना सकता है कि उन की 'साइकोलॉजी' की सारी पुस्तकें बेकार हो जायें।

क्या उन्होंने कभी यह भी नहीं सोचा कि वे जिस पर सन्देह कर रहे हैं, वह किस खानदान की बेटी है। कि वह उस पिता की बेटी है, जिन्होंने देश की ग़ुलामी के दिनों में भी, अँगरेज़ सरकार के अफ़सर होते हुए भी, देश की सेवा की ? उन पिता की, जिन के ओज-भरे-स्वर से उन के अँगरेज़ अफ़सर मन-ही-मन काँप-काँप जाते थे। कि उस की शिराओं में उन बाबा-परबाबाओं का रक्त है जिन्होंने अपनी तलवार की नोंक से आग उगलती तोपों को ठण्डा कर दिया था जिन्होंने अपने बुद्धि-बल से अपने भोले-भाले ग्रामीण जन को अमेरिकी इण्डियन की मौत पाने से बचा लिया था। कि उस बेटी को मौत मंज़ूर होगी किन्तु अपने दोनों देशों में से किसी एक को भी किसी प्रकार की कोई हानि पहुँचाना गवारा न होगा कि ऐसा कोई कार्य करने की वह कभी सपने में भी कल्पना नहीं कर सकती।

अन्तर्यामी भगवान् तक इन्सान की पहुँच हो सकती है, किन्तु अपने बनाये क़ानूनों की कोठरी में क़ैद खुफ़िया विभाग तक नहीं। कौन कहे उन से कि अरे खुदा के बन्दो, किसी निरीह-निर्दोष इन्सान की छोटी-सी जिन्दगी, छोटी-छोटी खुशियों और ग़मों की तुम्हें परवाह नहीं, तो कम-से-कम अपने लोक-परलोक की तो परवाह करो। कोई भी कहे तो उस से लाभ ही क्या ! जहाँ एक अंग के लिए खुदा की मौत हो गयी हो, और दूसरा उसे चर्च में क़ैद कर निश्चिन्त हो गया हो, वहाँ खुदा की दोहाई देना भी बेवक़ूफ़ी है !

आयु बढ़ती है। अनुभव बढ़ते हैं। अभ्यास बढ़ता है····लेखनी सदा बालिका-सी चंचला—मस्तराम····किशोरी-सी सलज्ज···· नववधू-सी सिमटी—सकुचायी नहीं रह सकती···उसे प्रकृति का नियम मानना

पड़ता है। प्रौढ़ा बनना पड़ता है....

किन्तु प्रश्न कठिन है—जिस लेखनी के गले में तख्ती पड़ जाये, वह क्या 'हॉबी' के रूप में ज़िन्दा रह सकती है ?

देश से चलते समय सोचा था—बहुत पटरियाँ बदल चुकी ज़िन्दगी। आगे की राह सीधी होगी—एक उद्देश्य-शिक्षा की पूर्ति; एक मंज़िल-कोई नौकरी; एक ज़िन्दगी—शान्त, स्थिर उतार-चढ़ाव हीन।

तब सपने में भी यह ख्याल नहीं आया था कि वहाँ जो पटरी मिलेगी उस के मुहाने पर ऐसा अन्धकार होगा कि दिया जलाने पर भी यह सुझाई नहीं देगा कि आगे कोई दूसरी पटरी है, कोई गहरा, अन्तहीन खड्ड है, या सिर्फ़ अन्धी गली है। कि उस पटरी में जो पेंच होंगे, वे ज़िन्दगी जोड़ने के लिए नहीं होंगे। उन की सार्थकता उन कीलों की-सी होगी, जो चलते-चलते उस जूते में उभर आयें जिसे तुरन्त ही उतार कर फेंका न जा सके।

आज की मेरी यह टूटी लेखनी, क्या फिर से जुड़, किसी नयी पटरी की सार्थक पेंच बन सकेगी ?

यह सिर्फ़ भविष्य ही बता सकता है। किन्तु भविष्य चुप है।

मालूम नहीं उसे सिर्फ़ कुछ दिन के लिए गहरी नींद सुला दिया गया है, या उस का गला घोंट दिया गया है।

मुझे भी आस्था नहीं है :|: प्रभात

मुझे भी; हाँ मुझे भी
आस्था नहीं है; किसी पर !
जीवन पर, धर्म पर, समुदायों पर
प्रियाओं पर, क्रियाओं पर
किसी पर;
मुझे भी; हाँ मुझे भी
आस्था नहीं है; किसी पर ।

इन सब चीज़ों से मैं अब बेहद ऊब गया हूँ ।
इन सब व्यर्थ बोझों को ढोता-ढोता
अब मैं बेहद थक गया हूँ ।
इस गन्दगी में निरन्तर असफलता और क्रोध से
अब मैं बेहद जर्जर हो गया हूँ ।
अब मुझ से पलायन भी सम्भव नहीं
मुक्ति विश्वास और आशा मृत्यु है,
मुझे भी, हाँ, मुझे भी
आस्था नहीं ।

पर अब, इस रात, तुम
आओ, धूल की हरहराती पीली धाराओ, आँधियो,
दूऽऽर वहाँऽ
अन्धकार में डूबे जंगल रोते हैं···
वर्षा बरस रही है···वृक्षों पर,
बज रही है····
···काली और बाहर निकली नंगी डालियों को तोड़ती
धूलि-कणों के नुकीले बाण अन्धाधुन्ध छोड़ती
रोम-रोम भेदती

सम्मुख के अँधियारे क्षितिज फाड़ जाओ···
हिलगते हुए इन बूढ़े पेड़ों को
एक झटके में उखाड़ जाओ···
इन भारी, निर्जन, खोखले प्रासादों को झिंझोड़ कर
पछाड़ जाओ···
अन्तरिक्ष की अन्तशून्य दूरियों में बवण्डर मचा
···उन्हें एक कर दो···।

आओ !
क्योंकि यहाँ अपने अस्तित्वों पर शंका है : अनास्था है !!
तुम फिर एक बार उन की हड्डियों को
ज़ोर से खड़खड़ाओ····
ताकि वे अपने को पहचानें,
आओ !!
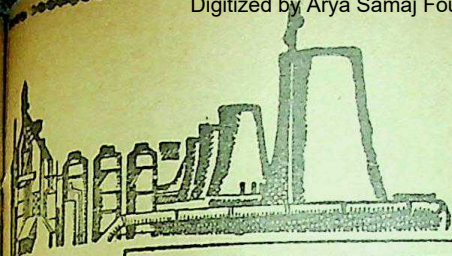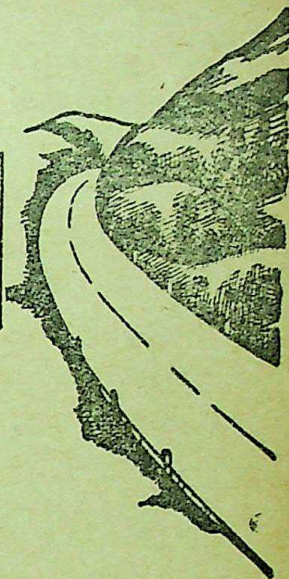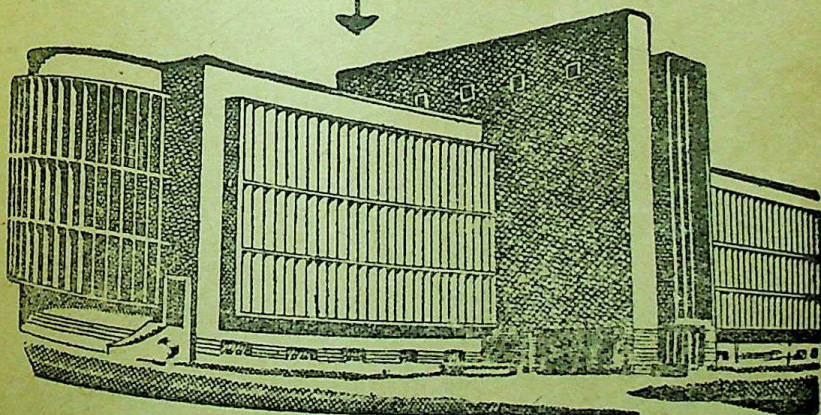
मनीप्लॉण्ट

•

सिद्धेश

वह सोफ़े पर बैठी हुई ऊंघने लगी थी। उस को अपने पति का इन्तज़ार था। रात के बारह बज चुके थे। कुछ देर पहले इसी सामने वाले टेबल पर दिन का बचाखुचा खाना हम दोनों खा चुके थे। बाहर से आ कर उस ने ज़बरदस्ती रोटियाँ बना ली थीं। तरकारी और दाल सुबह की बनी थीं। मैं रोटियों के लिए भी मना करता रहा था कि अभी इतनी सारी परेशानियों के बीच इस की ज़रूरत नहीं है। जो कुछ है, उसी से चल जायेगा। मगर वह नहीं मानी थी और बाहर से चिन्ता और परेशानी के बीच झूलती आ कर भी रसोईख़ाने में ढुक गयी थी और मुझे फ्रेश होने को कह कर ख़ुद चूल्हा-चौकी में थोड़ी देर के लिए व्यस्त हो पड़ी थी। बाहर वाले कमरे में आ कर मैं कुछेक क्षण के लिए अपने को अजनबी महसूस करने लगा था। एक बार मन किया था, यहाँ से उलटे पाँव लौट जाऊँ। अभी भी देर नहीं हुई है। बस अथवा टैक्सी आसानी से मिल सकती थी। मुझे लगा था कि उस को सही-सलामत घर तक पहुँचा देना-भर मेरा काम था। अब मेरा यहां टिकना फ़ालतू है। इसी ऊहापोह में मैं अपने को आध-एक घण्टा तो हलका नहीं कर सका था। न तो जूते उतरते थे और न अपने को इज़ी होने के लिए तैयार ही किया था। उस ने आते ही अपने पैरों में जूती की जगह चट्टी पहन ली थी और वह निर्द्वन्द्व इधर से उधर पति की प्रतीक्षा में खटर-पटर दौड़-धूप रही थी। थोड़ा-सा भी खटका होने पर सीढ़ियों से नीचे उतर जाती अथवा रसोईघर होते हुए बरामदे में आ कर रेलिंग से नीचे झांकने लग जाती थी। मेरा चेहरा उस की इस परेशानी से फक्क था और समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसे समय मुझे क्या करना चाहिए। वह कभी-कभी मेरे पास से हो कर गुज़र जाती; फिर यह कहती हुई रसोईघर की ओर मुड़ जाती, "देखिए तो, कैसे आदमी हैं? अब तक नहीं आये?"

मैं उस की परेशानी को समझ रहा था, मगर मैं सिवा

औपचारिक भूमिका निबाहने के इस समय कुछ भी नहीं कर सकता था। अत: मैं दिन-भर में आयी हुई उस की डाक को उलट-पुलट रहा था। इस बात का भी ध्यान रख रहा था कि कहीं ग़लती से कोई व्यक्तिगत पत्र मेरे हाथ न लग जाये। मगर उस दिन कोई पत्र न रह कर डाक से आयी हुई उस के पति के नाम पत्रिकाएँ और उस की कतरनें थीं। उस के पति का नाम पत्रिकाओं के कवर-रैपर पर छपा और टंकित देख कर बड़ी विचित्र अनुभूति हो रही थी। ऐसा भी नहीं था कि उस के पति का नाम न जानता होऊँ। बल्कि वह मेरा गहरा दोस्त भी रह चुका था और उस का नाम मेरी ज़बान पर भी था। मगर इस समय मैं उस के नाम के प्रत्येक अक्षर को बड़े गौर से पढ़ रहा था। वे अक्षर सब काफ़ी बड़े-बड़े और विचित्र ढंग से अजनबी लग रहे थे। उन अक्षरों से कभी साबका न पड़ा हो, ऐसी बात भी नहीं, मगर उस क्षण का प्रभाव था कि सब-कुछ असह्य और विचित्र लग रहा था। कमरा उस समय तक बेतरतीब था। उस को भी क्या पता था कि हठात् मुझे यहाँ आना पड़ेगा।

उस के पति पर न तो मुझे गुस्सा ही आ रहा था और न हमदर्दी। बल्कि अपने इस असह्य हो गये क्षणों पर गुस्सा आ रहा था। मुझे इस तरह से हठात् नहीं चला आना चाहिए था। कहीं बहुत भारी भूल अवश्य हो गयी मुझ से। मेरी स्थिति अकेले कमरे में दयनीय हो उठी थी। इस बीच वह कई बार खटर-पटर करती हुई इस कमरे में

भी आ चुकी थी और कमरे से होते हुए सीढ़ियों से नीचे उतरती रही थी। मैं देख रहा था कि वह हठात् तनावपूर्ण वातावरण को हलके ढंग से लेने की चेष्टा कर रही थी, मगर वह परेशानी और चिन्ता के बीच यह भूल जा रही थी और भरसक न चाहते हुए भी उस के मुँह से अपने पति के लिए कुछ विचित्र बातें निकल ही जा रही थी। वह कह रही थी, "मैं तो उन से इसी बात से परेशान रहती हूँ। तनिक भी शर्म-लिहाज़ नहीं कि घर में मेहमान आया हुआ है। रात-रात-भर ग़ायब रहना, यह कोई भला अच्छी बात है? आप ही बतायें कि क्या आप भी ऐसा ही करते हैं?"

मैं बुत की तरह सुनने के अलावा कुछ भी नहीं कह रहा था। मगर मेरा चुप रहना उसे खल सकता था। मैं उस की परेशानी और तनाव वाली स्थिति को बख़ूबी समझ रहा था। मुझे सामने केवल दीवार से लगा मनीप्लॉण्ट सूझ रहा था। उस समय वह भी पता नहीं चल रहा था कि सच है या झूठ। क्योंकि मेरी हिम्मत नहीं हो रही थी कि उठ कर उसे छू कर देखूँ। किसी बन्द या खुले कमरे में एक पौधे के अस्तित्व को ले कर काफ़ी खतरा उठाया जा सकता है। मुझे लगता है कि हम लोगों की भी अलग-अलग उस पौधे की स्थिति-जैसी स्थितियाँ हैं। निरीह और व्यर्थ। जब कि किसी आधुनिक कमरे में किसी प्लॉण्ट का होना मैं हमेशा से आवश्यक समझता आया था। यह दूसरी बात है कि मैं स्वयं अपने कमरे में किसी पौधे को जीवित रखने का साहस अब तक नहीं कर पाया था।

अब वह थोड़ी देर के लिए कमरे से बाहर चली गयी थी। सम्भवतः अपने नीचे फ्लैट वाले पड़ोसी के यहाँ। मैं पूरा अकेला था और उस की स्थिति पर सोच रहा था। सोचना मुझे अच्छा लग रहा था कि इस घर की स्थिति भी एक-सी है। मैं जब घर देर से लौटता हूँ तो पत्नी इतनी ही परेशान रहती है। जब कि मन से चाहता यह था कि देर से लौटने वाले पति की पत्नियों को हमेशा के लिए अपने पति की तरफ़ से निश्चिन्त हो जाना चाहिए, बल्कि पत्नी की तरफ़ से इस तरह की अवहेलना वाली सज़ा पति को मिलनी ही चाहिए। मगर क्या सभी की पत्नियाँ एक-सी होती हैं? उस की चट्टी की खटर-पटर आवाज़ आने लगी थी। वह सम्भवतः सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर आ रही थी।

●

मैं फ़्रेश हो कर कमरे में आ गया था। इस बीच वह कमरे को तरतीब से सजा चुकी थी। परदे ढंग से झूल रहे थे। बिखरी हुई डाक और किताबें रैक पर रखी गयी थीं। टेबल पर का कपड़ा झाड़ कर फिर से बिछाया गया था। मेरी नज़र ताखे पर रेडियो के बग़ल में रखी हुई तसवीर पर गयी। तसवीर में पति और पत्नी दोनों ढंग से बैठे थे। फ़ोटो से लगता था कि कुछ दिन आगे की खिंचवायी गयी तसवीर हो। जिस में पत्नी सजी-सँवरी लग रही थी और पति

[illegible] उस के अस्तित्व में सहायक नहीं दीख रहे थे। बेपनाह और अनाथ-से ।

इस बार मुझ से नहीं रहा गया तो उस सच लगने वाले प्लॉण्ट के बारे में पूछा, "वह पौधा असली है ?" उस ने इस बार मुसकरा कर मेरी ओर देखा, जैसे कि मैं बच्चा हूं और किसी खिलौने के बारे में पूछ रहा हूं कि उस खिलौने का दाम क्या है ? मुझे अपनी ग़लती महसूस हुई । और मैं ने झट से बात पलट देनी चाही, "चलो, कब तक उस का इन्तज़ार करोगी । हम दोनों खा लें फिर उस का इन्तज़ार करें । तब तक आना होगा तो वह आ जायेगा । खाना तो वह बाहर से ही खा कर आयेगा ।"

वह बात मान गयी और रसोई घर में खाना परोसने चली गयी । मेरी नज़र बाहर वाले कमरे के बिस्तरे पर गयी । वह बिस्तरा ठीक कर दिया गया था और मुझे लगा कि यह बिस्तरा मेरे लिए है, मुझे इसी पर सोना है। पैताने चादर या कम्बल नदारद । रात में ठण्ड लग सकती थी । मगर मुझे यह पूछना अभी अच्छा नहीं लगा, इस लिए चुपचाप खाता रहा । वह भी धीरे-धीरे खा रही थी। लगा, जैसे कि उस को अभी भी अपने पति का इन्तज़ार है । हो सकता है, अभी वह आ जाये तो खाने में शामिल हो सकता है। मैं ने पूछा, "वह लगता है, किसी दोस्त के साथ उस के घर चला गया है । काफ़ी देर भी हो सकती है ।"

उस ने मेरे जवाब में सीधा कुछ नहीं कहा, "आप लोगों के बारे में पता नहीं चलता । आप सभी एक जाति के हैं । पत्नी की परेशानी, उस की इच्छा-अनिच्छा के बारे में कुछ भी जानना-समझना नहीं चाहते ।"

"सो तो बहुत-कुछ ठीक है । मगर शादी के इतने दिन बाद भी तुम अपने पति की तरफ़ से तटस्थ रहने की चेष्टा क्यों नहीं करती ? अभी भी अगर भावुकता के गहरे अन्धकार में जीयोगी तो आगे कैसे चलेगा ?"

वह धीरे-धीरे खाती रही । मुझे कुछ नहीं कहा । फिर झुंझलाते हुए एकदम से बोली, "उन से तो मैं तंग आ गयी हूँ । हर बार वो इसी तरह से मुझे परेशानी में डाल देते हैं । भला यह तो बताइए, यह भी कोई समय है, इतनी रात को घर लौटने का ?"

नीचे से किसी टैक्सी के रुकने की आवाज़ आयी । वह खाना छोड़ कर खटर-पटर करती हुई रेलिंग से जा लगी । मैं अन्दर ही बैठा-बैठा सोच रहा था कि वह अन्धकार में नीचे खड़े आदमी को पहचानने की कोशिश कर रही होगी । उस आदमी की शक्ल को अपने पति की शक्ल से मिला रही होगी । मगर थोड़ी देर में वह निराश लौट आयी ।

"नहीं, लगता है, आज वो नहीं आयेंगे । ज़रूर कहीं, किसी के यहाँ मौज से पड़े होंगे । घर की या मेरी चिन्ता उन को एकदम से नहीं ।"

हम दोनों खाना प्रायः खा ही चुके थे । हाथ-मुँह धो कर मैं अपने बिस्तरे पर आ गया था । और उस के आने के इन्तज़ार में

पीछे के रैक से किताबों को निकाल कर उलट-पुलट रहा था। मगर सारी किताबें प्रायः जानी-पहचानी और बेकार-सी लगीं। उन में से एक किताब हाथ लगी, जिसे मैं ने न पढ़ी थी और न देखी थी। वह किसी लेखिका की थी। मैं उसे ही उलटने-पलटने और पढ़ने की चेष्टा में लगना चाहता था। मैं ने पढ़ना शुरू किया ही था कि वह निश्चिन्त हो कर आ गयी थी और सामने के सोफ़े पर बैठ कर सुपारी काटने लगी थी और इलायची छील रही थी। उस ने सुपारी और इलायची की थाली आगे बढ़ा दी। मैं ने उस में से दो-तीन दाने चुग लिये फिर पढ़ने में व्यस्त रखने की कोशिश करने लगा। मुझे डर था कि उस की नज़रों का सामना नहीं कर सकूँगा। वह बाहर से बेहद संयत और भीतर-ही-भीतर उतावली लग रही थी। मेरे हाथ में किताब देख कर पूछा, "इस की लेखिका को आप जानते हैं?"

"हाँ, जानता हूँ। मिला भी था। एक नज़र में मुझे अच्छी नहीं लगी थी। उस की सुन्दरता का काफ़ी शोर सुन रखा था। मगर—"

"वह वैसी ही है। बल्कि और भी गयी-बीती। वह लोगों के सामने सिगरेट और शराब पीती है। यह सब मुझे अच्छा ज़रा भी नहीं लगता। औरतों के शर्म-लिहाज़ न करने की भी एक सीमा है। पति के साथ बन्द कमरे में हम क्या करती हैं इसे कौन देखता है?"

"अच्छा?" मुझे इस में तनिक भी आश्चर्य नहीं लगा। बल्कि मन-ही-मन उस की प्रशंसा कर रहा था। ज़ेहन में कहीं एक ऐसी औरत की शक्ल पड़ी थी जो ख़ूबसूरत होने के साथ-साथ बदचलन हो और काफ़ी नाम और ख्याति के बावजूद बदनाम भी हो।

"हाँ, वह जिस के साथ रहती है, उस की शादी नहीं हुई है उस से। माना कि यहाँ तक ठीक है। जिस के साथ मन लग जाये, उस के साथ बिना किसी शर्म के तन का सौदा किया जा सकता है। मगर लोगों के सामने शराब पी कर धुत्त हो जाना अथवा पति की बाँहों में सो जाना, जब-तब जिस किसी के सामने सिगरेट पी लेना। यह कहाँ की चलन है?"

मैं ने कहा, "हो सकता है। मगर यह किताब तो उसी की है?"

"हाँ है। पर क्या आप सोचते हैं कि यह किताब ख़ुद उसी की लिखी हुई है?"

"तो?" मेरे इस प्रश्न और चौंकने पर वह हँसने लगी। कहा, "मुझे तो नहीं लगता कि इतनी बदचलन और फूहड़ क़िस्म की औरत कोई किताब भी लिख सकती है। मेरा तो विचार है, यह सब उस के पति की लिखी हुई है। क्योंकि उस का पति भी लेखक है।"

इस पर मैं ने मज़ाक़ में पूछा, "आप आजकल क्या लिख रही हैं?"

वह जैसे चौंक पड़ी हो। मगर मुसकरा-कर बोली, "मैं कब लिखने लगी? मुझे तो दूसरे कामों से ही फ़ुरसत नहीं है। ट्यूशन हैं, फिर स्कूल है। दूसरे के बच्चों की पढ़ाई-

लिखाई में भी ध्यान देना पड़ता है। फिर घर की देख-रेख। ठीक प्रकार से खाना बनाने तक का भी समय नहीं मिलता। अधिकांश दिन तो बाहर से मँगा कर ही हम दोनों खा लिया करते हैं।''

मैं तब तक किताब पर ही नज़र गड़ा कर यह प्रश्न पूछ रहा था और उस के उत्तर सुन रहा था। यह भी बात नहीं थी कि किताब ही पढ़ रहा होऊँ। दरअसल मुझे झपकी आने लगी थी। आँखों में नींद पूरी तरह उतरी आ रही थी। मैं ने किताब पर ही नज़र गड़ाये-गड़ाये पूछा, ''कितने बजे होंगे?''

''अभी तो एक बज ही रहा होगा।''

किताब बन्द कर मैं ने उस की तरफ़ ताका। उस की आँखों में भी तन्द्रा थी। वह भी प्रायः बैठी-बैठी झपकी-सी लेने लगी थी। मैं ने शब्दों पर ज़ोर देते हुए कहा, ''तुम जा कर अब सो जाओ। लगता है, वह अब आज रात नहीं आयेगा। कल सुबह उस की खबर लेना। रात काफ़ी हो गयी है। अगर अभी भी वह आ ही गया तो मैं दरवाज़ा खोल दूँगा।''

मेरे पैताने सच लगने वाला मनीप्लॉण्ट वैसे ही सो रहा था। लग रहा था, उस में जान नाम की कोई चीज़ नहीं है। मगर कमरे की एक शोभा तो है। रेडियो वैसे ही बन्द पड़ा था। पुराने मॉडल का रेडियो काफ़ी पुराना लग रहा था। रेडियो की मटमैली चादर और गन्दी हो गयी स्विचें सब की सब धुँधली लग रही थीं। कमरा मेरी आँखों में धुँधला हो रहा था। लग रहा था, कमरे के अन्दर मैं नहीं, कमरा मेरे अन्दर है या ग़ायब है और मैं खुले आकाश के नीचे सो रहा हूँ। मेरे सामने तिलस्म क़िस्म का एक परदा ताखे से हो कर झूल रहा था। जो कि दीवार से लगे पीछे के ताखे को पूरा-पूरा ढँक रहा था।

वह इस बीच पता नहीं, कब उठ कर नीचे चली गयी थी। सीढ़ियों पर कहीं उस को चट्टी की खटर-पटर आवाज़ सुनाई पड़ रही थी। तब तक मैं अवश हो पड़ा था। आँखें पूरी तरह से ढँप गयी थीं। उस लेखिका की किताब मेरे सिरहाने बन्द हो पड़ी थी और कई विचित्र अनुभूतियों के बीच मैं कहीं-का-कहीं सपने में भटक रहा था। ■ ■

सिन्धु-घाटी सभ्यता और लिपि : प्रश्न अब भी शेष है

बसन्त वसु

सिन्धु घाटी-सभ्यता और उस की लिपि प्रायः साठ वर्षों से पुरातत्त्व-वेत्ताओं के लिए आकर्षण का विषय रही है। वाडेल, राखालदास बनर्जी, मैके, जान मार्शल, प्राणनाथ विद्यालंकार तथा के० एन० शास्त्री आदि से ले कर सुधांशु रे, पेण्टा आल्तो, सेप्पो कोस्केंन्तियम, पारपोला बन्धु, कृष्णराव और फ़तेहसिंह तक इस आकर्षण की सूचक लम्बी रेखा खींची जा सकती है। राजस्थान प्राच्य विद्या संस्थान के निदेशक डॉ० फ़तेहसिंह ने हाल ही में घोषणा की है कि वे सिन्धु-लिपि को पढ़ चुके हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के आमन्त्रण पर इधर वे जयपुर आये और उन्होंने तीन व्याख्यानों में मुद्राओं के चित्र प्रोजेक्टर से दिखाते हुए लिपि को पढ़ने और विविध सन्दर्भों के माध्यम से अपने सफल होने का दावा किया।

सन् १९३४ में प्राणनाथ विद्यालंकार के भाषण से प्रेरित हो कर वे इस दिशा में अनेक पूर्वाग्रहों के साथ प्रवृत्त हुए। पहला पूर्वाग्रह था कि सिन्धु सभ्यता एक द्रविड़ सभ्यता है। दूसरा, चित्रलिपि से सभी लिपियाँ निकली हैं। तीसरा, सिन्धु-लिपि दायें से बायें लिखी जाती है। चौथा, भाषा संस्कृत परिवार की नहीं हो सकती। लेकिन ज्यों-ज्यों अध्ययन किया, ये सारी धारणाएँ निराधार सिद्ध होती गयीं और सर्वथा विपरीत परिणाम सामने आने लगे।

डॉ० फ़तेहसिंह का मत है कि मुद्राओं की भाषा वैदिक संस्कृत है तथा अभिव्यक्ति का प्रकार प्रतीकात्मक है। इन मुद्राओं में अग्नि, इन्द्र, इन्दु (सोम) आदि वैदिक देवताओं, उमा, इन्द्रा, ससन्तसा आदि वैदिक देवियों और वषट्, उखा, प्रणव, यज्ञ इत्यादि वैदिक पारिभाषिक शब्दों के उल्लेख बहुतायत से प्राप्त होते हैं।

लिपि वस्तुतः ब्राह्मी का पुराना रूप है जिस के कम से कम चार भिन्न रूप मुद्राओं में मिलते हैं। चार में से तीन लिपियाँ बाँयें से दायें और सिर्फ़ एक दाहिने से बाँयें लिखी गयी

है। ब्राह्मी भी दोनों ओर से लिखी जाती रही है—एक जैन सूत्र की व्याख्या करते हुए टीकाकार अभयदेव ने इसे स्पष्ट किया है।

यदि हम उन मुद्राओं को अध्ययन के लिए चुनें जो लिपि के साथ चित्रयुक्त भी हैं तो हम पायेंगे कि चित्र लिखे हुए को प्रमाणित करते हैं। इन चित्रों में वैदिक कल्पनाएँ हैं जो ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों की सहायता से सही प्रमाणित हो जाती हैं। इस के अतिरिक्त कालीबंगा और लोथल में कई यज्ञ-वेदियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि सिन्धु सभ्यता वैदिक सभ्यता थी। डॉ० फ़तेहसिंह के अनुसार यह सभ्यता उपनिषद्-ब्राह्मणों की समकालीन रही है।

भाषाविद् एक अरसे से मानते आ रहे हैं कि लिपियों का विकास चित्रलिपि से हुआ है। डॉ० फ़तेहसिंह की मान्यता है कि भारत की सभी लिपियों का जन्म उच्चारणस्थानों की शकलों के आधार पर हुआ। सिन्धु-लिपि इसे प्रमाणित करती है जहाँ ओष्ठ्य ध्वनियों में होठ, दन्त्य ध्वनियों में दांत और अनुनासिक ध्वनियों में नाक के चित्र प्रायः किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं। मुद्राओं में अधिक लिखने की कामना से कंजूसी से काम लिया गया है जिस से वर्ण प्रायः संश्लिष्ट हो गये हैं और ऊपरी तौर पर चित्रात्मक प्रतीत होते हैं।

पुरातत्त्वज्ञों में सम्भवतः मैके ने सब से पहले मुद्राओं के धार्मिक महत्त्व की ओर संकेत किया था। डॉ० फ़तेहसिंह इसे स्वीकार करते हैं। उन के अनुसार मुद्राओं पर सूत्र वाक्य अंकित किये गये हैं और इन का उपयोग धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों को छापने के लिए किया जाता था। प्रमाण के लिए इराक के एक क्षेत्र की खुदाई में प्राप्य उन प्रागैतिहासिक अवशेषों की ओर संकेत किया जा सकता है जिन में ऐसा कपड़ा भी मिला है जिस पर सिन्धु-घाटी की एक मुद्रा की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

डॉ० फ़तेहसिंह के मत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग वह है जहाँ वे स्पष्ट करते हैं कि आर्यों को समस्त भारत का ज्ञान था। वे कहते हैं कि मुद्राओं में भारत का 'भारत-देश' के रूप में उल्लेख मिलता है। साथ ही देश के अन्य भागों के नाम-संकेत भी प्राप्त होते हैं जो हिमालय से लंका और सिन्धु से बर्मा तक भारत की सांस्कृतिक एकता की पुष्टि करते हैं। सिन्धु काल में सारे भारत में एक ही धर्म और संस्कृति का प्रसार था। आर्य और द्रविड़ का भेद बाद में जबरन उत्पन्न किया गया। यही कारण है कि उत्तर-दक्षिण में एक ओर जहाँ अनेक समानताएँ हैं वहीं दूसरी ओर 'द्रविड़' शब्द तक तमिल में प्राप्त नहीं होता। इस के अतिरिक्त दोनों भाषाओं में अनेक शब्द ऐसे हैं जिन में समान धातुएँ हैं। उदाहरण के लिए तमिल में 'अप्' धातु से बने 'अप्पा' आदि कई शब्द हैं और संस्कृत में इस धातु से बने 'अपत्य' आदि कई शब्द प्राप्त होते हैं।

सिन्धु सभ्यता को नगर और वैदिक सभ्यता को ग्राम सभ्यता मानने वालों को डॉ० फ़तेहसिंह का उत्तर है कि यह अन्तर

प्राप्त है। वैदिक सभ्यता भी नगर सभ्यता है। ऋग्वेद और अन्य वेदों में इस के सूचक अनेक शब्द मिलते हैं, 'पुर' और 'जन' शब्द इन में प्रमुख हैं। साथ ही 'पौर' शब्द पुर में रहने वालों का वाचक है। परवर्ती ब्राह्मण और उपनिषद् धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थ हैं अतः इन शब्दों और नगरों का उल्लेख उन में नहीं मिलता। मूलतः दोनों सभ्यताएँ एक हैं और इन में विभेद करना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता।

इस में कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त मत श्रम-साध्य रहा है। तनिक-सी शिथिलता की सम्भावना होते ही प्रस्तोता ने चूल में चूल बैठा कर अपनी ओर से सभी को सन्तुष्ट करने का यत्न किया है। किन्तु इस सब के बाद भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित रह गये हैं। सम्भव है अधिक परिकल्पना और कम वैज्ञानिकता के मिश्रण का यही परिणाम रहता हो। अनुत्तरित प्रश्नों की कड़ी इस प्रकार है—

१. प्राणनाथ विद्यालंकार के भाषण से प्रेरित होने के बाद भी ये पूर्वाग्रह कैसे बन गये कि सिन्धु सभ्यता द्रविड़ सभ्यता है और भाषा संस्कृत परिवार की नहीं हो सकती? भाषण के दौरान इन पूर्वाग्रहों का जिस प्रकार उल्लेख किया गया उस से प्रतीत ऐसा होता है कि स्थिति इस के सर्वथा विपरीत रही होगी और निष्पक्षता की स्थापना हेतु इन पूर्वाग्रहों का दामन पकड़ना आवश्यक हो गया होगा।

२. यह विश्वास करना कठिन है कि ब्राह्मण और उपनिषद् सिन्धु सभ्यता के समकालीन थे क्योंकि इन में से बहुतों का समय पूरी तरह निश्चित किया जा चुका है। यह भी सन्दिग्ध ही है कि उपनिषद् के गूढ़-गहन दर्शन की प्राप्ति ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की मुद्राओं में प्रतीकात्मक रूप से हो। खैर, यदि यह मान भी लें कि ब्राह्मण-उपनिषद् सिन्धु सभ्यता के समकालीन थे तो क्या कारण है कि मुद्राओं में अत्यधिक विकसित देवनागरी लिपि के स्थान पर इस विचित्र लिपि का सहारा लिया गया? यह स्थिति समझ से परे लगती है कि एक सशक्त लिपि को जानने वाले अकारण उसे छोड़ कर किसी अन्य लिपि में स्वयं को अभिव्यक्त करें।

३. यदि इन मुद्राओं का उपयोग छपाई के लिए होता था तो इन्हें मिट्टी से क्यों बनाया गया? यह तो निश्चित है कि छपाई के काम में आने से मिट्टी की मुद्राएँ बहुतायत से नष्ट होती होंगी। तो फिर क्या विवशता थी जिस के कारण एक ऐसी सभ्यता के लोग, जिन्हें तांबे और कुछ अन्य धातुओं का अच्छा ज्ञान था, मिट्टी की मुद्राओं का छपाई के लिए उपयोग करते रहे?

४. समस्त भारत में यदि एक ही धर्म और संस्कृति के उपासक बसते थे तो उत्तर और दक्षिण की भाषाओं में इतना अन्तर क्यों है? एक ही धर्म, जाति और मान्यताओं के मानने वाले लोग तमिल और संस्कृत जैसी दो सर्वथा अलग परिवारों की भाषाएँ बोलें यह विचारणीय है।

५. 'अप्पा' शब्द में 'अप्' धातु भले ही

हो, संस्कृत 'अपत्य' में अप् नहीं है। वैयाकरण इस में 'पत्' धातु मानते हैं। डॉ० फ़तेहसिंह का कथन है कि महर्षि अरविन्द ने अपत्य में अप् धातु मानी है और उन का वचन कम प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। प्रश्न यह है कि एक साथ एक ही बात पर दो मत प्रामाणिक कैसे माने जायें। एक शब्द मूलतः एक ही धातु से बन सकता है। यदि अरविन्द को सही ठहराना है तो पाणिनि को ग़लत सिद्ध करना ही होगा।

६. 'पुर' अथवा 'पोर' शब्दों के आधार पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वैदिक सभ्यता नगर सभ्यता थी। यह भी अमान्य ही है कि भारत के विभिन्न प्रदेशों का उल्लेख एक भारत होने का प्रमाण देता है। ज्ञान होना और एकता होना दो भिन्न बातें हैं। आज हमें समस्त विश्व का ज्ञान है, यहाँ तक कि विश्व की हलचल से हम बेतरह प्रभावित होते हैं, लेकिन इस से यह कहाँ साबित होता है कि सारा विश्व एक है?

७. सिन्धु-लिपि ब्राह्मी का पुराना रूप है यह तब तक कैसे स्वीकार किया जा सकता है जब तक ब्राह्मी लिपि के विकास की रूपरेखा न प्रस्तुत की जाये? मात्र शब्द-प्रमाण के आधार पर इतने बड़े तथ्य को नहीं स्वीकारा जा सकता।

८. सिन्धु सभ्यता आर्य सभ्यता थी इस में भी सन्देह है। खुदाई में प्राप्त वेदियों का हवाला भी इतनी बड़ी स्थापना का आधार नहीं बनता क्योंकि इन के यज्ञ वेदियाँ होने न होने के विषय में भी विद्वानों में मतभेद रहता आया है। यदि इन्हें यज्ञ वेदियाँ मान भी लें तो भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। किसी भी खुदाई में अन्य यज्ञीय उपकरण आज तक प्राप्त नहीं हुए हैं। उन की अनुपस्थिति में इन वेदियों का आखिर क्या महत्त्व है?

९. कृष्णराव और डॉ० फ़तेहसिंह दोनों ही सिन्धु सभ्यता को वैदिक मानते हैं। दोनों ही इस पर एकमत हैं कि मुद्राओं की भाषा संस्कृत है लेकिन फिर भी दोनों के द्वारा पढ़े गये आलेखों में अन्तर है। एक ही मुद्रा को दोनों दो अलग तरीक़ों से पढ़ते हैं। प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हुए इन पुरातत्त्वज्ञों में आलेख-विषयक यह अन्तर क्यों है?

और भी अनेक छोटे-बड़े प्रश्न उठाये जा सकते हैं लेकिन इन का उठाया जाना मूल्य तब रखेगा जब इन का कोई सही हल सामने आये। सिन्धु-घाटी की लिपि को पढ़ने के सभी प्रयत्न अब तक निष्फल सिद्ध हो चुके हैं और इधर भी जो मत सामने आये हैं वे सारी शंकाओं का समाधान नहीं करते। हर विद्वान् कोई-न-कोई पूर्वाग्रह ले कर चला है और असफल हुआ है। डॉ० फ़तेहसिंह को शिकायत है कि हम आज भी विदेशी विद्वानों के कथन को अधिक महत्त्व देते और अपने यहाँ के विद्वानों के प्रति पूर्वाग्रही रहते हैं। अच्छा होगा हम स्वतन्त्र चिन्तन को महत्त्व देते हुए उन के मत पर विचारें और यदि वे मान्यताएँ सभी कसौटियों पर खरी उतरें तो इतिहास के एक बड़े अंश को परिवर्तित करने के लिए स्वयं को तैयार करें। ■■

ग़लत दर्शकों के बीच, सही दर्शक की तलाश

लोग नामुमकिन बातें देख लेते हैं ।

एक सज्जन मुझ से मिले और कहने लगे, कल रात आप का रेडियो नाटक देखा, बहुत अच्छा लगा । एक भद्र महिला मुझ से शर्त लगा चुकी हैं कि वे अपनी आँखों से मुझे मराठी बोलता हुआ देख चुकी हैं । कई लोग फूल की खुशबू देख लेते हैं । वे देख चुके होते हैं कि गुलाब के फूल की खुशबू, मोगरे के फूल की खुशबू से बेहतर होती है । एक दूसरे सज्जन बतला रहे थे कि वे छोटे तालाब के आसपास फैली घिनौनी बदबू के चश्मदीद गवाह हैं । कुछ लोग गरमी और ठण्डी को महसूस करने के बजाय देखने का दावा करते हैं । लोग महेश योगी का भाषण या असितकुमार बनर्जी का सितार वादन देखने पहुँच जाते हैं ।

कृष्ण चराटे

जबकि, इतने असम्भव दृश्यों के दर्शक इस भूतल पर पाये जाते हों, सही दर्शक की तलाश कितना कठिन कार्य है, आप खुद 'देख' सकते हैं ।

दुनिया में दर्शकों की कमी नहीं है, बल्कि बहुतायत है । विद्वानों की राय है कि चन्द अन्धों को छोड़ कर दुनिया का हर आदमी दर्शक है और कुछ अदृश्य चीज़ों के अलावा दुनिया

की तमाम चीज़ें दृश्य हैं । [illegible] जाये तो अन्धे भी दर्शक ही हैं क्योंकि वे सपने देख लेते हैं और अदृश्य चीज़ें भी दृश्य हैं क्योंकि वे दूरबीनों आदि के सहारे देखी जा सकती हैं । इस बहुतायत के कारण कई बार दर्शक ही दृश्य बन जाता है । उदाहरणार्थ, प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता को देखने आये हुए लोग, दर्शक-लड़कियों की छवि में खो जाते हैं । कोठे पर नाच रही नर्तकी के नृत्य का दर्शक, सड़क से गुज़रने वाले राहगीरों की दृष्टि में स्वयं एक अच्छा-खासा दृश्य है और चिड़ियाघर का बन्दर-बँदरिया का जोड़ा, दर्शक नवविवाहित दम्पति को कम आश्चर्य से नहीं घूरता । दर्शक ही नाटक की हीरोइन की अदाओं पर मोहित नहीं होते बल्कि नाटक का हीरो, स्वयं दर्शक-नवयुवतियों के दल में से किसी को अपनी जीवन-साथिन चुन लेता है ।

अतः पृथ्वी पर मात्र और मूलतः कोई दर्शक नहीं है । विवाह के लिए लड़की पसन्द करने जाने वाला वर मात्र दर्शक नहीं होता । वह ही सिर्फ़ लड़की को नहीं देखता है बल्कि लड़की भी चोर नज़रों से उसे देखती ही है । इस लिए जो प्रस्तावित वर अदम्य उत्साह और आत्मविश्वास से मात्र दर्शक बन कर लड़की पसन्द करने जाते हैं और साभार घोषणा करते हैं कि लड़की उन्हें पसन्द है, प्रायः यही सूचना पाते हैं कि खेद है कि लड़की ने उन्हें नापसन्द कर दिया है ।

एक-दूसरे के रूप-रस का पान करने वाले नवविवाहित युगल को देखने वालों की कमी नहीं रहती और महिलाओं की तैराकी प्रतियोगिता के दृश्यों पर न्यूज़रीलें बना कर जब सिने-दर्शकों को दिखलायी गयीं तो उन्हों-ने चिल्ला कर कहा कि रुपया वसूल हो गया, अब मुख्य फ़िल्म बण्डल हो तो हो । और वैसा ही हुआ ।

कई बार तो आदमी दृश्य और दर्शक खुद ही बन जाता है । खूबसूरत महिलाएं आदमक़द आईनों के समक्ष खड़ी रह कर घण्टों अपनी विभिन्न मुद्राओं का अवलोकन करती रहती हैं और बदशकल से बदशक्ल आदमी अपने ड्राइंगरूम में सब से ज़्यादा तसवीरें स्वयं की लगा लेता है । शान्त तालाबों के आसपास के मनोहारी दृश्य की उपेक्षा कर दर्शक खामोश जल में अपनी छवि तलाशने लगते हैं ।

अर्थात्, दर्शक अनेक प्रकार के होते हैं । दर्शकों के देखने के तरीक़े भी अनेक प्रकार के होते हैं । जितने दर्शक होते हैं, देखने के तरीक़े भी उतने ही होते हैं, बल्कि ज़्यादा होते हैं, क्योंकि एक ही दर्शक कई तरह से चीज़ों को देखता है । आप ने देखा होगा कि सर्कस की साहसी लड़कियों के विस्मयकारी खेल बहुत दर्शनीय होते हैं । पर, हर दर्शक हैरतअंगेज़ कारनामे ही नहीं देखता, हैरतअंगेज़ शरीर सौष्ठव भी देखता है और अपनी प्रतिक्रिया अमुद्रणीय शब्दों में व्यक्त करता है । अँगरेज़ी फ़िल्मों के अँगरेज़ी न जानने वाले दर्शक उन दृश्यों पर ज़्यादा ध्यान केन्द्रित करते हैं, जिन की कोई भाषा नहीं होती ।

संगीत सम्मेलनों में आयोजक श्रोताओं को निमन्त्रित करते हैं, परन्तु अनेक व्यक्ति

इन संगीत-सभाओं में भी श्रोता नहीं, दर्शक बन कर पहुँच जाते हैं। बल्कि श्रोताओं में भी अधिकांश व्यक्ति जब कानो से संगीत का आनन्द ले रहे होते हैं तो अपनी आँखें खुली रखते हैं और देखने-न-देखने लायक़ चीज़ें देखते रहते हैं। कॉलेज व स्कूलों में वार्षिकोत्सव में आयोजित होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों के असांस्कृतिक दर्शक गोपनीय चीज़ें ही ध्यान से देखते हैं।

रुचि और पूर्वाग्रह नामक कम्पनी का एक चश्मा, जो बाज़ार में नहीं मिलता, हर दर्शक की निगाह पर चढ़ा हुआ होता है। गम्भीर और निष्ठावान् दर्शक भी एक दृश्य के एक ही बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित नहीं करते। मेला देखने आये हुए निष्ठावान् दर्शक भी अलग-अलग चीज़ों के प्रति अपनी निष्ठा बताते हैं। एक आदमी जिस दृश्य की उपेक्षा कर देता है दूसरा उसी में खो जाता है, और ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता। छोटे बच्चे जब सिनेमा से लौटते हैं तो उन की वर्णनशैली से पता चलता है कि परदे पर तीन घण्टे तक लगातार आँखें जमाये रहने के बावजूद उन्होंने वह चीज़ नहीं देखी जो सोलह साल की लड़की या बीस साल का लड़का देख कर आया है और बताने में शरमा रहा है।

बारेलालजी आढ़तिया कश्मीर जाते हैं पर वह चीज़ नहीं देखते जो प्रकृतिप्रेमी कवि देखता है। कवि नाम का भावुक जीव जहाँ वनों का नैसर्गिक सौन्दर्य तलाशता है वहाँ जंगलों का ठेकेदार नाम का दूसरा जीव जलाऊ और इमारती लकड़ी की तलाश में घूमता दिखाई देगा।

दर्शक मात्र देखते ही नहीं हैं। बल्कि लोगों को भयभीत भी करते हैं। कुछ साहसी महिलाएँ और पुरुष बहुत-कुछ करना चाहते हैं किन्तु किसी ने देख लिया तो क्या होगा का ख़याल उन्हें अनेक क्रान्तिकारी कार्य करने से रोक देता है। मारे डर के लोग मकानों में प्राइवेसी ढूँढ़ने लगते हैं और सार्वजनिक होटलों में अपने प्रिय व्यक्ति के साथ जाने पर एकान्त केबिन के लिए पूछताछ करने लगते हैं। अज्ञात दर्शक से भयभीत हो कर साथी फुसफुसाता है कि 'कोई' अर्थात् अज्ञात दर्शक क्या कहेगा? पति को अपनी पत्नी से सप्रेम बातें करते हुए न देखने के बावजूद बच्चों की संख्या देख कर मानना पड़ता है कि उन के बीच भी भावुकता के क्षण गुज़रते होंगे। हर कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन कर वाहवाही लूटना चाहता है पर चोर अपनी विस्मयकारी कला को गोपनीय रखता है! इस से पता लगता है कि दर्शक भयानक होते हैं।

दर्शकों के मन के भावों को व्यक्त करने में 'वाह वाह' और 'बहुत अच्छे' जैसे शब्दों के अलावा सड़े अण्डों और टमाटरों का भी पर्याप्त योगदान रहा है। क्रान्तिकारी नाटक के ताज़े विचार ही दर्शकों के जोवन और विचारधारा को प्रभावित नहीं करते बल्कि दर्शकों द्वारा फेंके गये सड़े अण्डे भी निर्देशक के जीवन और विचारधारा में आमूल परिवर्तन कर देते हैं। दर्शकों के डर से शेक्सपीयर ने ख़ून-खच्चर के नाटक लिखे,

[शेष पृष्ठ ८४ पर]

दो कविताएँ

आत्मप्रेक्षण ॥

फिर एक शोर-शराबे से
जोड़ दिया गया हूँ मैं,
सबों के बीच अकेला
पीत गये वृक्ष-सा
छोड़ दिया गया हूँ मैं;
सुनो, गतिहीन-समय से जा कर कहो
कि वह मुझे उसी समर्पित-एकान्त को लौटा दे
जहाँ मैं था,
जहाँ मेरा मैं रक्षित था।

अब मैं कुछ नहीं रहना चाहता
कुछ नहीं
मेरा परिवेश ही मुझे बहुत है,
मेरे अबोले क्षणों में
मेरा सब निहित है;
सुनो, दृष्टिविहीन सृष्टि से जा कर कहो
कि वह मुझे मेरी ही दृष्टि की परिधि को लौटा दे
जहाँ मेरी रिक्तता में,
मेरे कुछ नहीं रहने में
सब संचित था।

मैं फिर से संज्ञाहीन होना चाहता हूँ
संज्ञाहीन,
मेरा किसी संज्ञा से अनुबन्ध नहीं,
मुझे व्यक्त करने के लिए
समाज और व्यक्ति तो क्या
काव्य के पास भी
भाव-भाषा छन्द नहीं;
सुनो, मेरे आलोचक-वर्ग से जा कर कहो
कि जो कॉफ़ी के प्यालों में घुल रहा है
मेरा वह काव्य मुझे लौटा दे
जिस के लिए मैं
साहित्य-विज्ञों की दुनिया में
यश और नाम से वंचित था।

॥ सन्दर्भहीन-आदमी

हम वह क्यों नहीं हुए ?
एक प्रश्न हर बार दुहराता है मन
और रह जाता है मौन
निरुत्तर—
शीर्षकविहीन आदमी-सा ।

सारी कड़वाहटों के बीच
जन्मता है एक शब्द
बकवास,
फिर उसी शब्द से हो जाते हैं
सम्पृक्त
कई-कई शब्द
जैसे कुण्ठा-विक्षोभ-आक्रोश-विरोधाभास
और अन्त में
सन्त्रास;
हम अर्थों में क्यों नहीं जिये ?
एक प्रश्न हर बार शोधता रहता है मन
और हर क्षण
हो जाता है प्रकारान्तर
विकल्पहीन आदमी-सा ।

चिन्तन में पैठ जाता है दर्शन
कल्पना और यथार्थ
हो जाते हैं एक रूप,
तीव्रानुभूतियों की यों होती हैं
सहजाभिव्यक्तियाँ
चित्रांकित रहती हैं चेहरों पर छाँह
पृष्ठांकित हो जाती है धूप;
आखिर हम लिखते हैं किस के लिए ?
एक प्रश्न डूबता-उतराता है
धुँधलकों की परतों में मन
और मन और भावना के मध्य
रहता है दिशान्तर
समय से टूटे
सन्दर्भहीन आदमी-सा ।
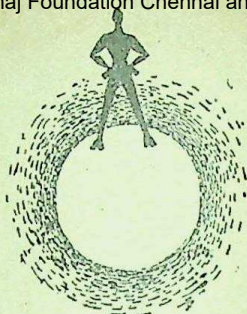
डिक्टेटर और डिक्टेटर

कृष्ण 'भावुक'

इस आदमी को आप देख रहे हैं न ? जी हाँ, यही आदमी जो इस लम्बे कमरे में कोने वाली मेज़ पर झुका हुआ बार-बार तार का यही वाक्य देख रहा है—'हुक्मचन्द एक्सपायर्ड लास्ट नाईट'।

यह आदमी इस दफ़्तर में एक साधारण क्लर्क है और हुक्मचन्द इस के मामा थे जो कलकत्ता में रहते थे। इतिहास-लेखक के रूप में उन की विशेष ख्याति थी। इस आदमी का उपनाम 'मस्ताना' है। वास्तविक नाम गोपाल दास है जो विश्वविद्यालय के प्रमाण-पत्रों तक ही सीमित है और उसे बहुत कम लोग जानते हैं। इन्हें कविताएँ लिखने का भी शौक़ है। शिक्षा बी० ए० तक है। इतिहास इन का प्रिय विषय रहा है। अब भी घर की अलमारियों में इतिहास की अनेक पुस्तकें भरी पड़ी हैं। अपने मामा हुक्मचन्द की सभी ऐतिहासिक पुस्तकें इन्होंने पढ़ डाली थीं जो कि स्वाभाविक ही था। बी० ए० का रिज़ल्ट आउट होने से पहले ये इस बिजली के दफ़्तर में नियुक्त हो गये थे और तभी से इस सरकारी दफ़्तर की शोभा बढ़ा रहे हैं।

इस समय तार पा कर मस्ताना जी का मन टुकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा है। दर्द का

गर्म-गर्म लावा इन की शिराओं में सनसना रहा है। इन के आस-पास बैठे हुए दूसरे क्लर्क इन को विचलित होता देख रहे हैं। मस्ताना जी का कलेजा फटा जा रहा है। चाहते हैं कि ये फ़ाइलें पटक कर सीधे घर की राह लें किन्तु एस० डी० ओ० साहब हैं मि० सक्सेना जिन से इन की बहुत लगती है। वे कभी भी छुट्टी नहीं देंगे। उन के हाथ यन्त्रवत् इस समय काग़ज़ों पर चल रहे हैं किन्तु मन कह रहा है—"ऊँह! भाड़ में जाये ऐसी नौकरी, आख़िर इस दफ़्तर से अलग भी तो हम कुछ हैं। हमारे अपने सुख-दुःख हैं।"

प्रत्यक्ष रूप में मस्ताना जी एक मशीन की भांति पूरी ईमानदारी से अपने काम में जुटे हुए हैं। एक फ़ाइल उठाते हैं तो निपटा कर दूसरी पकड़ लेते हैं। किन्तु विश्व के सभी नियन्त्रण शरीर की सीमा तक ही हैं। मन पर तो कोई अधिकार नहीं कर सकता। इस समय वे भी अतीत में घूम रहे हैं। उन के मन पर स्मृतियां ऐसे कुण्डलियां मारे जमी बैठी हैं जैसे छाती पर बलग़म। परछाइयां हैं कि एक के बाद एक उभरती जा रही हैं—

उन के मामा हुक्मचन्द घर-भर के नौकरों को डांट-डपट रहे हैं। सांसें फूली हुई हैं। एक अकड़ी हुई मोटी-सी उंगली हवा में ज़ोर-ज़ोर से हिल रही है—

"साफ़-साफ़ बता दो घड़ी किस ने चुरायी है? मैं कहता हूँ स्सालो क़बूल कर लो नहीं तो हण्टरों से मार-मार के सारी खाल उधेड़ दूंगा—क्या—क्या समझे?"

तरबूज़-सा बड़ा सिर, सायकिल के हैंण्डिल-सी मूँछें, सख़्त ठोड़ी। काला ओवर-कोट, चूड़ीदार पायजामा। जहां वे खड़े हैं उस के ठीक पीछे फ़्रेम में स्टालिन का चित्र लगा हुआ है। वेश-भूषा इस प्रकार है: गहरे ख़ाक़ी-हरे रंग की जैकेट (जिस के बटन पीछे की ओर लगते हैं) और यह है घुड़सवारी के समय पहनने वाली पैण्ट। यह कोई दफ़्तरी 'युनिफ़ॉर्म' नहीं थी। मस्ताना जी ने कहीं पढ़ा था कि रूस में लोगों ने स्टालिन के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए इसी प्रकार की वेश-भूषा धारण करनी शुरू कर दी थी।

इस समय वे सिगरेट पीते हुए नौकरों पर बरस रहे हैं। बीच-बीच में खांस उठते हैं। बायीं आंख पत्थर की लगी है। दायीं आँख से बीच-बीच में पानी की एक लकीर नाक के पास फिसल रही है। आंसू नहीं, वैसे ही उन की इस आँख से पानी गिरा करता है, विशेषत: जब वे अत्यधिक उत्तेजित हो जाते हैं। अब वे तेज़ी से सिगरेट के कश पर कश खींचते चले जा रहे हैं।

लीजिए, उन की यह तसवीर मस्ताना जी के मन-पटल से 'फ़ेड आउट' हो गयी है। अब एक दूसरी ही तसवीर उभर रही है। वे अपने प्यारे भानजे को विस्तारपूर्वक अपने जीवन की कहानी सुना रहे हैं। वे तख़्त पर गाव-तकियों के सहारे अधलेटे-से दिखाई दे रहे हैं। शैशव से ले कर प्रौढ़ावस्था तक सभी घटनाओं के चलचित्रों को रीलों-सा गुज़रता महसूस कर रहा है भानजा।

उन का जन्म बहुत निर्धन परिवार में

हुआ। पिता पान की एक छोटी-सी दूकान करते थे। चाहते थे कि उन का बेटा बड़ा हो कर बाप-दादों से चला आया यही व्यवसाय अपनाये पर बेटा था कि बचपन से ही अपने पिता और उन के व्यवसाय से घृणा करता था।

मस्ताना जी ने अपने मामा-द्वारा लिखित एक इतिहास में पढ़ा था कि हिटलर 'ऑडीपस कॉम्प्लेक्स' का शिकार था। वह अपने पिता से जितनी मात्रा में घृणा करता था लगभग उतनी ही मात्रा में माँ से प्रेम करता था। तो क्या मामा जी में भी यही 'ग्रन्थि' बनी हुई थी। भानजा कई बार सोचा करता।

मामा जी बता रहे हैं कि जब वे छोटे से थे तो अपनी गली-भर के लड़कों से बहुत ही झगड़ा करते। फलस्वरूप उन के पिता घर लौटने पर डण्डों से उन की ख़ूब पिटाई करते। ऐसे समय में माँ ही उन्हें छुड़ाया करती। पीटते समय जो वस्तु भी हाथ में आती उसी से उन की पीठ पर पिल पड़ा करते। एक बार शीशे का मर्तबान हो उन पर दे मारा। आज तक उन की पीठ पर घाव का एक गहरा निशान स्मरणस्थल बन कर विद्यमान है। प्रायः उन्हें किसी पड़ोसी के घर चीज़ें चुराने पर एक छोटी-सी गुफ़ानुमा कोठरी में बन्द कर दिया जाता और वे उस चूहों वाली कोठरी में रोते-चीखते न जाने कब सो जाते। बड़े हो कर उन्हें एकान्त से बहुत भय लगा करता। मामा जी ने बताया कि इस प्रवृत्ति को अँगरेज़ी में 'क्लास्ट्रोफ़ोबिया' कहते हैं।

बड़े हो कर जब उन के पास धन की प्रचुरता हुई तो उन्होंने एक आलीशान कोठी बनवायी। उस में उन्होंने हालनुमा लम्बे-लम्बे कमरे बनवाये। कितने ही सम्बन्धियों और मित्रों ने इतने लम्बे कमरे बनवाने पर टीका-टिप्पणी की। किन्तु उन्होंने सब की बातें एक कान से सुन कर दूसरे कान से निकाल दीं। एक दिन वे आलोचकों पर फट पड़े—

"तुम क्या जानो ये बातें...तुम तो छोटी-छोटी कोठरियों में सड़ना जानते हो...मैं कहता हूँ तुम...तुम आदमी नहीं चूहे हो। क्या...क्या समझे ?"

मस्ताना जी ने इतिहास की किसी पुस्तक में पढ़ा था कि मुसोलिनी के जीवन में भी कुछ ऐसी ही 'ग्रन्थि' बनी हुई थी। जब वे इस प्रकार फटकार रहे थे तो भानजा उन से कुछ दूरी पर खड़ा उन के क़द का अनुमान लगा रहा था। वे भी नेपोलियन और मुसोलिनी की भाँति छोटे क़द वाले थे।

मामा जी के साथ की भेंटें एक के बाद एक तेज़ी से मन के परदे पर गुज़रती जा रही हैं।

मामा जी रात के पिछले पहरों में कार्ल मार्क्स पढ़ा करते थे। कभी-कभी पुस्तक हाथ में थामे-थामे ही मेज़ पर सो जाते थे। बस-स्टाप हो या होटल, सिनेमा हो या पार्क, गली हो या सड़क, सब-कहीं वे खड़े-खड़े या चलते-चलते जेब से पर्स निकाल कर उस में लगी कार्ल मार्क्स की फ़ोटो को घूरने लगते।

मस्ताना जी ने एक स्थल पर पढ़ा था कि मुसोलिनी भी अपनी जेब में कार्ल मार्क्स का एक 'मैडलियन' (पदक) रखा करता था।

सहसा एक चित्र उभरा। आधी रात बीत चुकी है। वे अपने अध्ययन-कक्ष में डटे हुए हैं। बड़े दत्तचित्त हो कर अपनी एक पुस्तक लिखने में जुटे हुए हैं जिस का नाम था 'संसार के प्रसिद्ध तानाशाह'। आगे चल कर उन की यह कृति बहुत लोकप्रिय हुई। मामा जी की आजीविका इतिहास-लेखन से ही चलती थी। मार्केट में उन का इतना नाम था कि पुस्तक प्रकाशित होते ही दो-तीन मास में ही समाप्त हो जाती थी।

मस्ताना जी का इतिहास-विषयक अध्ययन गहन है। वे जानते हैं कि संसार के लगभग सभी तानाशाह धुन के पक्के थे। उन के मामा भी नेपोलियन और हिटलर की भांति एक बार जिस काम को हाथ में ले लेते थे फिर उसे पूरा कर के ही चैन लेते थे।

सभी तानाशाहों की भांति उन के स्वभाव में भी 'असामान्यता' पायी जाती थी। कहते हैं एक स्टालिन ही ऐसा तानाशाह था जो कुछ 'नॉर्मल' था किन्तु वह भी युवावस्था में बम फेंका करता था।

मस्ताना जी ने पढ़ रखा था कि लगभग सारे तानाशाह निर्धन परिवारों में जन्मे थे। केवल युगोस्लाविया का एलेक्जेण्डर ही एक अपवाद था। मुसोलिनी के पिता लुहार थे। हिटलर और स्टालिन के पिता मोची थे। स्टालिन के पूर्वज कृषि करते थे। आस्ट्रिया का डॉलफस भी एक नीच जाति में जनमा था।

चित्र उभरता है। वे अपने भानजे को बता रहे हैं—"सुनो! संसार के जितने भी तानाशाह थे उन्हें जवानी में बड़े ही कटु अनुभव हुए थे। आगे चल कर उन्होंने उसी की क्षति-पूर्ति करने के लिए सिर और धड़ की बाज़ी लगा कर संसार में शक्ति और ख्याति प्राप्त की—"

किन्तु मस्ताना जी को मामा जी ने यह नहीं बताया कि यदि फिर भी कुछ कसर रह गयी तो उन लोगों ने अन्य विधियों से उसे पूरा किया था। हिटलर ने संगीत-प्रेम की आड़ ली, मुसोलिनी ने कारें चलाते समय शीघ्रगामिता दिखायी और कमाल अतातुर्क तो चारित्रिक दुर्व्यसनों में जा फँसा। क्या मामा जी ने भी किसी ढंग से अपने किसी अभाव की पूर्त्ति की है?

कई बार भानजा सुन तो रहा है मामा की बातें परन्तु उस के मन में एक दूसरी ही फ़िल्म चल रही है। मामा जी के पिता पनवाड़ी हैं। वे किशोर पुत्र को दूकान पर बिठाते हैं पर पुत्र है कि उठ-उठ कर भागता है। एक बार गुब्बारा लेने गया तो गैस की टंकी फट जाने से उस की बायीं आँख जाती रही। बाद में पत्थर की नकली आँख लगवायी गयी। इतिहास बताता है कि हिटलर भी एक बार युद्ध में ज़हरीली गैस से अन्धा हो गया था। बचपन में मामा जी ने कई बार भूखे होने पर दूसरे बच्चों के हाथों से रोटियाँ छीन कर खायी थीं।

एक चित्र उभरता है। वे भानजे के कान उमेठते हुए पूछ रहे हैं—"तुम्हें पता है

नेपोलियन ने जीवन में क्या कुछ किया था ?"

"जी नहीं"—भानजा थरथर काँप रहा है।

"तुम्हें कुछ पता नहीं—फिर भी कहते हो मैं 'हिस्ट्री' पढ़ूँगा···तुम्हारे बाप-दादा ने भी 'हिस्ट्री' पढ़ी थी या तुम्हीं···"

भानजा हिचकते-हिचकते कह रहा है—"पर मामा जी आप के पिता जी तो दूकान पर कत्था-चूना लगाते हैं पानों पर—किन्तु आप···"

"शट-अप···ज़्यादा ज़बान चलायी तो खाल खींच कर भुस भर दूँगा—क्या—क्या समझे ?"

धीरे-धीरे भानजे का भी इतिहास में शौक़ बढ़ता गया। वह खोज-खोज कर ऐतिहासिक पुस्तकों को जमा करने लगा। मामा जी को आरम्भ से ही पूँजीपतियों से घृणा थी किन्तु नियति का व्यंग्य देखिए, वे अपने जीवन की सान्ध्य-वेला में स्वयं लखपति हो गये थे। कई बार रूस, जर्मनी, फ्रान्स और अमेरिका हो आये। अँगरेज़ी में उन की सभी पुस्तकों के अनुवाद हो गये। बाद में उन्होंने अँगरेज़ी में ही पुस्तकें लिखीं और विदेशी प्रकाशकों से ही छपवायीं। यहाँ घर बैठे रॉयल्टी पहुँचने लगी।

उन के पिता ने तो आजीवन मदिरा की शक्ल भी नहीं देखी और उन्होंने एक बार बड़ी शान से मदिरा की चमचमाती दूकान खोल ली। धन बढ़ता ही चला गया। बड़े गर्व से उन्होंने एक दिन भानजे से कहा—

"देखो भानजे साहब। इसे कहते हैं बिज़नेस। पूरा २५ प्रतिशत मुनाफ़ा है इस काम में—"

भानजे को यह परिवर्त्तन उन के स्वभाव के अनुकूल ही जान पड़ा। पैसे की वैसे भी कमी नहीं थी। माता-पिता को छोड़ कर कब से अलग हो गये थे। एक वह समय भी आया जब उन्होंने बस और रेल से यात्रा करना छोड़ दिया। भानजे से एक दिन कहने लगे—

"अरे, मैं कहता हूँ जब कारें और वायुयान हैं तो किस भँड़वे का दिमाग़ ख़राब है जो पैसा पास होते हुए 'मॉडर्न' न बने····"

आज तक मस्ताना जी उन की 'मॉडर्न' की परिभाषा नहीं समझ सके। वृद्धावस्था में मामा जी ने काफ़ी पीना शुरू कर दिया। पहले नेपोलियन की भाँति धार्मिक थे, अब नास्तिक हो गये। यह भी समझ में आता है किन्तु मूसलाधार वर्षा में बिना किसी छाते या बरसाती के सड़कों पर नंगे सिर 'लेफ़्ट-राईट' करते चले जाने में कौन-सी 'आधुनिकता' थी ?

मस्तिष्क-पटल पर एक चित्र उभरता है। वे भानजे से कह रहे हैं—

"देखो, नेपोलियन कहा करता था, मैं दो वर्ष 'एडवान्स' जीता हूँ। इस का क्या मतलब था ?—नहीं समझे ? तुम बुद्धू के बुद्धू ही रहे। एमर्सन ने उस के सम्बन्ध में लिखा है कि वह प्रत्यक्ष रूप में युद्ध जीतने से पूर्व ही अपने मस्तिष्क में बहुत पहले युद्ध-विजय कर लिया करता था।—क्या—क्या समझे ?

मामा जी कभी अपने सम्बन्धियों में

अधिक दिलचस्पी नहीं प्रकट करते थे। छोटे आदमियों, विशेषतः नौकरों से, बहुत डट कर काम लेते। उन से बातें बहुत कम करते किन्तु धनी आदमियों के सामने वाचाल हो जाते। उन के अधरों पर हँसी तो भूले-भटके ही देखी जाती। मुसकान भी कुछ विशेष अवसरों पर ही उभरती, जब वे कोई बहुत बड़ा काम सम्पन्न कर लेते या कहीं अपनी किसी पुस्तक की प्रशंसा होते देखते। ऐसे अवसरों पर भी जो मुसकान आती वह 'ग्रिट्टी' (रेतीली) होती। रात-दिन लिखते रहते। लिखना और पढ़ना, बस ये दो ही उन के प्रमुख काम थे।

एक दृश्य उभर रहा है। वे अपनी कोठी में अपने एक दूर के सम्बन्धी की शादी की तैयारियों में जुटे हुए हैं। एक बहुत बड़े कमरे में खड़े हैं। अभी एक दिन पहले स्वयं लड़के के पिता ने इस कमरे में डिसटैम्पर करवाया था। किन्तु मामा जी को हरा रंग अच्छा नहीं लगा। विवाह में केवल एक दिन बाक़ी है। फिर भी उन्होंने रातों-रात पहले वाले सब मिस्त्रियों को काम पर लगवा दिया। अब दीवारों पर नया गुलाबी रंग हो चुका है। पलस्तर भी जहाँ-जहाँ पसन्द नहीं आया एक ही रात में सारा उखड़वा कर ठीक करवा दिया गया है और भी कई प्रकार के परिवर्त्तन किये गये हैं।

हुक्मचन्द नये रंग को देख-देख कर मस्ती में झूम रहे हैं। सुबह ही उन्होंने मदिरा-सेवन किया था। अब इस या उस गुज़रने वाले को रोकते हुए कह रहे हैं—

"क्यों कैसा रहा रंग ?....यह हुई न बात....इसे कहते हैं दिमाग़...."

तभी उधर से भानजा आता दिखाई दिया। उन्हें वहाँ स्तम्भ की तरह खड़े देख उस का सारा ख़ून सूख गया। वस्तुतः हुक्मचन्द के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी ही चुम्बकीय शक्ति थी। जब भी कहीं आ धमकते तो फ़र्श में एक लहर-सी दौड़ जाती। देखने वाले को प्रायः अपने शरीर में एक 'शॉक'-सा लगता महसूस होता। कमरे में घुसने से पहले वे ड्योढी पर ऐसे खड़े हो जाया करते मानो सोच रहे हों कि पहले दायाँ पैर अन्दर रखें या बायाँ।

हाँ, तो उस दिन मस्ताना जी को उस समय पा कर वे चमक उठे। उस के कन्धों पर अपने बलिष्ठ पंजे रखते हुए बोले—"क्यों बरखुरदार। देखा मेरा क़रिश्मा ? एक रात में कमरे का नक्शा ही पलट कर रख दिया। इसे कहते हैं कमाल..."

फिर भानजा उन के असाधारण 'स्टेमिना' की प्रशंसा करने लगा कि कैसे उन्होंने सारी रात खड़े-खड़े मिस्त्रियों से डाँट-डपट कर काम लिया है। कैसे उस सम्बन्धी की शादी में व्यस्तता के कारण उन्होंने तीन दिनों से भोजन करने की भी परवाह नहीं की है।

हुक्मचन्द जी आजीवन कोशिश करते रहे कि जिस बाज़ार में उन की कोठी थी उस बाज़ार का नाम उन के अपने नाम पर रखा जाये। उन्होंने कितने ही सरकारी दफ़्तरों की खाक छानी पर सफलता न
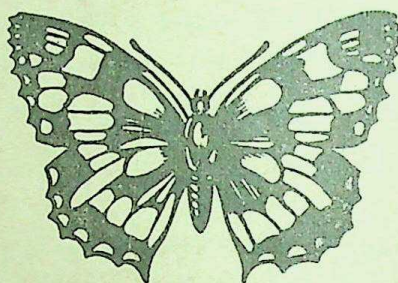
निकली थी, न मिली। एक दिन शून्य में किसी को सैकड़ों गालियाँ सुनाते हुए बोले—'स्साले—क्या समझते हैं अपने को''''मैं एक-एक से निपटूँगा'''''

शीघ्र ही यह चित्र बुझ गया। एक और दृश्य उभरा जिस में वे, अपने भानजे के हाथ से रोमाण्टिक उपन्यास छीन कर उसे थप्पड़ लगा रहे थे। सच तो यह है कि वे आजीवन 'रोमान्स' नाम की वस्तु से अपरिचित ही रहे। पत्नी से भी उन्हें विशेष प्रेम नहीं था।

मामा जी के अहं की कोई सीमा न थी। प्रायः कहा करते थे—"देखो, एक दिन सारी दुनिया मान जायेगी कि कलकत्ता में भी कभी कोई ए-वन हिस्टोरियन रहा करता था जिसे गवर्नमेण्ट ने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। यदि मैं जीवन में बहुत नाम न कमा सका तो किसी को अपनी शक्ल भी नहीं दिखाऊँगा'''"

स्वयं मस्ताना जी ने एक अँगरेज़ी पुस्तक में पढ़ा था कि हिटलर भी अपनी डेस्क की दराज़ में एक रिवाल्वर रखा करता था ताकि यदि कभी उस का शासन समाप्त हो जाये तो वह आत्महत्या कर सके।

एक दृश्य आँखों के सामने झूल रहा है। मामा जी कमरे में पीठ पीछे दोनों हाथ बाँधे चक्कर काटे जा रहे हैं और बड़बड़ाते चले जा रहे हैं—

"हुँह! आलोचक बने फिरते हैं। कभी तुम्हारे बाप-दादा ने भी हिस्ट्री पढ़ी थी। चले आये 'बुक-रिव्यू' लिखने। स्सालो, अगर मेरा शासन होता तो तुम्हारे बाल-बच्चों को आग में झोंक कर तुम सब को 'क्रूसीफ़ाई' कर देता''''टके-टके के आदमी''''मुझ से टकराते हैं''''मेरे सारे जीवन की साधना मिट्टी में मिला देना चाहते हैं। एक-एक को देख लूँगा''''सब पर मुक़दमे दायर न किये तो मेरा हुक्मचन्द नाम नहीं''''"

'गति' मामा जी के जीवन का प्रमुख प्रेरणाबिन्दु थी। एक बार उन्होंने कार खरीदी थी। जीवन में पहली बार 'ड्राइविंग' सीखी।

कितने ही चित्र उभर रहे हैं। मामा जी पहाड़ी सँपीली सड़कों पर भी कितनी तेज़ रफ़्तार से कार चला रहे हैं। एक चित्र, यह दूसरा चित्र, मोड़, मोड़ और मोड़। यह तीसरा दृश्य—और यह—ओह! दुर्घटना हो गयी। बाल-बाल बच गये। भगवान् का शुक्र है। लेकिन यह क्या—हाथ झाड़ कर उठ खड़े हुए हैं और अपने बूढ़े चाचा को कन्धों से झकझोरते हुए कह रहे हैं—

"भई वाह, मजा आ गया!! माई डीयर अंकल''''रीयल लाईफ़ लाईज़ इन सच एक्सीडेण्ट्स'''"

मामा जी ने किशोरावस्था में एक प्रेस में उर्दू कातिब के रूप में भी काम किया था। पीले-जर्द काग़ज़ात पर उन की आँखें गड़ी रहती थीं। चुनाव के दिनों में उर्दू किताबत का काम बहुत बढ़ जाता था और वे अधिकाधिक पैसा बटोरने में लग जाते थे। एक दिन बोले—"देखो मस्ताने! काम कोई भी गन्दा नहीं होता। काम काम है। दुनिया के लगभग सभी बड़े आदमी जवानी में छोटे-

छोटे काम करते थे। मुसोलिनी एक मिस्त्री के रूप में ईंटें ढोया करता था। स्टालिन 'हाल स्वीपर' का काम करता रहा। आख़िर उन सब का दिमाग़ ख़राब 'मत' था—?"

मामा जी प्रायः 'नहीं' शब्द की अपेक्षा 'मत' शब्द का प्रयोग किया करते थे। यह उन की अत्यन्त ही निजी विशेषता थी। मस्ताना जी को उन की एक-एक बात याद आ रही है।

वे कहा करते थे—"मैं बच्चों और बूढ़ों से सख़्त नफ़रत करता हूँ। मैं नहीं चाहता कि कोई मुझे बूढ़ा कहे। मैं कहता हूँ—मेरे इरादे, मेरे सपने देखो, मैं अब भी बूढ़ा नहीं हूँ।—लेकिन मैं जानता हूँ तुम्हारे भेजे में यह सब बातें 'मत' समायेंगी। तुम तो क्लर्की करते-करते सारा जीवन घसीट दोगे। कान खोल कर सुन लो, मुझे तुम-जैसे दब्बू नहीं, दबंग आदमी पसन्द हैं—क्या—क्या समझे···"

सहसा मन के टेलीविज़न पर बहुत बड़ी भीड़ दिखाई दी। उस के बीचोबीच एक बहुत बड़ा गोल-मटोल सिर धीरे-धीरे 'फ़ेड इन' हो रहा है। बड़ा और अधिक बड़ा हो कर सारे परदे पर छा जाता है। बीच में एक सुनहरा चश्मा चमचमा रहा है। सिर मदिरा के नशे में डोल रहा है। एक भारी-भरकम आवाज़ गूँज रही है—

"क्या कहा, मैं स्वप्नदर्शी हूँ। तो क्या हुआ, जानवर तो नहीं हूँ। क्या तुम मुझे अफ़ीमची या शराबी समझते हो? अपने दिल के झरोखों में झाँक कर देखो। क्या तुम्हारा कोई सपना नहीं है? क्या तुम इस दुनिया में धन और शक्ति प्राप्त करना नहीं चाहते? यह और बात है, तुम प्राप्त न कर पाओ लेकिन सपने तो देखते हो तुम सब। बोलो, बोलते क्यों नहीं?"

यह फुंकारता हुआ प्रश्न सुन कर भीड़ का शोर नीचे बैठ जाता है। अब फिर एक आवाज़ सुनाई दे रही है जैसे कोई आकाश-वाणी हो रही हो—

"मैं मानता हूँ कि मैं एक स्वप्नद्रष्टा हूँ—लेकिन हिटलर की तरह। एक ज़माना आयेगा, भारतवर्ष में मेरी ऐतिहासिक पुस्तकें लाखों पाठक पढ़ेंगे और सराहेंगे। वे सब मेरे अनुयायी होंगे। वे मेरे बुत बनायेंगे, मेरे चित्रों को अपने कमरों में लटकायेंगे। आप समझते हैं मैं आप की अन्धी भीड़ में लुप्त हो जाऊँगा। कान खोल कर सुन लो, यह तुम्हारी भूल है। शायद तुम नहीं जानते कि यह मैं ही हूँ जो हर युग में भिन्न-भिन्न रूपों में जन्म लेता रहा हूँ। मैं न कभी मरा हूँ, न मरूँगा। हाँ, समझ लो, मैं अमर हूँ। मैं तुम सब में हूँ। बड़े से ले कर छोटे तक सब में—हाथी में भी, चिउँटी में भी—केवल मैं—मैं—"

सहसा मन का समूचा 'कैन्वस' अन्धकार में विलीन हो गया जैसे सैकड़ों बल्ब 'भक्' से बुझ गये हों। चपरासी ने मस्ताना जी के सामने ईंटों सी भारी फ़ाइलें पटक दीं।

पास ही एक आदमी हाथ जोड़े गिड़गिड़ा रहा था—"बाबू जी, हमारे दूकान की बिजली कट गयी है। मेहरबानी कर के····"
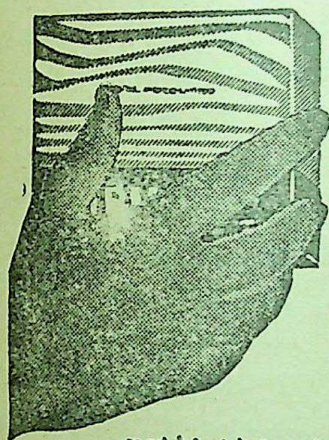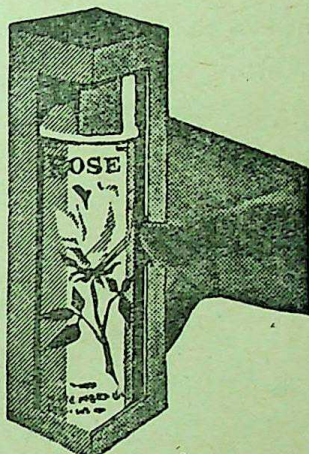
दूसरा व्यक्ति बीच में ही कह उठा—"नहीं, मैं पहले आया हूँ। बाबू जी, हमारे घर का मोटर अपने-आप चल रहा है...आप मेरी दरख्वास्त—"

मस्ताना जी पूरी शक्ति से चिल्ला कर बोले—"चुप हो जाओ...ओ....ओ...."

उन की चीखती आवाज़ सुन कर सारे क्लर्क उन की ओर गरदनें घुमा कर देखने लगे। तभी सामने बैठे चोपड़ा साहब ने पूछा—"क्यों मस्ताना जी, कैसा तार है?"

मस्ताना जी ने कुछ काग़ज़ों पर जल्दी-जल्दी हस्ताक्षर घसीटते हुए उदास स्वर में कहा—"मेरे मैटर्नल अंकल गुज़र गये हैं।"

चोपड़ा जी बोले—"लगता है आप को बहुत सदमा पहुँचा है। मेरी मानें, आप छुट्टी ले लें—"

"नहीं..."

कह कर मस्ताना जी कांपते हाथों से काग़ज़ उलट-पुलट करते रहे।

"क्यों, चले क्यों नहीं जाते?"—चोपड़ा ने फिर कहा।

अब जैसे उन की सहन-शक्ति चुक गयी। खीझ और क्रोध से बरस पड़े—"एक बार जो कह दिया मुझे नहीं जाना कहीं—कान खोल कर सुन लो। हम जो चाहें करें, तुम्हें इस से क्या? दिल चाहेगा तो जायेंगे, नहीं तो यहीं बैठेंगे। सम्बन्धी तुम्हारा नहीं, हमारा था। क्या...क्या समझे??"

सहसा होल्डर की चलती हुई निब 'कड़क' कर के टूट गयी। मस्ताना जी स्वयं अपने शब्दों पर चकित ठगे-से रह गये। फिर जल्दी-जल्दी मेज़ की दराज़ें खोलने और बन्द करने लगे जैसे कहीं कुछ ग़लत हो गया हो और कोई परमावश्यक वस्तु खोज रहे हों। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। ■■

[ग़लत दर्शकों के बीच : पृ० ७१ का शेषांश]

दर्शकों के डर से हिन्दुस्तान के फ़िल्म-निर्माता मारपीट की फ़िल्में बनाते हैं और रामलीला का अभिनेता राम, दर्शकों से डर कर तलब लगने के बावजूद स्टेज पर बीड़ी नहीं पीता।

दर्शक धोखा नहीं देते हैं। आँखें धोखा देती हैं। जिस औरत को आदमी बहुत खूबसूरत समझ कर अपनी ज़िन्दगी निछावर कर देता है, प्रायः साधारण दरजे के सौन्दर्य की स्वामिनी या नौकरानी होती है और सौन्दर्य-प्रतियोगिताओं के जज अपने निर्णयों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए लठबाज़ी करने लगते हैं।

विद्वानों और बेवक़ूफ़ों की मिली-जुली राय है कि आँखों की इसी अविश्वस्त भूमिका के कारण ग़लत दर्शक की तलाश आसान और सही दर्शक की तलाश मुश्किल हो गयी है। ■■

कलाकार और शैली

आर. बी. गौतम

आधुनिक कलाक्षेत्र में कुछ ऐसे विवादास्पद प्रश्न बने हुए हैं, जिन का समाधान करने में विवाद की स्थिति को भोगना पड़ता है। प्रायः प्रत्येक कला प्रदर्शनी में यत्र-तत्र कलादर्शकों के समूह से यही आवाज़ आती हुई सुनाई पड़ती है कि अमुक कलाकार ने कार्य अच्छा किया है, परन्तु उसे अब अपनी एक शैली बना लेनी चाहिए, अथवा अमुक कलाकार की शैली नहीं है, अतः उस कलाकार के कलाकर्म को आसानी से नहीं समझा जा सकता अथवा अमुक कृति अमुक कलाकार-द्वारा ही निर्मित है। किन्तु वे प्रायः इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि प्रत्येक कलाकार की रचना में तीन-चतुर्थांश स्मृति और कल्पना सन्निहित रहती है। किसी कलाकार में स्मृति की सघनता और किसी में यह कम होती है। स्मृति की सघनता अथवा अधिकता से कभी-कभी परगत भाव झलकने लगते हैं। कुछ कलाकार बाह्य पदार्थ सत्ता के प्रत्यक्षीकरण में अधिक प्रबल होते हैं तो कुछ बाह्य पदार्थसत्ता के बार-बार अवलोकन करने के उपरान्त भी उन्हें आत्मसात् नहीं कर पाते हैं।

कुछ यथार्थवादी आलोचकों का मुख्य ध्येय कला को मात्र यथार्थचित्रण तक सीमित कर देना होता है, जब कि कलाकर्म में एक प्रकार का विशेष और सहज मानसिक आयोजन रहता है। फलतः कलाकर्म संवेदनात्मक स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के द्वारा स्पष्ट होता है।

जितने भी ज्ञान अणु हैं, वे सब कलात्मक पदार्थसत्ता के निर्विकल्पीकरण में स्वयं के अस्तित्वबोध की स्वीकृति देते रहते हैं, किन्तु यह स्वीकृति विस्मृति के रूप में छिपी हुई स्मृति ही होती है। अतः जब कोई कलाकार यथार्थवादी चित्रण करता है, तब वह मात्र उस

कलात्मक विषय का चित्रण नहीं करता अपितु ज्ञात अणु-द्वारा प्रदत्त स्वीकृति भी उस कलात्मक विषय के चित्रण में जोड़ देता है और इसी कारण वह कलाकर्म संवेदनात्मक अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है।

जब किसी कलाकार के मस्तिष्क में सामान्य अनुभवों की स्मृति इतनी अधिक मात्रा में एकत्र हो जाती है तब वह नवीन कलात्मक विषय के प्रस्तुतीकरण में निर्बल सिद्ध होता है। उस कलाकर्म में पुनरावृत्तियों की भरमार दृष्टिगत होती है। यदि हम पूर्व कलाकर्मों के इतिहास के पृष्ठों को पलटते जायेंगे तो हमें इस बात का प्रमाण सरलता से प्राप्त हो जायेगा। राजस्थान के कला प्रांगण में भी ऐसे परम्परावादी कलाकार आये और बड़ी जल्दी ही चले गये, क्योंकि उन कलाकारों में स्मृति की सघनता थी अतः उन की कलाकृतियों में पुनरावृत्तियाँ आयीं। कुछ ऐसे परम्परावादी और यथार्थवादी कलाकारों की कृतियों का अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि मात्र उन्होंने एक ही लकीर को बार-बार पीटते रहने के सिवा कला के क्षेत्र में कुछ नहीं किया। ऐसे कलाकर्मों में विषय और रेखाओं की बार-बार पुनरावृत्तियाँ हुई हैं जिस से कलादर्शकों का मन ऊब गया और उन कलाकृतियों अथवा कलाकर्मों में नीरसता, उत्तेजनहीनता एवं प्रभावहीनता व्याप गयी और दर्शकों को दर्शनानन्द की प्राप्ति नहीं हो पायी।

परम्परावाद कुछ नहीं केवल स्मृति की अधिकता का ही पुनरावर्तन है। ऐसे कलाकारों में स्मृति की अधिकता से विचार-शून्यता परिलक्षित होती है और वह नवीन कलात्मक विषय की खोज नहीं कर पाते और न ही नवीन कलात्मक विषय अपनी कलाकृतियों में अभिव्यक्त कर पाते हैं। अतः वह पुनरावृत्ति करते जाते हैं, फलतः उन की शैली बन जाती है।

विचारशील कलाकार की शैली इस लिए नहीं बन पाती है क्योंकि उस की वृत्तियाँ मात्र स्मृत्यात्मक ही नहीं होती हैं, उन में विचार और कल्पना की भी समाहिति रहती है, अतः जो कलाकार अथवा कला-आलोचक रंगों अथवा रेखाओं के द्वारा शैली बनाने की बात करते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि शैली बनने पर उन की वही दशा होगी जो कि पुराने कलाकारों की हुई है। एक समय ऐसा आयेगा जब कलाकार स्वयं की कलाकृतियों से ऊब जायेगा और वह कुण्ठित हो आत्मघात कर लेगा—अन्यथा विस्मृत हो कर अपनी स्मृति की सघनता को नष्ट कर देगा—ऐसी स्थिति में उस के कलाकार का पुनर्जन्म होगा और वह कलाकर्म के मूल सिद्धान्तों को त्याग कर, बाह्य आवृत्तों को विस्मृत कर देगा। और शैलीहीन हो जायेगा तभी उस कलाकार की नवीनता के दर्शन होंगे। ऐसे कलाकार के कलाकर्म में सूक्ष्मता का उदय होता है और वह अमूर्त चित्रण की ओर अग्रसर होता है, जहाँ केवल कलात्मक पदार्थ सत्ता के चित्रण प्रत्यय रूप में अभिव्यक्त किये जाते हैं और

कलात्मक विषय के चित्रण की आकारवादी, रूपवादी और स्थूल अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

अतः जब कोई कलाकार अपनी स्मृति की सघनता में अवकाश अथवा रिक्तता उत्पन्न नहीं करता तो उसे अन्य कलात्मक पदार्थसत्ताओं का प्रत्यक्षीकरण नाम-मात्र को होता है। ऐसी स्थिति केवल तभी उत्पन्न होती है जबकि कलाकार अपने पूर्व अनुभवों से विरूप हो कर अर्थ की सृष्टि खो दे, क्योंकि ये पूर्व अनुभव कलाकार के प्रत्यक्षीकरण पर हावी हो जाते हैं और प्रत्यक्षीकृत स्वरूप को वास्तविक नहीं रहने देते। अतः ऐसे कलात्मक विषयों का प्रत्यक्षीकरण संवेदनात्मक भ्रम में परिवर्तन हो कर सत्य से दूर चला जाता है। और वह कलात्मक विषय कलाकर्म के सत्य नियामक सिद्धान्तों में विपर्यय उत्पन्न कर देता है।

अतः वास्तविक कलाकार वही होगा जिस की स्मृति में अवकाश अथवा विस्मृति होगी वरना वह क्राफ़्ट मैन की भाँति लकीर का फ़क़ीर बना रहेगा। जिस कलाकार में पूर्व कलात्मक पदार्थसत्ताएँ अनुभूत की जा चुकी हैं, उस के आवश्यक अंगों, आकारों, रंगों और रेखाओं को भुला देने की शक्ति जितने अधिक परिमाण में उस में निहित होगी वह कलाकार उतने ही अधिक परिमाण में नवीन कलात्मक उत्सर्जन करने में सक्षम होगा—परन्तु ये सब क्रियाएँ सूक्ष्म अर्थ की स्पष्टता लिये हुए होनी चाहिए वरना कलाकर्म निश्चयात्मक रूप से अवरुद्ध हो जायेगा। ■ ■

खिड़की से आकाश चुराने वालों की बात और है

शब्दों के
इन्द्रधनुषी रूमालों में
बाँध लिया गया है
युग का सत्य
जैसे कुछ लोग
तोता मैना बिल्ली
या कुत्ता
पालते हैं
और प्रशस्तियाँ करते हैं
इस लम्बी-सी लगने वाली
सदी के

छोटे-छोटे बच्चे
हँसने का हौसला रख कर भी
डरते हैं
परम्परा की दैनन्दिनी में
भले ही लिखी जाती हो
रोज़

पहाड़ी से गिर कर
मर जाने वाले एक सूरज की कथा
या व्यथा

मगर
ये अधडरे बच्चे
उजाले की हर पतंग को
छीन-झपट कर
बाँट लेने में विश्वास करते हैं
चाहे
न बाँटें
बूढ़े वर्ष
अपना पवित्र नैवेद्य
समय एक बहुत बड़ी कविता है
कभी-कभी
कहीं-कहीं
उस में नहीं मिलती कोई तुक
वैसे ही दूध पीते हुए दिनों का भी
होता है अपना एक सुख
जिसे कोई रूमाल तो क्या
आसमान भी
अभी तक बाँध नहीं पाया
हाँ, खिड़की से आकाश चुराने वालों की
बात और है

नारायणलाल परमार

अरथी बाबा

कुन्तल गोयल

साँझ की पाँखों ने उजाले के सारे टुकड़े समेट लिये थे। चिड़ियों का शोर इस क़दर बढ़ गया था कि उसे भय लगने लगा था। घर तक पहुँचते-पहुँचते चिड़ियों का शोर थम चुकेगा और साँझ दूर जा चुकेगी। आज का दिन कितना मनहूस था। सबक़ पूरा न होने पर अध्यापक जी से जो प्रसाद मिला था उस से अभी भी रोहित के हाथ भारी हो रहे थे। जब से बाबा बीमार हुए हैं उसे कोई पढ़ाने वाला घर में नहीं था। बाबू जी अपनी दिन-रात की नौकरी में ही खोये रहते हैं और माँ बड़बड़ाती हुई जब देखो तब उसे ही उठाती हैं। उन का कोई काम रोहित के बिना नहीं होता। —"जा रोहित, ज़रा मुन्नी को तो संभाल, जा ज़रा पड़ोसिन चाची से करेले की डिज़ाइन वाला पुलोवर तो मांग ला—रोहित यह कर ले—वह कर ले....।" वह कुछ बड़बड़ाता है और कॉपी को कुछ अधिक ज़ोर से पटक कर पिटने के भय से चुपचाप उठ कर चल देता है। दौड़ता जाता है और दौड़ता ही लौटता है। दौड़ने से उस के दुबले-पतले शरीर में साँसों का वेग धौंकनी की तरह चलने लगता है। आ कर एक नज़र बाबा के कमरे में डालता है और असमर्थता, खीझ और स्नेह, कातरता का मिला-जुला भाव उस की बड़ी-बड़ी गम्भीर-सी दिखने वाली आँखों में थम जाता है। कॉपी ज्यों की त्यों अपने स्थान पर पड़ी है, पेन खुला पड़ा है। वह कई दिन से अपना कोई काम व्यवस्थित नहीं कर पा रहा है। सारी चीज़ें बिखरी पड़ी हैं। पुस्तकों के कवर भी मैले हो गये हैं। वह एक निमिष के लिए उन पर लापरवाही से भरी दृष्टि डालता है। मन में एक अजीब-सी तिक्तता भर जाती है। बाबा बीमार हैं। एक भयानक

सन्नाटा बाबा के कमरे में बुरी तरह फैला पड़ा है। बीच-बीच में उस सन्नाटे को भंग करती बाबा की क्षीण कराहें। उसे बीच देहरी पर यों खड़ा देख कर माँ कमरे से दहाड़ती हैं—"पढ़ने में मन नहीं लगता। जब देखो तब बाबा की चिन्ता में डूबा हुआ है। देहरी पर खड़ा-खड़ा रो रहा है सब की जान को। आप जायेंगे इसे भी साथ ले जायेंगे। देखूँगी आज आने दे बाबू जी को!" माँ का बड़बड़ाना शुरू होता है तो चुकने का नाम ही नहीं लेता। वह बिना कुछ ध्यान दिये अपने स्थान पर लौटता है। पढ़ने के लिए किताब उठाता है। पर पढ़ने में मन नहीं लगता। एक बार चारों ओर दृष्टि डाल वह किताबें समेट बाबा के कमरे में फुरती से घुस जाता है। बाबा निश्चेष्ट पड़े हैं। कैसे अचानक तबीयत खराब हुई तो फिर तेज़ी से खराब ही होती गयी। कुछ देर अपलक वह बाबा की बन्द आंखों की ओर देखता है। फिर पुस्तकें नीचे रख उन के पायताने बैठ जाता है।

"बाबा, पैर दबाऊँ!"

बाबा आँखें खोलते हैं। उन के झुर्रियों-दार कमज़ोर चेहरे पर एक क्षीण मुसकान आ थमती है। वे हाथ फैला कर उसे अपनी भुजाओं में समेट लेना चाहते हैं। उसे दोनों हाथों से घेरे वे पूछते हैं—"आजकल तू पढ़ता नहीं बेटे। खूब पढ़ा कर, समझा। पढ़-लिख कर खूब बड़ा आदमी बनना है तुझे—अपने पिता से भी बहुत बड़ा।" रोहित के गले में फाँस-जैसी अटकती है। थूक गुटक कर शिकायत के स्वर में वह कहता है—"कोई पढ़ाये तब तो···आज कितना होम वर्क मिला है। चार सवाल नहीं बन रहे। माँ भी पढ़ने दें तब न!" उस ने सिर उठा कर बाबा की ओर देखा। बाबा की दृष्टि से दृष्टि मिलते ही उस की आँखों में अनायास आंसू छलछला आये।

"पागल है। रोता क्यों है? तू ने मुझ से क्यों नहीं कहा। ऐसा बीमार थोड़े ही हूँ कि तुझे बता न सकूँ। जा ले आ अपने सवाल।" और जैसे ही वह कॉपी लेने बढ़ा कि बाबा को फिर खाँसी का दौर उठ गया। खाँसी··· लगातार खाँसी। वह भयाकुल हो पीछे हटा और कुछ देर तक परेशान-सा उन्हें देखता रहा। फिर कुछ न सोच कर वह माँ को बुलाने दौड़ा।

माँ ने एक नज़र उसे घूर कर देखा और बड़ी अवज्ञा से बोलीं—"खाँसी उठी है तो मैं क्या करूँ? ठीक हो जायेगी। ऐसा तो हमेशा ही होता है। मैं किसे-किसे देखूँ?" रोहित के क़दम फिर तेज़ी से बाबा के कमरे की ओर मुड़े कि उस ने फिर माँ की आवाज़ सुनी—"तुझे पढ़ना-लिखना नहीं है रे? जब देखो तब कमरे में घुसा रहता है। काम को कहो तो किताबें सामने रख लेगा। अब समय खराब नहीं हो रहा है···।" रोहित ने ग़ुस्से से माँ की ओर देखा—"नहीं पढ़ना है"—वह उपेक्षा से बोला और तेज़ी से बाबा के कमरे में घुस गया। बाबा की खाँसी थम गयी थी। पर साँसें अभी भी तेज़ी से चल रही थीं। गले से एक अजीब-सी खड़र-खड़र की आवाज़ निकल रही थी। वह बाबा के चेहरे को देखता

उन की छाती पर झुका धीमे-धीमे उन की छाती सहलाने लगा—"अब कैसी तबीयत है बाबा ?" बाबा कुछ नहीं बोले। बस शिथिल हाथों से उसे अपनी छाती पर ही दुबका लिया। बाबा की बन्द आँखों के चारों ओर गोलापन····। रोहित का जी बुरी तरह दुख गया। बारह साल का होने को आया। अब बहुत-कुछ समझने लगा है। जो कुछ समझता है उसे तीव्रता से महसूस भी करता है। कुछ देर उसी तरह बाबा को निश्चेष्ट देख कर, बाबा को सोया जान उन से धीमे से अलग हो कर वह बाहर निकल आया।

माँ ने उसे खाने पर पुकारा तो उस ने बिलकुल अनसुना कर दिया। उस का मन बुरी तरह उफन रहा था। दरवाज़े से बाहर निकलते-निकलते उस ने देखा, उस के दोनों बड़े भाई और दीदी किसी बहस में उलझे हुए थे। उस ने ग़ुस्से से अपने बस्ते को और भी हाथ से चिपटा लिया था। बाबा की तबीयत खराब है और इन्हें बहसबाज़ी की सूझ रही है। यह भी नहीं सोचते कि बाबा की नींद खुल जायेगी। किसी को भी उन की चिन्ता नहीं। वह भूखा, खीझता हुआ स्कूल चला आया।

उस ने अपनी हथेलियों को देखा। बेंत के उभरे निशान उस पर हँस रहे थे। उसे लगा जैसे यह प्रसाद उस के अध्यापक का नहीं उस की माँ का है। जैसे माँ कह रही हो—"ले, और कर बाबा की सेवा। और घुसा रह उन के कमरे में···बड़ा आया बाबा का चहेता···" उधर भाई-बहनों की बहस की आवाज़ उठ रही है····। बाबा की खाँसी फिर उठ गयी है····। बाबा खाँस रहे हैं। निरन्तर खाँसते जा रहे हैं। उन के पास कोई नहीं है। वे अकेले हैं। उस के क़दम तेज़ी से आगे बढ़ने लगते हैं।

वह मन-ही-मन भगवान् से प्रार्थना करता है—"हे भगवान्! मेरे बाबा जल्दी अच्छे हो जायें। उन्हें जल्दी अच्छा कर दो!" अचानक पैर में ठोकर लगती है तो वह साथ चलते अमिय का हाथ थाम लेता है। "आज तुझे क्या हो गया है?"—अमिय कहता है—"सारे समय गुमसुम। तबीयत ठीक नहीं है क्या?" "कुछ नहीं"—रोहित धीरे से कहता है। आवाज़ टूटने-सी लगती है—"मेरे बाबा की तबीयत आज बहुत खराब है। उन्हें सुबह खाँसी उठी थी।"

"तो ठीक हो जायेगी। तू चिन्ता क्यों करता है?"

रोहित कुछ नहीं कहता। दोनों चुप-चुप साथ-साथ दोराहे तक पहुँचते हैं। फिर अमिय अपने घर की ओर मुड़ जाता है। रोहित अकेला घर के निकट पहुँच रहा है। आज बाबा को वह हथेलियों पर उभरे अपने निशान बतलायेगा। कहेगा—"लो देखो बाबा, आज मास्टर साहब ने मारा है मुझे। अब तुम जल्दी अच्छे हो जाओ नहीं तो इसी तरह मुझे रोज़ पिटना पड़ेगा। चार सवाल नहीं बने थे और उस के लिए पूरे चार बेंत खाने पड़े थे।" रोहित ने हथेलियों में तीखी जलन महसूस की—"मास्टर साहब कसाई हैं पूरे। इतना भी नहीं समझते

कि उस के बाबा की तबीयत खराब है।" उस के क़दम और भी तेज़ी से उठने लगते हैं। कितनी दूर पड़ता है घर से स्कूल। पहले जब वह दोराहे तक पहुँचता होता था उसे बाबा मिल जाया करते थे। अक्तूबर-नवम्बर की भयानक सर्दी को झेलते केवल कुरते पर बास्कट पहने ही बाबा रोज़ उसे लेने आया करते थे। एक दिन माँ की नज़र बचा कर उस ने अपनी गुल्लक बाबा के हाथ में धर दी थी। गिन कर देखा तो पूरे आठ रुपये, कुछ पैसे थे। चहक कर उस ने बड़े मन से बाबा से कहा था—"बाबा तुम शाम को मुझे लेने आते हो न! तुम्हें ठण्ड लगती होगी। इन रुपयों से तुम स्वेटर ले लो। वैसा ही जैसा बाबू जी पहनते हैं।" और प्रश्नवाचक मुद्रा लिये वह कुछ देर तक बाबा के चेहरे की ओर देखता रहा था। बाबा केवल हँस दिये थे। कुछ बोले नहीं थे। और बेनागा आते रहे बाबा उसे लेने के लिए—"तू थक गया होगा। पूरा डेढ़ मील तो पड़ता है स्कूल। चल रात को तेरे पैरों की अच्छी मालिश कर दूँगा।" और बाबा रोज़ रात को अपने पास ला कर उस के पैरों की मालिश करते थे। माँ कहती है—"अब नहीं बचेंगे वे। बुढ़ापे की देह है।" रोहित की आँखों में अमिय के बाबा का हट्टा-कट्टा शरीर आ थमता है। वे पूरे पैंसठ साल के हैं। उस के बाबा तो अभी पचपन के ही हैं। पर अमिय के बाबा के साथ देखने से अपने बाबा ही अधिक उम्र के लगते हैं। रोहित की आँखों में अमिय के बाबा का भोजन, रहन-सहन, उन की घुड़की—सब-कुछ आ-आ कर गुज़रने लगता है। घर के सारे लोग उन से थर-थर काँपते हैं। उस ने तो अपने बाबा को कभी किसी को डाँटते नहीं देखा। किसी के लिए कभी कोई शिकायत उन के मुख से सुनी ही नहीं। जो मिला खाया। जो मिला पहना। और बच्चों में बच्चे बने। बात-बात में हँसते-हँसाते रहे।

"बाबा! तुम कभी नाराज़ नहीं होते?"—एक दिन उस ने दीदी को बाबा का कहना न मानने पर कहा था। बाबा ने कहा था—"क्रोध कर के मैं अपना स्वभाव क्यों खराब कर लूँ भला?...फिर बच्चों की बातों पर क्या नाराज़ो?" "ऊँह! बाबा के लिए तो सभी बच्चे हैं"—रोहित ने होठ काट लिये, "सब ने सीधा-सादा पा लिया है बाबा को। इसी लिए तो कोई उन की चिन्ता नहीं करता। उन की देखभाल नहीं करता। तभी तो उस के बाबा इस हालत में आ पहुँचे हैं।"

जैसे-जैसे वह घर के नजदीक पहुँचने लगा उसे लगने लगा कि उस का घर बहुत दूर है और अभी उसे बहुत चलना है—बहुत। उसे पैरों में भारी थकान महसूस होती है। आज सच ही वह बहुत थक गया है। कौन जाने कब तक वह इस तरह थकता रहेगा? "...बाबा"—उस के स्वर से अस्फुट-सी ध्वनि निकलती है। वह झपट कर आगे बढ़ता है—लगभग दौड़ता हुआ-सा। सामने लोगों की हलचल। वह रुकता हुआ

आत्मकेन्द्रित-सा भीतर पहुँचता है। कमरे में जो पहली नज़र उस की पड़ती है—वह रोती हुई माँ पर पड़ती है। वह बाबा से सम्बन्धित सारी बातें भूल चुकता है। केवल माँ से सम्बन्धित सारी बातें दिल-दिमाग़ में भरती हुई उस के माथे की शिराओं को उत्तेजित कर जाती हैं।

टिके पलँग के पाये से बस्ता टाँग कर तटस्थ दर्शक की भाँति केवल होठ भींचे वह चुपचाप आँसू बहाती एक-एक स्त्री को देखता है। उस की आँखों में केवल शून्यता ही नहीं है—शून्यता से घुली-मिली एक अजीब-सी अनुभूति और भी है जिसे वह स्वयं नहीं जानता। वह जड़ हुआ एक-एक स्त्री के शब्दों को तौलने लगता है, ठीक एक अनुभवी व्यापारी की तरह।

"वैसे अभी उम्र ही क्या थी! पचपन साल क्या अधिक होते हैं?"—एक कह रही थीं।

"चलो नाती-पोते देख गये।"—दूसरी कहती है।

"सारे मोहल्ले की रौनक थे बाबा। देवता थे देवता। साँझ को रोहित के साथ जब तक दरवाज़े-दरवाज़े जा कर कुशल-क्षेम न पूछ लेते—चैन नहीं मिलती थी। सब के दुःख-सुख में शरीक होते थे!" रोहित उस स्त्री को ध्यान से देखता है—वह अमिय की चाची थी। रोहित की आँखों में अनायास पानी झलझला आता है।

तिन्नी उस की बग़ल में आ खड़ी होती है और फुसफुसाती है—"अब बाबा कभी लौट कर नहीं आयेंगे। वह जो बाहर टिकठी बनायी जा रही है—उसी पर बाबा को ले जायेंगे।" वह तिन्नी को घूर कर देखता है—"कितनी दुष्ट है यह तिन्नी। उस के बाबा के बारे में कितना खराब बोल रही है।" सब के स्वरों पर छाता हुआ उस की माँ का स्वर फिर ऊँचा हो जाता है। वह आँखें पोंछ कर फिर तटस्थ नज़रों से उन्हें देखता है—अभी चुप बैठी थीं। और अब नदी की धारा उमड़ने लगी आँखों से। अमिय ने एक बार उसे समझाया था—"अरे आजकल रोना तो बड़ी सहज बात हो गयी है।" सिनेमा के परदे पर एक हीरोइन को उस ने पहले हँसते, बातें करते हुए, फिर एकाएक फूट-फूट कर रोते देखा था। अचानक इतने ढेर सारे आँसू—जैसे पानी से भरा मटका फूट गया हो। थोड़ी देर में फिर बातें—फिर हँसी। उसे अजीब लगा था। अमिय ने यह भी कहा था कि दुःख में यों ही आँसू निकलते हैं। कोई मेहनत थोड़े ही करनी पड़ती है। अरे मैं ने ऐसे भी लोग देखे हैं जो बड़े से बड़ा दुःख बिना एक बूंद आँसू बहाये सह जाते हैं। कई ऐसे होते हैं कि जैसा मौक़ा देखा, चट दिखावे के आँसू बहाने लगे। जानता है—ऐसे आँसुओं को मगरमच्छ के आँसू कहते हैं। आजकल तो ग्लिसरिन के भी आँसू बनाये जाने लगे हैं। आँखों में लगा दो तो झर-झर आँसू बह निकलेंगे।

वह माँ की आँखों के आँसुओं को पढ़ता है। आँसू फिर थम गये थे। माँ दूसरी स्त्रियों से बाबा के गुणों का बखान कर रही

डॉ० हरूमल सदारंगानी की गणना आज सिन्धी के मूर्धन्य कवियों और फ़ारसी भाषा के सर्वोच्च भारतीय विद्वानों में होती है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के कृतित्व में से चुने हुए अंशों का हिन्दी रूप है।

ये रुबाइयाँ मूल में जितनी सरस हैं उतना ही सरस है भारतभूषण अग्रवाल - द्वारा प्रस्तुत अनुवाद जिसे पढ़ कर डॉ० सदारंगानी के काव्य का सम्यक् परिचय मिल सकेगा और कवि के उद्गारों के माध्यम से सिन्धी काव्य के सम्मोहन की कुछ झलक देखी जा सकेगी। मूल सिन्धी रुबाइयाँ देवनागरी लिपि में और साथ ही उन का हिन्दी रूपान्तर····

सिन्धी

रंगीन रुबाइयाँ

डॉ॰ हरूमल सदारंगानी

मूल्य तीन रुपये

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

विक्रय कार्यालय

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

थों। रोहित का मन बेहद कड़ुवा लगता है। उसे रोज़ की बातें ध्यान में आने लगती हैं—कैसे एक दिन बाबा के लिए धोती लाने की बात कहने पर उसे पिटना पड़ा था।

"यों ही क्या खर्चे कम हैं? कपड़े लत्ते सँभाल कर चलाये जाते हैं। यह निगोड़ा बाबा को सिफ़ारिश ले कर आता है। बैठे-बैठे खाना चाहिए बस! बच्चे को बरगलाते रहेंगे।" उस ने बड़ी निरीहता से माँ की ओर देखा था—"बाबा ने नहीं कहा माँ। वह तो मैं ने अपनी आँखों देखा था। वे सुई-धागे से अपनी फटी हुई धोती सी रहे थे।"

"चुप रहता है कि नहीं।"

रोहित का हाथ अनायास अपने गालों पर पहुँच गया। गालों ही गालों में मारा था माँ ने। वह उपेक्षा से माँ की ओर देखता है। दो बड़े भाई हैं और दो बहनें। पर किसी को भी बाबा की चिन्ता नहीं थी। आज रो रहे हैं सब के सब। उस का मन हँसने को होने लगता है। आज कैसे आँसू बहा रहे हैं? बड़ा दु:ख हो रहा है न! कुछ औरतें आयीं तो माँ बुक्का फाड़ कर फिर रो उठी थी।

तिन्नी चुपके से आ कर बता जाती है—"बाबा को लोग ले जा रहे हैं।" वह तिन्नी का मुँह हाथों से दबा देता है और माँ की ओर इशारा करता है, कोने में सुबकती खड़ी बहनों की ओर देख कर हँसता है—"देखती है तिन्नी। आज बेचारे रो रहे हैं।" वह सुखफुस करता खीझ-भरी हँसी हँसता है। तिन्नी अवाक् है। वह फिर आत्मकेन्द्रित हो कर कुछ और देखता है। आज सुबह बाबा को खाँसी उठी थी। बाबा के बाहुओं में कसा रोहित। अब वह बाबा की बाहुओं में अपने को कभी कसा नहीं पायेगा। कभी उस के पैरों की थकान नहीं मिट पायेगी। और वह सवाल न कर पाने पर रोज पिटेगा। पिटता ही जायेगा। उस के हाथों के निशान फिर बुरी तरह दुखने लगते हैं। वह दाँतों से होठ भींच लेता है और तिन्नी पर एक नज़र डाल बदहवास-सा बाहर दौड़ जाता है। बाहर लोगों की भीड़ है। बाबा की अरथी दरवाज़े के बाहर निकल चुकी है। वह भागता हुआ गेट तक पहुँचता है। उस का मन बाबा के साथ जाने के लिए आकुल होता है; पर पैर रुक जाते हैं। बाबा ने आज ही तो कहा था—'तू खूब पढ़ना। तुझे बड़ा आदमी बनना है न!'' "बाबा"—वह बड़ी कातरता से पुकारता है। गेट के पास अविचल खड़ा-खड़ा रोहित बाबा को दूर जाते हुए देखता है। उसे भीतर-ही-भीतर एक अजीब-सी छटपटाहट महसूस होती है। उसे लगने लगता है—यह अरथी उस के बाबा को नहीं है—उस की भी है—उस के सुखों की अरथी—उस के प्यार की अरथी। भीतर से रोने की आवाजें तूफ़ानी वेग से उठ-उठ, गिर-गिर कर चारों ओर फैल रही हैं। वह थामे हुए खम्भे को और भी कस कर दोनों हाथों से जकड़ लेता है।........

जापानी में भारतीय वाङ्मय

सत्यभूषण वर्मा

आज से १४०० वर्ष पूर्व सन् ५५२ में कोरिया के राजा ने जापान के तत्कालीन सम्राट् किम्मेइ को एक भेंट भेजी। उस भेंट में भगवान् बुद्ध की एक प्रतिमा थी और बौद्ध-शिक्षाओं पर कुछ ग्रन्थ थे। भारत के साथ जापान का यह अप्रत्यक्ष परन्तु प्रथम परिचय था।

बीस वर्ष पश्चात् सम्राट् सुइको के राज्यकाल में युवराज उमायादो (५७२–६२१) ने सर्वप्रथम बौद्ध-धर्म में दीक्षा ग्रहण की। युवराज उमायादो जापान के इतिहास में शोतोकु ताइशो के नाम से प्रसिद्ध हुए। शोतोकु ने बौद्धदर्शन का गहन अध्ययन कर त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) को परम लक्ष्य मान कर जापान के प्रथम संविधान की स्थापना की। उस ने अपने शासनकाल में अनेक बौद्ध-मन्दिर, पगोदा, विहार, अस्पताल और वृद्ध तथा निराश्रयों के लिए आश्रय-गृह स्थापित किये और बौद्ध-धर्म एवं दर्शन के अध्ययन के लिए अनेक जापानी विद्यार्थी राज्य की ओर से चीन भेजे।

सन् ६२४ में जापान में ४६ बौद्ध-मन्दिर, ८१६ बौद्ध भिक्षु और ५६९ भिक्षुणियाँ थीं। भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि भारत जापान में 'तेनजुकु' अर्थात् 'स्वर्गभूमि' कहलाया। जापान के प्राचीनतम मन्दिर होरयूजि की स्थापना सन् ६०७ में हुई जहाँ युवराज शोतोकु स्वयं आ कर बौद्ध-धर्म के महायान–सूत्रों पर भाष्य प्रस्तुत किया करते थे। होरयूजि मन्दिर में आज भी युवराज शोतोकु के सूत्र-भाष्य संरक्षित हैं।

बौद्ध-मन्दिर और विहारों की स्थापना के साथ जापान में बौद्ध-शिक्षाओं के अध्ययन की जो परम्परा आरम्भ हुई, वह आज भी जीवित है। बौद्ध-विहारों से सम्बन्धित शिक्षा-केन्द्रों और विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन एक अनिवार्य विषय बना दिया गया। आज भी जापान के अनेक विश्वविद्यालयों में संस्कृत और पाली के अध्ययन की व्यवस्था है। जापान के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् प्रोफ़ेसर हाजिमे नाकामुरा के शब्दों में भारत से बाहर संसार-भर में संस्कृत और पाली भाषा का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की संख्या जापान में सब से अधिक है।

नारा-युग (७१०–७४८) में १. विजय, २. अभिधर्मकोश, ३. सत्यसिद्धि, ४. नागार्जुन ५. बुद्ध-शिक्षा और ६. बुद्धावतंश का अध्ययन प्रमुख रही। जापान में इन्हें 'प्राचीन राजधानी की छह विधाएँ' के नाम से अभिहित किया जाता है। इन में प्रथम तीन का सम्बन्ध हीनयान से और शेष का महायान से है। बौद्ध-तर्क (हेतु-विद्या) का प्रवेश भी जापान में ७०० ई० के लगभग हो चुका था। चीन में ह्वेनसांग के शिष्यों में कुछ जापानी विद्यार्थी भी थे जिन्होंने जापान लौट कर बौद्ध-दर्शन का व्यापक प्रचार किया।

नारा-युग के पश्चात् जापान में बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ बौद्ध-वाङ्मय का अध्ययन भी बढ़ता गया। चीनी लिपि में उपलब्ध अनेक संस्कृत ग्रन्थ चीन से जापान लाये गये और उन का जापानी भाषा में अनुवाद हुआ। जापान के मन्दिरों में आज भी संस्कृत की अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं और जापानी विद्वानों के अनुसार उन में से कुछ पाण्डुलिपियाँ भारत में उपलब्ध पाण्डुलिपियों से भी अधिक प्राचीन हैं। उन का कथन है कि भारत की ऋतु में प्राचीन पाण्डुलिपियाँ अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रह सकीं जब कि जापान में वे आज भी सुरक्षित हैं।

भारत के साथ जापान का परिचय चीन और कोरिया के माध्यम से हो रहा यद्यपि जापान के इतिहास में दो भारतीय यात्रियों का उल्लेख भी मिलता है। पहला यात्री एक बौद्ध-भिक्षु धर्मबोधि था जो सातवीं शताब्दी में चीन और कोरिया होता हुआ जापान पहुँचा था। दूसरा यात्री दक्षिण भारत का भारद्वाज ब्राह्मण बोधिसेन था जो जापान में बारामोन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बारामोन ब्राह्मण शब्द का जापानी उच्चारण-रूप कहा जा सकता है। बोधिसेन चीन में था और चीन में जापान के तत्कालीन राजदूत हिरोनारि और एक जापानी बौद्ध-भिक्षु रिक्वी के अनुरोध पर वह अगस्त ७३६ में जापान पहुँचा। जापान में उसे अभूतपूर्व सम्मान प्राप्त हुआ। बोधिसेन बारामोन ने नारा (पश्चिम जापान) में संस्कृत कक्षाएँ और भारतीय धर्म तथा दर्शन पर व्याख्यान आरम्भ किये। नारा के संसार-प्रसिद्ध बौद्ध-मन्दिर की स्थापना में बारामोन का महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जाता है। जापानी भाषा की वर्तमान वर्णमाला जापान को बारामोन बोधिसेन की देन कही जाती है जो जापानी की सीमित ध्वनियों में

हिन्दी की बारह खड़ी ही है।[1] बोधिसेन की मृत्यु ५७ वर्ष की आयु में सन् ७६० में हुई और उस की समाधि तोमियामा, नारा में विद्यमान है।

१९ वीं शताब्दी के अन्त तक जापान में बौद्ध—वाङ्मय का विशाल भण्डार एकत्र हो चुका था परन्तु संस्कृत और उस के माध्यम से भारतीय साहित्य तथा दर्शन का सुव्यवस्थित अध्ययन जापान में १९ वीं शताब्दी के अन्त में ही आरम्भ हुआ जब जापान पश्चिम के सम्पर्क में आया। सन् १८८० के लगभग दो जापानी विद्यार्थी नान्जो बुन्यु और ताकाकुसु जिन्जिरो अध्ययन के लिए ऑक्सफ़ोर्ड गये और संयोगवश प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर के सम्पर्क में आ कर संस्कृत पढ़ने लगे। इन्होंने जापान लौट कर ७ वीं शताब्दी की अनेक संस्कृत पाण्डुलिपियों का सम्पादन और प्रकाशन करवाया जो जापान के मन्दिरों में सुरक्षित पड़ी थीं।

जापान में वर्त्तमान शताब्दी का सम्भवत: सब से महत्त्वपूर्ण कार्य ७० भागों में त्रिपिटक का जापानी अनुवाद था जो १९३५ से १९४१ के बीच पूरा हुआ। डॉ० ताकाकुसु ने ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का जापानी में अनुवाद किया जो १९२१ में प्रकाशित हुआ। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों का अनुवाद भी इन्हीं दिनों में प्रकाशित हुआ। डॉ० ताकाकुसु ने उपनिषदों के १२६ अध्यायों का जापानी में अनुवाद किया जो १९२२ से १९२४ के बीच ९ भागों में प्रकाशित हुआ। गीता का प्रथम अनुवाद भी डॉ० ताकाकुसु ने ही किया जो १९१८ में प्रकाशित हुआ। गीता पर अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ० त्सुजि नाओशिरो का गीताभाष्य है जो १९५५ में प्रकाशित हुआ। डॉ० हाजिमे नाकामुरा ने वेदान्त-दर्शन का इतिहास १९५० और १९५६ के बीच ४ भागों में प्रकाशित किया। सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय-दर्शन पर भी जापानी विद्वानों में चर्चा होती रही। अश्वघोषरचित 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' तथा अवदान साहित्य के कुछ अंशों का भी जापानी भाषा में अनुवाद हो चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय वाङ्मय में भारतीय दर्शन ही जापानी विद्वानों के विशेष आकर्षण का विषय रहा है। परन्तु वर्त्तमान शताब्दी में जापानी विश्वविद्यालयों में संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था के साथ संस्कृत साहित्य के अध्ययन की रुचि भी पनपी है। कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तलम्, शूद्रक का मृच्छकटिकम्, हर्ष का नागानन्दम् जापानी में अनूदित हो चुके हैं। काव्य के क्षेत्र में, कालिदास के ऋतुसंहार और मेघदूत, भर्तृहरि के तीनों शतक, बिल्हण की चौरपंचाशिका और जयदेव का गीतगोविन्द भी जापानी भाषा में उपलब्ध हैं।

भारत के दो सर्वप्रसिद्ध महाकाव्य रामायण और महाभारत जापानी विद्वानों की दृष्टि से सर्वथा अछूते रहे हैं। महाभारत

[शेष पृष्ठ १०४ पर]

---

1. इस सम्बन्ध में भाषा (हिन्दी त्रैमासिक) के दिसम्बर १९६५ के अंक में मेरा लेख 'जापानी शब्दों का देवनागरी लिप्यन्तरण' द्रष्टव्य है।

ग़ालिब :
ख़ुद अपनी ज़बानी । ६ ।

●

जब ज़फ़र के दीयों की जगमगाहट बुझने आयी और आसमान के चाँद को गहन लगा।

●

अहमद सलीम

सच है, जमशेद-जैसे बादशाह से भी तख्त और ताज छिन जाते हैं।

हाँ, खुदा जिस तरह न होने को होने में बदल सकता है उसी तरह जो उसे छुपा सकता है, ग़ायब कर सकता है, मिटा भी सकता है। वह जिस ने 'होजा' कह कर एक पल में सारी दुनिया को पैदा किया अब 'न रह' कह कर दूसरे पल में मिटा दे तो किस का यह पित्ता है कि अपनी ज़बान हिला सके।

इस दौर में हर राग की अलाप और हर चीज़ की रफ़्तार बदल गयी, लुटेरे क़ानून की गिरफ़्त से और सौदागर महसूल की पाबन्दी से आज़ाद हो गये। घर के घर वीरान, और वीरानों में लूट के दस्तरख्वान बिछ गये। गुमनामी के तहखानों में पड़े हुए लोग बन-सँवर कर निकलते हैं और अपनी बेशर्मी का तमाशा दिखाते फिरते हैं। कल तक पलकों की तरह खंजर ताने निकलने वाले शरीफ़ लोग जब आज घर से बाज़ार तक आते हैं तो हर-हर क़दम पर अपने-आप ही झुक जाते हैं। चोर-उचक्के दिन के उजाले में दिलेरी के साथ सोना-चांदी लूटते-खसोटते हैं और रातों को रेशम से अपना बिस्तर सजाते हैं। रौशन खान्दानों को तेल तक नहीं जुड़ता कि रात को चराग़ जलायें। अंधेरे
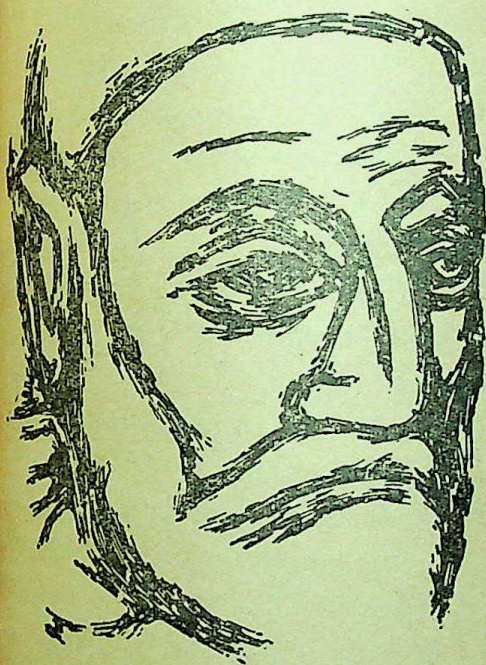
रातों में जब प्यास सताती है तो बिजली के चमकने का इन्तजार करते हैं कि देखें प्याला कहां रखा है और सुराही किधर है। ख़ुदा की इस बेपरवाही के क़ुर्बान जाइए कि गिरे-पड़े लोग जो मिट्टी बेचने के लिए सारा दिन ज़मीन खोदते थे उन्होंने मिट्टी में सोने की ईंटें पा लीं; और जो ऊँचे लोग रातों को अपनी महफ़िल में फूलों की आग से ख़ुशी और मस्ती के चराग़ जलाते थे उन्हें अंधेरी कोठरियों के अन्दर ग़म की भड़कती हुई आग ने फूंक डाला। शहर की हसीन औरतों के गहने-पत्ते, सिवा उन के कोतवाल की बीवी और बेटी के कान और गर्दन में रह गये हों, सारे के सारे चोर-उचक्कों की थैली में पहुँच गये। इन हसीनों का रहा-सहा नाज़ो-अन्दाज फ़क़ीरों के बच्चों ने लूट लिया। अब इश्क़ करने वाले लोग, जिन्हें हसीनों के नाज़ उठाने थे, इन लुटेरों की नाज़-बरदारी करते हैं। हर ऐरा-ग़ैरा घमण्ड की हवा में चक्कर काटता हुआ बगूला और हर ओछा जवान अपने-आप को दिखाने के नशे में चूर, अपनी छिछोरी उछल-कूद से बहते पानी पर दौड़ता हुआ तिनका मालूम होता है। एक वह जो ऊँचा सिर और ऊँचा दमाग़ रखता था, उसी की अपनी गली में, उस की इज़्ज़त मिट्टी में मिला दी गयी। और दूसरा वह जो न नाम और न निशान रखता था न सोना और चाँदी, वह आज बेठिकाना धन-दौलत का मालिक बन बैठा। जिस का बाप गली-कूचों की हवा नापता फिरता

था, उस ने हवा को अपने दामन में बाँध रखा है और जिस की माँ पड़ोसन के घर से आग माँग कर लाती थी वह आज आग को सौ नाच नचाने लगी है। जाहिल लोग आग और हवा को अपना चाकर बनाना चाहते हैं और हम उन फटे-हालों में हैं जो इत्मीनान की एक साँस और इन्साफ़ की एक बाँग को तरसते हैं।

एक नवाब साहब और खूँटी पर टँगे छींट के इस फ़रग़ल का क्या ज़िक्र। अभी कल की बात है सात मन रोटियाँ खमीरी और पाँच देग़ सालन रोज़ क़िले में तैयार होते थे। ज्यों ही बादशाह खाना शुरू करते कि चोबदार ज़ोर से आवाज़ लगाते : "तआम मुबारक़!" और तमाम खाना ग़रीबों में बाँट दिया जाता। सूरज गहन के दिन बादशाह सलामत तराज़ू के एक पल्ले में बैठते, दूसरे में सतरंगा ग़ल्ला और सोना-चाँदी रख कर वज़न किया जाता, और यह तमाम चीज़ें और एक भैंसा और रुपयों की ढेरी ग़रीबों में बाँट दी जाती। और आज उसी बादशाह को अँगरेज़ी फ़ौजों ने अपने हल्क़े में ले लिया है। और यह ऐसा है जैसे चाँद को गहन लग जाता है।

"हुज़ूर, सहबाई तोप से उड़ा दिये गये। कहते हैं एक ही बाढ़ में उन के खान्दान के कोई बीस आदमी कूचए-चीलान में खत्म कर दिये गये, जो बच रहे उन्हें गोरे राजघाट ले गये।" कल्लू ने यह सब कुछ एक ही साँस में कह दिया था।

"मौलवी इमाम बख्श सहबाई?" मैं सटक फेंक कर तख्त से नीचे उतर जाता हूँ: "हाय मेरे दोस्त! शायद इसी दिन के लिए टाम्सन ने उन्हें दिल्ली कॉलेज की मुदर्रिसी के लिए चुना था। यह ग़ज़ब! बीस आदमी? हाय हाय!!"

मगर कल्लू ने अपनी बात को और आगे बढ़ाया था और बताया था कि अहमद हुसैन को फाँसी की सज़ा हो गयी। नवाब मुस्तफ़ा खाँ 'शेफ़्ता', 'ईजाद', 'रिन्द', मुफ़्ती सदरुद्दीन 'आज़ुर्दा', ख़ैराबादी शुब्हे पर गिरफ़्तार हैं। शहर एक छावनी बन गया है। क़दम-क़दम पर पहरे बैठे हैं। जगह-जगह फाँसियाँ गड़ी हैं। गलियाँ लाशों से पटी पड़ी हैं।

हाय हाय! शहन्शाह बाबर ने जिस तख्त को हासिल करने के लिए पानीपत के मैदान में बहादुरी के जौहर दिखाये थे, इब्राहीम लोदी के छक्के छुड़ाये थे और हिन्दुस्तान की तवारीख में मुग़लिया दौर की शुरूआत की थी, अकबर और जहाँगीर जैसे सूझ-बूझ वाले दिलेर और बहादुर इस के वारिस रहे, उस का आखिरी वारिस बहादुरशाह 'ज़फ़र' इतना मजबूर, इतना लाचार, इतना बेबस और महज़ नाम का बादशाह होगा—कौन जानता था!

मगर शायद खुदा ने इस के सिर पर मुग़लिया हुकूमत का ताज इस लिए रखा था कि वह अज़ीम मुग़लों की तारीख का सोग मनाये और बाद के मुग़ल बादशाहों की नाअहलियत, नाक़ाबिलीयत, बेराह-रवी, बदइन्तज़ामी और अय्याशी का अन्जाम खुद

अपनी आँखों से देख सके।

बहादुरशाह शाबान की २८ तारीख को सूरज डूबने के वक़्त पैदा हुए थे। और ठीक यही दिन, यही तारीख थी मुग़ल हुकूमत की बुनियाद रखने वाले अमीर तैमूर के पैदा होने की। फ़र्क़ एक ज़रूर था : यह सूरज डूबते वक़्त पैदा हुए थे और अमीर तैमूर सूरज निकलते वक़्त। जैसे वह दिन का निकलना था। और यह दिन का डूबना।

२८ सितम्बर १८३७ को अकबरशाह सानी की मौत होती है और दो दिन बाद बहादुरशाह 'ज़फ़र' जॉन टॉमस के हाथों, तस्बीहख़ाने के तख़्त पर, जो संगमरमर का बना हुआ था, बिठा दिये जाते हैं। इमाम मीर अहमद अली ने ताजपोशी की रस्म अदा की थी। उस दिन छह घड़ी रात बाक़ी थी कि टॉमस मटकाफ़ क़िले में आये थे और उन्होंने वलीअहद बहादुर को एक सौ बीस अशरफ़ियाँ और मिरज़ा दाराबख्त को पाँच अशरफ़ियाँ नज़र की थीं।

तख़्त पर बैठे तो 'ज़फ़र' चौंसठ साल के थे। दुबला पतला जिस्म, किसी क़दर लम्बा चेहरा, बड़ी-बड़ी चमकदार आँखें, आँखों के नीचे हड्डियाँ उभरी हुई, लम्बी गर्दन, चौका ज़रा ऊँचा, पतली सुतवाँ नाक, गहरी साँवली रंगत और छिदरी दाढ़ी वाले इस बादशाह की आवाज़ में वही करारापन था जो बादशाहों की आवाज़ का ख़ासा रही थी, लेकिन जिस ख़ज़ाने में कभी करोड़ों रुपया आता था उस की आमदनी आज सिर्फ़ सवा लाख रुपया थी। ऐसे में आब्दारखाना, दवाख़ाना, तोशेख़ाना, जवाहरखाना, सुलहख़ाना, फ़ीलख़ाना, अस्तबल, बग्घीख़ाना, तोपख़ाना, शुतुरख़ाना, रथख़ाना कुतुबख़ाना, कबूतरखाना, पाल्कीख़ाना-जैसे क़िले के २६ कारखानों का क्या होता ? फिर भी देने-दिलाने का अन्दाज़ वही है।

दशहरे का दिन है। बादशाह ने दरबार किया है। पहले एक नीलकण्ठ बादशाह के सामने उड़ाया गया है। अब बाज़ख़ाने का दारोग़ा शिकरा ले कर आया है। बादशाह ने बाज़ को हाथ पर बिठाया तो दरबार बर्खास्त हुआ है। तीसरे पहर को अस्तबल ख़ास का दारोग़ा घोड़ों को मेंहदी से रँग, रंगारंग नक़्क़ाशी कर, सोने-रूपे के साज लगा कर झरोखे के नीचे लाया तो बादशाह ने घोड़ों को देखा और दारोग़ा को इनाम दे कर विदा किया है।

और फिर आँखों में दीवाली के दीये जगमगा उठे हैं। आज पहला दीया है। महल में सब का आना-जाना बन्द हो चुका है। सक़नियाँ, धोबनें, मालिनें, कहारियाँ, फूल-खोरियाँ महल से तीन दिन तक निकलने न पायेंगी। और न कोई साबित तरकारी महल में आने पायेगी। बैंगन, मूली, गाजर, कद्दू किसी ने मँगायी भी तो बाहर से तराशा हुआ आया। इस लिए कि कोई जादू न कर दे। तीसरे दीये को बादशाह सलामत सोने चाँदी में तुले। एक बड़ी-सी तराज़ू खड़ी हुई। एक तरफ़ बादशाह सलामत बैठे, दूसरी तरफ़ सोना-चाँदी और नक़द रुपया रखा गया। और वह रुपया और सोना-चाँदी ग़रीबों

में बाँट दिया गया। और क़िले के बुर्जों पर यहाँ से वहाँ तक दीये जगमगा उठे।

पर दीयों की यह जगमगाहट अचानक बुझ भी गयी है। चाँद गर्हन में आ गया है। तीन मन चनों की पोट को चुटकी से खेंचने वाले बहादुरशाह आज ख़ुद इतने बेबस हैं कि अँगरेज़ी कमान को तोड़ना क्या झुका भी नहीं सकते।

कहते हैं 'ज़फ़र' को उड़ते हुए जानवरों पर निशाना लगाने में बड़ी महारत हासिल थी। तीन बजे रात को शीशे की बन्द नाल्की में सवार हो कर क़िले से निकलते थे। पचास-साठ मशअ़लें उन के साथ होतीं। पौ फटते ही नाल्की से उतर पड़ते। सुबह की नमाज़ पढ़ कर हवादार पर सवार हो जाते। हवादार बराबर चलता रहता। ज़फ़र बैठे शिकार खेलते रहते। ■■

[जापानी में भारतीय वाङ्मय : पृष्ठ ६६ का शेषांश]

का केवल सावित्री-उपाख्यान जापानी भाषा में अनूदित हुआ है। पंचतन्त्र और हितोपदेश जापान में बहुत लोकप्रिय हैं। डॉ० इवामोतो युताका ने कथासरित्सागर के कुछ अंशों का अनुवाद किया है। डॉ० ओजिहारा युताका ने मदन-संजीवन नाटक का, प्रोफ़ेसर नाकानि गिशो ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति का तथा डॉ० इवामोतो ने कामसूत्र का अनुवाद किया है। डॉ० इवामोतो की एक पुस्तक 'भारतीय कथा साहित्य' (इन्दो नो सेत्सुवा) है जिस में लेखक ने जापानी, युरॅपीप तथा चीनी साहित्य पर भारतीय कथा-साहित्य के प्रभाव का विवेचन किया है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में बांग्ला से रवीन्द्र साहित्य के अनेक अंशों का अनुवाद जापानी में हो चुका है। तोक्यो और ओसाका विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन भी काफ़ी लोकप्रिय हो रहा है। तोक्यो विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर वथूया दोई हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के कतिपय अंशों का जापानी में अनुवाद भी किया है। ■■

दो कविताएँ
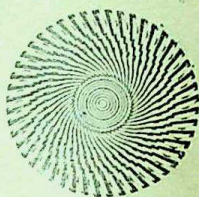
दिनकर सोनवलकर

सृजन-प्रक्रिया ।।

टूटी हुई चूड़ियों के
कुछ रंगीन टुकड़े
एक छोटा-सा काँच
और देखने वाली आँख
    तीनों मिल कर
    जन्म देते हैं
    कितने विविध
    चित्रों,
        रंगों
            रूपों को ।
ठीक इसी तरह
बिखरा है जीवन विराट्
आसपास चारों तरफ़
कितने ही टुकड़ों में

महानगरों से
गाँव तक
व्यस्त चौराहों से
पीपल की छाँव तक ।

अभिव्यक्ति का माध्यम हो
यदि तुम्हारे पास
और एक सहज दृष्टि
तो प्रस्तुत कर सकते हो
अनगिन
विविध-रंगी तसवीरें !
(शायद
सँवर जायें
कुछ तकदीरें)

शब्द-मुद्राओं की नियति ।।

शब्द की
शाश्वत टकसाल से
निकलती रहती हैं
शब्द-मुद्राएँ
कुछ खरी
अधिकांश खोटी ।

विडम्बना ये है
कि घिसी-पिटी मुद्राएँ

खरे, सौ टंच सिक्कों को
बाजार से
बाहर फेंक देती हैं
कहीं दूर अँधेरे
कोने में।
युग बीत जाते हैं
इसी तरह।

फिर 'अर्थ' के खोजी
इन्हीं दुर्लभ मुद्राओं को
खोज कर
रखते हैं सहेज कर
करते हैं स्थापित
मूल्यांकन के
सही प्रतिमान !

■ ■

नींद | पु० भा० भावे

रूपान्तर : सरोजिनी वर्मा

राव साहब गिरधर बाबू भूत की तरह रात के उस सन्नाटे में अपने बंगले के बरामदे में, अहाते में तथा एक कमरे से दूसरे कमरे में चक्कर काट रहे थे। रात के तीन बजे थे। उन्होंने अब तक इस तरह के न जाने कितने फेरे किये थे, न जाने कितनी बार कमरे में अंधेरा किया, उजाला किया, न जाने कितनी बार पहले भी कोशिश की फिर किताब धर दी, कितनी बार पलँग पर अपने को डाला, आँखें बन्द कीं, फिर आँखें खोलीं और अब इस समय सब से हार कर घर में पुनः चक्कर काटने लगे थे। अभी-अभी घड़ी ने तीन का गजर दिया था। रात की उस घनीभूत नीरवता में कर्कश लगने वाला वह गजर रुकते न रुकते बग़ल वाले पुलिस थाने में उसी समय को सूचना देता हुआ घन-घन करता तीन का घण्टा बजा। सारी दुनिया भोर की मीठी नींद में डूब चुकी थी। मगर राव साहब की आँखों में तनिक भी नींद नहीं थी। यह अनिद्रा आज की ही नहीं थी। पूरे साठ रातें और पूरे साठ दिन ऐसे ही अपलक ताकते बीत गये थे। कितनी भयंकर बात थी। कितनी कठोर सज़ा उन्हें दी गयी थी। किस पाप का यह दण्ड था ? कितना यातनामय यह दण्ड था। कितना अमानुषिक···।

सोने का अधिकार तो सब को है। जैसे खाने का। भगवान् ने जीवन-भर उन्हें भरपेट भोजन दिया था और पिछले पचपन बरस भरपूर नींद भी दी थी। बल्कि नींद कुछ ज्यादा ही दी थी। एक तरह से पागलपन की सीमा तक। क्योंकि परिवार में घटने वाली मृत्यु या बीमारी की घटना से भी राव साहब की नींद में कभी कोई बाधा नहीं पड़ी थी। रात में तो वह पक्के नौ-दस घण्टे सोते ही थे, दिन में भी दो-एक घण्टे की नींद मार लेते थे। वही राव साहब गिरधर आज नींद के विरह में बदहवास-से सारे घर में चक्कर काट रहे थे।

अपने सोने के कमरे से निकल कर अब राव साहब बग़ीचे के फाटक तक आ पहुँचे थे। दिन-भर के आवागमन से थकी हुई सामने की सड़क मानो अपनी देह पूरी तरह से तान कर आराम कर रही थी। दो लावारिस गधे सामने वाले पेड़ के नीचे समाधि में लीन योगी की तरह खड़े ही खड़े सो रहे थे। छाया-

का सारा बग़ीचा भी अविचल-सा सोया पड़ा था। हार कर राव साहब ने हताश नज़र से सड़क पार के घरों को देखा। खिड़कियों की पलकें मूँद कर बुझे हुए दियों के अंधेरे में वे एकाएक मानो सो गये थे। दिन-भर की धमा-चौकड़ी गुलगपाड़ों और क़हक़हों से ऊब कर मानो वे अब अपने श्रम का परिहार कर रहे थे।
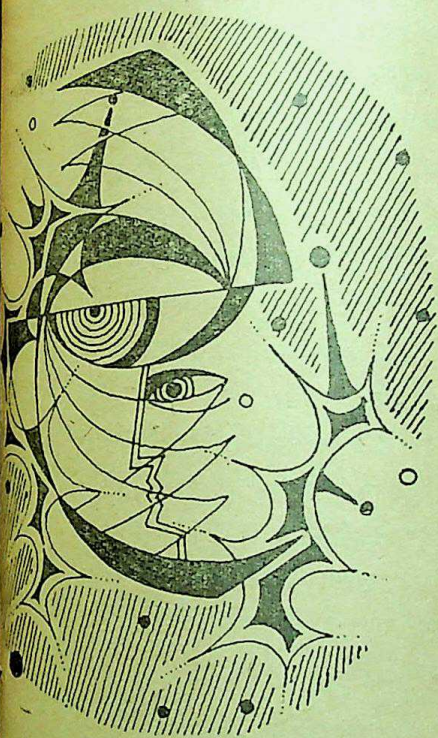
फटी-फटी कड़ुआयी आँखों से क्षुब्ध हो कर राव साहब ने आसमान की तरफ़ देखा। सारा संसार चाँदनी का छींटदार मखमली दुशाला ओढ़ कर प्रगाढ़ निद्रा में डूबा हुआ था।

कुत्तों के भौंकने की आवाज़ भी अब बन्द हो गयी थी। राव साहब की आँखें जल रही थीं। देह और मन जल रहा था। नागपुर के सिविल स्टेशन में अपना एकाधिपत्य जमाये हुये दिसम्बर की ठिठुराने वाली सर्दी भी उन्हें महसूस नहीं हो रही थी। अहा! ऐसी भीषण सर्दी में मुलायम बिछौना और गुलगुली तकिया में धँस कर गर्म-गर्म लिहाफ़ में सो जाना कितना ब्रह्मानन्द देता है। कँपाती हुई सर्दी जब अपने पंख पसारने लगती है उस समय माँ की गोद में दुबक जाने वाले शिशु की तरह बिस्तर में घुसना और भोर की ऐन कड़कड़ाती हुई सर्दी में जिस वक़्त बग़ीचे के पात-पात और फूल-फूल से शबनम की बर्फ़ीली फुहार भरती हो अलसते-अलसते भाप निकलते हुए चाय के कप को होठों से लगा कर पुनः बिस्तर में धँस जाना··· । तेज़ गरमी में छत पर तथा सर्दी और बारिश की ऋतु में अपने गर्म

शयन कक्ष में पिछले पचपन बरस राव साहब कितनी ही बार गहरी नींद में डूब-डूब गये थे। और नींद में स्तनपान करने वाले शिशु-जैसे वे गहरी अचेतन अवस्था में विश्रान्ति का आस्वादन कर सुबह खूब प्रसन्नमना और ताज़ा शरीर से जागे थे। पिछले पचपन बरस जो क्रम इतना सुलभ, सुखदायी, और अबाधित चलता रहा उस में इतना भयानक व्यवधान कैसे पड़ गया?

सहसा लगा कि उन्हें जो भोगना पड़ रहा है वह एक कटु स्वप्न है। उन्होंने एक बार अपनी फटी-फटी लाल आँखों से फिर आसमान को देखा। सारी सृष्टि उन को असामान्य तथा डोलती हुई-सी लगी। उन्होंने अपनी देह में चुटकी काट कर देखा। हाय! राव साहब जागे ही थे। एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, पूरे दो महीने से वह जागे ही थे। अपलक····। सारी सृष्टि के सोते हुए भी और सारी सृष्टि के जागे हुए भी वह जागे। दो महीने यानी साठ दिन का अखण्ड जागरण!

व्हिस्की, सोडियम, ब्रोमाइड, पेराल्डीहाइड, बारबी प्यूरेटम···इस चढ़ते हुए क्रम से की गयी कृत्रिम नशे की आराधना··· और मार्फ़िन····। भयंकर बात, बहुत भयंकर। घुटी हुई आवाज़ में राव साहब चीखे और बँगले से बँगले के गेट तक फिर निशाचर की तरह चक्कर काटने लगे। दरवाज़े के पास बेंच पर दो नौकर पड़े-पड़े खर्राटे भर रहे थे। उन की छाती फूल-पिचक रही थी। पिचक रही थी और एक अनन्त लय से बँधी हुई सी फिर फूल रही थी। यह नींद ब्रोमाइड या मार्फ़िन की नहीं थी। यह दिन-भर के परिश्रम की स्वस्थ नींद थी। ओह! तो नींद इतना बड़ा वरदान है? जो जीवित को भी जीवन से परे खींच ले जाती है? जो सारी चिन्ताएँ और उलझनों से अलग कर रजनी के अथाह फैले चुप समन्दर में आदमी के चेतन अस्तित्व का अनजाने विसर्जन करा देती है। जो मखमली आवरण में छिपी हुई स्वप्न-सृष्टि की गन्धर्व नगरी में हौले से पहुँचा देती है। पथरायी नज़र और डगमगाते हुए क़दमों से राव साहब दाहिनी तरफ़ वाले कमरे में गये और गहरी नींद में बेहोश अपने छोटे बेटे को देखते रहे। पन्द्रह बरस के उस गदराये हुए बेटे की नाक गुलाब की पाँखुरी-सी हौले-हौले फूल रही थी और पिचक रही थी। उस के घुँघराले बाल माथे पर बिखर आये थे और दाहिने गाल पर पलँग की पट्टी का निशान उभर आया था। उस का सोता हुआ चेहरा कितना ताज़ा और प्रसन्न दिखाई दे रहा था। लग रहा था जैसे वह अभी-अभी नहा कर निकला है।

राव साहब ने ठण्डी साँस भरी, बेटे के माथे पर ममता से हाथ फेरा और बढ़ गये। उन की नवप्रसूता पुत्री दालान में सो रही थी। मुट्ठी बाँधे उस का नवजात शिशु पालने में गहरी नींद सोया था। मातृत्व की प्रेरणा से नींद में ही उन की बेटी का हाथ पालने को झोंके दे रहा था। उस बच्चे का सारा भविष्य अभी उस के आगे पड़ा था। न जाने कितने दर्द और यातनाएँ। उन सब से जूझने

की आगम तैयारी में ही मानो वह आज सारी रात माँ और निंदिया परी से अपने भीतर जीवनी-शक्ति का संचयन कर रहा था। मैं भी किसी समय ऐसे ही सो जाया करता था। सचमुच ऐसे ही! रात की गोद में मैं भी सारे संसार की तरह अपना मुँह छिपा लेता था। और उस की निरामय छाती से लग कर मैं भी गहरी नींद में डूब जाया करता था।

किर्र'''किर्र'''किर्र'''किर्र'''पालना हिला। बच्चे ने कुछ चूसने की तरह अपने होठ चुकचुकाये। माँ के चेहरे पर दिव्य स्नेहभाव छलछला आया। राव साहब का हृदय भर आया। आत्मकरुणा के जलाशय में उन का मन डूब उठा।

उन के नौकर, उन का बेटा, उन की लड़की सब के सब सो गये थे। उन के इस भयानक जागरण में कोई भी उन का संगी नहीं था, खुली-खुली उन की आँखों को चौंधियाने वाले इस निर्जन रेगिस्तान में कोई भी उन का साथी न था। उन की व्यथा को बाँटने वाला कोई नहीं था। एक ही उन का साथी हो सकता था'''नींद! मगर उस ने भी अपनी गोद से उन्हें इस यातना-भरी दुनिया में ढकेल दिया था। सोओ बच्चो! सोओ बच्चो! सोओ बच्चो! रुंधे हुए कण्ठ से राव साहब बोले। मार्फ़िन की पहली मात्रा उन्हें हलकी-सी उत्तेजना दे गयी थी। वह ज़रा-से उनींदे हो आये थे। छिः! यह ज़हर भी वह हजम कर गये थे। एकदम ही हजम कर गये थे। उन की लोलुप राक्षसी जागर्ति कृत्रिम नशे को भी गटागट पी कर फिर से अतृप्त की अतृप्त रह गयी थी। नींद तो नींद, बेसुधी का एक ज़रा-सा पल भी अब उन के लिए दुर्लभ हो गया था।

राव साहब धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ कर ऊपर गये। उन के शयन कक्ष के दरवाज़े पर पहरे के लिए रखा हुआ छोकरा कुरसी पर टिका हुआ निश्चिन्त सोया था। राव साहब उसे देख खँखारे फिर पैर पटका। मगर वह लड़का इस क़दर गहरी नींद में सो गया था कि यदि ढोल-नगाड़े, घड़ियाल और शंख एक साथ उस के कान के पास बजाये जाते तो भी शायद वह न जागता। विस्मरण के नाद-हीन पिटारे में वह इस समय अत्यन्त सुरक्षित रूप से घुस कर बैठा हुआ था।

राव साहब अब क्रोध से सुलग उठे। कितने कृतघ्न लोग हैं। सचमुच कितने कृतघ्न। हाई स्कूल में पढ़ने वाला उन का वह अपना बेटा, फूल की तरह पाली हुई नवप्रसूता और उन के ही अन्न पर पला यह कृतघ्न छोकरा! सब सो गये। एकदम सब के सब सो गये। एक भी आदमी ऐसा नहीं है जो उन के लिए दुखी हो। उन का क्रोध और अधिक भड़क उठा। कचकचा कर उन्होंने अपने होठ चबा लिये। उन का जी चाहा कि चीख-चीख कर वह सारे घर-भर में दौड़ें और एक-एक को कोड़े मार-मार कर बिस्तर से खींच कर खड़ा कर दें। बादल की तरह सारे संसार में नाचते फिरें और सोये पड़े तमाम कीड़े-मकोड़े को उठा कर आकाश में फेंक दें। सारी सृष्टि को स्वप्नाकार करने वाले इस मन्थर गति से आकाश में इठलाने वाले चन्द्रमा के चेहरे को

नींद : पु० भा भावे

किसी हथौड़े के प्रचण्ड आघात से तोड़ कर चकनाचूर कर दें। सूर्य के तेजोमय प्रकाश पिण्ड को खींच कर आकाश के मध्य में जड़ कर अहोरात्रि जलता छोड़ दें। और चरखी की तरह उस की कल घुमाते-घुमाते इतनी भीषण चौंधियाने वाली प्रखरता पर ला कर रोकें कि सारी मनुष्य जाति उस चमक से चौंक कर उठ बैठे और जागती ही रह जाये। सन्ताप से राव साहब के सिर में अंगारे दहकने लगे। क्रोध की उसी बदहवासी में कुरसी पर सोये पड़े उस छोकरे को खींच कर उन्होंने झटके से खड़ा कर दिया। ऊँघते-ऊँघते वह लड़का खड़ा हो गया। धीरे-धीरे उस की आँखें खुलीं और फिर भय तथा ग्लानि से फैली की फैली रह गयीं।

"इसी तरह जागता है ?" राव साहब आपे से बाहर हो कर चीखे। "नमकहरामी करता है सुअर ?"

थर-थर काँपता हुआ वह छोकरा खड़ा रहा। उसे ज़ोर से धक्का दे कर राव साहब ने अपने कमरे का दरवाज़ा भड़ाक से बन्द कर लिया। बिजली की तेज़ रोशनी से कमरा लबालब भरा हुआ था। मानो विकट रूप से दाँत निपोर कर वह प्रकाश उन्हें चिढ़ा रहा था। घबरा कर राव साहब ने दोनों हाथों से अपना सिर पकड़ लिया और पलँग पर बैठ गये। कमरे के भीतर फैली हुई तीखी रोशनी के बावजूद कमरे में रखी हुई मेज़, कुरसी, आलमारी, किताबें, शीशियाँ तथा आरामकुरसी पर किसी आदमी की तरह पसरा हुआ उन का ड्रेसिंग गाउन, दिन में भी सोने वाले आदमियों की तरह एकदम बेफ़िकर हो कर सो रहे थे। एक सिर्फ़ राव साहब थे जिन की आँखें श्मशान की निरन्तर धधकने वाली अग्नि की तरह अभी भी जल रही थीं। राव साहब का मन व्याकुल हो उठा। उन्होंने ज़ोर से आँखें मींच लीं मगर वह तो जैसे खोल कर किसी फ्रेम में जड़ दी गयी थीं। आँखें बन्द करने में भी अब सुख नहीं है। हताश हो कर उन्होंने अपनी आँखें और खोल दीं। सामने लगे आदमक़द आईने में उन के चेहरे की कितनी विकराल प्रतिच्छाया पड़ रही थी। न! यह चेहरा राव साहब का नहीं था। यह तो श्मशान में रहने वाले किसी पिशाच का चेहरा था। तेज़ी से उछल कर रावसाहब आईने के पास कूदे और जल्दी-जल्दी दोनों हाथों से पूरी शक्ति लगा कर उस भयंकर परछाईं को मिटाने लगे। किन्तु बार-बार लौट-लौट कर वह छाया पहले से अधिक भयावनी दिखाई देती रही। घबरा कर राव साहब ने आईने को दीवार की ओर घुमा दिया। लो यह भी सो गया। उस सन्नाटे से वह भयभीत हो उठे। कुरसी पर पड़े ड्रेसिंग गाउन को खींच कर उन्होंने ज़मीन पर पटक दिया और विजयी उन्माद से उसे रौंदने लगे। उस के सो जाने की पूरी सज़ा वह उसे दे देना चाहते थे। मगर रौंदा जाता हुआ ड्रेसिंग गाउन भी बाँहें पसारे इत्मीनान से सोता रहा। वह उस पर थेई-थेई नाचते रहे, नाचते-नाचते वह निढाल हो उठे। उन के पाँव लटपटाने लगे, हाँफते-हाँफते वह पलँग पर गिर पड़े। उन को लगा जैसे उन का समूचा शरीर

अब एक फटी-फटी पथरायी हुई विराट् आँख बन गया है और जब कि सारी दुनिया बेखबर सो रही है उस समय उन की वह खुली आँख अनवरत देखते रहने के लिए अभिशप्त है। कितनी भयंकर थी नींद न आने देने की यह सज़ा—और उस से भी भयंकर थी दूसरों को सोता हुआ देखने की वेदना। इतनी बड़ी दुनिया में कोई भी ऐसा नहीं था जो राव साहब पर दया करता या तरस खाता। राव साहब की सदा खुली रहने वाली वीरान खिड़की-जैसी आँखें सहसा सामने की दीवार पर ठिठक गयीं जहाँ उन की दिवंगता पत्नी का बड़ा-सा चित्र लटक रहा था। चित्र ने उन के मन के भीतर के किसी भी कोमल तन्तु को नहीं कुरेदा। उन की पत्नी के चेहरे पर सदा एक-सा रहने वाला नम्र और स्वप्निल भाव इस चित्र में भी ज्यों का त्यों उतर आया था। आज वह जीवित होती तो राव साहब साधिकार उसे अपने साथ जगाये रख सकते थे। उस के जीवन में सभी कुछ उन्होंने अधिकार के साथ करवाया था और उस ने भी हमेशा अपने क्रोध और दुःख को पी कर चुपचाप उन की आज्ञा का पालन किया था। वह आज उन्हें कितना अकेला और निराधार छोड़ गयी है। यह महसूस होने पर उन का क्रोध और अधिक भड़क उठा।

उन की पत्नी की तसवीर के नीचे उन के बड़े बेटे का चित्र लगा हुआ था। इतनी देर उन्हें उस की याद भी नहीं आयी थी। बेवक़ूफ़! विजातीय लड़की से शादी करने चला था और मैं ने जब रोक दिया तो पन्द्रह दिन सोया नहीं था। बाद में विरक्त हो कर लड़ाई पर चला गया था। भोला, मूर्ख और भावुक लड़का! मगर इस समय वह यहाँ होता तो ज़रूर मेरा साथ दे रहा होता। इन बाक़ी हृदयहीन सुअरों की तरह तड़पते हुए बाप को अकेला छोड़ कर वह बिस्तर पर सोया न पड़ा होता। राव साहब ने हलके से इस बात को महसूस किया कि उन्होंने अपने इस बेटे के दुःख को, उस के मन की तड़पन की कभी खास परवाह नहीं की थी। जिस दिन उसे शाही कॅमीशन मिला उस दिन वह लम्बे जागरण के बाद कहीं नींद-भर सो पाया था। उन की आँखें फिर पत्नी के चित्र पर अटक गयीं। सचमुच पत्नी के साथ भी वह कितने निर्मम रहे थे। महफ़िल की गायिकाओं का जितना उन्होंने लाड़ किया उस का शतांश भी पत्नी का कभी नहीं किया। उसे सब पता था। उन की राह देखती न जाने उस ने कितनी-कितनी रातें आँखों में काट दी थीं। अक्सर आधी रात को भी उस को उन्होंने जागते पाया है। तब छत पर टिकी उस की खुली हुई आँखें देख कर उन्हें उस पर कभी तरस नहीं आया उलटे नफ़रत हुई थी। उन्हें लगता वह सारी रात जाग-जाग कर उन की भर्त्सना किया करती है। उस की वह मूक भर्त्सना राव साहब को असह्य हो जाती थी। पत्नी का चित्र देखते-देखते अब एकाएक उन्हें लगने लगा कि उन्होंने सचमुच उसे बहुत अधिक तकलीफ़ दी थी। उन्हें लगा कि उस के बड़े बेटे की हत्या का कारण भी वही थे।

जब वह युद्ध पर गया उस समय भी वह निश्चिन्त हो सोते रहे थे। जब वह श्मशान ले जायी गयी उस वक़्त भी उन्हें अनिद्रा ने कभी नहीं सताया। उन का बेटा सम्भवतः किसी परदेशी भूमि पर शहीद हो कर पड़ा होगा। पिछले न जाने कितने दिनों से उस का कोई खत नहीं आया था मगर उन्होंने उस की कोई खोज-खबर नहीं ली थी। पिता और पति के जाते उन्होंने सिर्फ़ खाने और कपड़े की उन की ज़रूरतें पूरी की थीं। अनुशासन मानने वाला हर व्यक्ति यही करता। वह असाधारण भावुक होने की मूर्खता कहाँ करता है।

चढ़ी हुई आँखों से देर तक राव साहब पत्नी और पुत्र की तसवीर को बारी-बारी से देखते रहे। वेदना की अनुभूति अस्त्र-सी हलके-हलके उन के हृदय के ऊपरी कठोर आवरण को कुरेदती रही। वेदना की उस तीव्र अनुभूति को भोगते हुए सहसा वह बहुत दु.खी हो उठे। और एक सूखी-सी उसाँस ले कर स्वयं से ही बोले, "मैं ने ही उन का नाश किया है। मैं ने ही उन का नाश किया है।" इस आकस्मिक पश्चात्ताप की अग्नि से राव साहब का हृदय जलने लगा। यह दुःख उन्हें असहनीय हो उठा। इस व्यथा का एक ही उपचार था। पल-भर में अपने सम्मोहन में बाँध कर दुनिया से बेखबर कर देने वाली गहरी नींद। मगर वही नहीं आ रही थी।

राव साहब की व्यथा, क्रोध, पश्चात्ताप और आत्मकरुणा अब आपे से बाहर हो उठी। उन का जी चाहा कि यह रजनी का प्याला आकाश जितना मुँह खोल कर गटक जायें और तुरन्त गहरी नींद सो जायें। ओह! मगर यह मुमकिन ही नहीं था। कितनी भयंकर सज़ा—कितनी निर्मम?

दूर चार का अस्पष्ट-सा गजर सुनाई दिया और राव साहब बेबस हो कर दोनों हाथों से जल्दी-जल्दी बिछौने को मसलने लगे। मानो उस बिस्तर में वह अपनी खोयी हुई नींद को ढूँढ़ लेना चाहते थे। नहीं! नहीं! नींद के उस वाहन पर भी नींद कहीं नहीं थी। स्विच दबा कर राव साहब ने कमरे में अँधेरा कर लिया और बिस्तर पर अपनी देह झोंक दी। चादर खींच कर जल्दी से चेहरे तक अपने को ढँक लिया। मगर, नहीं! नहीं! उन के माथे में ही मानो जलती हुई प्रचण्ड भट्ठी का धधकता हुआ प्रकाश सिमट गया था। उन के माथे से झरने वाली अग्नि-वर्षा में मानो निद्रा के समस्त कोमल तन्तु जल कर खाक हो गये थे। उन का बिछौना उन्हें जलते सलाख-सा दाग़ रहा था। राव साहब उछल कर खड़े हो गये और चिल्लाये; "नींद....नींद।" फिर अपनी ही आवाज़ से डर कर वहीं के वहीं काठ-जैसे ठिठक कर खड़े रह गये। उन्हें लगा जैसे नींद की उन की पूरी सुखदायी अमानत किसी अज्ञात क्रूर पिशाच ने सदा के लिए उन से छीन ली है। उस पिशाच को मार कर अपनी बहुमूल्य अमानत वापस छीन लेने के लिए वह बेचैन हो उठे। "नहीं! नहीं!" राव साहब फिर चीखे, "मैं यह सब चलने नहीं दूँगा। मैं इसे बिलकुल बर्दाश्त नहीं कर सकता। अरे भाई! छोटे-छोटे बच्चे भी सो

जाते हैं। सड़क पर पड़े-पड़े भिखारी भी सो जाते हैं। कितनी मामूली-सी बात है सो जाना। सारी देह ढीली छोड़ कर हौले-हौले एक अजनबी खुमारी के बीच चेतनता की सीमा पार करना, चेतन और अचेतन की-सी दुविधा में कुछ क्षण ठिठकना और दूसरे ही पल गहरी नींद। मुक्ति! चिरशान्ति के सम्मेलन और पुनः काया प्रवेश, प्रफुल्ल, खिली हुई, सतेज जागृति....।"

उस नींद और उस जागृति की कल्पना से राव साहब पुलकित हो उठे और फिर विक्षिप्त हो चीख उठे, "मैं सोऊँगा, मैं अवश्य सोऊँगा।"

उन की निगाह फिर पत्नी की तसवीर पर अटक गयी। कितनी सुखी हो गयी थी वह। जीवन के भयंकर जागरण के बाद मिला हुआ महानिद्रा का सुख उसे कितनी शान्ति दे रहा होगा। नींद की तरह ही वह अब इस महानिद्रा में एकाकार हो विलीन हो गयी थी। अब उस नींद से जगाना किसी के बस में नहीं था।

और दुःख से टूटा हुआ उन का पुत्र? वह भी उसी पथ का पथिक बन गया था। क्या कर रहा होगा वह इस समय? क्या वह जाग रहा होगा? क्या वह सो रहा होगा? या कि वह...?

राव साहब सिहर उठे। नहीं! वह जीवन को अभी भी प्यार करते थे। वह अभी भी सोना चाहते थे। मृत्यु नहीं! उन्हें तो सिर्फ़ नींद चाहिए। चाहे जैसे भी हो, चाहे जिस तरीक़े से हो। सिर्फ़ नींद। जागरण आये भी तो मीठी नींद के बाद। राव साहब ने एक बार फिर सारे घर-भर में चक्कर लगाया। इस समय सारी की सारी धरती शहद में डूबी शीतल नींद का पान कर रही थी। सुबह की आहट हो चली थी। ऊपर दालान में सोया हुआ छोकरा कुरसी से उठ कर अब कोच पर जा कर सो गया था। इस बार उन्होंने उसे जगाया नहीं, अब उन्होंने स्वयं उस का अनुगामी बनने का निश्चय कर लिया था। दो महीने, साठ दिन, छह सौ घण्टों की लम्बी अवधि में वह ज़रा भी नहीं सोये थे। सारी कसर अब वह एकबारगी ही पूरा कर देने वाले थे। उन का मन अकुला उठा। जो आज तक नहीं किया उसे अब करने का उन्होंने सहसा निश्चय कर डाला।

शान्तिपूर्वक राव साहब ने मेज का दराज़ खोला, भीतर से कांच की एक नली निकाल कर स्नेह से सहलाया, नली के मुंह पर उन्होंने सुई चढ़ायी और धीरे-धीरे उसे नींद का अर्क़ पिला दिया। यही अर्क़ अब वह अपनी देह के रोम-रोम में व्याप्त कर देने वाले थे। यह अर्क़ उन तमाम नींदमय रात्रियों का निचोड़ था जिन्होंने उन को सोने नहीं दिया था। सर्प की तरह सारे अर्क़ को सोख कर उस नन्हीं सुई ने राव साहब की जांघ में डस लिया। अपने ही हाथों राव साहब ने जांघ में मार्फ़िया का एक इंजेक्शन लिया और वह हौले-हौले झपकने लगे।

हा: ह:! डॉक्टर को खबर? पागल.... पागल डॉक्टर! इस बेचारे को उस नन्हीं सुई के बारे में क्या पता? राव साहब को

अब खुमारी चढ़ने लगी। अब उन्हें विश्वास हो गया कि वह ज़रूर सो जायेंगे। मृत्यु! छिः! मृत्यु का भय भी अब मुझे उन्हें सोने से नहीं रोक सकता। अखण्ड जागरण करने वाली पथरायी आँखों से हौले-हौले आती हुई मृत्यु को देखने से तो कहीं अच्छा है कि नींद मखमली सीमा से लगे हुए मृत्यु की नगरी में धीरे से तैर जाना। आखिर वह भी तो एक तरह की नींद ही है। सात जन्मों के जागरण का बक़ाया अदा करती हुई आने वाली मादक नींद! मखमल और रेशम का स्वच्छ गुदगुदा बिछौना। मगर नहीं! मैं मरूँगा नहीं। मैं सोऊँगा और सो कर जागूँगा और फिर मैं ऐसे रोज़ सोऊँगा और जागूँगा। नींद एक आदत है। बिगड़ी हुई इस आदत को मैं फिर से प्रस्थापित करूँगा। मृत्यु? हाः हः! नहीं! सिर्फ़ नींद! राव साहब अब मृत्यु पर भी धैर्य और तुच्छता से विचार कर सकते थे। होठों पर होठ दाब कर, विजय में मुसकराते हुए दुबारा उन्होंने सुई निकाली, भरी और जाँघ में चुभो दी।

वाह! अब तो पूरे वेग से नींद का झोंका आ गया। राव साहब नींद में लड़खड़ाने लगे। लड़खड़ाते-लड़खड़ाते उन्होंने एक बार फिर से बिस्तर ठीक किया। तकिये की स्थिति बदली—एक तकिया पाँवों के पास तथा एक पेट के पास दबायी और गर्म-गर्म रजाई खींच कर सिर तक ओढ़ ली। और रस-छके मतवाले भँवरे की तरह निंदिया के लोक में धीरे-धीरे वह वायु के सँग-सँग डोलते हुए पंख की तरह लहराते चले गये। उन के हृदय में अब गलने वाली अग्नि नहीं थी। चुभने वाले काँटे नहीं थे। ईर्ष्या, द्वेष, पश्चात्ताप, क्रोध, कुछ भी नहीं था। सिर्फ़ दो पिचकारियों से ही लबालब भर उठे नींद के रीते सागर में डूब कर अब वह सारे के सारे पार उतर चुके थे। एक हाथ छाती पर रखे हुए राव साहब क्षण-भर में ही खर्राटे लेने लगे।

रात में सो जाने के अपराध से भयातुर वह प्रहरी छोकरा, नवप्रसूता उन की बेटी, उन का बेटा सब के सब सुबह होते ही उन के कमरे में चोर की तरह घुसे और उन के खर्राटों के चढ़ते-उतरते अनेक नये-नये स्वरों का संगीत सुन कर राहत की साँस ले हलके क़दमों बाहर आ गये। सचमुच उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी। दो महीनों से चल रही उन के धैर्य की परीक्षा आज पूरी हुई थी। अब कोई उन को आधी रात मुँह पर पानी फेंक कर या हाथ झिटक कर उन की मीठी नींद में व्यत्यय नहीं डालेगा। पिशाचों की दुनिया से निकल कर राव साहब अब पुनः मानुषिक जगत् में आ गये थे। सचमुच ही बड़ी प्रसन्नता की बात थी। बड़े समाधान की। प्रसन्न हो कर सब अपनी दिनचर्या में रम गये।

सात बज गये—आठ-नौ-दस—फिर भी राव साहब उठे नहीं। सब की प्रसन्नता बढ़ रही थी। राव साहब आज कितने अरसे बाद कहीं सो पाये थे। सोने दो बेचारे को। अब कम से कम तरोताज़ा हो कर तो उठेंगे। ग्यारह बज गये, बारह और फिर एक! अब

भी राव साहब नहीं उठे। उन के खर्राटों का संगीत भी अब कम हो गया था और अनिद्रा पर विजयी हो कर हः हः अट्टहास करता हुआ उन का मुँह अभी भी अट्टहास की भंगिमा में पूरा खुला हुआ था मानो अनिद्रा के पिशाच को घमण्ड से चुनौती दे रहा था।

"बाबा"— उन की पुत्री ने मन्द स्वर में उन को पुकारा। "बाबा !"—तीव्र स्वर में उन के बेटे ने बुलाया। "राव साहेब" —भर्रायी हुई आवाज़ में वह लड़का चीखा। "राव····साहेऽऽब"—उन के दोनों नौकर एकदम चिल्ला पड़े और फिर अलग-अलग स्वरों में सब बिलख पड़े। किन्तु कहाँ! राव साहब ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। अब वह जिस निरामय अखण्ड नींद का उपभोग कर रहे थे उस में केवल पुनर्जन्म की ही आवाज़ पहुँचती तो पहुँचती। अब इह लोक की तमाम भयानक चुनौतियाँ और ललकारें उन्हें इस मीठी नींद से जगा सकने में असमर्थ थीं। पूरे दो महीने से यातना देने वाले अनिद्रा के राक्षस को राव साहब ने इस समय डंके की चोट पर पराजित कर के मौत के घाट उतार दिया था।

■ ■

महात्मा और मगरिज

नेमिशरण मित्तल

हृदय-प्रत्यारोपण का पहला ऑपरेशन दक्षिण-अफ़्रीका में ही क्यों हो सका ? यह भी कोई प्रश्न है, विज्ञान तो प्रयोग के माध्यम से ही आगे बढ़ता है, संसार के विभिन्न भागों में वैज्ञानिक प्रयोग हो रहे हैं और उन की सफलता को देश-काल की मर्यादाओं में नहीं बांधा जा सकता। मगर नहीं, संसार में एक ऐसा व्यक्ति भी है जिसे हमारा यह स्पष्टीकरण सन्तुष्ट नहीं कर सकता और जो इस सफलता के पीछे कुछ ऐसे मूल कारण ढूंढ़ने की चेष्टा कर रहा है जिन का सम्बन्ध मानव-अधिकारों और न्याय की बुनियादी धारणाओं के साथ है।

यह व्यक्ति है लन्दन का पोप—सुकरात मैलकम मगरिज। बी० बी० सी० के लिए एक टेलीविज़न साक्षात्कार में मगरिज ने डॉ० क्रिस्टियान बर्नार्ड से पूछा कि क्या हृदय—प्रत्यारोपण का प्रथम ऑपरेशन दक्षिण-अफ़्रीका में इस लिए किया जा सका क्योंकि "वहाँ जातिभेद ने मनुष्यों का मूल्य गिरा दिया है जिस के कारण तुम मनुष्यों के शरीर पर ऐसे प्रयोग कर सके हो जैसे नाज़ियों के अतिरिक्त और किसी ने नहीं किये ?" बहुत तीखा प्रश्न था, बेचारे बर्नार्ड से तो कोई उत्तर देते न बना, परन्तु मगरिज ने संसार-भर को यह बता दिया कि एक काले अफ़्रीकी का हृदय गोरे व्यक्ति के शरीर में लगाया जाना यह सिद्ध करता है कि दक्षिण-अफ़्रीका में अश्वेत लोगों का जीवन किस सीमा तक असुरक्षित और दयनीय बन गया है तथा वहाँ के गोरे नाज़ियों की तरह हृदयहीन बन गये हैं।

पहली आवाज़ महात्मा ने उठायी थी

दक्षिण-अफ़्रीका में गोरों के अत्याचारों के विरुद्ध पहली आवाज महात्मा गान्धी ने उठायी थी। संयोग की बात है कि मगरिज को गान्धी शताब्दी के प्रसंग में गान्धी जी के जीवन-प्रसंगों के आधार पर एक टेलीविज़न-फ़िल्म तैयार करने के लिए दक्षिण-अफ़्रीका जाना

था, सारी तैयारी पूरी हो चुकी थी मगर अन्तिम घड़ी में वहाँ की गोरी सरकार ने मगरिज को सूचना दी कि उस का वीसा रद्द कर दिया गया है और उसे दक्षिण अफ़्रीका में नहीं घुसने दिया जायेगा। मगरिज कहता है कि गोरी सरकार न महात्मा को पसन्द करती है और न मुझे ही, तभी तो उस ने मेरे काम में यह बाधा उपस्थित कर दी है।

महात्मा ऐसे बोला जैसे ईसा

तो क्या महात्मा और मगरिज किसी बिन्दु पर मिलते हैं? हाँ, उस मूल बिन्दु पर जहाँ ये दोनों पाखण्ड और मिथ्याचार पर आक्रमण में शामिल होते हैं। गान्धी ने जीवन-भर यही किया, उन्होंने रुढ़िवादिता और सत्ता पर भरपूर प्रहार किया। मगरिज भी वही काम कर रहा है, तभी तो उसे लन्दन का पोप—सुकरात कहा जाता है।

मगरिज ने महात्मा को पहली बार १९२५ में देखा और सुना था। उन दिनों मगरिज अलवाय कॉलेज, त्रावनकोर में अँगरेज़ी का लेक्चरर था और महात्मा केरल के दौरे पर। मगरिज को अभी तक याद है: "आश्चर्य है कि गान्धी ने विद्यार्थियों और ग़रीबों का हृदय कैसी कुशलता के साथ जीत लिया। न जाने वह अहिंसा का प्रभाव था या राष्ट्रीय-भावना का। ईसा भी अपने शिष्यों के सामने ऐसे ही बोला होगा। गान्धी ने ईसा की तरह जनता को रुढ़िवादिता और स्थापित सत्ता के विरुद्ध आन्दोलित कर दिया।" मगरिज महात्मा से दूसरी बार १९३१ में मिला। महात्मा गान्धी उस समय द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन के सिलसिले में लन्दन गये थे। इस भेंट के बारे में मगरिज ने लिखा है कि "महात्मा पूरी तरह राजनीति में खोया हुआ था और उस के पास बुनियादी प्रश्नों पर चर्चा करने को समय ही न था।"

मगरिज कहता है कि "गान्धी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' एक असाधारण जीवन की अत्यन्त कुशल अभिव्यक्ति है।" महात्मा की ही तरह मगरिज भी यह स्वीकार करता है कि मेरे जीवन पर सब से गहरा प्रभाव तॉलस्तॉय का पड़ा। मुझे गान्धी में भी तॉलस्तॉय का दर्शन होता है और शायद इसी लिए गान्धी ने मुझे स्पर्श किया है। मगरिज कहता है कि गान्धी और तॉलस्तॉय दोनों ही भावना-प्रधान व्यक्ति थे। सभी महान् व्यक्ति भावुक होते हैं। ईसा भी भावुक था। छोटे लोगों की भावुकता वासना में परिणत हो जाती है और महान् व्यक्ति उसे नियन्त्रित कर के उस का उन्नयन कर लेते हैं।

प्रसन्नता इन्द्रियातीत होती है

महात्मा की भाँति मगरिज भी कहता है कि प्रसन्नता की खोज ऐन्द्रिय धरातल पर करने वाले मूर्ख हैं। भौतिक कामनाओं, वासनाओं और सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति करने से सुख नहीं मिलता। सुख एक मानसिक अनुभूति है, उस का मार्ग तृष्णाओं का मार्ग नहीं है, बल्कि तृष्णाओं से विरक्ति

का मार्ग है।

मगरिज और महात्मा दोनों को ईश्वर पर गहरी आस्था है। मगरिज स्वीकार करता है कि "मैं तीन व्यक्तियों का सब से अधिक सम्मान करता हूँ—गान्धी का उस के सम्पूर्ण स्वरूप में, स्तालिन का एकीकरण के प्रतीक के रूप में और द गाल का इस लिए कि उस ने अपने यथातथ्य चिन्तन के द्वारा फ्रान्स को विश्व के मानचित्र पर फिर से स्थापित कर दिया है।"

बिम्बों का शत्रु मगरिज

यह मगरिज आसानी से व्यक्तियों की महत्ता स्वीकार करने वाला मगरिज नहीं है। यह तो वह मगरिज है जिस ने उन लोगों के बिम्बों को हमेशा तोड़ा है जो अपने जीवन और इतिहास में महान् माने जाते रहे हैं। उस ने ब्रिटेन के राजकुल को कोसा और उस के परम्परागत सम्मान को भारी क्षति पहुंचायी। उस ने चर्चिल की तुलना आदि-वासियों के टोटेम (प्रतीक पशु) के साथ की और मैकमिलन को राष्ट्रीय पतन का मूर्त्त रूप कहा। भू० पू० राष्ट्रपति कैनेडी के बारे में सोरेन्सन की पुस्तक को मगरिज ने 'झूठ-मूठ के दैवी-सम्राट् का प्लास्टिक-पिरामिड' कहने में कोई संकोच न किया।

महात्मा को सराहने वाला यह वही मगरिज है जिस ने संसार के महानतम शासकों को हास्य-अभिनेता बताया, गुरुओं को मूर्ख, धर्मोपदेशकों को पाखण्डी तथा आदर्शवादियों को झूठा। मगरिज ने समाज में प्रत्येक स्तर पर प्रतिष्ठित और अधिष्ठित इस पाखण्ड और असत्य को पहचाना और उस पर चोट की, शायद इसी कारण उसे महात्मा काफ़ी निकट लगा।

इतिहास का बर्बरतम युग

मगरिज कहता है कि मुझे वर्त्तमान सभ्यता, प्रगति, सुख की खोज और जीवन के भौतिक साधनों की विपुलता वाले समाज के निर्माण की योजनाओं और उस के आदर्शों में कोई आस्था नहीं है। महात्मा ने भी यही तो कहा था, और मगरिज आज भी महात्मा की वाणी को दोहराता है : "मानव जाति के इतिहास में मनुष्य का जीवन कभी भी इतना पतित और अज्ञानमय नहीं रहा जितना कि वह आज के मालदार देशों के शहरों में है तथा भविष्य में होने वाला है।" वह कहता है कि पिछले पचास वर्षों का ज़माना विध्वंस, हत्या और बर्बरता का एक ऐसा युग रहा है जैसा कि इतिहास में इस से पहले कभी नहीं आया। जितने लोग इस युग में मारे गये तथा घरों और देशों से निकाले गये, अतीत की पवित्र थाती का जितना विनाश इस युग में हुआ, जितना झूठ इस युग में बोला गया और लोगों को वश में करने के लिए जितनी ओछी और प्रपंचपूर्ण रीतियाँ इस युग में अपनायी गयीं उन सब की इतिहास में दूसरी कोई उपमा नहीं मिलती।"

अस्तित्व का प्रयोजन

महात्मा की भाँति मगरिज भी जीवन

के बुनियादी प्रश्नों के बारे में सावधान है। वह कहता है कि विज्ञान के क्षेत्र में इतनी प्रगति हुई और अणु का विस्फोट भी हुआ परन्तु अभी तक मनुष्य यह नहीं जान पाया कि जीवन के अस्तित्व का प्रयोजन क्या है तथा व्यक्ति के क्षणिक एवं तुच्छ अस्तित्व का वृहत्तर जीवन-चक्र में क्या महत्त्व है। वह कहता है कि सारी दुनिया और यह सारी सृष्टि रेत के एक कण में समाहित है। यदि मैं इस रेत-कण को समझ पाऊँ तो मुझे सम्पूर्ण का ज्ञान हो जायेगा। शायद मगरिज कहना चाहता है कि—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' गान्धी ने भी कहा कि व्यक्ति को सँभालो, उस के चरित्र को सँभालो, राष्ट्र और विश्व अपने-आप संभल जायेंगे।

मगरिज और महात्मा दोनों ही गीता के अनुयायी हैं। महात्मा ने इच्छाओं, वांछाओं, तृष्णाओं के निरसन की बात कही, त्याग और संयम का पाठ पढ़ाया, मगरिज कहता है कि प्रेम की ज्योति तभी प्रखर होती है जब उस में स्वार्थ और इच्छाओं की तृप्ति का भाव लेशमात्र न रहे। प्रेम तो तृष्णाओं के परे की स्थिति है। इसी प्रकार विश्व का अर्थ और प्रयोजन इतिहास के परे निहित है। गान्धी ने भी इतिहास को सभ्यता और संस्कृति तथा जीवन के मूल तत्त्व की व्याख्या अथवा उस का लेखा-जोखा मानने से इनकार कर दिया और उस ने कहा कि मानव जाति का इतिहास उस की दुर्बलताओं का इतिहास है, उस के मानवीय और प्रेमल स्वभाव की गौरव गाथा नहीं।

प्रेम और अहिंसा का दावेदार

मगरिज इस भौतिकतावादी जीवन को निरर्थक और निष्प्रयोजन मानता है। वह कहता है कि मनुष्य की तृष्णाएं बहिर्मुखी प्रवृत्ति में से उत्पन्न होती हैं और उन में से वासना, विकार, घृणा, पाखण्ड, दम्भ, सत्ता, संघर्ष आदि बुराइयों का उदय होता है। परन्तु मनुष्य की कल्पनाशीलता उस के जीवन के मूल-तत्त्वों में से उत्पन्न होती है तथा इस कल्पनाशीलता में से प्रेम, समझदारी, भलाई, संयम, संवाद, समन्वय और समवाय का जन्म होता है। मगरिज कहता है कि कोरी कल्पनाशीलता में जाने वाले लोग सन्त और कलाकार होते हैं। आखिर में उन की हत्या कर दी जाती है। यह लिखते समय मगरिज के मस्तिष्क पर ईसा और गान्धी का चित्र रहा होगा।

मगरिज ने बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाले लोगों को सत्तालोलुप कहा है। ये लोग मगरिज की दृष्टि में आत्मघाती होते हैं और अपने साथ समाज को भी ले डूबते हैं, जैसे हिटलर और मुसोलिनी। वह कहता है कि जो लोग कल्पनाशीलता से बहिर्मुखी जीवन में प्रवेश करते हैं वे अपने साथ प्रकाश ले कर आते हैं, लेकिन धीरे-धीरे वे पतन के गर्त में उतरते चले जाते हैं और उन का प्रकाश लुप्त हो जाता है। इसी कारण गान्धी ने जीवन-भर रचनात्मक कार्य पर बल दिया और जीवन के अन्त में कांग्रेस को भंग करने की बात रखी।

मगरिज महात्मा की तरह मनुष्य के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में विश्वास करता है और कहता है कि मुझे ईश्वर और शैतान, दोनों के अस्तित्व पर विश्वास है। मनुष्य के अस्तित्व की सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि ईश्वर और शैतान, सत् और असत्, अहिंसा और हिंसा, न्याय और अन्याय, विकास और विनाश में से किस की विजय होती है और किस की पराजय। यदि ईश्वर, सत्, अहिंसा, न्याय और विकास की विजय हो तो जीवन सार्थकता की चेतना से भर जायेगा अन्यथा उस में निरर्थकता, निराशा, असन्तोष, घुटन, त्रास और उत्पीड़न की चेतना बनी रहेगी।

पश्चिमी सभ्यता की एकमात्र देन : जन्म-निरोध

पाश्चात्य सभ्यता पर व्यंग्य करते हुए मगरिज कहता है कि पश्चिमी लोगों के पास संसार के पिछड़े हुए देशों को देने के लिए जन्म-निरोध के अनेकों उपकरणों और गोलियों के सिवा और कुछ भी नहीं है। ये ही उन की सभ्यता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि और बहुमूल्य भेंट हैं। विज्ञान के नाम पर हम शरीर में ही रोगों को दबाते जा रहे और नयी से नयी मानसिक व्याधियों को जन्म दे रहे हैं। मगरिज को डर है कि कहीं वह दिन जल्द ही न आ जाये जब यह दुनिया एक बहुत बड़ा पागलखाना बन जाये। मगरिज की यह चेतावनी बिलकुल गान्धीवादी ढंग की है। गान्धी कहते थे कि जीवन को कृत्रिमता से बचाओ और मगरिज कहता है कि आज का आदमी बनावटी रोशनी, हवा, पानी और परिस्थितियों पर जी रहा है। यह स्थिति मानव जाति के भयंकर विनाश की ओर संकेत करती है। मगरिज को इस बात में गम्भीर सन्देह है कि वर्त्तमान व्यवस्था में विस्फोट होने के बाद एक भी आदमी बच पायेगा, लेकिन वह कहता है कि यदि हमारे बाद सचमुच कोई पीढ़ी आयी तो वह हमें मूर्ख बता कर हमारा मज़ाक़ उड़ायेगी।

भारत के प्रति असीम प्यार

मगरिज दक्षिणी अफ़्रीका तो नहीं जा सका लेकिन वह गान्धी के जीवन और उस के प्रभाव को अंकित करने के लिए भारत आया है। शायद गान्धी के देश को देख कर मगरिज की निराशा कुछ और बढ़े, लेकिन वह यहाँ महात्मा के दर्शन और जीवन का अध्ययन जब अधिक निकटता से करेगा तो उसे मालूम हो जायेगा कि महात्मा और मगरिज में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही दुनिया के व्यावहारिक जीवन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाये हैं। लेकिन मगरिज भारत को प्यार करता है, वह भारत की ओर ऐसे दौड़ता है जैसे शराबी शराब की बोतल की ओर, मगर भारत एक ऐसी बोतल है जिस की मदिरा मस्तिष्क को अचेत करने के बजाय अतिचेतन स्तर तक उन्नत कर देती है। मगरिज महात्मा के स्वर में स्वर मिला कर कहता है। "नैतिक व्यवस्था का निर्माण किये बिना संसार में कोई भी व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती।" ■ ■

क्रितीनगर ● क्रितीनगर ● क्रितीनगर
क्रितीनगर ● क्रितीनगर ● क्रितीनगर
कींतीनगर ● कींतीनगर ● कींतीनगर
कींतीनगर ● कींतीनगर ● कींतीनगर
क्रीतींनगर ● क्रीतींनगर ● क्रीतींनगर
क्रीतींनगर ● क्रीतींनगर ● क्रीतींनगर

हिन्दी हमारी मात्रा-भाषा है

मनहर चौहान

कीतींनगर ● कीतींनगर ● कीतींनगर
कीतिंन्गर ● कीतिंन्गर ● कीतिंनार
कीतिंन गर ● कीतिंन गर ● कीतिंन गर
कीतिंन नगर ● कीतिंन नगर ● कीतिंन नगर
कीर्तन नगर ● कीर्तन नगर ● कीर्तन नगर

शेरजंग गर्ग मेरा दोस्त है। कविताओं के साथ कभी-कभी उस का नाम छपता है—'शरजग गग'। छपने के दौरान उस के नाम की सभी मात्राएँ टूट जाती हैं। मैं ने उसे कई बार समझाया है कि भलेमानस, अपना नाम बदल ले। कोई ऐसा नाम चुन, जिस में मात्राएँ ही न हों। जैसे—मनहर। शेरजंग गर्ग चिढ़ कर कहता है, "तुम अधूरे नाम का उदाहरण देते हो। तुम्हारा पूरा नाम मनहर चौहान है और इस में 'चौहान' की जगह 'चाहान' छपता रहता है।"

शेरजंग की मूल समस्या कुछ और है। वह अपने लिए बिना मात्राओं का नाम तो चुन सकता है, लेकिन बिना मात्राओं को कविताएँ वह कैसे लिखेगा?

मात्राओं का महत्त्व हिन्दी में इतना अधिक है कि कई बार लगता है, हिन्दी हमारी मातृ-भाषा हो न हो, मात्रा-भाषा अवश्य है। अपवादों को छोड़ दें तो प्रकृति का नियम है कि नर अपनी मादा पर हमेशा हावी रहता है। हिन्दी को मात्राएँ हिन्दी के मातृत्व पर हमेशा

हावी रहती है। इस से यह ग़लतफ़हमी हो सकती है कि मात्रा और मातृ में नर-मादा का सम्बन्ध है। ग़लतफ़हमी दूर की जानी चाहिए। सब दिल और दिल्ली नर-मादा नहीं, बिल और बिल्ली भी नर-मादा नहीं, फिर मात्रा और मातृ को ही नर-मादा क्यों माना जाये? मात्रा मातृ का नर कैसे हो सकती है? मात्रा तो स्वयं एक मादा है। मात्रा लगता नहीं है। मात्रा लगती है।

मादाएं हमेशा आकर्षण का केन्द्र हुआ करती हैं, लेकिन कैसी विडम्बना कि मादा होते हुए भी मात्रा की ओर किसी का आकर्षण नहीं! मात्राएं ग़लत लग जायें या ग़ायब हो जायें, हिन्दी की गाड़ी चलती रहती है। जब 'शरजग गग' छपता है, तब मैं समझ जाता हूं कि यहां शेरजंग गर्ग छपा है। मर्म की जगह मम, मिनि की जगह मान, दिल्ली की जगह दल्ला, गेंदा की जगह गदा छपता है, तब भी मैं समझ जाता हूं कि कहां क्या छपा है।

छपा कुछ हो, समझा कुछ जाये—यह परम्परा दिल्ली में खूब निभती है। यहां के अधिकांश निवासी पंजाबी हैं। वे विक्स को विकस, लक्स को लकस और अशोक को सोक्की समझते हैं। यदि आप हाथी जितने बड़े अक्षरों में अशोक लिखेंगे तो भी वे उसे सोक्की पढ़ेंगे। अशोक से बना असोक। असोक से बना असोकी। असोकी से हो गया सोक्की! जब आप गदा छपने पर गेंदा पढ़ सकते हैं, तब किसी दिल्ली वाले के मुंह से सोक्की सुन कर अशोक क्यों नहीं समझ सकते? सुनना कुछ, समझना कुछ, इस का एक अमर उदाहरण इस प्रकार है—

"आप का शुभ नाम?"

"मनहर चौहान।"

"क्या आप सिंचाई-विभाग में काम करते थे?"

"जी नहीं।"

"फिर आप का नाम नहर चौहान क्यों है?"

"आप ने ग़लत सुना। मेरा नाम मनहर चौहान है।"

"मनोहर चवान?"

"जी नहीं। मनहर चौहान।"

"यही तो कह रहा हूं! मनोहर चौहान?"

"मनोहर चौहान नहीं मनहर चौहान।"

"कमाल करते हैं आप! यही तो मैं भी कह रहा हूं—मनोर चौवान!"

"मनोर नहीं, मनहर। म। न। ह। र। चौवान नहीं, चौहान। चौ। हा। न।"

"ओह! अब समझा। मनर चौहान!"

"आप फिर ग़लत समझे! मेरा असली नाम तो है नर चौहान!"

"देखिए जी, आप खामुखा तंग करते हैं।"

"आप ने 'बेन हर' फ़िल्म देखी है?"

"जी हां।"

"बोलिए—'बेन हर'।"

" 'बेन हर'।"

"अब इसी लहजे में बोलिए—'मेन हर'।"

" 'मेन हर' !"

"बस, यही है मेरा नाम—मेन हर चौहान !"

●

'संघर्ष' फ़िल्म के इश्तहार चूँकि अँगरेज़ी में हैं, मैं ने पहली बार पढ़ा—'सुंघुर्श' । समझ में नहीं आया कि माजरा क्या है । जब समझ में आया तो फ़ैसला किया कि इस फ़िल्म को सिर्फ़ इस लिए नहीं देखूँगा कि इस में 'सुंघुर्ष' याने 'संघर्ष' होता है । बाद में जब भाई लोगों ने बताया कि इस का पात्र-परिचय हिन्दी में दिया गया है तो फ़ैसले की घोर उपेक्षा कर के मैं फ़िल्म देखने गया । पात्र-परिचय सचमुच हिन्दी में था । कहीं-कहीं हिन्दी की मात्राएँ ग़लत लगी हुई थीं । बहुत अखरा । बड़ा तैश आया । घर लौट कर 'संघर्ष' के निर्माता को करारी चिट्ठी लिखी । दसवें दिन निर्माता का उत्तर आ गया । उन्होंने अँगरेज़ी में जो लिखा था, उस का हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—

"पात्र-परिचय से अधिक महत्त्व संगीत का है, नाच और गानों का है; हँसी-मज़ाक़ का महत्त्व भी पात्र-परिचय से अधिक है । जब ये सभी चीज़ें, ग़लत जगह लगी हुई थीं, फिर पात्र-परिचय में यदि मात्राएँ ग़लत जगह लग गयीं तो कौन-सा आसमान टूट पड़ा ?"

यह उत्तर पढ़ कर मैं ने मुट्ठियाँ भींचीं, दाँत पीसे, कमरा बन्द कर के उछल-कूद भी मचायी, लेकिन निर्माता बम्बई में था और मैं दिल्ली में । जेट-युग में भी यह दुनिया कितनी बड़ी है ।

मैं ने तैश में आ कर सोचा कि बम्बई की बात जाने दो । मुझे दिल्ली की सुध लेनी चाहिए, जहाँ कि मैं इन्दिरा गान्धी के साथ रहता हूँ । सुधार की शुरूआत हमेशा अपने घर से करनी चाहिए, इस सिद्धान्त को बल देने के लिए मैं ने अपने घर का चप्पा-चप्पा छान मारा । सिर्फ़ एक जगह थी, जहाँ हिन्दी ग़लत लिखी हुई थी—और उस का दोषी मैं नहीं था । हास्यरस की एक पत्रिका उस के प्रकाशक-द्वारा मुझे मुफ़्त भेजी जाती थी । उस का नया अंक अभी मैं ने लिफ़ाफ़े में से निकाला भी नहीं था । लिफ़ाफ़े पर मेरा नाम इस प्रकार लिखा हुआ था—मनोहर चव्हाण ! मैं ने नाम और पता लाल स्याही से काट कर, ऊपर लिखा—यह आदमी मर चुका है । प्रेषक को वापस करें ।

बीवी को उसी वक़्त बुला कर मैं ने कहा, "इसे डाक में डाल आओ ।"

बीवी ने लाल स्याही से लिखे अक्षरों पर ज्यों ही निगाह डाली, वह बुरी तरह बरस पड़ी, "आप को शर्म नहीं आती मेरे सुहाग के साथ खिलवाड़ करते ?"

"मनोहर चव्हाण तुम्हारा पति नहीं है !" मैं ने डपट कर कहा, लिफ़ाफ़ा उस के हाथ से छीना और स्वयं जा कर लाल डिब्बे में डाल आया ।

उसी दिन शाम को कीर्तिनगर के नक़्शे पर मेरी निगाह पड़ी । निगम-द्वारा दिल्ली के प्रत्येक नगर में ख़ूबसूरत नक़्शे लगाये जा रहे हैं, ताकि नये आने वालों को अपने शत्रु

या मित्र का ठिकाना ढूँढ़ने में आसानी रहे। कीर्तिनगर का नया नक़्शा दो सप्ताह पहले ही लगा था। मैं ने देखा, अँगरेज़ी में तो कीर्तिनगर बिलकुल सही लिखा हुआ है, मगर हिन्दी में कीर्तिनगर के बजाय लिखा है—क्रितीनगर।

मेरा रोम-रोम सुलग उठा। उसी समय घर जा कर, निगम के जन-सम्पर्क अधिकारी के नाम भर्त्सना का एक लम्बा पत्र लिखा और लाल डिब्बे में अपने हाथ से डाल आया। अहोभाग्य! जन-सम्पर्क अधिकारी ने शुद्ध हिन्दी में मुझे उत्तर दिया कि ध्यान आकर्षित करने के लिए आभार। हम शीघ्र ही उक्त शब्द को सही करने के लिए कर्मचारी रवाना कर रहे हैं।

कुछ दिनों बाद मैं ने, ख़ास जाँच करने के लिए ही, नक़्शे के पास जा कर देखा। अब 'क्रितीनगर' नहीं लिखा हुआ था। जो शब्द मेरी ओर देख-देख कर मुसकरा रहा था, उसे तो पढ़ना ही असम्भव था। ज़रा आप पढ़ कर बताइए—कींतीनगर! (घोषणा—इस शब्द को कोई नहीं पढ़ सकता। यदि आप इस शब्द को पढ़ लें तो यक़ीन जानिए कि आप की हिन्दी बहुत कच्ची है।)

मैं ने जन-सम्पर्क अधिकारी को फिर एक चिट्ठी लिख कर सूचित किया कि सही शब्द 'कींतीनगर' नहीं, 'कीर्तिनगर' है

अधिकारी महोदय ने उत्तर दिया कि पुनः ध्यान आकर्षित करने के लिए पुनः धन्यवाद। हम पुनः अपना कर्मचारी भेज रहे हैं।

जब मैं ने पुनः उस नक़्शे की जाँच की, तो कीर्तिनगर के बजाय इस बार लिखा हुआ था—क्रीर्तीनगर!

मेरे तीसरे पत्र का उत्तर तो अधिकारी महोदय की ओर से नहीं आया, लेकिन पत्र का असर ज़रूर हुआ। 'क्रीर्तीनगर' को सुधार लिया गया, मगर नया शब्द, जो मुझे देख कर मुसकरा दिया, वह था—कीर्तीनगर!

मैं ने अधिकारी महोदय को सूचना दी—अब केवल एक गड़बड़ी रह गयी है। 'त' में 'बड़ी ई' नहीं 'छोटी इ' की मात्रा लगवाइए। रेफ को ज्यों-का-त्यों रहने दीजिए।

पत्र का उत्तर इस बार भी न आया, लेकिन जब कुछ अरसे बाद नक़्शे की जाँच की, तो लिखा हुआ था—कीर्तिन्गर! मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। नगर शब्द को छेड़ने की ज़रूरत ही क्या थी? वह तो शुरू से ठीक लिखा हुआ था। बहरहाल, मेरी ओर से पुनः सूचना पाने पर न् को न कर लिया गया। मुझे बड़ा गर्व हुआ। मेरे ही प्रयास के कारण क्रितीनगर अन्ततः कीर्तिनगर हो गया था।

लेकिन मेरा दिमाग़ ख़राब था, जो मैं ने जन-सम्पर्क अधिकारी को फिर पत्र लिखा। सब से पहले मैं ने जगमगाती सफलता पाने के लिए उन्हें हार्दिक बधाई दी, फिर पूछा—कीर्तिनगर को आप एक शब्द मानते हैं या दो? वैसे तो दोनों ही रूप सही हैं, लेकिन सारी दिल्ली के नक़्शों में शैली एक ही होनी

चाहिए। कीर्तिनगर, पटेलनगर, रूपनगर— अगर सभी जगह 'नगर' को पहले शब्द के साथ मिला कर लिखा जाता है. तब तो, इन दिनों यहाँ के नक़्शे पर जो लिखा हुआ है, वह सही है; लेकिन यदि आप 'नगर' को अलग लिखवाने के पक्ष में हों तो कृपया 'कीर्तिनगर' को 'कीर्ति नगर' कर दें।

कुछ ही दिनों बाद मैं ने कीर्तिनगर के स्थान पर कीर्तिन गर लिखा हुआ पाया। कबाड़ा हो गया था। मैं ने फ़ौरन जन-सम्पर्क अधिकारी को खबर करते हुए लिखा कि 'न' अक्षर 'गर' के साथ मिला होना चाहिए, तभी 'गर' से 'नगर' बनेगा।

थोड़े दिनों बाद कीर्तिनगर के नक़्शे पर लिखा हुआ पाया गया—कीर्तिन नगर।

अब मेरे बौखलाने की बारी थी। मेरी ही ओर से, ज़रूरत से ज़्यादा चुस्ती बरती जाने के कारण सब हंगामा हो रहा था। कुढ़ते हुए मैं ने जन-सम्पर्क अधिकारी को लिखा—'कीर्तिन नगर' शब्द ग़लत है। सही शब्द की सूचना मैं आप को अनेक बार दे चुका हूँ। कृपया फ़ौरन 'कीर्तिन नगर' शब्द को सही कर लें, वरना मैं नक़्शे में आग लगा सकता हूँ।

तीसरे ही दिन मैं ने देखा, कीर्तिन नगर शब्द को सुधार लिया गया है। अब लिखा हुआ है—कीर्तन नगर।

मैं बंगाली होता तो पता नहीं उस नक़्शे का क्या करता। पर मैं गुजराती हूँ। गान्धी जी गुजराती थे। अहिंसा के भक्त वह थे और मैं भी हूँ। मैं चुपचाप मुँह लटका कर वापस घर आ गया। अपनी औक़ात के बारे में अब मुझे कोई ग़लतफ़हमी नहीं रही थी।

●

"पन्द्रह दिनों से हमारी कोई डाक नहीं आ रही।" सहसा बीवी ने आ कर कहा। मैं चौंका। सचमुच इसे केवल एक संयोग नहीं माना जा सकता था कि पन्द्रह दिनों तक मेरी डाक हो न आये। किसी भी मसिजीवी लेखक के लिए डाक की गड़बड़ी को झेलना आसान नहीं होता। मैं उसी समय घर से निकला और 'कीर्तन नगर' के नक़्शे वाली सड़क को बचाता हुआ, एक लम्बे रास्ते को तय कर के डाक-घर जा पहुँचा। डाकिया, जो डाक की अधिकता के कारण मुझे एक अरसे से पहचान चुका था, एकदम भौंचक हो गया। "अरे!" उस ने कहा, "आप ज़िन्दा हैं?"

"क्यों? मैं कब मर गया था? मेरी डाक कैसे नहीं आ रही?" मैं ने पूछा।

"हम तो सारी डाक वापस भेजते जा रहे हैं। आप के मकान-मालिक ने 'मनोहर चव्हाण' के नाम आयी पत्रिका यह लिख कर वापस कर दी थी कि''''माफ़ कीजिएगा'''' उस पर तो लिखा हुआ था कि यह आदमी ''''मर गया''''।" "खामोश।" मैं ने कहा।

●

क्षमा-याचना : सम्पादक को मैं ने अलग से पत्र लिखा है कि चूँकि इस हास्य-कथा में सारा खेल मात्राओं का है, इसे वह पूरी सावधानी से छापें। लेकिन, छपते-छपते यदि कोई मात्रा उड़ गयी हो, तो, लेखक क्षमा-प्रार्थी है। ▪▪

मिलिए— इलाचन्द्र जोशी से

साक्षात्कार ●

प्रमोद सिनहा ● ● ●

जोशी जी को सोचने की आदत है और कभी-कभी यह आदत उन्हें बेहद अकेला कर देती है। चाहे कोई उन का समर्थन करे या विरोध, पर यदि बात जँच गयी तो वह बिना कहे नहीं मानेंगे। यही कारण है कि उन्होंने किसी को भी समर्थक बनाने की चिन्ता नहीं की, हमेशा ही सही बात की वकालत करते रहे।

ऐसे आप इन्हें कभी अपमानित भी कर दें तो ये मुसकराते रहेंगे और आप से कभी कोई शिकायत नहीं होगी। दूसरों की बातें सुनना और धैर्य से सुनना इन की आदत में शुमार है। बातें चाहे जैसी हों चुपचाप झेल लेंगे। कभी-कभी जब बहुत जरूरत हुई तो एक-आध वाक्य में अपने को स्पष्ट कर देंगे।

मैं ने इन्हें विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करते हुए देखा है और देखा है आराम की मुद्रा में हुक्का गुड़गुड़ाते या सिगरेट का क़श लेते हुए भी। बीमारी के कारण अब तो हुक्का और सिगरेट मना है, पर अब उस की याद से क्षति-पूर्ति कर लेते हैं। परिस्थितियाँ चाहे जितनी भिन्न हों पर मूड में कोई अन्तर नहीं आया है।

खुद की लकवे को बीमारी और इलाहाबाद स्वरूपरानी मेडिकल कॉलेज अस्पताल का ताबूतनुमा ऊपरी हॉल। वहाँ खुद बीमारी की हालत में भी ढेर सारे आड़े तिरछे बेड पर लेटे मुर्दानुमा लोगों में से एक-एक की जानकारी और उन के प्रति हमदर्दी इन्हीं के बूते की बात थी। दूसरों को परेशानियों से खुद परेशान और अपनी बात जैसे भूल जाने की आदत। पर जब नीचे स्पेशल वार्ड में लाये गये तो वहाँ पर निपट अकेलापन और अस्पताल का एक अजीब ऊब-भरा वातावरण। जोशी जी कहते हैं—"इस बार दोनों ही एक्स्ट्रीम के अनुभव मुझे एक साथ ही हुए।"

अपनी परेशानी को कम कर के बताने और खुद ही सारा कुछ झेल लेने की इन में अद्भुत क्षमता है। बीमारी के दिनों में श्री वाचस्पति पाटक को छोड़ और बहुत कम लोगों को उन्होंने याद किया। इन्हें किसी की हमदर्दी नहीं चाहिए। सहानुभूति दिखाने पर चिढ़ जाते हैं।

जोशी जी अस्पताल में थे उन दिनों मेरे मित्र रतनलाल शान्त कश्मीर से आये थे और वे जोशी जी से मिलना चाहते थे। अहिन्दी भाषा-भाषी लेखकों की उन की अपनी ढेर सारी समस्याएँ थीं। जोशी जी को बीमारी के कारण बात करने की मनाही थी। यों ही बातचीत के आपसी दौर में शान्त ने कहा कि "अहिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी लेखकों को हिन्दी क्षेत्र में आज उचित अवसर नहीं मिलता।" जोशी जी आँखें बन्द किये लेटे थे और उन्हें बोलने में भी तकलीफ़ हो रही थी पर उन्होंने इस बात का तत्काल विरोध किया : "मेरी दृष्टि में तो अभी तक ऐसी कोई बात नहीं आयी जिस के आधार पर मैं भी यह कहूँ कि हिन्दी के साहित्यकार या पत्रकार किसी अहिन्दी-भाषा-भाषी साहित्यकार के प्रति विरोधी संस्कार रखते हैं। यदि कोई अहिन्दी भाषा-भाषी ऐसी बात कहता है तो इस का सीधा उत्तर यही दूँगा कि किसी भी प्रतिभाशाली अहिन्दी-भाषी लेखक का हिन्दी के क्षेत्र में बराबर हार्दिक स्वागत और अभिनन्दन ही होता रहा है। इस लिए इस तरह का आरोप न्यायपूर्ण नहीं है। जोशी जी की बात सुन कर सभी चुप हो गये।

अब अस्पताल से जोशी जी घर आ गये हैं और स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं। जीवन भी नियमित हो गया है और इन्होंने काम करने की ढेर सारी योजना बना ली है। निकट भविष्य में शायद ये अस्पताल पर एक लम्बी कहानी लिखें और एक उपन्यास भी पूरा करें।

यों जोशी जी को पत्रोत्तर न देने की बुरी आदत है और प्रायः इन के पाठक और मित्र इसी कारण इन से नाराज़ रहते हैं। पर इधर पत्र का उत्तर लिखा लेने का ज़िम्मा निखिल ने अपने ऊपर ले लिया है। जोशी जी के स्वास्थ्य की चिन्ता का पूरा भार उन के सब से बड़े लड़के श्री नरेश पर है और मुकुल इन के वैयक्तिक सलाहकार हैं।

जोशी जी अब भी निर्द्वन्द्व हैं और नये सिरे से पूरी तरह काम में जुटने की योजना बना रहे हैं। इन के बातचीत की आदत में कोई फ़र्क़ नहीं आया है। वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों की बात हो या अशान्त युवाजन से ले कर जन्मान्तरवाद की बात—इन सारे विषयों पर जोशी जी एक साथ बहस कर लेते हैं।

उस दिन उन से मिलने पर मैं ने पूछा—

● इतनी लम्बी बीमारी के बाद अब आप कैसा महसूस करते हैं?

—"मेरी बीमारी कुछ विशेष लम्बी नहीं रही। लकवे की बीमारी ने जिस तरह मुझे दबाया था उस से उबरने में तीन-तीन हा

तक लग जाते हैं, ऐसा मैं ने सुना है। मुझे तो एक ही माह अस्पताल में रहना पड़ा। वैसे अब मैं ठीक हूँ पर पूरी तरह अपने को स्वस्थ नहीं पाता हूँ। फिर भी आशा करता हूँ कि जल्दी ही स्वस्थ हो जाऊँगा। ऐसी स्थिति में भी मेरे मन में बड़े निकट, गहन और व्यापक दार्शनिक प्रश्न उभरते चले आ रहे हैं, जो कि साधारण स्थिति में भी भयभीत कर देने वाले होते हैं। पर मैं वर्तमान अस्वस्थ स्थिति में भी इन से भयभीत नहीं हूँ, यह बाहरी और भीतरी स्वास्थ्य के लिए मैं शुभ लक्षण समझता हूँ।"

● आप जन्मान्तरवाद के प्रति इतने आस्थावान् क्यों हैं ?

—"जन्मान्तरवाद के प्रति आस्थावान् इस लिए हूँ कि मेरे जन्मजात संस्कारों के साथ इस की अनुभूति सहज ही जुड़ी हुई है। इस की अनुभूति मुझे अपने अस्तित्व-बोध से भी अधिक तीव्रता से होती है। ज्यों-ज्यों मेरी उम्र बढ़ती गयी है मेरा चिन्तन भी इस उलझी हुई दिशा में सुलझाने को अपने-आप अग्रसर होता गया है। फलस्वरूप मैं ने यह पाया है कि क्या वैज्ञानिक, क्या दार्शनिक दोनों दृष्टियों से यह सुसंगत और सुसिद्ध है और हर दृष्टि से यह प्रामाणिक सत्य के रूप में मुझे लगा है। आज का आधुनिक विज्ञान (जीव विज्ञान + मनोविज्ञान) और मनोविज्ञान 'इंस्टिंक्ट' नाम के जिस तत्त्व को इतना महत्त्व देता है वह सहज जन्मान्तरीय अनुभूति के सिवा और कुछ नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से इस परिकल्पना को सिद्ध करने के लिए मैं बहुत से उदाहरण भी दे सकता हूँ। पर इस इन्टरव्यू में उदाहरण समझाना न प्रासंगिक ही है, न सम्भव ही।"

● मनोविज्ञान और जन्मान्तरवाद को इस तरह जोड़ने की क्या सार्थकता है?

—"इस प्रश्न को बार-बार कुरेदने पर मैं ने यही पाया है कि मनोविज्ञान की जड़ें केवल आधुनिक पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों की दिशा में चलने से हमें कहीं भी निश्चित प्रामाणिक स्थल पर नहीं पहुँचा पातीं; न आगे की दिशा में, न पीछे की दिशा में।

आधुनिक मनोविज्ञान प्रमुख रूप से अवचेतना (uncouncious) की थ्योरी पर आधारित है। अवचेतना के रहस्य को उस के मूल और अन्तिम रूप को समझने का प्रयास मुझे सहज ही जन्मान्तरवाद की ओर बस घसीटता चला गया है और न चाहते हुए भी सत्य की खोज की प्रेरणा से इस ओर चलता चला गया हूँ। मुझे लगता है कि मनुष्य की अवचेतना केवल इस जन्म में व्यक्ति की दमित आकांक्षाओं के फलस्वरूप ही नहीं बनी है जैसा कि फ़्रायड, एडलर, युंग आदि ने कहा है। फ़्रायड का यह सिद्धान्त मुझे एकदम ग़लत और अपूर्ण लगा।

अवचेतना की उत्पत्ति इस से बहुत व्यापक और गहरे, बहुत गहरे कारणों से हुई है। इन कारणों में मैं जन्मान्तरीण तत्त्वों को प्रमुखता देता हूँ। हमारे यहाँ साधारणतः लोग जन्मान्तर को पौराणिक प्रश्न समझते हैं। दरअसल यह अति-बुद्धिवादी प्रश्न है, जिस को पहले-पहल हमारे यहाँ कृष्ण ने गीता में

बड़े साहस के साथ प्रतिपादित किया था। जिस का समर्थन बौद्ध तार्किकों और हेतुवादी तार्किकों ने किया है। ऐसे तो गीता के पहले भी इस देश में भारतीय बुद्धिवादियों-द्वारा यह पौराणिक ही माना जाता रहा है। केवल भारतीयों ने ही जन्मान्तरवाद के प्रश्न को नहीं उठाया है। प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों ने भी इस प्रश्न को विशेष महत्त्व दिया है। इन ग्रीक दार्शनिकों में केवल पाइथोगोरास ने ही नहीं वरन् सुकरात, प्लेटो-जैसे सर्वमान्य और बौद्धिक दार्शनिकों ने भी इस की महत्ता पर विशेष बल दिया है।"

● क्या यह सच है कि 'ऋतुचक्र' से आप ने बीस वर्षों का एक लम्बा मौन तोड़ा है?

—"वैसे मेरा लिखना-पढ़ना किसी-न-किसी रूप में बराबर चलता रहा पर उपन्यास के रूप में 'जहाज का पंछी' के बाद 'ऋतुचक्र' से ही अपना मौन तोड़ा है। इस व्यवधान-काल में मुझे सोचने-समझने की कुछ नयी दिशाएँ प्राप्त हुईं उन्हीं से मुझे 'ऋतुचक्र' लिखने की ओर प्रोत्साहन मिला।"

● इस उपन्यास के लिखने की योजना आप ने कब बनायी?

—"सन् '५० में, जब आकाशवाणी दिल्ली में मेरा तबादला हुआ था, तभी से मेरे मन में इस के लिखने को प्रेरणा थी। दिल्ली में मैं ने इस के कुछ प्रारम्भिक पृष्ठ लिखे भी थे। पर दिल्ली का वातावरण इस उपन्यास को आगे बढ़ाने में अनुकूल नहीं पड़ा। इसी लिए उसे रोक देना पड़ा। इस के बाद जब-जब गरमी में पहाड़ गया इसे आगे बढ़ाने का प्रयास करता रहा। पर इस उपन्यास की रूप-रेखा पिछले वर्ष ही बन पायी जब मैं नैनीताल के निकट रामगढ़ में गरमी बिताने के लिए गया हुआ था।"

● 'नये और पुराने की चिन्ता के चक्कर में न पड़ कर निजी संस्कार, सामर्थ्य और विवेक के अनुसार जीते जाने में ही भलाई है'—ऐसा कह कर नये सामाजिक मूल्यों की सीधी टकराहट को उपेक्षित करते हुए क्या आप ने पलायन का स्वर उभारा है?

—"साहित्य-क्षेत्र में पलायन का क्या अर्थ है—अभी तक यह बात समझ नहीं पाया हूँ, इस के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे। कारण यह है कि यह पलायन शब्द प्रगतिवादियों-द्वारा गढ़ा गया शब्द है और दुर्भाग्य या सौभाग्य से मेरे चिन्तन की दिशा इस तरह के राजनीतिक नारों से अपनी संगति नहीं बिठा पाती।

मैं जीवन को व्यक्ति के संस्कारों के अनुसार सहज रूप से जीने की बात पर विश्वास करता हूँ और इसी में जीवन की सार्थकता मानता हूँ। फिर वह जीना चाहे व्यक्ति के जूझने के पक्ष में जाता हो, चाहे पलायन के।

व्यक्ति के जूझने की भी एक सीमा होती है, उस सीमा के बाद व्यक्ति के अन्तरमन को व्यापक अवकाश चाहिए जिस में वह व्यापक जीवन के सारे चक्करों का लेखा-जोखा कर सके। अगर यह अवकाश जीवन में व

मिले तो उस के जीने का अर्थ ही नहीं रह जाता। अनन्तकाल तक जूझते चले जाने में न व्यक्ति का ही लाभ देखता हूँ और न समाज का ही हित।"

● उक्त उपन्यास के प्रस्तावित सूत्र में आप ने लिखा है कि—'आज न तो व्यक्ति के आगे जीवन का कोई महान् कर्त्तव्य शेष रह गया है, न समूह के आगे ही कोई सार्थक लक्ष्य।'—आप के इस कथन का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

—"कुछ युग ऐसे आते हैं जिन में सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तत्त्व एकदम विशृंखल, बेमेल और बेमानी लगने लगते हैं। ऐसी स्थिति में किसी ठोस चिन्तन और कर्त्तव्य का कोई अस्तित्व ही कैसे शेष रह सकता है। आज का युग भी वैसा ही है। इस के कारणों को गिनाने बैठें तो कहीं अन्त नहीं पायेंगे। आप का प्रश्न उत्तर की अपेक्षा उतना नहीं रखता जितना स्वयं समझने की। इस लिए मैं ने संक्षेप में ही इस का उत्तर दिया है।"

● आज अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन विकृत हो गया है। आप के इस कथन का आधार क्या है?

—"मैं निश्चित रूप से यह मानता हूँ कि कीर्केगार्द-द्वारा प्रतिपादित अस्तित्ववाद को सार्त्र के अस्तित्ववाद ने एकदम विकृत और बीभत्स बना दिया है और आज सार्त्र और कामू का ही अस्तित्ववाद नवयुवकों में फ़ैशन बन गया है।

स्वयं कीर्केगार्द के अस्तित्ववाद ने भी मुझे कभी प्रभावित नहीं किया। मैं उसे अत्यन्त कायर चिन्तक मानता हूँ जिस की बुद्धि विराट् से बराबर कतराती रही है। आधुनिक युग की जमीन इस चिन्तन के नये सिरे से पनपने के लिए उपयुक्त थी। सार्त्र ने इसी बात का लाभ उठा कर अपनी विकृत प्रवृत्तियों को इस वाद में घोल दिया है और एक नया दर्शन खड़ा करने का ढोंग रचा है।

कीर्केगार्द फिर भी एक स्वतन्त्र चिन्तक था और उस ने एक महत्त्वपूर्ण दर्शन की परिकल्पना की थी। पर सार्त्र में न मौलिकता है और न स्वतन्त्रता ही। फ्रायड के मनोवैश्लेषिक सिद्धान्तों को, कीर्केगार्द के मौलिक और महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों को घोल कर उन से एक अजीब विशेष-सा रासायनिक घोल तैयार कर के उस ने साहित्य के सस्ते बाज़ारों में बेचना शुरू कर दिया है, जिस का परिणाम न साहित्य के लिए अच्छा हुआ न दर्शन के लिए ही।"

● आप यह क्या मानते हैं कि लम्बी वैवाहिक परम्परा के सम्बन्ध से ऊब के कारण आज 'पत्नी' की अपेक्षा 'महिला मित्र' की अधिक आवश्यकता है। यदि मानते हैं तो क्यों?

—"महिला मित्र के आगे यदि आप सहधर्मिणी शब्द जोड़ दें तो मेरी बात और भी स्पष्ट हो जायेगी क्योंकि बिना सह-धर्मिता के मैत्री का सच्चा सूत्र नहीं जुड़ सकता। आज के युग में क्या व्यक्तियों, क्या राष्ट्रों में—सहधर्मिता का निपट अभाव पाया जाता है और

यही बात नाना विसंगतियों और विरोधों को लगातार जन्म दे रही है।

लम्बी वैवाहिक परम्परा के सम्बन्ध से ऊब का कारण भी सम्भवतः इसी तत्व का अभाव है।

कालिदास ने आदर्श सह-धर्मिणी के सम्बन्ध में जो यह कहा था—

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।"

यह सम्भवतः उस ने अपने लिए किसी आदर्श सह-धर्मिणी की परिकल्पना में कहा होगा क्योंकि कालिदास-जैसे महाबौद्धिक कवि की सचिव हो सकना किसी साधारण नारी के लिए सम्भव नहीं हो सकता था। जो नारी किसी व्यक्ति के चिन्तन की दिशा को ठीक से पकड़ कर उस के सम्बन्ध में समय-समय पर समुचित सलाह दे सके वही वास्तविक सखी (मित्र) और सह-धर्मिणी हो सकती थी। यह बात आज के लिए भी उतनी ही सत्य है।"

● अपने बाद की पीढ़ी के कथाकारों में आप किसे पसन्द करते हैं।

—"अपने बाद की पीढ़ी के कथाकारों में धर्मवीर भारती, कमलेश्वर और राकेश इन तीनों की रचनाओं को भिन्न-भिन्न कारणों से पसन्द करता हूँ।

भारती की कहानियों में परिवेश और पात्रों के अन्तरमन की क्रियाओं को प्रस्तुत करने में एक विस्मयजनक सहज अन्तर्दृष्टि पायी जाती है। साधारण से साधारण परिस्थिति और व्यक्तियों के भीतर से एक सहज और मार्मिक संवेदना को उभारने की कला में वह माहिर है। कमलेश्वर को अपनी कहानी के परिवेश को सही और सटीक रूप में अपने अन्तर का कोई रंग चढ़ाये बिना ही उसे यथा रूप चित्रित करने की कला में कुशलता हासिल है। जब कि राकेश आधुनिक जीवन-चित्रों को आधुनिक यथार्थवादी रंगों की सहायता से सुनियोजित और सुसंगत रूप से चित्रित करने की कला में विशिष्टता प्राप्त कर चुका है।"

● युवा वर्ग में बढ़ते असन्तोष और सारे परिवेश के प्रति उन की नाराज़गी के इस तेवर का क्या कारण है?

—"मैं व्यक्तिगत रूप से आज के सभी प्रकार के असन्तोष का मूल कारण आज की विकृत और उलझी हुई राजनीति में ही खोजने का आदी हो गया हूँ। अनेक कारणों से यह संस्कार जम गया है। मेरी ऐसी धारणा बन गयी है कि जिस प्रकार प्राचीन या मध्य युगों में धर्म ही जीवन के सभी (व्यक्ति और समाज की सभी) प्रवृत्तियों का उत्तरदायी था। जिस प्रकार उन्नीसवीं सदी और बीसवीं शताब्दी के पिछले कुछ दशकों तक विज्ञान ही व्यक्ति और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए उत्तरदायी रहा है; उसी प्रकार आज राजनीति को ही व्यक्ति और समाज की बदलती हुई सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के लिए मूल कारण के रूप में माना जा सकता है।"

● क्या आप यह मानते हैं कि आज वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों में भारी गिरावट आ गयी है?

—"आज प्रायः सभी प्रकार के महत्त्वपूर्ण

मूल्यों में भारी गिरावट आ गयी है। इस की प्रतिक्रिया तो सब पर किसी-न-किसी रूप में हो रही है, एक भारी से भारी हाथी से ले कर छोटे से छोटे चूहे तक। वैसे जो सामाजिक मूल्य होते हैं वे अधिकांशत: व्यक्ति पर भी अवश्य ही लागू होंगे क्योंकि व्यक्ति समाज की ही तो ईकाई है। पर सभी सामाजिक मूल्य समान रूप से व्यक्ति पर लागू होंगे ऐसा सोचना निर्भ्रान्त नहीं है। व्यक्ति के अपने कुछ निजी मूल्य भी होते हैं, जिन का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।"

● आप इस का कोई उदाहरण दे सकेंगे?

—"क्यों नहीं। उदाहरण के लिए तो एक विशेष प्रकार की रहस्यात्मक अनुभूति व्यक्ति की ही निजी अनुभूति हो सकती है, समाज की नहीं।"

● क्या अनुभूति 'मूल्य' हो सकती है?

—"व्यक्ति के लिए हर मूल्य अनुभूति के ही रूप में आता है। यदि कोई दार्शनिक यह आपत्ति उठाये कि अनुभूति को मूल्य के रूप में ग्रहण करना उचित नहीं है तो व्यक्ति उत्तर में यह कह सकता है कि तब मैं किसी भी मूल्य को नहीं मानता। मैं अपनी अनुभूतियों में ही जीना चाहता हूँ और उन्हीं के अनुसार अपनी चिन्तन-प्रणाली का विकास करना चाहता हूँ। आप इसे मूल्य मानें या नहीं इस से मेरी व्यक्तिगत अनुभूतियों का महत्त्व तनिक भी खर्च नहीं हो सकता।[1]

■ ■

---

१ पिछले अंक की घोषणाके अनुसार इस अंक में 'मिलिए–धर्मवीर भारती से' को दूसरी किस्त जानी थी। कुछ कारणोंवश वह नहीं जा सकी। अब अगले अंक में प्रस्तुत होगी।—सम्पादक
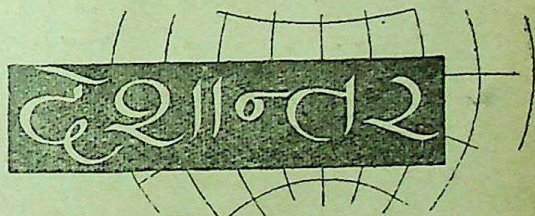
प्रधान-मन्त्री आवास: एक कस्बा, अनथक प्रयास

पुष्पधन्वा

दिल्ली निवासियों के लिए मकान की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी आज़ादी। बुज़ुर्ग अर्थ-शास्त्रियों का मत रहा है कि आय का दस प्रतिशत मकान-किराये के रूप में खर्च करने वाला परिवार ही सुखी परिवार होता है। लेकिन आज के परिवार को पैंतीस से चालीस प्रतिशत, अपने बजट में 'सिर पर छत' के लिए निकालना पड़ता है। रहायशी इमारतों की समस्या इतनी तीव्र है कि राजधानी के लगभग सत्तर प्रतिशत परिवार एक कमरे में रहते हैं। इन में से चालीस प्रतिशत नयी दिल्ली में और बाक़ी साठ प्रतिशत पुरानी दिल्ली में बिना निजी रसोई और शौचालय के गुज़ारा कर रहे हैं। १९६१ की जन-गणना के अनुसार उस वर्ष १६०,००० घरों की प्रत्यक्ष कमी थी और यह कमी दिल्ली की जनवृद्धि के साथ-साथ और भी बढ़ी है। इस में भारत-पाकिस्तान संघर्ष का भी हाथ है और बर्मा तथा अफ़्रीका से आये निष्कासित भारतीयों का भी।

● आवास की समस्या : लेकिन क्यों ?

इस अभाव से हर कोई आक्रान्त है। कहा जाये कि झल्ली वाले से ले कर प्रधान-मन्त्री तक—तो शायद अत्युक्ति न होगी ! यों, दिल्ली में जगह की कमी मानना तो बचपना होगा। यहाँ राष्ट्रपति-भवन है—३३० कमरों वाला, ३३० एकड़ ज़मीन पर फैला हुआ, जिस का प्रसिद्ध मुग़ल-गार्डन ४४० वर्ग-फ़ुट में महकता है। यहाँ पथरीला विस्तार लिये बुद्ध-जयन्ती-पार्क है और एशिया का सब से बड़ा मंच वाला प्रेक्षा-गृह है—टैगोर थियेटर। कम से कम बीस बड़ी-बड़ी नयी बस्तियाँ (लगभग ६० अनधिकार छोटी बस्तियाँ), ऊँचे विशाल भवन, दुहरी चौड़ी सड़कें—सब के लिए जगह निकलती आ रही है। फिर प्रधान-मन्त्री के भवन की समस्या क्यों ?

कुछ अँगरेज-दाँ कटाक्ष करते हैं कि भई, अँगरेज़ों के ज़माने में भारत के लिए प्रधान-मन्त्री की व्यवस्था होती तो उन के निवास की व्यवस्था भी अँगरेज कर गया होता ! लेकिन हम हैं कि अपनी और सारी समस्याओं की तरह इसे भी सीने से

चिपकाये बैठे हैं।....खैर, प्रधान-मन्त्री-निवास के लिए दिल में जगह की कमी तो नहीं मानी जा सकती ! हमारे प्रथम प्रधान-मन्त्री, पण्डित जी, 'दिलों के राजा' कहलाते थे। फिर भी २१ अगस्त, १९६३ को लोकसभा में एक हंगामा खड़ा हो गया। संयुक्त-समाजवादी नेता डॉ० राममनोहर लोहिया ने अपनी पहली लोकसभा की शुद्ध-हिन्दी-वक्तृता में पूरे एक घण्टे तक सदस्यों को हँसाया—खिझाया और यह प्रश्न उठाया कि जिस देश में एक ओर सत्ताइस करोड़ लोग तीन आने (१९ पैसे) रोज कमाते हैं उसी में दूसरी ओर 'सरकार के सबसे बड़े व्यक्ति' पर २५,००० से ३०,००० रुपया प्रतिदिन कैसे खरचा जा रहा है ? स्पष्ट ही उन का संकेत प्रधान-मन्त्री नेहरू की ओर था। पूर्णत: सरकार-आलोचक होते हुए भी सारे समाचारपत्रों ने एकमत से कहा कि डॉ० लोहिया की वक्तृता तमाम मापदण्डों से अत्यन्त प्रभावशाली थी।

गलत या सही, इस वक्तव्य ने पहली बार जनसाधारण की दृष्टि प्रधान-मन्त्री-निवास की ओर घुमायी थी। उस दिन से आज तक यह चर्चा, किसी-न-किसी रूप में, बदस्तूर बनी हुई है।

● भावुकता के बन्धन

१९६४ में नेहरू के निधन के बाद जितनी तेज़ी से प्रधान-मन्त्री की खोज प्रारम्भ हुई शायद उस से भी ज़्यादा तेज़ी से प्रधान-मत्री-आवास की ढूँढ़ मची! लालबहादुर शास्त्री प्रधान-मन्त्री निर्वाचित हुए और जब तीन-मूर्त्ति-मार्ग पर स्थित प्रधान-मन्त्री-निवास में उन के आने की चर्चा उठी तो वे ऐसा न कर सके। नेहरू की गरिमा और व्यक्तित्व के आगे वे इतने विनम्र और भावुक थे कि उन्होंने तीन-मूर्त्ति-भवन को नेहरू-संग्रहालय बनाने की सम्मति दी और स्वयं १०, जनपथ पर ही रहते रहे। यह भवन प्रधान-मन्त्री की आवश्यकताओं के लिए इतना कम था कि बराबर की दूसरी कोठी भी ले ली गयी और १, मोतीलाल नेहरू मार्ग और १०, जनपथ संयुक्त रूप से प्रधान-मन्त्री निवास बन गये। दोनों भवनों में कुछ आवश्यक परिवर्त्तन कराये गये जिन के फलस्वरूप नयी दिल्ली, नगरपालिका ने नोटिस दे दिया कि यह रद्दोबदल ग़ैरक़ानूनी है।

अभावुक दृष्टिकोण से विचार करने पर, कभी-कभी लगता है कि शास्त्री जी की विनयशीलता और नेहरू स्नेह ने (जो कि निस्सन्देह अधिकांश भारतीयों की भावनाओं का प्रतिबिम्ब था) ही यह समस्या खड़ी कर दी है जो आज तक सुलझ नहीं पायी है।

दो वर्ष से कम इस कामचलाऊ-निवास में रहने के पश्चात् भारत ने शास्त्री

जी को भी खो दिया। अब मौक़ा था कि इसी स्थान को ठीक से निर्मित कर के स्थायी प्रधान-मन्त्री-निवास का रूप दे दिया जाता, किन्तु ऐसा हो पाने में भी बाधा आ गयी। शान्तिकार्य के लिए प्रयत्नरत शास्त्री जी के आकस्मिक निधन के बाद तय किया गया कि उन का निजी कमरा जनता के दर्शनार्थ सदा के लिए उन्मुक्त कर दिया जाये। जनता की इच्छा का सम्मान किया गया और तीसरी प्रधान-मन्त्री, श्रीमती इन्दिरा के निवास की खोज आरम्भ हुई।

इतिहास की सुरक्षा स्मारकों से की जाती है। हर सड़क, चौराहे का नाम, संग्रहालय और प्रसिद्ध भवन हरेक देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों की कहानियाँ होती हैं। दिल्ली में भी यमुना के किनारे राजघाट बना, शान्तिवन बोया गया और फिर विजयघाट की स्थापना हुई। स्मारक बनाने के पीछे इतिहास को व्यापक दृष्टि होनी आवश्यक है। यों तो हर व्यक्ति और हर कृत्य अपने क्षण में महत्त्वपूर्ण होता है और प्रगति का पथ बनाता है किन्तु यह समाजशास्त्री का कर्त्तव्य है कि वह उस सिद्धि के स्थायी स्मृतिचिह्नों का सन्तुलन बनाये रखे। कहीं ऐसा न हो कि आने वाली पीढ़ियाँ हम पर दोषारोपण करें कि "तुम स्मारक ही स्मारक बनाने में लगे रहे हमारा भविष्य भी तुम्हारे हाथों में था—उस की ओर तुम ने ध्यान ही न दिया।"

•तीसरे भवन की खोज

श्रीमती गान्धी जब प्रधान-मन्त्री चुनी गयीं उस समय वे सूचना एवं प्रसारण मन्त्री पद पर थीं। उन का निवास १, सफ़दरजंग रोड था, जो प्रधान-मन्त्री-आवास की दृष्टि से नितान्त अपर्याप्त था। रहने के कमरे, विदेशी मेहमानों के सत्कार का स्थान, भोजादि देने के लिए बड़े हॉल और सुरक्षा-प्रबन्ध सभी की दृष्टि से स्थान कम था। फिर भी श्रीमती गान्धी ने जहाँ के तहाँ बने रहना ही अधिक उचित समझा। यह प्रश्न उठाये जाने पर कि वे शास्त्री जी वाले मकान में क्यों नहीं चली जातीं, तत्कालीन आवास-मन्त्री श्री मेहरचन्द खन्ना ने एक गोलमोल-सा उत्तर दे दिया। उन्होंने कहा कि श्रीमती गान्धी एक छोटे बँगले में रह कर एक उदाहरण उपस्थित करना चाहती हैं।

१९६७ की लू-भरी मई में निश्चय ले लिया गया कि प्रधान-मन्त्री उपराष्ट्रपति के ६, मौलाना आज़ाद रोड पर स्थित बँगले में चली जायेंगी। यह भी निश्चित हुआ कि अब तीन-मूर्ति-मार्ग वाली कोठी में जाने की बात कभी नहीं उठेगी और यह भी कि अब वे जहाँ भी रहेंगी, १० डाउनिंग स्ट्रीट की तरह, उसी को हमेशा-हमेशा के लिए

स्थायी प्रधान-मन्त्री निवास बना दिया जायेगा। यह भी हो सकता था कि एक नया भवन इस कार्य के लिए निर्मित किया जाये किन्तु भवन-निर्माण की बेहिसाब लागत को दृष्टिकोण में रखते हुए एक पुरानी इमारत में ही उलट-फेर करवा कर इस काम के लायक़ बना लेना श्रेयस्कर समझा गया।

● महानता : एक बोझ

तीन-मूर्त्ति-मार्ग भवन यों, सब दृष्टियों से प्रधान-मन्त्री के उपयुक्त था किन्तु जहाँ उन के सर्वमान्य पिता सत्रह वर्षों तक रह चुके थे वहाँ जा कर रहने में श्रीमती गान्धी को स्वाभाविक झिझक महसूस हुई। यद्यपि उन से यह भी कहा गया कि यदि इस भवन को कभी प्रधान-मन्त्री भवन का रूप देना है तो यह काम केवल वे ही कर सकती हैं। यदि वे ही वहाँ जाने में हिचक गयीं तो कोई भी भावी प्रधान-मन्त्री उसे अपना न सकेगा।

मई, १९६७ में बड़े जोर-शोर से जो निश्चय लिया गया था उस के महीने-भर बाद ही मन्त्री-महोदय ने लोकसभा में आश्वासन दिया कि 'शीघ्र ही इस समस्या का हल निकल आयेगा।'—अर्थात् मई में हल निकला नहीं था!···इस बात को ले कर मन्त्री-महोदय और विरोधी दलों में बराबर नोक-झोंक चलती रही। कॅम्युनिस्ट सदस्य भूपेश गुप्त ने कहा कि "समाचारपत्रों से प्रतीत होता है कि प्रधान-मन्त्री के निवास की समस्या एक महान् राष्ट्रीय समस्या है। क्या सरकार इस तक को सुलझाने में समर्थ नहीं?" मन्त्री, जगन्नाथ राव ने ताना कसा—"क्या श्रीमान् सदस्य के पास कोई हल है?" भूपेश गुप्त ने तपाक से उत्तर दिया, "क्यों नहीं? मैं अपना घर इस काम के लिए देने को तैयार हूँ।"

इधर शास्त्री जी वाली कोठी में सुरक्षामन्त्रालय की ओर से युद्ध-कौशल-शिक्षा का एक स्कूल स्थापित किया गया। उसे जल्दी ही घबरा कर अपना बिस्तर गोल करना पड़ा क्योंकि शास्त्री जी के कमरे के दर्शनार्थ भक्त-जनों का ताँता लगा रहता था। किसी और मन्त्री अथवा पदाधिकारी की भी हिम्मत वहाँ आ कर रहने की न हुई। आखिर, दिसम्बर '६७ में १० जनपथ का आधा भाग श्रीमती शास्त्री को रहने के लिए दे दिया गया। इस तरह उस मकान की दो साल से लटकी हुई समस्या सुलझी। यह बात अलग है कि उस का बाक़ी भाग आज तक खाली पड़ा है।

● केन्द्र बिन्दु : तीन-मूर्त्ति-मार्ग

१९६८ में तीन-मूर्त्ति-मार्ग की चर्चा फिर से गरमायी! इस बार वह जबानी-खाते से हट कर दो खतों के रूप में उभरी। ये दोनों पत्र संयुक्त-समाजवादी दल के

दो दिग्गजों—मधुलिमये और जॉर्ज फ़र्नाण्डीज़-द्वारा प्रेषित किये गये। मधुलिमये ने श्रीमती गान्धी से पूछा कि "क्या ज़रूरी है कि भारतीय प्रधान-मन्त्री का निवास तीन-मूर्ति-जैसा वैभवशाली ही हो? जिस देश की प्रतिव्यक्ति औसत आय विश्व-भर में सब से कम हो क्या वहाँ सरकारी स्तर पर दिखावा, शानो-शौक़त और फ़िज़ूलखर्ची का दम नहीं घोट देना चाहिए?"

फ़र्नाण्डीज़ ने जोश-भरी धमकी दी कि "जिस तीन-मूर्ति में कभी अँगरेज़ कमाण्डर-इन-चीफ़ रहा करता था उस में जाने की हिम्मत अगर श्रीमती गान्धी ने की तो उन-जैसे व्यक्ति इस का 'शारीरिक' विरोध करेंगे। यह कोठी पहले ही लाखों रुपये खा चुकी है और लाखों ही रुपये इसे नेहरू-स्मारक बनाने में और खप चुके हैं।"

नये साल, १९६९ के साथ एक नयी बात सामने आयी—प्रधान-मन्त्री के लिए कुल ३० लाख रुपये से, एक मध्यम-स्तर का भवन बनाने की बात! तीन-मूर्ति की बात बार-बार उठी और गिरी। लेकिन आखिरकार नेहरू-स्मारक कॅमेटी ने यह बिलकुल ही रद्द कर दिया कि इसे प्रधान-मन्त्री-भवन बनाया जाये। अब केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल को भी एक ओर से बिलकुल ध्यान हटा लेना पड़ा।

सन्तुलित-बजट के तीस-लखा मकान की योजना, जिसे विलिंग्टन क्रिसेण्ट में बनाने का विचार किया जा रहा था—वास्तव में नेहरू के सामने ही अंकुरित हो चुकी थी। उन्होंने एक बार छोटे मकान में जाने की इच्छा प्रकट की थी और कहा था कि तीन-मूर्ति भवन उन के लिए बहुत बड़ा है। उस समय भी एक इस प्रकार की योजना तैयार की गयी थी किन्तु फिर उसे भी ऊँची लागत के कारण त्याग देना पड़ा था।

● स्थायी भवन : सन्तुलित भवन

अब १९६९ के आरम्भ में पता चला कि प्रधान-मन्त्री के लिए स्थायी-स्थान की व्यवस्था स्थायी-योजना बन कर सामने प्रस्तुत है। यह भवन राष्ट्रपति-एस्टेट में ही बनाया जायेगा और सम्भवतः मार्च '७० तक तैयार हो जायेगा। सम्पूर्ण योजना तीन साल में कार्यान्वित हो पायेगी। सरकारी प्रवक्ताओं के अनुसार यह एक सामान्य स्तर का भवन होगा जिस की लागत वैसे तो तीस लाख से ऊपर बैठेगी लेकिन कुल खर्च की तफ़सील इस प्रकार की गयी है : अतिथि-गृह, मन्त्रिमण्डल की बैठकों के कमरे, सुरक्षा और निजी कर्मचारियों के लिए स्थान, प्रधान-मन्त्री का सचिवालय—अट्ठारह लाख में बनेगा और प्रधान-मन्त्री का व्यक्तिगत निवास-स्थान कुल पाँच लाख में तैयार हो जायेगा। प्रधान-मन्त्री-सचिवालय के उच्च पदाधिकारियों के मकानों की लागत का

अन्दाज़ा इस के अतिरिक्त होगा। इस निर्माण के लिए बीस हज़ार वर्ग-फ़ुट लिया जायेगा।

तत्काल संयुक्त समाजवादी दल ने विरोध का झण्डा उठाया ! मधुलिमये की लगातार रोक-टोक के बीच श्रीमती गान्धी ने दोषारोपण का खण्डन किया और कहा कि सं० स० पा० को छोड़ कर सभी राजनीतिक दल इस बात पर एकमत हैं कि उन्हें एक बेहतर मकान में चले जाना चाहिए, एक ऐसे मकान में जो सारे आने वाले प्रधान-मन्त्रियों का निवास बन सके।

● जैसे उन के दिन फिरे

यह समाचार दिल बढ़ाने वाला है। और दिल तो, वास्तव में, इस बात से भी बढ़ जाता है कि आये दिन प्रधान-मन्त्री के लिए नये मकानों की सूची का सिलसिला बन्द होता दिखाई देता है। वह सिलसिला जिस में कभी जयपुर हाउस, तो कभी हैदराबाद हाउस या फिर दरभंगा हाउस हमारी नज़रों के सामने घूमते-फिरते रहे। देश के प्रधान-मन्त्री का एक गौरव है, उस की रक्षा होनी चाहिए; किन्तु देश के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ हैं—उन से इनकार नहीं किया जा सकता। तसल्ली यही है कि अन्त भला सो सब भला ! सुबह का भूला शाम को घर तो लौटा ! अब उम्मीद यही करें कि जैसे प्रधान-मन्त्री के निवास की समस्या का हल निकला वैसे ही देश के समस्त नागरिकों के निवास की समस्या का भी समाधान हो ही जायेगा ! ■ ■

●युग

सा हि त्या र्च न
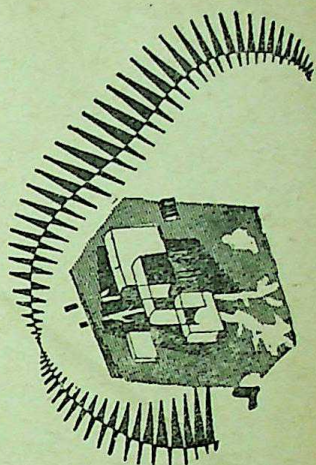
•युगद्रष्टा भगत सिंह[1]

यह सचमुच एक दुःखद स्थिति है कि देश की स्वतन्त्रता के इतने समय बाद भी सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों और उस से सम्बन्धित व्यक्तियों को ले कर प्रामाणिक और स्तरीय ग्रन्थों की संख्या नहीं के बराबर ही है। सशस्त्र क्रान्ति के इन प्रयत्नों का इतिहास-लेखन, जो थोड़ा-बहुत हुआ भी है, वह इतिहास की अपेक्षा संस्मरणों के ही अधिक निकट जान पड़ता है क्योंकि उस क्रान्ति-धारा के अवशिष्ट कार्य-कर्ताओं के द्वारा ही वह किया गया है। उन संस्मरणों में भी यदि आत्मालोचन की प्रवृत्ति और वैज्ञानिक तटस्थता विद्यमान रह सकी है तो यह उन की अतिरिक्त उपलब्धि ही मानी जानी चाहिए।

सुश्री वीरेन्द्र सिन्धु की पुस्तक 'युगद्रष्टा भगत सिंह और उन के मृत्युंजय पुरखे' पहली बार इतने विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डालती है। भगत सिंह के ही परिवार की एक महिला होने के नाते ऐसी किसी भी पुस्तक के अभाव की चेतना और उस के लिए अपेक्षित

१. युगद्रष्टा भगत सिंह और उन के मृत्युंजय पुरखे : वीरेन्द्र सिन्धु; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन; मूल्य १५.०० ।

प्रामाणिक सामग्री के संग्रह और आकलन की सुविधा—दोनों ही उन के लिए बड़ी स्वाभाविक बातें थीं। यह देख कर प्रसन्नता होती है कि बड़े परिश्रम और मनोयोग से लेखिका ने इस कार्य को सम्पन्न करने की कोशिश की है।

जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से ही साफ़ है यह केवल भगत सिंह के विषय में ही न हो कर उन के पूर्वजों के क्रान्ति-कृतित्व पर भी प्रकाश डालती है। भगत सिंह के बाबा सरदार अर्जुन सिंह से निःसृत यह क्रान्तिधारा भगत सिंह तक पहुँचते-पहुँचते कितना विशाल और वेगकारी रूप धारण कर लेती है, आर्य समाज के मुख्यतः सुधारवादी प्रयत्नों से शुरू हो कर वह किस प्रकार ब्रिटिश-साम्राज्य को ही समूल नष्ट करने के लिए कृत-संकल्प हो उठती है, इस का बड़ा रोचक, प्रामाणिक और प्रेरणाप्रद वर्णन इस पुस्तक में हो सका है। वैसे पुस्तक में किसी प्रकार का कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है लेकिन उसे देख-कर उस के तीन खण्ड अलग ही दिखाई देते हैं। पहले खण्ड में सरदार अर्जुनसिंह, भगत-सिंह के पिता सरदार किशन सिंह एवं उन के भाइयों—सरदार अजीत सिंह और सरदार स्वर्ण सिंह—आदि के विषय में प्रकाश पड़ता है। इस खण्ड की एक अतिरिक्त विशेषता यह भी है कि इन क्रान्ति साधकों के व्यक्तित्व के साथ ही उन की सहधर्मिणियों के व्यक्तित्व और मूक कष्ट-सहन की प्रवृत्ति पर पहली बार कोई ऐसा सुनियोजित प्रयास देखने को मिलता है और सम्भवतः लेखिका का स्वयं एक महिला होना ही उसे उस सम्पूर्ण दृश्य के प्रति यह कोण दे सका है। दूसरा खण्ड भगत सिंह के जीवन और कार्यकलापों से सम्बन्धित है। पुस्तक का तीसरा और अन्तिम खण्ड भी है तो भगतसिंह पर ही लेकिन किंचित् भिन्न रूप में—अर्थात् वह उन के विराट् व्यक्तित्व को विविध और विभिन्न कोणों से देखने का प्रयास है और इस प्रकार वह इतिहास की अपेक्षा मूल्यांकन के अधिक निकट ठहरता है।

जब कोई लेखक अपने लिए विषय का चुनाव करता है तो उस के उस चुनाव के कई कारण हो सकते हैं। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम से सम्बद्ध निकटवर्ती अतीत का वह कालखण्ड जो इस पुस्तक से सम्बन्धित है अब इतिहास का विषय है। केवल इसी लिए नहीं कि लेखिका स्वयं उसी वंश-परम्परा में आती है, और भी बहुत से कारणों से उस का दृष्टिकोण बड़ा श्रद्धास्पद और भावावेगपूर्ण रहा है। उन अन्य कारणों में सब से पहला तो यही है कि जिन हुतात्मा क्रान्तिसाधकों ने अपने लिए गौरवपूर्ण मरण का यह पथ चुना था उन का स्मरण सम्भवतः बिना भावुक हुए हो सकना कठिन था। लेकिन ऐसी किसी भी तरह की कोई भावुकता इतिहास के प्रति अपेक्षित वैज्ञानिक और तटस्थ दृष्टिकोण के विरोध में भी जा सकती है, बल्कि वही उस के लिए बड़ी स्वाभाविक स्थिति है, इस पुस्तक को पढ़ कर यह बड़ी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। अपनी इस भावाकुलता के कारण ही लेखिका इन क्रान्ति साधकों एवं उन की

सहधर्मिणियों को जब-तब पौराणिक आख्यानों और चरित्रों के समकक्ष रख कर उन्हें एक अलौकिक या इतर मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने के आग्रह से ग्रस्त रही है। सरदार अजीत सिंह की धर्मपत्नी हरनाम कौर की चर्चा करते समय वह उन्हें सीता, दमयन्ती और सावित्री की परम्परा में रखने लगती है। भगत सिंह को तो कई बार कृष्ण और जनता को गोपियाँ कहा गया है, इसे भगत सिंह के प्रति जनता के असाधारण आकर्षण का रूपक भी कहा जा सकता है, लेकिन जेल में भगत सिंह और शिव वर्मा की भेंट को राम और सीता की भेंट बताना और उस पर भावोच्छ्वासपूर्ण उद्गार प्रकट करने से प्रभाव बढ़ने के बजाय कम ही अधिक होता है क्योंकि यह श्रद्धा अपने मूल रूप में भावुकता के ही अधिक निकट ठहरती है। इन पौराणिक पात्रों और आख्यानों के प्रति लेखिका के अकारण आकर्षण का और भी बुरा प्रभाव तब पड़ता है जब सामान्य-सी जानकारी के स्तर पर भी वहाँ छिद्र नज़र आते हैं और इस का एक सब से रोचक उदाहरण यह है कि अभिमन्यु को द्रौपदी का पुत्र बताया गया है।

दरअसल, इतिहास के प्रति इस भावाकुल और अतटस्थ दृष्टिकोण की सीमा में ही इस ग्रन्थ की सीमाएँ भी बन गयी हैं। लेखिका की दृष्टि सर्वत्र ही त्याग, बलिदान और साधारण की अपेक्षा असाधारण की ओर अधिक रही है। सहज मानवीय दुर्बलताओं पर भी अपने को संकेन्द्रित कर के वह अपनी कृति को अपेक्षाकृत अधिक प्रखर एवं विश्वसनीय बना सकती थी लेकिन अपने ही निर्मित दृष्टिकोण की सीमाओं का अतिक्रमण कर सकना हमेशा उस के लिए सम्भव नहीं हो सका है। भगत सिंह के पिता सरदार किशन सिंह की चर्चा में इसे विशेष रूप से देखा जा सकता है। एकाध स्थल पर पिता की ममतावश आयी दुर्बलता के संकेत लेखिका की ओर से मिलते अवश्य हैं, लेकिन कुल मिला कर लेखिका उन के चरित्र की सहज मानवीय दुर्बलताओं को, जिन के कारण वह और भी अधिक श्रद्धा के पात्र ठहरते हैं, ढँकने की कोशिश ही अधिक करती है। यशपाल ने अपने संस्मरणों 'सिंहावलोकन' में जो आत्मालोचनापूर्ण और विश्लेषणपरक दृष्टि अपनायी है, ऐसी कृतियों के लिए वही एक वैज्ञानिक और सही दृष्टि हो सकती है। उस में प्रसंगवश सरदार किशन सिंह की चर्चा भी आयी है। उस में उन को ममता और त्याग के तानों-बानों से बुनी तसवीर अपेक्षाकृत अधिक सहज और विश्वसनीय बन पड़ी है। उन संस्मरणों के लिखने में यशपाल ने भी भगत सिंह के भाई सरदार कुलबीर सिंह आदि से सहायता ली थी और सरदार किशन सिंह के ही जीवन काल में उन का प्रकाशन उन की प्रामाणिकता के प्रति एक आश्वस्ति का भाव पैदा करता है। उस में इस प्रसंग की विस्तृत चर्चा की गयी है कि भगत सिंह को बचाने के लिए सरदार किशन सिंह ने वाइसराय से 'मर्सी-अपील' की थी जिस से खिन्न हो कर भगत सिंह ने

कहा था 'My tather has stabled me in the back.....' यूँ भी भगत सिंह के कार्यकलापों से उन्हें खिन्नता ही अधिक थी क्योंकि उन के अपने भाइयों के उदाहरण उन के सामने थे और वह स्वाभाविक रूप से यह चाहते थे कि वह घर-गृहस्थी के काम में लगें। सरदार किशन सिंह के प्रति लेखिका के अकारण और अतिरिक्त मोह का पता इस से भी लगता है कि सरदार किशन सिंह ने इस आशय का एक प्रार्थनापत्र वाइसराय को दिया था कि साण्डर्स की हत्या के समय भगत सिंह लाहौर में न हो कर कलकत्ता में थे। उस तारीख को उन्होंने एक पत्र लाहौर के श्री रामलाल को लिखा था जो उन्हें डाक से डिलीवर भी हुआ था और उस के आधार पर उन्होंने यह प्रमाणित करने की कोशिश की थी कि साण्डर्स हत्याकाण्ड में भगत सिंह को ग़लत फँसाया गया है। लेकिन लेखिका ने इस की कोई चर्चा नहीं की कि जब भगत सिंह लाहौर में थे, साण्डर्स हत्याकाण्ड में उन्होंने प्रमुख भूमिका अदा की थी, तो कलकत्ता से वैसा कोई पत्र रामलाल के पास कहाँ से आया? वह तो सरकार ने उन की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया नहीं तो सरदार किशन सिंह के अनुरोध पर रामलाल और उस कथित पत्र को अदालत में तलब किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में यह निश्चित है कि वह महज़ हवाई तीर-भर नहीं था। लेकिन फिर सवाल यह है कि आखिर वह पत्र आया कैसे और कहाँ से? यदि वह पत्र भगत सिंह से ही मिलते-जुलते लेख में किसी और से लिखवाया गया था तो उस पर कलकत्ता और लाहौर की मुहरों का सवाल उठता है और क्या वह सरकार को इतना मूर्ख समझते थे कि वह यूँ ही उस लेख को भगत सिंह का लेख समझ लेती? एक शंका यह भी उठ सकती है कि बाद को भगत सिंह से ही उन्होंने ऐसा कोई पत्र लिखवा लिया हो लेकिन इस से उन के महान् व्यक्तित्व के प्रति अपनी क्षुद्रता ही अधिक व्यक्त होती है।...कुछ भी हो, यह एक ऐसा प्रसंग था जिस पर और अधिक प्रकाश और स्पष्ट चर्चा अपेक्षित थी।

इस अतिरिक्त श्रद्धा का एक दिलचस्प उदाहरण भगत सिंह के सिलसिले में भी दिया जा सकता है। लेखिका ने उन्हें भारत में समाजवाद का प्रथम उद्घोषक कहा है, लेनिन के समकक्ष ठहराया है। उस की इन स्थापनाओं में विरोध की गुंजायश नहीं है। लेकिन आतंकवाद से समाजवाद तक की इस यात्रा के पथिक अकेले भगत सिंह ही नहीं थे, उन के आस-पास उभरता हुआ उन के साथियों का एक पूरा वर्ग था—भले ही उन में उन्नीस-बीस का अन्तर रहा हो। जैसा कि शिव वर्मा ने लिखा है, "भगत सिंह की महानता इस में थी कि वे अपने समय के दूसरे लोगों के मुक़ाबले राजनैतिक तथा सैद्धान्तिक सूझ-बूझ में काफ़ी आगे थे..." (पृ० सं० २३६) रुचि और मानसिक विकास के कारण भगत सिंह बहुत तेज़ी से उधर बढ़े और पंजाब के ही कुछ लोग अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते रूस जा कर वहाँ से क्रान्ति और समाजवादी विचारधारा

से सम्बन्धित सामग्री ले आये थे, इस का भी स्वाभाविक असर भगत सिंह पर पड़ा। और फिर इस में तो कोई शक ही नहीं कि राज-नैतिक दृष्टि से भगत सिंह एक असाधारण सूझ और जागरूकता के स्वामी थे।

कलकत्ता-कांग्रेस के अवसर पर उन की चिन्तन-धाराऔर अपने बलिदान के प्रति ऐसी तलस्पर्शी अन्तर्दृष्टि ही उन्हें निस्सन्देह युगद्रष्टा बनाती है लेकिन उन के प्रति किसी भी प्रकार का अतिरिक्त मोह उन के कृतित्व को धूमिल ही कर सकता है अन्यथा वह अपनी सहजता और साधारण से असाधारण की ओर अपनी मानवीय यात्रा में ही महिमान्वित हैं। इस अतिरिक्त भावुक श्रद्धा का ही एक उदाहरण यह है कि लेखिका ने स्थापित किया है कि ट्रिब्यूनल के फ़ैसले के बाद फाँसी की सज़ा पा जाने पर भी भगत सिंह क्रान्ति-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को और भी दृढ़ बनाना चाहते थे और पत्र लिख कर उन्होंने बहुत-सी पुस्तकें बाहर से मँगवायी थीं। निस्सन्देह भगत सिंह अन्तिम समय तक पढ़ते रहे, फाँसी से एक दिन पूर्व उन्होंने लेनिन की जीवनी मँगवायी थी जो अन्तिम समय तक उन के साथ रही लेकिन उस पत्र का हवाला दे कर क्रान्ति-विषयक साहित्य में उन की क्रमशः बढ़ती रुचि की बात कहने का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि वह पत्र २४-७-'३० को लिखा गया है जब कि ट्रिब्यूनल का फ़ैसला ७-१०-'३० को हुआ था। फाँसी के आदेश के बाद भी भगत सिंह के पढ़ते रहने की रुचि पर विशेष बल दे कर लेखिका उन की अभिरुचियों एवं कार्य-कलापों के वास्तविक मूल्यांकन से बच कर अतिरिक्त श्रद्धा का भाव अपना कर भगत सिंह की महानता की अपेक्षा अपनी सीमाओं का उद्घोष ही अधिक करती है।

लेकिन लेखिका के दृष्टिकोण सम्बन्धी सीमाओं की इस चर्चा के आधार पर पुस्तक के वास्तविक महत्त्व का अवमूल्यन कोई अर्थ नहीं रखता है। भगत सिंह की क्रान्ति और समाजवाद-सम्बन्धी विचारधारा की चर्चा लेखिका ने बड़े मनोयोग से की है। भगत सिंह की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए उसे बहुधा ही देश के तथाकथित कर्णधारों के विचारों और कार्यों का विरोध भी करना पड़ा है। यह सचमुच ख़ुशी की बात है कि हमेशा ही बड़ी दृढ़ता और निर्भीकता से वह ऐसा कर सकी है। और इसे ले कर तो कोई दो राय हो ही नहीं सकतीं कि भगत सिंह और उन के पुरखों के गौरवपूर्ण क्रान्तिकृतित्व को ले कर हिन्दी में पहली बार इतनी विस्तृत और प्रामाणिक चर्चा हुई है। और शायद इस से भी सभी सहमत हों कि आज की परिस्थितियों में ऐसी किसी चर्चा का अति-रिक्त महत्त्व और अनिवार्यता भी है।

—मधुरेश

• 'आख़िरी चट्टान तक' के लेखक को—पाठक का एक पत्र[1]

आदरणीय बन्धु !

आप कन्याकुमारी की आखिरी चट्टान तक अपने बेकारी के दिनों में अपने 'वाण्डर लस्ट' को तृप्त करने गये और शायद ९.४० की बस से काकानोर लौट भी आये किन्तु खोजने पर भी हम उस लस्ट की दुर्दमनीय यायावरीयता को नहीं पा सके। लस्ट से हम जिस तीव्र उन्मथन का परिचय पाने के आदी हैं और जिस के लिए आप वृत्ति शब्द को ठीक वही अर्थ देने वाला नहीं पाते कुछ वही तो आप के इस यात्रावर्णन से मिला। यायावरी वृत्ति नहीं तो और क्या है ? नौकरी छोड़ने के बाद के दिनों के उपयोग के लिए आप ने बम्बई होते हुए गोआ और वहाँ से कन्याकुमारी की यात्रा का कार्यक्रम बनाया और इन तीन बिन्दुओं के बीच की यात्रा-रेखा को किसी अच्छे उपन्यास के चरित्रों की खुद-ब-खुद गतिशील और पूरी होने की प्रक्रिया में पूरा होने को छोड़ दिया। जिस रूप में आप ने यात्रा की उस में जितनी शान्ति, जितना ताटस्थ्य और जितनी अनासक्ति का परिचय आप ने दिया उसे क्या 'लस्ट' की संज्ञा दी जा सकेगी ? शायद आप कहना चाहें कि 'अन्दर से बार-बार ऐसे चित्रों को खोज लाने' के लिए 'मन की भटकन' को और क्या कहेंगे। प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही हुआ किन्तु कभी-कभी प्रश्नों की शृंखला ही उत्तरों को संजोये रहती है और मैं फिर से पूछना चाहूँगा कि 'मन की भटकन' को भी लस्ट क्यों कहेंगे और यायावरी वृत्ति क्यों नहीं कहेंगे ? भटकन अनिवार्यतः कहाँ किसी तीव्र उन्मथन का परिणाम है ? अनजानी राहों, अजाने दृश्यों, अनजाने लोगों तक पहुँचने की आकांक्षा और बग़ैर किसी भारी टीम-टाम के उस पर चल देने और चलते होने की सहज-सरल स्थिति और ऐसी ही कितनी स्थितियों की एक माला—यही तो है आप की यात्रा बन्धु ! 'लस्ट' हो अथवा वृत्ति : आप बड़ी सावधानी से उस तीव्रता

---

१. आख़िरी चट्टान तक : मोहन राकेश; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन; मूल्य ३.०० ।

[क]ो बचा गये जहाँ से यह पूरा आलेख गये युग की अनावश्यक 'सञ्जेक्टिविटी' से भर गया होता"""और उस तीव्रता के अभाव में ये सारी स्थितियाँ अपनी अलग-अलग पहचानों के साथ किसी तेज फ़ुटलाइट की चौंधिया देने वाली रोशनी में दप्-दप् न हो कर साइट-लाइट की चँदोली रोशनियों में अन्ततः दो समानान्तर यात्राओं को प्रत्यक्ष करती हैं : एक अन्दर की दूसरी बाहर की""" लेकिन जो बहुमूल्य 'इम्प्रेशन' बचता है वह अन्दर की यात्रा का।

आप ने कथा कहने वाली सभी गद्य-विधाओं को अपनी विशिष्ट प्रतिभा से गौरव दिया है और अपनी एक विशिष्ट 'आइडेण्टिटी' बनाने में समर्थ हुए हैं। इस पर से यदि मैं आप से पूछूँ कि क्या यह यात्रा-वर्णन आप के कहानीकार और उपन्यासकार की समवेत रूप से सँवारी हुई कृति-चेष्टा है तो आप क्या कहेंगे ? आप जो भी कहें किन्तु आप ने यात्रा को न तो रूढ़ अर्थों में लिया है न रूढ़ अर्थों में किया है और इसी लिए न रूढ़ तरीक़ों से उसे लिखा है। जहाँ बहुतेरे नये अनुभवों की सम्भावना हो उसे भला विवरण अथवा वर्णन-जैसे असाहित्यिक-इतिवृत्तात्मक नामों से पुकारा भी कैसे जा सकेगा ! और आप का यह 'ट्रैवेलॉग' क़तई न तो वर्णन करता है न ही विवरण देता है। तो फिर करता क्या है ? क्या चित्रांकन ? सिर्फ़ चित्रांकन ? नहीं (हालाँकि कोई चितेरा चाहे तो इस के चित्रांकनों से ही अनेक छवियाँ उरेह सकता है)। क्या कथात्मक रेखांकन ? एकदम यही नहीं (हालाँकि इस में आने वाले अब्दुलजब्बार पठान, हुसेनी, पंजाबी भाई, भास्कर कुरूप जैसे कई व्यक्तियों के अनेक कथात्मक रेखांकन भी प्राप्त हो सकते हैं)। और इसे उपन्यास कहने पर तो शायद आप चिढ़ें भी। हालांकि इस खतरे को उठा कर भी मैं इसे औपन्यासिक रेखांकन कहना चाहूँगा इस पाबन्दी के साथ कि इस में यायावर वृत्ति की एकतानता ही हर-कुछ को एकसूत्रित करती है—इस से अधिक कुछ इस से न चाहा जाये। मैं आशा करता हूँ कि आप अपनी सहज-सरल यात्रा को फ़ॉर्म के पचड़े में उलझाने से निश्चय ही परेशान होंगे।

जो भी हो, बन्धु ! यह कई स्तरों पर कई आयामों को बड़े ही सार्थक स्पर्श और सब मिला कर एक सुखद समग्रता का आभास देती है। इस में नारियल के वनों, पान, काजू के इक्के-दुक्के पेड़ों, चाय-कॉफ़ी-धान के खेतों, समुद्र की सोने-चाँदी की मछलियों, चप्पुओं से बनती लहरों के लचकते हुए साँपों, पश्चिमी समुद्रतट के काकानोर और अन्य कई जगहों के 'बीच' की रेती पर सिर पटकती हुई समुद्र की लहरों, कन्याकुमारी के पूरे क्षितिज को देखने में व्यस्त एक सैण्डहिल से दूसरे सैण्डहिल पर जाते हुए पूरे सूर्यास्त के दर्शन और काली घटाओं और लाल आँधियों के मिश्रण से बने क़िस्म-क़िस्म के रंगों के बालुकाकणों का साक्षात्कार है; बम्बई, पंजिम, कनानोर, कालीकट जैसे बड़े-बड़े स्थानों के व्यापारिक—राजनीतिक

केन्द्रों से हट-बढ़ कर तेल्लीचेरी, चुन्देल, भिचूर, ओल्डगोआ के सौ साल के ग़ुलामों के जीवन के बिखरे केन्द्रों का प्रायः उदास कर देने वाला परिचय भी हैं; दक्षिण के वडक्कुनाथन, परमशिवम् के मन्दिरों की शोभा, आतिथ्य और दर्शन-रीतियों का आलेखन है तो मलबार के ओणम्, विशु, महाशिवरात्रि के त्योहारों का आलेखन भी। आखिर बात क्या है बन्धु! क्या आप को शहरों में रोकने लायक़ कुछ नहीं मिला? क्या बग़ल में ही त्रिवेन्द्रम् तक आप नहीं जा सके? आप बम्बई में भी एकाध दिन ही रुके, पूना के स्टेशन से भी आगे नहीं बढ़े, मार्मुगाँव, वास्को, पंज़िम आप रुके ही कहाँ? ख़ैर यायावर रुकने के लिए चलता ही कहाँ है? आप बुरा तो नहीं मानेंगे यदि कहूँ कि आप का वास्को के कारवाड़कर, ओल्डगोआ के नारियल के वनों में मिले ईसाई पादरी के सेवक, मूर्त्तियों के व्यापारी, स्टीमर कैण्टीन में मिले हुसेनी और मंगलूर में उस के साथ बिताये गये अछूते अनुभव संसक्त दिन, चोइस में उच्च कहे जाने वाले ईसाई और सेवाय में पंजाबी भाई के छलपूर्ण स्वार्थ पर स्वभाव से ऊब में बिताये गये समय, तेल्लीचेरी के गाँव-मन्दिर, रिक्शे वाले और स्टेशन के बेकार युवकों, चुन्देल के चाय और कॉफ़ी के बग़ानों के बीच मिल गये मज़दूर गाईड, त्रिचूर में अन्धविश्वासों में सुरक्षा खोजने वाला सन्तोषी और उदार युवक श्रीधरन, अर्णाकुलम् कोचिन के पुराने महल मरनचरी के गाईड, चित्रकला के छात्र भास्कर कुरुप, अर्णाकुलम् में भिखमंगों, अलप्पी में लड़के-लड़कियों, कोवलम में ज़मींदार के अत्याचार से पीड़ित लोगों की ज़बान बन गया व्यक्ति आदि ऐसे ही लोगों और स्थितियों को अपने-आप को सौंप देने की वृत्ति और तमाम बड़ी जगहों, सम्पन्न लोगों के प्रति एक उपेक्षापूर्ण उदासीनता आप को उन लोगों से सर्वथा भिन्न कर देती है जो 'मेन्यू' के अनुसार खाना खाते हैं, 'प्रोग्राम' के अनुसार चलते हैं, पूर्वनिर्धारित गाईडों के स्वागत-मुसकानों और परिचय-वृत्तान्तों के साथ घूमते-फिरते हैं और किसी किताबी या सूचना-विभागीय परिचय को दुहरा कर, दूसरों की पसन्द ओढ़ कर वापस लौट आते हैं या शायद जिन की कोई अपनी पसन्द होती ही नहीं। ऐसे भी लोग होते हैं जो जहाँ जाते हैं वहां के बड़े लोगों से मिलते हैं, मशहूर चीज़ों को देखते हैं और लौट आते हैं। गोया शीर्षकों को देखते हैं और उन के पीछे के महत्त्वपूर्ण कथ्य को छोड़ आते हैं।

आप की संवेदनशीलता की तारीफ़ करूँगा, बन्धु! कि आप ने पश्चिमी तट के उस जीवन को जिया जो बेकारी, आत्महत्या, पेट के लिए तन के रोज़गार की विवशता, ज़मींदारों के अत्याचार में आज भी ऊभचूभ हो रही है, जहाँ शिक्षा तो है लेकिन भिक्षा तक नहीं है, जो सीपियों का गूदा खाती है और बहसें करती है। यह संवेदनशीलता जो उपेक्षित जनसमूह और अनदेखी स्थितियों को देखती और दिखाती है क्या यथार्थबोध की स्वस्थतम परिणति नहीं है।

'एक बूँद सहसा उछली' में अज्ञेय जी ने पाठकों से निवेदन किया है कि "मेरा पाठक संवेदनशील हो, यह मैं उस से चाहता हूँ क्योंकि बिना इस के वह उसे नहीं अपना सकता जो मेरी संवेदना ने ग्रहण किया।" जो अज्ञेय के यायावर की लेखन-प्रक्रिया है हू-ब-हू वही आप की, यह मेरा कहना नहीं है। मैं तो सिर्फ़ पूरा ज़ोर उस संवेदनशीलता पर दे रहा हूँ जिस से कोई स्थिति लेखकीय स्तर पर ग्रहण की और दी जाती है और पाठकीय स्तर पर पायी जाती है। और उस संवेदनशीलता का इस यात्रा-वर्णन में तो क्या क़रीब-क़रीब आप के पूरे लेखन में कहीं अभाव नहीं है। यह आप से कहने की बात नहीं है बल्कि आप के बारे में औरों से कहने की बात है कि आप हिन्दी के उन आन्दोलन-धर्मी, फ़ैशनपरस्त कथा-कहानीकारों से बहुत अधिक भिन्न गहरी और यथार्थ जीवन-स्थितियों के द्रष्टा हैं; और यह अपने-आप में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। आचार्य वाजपेयी ने एक स्थान पर 'कृत्रिम अनुभूति' की चर्चा की है, मैं उसे 'ओढ़ी हुई अनुभूति' कहूँगा। क्या आज की आधुनिकता के सम्प्रेषण की दावेदार बहुतेरी कहानियों में ऐसा कुछ आप ने नहीं अनुभव किया है ?

सच कहूँ बन्धु। मैं बहुत कम घूमा हूँ। मियाँ की दौड़ मसजिद तक। बनारस पढ़ा, उस से चालीस मील के फ़ासले पर मुसलमानी शासन के ज़माने के उखड़े-टूटे खण्डहरों को अपनी छाती से चिपकाये नगर ग़ाज़ीपुर में वहीं नौकरी कर रहा हूँ जिसे शिमला में आप ने छोड़ दिया था। घूमने का कम अवसर मिला है लेकिन इतना कहूँगा कि आप का घूमना सचमुच का घूमना रहा है। मुझे पता नहीं कि आप ने कोई कैमरा साथ लिया था या नहीं। लिखते तो आप यही हैं कि आप किसी थोड़े-से भी भरोसे की जगह बिस्तर-सामान छोड़ कर जेब में हाथ डाले चल देते थे। फिर कैमरा कहाँ ? लेकिन जिन छवियों को आप ने उरेहा है वह बोल रही हैं और बुला रही हैं। बन्धु ज़रूर जाऊँगा कभी-न-कभी। इन को आप ने चटक रंग नहीं दिये हैं बहुत अच्छा किया है। तूलिका की दो-चार रेखाओं के द्वारा आकृति को एक विशेष मुद्रा दे देने की तरह आप ने उन्हें जो संश्लिष्ट-सम्प्रेषण दिया है वह कई मानों में अनकहे को कह कर भी अनकहा रह जाता है। उस का रस कभी चुकने को नहीं है। एक बात मुझे गहरे छू गयी और उस का मैं उपकार मानूँगा। सौन्दर्य-शास्त्र की बहुतेरी चर्चा करने वालों ने ध्वनि, रंग, गन्ध आदि बोधों की चर्चा की है किन्तु उन को पहचान बताने वाले कम ही हुए हैं। 'आख़िरी चट्टान' चाहे जितनी कड़ी हो लेकिन च्वि-च्वीयु, च्वि-च्वीयु की ध्वनि मैं ने भी सुनी है लेकिन हू-ब-हू उसे सही अक्षर देना आप के ही वश का रहा है। अलेप्पी के बैंकवाटर्स के 'बतखों के देश', 'पंखों की जाली' और 'रूई के फूलों के देश' का अनुभव और वर्णन कितना नायाब है। यही नहीं—पानी के रंग, बादलों के रंग, मछलियों के रंग, मिट्टी के रंग, बालू के रंग, आँधियों के रंग, पेड़ों के रंग, खेतों के रंग,

चाय की प्याली का रंग और साड़ियों और कपड़ों के रंग—जाने कितने रंग लेकिन रंगों का हुजूम नहीं, रंगारंग कुछ भी नहीं। सभी रंगों की अपनी पहचान है और अपनी संस्कृति ठीक वैसे ही जैसे अर्णाकुलम् के पास आवली गाँव की गलियों से गुजरते हुए आप को हर घर की पृथक् संस्कृति का बोध हुआ था। गन्ध को कहना सब से कठिन है लेकिन उसे भी आप यों कह गये हैं जैसे कोई बड़ी बात न हो। लकड़ी की गन्ध, धुएँ की गन्ध, मछली की गन्ध और भी कई तरह की गन्धों ने पश्चिमी तट की महक यहाँ तक पहुँचा दी।

और अन्त में मैं कहूँगा कि आप ने अच्छा किया कि हर हुजूम से भागते हुए भी—विपरीत के आकर्षण से मन्त्रविद्ध और अनिर्धारित-सा चलते हुए भी अपने घर की याद की चुभन कई जगह महसूस की। हुसेनी तो घर की याद की चुभन में डूबा एक उन्मथित और जीवन्त-चरित्र है ही। और घर की चुभन भी क्यों न हो—जहाँ यह तक कहने के लिए कि 'पानी बहुत ठण्डा था', 'नहा कर मजा आ गया' भाषाओं की अपरिचिति और भिन्नता बाधक हुई हो वहाँ की गुमसुम यात्रा आप के लिए समय-समय पर चाहे जितनी अखरने वाली रही हो किन्तु हमारे लिए तो विचित्र रोमांचक अनुभवों से भर गयी है।

'आखिरी चट्टान तक' के विभिन्न यात्रा शीर्षक यदि आप के मन में गड़ गयी अनुभवों की नोकों के इम्प्रेशनों के नाम कहे जायें तो आप को एतराज़ तो नहीं होगा? हिन्दी में यात्रावर्णन कम नहीं लिखे गये लेकिन उन में से ज़्यादातर को उस की वर्णनात्मकता चाट गयी है। राहुल, अज्ञेय, रघुवंश, राँगेय राघव कुछ ही नाम ऐसे लिये जा सकते हैं जिन्होंने यात्रा-वर्णन की मर्यादा में एक कृती-सृष्टि प्रस्तुत की है। सचमुच आप ने सामान्य में ही ऐसे असामान्य का सृजन किया है जिस के लिए आप को मैं बधाई देता हूँ।

आपका:

—जितेन्द्रनाथ पाठक

• दर्द के वृक्ष का फूल[१]

आज-जैसे पुस्तक प्रकाशन के भीड़-भाड़ वाले युग में जब कि साहित्य के नाम पर भारी-भरकम डील-डौल वाले 'उपन्यास' अपना रौब जमा जाते हैं, फ़ैशनपरस्त लड़कियों की तरह, अपने रूप पर इतराने वाली 'कविताएँ' विण्डो से झाँक कर सब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहती हैं, मजमा लगाने वालों की तरह गोष्ठी

१. 'प्रिया नीलकण्ठी' : कुबेरनाथ राय; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन; मूल्य ३.०० ।

से अधिक कवि-सम्मेलनों में भीड़ जुटती है, नाज़ुक मिज़ाज वाले 'गद्य-खण्डों' को कुश्ती वाला स्तम्भ आंख दिखा कर भगा देता है, और साहित्य में अगर 'साधना' की बात करो तो फ़िल्म वाली साधना की बात चलने लगती है। ऐसे समय में अगर 'निबन्ध' और विशेषकर 'ललित निबन्धों' के; साहित्यिक क्यू में खड़े-खड़े पांव पिराने लगें तो इस में क्या आश्चर्य ?

लेकिन कालम की कुर्सी पर बैठे अनेक व्यक्तियों के बीच भी यदि एक अकेला व्यक्ति बड़ा नज़र आये तो उस के अकेले कण्ठ की पुकार में सब को झकझोर देने की क्षमता होती है। श्री कुबेरनाथ राय ललित निबन्धों के क्षेत्र में एक ऐसे ही अकेले और दूर से पहचाने जाने वाले व्यक्ति हैं। किसी व्यक्ति की इस से बढ़ कर सफलता और क्या हो सकती है कि उस का नाम साहित्य की एक विशिष्ट विधा का प्रतीक बन कर सामने आये। ललित निबन्ध कहते ही जो नाम उभर कर सामने आता है वह है श्री कुबेरनाथ राय। ऐसे समय में जब कि ललित निबन्धों की धारा श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी तक आ कर रुकी-सी लगती थी उसे बरबस गति से आगे की ओर प्रवाहित करने का श्रेय श्री विद्यानिवास मिश्र, श्री ठाकुरप्रसाद सिंह, श्री विवेकी राय और श्री कुबेरनाथ राय को है।

श्री कुबेरनाथ राय से मेरा पहला परिचय 'सम्पाती के बेटे' के माध्यम से हुआ। बात यह हुई कि एक दिन मैं अपने गाँव की खिड़की में उदास बैठा 'माध्यम' के पन्ने उलट रहा था, इसी बीच मेरी दृष्टि श्री कुबेरनाथ राय के ललित निबन्ध 'सम्पाती के बेटे' पर पड़ी और उस ने मुझे ऐसे बाँधा कि समूचे दिन मेरा मन उसी में तैरता-उतराता रहा। और तभी मैं ने एक खत लिखा कि, "कौन हो तुम जो आसाम के जंगलों में बैठ कर भी, अपने गाँव की खिड़की में बैठे मेरे उदास मन को झकझोर जाने की क्षमता रखते हो, तुम कोई भी हो, मेरे मन का असीम प्यार स्वीकारो।"

और तुरन्त ही उन का पत्र आया, "यह पढ़ कर प्रसन्नता हुई कि 'सम्पाती के बेटे' आप को पसन्द आया। निबन्ध के नायक गृद्ध-दम्पति असमिया नहीं हैं—ये मेरे गाँव मतसा (गाज़ीपुर; उत्तर प्रदेश) के खलियान में स्थित एक पुराने पीपल पर निवास करते हैं। गत वर्ष की दुर्गापूजा के अवसर पर घर ही इस निबन्ध को लिखा था, ठीक एक वर्ष बाद प्रकाश में आया। आजकल बहुत कम हैं जो निबन्ध पढ़ते हैं। आप के पत्र से मुझे बहुत प्रेरणा मिली। निबन्धकार हो कर लोकप्रिय होना असम्भव है और फिर आज !"

अभी-अभी आप का जो पहला संग्रह सामने आया उस का नाम है, "प्रिया नीलकण्ठी"। पुस्तक के नाम के सम्बन्ध में आप का कहना है 'शिव तो नीलकण्ठ नाम से विख्यात हैं ही। मेरी कल्पना, मेरी प्रतिमा, भी विषपायी नीलकण्ठी है। दुःख के या उल्लास के भीतर ज़हर होता है। उस ज़हर

को यह खींच कर स्वयं श्यामकण्ठ हो जाती है, और धरती को जो कुछ देती है वह शुद्ध प्राण और रस रहता है।"

साहित्य का फूल भी दर्द के वृक्ष में ही फलता और फूलता आया है। वृद्ध की तरह साहित्यकार को भी तीन अवस्थाओं में से हो कर गुज़रना पड़ता है। सब से पहले उसे जड़ की तरह धरती में गहराई से प्रवेश कर वहाँ के अन्धकार, घुटन और पीड़ा को अकेले ही पीते हुए अपने लिए जीवन-सत्त्व प्राप्त करना होता है। फिर उसे टहनियों और पल्लवों की तरह समस्त दिशाओं से आत्म-सात् हो कर समष्टि से अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना होता है और इन दोनों अवस्थाओं से गुज़रने के बाद ही उस में रस से भरपूर फलों को तरह 'साहित्य' का दान करने की क्षमता आती है।

'प्रिया नीलकण्ठी' एक ऐसे ही व्यक्ति की कृति है जिस ने दर्द को छक कर पिया है फिर भी जिस का कहना है कि "मुझे स्वर्ण-पीत वासुकियों, नील-हरित करकोटकों और रक्त वर्ण तक्षकों से कुछ नहीं कहना है। मैं सहस्र-शीर्षा पुरुष हिन्दुस्थान को दशों नख जोड़ कर नमन करता हूँ। मुझे किसी भाई के श्रेय की पत्तल नहीं छीननी है क्योंकि न तो मैं कवि हूँ और न साहित्यकार। निबन्धकार की महत्त्वाकांक्षाएँ सीमित होती हैं।"

दर्द जितना गहरा होता है फूल उतना सुन्दर हो कर निखरता आता है। ज़रूरी नहीं कि फूल सदा वृक्ष के शिखर पर ही खिलें। वे वृक्ष के मन में भी खिलते आये हैं। उन्हें देखने के लिए मन की आँखें चाहिए। कुबेर-नाथ राय ने पुस्तक की भूमिका में एक ऐसा ही रूपक सँजोया है। उन्होंने लिखा है—

"एक बार काक, बक, और उल्लू के मन में विचार आया कि क्या गूलर का भी फूल होता है। किसी ने कहा नहीं, किसी ने कहा, होता तो है लेकिन वह आधी रात को खिलता है और अन्तर्ध्यान हो जाता है। तीनों ने सोचा कि क्यों नहीं रात-भर जाग कर सचाई का पता लगा लिया जाये।

तीनों की रात्रि-जागरण की बात सुन कर गूलर का मन उदास हो गया और उस ने नजदीक खड़े कटहल से कहा—'क्या बताऊँ भाई, ये लोग मेरा फूल देखने के लिए रात-भर जागेंगे लेकिन इन्हें कैसे समझाऊँ कि मुझ में फूल नहीं खिलते। मेरा शरीर तो फोड़ों की तरह स्वादहीन फलों से लदा है, रात-भर जाग कर भी इन्हें निराश होना पड़ेगा।"

कटहल ने कहा, 'दादा तुम तो धर्मात्मा हो। तुम्हारी छाया में पाण्डवों ने विश्राम किया, तुम्हारे अन्दर तो भगवान् का निवास बतलाते हैं। फिर तुम्हीं में फूल क्यों नहीं खिलते ?'

गूलर ने कहा—'इस को भी एक कथा है। तुम्हें तो मालूम ही होगा—एक बार हिरण्यकश्यप को मारने के लिए भगवान् ने नरसिंह अवतार लिया था। हिरण्यकश्यप का अपने नाख़ूनों से वध करने के कारण भगवान् के नाख़ूनों में भयंकर जलन होने लगी। जब यह जलन किसी उपाय से नहीं मिटी तो वे मेरे पास आये। भगवान् को अपने द्वार पर

खड़ा देख कर मेरा मन भर आया और मैं ने अपना शरीर उन के नखों की ज्वाला को शान्त करने के लिए उन्हें सौंप दिया। मेरे शरीर में अपने नखों को धसाने से उन की ज्वाला तो शान्त हो गयी परन्तु उस जलन को पी कर मेरा शरीर विषाक्त हो गया और उस में फोड़ों की तरह फलों के घाव उग आये। इसी से मेरे में फूल नहीं लगते।'

कटहल ने कहा—'दादा, तुम ने उस के विष को आत्मसात् किया है जिस के चरणों से गंगा निकली है। तुम्हारे मस्तक पर भले ही फूल न खिले लेकिन तुम्हारा हृदय ही स्वयं एक सुकोमल फूल है। वृक्षों के फूल तो देवता पर चढ़ते हैं लेकिन देवता स्वयं तुम्हारे हृदय पर न्योछावर होते आये हैं। इसी से तुम्हारे हृदय में देवताओं का वास माना गया है।"

सृजन चाहे शिशु का हो या विचार का, वह असीम पीड़ा में से ही जन्म लेता आया है। कहते हैं बुद्ध और महावीर को जिन क्षणों में ज्ञान की प्राप्ति हुई उन क्षणों में उन्हें मरणान्तक वेदना सहनी पड़ी थी। निर्वासिन और अकेलेपन में अन्तर है। आज का साहित्यकार अपने-आप को निर्वासित महसूस करता है, कारण, उस ने सृजन की एकान्तिक वेदना को नहीं सहा है। वह साहित्य-सृजन के लिए सजी हुई टेबल की माँग करता है, इसी से उस का साहित्य ड्राइंग-रूम की शोभा तो है, जीवन का अलंकार नहीं बन सका।

श्री राय के लिए साहित्य महज खाली समय के मन-बहलाव का साधन नहीं वरन् जीवन का महत्तम लक्ष्य है। जीवन के लिए श्रम और कला, दोनों चाहिए लेकिन इन में से पहले कौन हो यही प्रश्न है। श्री राय का कहना है कि "मेरी समझ में श्रम याने उत्पादक श्रम जीवन का साधन है और कला-पूर्ण जीवन उस का लक्ष्य है। जब लक्ष्य ही डूब जाता है तो न तो जीवन ही आवश्यक है और न उस का साधनस्वरूप उत्पादक श्रम। ललित कला, ललित चिन्तन, ललित कारीगरी और ललित व्यवहार याने समूची लालित्य-साधना जिस काव्य, कला, लोक-गीत, लोक-नृत्य, दर्शन, स्थापत्य आदि के रूप में अपने-अपने मानसिक स्तर और रुचि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति वरण करता है, इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है कि वह जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। जो लोग झटके से कह देते हैं, 'हटाओ, इस से क्या पेट भरेगा?' वे लोग बिना सोचे-समझे, बिना गम्भीरता से ऐसा कह देते हैं। मार्क्स उपयोगितावादी था, पर वह अपने को शेक्सपियर गेटे का प्रेमी घोषित कर चुका है। आज तक मनुष्य जाति के इतिहास में कोई भी ऐसा उपयोगितावादी पैदा नहीं हुआ जो लालित्य-साधना के मूल्य को अस्वीकार करे।"

श्री राय ने जीवन को पुस्तकों के माध्यम से नहीं, अपने चारों ओर फैली प्रकृति के माध्यम से देखा है। वे जीवन के ऐसे विराट् द्रष्टा रहे कि उन्होंने अपने अन्दर चारों युगों को एक साथ भोगा है। इसी से उन की वाणी से 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' बन कर उतरा है।

एक बार जब आप ने रामेश्वरम् में समुद्र के दर्शन किये तो उन्हें लगा—"एक दिन इसी समुद्र के तट पर एक हतभाग्य युवक, अपने से दुगने हतभाग्य भाई और वानर-मित्र के साथ इसी बालू तट पर खड़ा रहा होगा। एक ओर स्वर्णपुरी में अपनी सम्पूर्ण आसुरी शक्ति के साथ पवित्रता क़ैद, और बीच में समुद्र रास्ता रोके खड़ा हुआ है और तभी मेरे कानों में निराला की राम की शक्तिपूजा की पंक्तियाँ गूँज गयीं—

'वह रहा राम का एक हृदय, जो नहीं थका।'

वह राम का हृदय था जिस ने पराजय को कभी नहीं स्वीकारा। और मेरा मन चौदह वर्ष तक वन-वन में भटकने वाले अपने स्वामी के प्रति करुणा से नहीं, स्नेह से भर आया। आँखें भींग गयीं और लगा कि उत्साह से छाती और चौड़ी होती जा रही है। उसी क्षण मुझे याद आया—कलकत्ते में पन्द्रह रुपया प्रति घण्टे के हिसाब से तीन घण्टे सवेरे और पच्चीस रुपया प्रति घण्टे के हिसाब से दो घण्टे शाम को ट्यूशन कर के दिन में सिटी कॉलेज ज्वाइन करने वाला और प्रतिमास पैंतालिस रुपये अपने छोटे भाई और विधवा माँ को भेजने वाला बलिया जिले का दरिद्र विद्यार्थी जो अपने दुर्भाग्य-रूपी रावण के मुँह पर तड़ाक से तमाचा मारने को उद्यत है और पी-एच्० डी० का स्वप्न देख रहा है। जहाँ कहीं भी तेज है, दृढ़ता है, अपराजित हृदय है, पवित्रता और न्याय की रक्षा के लिए बाँहें धनुष चढ़ा रही हैं वहाँ मुझे शरसन्धान के लिये उद्धत उदात्त-शीर्ष त्रेता के दर्शन होते हैं।"

आगे चल कर साहित्यकार की सम्पाती से तुलना करते हुए आप ने लिखा है—"पैग़म्बर या साहित्यकार ऐसे सम्पाती हैं, जो पंखों के जल जाने पर भी हार नहीं मानते, पछताते नहीं। चारों ओर पराजय है, निराशा है, रिक्तता है, दुर्गन्ध है, फिर भी कोई पश्चात्ताप नहीं। संघर्ष का रथ आगे बढ़ेगा। यदि पथ नहीं मिलता तो अपने इस एकाकी अकेले रथ की लीक ही पथ है। कोई चिन्ता नहीं। कोई परवाह नहीं। भविष्य के अजन्मे मनु के लिए सर्वस्व समर्पण!"

श्री कुबेरनाथ राय उन गाँवों से आये हैं जहाँ की मिट्टी में आज भी सोंधी गन्ध व्याप्त है और जहाँ की धूप भी गुनगुनाती और वायु में रंगों के दर्शन किये जाते हैं। इसी से आप की रचनाओं में इन सब के स्वर, इन सब के रंग उतर आये हैं।

एक जगह आप ने लिखा है, "जब उतरती सन्ध्या के झुटपुटे में पीपल और आम की डालियों पर शोर मचाते हुए हरे सुग्गे, बगुले, कौवे और चिड़ियों के दल के दल उतरते हैं तो उन का सहगान ऐसा लगता है मानो पूरा पेड़ एक आर्केस्ट्रा बन गया हो।"

एक जगह अमूर्त हवा के रंगों का वर्णन करते हुए लिखा है "जेठ-वैशाख में हवा का रंग सुबह-सुबह ठण्डा सुनहला रहता है। दस बजे वह पीली पड़ने लगती है, बारह बजे

आग की लपट बन जाती है, एक बजे हवा की लपट एकदम सफ़ेद तप्त हो जाती है और भयंकर शाप की तरह, नग्न खेतों पर दौड़ती चली जाती है फिर सन्ध्या को बैंगनी-नीले रंग की शीतल हवा बयार बन कर बहने लगती है। ग्रीष्म में इतने रंगों की हवा, इतने रंग तो वसन्त के पास भी नहीं हैं।"

एक जगह फूलों का ज़िक्र करते हुए लिखा है, "हिन्दुस्थान में कुछ फूल बड़े ही दबंग और अक्खड़ प्रकृति के हैं, जैसे, 'धतूरा' और 'जवाकुसुम' मानो दिनकर की कविता हों, 'चम्पा', तपोरता उमा की तरह है, जिस के पास भ्रमर फटकने का साहस नहीं कर सकता। सफ़ेद 'कचनार' अज्ञेय जी के बुद्धिवादी प्यार का प्रतीक है। पारिजात सुमित्रानन्दन पन्त की कविता है और 'रसाल-मंजरी' प्रसाद जी का सौन्दर्यबोध। निराला की रस-दृष्टि 'पीली सरसों' का मुक्त विस्तार है। इसे अभिजात फूलों में सर्वथा अपांक्तेय रखा गया है। पर स्नेह का स्रोत, जिस से प्रकाश का जन्म होता है और प्राणों का पोषण होता है, धरती का श्रृंगार यही है!"

भोजन में यदि निरा मधुर ही मधुर रहे, तिक्तता नहीं हो, तो उस का स्वाद चला जाता है। श्री राय का लालित्य महज़ माधुर्य तक सीमित नहीं वरन् एक नये समाज की सृष्टि करने के लिए वे व्यंग्य की गहरी चुटकी काटने से भी नहीं चूके हैं। उन का कहना है कि "मैं निबन्ध की एक नयी दिशा की खोज में हूँ, 'ललित; उद्धत ललित'। और इस तरह एक जगह आप ने लिखा है—

"यह विधाता भी अजीब फक्कड़ है। रस सब को बाँट दिया। रुदन सब को बाँट दिया। मनुष्य रहता तो मुँह-देखी करता, भाव चढ़ा देता, काला-बाज़ारी चला देता। रातों-रात रस के पीपे और रुदन की बोरियाँ ग़ायब करा देता और शायद दिल्ली में भी रस और रुदन की वह सस्ताई नहीं होती जो आज है। लेकिन विधाता ऐसा क्यों करे—वह तो कवि है। कवि को अपनी प्रत्येक कृति में अपना ही प्राण-रस जलाना पड़ता है। चाहे वह राम हो या रावण हो, सभी के अन्दर उसी का प्राण पिघल कर संचरित हो रहा है।"

अन्त में आने वाले युग के नवीन देवता की चर्चा करते हुए आप ने लिखा है—

"आज तो देवता कवि है, प्रेमी है। उसे कवि सम्राट् और परम प्रियतम जीवन देवता मान कर उस से सहज सम्बन्ध स्थापित करना होगा। कवि से क्या माँगोगे। कवि से जा कर कहो—'हे कवि, मुझे एक बीड़ी दो अथवा मुझे भारतवर्ष का राजा बना दो, अथवा मेरा मुक़दमा जिता दो तो बेचारा कवि निरुत्तर मुँह ताकेगा या उठ कर चल देगा। कवि प्रकाश देता है, रस का आस्वादन कराता है। देवता से भी इसी की अपेक्षा करो, अधिक नहीं।"

देवता को सब से उपयुक्त उपासना होगी उस की सहज साधना। सहजता; ज्ञान और

विवेक पर आधारित नहीं है। वह स्वभाव का पुत्र है। आत्मा के अश्रुजल से स्वभाव को सींचने पर सहज साधना पल्लवित होती है। 'घर' और 'वन' की मध्य स्थिति 'राम' की सहज साधना ही हमारी नवीन उपासना होगी। अब तक देवता का अवतरण व्यक्ति में होता रहा। परन्तु इस नयी सहज साधना से पूरे समूह में दिव्य अवतरण होगा। देवता को भी अब अवतार की नयी सामूहिक शैली ग्रहण करनी होगी।

मैं अवतारवादी हूँ और प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

—रामनारायण उपाध्याय

▪▪

[प्रतिक्रियाएँ—पत्रांश : पृष्ठ ८ का शेषांश]

उपेक्षित छोड़ दिया है। उन्हें अभी भी लगता है कि भाषा की तलाश जारी है और 'कांचनुमा दीवार' वर्तमान है। मेरा निवेदन है कि (क्रुद्ध) साठोत्तरी पीढ़ी ने कांचों को निर्ममता से तोड़ा है और आज की कहानी के लिए जिस अर्थ-प्रवण तथा रेशम-जाल से मुक्त 'कांक्रीट' और वैज्ञानिक भाषा की जरूरत है उसे पहली बार पाया है। भाषा के रूपात्मक स्तर पर उस ने 'ऋजुता, स्वाभाविकता और प्रवाहमयता' के स्थान पर, शब्द और वाक्य-संरचना में अनगढ़ता —'अश्क' जी के शब्दों में 'सशक्त रूखड़ता' और माचवे जी के अनुसार 'लट्ठमार भाषा'—को अपनाया है। ज्ञानरंजन की सद्यःप्रकाशित कहानी 'दाम्पत्य' या 'फेन्स के इधर और उधर' में संग्रहीत कहानियाँ या दूधनाथ सिंह, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, विनोद कुमार शुक्ल और गंगाप्रसाद विमल आदि की कहानियाँ इस दृष्टि से देखी जा सकती हैं। भाषा के गुणात्मक स्तर पर साठोत्तरी कहानी ने सिर्फ़ सार्थकता या अर्थ-प्रवणता को ही महत्ता दी है। सम्मोहनात्मक भावाकुलता, प्रतीकात्मकता, काव्यात्मकता उसे सह्य नहीं है। इन भाषागत उपलब्धियों को वर्तमान ठोस और खुरदुरे जीवन की माँग और अनिवार्यता के सन्दर्भ में स्वीकारा जाना चाहिए।

—विजेन्द्र नन्दा

जबलपुर]

▪▪

नये प्रकाशन सधन्यवाद प्राप्त

• कविताएँ

० अन्तर्लोक	: शम्भुनाथ शेष	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
० कविताएँ स्वर्णकिरण की	: 'स्वर्णकिरण'	आराधना प्रकाशन, आरा
० राष्ट्रपुरुष	: केदार नाथ मिश्र 'प्रभात'	नवभारत प्रकाशन, दिल्ली, पटना
० शुभ्रा	: ,, ,,	,, ,,

• उपन्यास

० रातें रुपहली दिन-सी	: फयोद्र दोस्तोयेव्स्की, अनु० गोपीकृष्ण गोपेश	किताब महल, इलाहाबाद
० वे बेचारे	: फयोद्र दोस्तोयेव्स्की, अनु० गोपीकृष्ण गोपेश	,, ,,
० जमनिया का बाबा	: नागार्जुन	,, ,,
० आग का दरिया	: कुरतुल ऐन हैदर	,, ,,
० घनचक्कर पाण्डे	: प्रेमलता दीप	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
० भारत संगम	: अरुण	,, ,,
० भारत-सिन्धु	: अरुण	,, ,,
० करमजली	: विश्वजीत	शोध-सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा

• निबन्ध-समालोचना

० पालि मोग्गलान व्याकरण	: भदन्त आनन्द कौशल्यायन	विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान, होशियारपुर
० हिन्दी उपन्यास कोश	: गोपाल राय	ग्रन्थनिकेतन, पटना-६
० दिशाओं का परिवेश	: ललित शुक्ल	वाणी प्रकाशन, दिल्ली
० सृजन की मनोभूमि	: रणवीर रांग्रा	,, ,,

पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है
कोई बतलाओ कि हम बतलायें क्या?

मिर्ज़ा का यह शेर अपने-आप में एक पुरज़ोर सवाल है; लेकिन इस महत्त्वपूर्ण सवाल का उत्तर पाने की कोशिश है यह—

ग़ालिब

श्रीरामनाथ 'सुमन'

•

उर्दू कविता के महाकवि की रहस्यों में छिपी ऊँचाइयों को लेखक ने अपनी परख प्रतिभा से इस पुस्तक में पूरी तौर पर अफ़शां कर दिया है। कलाम-संग्रह और विवेचना की दृष्टि से भी यह कृति हिन्दी में बेजोड़ है।

मूल्य ८.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

विक्रय-कार्यालय : ३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६।

प्रतिष्ठित कवि और नयी कविता के समर्थ व्याख्याता डॉ० जगदीश गुप्त ने प्रस्तुत पुस्तक में नयी कविता की मूल जीवन-दृष्टि का मार्मिक विश्लेषण करते हुए नये कवि की निष्ठा, दायित्व-बोध, काव्यानुशासन आदि प्रश्नों पर व्यापक रूप से विचार किया है। परम्परा-विरोध की आँधी से विचलित न हो कर उन की चेतना ने पुराने और नये को गहरे मनन एवं अन्तर्मन्थन की आँच में जोड़ना चाहा है। अर्थ-लय, काव्य-बिम्ब आदि अनेक तात्त्विक आधारों की चर्चा तो प्रस्तुत पुस्तक में समाहित है ही, साथ ही नयी कविता आन्दोलन के और अनेक पक्ष भी इस में उभर कर सामने आये हैं, जिन से परिचित हुए बिना उस का सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। भारतीय ज्ञानपीठ की एक और सगर्व प्रस्तुति—

नयी कविता : स्वरूप और समस्याएँ

डॉ० जगदीश गुप्त

मूल्य १०.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

विक्रय-कार्यालय :
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

वार्षिक शुल्क १५.०० : प्रति अंक १.५० : प्रस्तुत अंक १.५०
विदेशों के लिए अतिरिक्त डाक टिकिट ४० पैसे

जुलाई १९६९
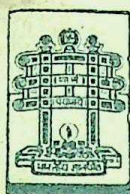
अनुज्ञापत्र संख्यांक-४१ : बिना टिकिट लगायें प्रेषण करने के लिए अनुज्ञप्त । पंजीयित संख्या : ए—२०३६

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और
अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान
और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

[स्थापित १९४४ ई०]

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय कार्यालय
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

भारतीय ज्ञानपीठ के लिए जगदीश अग्रवाल द्वारा दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५ से
प्रकाशित तथा सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५ में मुद्रित ।

ज्ञानोदय

सितम्बर १९६९

मूल्य १.५०

हिन्दी काव्य-साहित्य को
'अज्ञेय' का एक और
अवदान—
उन की नवीनतम कविताओं का संग्रह :
—जो कवि 'अज्ञेय' की
काव्य-यात्रा के नये क्षितिज
उजागर करता है—

क्योंकि मैं उसे जानता हूँ

भारतीय ज्ञानपीठ
द्वारा शीघ्र प्रकाश्य

ज्ञानोदय

सितम्बर, १९६९

वर्ष २१ : अंक ३

आधुनिक भावबोध, कला-संचेतना,
और नवीनता का
प्रतिनिधि मासिक

सम्पादक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७
प्रकाशन एवं वितरण कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५
मूल्य : वार्षिक १५.००, एक प्रति १.५०

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन

ज्ञानोदय

सितम्बर १९६९

क्रमशः पर्यूषण पर्व और तुलसी जयन्ती के अवसर पर पर्व-प्रस्तुति

ललित निबन्ध

कला-चर्चा

साहित्य-चिन्तन

वैज्ञानिक

राजनैतिक

हास्य-व्यंग्य

सामयिक सन्दर्भ

कला और नया चाँद

जगदीशचन्द्र माथुर

कुछ दिन हुए एक शाम को अपने दफ़्तर से लौटते समय मैं ने मोटर के सामने वाले शीशे के आर-पार देखा : वृक्षों की घनी डालियों के पीछे यह कौन झाँक रहा है ? कौन छोड़ गया इस झुरमुट में यह दमकती चाँदी की बेशक़ीमत थाली ? किस अनन्त सौन्दर्यराशि का कर्णफूल हमारे आसमान के कोने पर छा गया है ? मेरी आँखों को किन रेशमी रजत-रश्मियों की चैन-भरी छुवन ठंडक दे रही है ?····और मैं ने राहत पाने वाले यात्री की भाँति साँस ली और मन में सोचा कि हमारा चाँद विज्ञान की घुड़दौड़ के गुबार में खोया नहीं है इस लिए कि हमारी कल्पना चाँद की झलक पा कर अब भी मचल जाती है, हमारी अनुभूति चाँद की प्रेरणा से अब भी रससिक्त हो जाती है ।

लोग प्रायः कहते हैं कि विज्ञान प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है। यह अंशतः ही सत्य है क्योंकि विज्ञान की हर विजय में पराभव के बीज होते हैं। आदमी की मजबूरियाँ उभर आती हैं, सीमाओं के बन्धन जकड़ जाते हैं और नयी चुनौतियों की पुकार विजय के सिंहनाद को अनसुना कर देती है। लोगों का यह भी कहना है कि विज्ञान प्रकृति के परदे खोल रहा है, वह प्रकृति को अनावृत और निर्वसन कर रहा है। उस की रहस्यमयी मुसकान और मौन आमन्त्रण के जादू को चुटकी में ग़ायब कर रहा है। निर्मम और हृदयहीन विज्ञान का सब से बड़ा हथियार है तथ्य और असलियत का कठोर प्रत्यक्ष, कला जिसे नकार नहीं सकती और न सकार ही पाती है।

लेकिन बात इतनी सरल नहीं है और न कलाकार ही इतना पंगु है कि इस
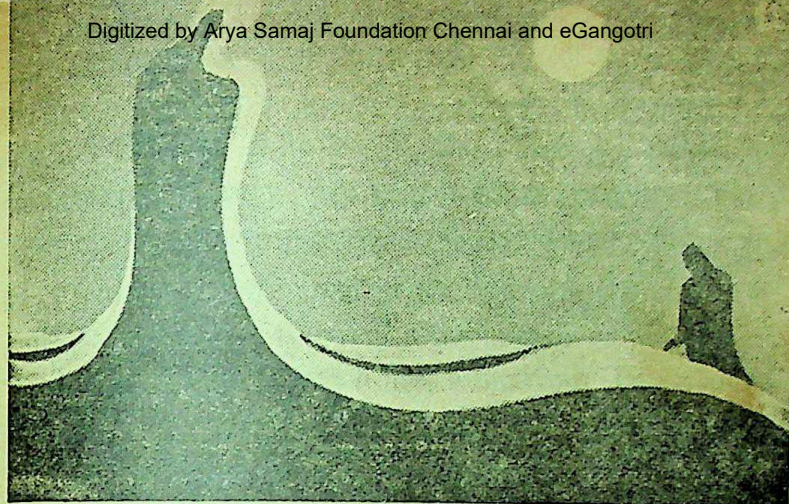
चित्र : जगदीश गुप्त

दीखने वाली असलियत के परे न जा सके। आखिर विज्ञान यही तो कर रहा है कि स्थूल जगत् के विभिन्न पदार्थों को एक-एक कर के मनुष्य के इतने समीप ले आये कि उस का हर हिस्सा साफ़ दीखे, उस की हर प्रक्रिया जाहिर हो जाये। लेकिन विज्ञान किसी को दूर या दूसरे कोने में खड़े हो कर उन्हीं पदार्थों को इस भाँति देखने से कैसे रोक सकता है कि उसे वे चमत्कार की आभा से घिरे हुए जान पड़ें, और उन के अलंकारों की दीप्ति उस के मन में इतनी ही मज़बूती से बस जाये जितना कि तथ्यपरक अस्तित्व का अहसास।

असलियत की पकड़ शायद सब से बड़ा भुलावा है। अगर कोई वैज्ञानिक समझता है कि प्रकृति के पदार्थों का जो तत्त्व उस ने खोज निकाला है और स्थूल जगत् के जिन व्यापारों का उस ने उद्घाटन किया है, वे तथ्य ही नहीं सत्य भी हैं तो वह ग़लती कर रहा है। ऐसी ग़लती कई विशेषज्ञ कर बैठते हैं। तथ्य और सत्य में अन्तर है, उसी भाँति जैसे रागात्मक कल्पना और सत्य में। कला का आधार रागात्मक कल्पना है। कला स्थूल प्रकृति और मानव के आन्तरिक जीवन को एक-दूसरे के समीप लाने की कोशिश करती है। कलाकार प्रकृति के विभिन्न अंगों में—चाँद, बादल, वृक्ष, फूल, पक्षियों में—वही लय-ताल खोज पाता है जो व्यक्ति के अन्तस्थल को स्पन्दित कर दे। वह प्रकृति में मानव-मन की प्रतिध्वनियाँ भी खोजता है और उस का मौलिक संगीत भी। इस तरह वह व्यक्ति के अन्तस् को प्रकृति के निकट ला पाता है जब कि विज्ञान

हमें स्थूल रूप से पदार्थों और व्यापारों के बिलकुल क़रीब ले जाने पर भी हमारे अन्तस्थल से उन्हें दूर कर देता है। वह प्रकृति में व्यक्तिगत अनुभूति और आनन्द नहीं देखता, और न किसी तरह की सृजनशील प्रक्रिया ही। विज्ञान स्थूल जगत् का दर्पण है और है मनुष्य को स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये-से-नये उपकरणों का बढ़ता हुआ संग्रह।

क्या सत्य की खोज की दौड़ में विज्ञान और कला बराबर हैं? इस विषय में मैं वर्तमान युग के दो मनीषियों के विचारों का उल्लेख करना चाहूँगा। विख्यात कलामर्मज्ञ आनन्द कुमारस्वामी से किसी ने पूछा—"कला का उद्देश्य क्या है?"

"सही-सही संचारण या सम्प्रेषण, (कॅम्युनिकेशन)", उन्हों ने उत्तर दिया।

"पर कोई भी कलाकृति किस बात का सम्प्रेषण कर सकती है?"

इस पर कुमारस्वामी का जवाब अनूठा था। उन्होंने कहा, "कुछ लोगों को यह सत्य दुःखद जान पड़ेगा पर पते की बात तो यह है कि अधिकतर कलाकृतियाँ ईश्वर के बारे में हैं, ईश्वर, जिस का आजकल के समाज में कभी नाम तक नहीं लिया जाता।"

आनन्द कुमारस्वामी ने जिस ईश्वर की चर्चा की वह उस सत्ता ही का नाम नहीं है जिसे अनेक धर्मों ने स्रष्टा और सर्वशक्तिमान् घोषित किया है। उन का तात्पर्य उस अमूर्त सत्य से था जो प्रकृति में व्याप्त है और जिस को पकड़ सकने के लिए बेचैनी ही मानव-मात्र की कलात्मक अभिव्यंजना की साधना है। इस सिलसिले में समर्थ विचारक बर्ट्रैंड रसल की मान्यता भी विचारणीय है। रसल ने विज्ञान की उपलब्धियों की घोषणा करते हुए कहा था कि विज्ञान ने रूढ़ियों और सत्ता की जगह पर्यवेक्षण को स्थापित कर दिया। प्रकृति के बीच से "ईश्वर और उद्देश्य को अपदस्थ करा देना ही विज्ञान की चरम विजय है।"

अगर हम इन दो महान् मनीषियों की उक्तियों को अन्तिम और अन्यतम उक्तियाँ मान लें तो विज्ञान और कला के बीच सामंजस्य असम्भव जान पड़ेगा। किन्तु गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुमारस्वामी और रसल दोनों ही जीवन-सत्य का उल्लेख नहीं कर रहे थे। कुमारस्वामी सौन्दर्य के स्वरूप को कला की विषय-वस्तु मानते हैं और उसे ही ईश्वर की संज्ञा देते हैं। बर्ट्रैंड रसल पर्यवेक्षण यानी 'ऑब्ज़र्वेशन' की विधि को ही विज्ञान की सामर्थ्य मानते हैं। और यही सामर्थ्य उन के विचार में ईश्वर का स्थान ले सकी है। दोनों ही विधि और प्रक्रिया यानी 'प्रॉसेस' का ज़िक्र कर रहे हैं। लेकिन जहाँ तक जीवन-सत्य और अन्यतम विद्या या परोक्षज्ञान का

सम्बन्ध है, कला और विज्ञान दोनों ही मात्र अन्वेषक माने जायेंगे, खोज की राह के साथी।

विज्ञान की खोज कला की कुण्ठा नहीं, उस की नवीन दृष्टि है। कला की अभिव्यंजना से विज्ञान का पथ अवरुद्ध नहीं होता, आलोकित और उज्ज्वल होता है। रसल ने ही बाद में इस विषय पर पुनर्विचार कर के लिखा कि विज्ञान सत्य की खोज (यानी चरम विद्या) के रूप में कला की बराबरी ही कर सकता है, उस से बाज़ी नहीं ले सकता। किन्तु तकनीक के रूप (यानी प्रकृति से काम निकालने और उस का प्रयोग करने) में विज्ञान की ऐसी व्यावहारिक महत्ता है जो कला के प्रयास के परे ही रहेगी।

यह एक बुनियादी बात है। विज्ञान मानव की जानकारी के दायरे को तेज़ी के साथ बढ़ा रहा है। इस जानकारी के व्यावहारिक उपयोग का नाम ही 'टेक्नोलॉजी' है। यह टेक्नोलॉजी विज्ञान की अभूतपूर्व देन है और समाज और व्यक्ति की प्रत्येक प्रक्रिया, हर तरह के कामकाज, पर इस का असर हो रहा है। कला इस से अछूती नहीं रह सकती। यह सही है कि कला के एक तिहाई अंश पर ही वैज्ञानिक टेक्नोलॉजी का विशेष प्रभाव पड़ा है। कला के तीन अंशों से मेरा तात्पर्य है कल्पना की उड़ान, अनुभूति की सजगता और शिल्प का वैभव।

इन में शिल्प-वैभव को ही टेक्नोलॉजी नये मोड़ दे रही है। आजकल का स्थपति यानी 'आर्किटेक्ट' लोहे और इस्पात के वैज्ञानिक प्रयोगों और भौतिक विज्ञान एवं गणित के सिद्धान्तों के आधार पर भवनों की रूप-रेखा और रूप-सज्जा निर्धारित करता है। इस का परिणाम यह हुआ है कि आधुनिक शैली के भवन मूर्तिवत् (यानी स्कल्परेस्क) होते जा रहे हैं, यद्यपि उन में पत्थर में तराशी हुई मूर्तियों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। समूचे भवन की ही मानो एक तक्षित रूप (स्कल्पचर्ड फ़ॉर्म) की भाँति कल्पना की जाती है। मंच की कलाओं पर भी टेक्नोलॉजी का प्रभाव पड़ा है। अनेक नाटकों की मंच-व्यवस्था में बिजली और इलेक्ट्रॉनिक्स का व्यवहार इस भाँति किया जाता है कि अभिनय-कला को सहारा भी मिलता है और कहीं-कहीं अभिनेता दब-सा जाता है। चित्रकला में 'कोलाज' की शैली के अलावा अन्य नाना प्रकार के प्रयोग विज्ञान के सीधे प्रभाव में लिये जा रहे हैं। हाल ही में कम्प्यूटर-द्वारा अंकों के सम्मेलन से एक नये प्रकार की चित्रकला के नमूने देखने को मिले हैं। इसी भाँति मूर्तिकला का दायरा भी बहुत विस्तृत हो गया है। लोहे के तारों-द्वारा निर्मित भित्ति-आकृतियाँ अब तो व्यावसायिक तौर से भी प्रस्तुत की जाने लगी हैं।

[शेष पृष्ठ १४६ पर]

मिलिए—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से

न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्

विश्वनाथप्रसाद तिवारी

जिन थोड़े से लेखकों ने मुझे जीवन में विशेष रूप से प्रभावित किया, उन में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम प्रमुख है। द्विवेदी जी की कृतियों में मानव की अनन्त सम्भावनाओं के प्रति जो अटूट आस्था व्यक्त हुई है, उस से मुझे सदैव प्रेरणा मिली है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारु चन्द्रलेख', 'अशोक के फूल', 'कबीर' आदि कृतियों को पढ़ने के बाद निश्चय ही मुझे एक दृष्टि मिली है और वह दृष्टि आज बहुत सारा साहित्य पढ़ जाने के बाद भी मूलतः परिवर्तित नहीं हुई। मुझे याद है, आज के दस वर्ष पूर्व 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पढ़ने के बाद महीनों तक मेरे भीतर बहुत-कुछ ध्वनित होता रहा जो एकान्त में भी बरबस निकल पड़ता था—"डरना किसी से भी नहीं। लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं।" "जो मेरा सत्य है वह यदि वस्तुतः सत्य है, तो वह सारे जगत् का सत्य है, व्यवहार का सत्य है, परमार्थ का सत्य है—त्रिकाल का सत्य है।" "देख बाबा, इस ब्रह्माण्ड का प्रत्येक अणु देवता है, त्रिपुर सुन्दरी ने जिस रूप में तुझे सब से अधिक प्रभावित किया है, उसी की पूजा कर।" "इस नरलोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।"—इस प्रकार की कितनी ही पंक्तियाँ अनायास ही याद हो गयी थीं और आश्चर्य है कि आज भी भूली नहीं हैं।

यह मेरा दुर्भाग्य है कि मुझे द्विवेदी जी के निकट सम्पर्क में रहने का अधिक अवसर नहीं मिला—किन्तु फिर भी उन के कृतित्व के प्रकाश में

...के व्यक्तित्व के विविध ...ों को अवश्य ही निकट से ...ा है। मैं ने देखा है, उन के ... महावराह की जो कल्मष में ... हुई धरती का उद्धार करने ... सामर्थ्य रखता है; मैं ने ... है, बाणभट्ट के उस तरल ...ात्मक हृदय को जो पर-... कल्याण-कामना से परिशुद्ध है, ... जो किसी निर्दय जाति के ... में भी समवेदना का संचार ... सकता है; मैं ने देखा है, ... अघोर भैरव को जो 'नर-... से किन्नर लोक तक व्याप्त ... ही रागात्मक हृदय' का ... साक्षात्कार करता है; मैं ने देखा ... उस अघोरनाथ को जो ... विचारों का; पुरानी ... परिपाटी में शिक्षित, सिद्ध है"। ... देखा है, उस अशोक के फूल को जो अपनी उसी मस्ती में हँस रहा है; मैं ने देखा है, मनोहर कुसुम स्तबकों से झबराये, उल्लास-लोल चारुस्मित कुटज को जो अपनी अपराजेय जीवन-शक्ति की घोषणा कर रहा है और मैं ने देखा है जड़-शक्ति के दुर्वार आकर्षण को पराभूत कर के विपुल व्योम-मण्डल में विहार करने वाले उस देवदारु

को जो पाषाण की कठोर छाती भेद कर न जाने किस पाताल से अपना रस खींच रहा है।....

१८ जून, १९६९। पाँच बजे सायंकाल, होल्कर हाउस के ड्राइंगरूम में द्विवेदी जी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। बग़ल वाली कुरसी पर डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी बैठे हैं। दस मिनिट के भीतर ही ड्राइंगरूम का कोने वाला बाहरी दरवाजा खुलता है और एक परिचित व्यक्तित्व मुसकराते हुए सहज भाव से अन्दर दाखिल होता है। मटका सिल्क का कुरता और खादी की धोती—वही परिचित वेष-भूषा और दबंग व्यक्तित्व। मुझे तत्काल देवदारु का स्मरण हो आता है। वही उल्लास, वही शान और वही ऊंचाई। सचमुच यह आदमी लाख-लाख मुड़-कट्टों को ग़ुलाम बना सकता है।

द्विवेदी जी किंचित् मुसकराते हैं जैसे वे मेरे मन की बात भाँप गये हों—मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ। इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ़ जाति देखते आ रहे हैं, व्यक्तित्व देखने की न उन्हें आदत है, न परवाह है। जमाना बदल रहा है, अनेक वृक्षों और लताओं ने वातावरण से समझौता किया है, कितने ही मैदानों में जा बसे हैं, और खासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, लेकिन देवदारु है कि नीचे नहीं उतरा, समझौते के रास्ते नहीं गया और उस ने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी।

थोड़ी ही देर बाद होल्कर हाउस के लान में चम्पे के नीचे कुरसियाँ डाल दी जाती हैं, और द्विवेदी जी मुसकराते हुए कहते हैं, "पूछो, क्या पूछना चाहते हो? मगर ज्यादा मत पूछना, नहीं तो 'वाक् आउट' कर जाऊँगा।" और वे ज़ोर का ठहाका लगाते हैं, मानो कह रहे हों कि बड़ी तारीफ़ सुनी होगी तुम ने मेरे ठहाके की तो लो उसी से शुरू करता हूँ। मैं बहुत पहले से द्विवेदी जी की इस विशेषता को जानता हूँ और मुझे यह बहुत स्वाभाविक भी लगता है। क्योंकि जो व्यक्ति घर जोड़ने की माया का विरोध करता है अर्थात् धन, मान, यश, कीर्ति तथा भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़ देना चाहता है, वह ठहाका नहीं लगायेगा तो क्या ... मारेगा?

मैं ने पूछा—"पण्डित जो, आप ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में जिस 'मनुष्य' की जय-यात्रा प्रस्तुत की है, उस 'मनुष्य' से आप का क्या तात्पर्य है?" प्रश्न के उत्तर में द्विवेदी जी थोड़ी देर के लिए गम्भीर हुए और उसी गम्भीरता के साथ समझाते हुए बोले—"भाई, वास्तविक मनुष्य तो वही है जो पशु-धरातल से ऊपर उठा है। मनुष्य और पशु दोनों में बहुत समानताएँ हैं। दोनों में ही आदिम सहजात प्रवृत्तियाँ प्रबल हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, लोभ, स्वार्थ आदि चीजें दोनों में हैं। लेकिन मनुष्य फिर भी मनुष्य है। वह आदिम प्रवृत्तियों से परिचालित नहीं होता। वह दूसरों के लिए अपना सब-कुछ उत्सर्ग कर सकता है। उस में त्याग है, संयम है, दया है, ममता है, करुणा है, सन्तोष है, श्रद्धा है और सब से ऊपर है विवेक-बुद्धि तथा संकल्प-शक्ति। मनुष्य अपने इसी विवेक और संकल्प-

शक्ति के कारण सृष्टि का सब से महत्त्वपूर्ण अधीन हो गया। उस ने प्रकृति की दासता नहीं स्वीकार की बल्कि उसे अपने अनुरूप निर्मित किया ताकि वह अपनी इच्छानुसार उस का उपयोग कर सके। यहीं से सृष्टि का नया अध्याय शुरू होता है। जड़ से चैतन्य, चैतन्य से मन-बुद्धि और मन-बुद्धि से मनुष्यत्व का विकास एक चकित कर देने वाली घटना है। 'जब कभी मैं इस मनुष्य की उत्पत्ति की बात सोचता हूँ तो अपने रक्त-कणों में एक अपूर्व झनझनाहट का अनुभव करता हूँ।' ... हो जड़ में सब से बड़ी शक्ति है—आकर्षण की शक्ति अर्थात् 'ग्रेविटेशन पावर'। यह चैतन्य को नीचे खींचती है लेकिन खींच नहीं पाती। चेतन की ऊर्ध्वमुखी वृत्ति निरन्तर उठती जाती है। मनुष्य में यह 'जड़', 'चेतन' दोनों ही हैं। जो जड़ है वह उसे नीचे खींचता है और जो चेतन है, वह उसे ऊपर की ओर ले जाता है। यह चैतन्य का उल्लास ही वास्तविक मनुष्य है। साहित्य और कला चित तत्त्व की ओर आकर्षित करते हैं इसी लिए वे उन अन्य विज्ञानों से श्रेष्ठ हैं जो चित तत्त्व की ओर सीधे नहीं ले जाते।"

द्विवेदी जी थोड़ी देर के लिए रुके और अनजाने में ही मेरी कुछ और जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए बोले: "तो क्या तुम मानते हो कि जड़ से चैतन्य, चैतन्य से मन-बुद्धि और मन-बुद्धि से मनुष्यत्व तक के विकास की घटना मात्र संयोग पर आधारित है? क्या यह सब-कुछ अपने-आप हो गया है? क्या यह रचना-कौशल निरर्थक लगता है? क्या सृष्टि की यह रहस्य-लीला निरुद्देश्य है? कौन जाने इस के पीछे किस अज्ञात महाशक्ति की प्रेरणा है। उस का कौन-सा महान् उद्देश्य है। त्रिपुर सुन्दरी का यह त्रैलोक्य मोहन रूप निश्चय ही किसी बड़े उद्देश्य के लिए है। मेरा मन कहता है कि जड़ से मनुष्यत्व तक के विकास की शृंखला यहीं समाप्त नहीं होनी चाहिए। यह अभी अधूरी है। तो क्या मनुष्य के भीतर से कोई 'सुपरमैन' निकलने वाला है? कौन बतायेगा?" पण्डित जी कभी मेरी ओर और कभी तिवारी जी की ओर देखते तथा कुछ रुक-रुक कर कभी हिन्दी में और कभी अँगरेज़ी में समझाते चल रहे थे और मैं महसूस कर रहा था कि द्विवेदी जी का यह चिन्तन निश्चय ही एक गहन आत्ममन्थन का परिणाम है। कहीं कोई चीज़ ओढ़ी हुई नहीं लगती। मनुष्य के सम्बन्ध में उन्होंने निश्चय ही बड़ी गहराई से सोचा है और मनुष्य के ही रूप में जैसे उन्होंने अपना सत्य भी पा लिया है। तभी तो वे इतिहास में इसी मनुष्य की धारावाहिक जययात्रा की कहानी पढ़ते हैं, साहित्य में इसी के आवेगों, उद्वेगों और उल्लासों का स्पन्दन देखते हैं, राजनीति में इसी की लुका-छिपी का दर्शन करते हैं, अर्थशास्त्र में इसी की रीढ़ शक्ति का अध्ययन करते हैं। वे साहित्य को भी 'अनादि काल प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा' मानते हैं और 'जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उस की आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उस के

हृदय को परदुःख-कातर और संवेदनशील न बना सके, इसे साहित्य कहने में उन्हें संकोच होता है।

मैंने द्विवेदी जी से पूछा, "पण्डित जी, 'आत्मदान' से आप का क्या तात्पर्य है?" द्विवेदी जी ने उसी गम्भीरता के साथ कहा, "आत्मदान का अर्थ है 'सेल्फ डिडीकेशन'। यहाँ आत्म का अर्थ 'सेल्फ' से है, 'सोल' से नहीं। मैंने तो कई जगह कहा है कि अपने को निःशेष भाव से दे देना ही सच्चा आत्मदान है। जिस मनुष्य में जितना ही अधिक मनुष्यत्व होता है, वह उतना ही अधिक दूसरों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। जब मनुष्य अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर सब के लिए उत्सर्ग कर देता है, तभी उस का जीवन चरितार्थ होता है, तभी उस का श्रेष्ठ रूप प्रकट होता है। मनुष्य में कुछ पशु-संस्कार भी हैं जो थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठते हैं। उसके स्वार्थों को तेज कर देते हैं और इसी लिए संसार में मार-काट, नोच-खसोट और झगड़े-टण्टे भी दिखाई पड़ते हैं। किन्तु इन के बावजूद मुझे मनुष्य पर विश्वास है। मैं जानता हूँ ये युद्ध और प्रतिहिंसा के भाव क्षणिक हैं—स्थायी है अपने को उत्सर्ग कर के महाकाल की लीला में सहायक होने की आनन्दोल्लासिनी वेदना। यद्यपि मनुष्य के नाखून बढ़ते जा रहे हैं फिर भी मुझे विश्वास है वह उन्हें बढ़ने नहीं देगा क्योंकि पशु बन कर वह आगे नहीं बढ़ सकता। आत्मदान में ही उस की सिद्धि है।"

द्विवेदी जी कुछ देर के लिए चुप हो गये और चश्मा उतार कर गाढ़ी धोती से आँखें मलने लगे। [illegible] आँखें मल-मल कर देखने लगा, मेरे सामने के उस व्यक्ति को जिस का सारा चिन्तन मूलतः भारतीय-चिन्तन के इर्द-गिर्द घूमते हुए भी कितना वैज्ञानिक और तर्कसंगत है, जो परम्परा से रस ग्रहण करते हुए भी कितना प्रगतिशील है, जो मृत परम्पराओं, झूठी रूढ़ियों और गलित वर्जनाओं का डट कर विरोध करता है। जो बाह्याचारों और अन्धविश्वासों का पर्दाफाश करता है, जो कबीर-जैसे क्रान्तिकारी मूर्तिभंजक व्यक्तित्व का समर्थन करता है तथा जो दोनों हाथ उठा कर कहने की शक्ति रखता है—'[illegible] त्तियों को छिपाना उचित है न उन से [illegible] कर्तव्य है और न लज्जित होना [illegible] है।" "निरर्थक मन्त्रों की [illegible] में प्राण-शक्ति का संचार नहीं कर सकते। मनुष्य को देवता बनाने के लिए आत्मविश्वास और दृढ़ संयम की आवश्यकता है।"

मेरा अगला प्रश्न था—"इधर के साहित्यिक आन्दोलनों की क्रान्ति और विद्रोह के पीछे कौन-सी प्रेरणा है? पिछले दशक की साहित्यिक प्रवृत्तियों को देखते हुए हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में आप का क्या विचार है?" द्विवेदी जी बोले—"आज के असन्तोष और विद्रोह के पीछे मूलतः [illegible] (असमानता) है। पिछले दशक के [illegible] में फैशन और अनुकरण ही अधिक है। [illegible]

आज जितने कवि दिखाई पड़ते हैं वे सभी कवि नहीं हैं। उन में से अधिकांश दो-तीन वर्ष के भीतर ही चुक जायेंगे और जो बच जायेंगे वे अपनी पूँजी के ही बल पर बचेंगे। आज के अधिकांश लेखक कुछ नयी चीज कह कर चौंकाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु उन की अनुभूति साधारणीकृत नहीं हो पाती। वह सब की अनुभूति नहीं बन पाती। मैं तो कह चुका हूँ, जिस की लगना सब को लगे वह कवि है, जिस का लगना सिर्फ उसे ही लगे, औरों को नहीं, वह पागल है। जो सब को लगे वह अर्थ है, जो एक को ही लगे वह अनर्थ है। मैं तो काल-परम्परा में विश्वास करने वाला हूँ और जानता हूँ कालदेव सब ठीक कर देंगे। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फेन बुद्बुद के समान काल-स्रोत में उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है, साम्राज्य और धर्मराज्य उठते हैं और गिर जाते हैं, परन्तु मनुष्य फिर भी बचा रहता है। जानते हो, अभी आज का सारा साहित्य निर्माणावस्था में है। खिलने के पूर्व कली में बड़ी कसमसाहट होती है। लोहार की दूकान में जब वीणा के तार तैयार होते हैं तो बड़ी खटखटाहट होती है। लेकिन खिल जाने पर वही कली पुष्प के रूप में अपनी सुरभि बिखेरती है और वीणा अपनी मनोहर ध्वनि से आनन्दविह्वल कर देती है। भविष्य के सम्बन्ध में मैं सदा आशावादी हूँ।"

"द्विवेदी जी को मैं ने पहली बार सन् १९६१ में देखा था, जब वे एम० ए० की मौखिक परीक्षा लेने आये थे। तब से पिछले आठ-नौ वर्षों में कई बार द्विवेदी जी को देखा है। लेकिन अब वे काफी थके हुए और कुछ सुस्त दिखाई पड़ रहे हैं। इस का एक कारण तो उन की अवस्था हो सकती है और दूसरे उन के ऊपर कुछ ऐसे कार्यों का बोझ भी बढ़ गया है, जिसे वे जीवन में बहुत महत्त्व नहीं देते रहे। बातचीत के दौरान मैं देख रहा था कि द्विवेदी जी कई बार सिर दबाने लगते थे। उन के सिर में उस समय कुछ दर्द भी हो रहा था। सम्भवतः इसी लिए उन्होंने पहले ही मुझ से अधिक न पूछने का संकेत कर दिया था। इस बार उन्होंने पुनः संकेत किया। मैं ने प्रश्नों की अपनी लम्बी सूची को संकुचित करते हुए पूछा—"क्या आप समझते हैं कि सत्ता के सहयोग के बिना भी हिन्दी भाषा प्रतिष्ठित हो सकती है?" पण्डित जी बोले—"भाई, अब तक तो यही हुआ है। हिन्दी जो कुछ भी बनी है सत्ता के सहयोग के बिना ही बनी है। उसे कभी सत्ता का सहारा नहीं मिला—न मुसलमानी काल में और न अंगरेजी काल में।" फिर मैं ने अगला प्रश्न किया—"आप ने अपनी कौन-सी पुस्तक लिख कर सर्वाधिक सन्तोष का अनुभव किया है?" इस प्रश्न के उत्तर में द्विवेदी जी मुसकराये और कहने लगे, "यह जो तुम झगड़ा लगा रहे हो।" मैं ने कहा, "पण्डित जी क्या यह सत्य है कि आप के हृदय का रचनाकार आप के उपन्यासों

में ही सर्वोत्तम रूप से व्यक्त हुआ है?" द्विवेदी जी बोले—"देखो, मैं ने तो बातचीत के दौरान कभी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का नाम नहीं लिया। हां 'देवदारु' का नाम अवश्य लिया था। यह माना जा सकता है कि उपन्यासों में मनोरमता अधिक है।" फिर मैं ने सकुचाते हुए आखिरी प्रश्न किया—"भविष्य में आप की कौन-सी कृति आने वाली है?" द्विवेदी जी बोले—"आजकल तो लिखने-पढ़ने का अधिक समय नहीं मिलता। 'पुनर्नवा' के के सात अध्याय पूरे हो चुके हैं, वही प्रकाशित होगी।"

बातचीत के दौरान दो घण्टे का समय बीत चुका था और अब सन्ध्या का अन्धकार भी घिरने लगा था। मैं ने पण्डित जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और मन में बहुत-कुछ सोचता हुआ होल्कर हाउस के बाहर निकला। बाहर निकलते ही लगा कि अभी बहुत-कुछ पूछना शेष रह गया। मैं सोच रहा था, क्या आज 'सुविधा सम्पन्न मनुष्य' और 'संघर्षरत साधारण मनुष्य' के बीच की दूरी बढ़ती नहीं जा रही है? क्या 'सत्ता-सम्पन्न मनुष्य' साधारण मनुष्य की अनवरत उपेक्षा नहीं कर रहा है? क्या 'आत्मदान' के द्वारा आज के बढ़ते हुए अन्याय के विरुद्ध संघर्ष किया जा सकता है? क्या वर्त्तमान परिस्थितियों को देखते हुए मानव का भविष्य अन्धकारमय नहीं लगता? क्या सचमुच मनुष्य के भीतर से कोई 'सुपरमैन' निकलने वाला है? सन्ध्या के झुटपुटे में मेरे पाँव विश्वनाथ मन्दिर की ओर बढ़ते जा रहे थे और मैं डॉ० रामचन्द्र तिवारी के सामने अपनी जिज्ञासाएं रखता जा रहा था। मुझे लग रहा था, द्विवेदी जी से मेरी बातचीत अधूरी रह गयी और इस पर कुछ लिखा नहीं जा सकता।

लौट कर, काफ़ी रात गये बत्ती बुझा कर उसी उधेड़बुन में सो गया। ठीक याद नहीं कि कितनी देर सोता रहा लेकिन नींद में ही लगा जैसे सिरहाने कोई खड़ा हो कर जगा रहा है। वही मटका सिल्क का कुरता, खादी की धुली धोती और कन्धे पर दोनों ओर लटकती हुई लम्बी चादर। अरे यह तो द्विवेदी जी हैं! चेहरे पर वही सन्तोष, वही आशा, वही आस्था, वही विश्वास! इस के पहले कि मैं उन के सम्मान में उठूं वे मुझे झिड़कने लगे—इतना दिन गये सो रहे हो? बड़े आलसी हो। पुरुष का जन्म पाया है, तो प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता—इन तीन दोषों से बचो। जीवन में जो चूक एक बार हो जाती है वह हो ही जाती है। तुम ब्राह्मण हो न? तुम्हारी जाति ही दम्भी है। देख रे, तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है, उसे दबाने को कहते हैं; जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भूलने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं। कल तुम्हारी बातचीत अधूरी रह गयी थी न? पूछो क्या पूछना चाहते हो? लेकिन मेरी बात मानो तो निरर्थक प्रश्नों के चक्कर में ज्यादे मत रहो। देख बाबा, आज तुझे एक गुप्त रहस्य की बात बताये जा रहा हूं जो मुझे व्यास और गुरुदेव ने बताया था—'न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्'।■■

जब अस्मिता ने अपनी हत्या कर ली थी

वीरेन्द्र कुमार जैन

देख रही हूँ कई दिनों से,
मेरा बाहर का चेहरा
मेरे भीतर के चेहरे से मिलता नहीं है :
भीतर एक हज़ार पाँखुरियों वाला
उजला कमल है,
और ऊपर सियाही की एक शैवाल-सी
छा गयी है···!
बारम्बार बाहर के रूप से आकर्षित हो कर
जब उस के भीतर झाँकती हूँ,
तो छली जाती हूँ :
क्षण-क्षण बदलती मन की अवस्थाओं में,
मैं अपने को बँटा हुआ पाती हूँ :
अपने भीतर कहीं भी मैं
अपने एकाग्र, संयुक्त, अखण्ड,
एकमेव 'मैं' का परिचय नहीं पाती हूँ :
अपनी हर क्षण-क्षण बदलती
मनोदशा के साथ
मैं तदाकार हो कर खो जाती हूँ :
एक पल को भी तो
विशुद्ध स्वयं आप नहीं रह पाती हूँ :

फिर क्या है वह, जो 'मैं' है,
जो एकान्त रूप से मेरा है···?
कुछ नहीं···कुछ नहीं···कुछ नहीं···!
कहीं जाने को चलती हूँ,
और कहीं और ही चली जाती हूँ :
देखती हूँ अपने पैरों को खन्दक की ओर
बढ़ते हुए :
पत्थर हो रहती हूँ :
अपने को पकड़ नहीं पाती हूँ,
रोक नहीं पाती हूँ :
केवल लाचार साँसें हो रहती हूँ,
एक अदम्य दबाव की जकड़न में :
अपने ही भीतर की दूरान्तरित
अचीन्ही अँधियारियों में,
अचानक झलक जाती है
काला बुर्क़ा ओढ़े एक डायन
चुपचाप सिर झुकाये चलती हुई :
उस के पास होती है एक रहसीली पेटी,
जिसे वह मेरे भीतर की

।। एक आत्मकथा : कविता में ।।

किसी अज्ञात गुफा में जा कर
उलट देती है····!
असंख्य प्रकार के काले विकराल जन्तु
उस में से निकल कर
मेरे रोम-रोम में रेंगने लगते हैं····!
अपने ही अनेक मनों के अँधेरे अन्तरालों से
बुने-गुँथे इस नागपाश से
अपने को कैसे मुक्त करूँ····!
अपने ही अतल की वासिनी
इस रहसीली पेण्डोरा का मैं क्या करूँ···?

···अपोलो की सूर्य-प्रभा में से उत्कीर्ण
मेरी ये आँखें,
जो कभी सहस्रार की चन्द्रप्रभा के
शयन में सोती थीं :
कि अमृत के सरोवरों में नहा कर
मैं हर सवेरे उठती थी :
और जगत् की हर सूरत
मुझे अक्षय सुन्दर और युवा लगती थी :

मेरी वही आँखें अब
आयु के गिने हुए वर्षों की
काई-जमी सीढ़ियों पर भटकती हैं :
मैं बुढ़ापे को देखने लगी हूँ :
फैल जाता है मेरी आँखों के सामने
झुर्रियों पड़ी त्वचा का एक ऊबड़-खाबड़
मैदान :
उस के छोर पर, टूटे हुए दाँतों के भीतर से
झाँकती कुरूप खोहें :
उन पर सन्नाटा खींचते,
सफ़ेद बालों के भुतहा झाड़ी-झंखाड़ :
उन के दूरान्तों में
सफ़ेद पत्थरों वाले क़ब्रिस्तान :
चिता-भस्मों की ढेरियों से छाये श्मशान···!

···कभी मैं कल्प-सरोवरों के
सुवर्ण-कमलों से उद्भिन्न सावित्री थी :
मेरी ही गोपन कोख के किसी आयाम से,
मेरे अनजान में,

कहीं और ही जन्मा था मेरा प्रियतम सत्यवान :
असत्य के जंगल में डस लिया था उसे
काल के कराल सर्प ने :
विशुद्ध सौन्दर्य के ज्योति-जल में से उत्पल—
मेरी आँखों की अनाहत चन्द्र-प्रभा के सम्मुख
काल भी नमित हुआ था :
और मेरी गोद में सत्यवान
अमृत पी कर
अनन्त जीवन में जाग उठा था !
मेरी आँखों की उन्हीं चिन्ता-मणियों को
ये कैसी काली-कुटिल रेखाओं के नाग
घेर बैठे हैं....?
मेरे कपोलों की पद्मायनी आभा में
यह कैसे दंशों की खरोंचें हैं...?
मेरी कल्प-लता बाहुओं में लिपटा मेरा
सत्यवान,
जाने कब उन में से छूट कर
किसी बियाबान की चट्टान पर
कुम्हलाई सूर्य-माला-सा पड़ा रह गया है :
हाय, किस ने मेरी इन अमृत-स्रावी बाँहों को
मौत के काले पंजों से खरोंच कर
कुरूप और अपावन कर दिया है...!

...मैं ने हड़बड़ा कर अपने भीतर की
आरसी में अपना चेहरा देखना चाहा :
ओह, भीतर छाया है घुप्प अँधेरा :
कहाँ लुप्त हो गयी है वह अन्तर की
आरसी.... ?
...मैं ने बाहर के आईने में झाँका :
मेरी कपोल-पाली में एक सूखे तालाब की
टूटी हुई सीढ़ियाँ थीं :
भग्न पादुकाओं से अंकित
पथराये मृतकों की सीढ़ियाँ :
आयु के गिने हुए वर्षों के
आक-फूल उन पर बिखरे थे....!
मेरी आँखों की भटकी चितवनों के
टूटे-फूटे काँच-मैदानों में
मेरा सत्यवान लहू-लुहान पड़ा था...!
मेरे ही अनेकान्तिक और छिन्न-भिन्न मन की
अँधियारी और रहसीली दरारों से
मेरे सत्यवान का अखण्ड यौवन और सौन्दर्य
जरा-जर्जरित हो गया था :
उस की प्रीति का कालजयी सूर्य
असंख्य मानवों के हताश चेहरों में
लाश हुआ पड़ा था....!
...बाहर के आईने ने सम्मुख होते ही
छीन ली मेरे चेहरे की किशोरी लड़की :
और सामने आ गयी,
एक अपहरिता, आत्महारा-नारी की,
भीतर की अँधियारी दरारों से अंकित
एक आयु-कवलित मुखाकृति....!
पलक मारते में ही अपनी इयत्ता
हाथ से निकल गयी....!

...मेरे शरीर में से उठती मेरे प्रिय
परफ़्यूम की गन्ध,
मृतक के अभिषेक-फुलेल-सी भयावनी और
अशुभ हो कर मेरी साँसों को रूँधने लगी :
मेरी छाती में कसकती-सी एक कटार,
मेरे आँचल में बिजली-सी झलमला उठी :
सारे कमरे में एक सहस्र खामोश बिजलियाँ
तड़तड़ा उठीं :

मैं भय से थर्राती हुई
अपने बिस्तरे में औंधी जा लेटी :
....मैं अपनी हत्या करूँगी....!
....मैं अपनी हत्या करूँगी आज की रात....!
....मैं अपनी हत्या करूँगी आज की रात....!
....मैं अपनी हत्या करूँगी आज की रात....!
....ताजमहल की रत्न-जटित युगल क़ब्रों पर,
हज़ारों महेरुन्निसाओं की रूहें नाचती हुई
समवेत रुदन-गान करने लगीं...
'मैं अपनी हत्या करूँगी आज की रात...!'

....आधी रात, अचानक जैसे मेरे हृदय के
आर-पार
एक लपलपाती छुरी-सी बिंध गयी :
मरणान्तक वेदना से चीख कर मैं उठ बैठी !
....अगले ही क्षण मैं ने देखा,
कि मैं पलँग पर से छिटक कर
फ़र्श पर खड़ी हूँ :
मैं ने देखा, कि मैं ने अपनी हत्या कर दी है :
पिछली शाम ही पहने नये कपड़ों में सजी,
परफ़्यूम से महकती मेरी लाश,
गरदन लुढ़काये पलँग पर पड़ी है :
हृदय की जगह ढेर-सारा काला खून
उफ़न कर आँचल को भिगो गया है :
थरारती छितरे केशों से झांकती
वही अपनी बचकानी लिलार :
वही अपनी मासूम बालिका-सी सूरत :
अपनी वही हिरनी-सी टुकुर-टुकुर
अलक्ष्य ताकती आँखें,
जो पथरा गयी हैं....!

ब्लाउज़ के किनारों से झाँकती अपनी वही
ममताली ग्रीवा,
वही वल्लभ छाती की कोर :
अपनी वही लम्बी, लचीली तन्वंगी आकृति :
मैं स्तब्ध, भाव-विचार-विकार हीन
देखती रह गयी उस लाश को....
अपनी आँखों से नहीं,
अपने सर्वांग में खुले, भीतर के एक प्रशान्त
खुलाव से :
पल-मात्र को एक दया और अनुकम्पा की
सिहरन-सी
मेरी रोमालियों को बेमालूम कँपा गयी :
मैं फिर निश्चल, मात्र दृष्टि हो रही :
मैं साक्षी थी, कि मैं ने स्वयं अपनी हत्या
कर दी है...!
....किन्तु खून की एक भी बूँद
मेरे हाथ पर नहीं थी,
खून का एक भी छींटा, मेरे किसी अंग या
कपड़ों पर नहीं था :
कितनी अछूती, निरीह और आश्वस्त थी मैं...!
...मैं पर्वत की तरह अटल और निस्तब्ध थी :
मेरे भीतर एक असीम समन्दर, एक विराट्
निर्झर, गर्भस्थ शिशु-सा थमा हुआ था....!

....कौतूहल हुआ क्षणैक, मैं ने कैसे,
किस चीज़ से अपनी हत्या की है...?
मेरी आँखें अचानक फ़र्श पर जा लगीं :
वहाँ एक छुरी पड़ी थी,
आसपास छिड़के खून के बीच, साफ़, बेदाग़,
शिव की जटाओं में अचानक उग आयी
चन्द्रकला-सी :

···निश्चय प्रतीति हुई
कि इसी छुरी से मैं ने अपनी हत्या की है :
मैं ने बढ़ कर उस छुरी को
देखना, छूना, अनुभवना, गहना चाहा :
मेरा हाथ अधर में
एक बिजली के भीतर से गुजर गया :
वह छुरी मानो उस फ़र्श पर नहीं,
पृथ्वी पर नहीं,
सत्ता के किसी दूसरे ही आयाम में थी,
जो गोचर था,
मगर शायद गम्य नहीं था,
स्पृश्य नहीं था :
अजीब थी वह छुरी····और कब, कहाँ से आ
गयी थी····?
याद आया सिर्फ़ इतना ही,
रात को बिस्तर में पड़ते हुए,
मेरे लवेण्डर-भीने आँचल में
एक चौंधियाहट-सी सरसरा गयी
थी···!

····किस की है यह लाश ? कौन हूँ मैं···?
किस ने किस की हत्या की है···?
कमरे के ईथर में एक लहर-सी दौड़ गयी :
एक पानी का फल-सा मेरे भीतर तराश
गया :
किसी रहस्य-भरे महल में
एक के बाद एक, कई परदे
खुलते चले गये :
कुहरे की मलमल-सी कई-कई परतें सरकती
चली गयीं :

एकाएक काले मखमल के कोश में से खिंच कर
एक नंगी तलवार शून्य में टँगी-सी रह गयी :
अगले ही क्षण वह मेरी देह-यष्टि के साथ
तदाकार हो गयी :
···और वह परित्यक्त कोश
उस लाश में लुप्त हो गया····!
···एक कृष्ण-कमल-सा फूटा मेरे भीतर :
उस की हजार-हजार पाँखुरियाँ
खुलती चली गयीं
कमरे की दीवारों में···।
एक लौ-सी मेरे भीतर से निकल कर
उस लाश पर मँडलाने लगी :
मैं अपनी ही जगह स्तम्भित खड़ी देख रही थी :
जाने कहाँ से उझक कर
मेरी उँगलियों ने उस लाश को छू कर,
पकड़ कर महसूसा :
वह मेरा वही सुपरिचित देह-पिण्ड था
निस्सन्देह, ठोस और ग्राह्य :
भय से मेरी तहें काँप-काँप गयीं···!

···और अगले ही क्षण
अति आत्म-संचेतित हो कर
मैं ने अपने वक्ष को छुहलाया :
उसे अपनी बाँहों में जकड़ कर
अपने को उपस्थित पाना चाहा :
अस्तित्व में अपने को सुरक्षित
अनुभव करना चाहा :
अपनी इयत्ता के बारे में आश्वस्त होना चाहा :
···अपने ही आप में, मैं इतनी सम्पूर्णता से
आलिंगित हो गयी,
कि पहचानना कठिन हो गया—

कि यह 'मैं' कौन थी···?
किस ने, किसे आलिंगित किया था···?
···मैं अपनी बाँहों में आबद्ध थी, कि अपने
सत्यवान की बाँहों में···
···सो चीन्ह नहीं पा रही थी !···
इतना ही लगा कि
अपने प्रियतम को मैं ने इतना सम्पूर्ण और निःशेष
कभी नहीं चाहा था,
कभी नहीं जाना था,
कभी नहीं पाया था :
लगा कि जो भीतर था, वही मेरे बाहर था :
जो मेरा बाहर था, वही मेरा भीतर था :
लगा कि मेरी आत्मा ही मेरा शरीर थी :
कि मेरा शरीर भी मेरी आत्मा ही था···!

····अब कुछ भी सोचने और जानने को
शेष नहीं रह गया था :
मगर मेरा यह कमरा, एकदम ठोस,
और अपनी जगह पर अटल है :
वह एक मकान में है, जो मकान पृथ्वी के
कई मकानों से घिरा,
अपने तीन आयामों में सीमित है :
उस में एक स्त्री की लाश है :
वह किस की है, यह देखना पुलिस का
प्रयोजन नहीं :
वह लाश है, और उस कमरे में पायी गयी है—
उसी पलंग पर, जिस पर मैं सोती हूँ,
और वहीं उस की हत्या हुई है :
मैं मुजरिम हूँ,
और मुझे जवाबदेही करनी होगी :

···एकाएक बाहर के तीनों आयामों ने आ कर
मुझे दीवारों-सा जकड़ लिया :
एक भय की फुरहरी-सी मुझ में दौड़ गयी :
····किन्तु अगले ही क्षण, मुझे हँसी आ गयी
इस सारी दुनिया के खेल पर—
और दया भी···
····कि हाय, ये जो अपनी नाक से आगे
नहीं देख पाते,
अपने चेहरे तक को देखने के लिए जिन्हें
आईना चाहिए,
उन्हें अपनी इस स्थिति की क़ैफ़ियत कैसे दूँ····?
कैसे समझाऊँ उन्हें
कि मैं ही अपनी हत्यारी हूँ·· !

···मेरे भीतर से एकाएक जैसे किसी ने
आवाज़ दे कर पुकारा :
'हरि बहादुर····ओ हरि बहादुर····!' :
जवाब में मेरा गोरखा हरि बहादुर सिंह
आँख मींजता द्वार में आ कर खड़ा हो गया,
और खटके से उस ने एक फ़ौजी सलाम दी।
····आदेश आया मेरे भीतर से :
'हरि बहादुर, बँगले के फाटक पर
जो मिट्टी का घड़ा पड़ा है,
उसे उठा लाओ····!'
'फाटक पर तो कोई मिट्टी का घड़ा नहीं है,
रानी-माँ !
····मैं वहीं से तो आ रहा हूँ····!'
'है····मैं देख रही हूँ : जा कर देखो, और
उठा लाओ····!'
···गोरखे से केवल जाते ही बना :

क्षण-मात्र में ही वह,
मिट्टी का वह बड़ा-सा घड़ा उठा लाया :
देख कर मैं हैरत में थी, उस की विशा-
लता और समग्रता :
जैसे एक समूचा पृथ्वी का गोलक हो हो····!

फिर एक आदेश कौंधा मेरे भीतर से :
'पलँग पर पड़ी उस लाश को,
अपनी कमर पर टँगी कटार से काट कर
टुकड़े-टुकड़े कर दो, और
इस घड़े में भर दो···!'

गोरखा कुछ पूछने, जानने, विकल्प करने की
स्थिति से परे,
महज़ आज्ञा पालन करने लगा :
अत्यन्त निर्मम, निस्सन्देह, अभय,
मैं ने वह होते देखा :
जैसे कोई गोरखा नहीं,
एक परछाँही, एक परछाँही के साथ
कुछ कर रही थी :
एक पिण्ड अपने-ही-आप में सिमट रहा था :
एक कटार अपने ही को काट रही थी :
एक फ़ौलाद अपने ही टुकड़ों को
अपने में भरे ले रहा था····!
समय की रफ़्तार से कहीं आगे की रफ़्तार में
उस बड़े-सारे घड़े के भीतर
लाश के टुकड़े यों भर दिये गये :
जैसे बाहर का सारा पृथ्वी-पट भयभीत हो कर
उस घट में समा गया····!

····वॉर्ड-रोब में से निकाल कर
अपना बेहतरीन कश्मीरी शाल मैं ने घड़े पर
डाल दिया,
और उस पर कस्तूरी का इत्र छिड़क दिया :
सारा कमरा उस महक में घूम गया :
····और हरि बहादुर ने मेरा इशारा पा कर
घड़ा उठा लिया···।
'हरि बहादुर, चलो तेजल तालाब की ओर····
मेरे पीछे-पीछे चले आओ···!'

तेजल तालाब के बीचोबीच,
कमल-वन की सघन छावों में वह घड़ा
विसर्जित कर के,
मैं जब नाव से किनारे लौट रही थी,
तब फूटती द्वाभा में,
फूटते कमलों की मोतिया रोशनी में
मैं ने देखा :
मैं उस तट पर खड़ी,
इस नाव में लौट रही लड़की की
प्रतीक्षा में हूँ :
मैं ने उसी क्षण देखा :
मैं अपनी बॉलकनी पर खड़ी
देख रही हूँ···

मेरा सत्यवान
सारी दूरियों और आयामों को अपनी
नाव में समेटे,
तेज़ी से डाँड़ चलाता
मेरी ओर लौट रहा है···!

वेणु की चक

कुबेरनाथ राय

• ललित •

घास को मैं सृष्टि की एक निरीह दबी हुई क़ौम मानता था। पर जब से पढ़ा कि बाँस भी एक घास है और संस्कृत कोशकारों ने इस की संज्ञा महातृण दी है तो मेरी धारणा बदल गयी है और घास का भी लोहा मान लेना पड़ा। जिस की लाठी-जैसी सन्तान हो उस का लोहा मान लेने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है? पानी में रह कर मगर से और धरती पर रह कर बाँस से बैर करने में ख़ैर नहीं। यों बाँस से मुझे पहले भी एक लगाव था और मैं तो बाँसवन को उतना ही काव्यमय मानता हूँ जितना आच्छोद सरोवर का पुण्डरीकवन या लंकापुरी का अशोकवन। सारी कविता के अनुभव का उत्स हमारे अन्दर निहित आदिम मन ही है और आदिम आरण्यक मन की उपलब्धि जितनी जल्दी सघन और निचाट बाँसवन के बीच चलते समय होती है उतनी अन्यत्र नहीं। लगता है कि झाड़-प्रति-झाड़ श्वापद बैठे हैं या भुजंग घात लगाये हैं और उन की लोलुप हिंस्र पीली आँखें मुझे ही घूर रही हैं, मानो अरण्य लुब्धक की भाँति मेरी ही प्रतीक्षा कर रहा है। भयानक रस का यह अनुभव बड़ा ही रम्य होता है। इस रम्य को दारुण-रमणीक कह सकते हैं। और दारुण का भी तो एक सौन्दर्य है, अपना एक स्वाद है और उस से भी यदि वह उचित मात्रा में हो तो जीवन वैसे ही स्वादिष्ट और सरस होता है जैसे कटु तिक्त मिर्च से भोजन। इस दारुण-रमणीक का अनुभव मुझे अपने गाँव के बाँसवनों में झन्न-झन्न करती निचाट सूनी दुपहरिया में अक्सर होता है। लगता है कि कोई अदृश्य कवि हाथ उठा कर कह रहा है—'पश्यतु महाभागः प्रशान्तगम्भीराणि श्वापदकुलशरण्यानि महारण्यानि।' और इस आदिम वातावरण में भीतर-ही-भीतर मैं एक उद्दाम लालसामय महाकाव्य-

मन का आहरण करने लगता है। पर जैसे-जैसे सन्ध्या निकट आने लगती है वैसे-वैसे बांसवन का चेहरा बदलने लगता है। ऊपर शोरगुल करती हरी-काली-सफ़ेद-भूरी बलाकाएँ रैनबसेरा के लिए उतरती हैं, नीचे मांद से स्यार और खरगोश बाहर निकलते हैं, साथ ही साँप भी वायु-विहार के लिए निकलता है और रह-रह कर फण खड़ा कर के मुँह खोल कर हवा पीता है। आदमी भी कभी वल्कल पहन कर इन्हीं के साथ था। पर भूमा के आवेग ने उसे इस आदिम परिवार से बाहर कर दिया और फलतः वह अपने स्थावर-जंगम भाई-बन्धुओं के बीच रह कर भी 'बाहरी' अर्थात् 'आउटसाइडर' की व्यथा और अभिमान भोग रहा है। पर वास्तव में यह आत्म-मूल्यांकन उस की खामःखयाली नहीं। यह कोई घमण्ड की बात नहीं, भूमा अर्थात् विस्तार धर्म की स्वीकृति है जो उस के साममण्डल को निरन्तर विस्तृत करती-करती आज अन्तरिक्ष-विजय और चन्द्रमण्डल पर पदार्पण की स्थिति में ले जा चुकी है। परन्तु साथ ही मनुष्य अब भी आरण्यक है। वह द्वैत के आकर्षण से पीड़ित रहता है और उस का ऐसा स्वभाव ही है कि वह द्वैत के आकर्षण में सदैव ही बद्ध रहेगा, चाहे वह चन्द्रमण्डल पर खेती करे या मंगल ग्रह पर जा कर युद्ध कर सकने में समर्थ हो जाये। यह द्वैत है आदिम का आकर्षण और भूमा का उद्वेग। ये दोनों परस्पर-विरोधी हैं और परस्पर-पूरक भी। डार्विन बता गया कि ईश्वर नहीं है और नीत्शे उन की मृत्यु की घोषणा-दर्शन का तूर्य बजा कर गया। पर मनुष्य तब से आज कम ईश्वर-आबद्ध नहीं। आर्मस्ट्रांग कहता है: चाँद पत्थरों का ढूह है और लोगों ने कहना शुरू किया है कि अब कविता मर कर रहेगी। पर तथ्य तो यह है कि चाँद आज भी सुन्दर है और अनादि काल तक सुन्दर रहेगा। प्रेम-व्यापार को शुद्ध बॉयलॉजिकल 'फ़ैक्ट' मानने के फ़ैशन के बावजूद नारी आज भी सुन्दर है। आज भी त्रिपुरसुन्दरी का चेहरा उस पर आरोपित हो कर जो चाहे करा लेता है। यही कारण है कि मैं आदिम मन की चिरन्तनता और उस की सार्वकालिक सत्ता में विश्वासी हूँ। अवचेतन-अचेतन तथा भविष्यमुखी अतिमानस के क्रिया-प्रवाह डार्विन और 'अपोलो-ग्यारह' से अधिक मूलभूत शक्तिशाली और सनातन हैं। वैज्ञानिक भूमा के निरन्तर बृहत्तर होते हुए साममण्डल में जीने वाला बीसवीं शताब्दी का पुरुष भी मन की गहन घाटियों में छाये हुए घने श्यामल आदिम अरण्यों को उखाड़ फेंकने में असमर्थ है जिन में अब भी मध्य एशिया के कस्तूरीमृग चरते हैं, मोहनजोदड़ो का पुंगव वृषभ सींग उठा कर हुँकड़ता है, साथ ही जिन में सघन अरहर के खेतों में गंगातीरी भैंसें सींग में सींग भिड़ा कर क्रुद्ध रक्तवर्ण नेत्र से परस्पर भिड़ जाते हैं तो दूसरी ओर कजीरंगा के जंगलों में विकल सन्त्रस्त तीक्ष्णदन्त शूकर थूथन से कूँथता और वृक्ष की जड़ों पर दाढ़ें

रगड़ता है ! बाहर के पितामह आरण्यक को प्रणाम कर के हम ने दूर-दूर गाँव-नगर बसा लिया है। पर मन की गहरी घाटियों में आदिमता अपने सारे अरण्यों, श्वापदों, लालसाओं और वासनाओं के साथ अखण्ड राज कर रही है। उस का छत्र-भंग होने वाला नहीं। इसी से मेरा विश्वास है कि आज के हज़ार-हज़ार वर्ष बाद भी जब-जब "पूर्णिमा निशीथे दशदिशा परिपूर्णहासि" का वातावरण उपस्थित होगा तो मेरे किसी रूपान्तर की व्याकुल हृदय-वंशी यही कहेगी कि आकाश में मिस 'चन्द्रमा' टैगोर का चेहरा उग आया है, और तब भी जब-जब दिन में ही तमसाच्छन्न रहने वाले बाँसवन में मेरा भावी आरण्यक पुरुष घूमेगा तो वह भय और लालसा के गन्ने चूसता हुआ रम्य दारुण का रस पायेगा ही। यन्त्र और विज्ञान इस सृष्टि से प्राण-तत्त्व का और हरीतिमा का सर्व-संहार कभी नहीं कर पायेंगे और कहीं-न-कहीं बाँस-करील, बबूल-झड़बेरी या आदिम अनगढ़ और असंस्कृत प्राण वाला कुछ-न-कुछ शेष रह ही जायेगा, जो मुझे पुकार कर कहेगा : "पश्यतु महाभाग, प्रशान्तगम्भीराणि श्वापदकुल-शरण्यानि महारण्यानि !"

बाँस हमारे आरण्यक जीवनका मृत-मूक नहीं, जीवन्त-मुखर स्मारक आज भी है। उटज, पर्ण-कुटीर, डेरा, छप्पर चाहिए; छत का ठाठ और फड़ चाहिए; खम्भे-थुन्ही और बाड़े चाहिए; खटिया और मचान चाहिए और सब से बढ़ कर धर्मराज की खास बेटी और शासन की कीली 'लाठी' चाहिए एवं हो सके तो चाहिए ग्वाल बाल-सन्थाल की मादल के ताल पर बजने वाली सात सुरों की मोहक एक वंशी भी। और ये सब बाँस के ही दान हैं। वैदिक आर्य भले ही 'शाल' को महत्त्व दें, क्योंकि वे शाल-काष्ठ से ही घर बनाते थे। 'शाला' शब्द इसी तथ्य का द्योतक भी है। परन्तु आर्य-द्रविड़ों की सम्मिलित हिन्दुस्तानी संस्कृति की श्रद्धा का पात्र बाँस ही है। राष्ट्रीय फूल, राष्ट्रीय पशु और राष्ट्रीय पक्षी तो सरकार-द्वारा भी क्रमशः कमल, सिंह और मयूर स्वीकृत हो चुके हैं। अब यदि राष्ट्रीय घास चुनने का प्रस्ताव आये तो दो ही सार्थक नाम हैं : या तो सब से नन्हीं-मुन्हीं दूब, नहीं तो नंग-धड़ंग लम्बवत् विशाल बीरोपम बाँस। मेरी समझ से यह पदवी बाँस को ही दी जानी चाहिए क्योंकि इस की सेवा के बावजूद सुश्रुत महाराज ने निघण्टु में इसे 'तृण' घोषित कर जो इस की बेइज्जती की है उस का कुछ तो परिहार हो जायेगा। मुझे तो शक होता है, सुश्रुत महाराज को कभी किसी ने बाँस-सेवन करा दिया था, फलतः बाँस पर ही नाराज हो कर उसे घास-पात कह कर बूढ़े ऋषि ने अपना क्रोध शान्त किया। पर राष्ट्रकवि कालिदास हिमालय के बाँसवनों की शोभा पर मुग्ध थे। उन कीचक-रन्ध्रों के मध्य से गुजरती हवा एक अपूर्व वंशी-स्वर बन जाती थी और अदृश्य किन्नरों के तार स्वर

पर चढ़े गीत-प्रवाह के साथ उस स्तब्ध शान्त श्यामल गोरी-देश में वाद्य-संगत करने लगती थी। तब कवि को लगता था कि चराचर के सहयोग से एक विराट् संगीत का जन्म हो रहा है। परन्तु विष्णु की भुजाओं की उपमा देते समय कालिदास बाँस को भूल गये और अनन्त-शायी आदिपुरुष को "प्रांशुशाल महाभुज:" कह कर उन्होंने वैदिक आर्यों के शाल वृक्ष को ही वह महत्त्व दिया। परन्तु शुद्ध हिन्दुस्तानी मन का वाहक द्राविड कवि कम्बन बाँस को भूला नहीं है और सीता के अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन करते-करते भुजाओं की उपमा लता या मृणाल से न दे कर नरम लचकदार फूटते बाँस की कंछो से देता है। लचक, तन्विता, फूटती हरित कच्ची लुनाई, शक्ति-सम्पन्नता और मसृणता के हिसाब से उपमा अत्यन्त सटीक है। इतनी सटीक न तो 'मृणाल' है और न 'लता'। यों सतही तौर पर देखने पर तो यह भोजपुरी स्वभाव वाली उपमा लगती है और यदि नायिका की प्रौढ़ता-प्रगलभता के साथ उस की भुजा में भी बाँस की प्रौढ़ता-प्रगलभता प्रवेश करे तो उस बेचारे नायक के प्रति सहानुभूति में मैं दो बूँद आँसू भी गिराने को तैयार हूँ क्योंकि ऐसी अवस्था में प्रेम की वंशी के बदले प्रेम की लाठी ही बजा करेगी।

वंशी और लाठी, वेणु और कीचक, ये दोनों बाँस की सर्वश्रेष्ठ सन्तानें हैं। ये दोनों बाँस की अपर संज्ञाएँ भी हैं। वेणु माने वंशी और वेणु माने बाँस भी। वैसे ही कीचक का अर्थ होता है बाँस और कीचक एक पहलवान-सम्प्रदाय का भी नाम रहा है जिन में एक सौ का वध भीम ने विराट् नगर में किया था। बाँस जब पहलवान-भूमिका ग्रहण करता तो उस की संज्ञा होती है लाठी। अतः कीचक माने 'लाठी' ग्रहण करना बावन तोले पाव रत्ती सही है। वंशी और लाठी, वेणु और कीचक बाँस-कुल की परस्पर-विरोधी पर साथ ही परस्पर-पूरक महिमा के द्योतक हैं।

वंशी का समादर भारतीय साहित्य की मुख्य थीम रही है। व्यास से सूरदास और सूरदास से ठाकुरप्रसाद सिंह तक सात सुरों के वाक्-दीप निरन्तर जलते रहे हैं। इस भारत को संज्ञा हिन्दू महाजागरण के दिनों 'चिन्मय' भारत दी गयी। उस की यह चिन्मयता वंशी स्वर की तरह निर्गुण और अरूप होते हुए भी आनन्द अर्थात् जीवन की स्वीकृति से संयुक्त है। यह चिन्मयता चिद्रूपिणी है और सत्य से उत्पन्न होती है तथा अगले स्तर आनन्द की भूमिका है। और दूसरे धर्मों में चरम सत्य को 'सत्य' माना गया है पर हिन्दू धर्म में चरम सत्य दो क़दम और बढ़ा कर सत्-चित् और आनन्द है। आनन्दमयी चिन्मयता जीवन को स्वीकार किये बिना सम्भव ही नहीं क्योंकि आनन्द का एकमात्र स्रोत है लीला और यह लीला जीवन का ही दूसरा नाम है। इसी से अन्य धर्मों के प्रतिकूल चिन्मयता यहाँ आनन्दमुखी है निवृत्तिमूलक नहीं।

और इस चिन्मयता का श्रेष्ठतम देवता है वंशीवादक श्रीकृष्ण जिस की ओर घनघोर अद्वैतवादी भी अन्त में मुड़ जाते हैं। 'अद्वैतसिद्धि' के लेखक मधुसूदन सरस्वती-जैसा प्रचण्ड प्रतिभावान् संन्यासी भी अन्त में कह ही उठा :

"ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन् निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति ।"

—मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि कालिन्दी के तट पर कुछ नीला-नीला है, उसी की ओर मेरा मन दौड़ता है। वेदव्यास, रामानुजाचार्य, चैतन्यदेव, श्रीधराचार्य, और मधुसूदन सरस्वती-जैसे दार्शनिक एक ओर, तो दूसरी ओर जयदेव, विद्यापति, सूरदास, चण्डीदास और अन्त में रवीन्द्रनाथ-जैसे कवि इस चिन्मय वंशी का स्वर-दीपक ज्वलन्त रखे रहे। पर बाद में हवा कुछ और बही, मौसम कुछ और आया, लेकिन वंशी का स्वर मरा नहीं और वह सन्थालों तथा जन-जातियों की वंशी में प्रविष्ट हो गया। अब युगबोध का मरदाना स्वर मादल भी उस की संगत करने लगा। वंशी और मादल बंगला, असमिया और हिन्दी-साहित्य में विभिन्न रूपों में बज उठे। छन्द टूटा नहीं। कहीं पर मादल तो कहीं पर वैष्णवों का श्री-खोल (एक तरह का मृदंग)—पर अर्धनारीश्वर स्वर-लीला अविराम चलती रही, और आज भी चल रही है। मेरे मन में असमिया बिहूनृत्य का एक दृश्य उपस्थित हो जाता है। खोल और वंशी की लय में इस मायादेश की कन्याओं की एक पूरी पाँत, गोया यह पाँत न हो कर एक प्रवाहमयी नदी हो या कालिदास के मेघदूत की एक पंक्ति हो, क्रम और प्रतिक्रम में डोल रही है और इसी के साथ प्रति-समानान्तर पाँत लड़कों की है जो मन्त्रविद्ध सर्प-सी लहर खा रही है। लड़की कहती है :

"ओ मेरे कान के फूल, वसन्त आ गया है
ओ मेरे पैर के अलंकार, वसन्त आ गया है
ओ पर्वत तुम तो बात नहीं करना जानते
ओ शिलाखण्ड तुम तो गान नहीं गाना जानते ।"

—लड़का सुनता है। अपनी उपमा 'कान के फूल' तो कोई बुरी उपमा नहीं पर वह पैर का अलंकार पर्वत और शिलाखण्ड (यानी गँवार प्रेमी) बनना कैसे बरदाश्त करे? एक लड़का हाथ उठा कर कहता है :

"बिहू रे, बिहू, देख न इस मदार के फूल को!"

(असम में खूबसूरत पर कठोर हृदय वाली लड़की को मदार का फूल कहते हैं) तो दूसरा लड़का गाता है : "अरी ओ मदार की फूल तुझे पूछे कौन ?

अरी ओ जंगल की बेटी तुझे पूछे कौन ? मैं तो ढूँढ़ रहा अपनी मैना ! नीले जंगल में आह, खो गयी मैना !"

—परन्तु मानव-कण्ठ का गीत, खोल का 'तिक्,धा' स्वर सब व्यर्थ हो जाता, कोई छन्द ही नहीं बन पाता और सारा दृश्य उदास हो जाता यदि असमिया बाँस की सस्ती वंशी, गुणमयी 'बाँही' इन सब के ऊपर नहीं पिहकती । मुझे ऐसे क्षणों में ठाकुर प्रसाद सिंह की 'पाँच जोड़ बाँसुरी' याद आ जाती है । एक रेखा गुजरात से उठती है द्वारकाधीश के ठीक चरण-तल से, और वृन्दावन, नवद्वीप, पुरी होती हुई माँजुली और मणिपुर तक जाती है; और यह वंशी-स्वर तथा गीत की रेखा है । दूसरी रेखा उत्तर से होती हुई दक्षिण दण्डकारण्य हम्पी (किष्किन्धा), श्रीरंगपट्टन, रामनाथपुरम् से रामेश्वर तक जाती है । यह महाकाव्य और धनुषटंकार की रेखा है । दोनों रेखाएं परस्पर उत्तर प्रदेश में मिलती हैं । इन रेखाओं के इर्द-गिर्द जिस भाव-संस्कार की रचना होती है वह है 'हिन्दुस्तान' । हिन्दुस्तान को कोई बाहर से बाँधने वाली सीमा-रेखा या परिधि नहीं । यह बाहर की ओर निर्बन्ध मुक्त और विस्तृत है और इस में महत्त्व है सिर्फ़ इन्हीं दो अन्तर्वाहिनी रेखाओं का । इन्हीं के इर्द-गिर्द जो संस्कार पैदा होते हैं उन की सामूहिक संज्ञा है भारतीय मन या हिन्दुस्तानी मन । देश की देह बदल सकती है पर मन की रचना-पुनर्रचना इन दो रेखाओं के इर्द-गिर्द ही होती रहेगी । अतीत में शरशय्या की यन्त्रणा में पड़ा देश इन्हीं दो रेखाओं के बल पर बच निकला और नया रूपान्तर करने में आत्मा खण्ड-खण्ड हो कर गिर नहीं पड़ी ।

यह तो वंशी की महिमा है । पर लाठी का भी कोई गीतगोविन्दम् कहीं पर है ? गीतगोविन्दम् की कौन कहे इस महागुणमयी धर्मराज की बड़ी बेटी की करतूतों का महाभारत कभी नहीं खत्म होने वाला महाकाव्य है । ललित कलाओं को छोड़ सारे शास्त्र सारी संहिताएँ इसी लाठी के वाङ्मय-रूप हैं । और इस के प्रत्यक्ष रूप का परिचय यदि मुझ-जैसे भोजपुरी से ज्यादा किसी को होगा तो वह हरियाना का जाट होगा और कोई नहीं । यह लाठी भोजपुरी संस्कृति की वैसे ही प्रतीक है जैसे बंग-संस्कृति के प्रतीक हैं 'छाजा बाजा-केश', असमिया संस्कृति के प्रतीक हैं ताम्बूल और मेखला, सिख संस्कृति के प्रतीक हैं दाढ़ी और कृपाण । मुन्शी बलदेव राम की छड़ी, यदुनाथसिंह का सोटा, बाबा की लोहामढ़ी लाठी आदि को नमस्कार कर के इतिहास पर नज़र डालता हूँ तो एक-से-एक लाठियाँ दिखाई पड़ती हैं । हज़रत मूसा की लाठी जिस से इजिप्ट के सम्राट् की धड़कनें बन्द होने-होने को हो गयीं,

कनफ़्यूसियस और मनु की दण्डरूप विधायक लाठियाँ और शंकराचार्य का दण्ड-कमण्डल एवं गान्धी जी की लाठी—ये हमारी नज़रों के सामने घूमने लगती हैं। तथ्य तो यह है कि हरेक पैग़म्बर और ऋषि लाठी वाला रहा है। करुणामय गौतम के हाथ में भिक्षापात्र है लाठी नहीं। पर 'शनैः पन्था, शनैः कन्था, शनैः पर्वतलंघनम्' के आदर्श वाले बौद्ध भिक्षु हिमालय को बिना लाठी के लाँघे कैसे होंगे? पैग़म्बरों में ईसा-मसीह के पास न तो लाठी है और न कमण्डल। है सिर्फ़ पैरों और हथेलियों में घाव और टपकता खून। श्रीकृष्ण के हाथ में लाठी नहीं, वंशी है। पर उस से क्या होता है? उन का सारा खानदान ही लट्ठधर था और वे स्वयं चक्र का नियमन करते थे। इस स्थल पर मुझे 'शान्तिपर्व' में वर्णित एक प्रसंग याद आ जाता है। बेचारे कृष्ण, जो दुनिया की नज़रों में परात्पर प्रभु हैं और अपने समय में भी कमोबेश जीवित देवता का सम्मान बाहर-बाहर पाया करते थे, नारद से दुःखपूर्वक कह रहे हैं: "मैं कहने के लिए तो ऐश्वर्य का भोक्ता हूँ, पर मैं दरअसल हूँ अपने दायादों का गुलाम। आधे का मालिक मैं हूँ और आधा के स्वामी हैं आहुक अक्रूर। मैं बान्धवों के अर्थात् दायादों के कटु वाक्यों को क्षमा करता आया हूँ। मेरा हृदय मुझे ऐसा मथ रहा है जैसे भीतर-ही-भीतर कोई अरणी मन्थन कर रहा हो। संकर्षण को केवल बल का अभिमान है और गद को अपनी सुकुमारता का: उधर प्रद्युम्न सोचते हैं कि उन के समान दूसरा कोई रूपवान् है ही नहीं। हे नारद, मेरी कोई नहीं सुनता। सब अपनी-अपनी समृद्धि के फेर में पड़े हैं। आपस के चलने वाले निरन्तर कलह में मेरी हालत दो जुआरियों की माँ की तरह है—वह किस की जय मनावे? उस की या इस की? मैं तो बड़े फेर में हूँ। वह तो किसी तरह अक्रूर मेरी मान जाते हैं तो खींच-खाँच कर चला रहा हूँ। नहीं तो बड़ी दुर्गति है।" कृष्ण राजा नहीं थे। यादवों का शासन-तन्त्र गणतान्त्रिक था। वृष्णि और अन्धक यही दो खानदान मुख्य थे। वृष्णिवंश के नेता थे वसुदेव और बाद में श्रीकृष्ण तथा अन्धकवंश के नेता थे अक्रूर-कृतवर्मा आदि। गणतन्त्र के अन्दर प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति का सर्वोच्च और अनिवार्य गुण होना चाहिए औरों के विचारों को सहन करने की क्षमता। यदि इस क्षमता का अभाव है तो वह गणतन्त्र नहीं टिक सकेगा और उस की चरम परिणति होगी प्रभास क्षेत्र। कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है—वहाँ पाप और पुण्य की, न्याय और अन्याय की लड़ाई है, अतः वहाँ से रक्त के भीतर सी मंगल का शतदल विकसित होगा यह निश्चय है। पर प्रभास क्षेत्र पाप-क्षेत्र है। वहाँ पाप और पाप, मदोन्मत्तता और मदोन्मत्तता, लिप्सा और लिप्सा के बीच सर्वान्तिक युद्ध हुआ था। उस युद्ध के पीछे न्याय-दाय नहीं मात्र सुरापान था। इस महाभारतकालीन लाठी-संस्कृति की तुलना कभी-कभी आज

से करता हूँ तो ग्लानि हो आती है। क्या हमारी क़िस्मत में भी पवित्र कुरुक्षेत्र नहीं पतित प्रभास क्षेत्र ही बदा है ? एक ज़माना था कि जिस की लाठी उस की भैंस, पर आज का हिन्दुस्तान दो क़दम और भीतर धँस गया है और आज है जिस की लाठी उस की भैंस के साथ-साथ ग़रीब भैंसवाला भी। 'गीता-रहस्य,'हिन्द स्वराज' और 'संविधान' तीनों मेरी समझ से आदर्श 'हिन्दुस्तान के अभिनव साम-ऋक् और यजुर्वेद हैं और इन तीनों को यदि हृदय से स्वीकृत कर के चौथे 'दास कैपिटल' के अथर्व वेद का भी देश वरण करे तो कोई विशेष आत्मक्षय या हानि नहीं। परन्तु स्थिति देखते हुए लगता है कि इन चारों के आगे बढ़ कर देश पंचम पुरुषार्थ और पंचमवेद की ओर ही आगे जायेगा और वह पंचमवेद होगा लाठी वेद। अतः एक मजबूत मिर्ज़ापुरी लाठी कहीं से जुटा कर रख लेना ठीक होगा। मेरी समझ से शतरुद्रिय का मन्त्रकर्त्ता ऋषि ज़रूर भविष्यदर्शी रहा होगा अन्यथा बीसवीं शती के आने वाले रुद्र युग के उपयुक्त प्रार्थना वह कैसे लिख जाता।

"नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमः
नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमः

नमऽ उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमः
नमऽ इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमः"

गान्धी जी, गणतन्त्र और संविधान का नाम लेने से क्या होगा ? गान्धीशताब्दी मनाने से क्या होगा ? गान्धी जी की लाठी को, उन के मंगलानुशासन को, तो श्री नेहरू ने 'सर्वोदय' शब्द को अस्वीकृत कर के तोड़ कर रख दिया और गान्धीवादी एक पत्तल भात पा कर चुप रह गये। गान्धी जी का मुरदा मांस राजनीति की दूकान पर बीसों साल बिका पर अब इस के दिन लद गये और हमारे पापों का शोधक रुद्र युग आ रहा है। अतः गान्धीशताब्दी के नाम पर एवं गान्धीदर्शन के नाम पर गान्धारी दर्शन की पट्टी आँखों पर बाँधने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम अपने किये कर्मों का स्मरण करें और त्राण कर्ता उपाय का चिन्तन करें, कोई बचाव का मार्ग ढूंढ़ें। 'कृतं स्मर कृतो स्मर' ही हमारी प्रार्थना होनी चाहिए। अन्यथा हमें कहने को बाध्य होना पड़ेगा "तस्कराणां पतये नमो नमः, कुलुञ्चानां पतये नमो नमः।" और यह तस्करों लुच्चों का नया स्वामी मंगलमय रुद्र न हो कर कोई और ही होगा जो अभी से 'छीः मानुष, छीः मानुष' कर रहा है एवं जिसे डॉ० लोहिया ने 'एशिया की अन्तिम बेड़ी' की संज्ञा दी थी। ■■

साम्य के सूत्रधार भगवान् महावीर

इन्द्रचन्द्र शास्त्री

भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पत्ति के रूप में छब्बीस गुण बताये गये हैं। उन में प्रथम स्थान अभय का है। भगवान् महावीर ने अपने जीवन को प्रयोगशाला बना कर इसी की आराधना की थी। उन का कथन है कि जब तक दूसरा व्यक्ति हम से भयभीत है तब तक स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं हो सकता। प्रथम भय का कारण द्वेष अथवा हिंसा-वृत्ति है। द्वितीय का राग अथवा संग्रह-वृत्ति। जब तक हमारा बाह्य वस्तु के प्रति अनुराग है तब तक उस के अपहरण की मनोवृत्ति तथा विनाश का भय बना रहेगा।

दैवी सम्पत्ति में दूसरा स्थान सत्वसंशुद्धि अर्थात् हृदय की पवित्रता का है। जब तक मन में किसी प्रकार का भय बना है तब तक हृदय में पवित्रता नहीं आ सकती। तृतीय स्थान ज्ञानयोगव्यवस्थितिः अर्थात् सत्यनिष्ठा का है, जो हृदय-शुद्धि के बिना नहीं आ सकती। इस प्रकार तीनों में कार्य-कारण भाव है।

राजनीति में इन्हीं का प्रयोग लोकतन्त्र के रूप में हो रहा है। साम्राज्यवाद तथा अधिनायकवाद भय पर खड़े होते हैं। फलस्वरूप शासक को शासित से सन्देह बना रहता है और शासित से शासक को। भय और सन्देह के वातावरण में कोई निश्चिन्त हो कर नहीं

बैठ सकता और प्रगति रुक जाती है। स्वतन्त्रता प्रगति का अनिवार्य तत्त्व है। जहाँ मन, वाणी अथवा शरीर पर प्रतिबन्ध लगा हुआ हो, उस समाज का विकास रुक जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जायेगा कि जीवन समाप्त होता चला जाता है।

इन भयों पर विजय प्राप्त करने के लिए भगवान् महावीर ने अहिंसा और अपरिग्रह की साधना प्रस्तुत की। पाँच महाव्रतों में इन का प्रथम तथा अन्तिम स्थान है। शेष व्रत इन्हीं का विस्तार कहे जा सकते हैं।

अहिंसा दूसरे को निर्भय बनने के लिए कहती है। और अपरिग्रह-द्वारा व्यक्ति स्वयं निर्भय बनता है। इसी ने दार्शनिक भूमिका पर अनेकान्त का रूप ले लिया। धन, सम्पत्ति, शरीर आदि बाह्य वस्तुओं के समान हमें किसी के विचारों पर भी आक्रमण नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर विरोधी दृष्टिकोण को समझने के लिए हृदय खुला रखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के अपने मानसिक संस्कार होते हैं। बौद्धिक धरातल तथा सामाजिक वातावरण सब का एक-सा नहीं होता। उन सब का विचार किये बिना किसी को झूठा कहना सत्य से दूर हटना है। इसी दृष्टिकोण का पारिभाषिक नाम स्याद्वाद अथवा अनेकान्त है।

सामायिक

जिस प्रकार वैदिक परम्परा दैनन्दिन अनुष्ठान के रूप में सन्ध्या का विधान करती है, उसी प्रकार जैन परम्परा में सामायिक का विधान है। सन्ध्या शब्द 'ध्यै चिन्तायाम्' से बना है, सम् उपसर्ग सामंजस्य अथवा सम्बन्ध को प्रकट करता है। उस समय साधक परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ कर प्रेरणा प्राप्त करता है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' का यही अर्थ है। सामायिक का अर्थ है साम्य को जीवन में उतारने का अभ्यास।

इस की व्युत्पत्ति है—'समस्य आयः समायः स प्रयोजनम् यस्य तत्सामायिकम्'—अर्थात् वह अभ्यास जिस के द्वारा समता को जीवन में उतारा जा सके। जैन आचारशास्त्र व्यवहार में समता का पाठ सिखाता है और जैन दर्शन विचारों में समता का।

आत्म-पर्यालोचन के रूप में प्रतिक्रमण का विधान है। मुनि इसे प्रतिदिन दो बार करता है और गृहस्थ से यथाशक्ति अनुष्ठान की अपेक्षा की जाती है। इस का प्रारम्भ सामायिक से होता है और अन्त मित्रता की घोषणा-द्वारा। साधक कहता है—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूमेसु, वरं मज्झं ण केणई।

मैं सब प्राणियों को क्षमा प्रदान करता हूँ। सब प्राणी मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरी सब से मित्रता है, किसी से वैर नहीं है।

जैन परम्परा का सब से बड़ा पर्व पर्यूषण अथवा संवत्सरी कहा जाता है। उस दिन प्रायः उपवास रखा जाता है और सारा दिन आत्म-चिन्तन में व्यतीत करते हैं। सूर्यास्त के पश्चात् सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया जाता है और प्रत्येक सदस्य से अपेक्षा रखी जाती है

कि पिछला मनमुटाव भूल जाय और सभी के साथ मित्रता का नया सम्बन्ध जोड़ लें। जो ऐसा नहीं करता उसे अपने को जैन कहने का अधिकार नहीं है। यदि तनावों से घिरे हुए राष्ट्र प्रति पाँच वर्ष के पश्चात् भी यह घोषणा करना सीख लें तो विश्व की बहुत-सी समस्याएं अनायास ही सुलझ जायें।

आचरण सूत्र भगवान् महावीर का प्रथम उपदेश है। वे कहते हैं, "जब तुम किसी को मारने, सताने अथवा अन्य प्रकार से कष्ट देना चाहते हो तो उस की जगह अपने को रख कर सोचो अर्थात् यदि वही व्यवहार तुम्हारे साथ किया जाता तो तुम्हें कैसा लगता ? यदि यह मानते हो कि तुम्हें अप्रिय लगता तो समझ लो दूसरे को भी अप्रिय लगेगा। यदि तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार करे तो तुम भी दूसरे के साथ मत करो।"

प्रस्तुत उपदेश जैन धर्म तथा दर्शन सभी की आधारशिला है। अथवा यों कहना चाहिए कि बीज वृक्ष बन कर विभिन्न शाखा के रूप में प्रस्फुटित हुआ। संक्षेप में उन्हें निम्नलिखित चार क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है—

१. परस्पर व्यवहार में साम्य : इसी के पारिभाषिक नाम अहिंसा और अपरिग्रह हैं। प्रथम में द्वेषमूलक वैषम्य पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। द्वितीय में रागमूलक वैषम्य पर।

यह वैषम्य अनेक आधारों को ले कर देखा गया है। कभी स्वार्थ आपस में टकराते हैं, कभी रुचियाँ टकराती हैं, कभी अहंकार और मिथ्या अभिनिवेश। जैन धर्म का कथन है कि दूसरे के स्वार्थ को भी उतना ही महत्त्व देना चाहिए जितना हम अपने स्वार्थ को देते हैं। दूसरे की रुचि का भी उतना ही आदर करना चाहिए जितना अपनी रुचि का किया जाता है। यही बात अहंकार तथा अभिनिवेशों की है।

२. विचारों में साम्य : यह जैन दर्शन का प्राण है। प्रत्येक वस्तु के अनेक दृष्टिकोण होते हैं। एक ही स्त्री किसी की माता, किसी की पुत्री, किसी की बहन और किसी की पत्नी है। यदि माता कहने वाला व्यक्ति दूसरों को झूठा कहे तो स्वयं झूठा हो जायेगा। इस के विपरीत यदि सभी दृष्टिकोणों का आदर करता है तो सत्य के अधिक समीप पहुँच सकेगा। इस का यह अर्थ नहीं कि वह उन सब के बीच चक्कर काटता रहे। व्यवहार के लिए उसे अपना ही दृष्टिकोण ले कर चलना होगा। इतना ही अपेक्षित है कि दूसरों को मिथ्या न समझे। यह दृष्टिकोण सैद्धान्तिक झगड़ों के समाधान में बहुत उपयोगी हो सकता है।

प्राचीन समय में विवाद धर्म अथवा दर्शन तक सीमित थे। वर्तमान युग में उन्होंने राजनीतिक तथा आर्थिक रूप ले लिया है। वर्तमान विश्व दो सिद्धान्तों में विभक्त हैं। एक ओर पूँजीवादी राष्ट्र है और दूसरी ओर साम्यवादी, प्रत्येक क्षेत्र दूसरे को अपना शत्रु मान रहा है। शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा चल रही है और समस्त मानवता का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है।

विचारपूर्वक देखा जाये तो यह प्रतिस्पर्धा सिद्धान्तों की न हो कर उस की आड़

में उत्पन्न अहंकारी की है। जब विरोधी सिद्धान्त की बात आती है तो हम चाहते हैं कि वह न फैले, चाहे मानव का अस्तित्व समाप्त हो जाये। यहाँ मानव गौण हो जाता है और विरोधी सिद्धान्त का दमन मुख्य। दूसरे शब्दों में, एक ओर कहते हैं कि हम सब का भला करना चाहते हैं, हमारा सिद्धान्त उसी की भलाई के लिए है; साथ ही यह भी कहते हैं कि यदि वह हमारे सिद्धान्त को नहीं मानता तो हम उसे मार डालेंगे। विरोधी सिद्धान्त अपनाकर नहीं जीने देंगे।

मध्ययुग में दूसरे को मुक्ति देने के लिए तलवार चलायी गयी। वर्तमान युग में आर्थिक उद्धार के लिए अणु बम तथा मिसाईल तैयार किये जा रहे हैं। जैन धर्म का कथन है कि हमें सिद्धान्तों के दुराग्रह में न जा कर मानव-हित पर ध्यान रखना चाहिए। मन में यह स्मरण रखना चाहिए कि सिद्धान्त मनुष्य के लिए हैं मनुष्य सिद्धान्तों के लिए नहीं।

३. कर्मवाद : साम्य का तीसरा रूप कर्मवाद है। जैन धर्म का कथन है कि हमारा भविष्य स्वयं हमारे हाथ में है। दूसरी कोई सत्ता उस पर नियन्त्रण नहीं करती। जो व्यक्ति अजीर्ण होने पर भी खाता चला जाता है, उस के पेट में पीड़ा होने लगती है। यह पीड़ा किसी बाह्य शक्ति-द्वारा उत्पन्न नहीं की जाती, उस के लिए खाने वाला स्वयं उत्तरदायी है। जो व्यक्ति आँखें बन्द कर के गड्ढे की ओर चलने लगता है वह उस में गिर जाता है, कोई बाह्य शक्ति नहीं गिराती। जो मनुष्य दूसरे के प्रति शत्रुता की भावना रखता है वह उस से भयभीत रहने लगता है। इस भय का कारण वह स्वयं है। जैन धर्म इसी तथ्य को कर्म सिद्धान्त के रूप में उपस्थित करता है। दूसरे शब्दों में इसे आध्यात्मिक न्याय कहा जा सकता है।

हमारे भविष्य पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियन्त्रण नहीं है। महावीर ने कहा—"अरे मानव! तू ही तेरा मित्र है। बाहर किसे खोज रहा है? अपने भविष्य को बनाना तथा बिगाड़ना तेरे हाथ में है। तू ही अपने लिए कामधेनु है, तू ही कूटशाल्मली वृक्ष, तू ही नन्दन वन है और तू ही वैतरणी नदी।"

४. सामाजिक न्याय : जैन धर्म जाति अथवा लिंग के आधार पर कोई वैषम्य स्वीकार नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास का पूर्ण अधिकार है। भगवान् महावीर के शिष्यों में ऐसे बहुत से व्यक्ति थे जो पूर्वावस्था में चण्डाल अथवा अस्पृश्य जाति के रहे हैं। बहुत से चोर, डाकू, अथवा दुराचारी थे किन्तु हृदय-परिवर्तन होते ही पूजनीय बन गये। बहुत-सी महिलाओं ने भी कैवल्य प्राप्त किया।

साधना

जैन साधना एकमात्र आत्मशुद्धि को ले कर चलती है। इस के दो अंग हैं: संयम और तप। जिन्हें शास्त्रीय परिभाषा में संवर और निर्जरा कहते हैं। संवर का अर्थ है—बुराई से दूर रहने के लिए

अपनायी गयी जीवन-पद्धति। बुराई का शास्त्रीय नाम आस्रव है। इस का शब्दार्थ है अशुद्धि का द्वार। उन्हें रोकना ही संवर है। आस्रव के पाँच भेद हैं—

१. मिथ्यात्व-दृष्टि विपर्यास : सर्वप्रथम इस बात की आवश्यकता है कि हमारा लक्ष्य ठीक है। उस के बिना प्रत्येक प्रयत्न निष्फल ही नहीं हानिकारक बन जाता है। जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता, वर्गीय स्वार्थ आदि अभिनिवेश हमारी दृष्टि को विकृत कर रहे हैं और वह सार्वजनिक कल्याण से हट कर एक-पक्षीय बन रही है। इसी के फलस्वरूप विभिन्न आधारों को ले कर मनुष्यों में परस्पर संघर्ष हो रहे हैं। सम्यग्दृष्टि का तक़ाज़ा है कि हमारा लक्ष्य राग, द्वेष, साम्प्रदायिक अभिनिवेश तथा समस्त स्वार्थों की सीमा से परे हो।

२. अविरति : दूसरा आस्रव अविरति है। इस का अर्थ है अनुशासनहीनता : व्यर्थ तथा हानिकारक तत्त्वों से अलग न होना। जैन-चर्या उसे विरति अर्थात् अलग होने का प्रतिपादन करती है। गृहस्थ तथा साधु अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार उसी का पालन करते हैं।

३. प्रमाद : असावधानी, आलस्य अथवा उपेक्षा के कारण दैनन्दिन जीवन में होने वाली स्खलनाएँ। साधक को सदा जागरूक रहना चाहिए, तनिक-सी भूल का परिणाम भयंकर हो सकता है। प्रमाद हमारे जीवन को उत्तरदायित्वहीन बना देते हैं।

४. कषाय : इस का शब्दार्थ है—वे रंग जो हमारे मानस को शुद्ध नहीं रहने देते। उन के चार प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

५. योग : मन, वाणी और शरीर की हलचल। साधक जब अन्तिम अवस्था में पहुँच जाता है, उस समय प्रत्येक हलचल बन्द हो जाती है किन्तु साधारण जीवन में इस की व्याख्या अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रहने के रूप में की जाती है। हमें ऐसी कोई हलचल नहीं करनी चाहिए जिस से दूसरे को हानि पहुँचे।

निर्जरा तत्त्वों में बारह प्रकार के तप बताये गये हैं। इन में छह प्रकार के शारीरिक कठोरता से सम्बन्ध रखते हैं, जिन्हें बाह्य तप कहा जाता है। अन्तिम छह का सम्बन्ध आत्मशुद्धि के साथ है। उन्हें आभ्यन्तर तप कहा जाता है। जैन धर्म मानसिक अनुशासन के लिए शारीरिक अनुशासन को आवश्यक समझता है। जो व्यक्ति सुख-लोलुप है, इन्द्रियों का स्वाद नहीं छोड़ सकता, उस का मन भी चंचल बना रहेगा। इसी दृष्टि को सामने रख कर बाह्य तप का विधान है। अनशन में उपवास किया जाता है। ऊनोदरी में पेट खाली रख कर भोजन किया जाता है। रस-परित्याग में कड़वे, मीठे, नमकीन आदि रसों का परित्याग कर के अस्वाद की साधना की जाती है। निर्विषय में दूध, दही, घी आदि का परित्याग किया जाता है। आभ्यन्तर तप में स्वाध्याय, ध्यान, परिचर्या आदि का विधान है।

अन्तिम तप व्युत्सर्ग है, जहाँ साधक कुछ देर के लिए अपने बाह्य अस्तित्व को भूलने

का प्रयत्न करता है। धन, सम्पत्ति, परिवार तथा निजी शरीर को भूल कर आत्मचिन्तन में लीन हो जाता है। यह अभ्यास जीवन में अत्यन्त महत्त्व रखता है। हमें चाहिए कि प्रतिदिन कुछ क्षणों के लिए अपने को भूलना सीखें। विस्मृति के कुछ क्षण एक ज्योति प्रज्वलित करते हैं जो उस परम तत्त्व को आँखों से ओझल नहीं होने देती।

संघर्षों का एकमात्र कारण बाह्य अस्तित्व को महत्त्व देना है। ज्यों-ज्यों उस का मूल्य बढ़ रहा है, मनुष्य अशान्त और क्षुब्ध होता जा रहा है। उसे भूलने का पाठ इस घने अन्धकार में प्रकाश-रेखा का काम करता है।

वर्तमान मानव की सब से बड़ी समस्या वैषम्य है। हम अपने स्वार्थ को जितना महत्त्व देते हैं, दूसरे को नहीं देना चाहते। अपनी रुचि तथा निर्णय को दूसरों पर लादना चाहते हैं। फलस्वरूप स्वार्थ टकराते हैं, रुचियाँ टकराती हैं और सिद्धान्त टकराते हैं। मनमुटाव वाणी का रूप ले लेता है उस के साथ ही भौंहें और मुट्ठियाँ तन जाती हैं। वैयक्तिक आक्रोश सामाजिक रोष का रूप ले लेता है और युद्धों की भयंकर तैयारियाँ होने लगती हैं। विजेता और पराजित, शोषक और शोषित, मालिक और मजदूर कोई भी शान्ति से नहीं बैठ पाता। इस का पहला क़दम है—वैषम्य को दूर कर के साम्य का अभ्यास। जैन धर्म-द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, अनेकान्त आदि सिद्धान्त इसी साम्य के क्षेत्रीय नाम हैं। ■■

स्वान्तःसुखाय

(ध्वनि-रूपक)

ठाकुर प्रसाद सिंह

दूर पर बजते पूजन के वाद्य एकरसता भंग करते हैं।
तुलसीघाट पर पूजा की बेला हो गयी है, गंगा की धूसर लहरों पर आरती के दीपक नाच रहे हैं, घाट की शान्त सीढ़ियों पर दर्शनार्थी खड़े हैं।
(वाद्य तथा शंख के स्वर उमड़ कर धीरे-धीरे दबते हैं, उन के पश्चात् दूर से प्रार्थना के बोल सुन पड़ते हैं)।

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो जो चाहसि उजिआर॥

(मुहूर्त भर के लिए वाद्यवृन्द के स्वर पास आ कर दूर चले जाते हैं)
पुनः पूजा के बोल—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

(घण्टे-घड़ियाल के स्वर उभर कर शान्त होते हैं)

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनो दूसरे नाथ॥

(हलके घण्टे-घड़ियाल बजने के स्वर दूर पर सुनाई पड़ते रहते हैं)

वाचक : चार सौ वर्ष पहले तुलसीदास ने ऐसी ही एक सन्ध्या में प्रातःकाल के स्वप्न देखे थे। जब सो जाने के निमन्त्रण हवाओं में आ रहे थे और सवेरा दूर था।

वाचिका : तब तुलसीदास ने और लोगों की भाँति सुख के मार्ग पर चलना स्वीकार नहीं किया। अन्याय और अनीति के बल पर प्राप्त किया गया क्षणिक सुख उन्हें स्वीकार नहीं था। उस के बदले उन्हों ने सत्य का, चरम उपेक्षा का पथ अपनाया। उन्हें रात्रि के कष्टों का पता था पर उन के लक्ष्य तक पहुँचने का रास्ता इन्हीं कुश-कण्टकों के बीच हो कर जाता था। यही उन की नियति थी।

वाचक : यही उन की शक्ति थी। यही नियति उन्हें साधारण से उठा कर असाधारण की ओर ले गयी। इसी के बल पर वे पथ की धूल से ध्रुवतारे की ऊँचाई तक उठ सके।

(पूजा के वाद्य बजते हैं, फिर पूजा के बोल उभरते हैं)

दिन-दिन दूनों देखि दारिद, दुकालु दुख,
दुरितु, दुराजु, सुख सुकृत सकोच है।
माँगे पैंत पावत पचारि पातकी प्रचण्ड,
काल की करालता भले को होत पोच है।
अपने तो एकु अवलम्बु अम्ब डिम्भ ज्यों,
समरथ सीतानाथ सब संकट बिमोच है।
तुलसी की साहसी सराहिये कृपानिधान,
नाम के भरोसे परिनाम को निसोच है।

वाचक : एक ओर कराल कलिकाल था जिस के चलते प्रचण्ड पातकी डाँट कर सब-कुछ पा लेते थे और दूसरी ओर भले लोग थे जिन्हें पद-पद पर अपमानित होना पड़ता था। तुलसी के ही शब्दों में यह कामधेनु बेच कर गदही खरीदने-जैसा न्याय था।

वाचिका : दुनिया में जीवित रहना कोई बड़ी बात नहीं है। दिक्क़त तभी होती है जब आदमी को दो में से एक रास्ता चुनना पड़ता है।

वाचक : प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक अवसर ऐसा आता है—इसे या उसे—जीवन का मूल्य दे कर यह विकल्प समाप्त करना होता है, इस दुनिया से मुक्त होना होता है।

वाचिका : एक रास्ता है सिर झुका कर स्वीकार कर लेने का, घुटने टेक देने का, दूसरा है जो कुछ भी आये छाती पर झेल लेने का।

वाचक : दूसरा रास्ता चातक का रास्ता है, मान का रास्ता है। इस रास्ते पर सिर झुका कर लिया नहीं जाता।

(पूजा का स्वर)

नहिं जाँचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि को वारिद बिनु देहि॥

वाचिका : यही रास्ता तुलसी का भी था, कबीर और मीरा का भी यही रास्ता था। यहाँ तलवार की धार पर चलने वाले को हर पद पर काल से जूझना होता है।

(पूजा के वाद्य, फिर बोल उभरते हैं)

भागीरथी जलपान करौं अरु नाम द्वै राम को लेत नितै हौं।
मोको, न लेनो, न देनो कछू, कलि! भूलि न रावरी ओर चितैहौं।
जानि के जोरु करो, परिनाम तुम्हैं पछितैहौं, पै मैं न भितैहौं।
ब्राह्मण ज्यों उगल्यो उरगारि, हौं त्यों ही तिहारे हिये न हितैहौं।

वाचक : कैसा अद्‌भुत विश्वास है? काल की आँख में आँख डाल कर जो कह सके कि मुझ से जूझ कर तुम्हें पछतावा ही मिलेगा, मुझे निगल कर तुम शान्त नहीं रह सकोगे, तुम्हें मुझे फिर उगलना पड़ेगा, वही कालजयी हो सकता है।

वाचिका : तुलसी के काव्य की अमरता, उन के इसी अपराजेय व्यक्तित्व का परिणाम है। उन की यही शक्ति भगवान् रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण, हनुमान् और सीता की वाणी का श्रृंगार बनती है, उन के चरित्रों को नया तेज देती है।

वाचक : रामायण के अमर पात्रों की वन्दना प्रकारान्तर से तुलसी की ही वन्दना है।

(प्रार्थना के सामूहिक बोल वाद्यवृन्द के साथ उभरते हैं···)

[परिवर्तन सूचक संकेत वाद्य]

वाचक : प्रार्थना समाप्त हो गयी, घाट पर खड़े लोग लौट रहे होंगे।

वाचिका : सब लौट रहे हैं पर मन नहीं लौटता। कलिकाल के भयंकर अन्धकार में तुलसी ने प्रकाश का अनुष्ठान प्रारम्भ किया था। उन्होंने एक स्वप्न देखा था, फिर उसे सत्य करने के लिए उन्होंने अपने पूरे जीवन को एक लम्बे संघर्ष में परिवर्तित कर दिया था।

वाचक : एक ऐसे संघर्ष में जिस में प्रारम्भ से अन्त तक वे पदातिक रहे।

वाचिका : सज्जनों और असज्जनों, देवों और दानवों से भरे इस विश्व में

उन का समर्पण, उन की [illegible] और उन का दृढ़ आत्मबल ही उन का सब से बड़ा बल था।

वाचक : इन समस्त गुणों का एक नाम था, एक संज्ञा थी, एक सम्बोधन था।

वाचिका : उन के निकट समस्त गुणों का एक नाम था—राम।

[प्रत्यावर्तन]

(अयोध्या में सरयू के तट पर रामनवमी का समारोह)

एक स्वर : तुलसीदास जी ने रामायण पूरी कर ली। अभी-अभी उस के अन्तिम अंश सुन कर मैं राममन्दिर से आ रहा हूँ। कथा समाप्त ही थी, वे भी आ रहे होंगे।

दूसरा स्वर : मैं भी तो वहीं था। कलियुग का ऐसा भयंकर चित्र उपस्थित किया उन्होंने कि प्राण कण्ठ तक आ गये। इतने बड़े साधक हो कर वे इतने भयभीत होंगे, ऐसा तो कभी सोचा नहीं था।

पहला स्वर : लो तुलसीदास जी आ गये। दण्डवत् करता हूँ महाराज!

तुलसीदास : (प्रसन्न स्वर में) कलि-वर्णन पर चर्चा चल रही है? अनुग्रह है आप का।

एक स्वर : ये कह रहे थे कि कलियुग से आप भयभीत हो गये हैं अन्यथा इस की चर्चा के साथ ही इतने बड़े ग्रन्थ के समाप्त करने की आवश्यकता क्या थी?

तुलसीदास : जिस कलिकाल के लिए सारी रामायण की रचना हुई उस की याद न दिलाता तो रामायण मात्र कथा हो कर रह जाती। कलिवर्णन ही तो मुख्य प्रश्न है। उत्तर काण्ड तो प्रश्न काण्ड ही है मेरे लिए।

एक स्वर : तब रामायण?

तुलसीदास : वह तो उत्तर-भर है।

जीवन में जब से होश सँभाला, मुझे चारों ओर प्रश्न ही प्रश्न दीखे। सब रास्ते रुके हुए थे, सब शंकाएँ समाधान माँग रही थीं। लोभ-मोह, जय-पराजय में उठता-गिरता आज कहीं वृद्धावस्था में मैं ने अपने भीतर की बेचैनी इस उत्तर में मुखरित की है। ऐसे समय अपने उपकारी देवता कलि महाराज की वन्दना किये बिना ही रह जाऊँ तो घोर अकृतज्ञता होगी।

दूसरा स्वर : कलिकाल, आप के देवता! (हँसता है)

तुलसीदास : हां, मेरे देवता। मैं उन का आभारी हूँ। उन का प्रताप न होता तो मैं राम की शरण में न जाता। राम की शरण न मिलने पर मेरी क्या गति

होती ? (उच्छ्वास) मनुष्य-देह की यदि कुछ सार्थकता है तो वह इसी कलि-काल में है।

पहला स्वर : पर कितने ही लोग तो इस संसार को माया का भ्रम मान कर इस देह को निस्सार कहते हैं। वे क्या सच्चे साधु नहीं हैं ?

तुलसीदास : मैं मनुष्य होने में गर्व का अनुभव करता हूँ। इस शरीर को मैं सुकार्य करने का साधन मानता हूँ। बड़े भाग्य से यह साधन हाथ में आया है। इसे काल के मुख में ऐसे ही फेंक देने के पक्ष में मैं नहीं हूँ।

(दूर से आता स्वर)

बड़े भाग मानुष तन पावा
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा
पाइ न जेहि परलोक सँवारा
सो परत्र दुख पावही, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

पहला स्वर : दानवता के विरुद्ध कर्म का संकल्प लेने के लिए मनुष्य स्वरूप में आना इसी लिए देवताओं के लिए भी अनिवार्य था। भगवान् रामचन्द्र के साथ-साथ बन्दरों के रूप में सम्पूर्ण देवता इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गये।

तुलसीदास : जितनी बड़ी लड़ाई थी उतनी ही बड़ी साधना की आवश्यकता थी। घर-घर, गाँव-गाँव, जंगल-जंगल सिर पर धूल डाले प्रवासी-शक्तियाँ निर्णय के युद्ध की प्रतीक्षा करती हैं, तब कहीं एक दिन उन के पुरुषार्थ की सार्थकता चरितार्थ होती है। और तो और, स्वयं भगवान् को वनवास की साधना से हो कर वहाँ पहुँचना होता है।

[परिवर्तन]

(घड़ियाल और घण्टे के स्वर पास आ कर दूर हो जाते हैं)

पहला स्वर : तुलसीदास को भी इस गहन तपस्या का आत्ममन्थन साक्षात्कार करने के लिए अपने को कम तपाना नहीं पड़ा था।

दूसरा स्वर : पैदा होते ही माँ-बाप की छाया हट गयी।

पहला स्वर : बड़े होने पर गुरु का प्रसाद मिलते-मिलते बीच ही में रह गया। रामबोला को जनमते ही राम बोलने का मूल्य चुकाना पड़ा। दुनिया ने उस पर किसी पिशाच की छाया देख कर उस की ओर से मुँह फेर लिया।

दूसरा स्वर : तुलसीदास के पार्थिव शरीर का निर्माण तो पहले ही हो चुका था पर उन के भीतर एक दूसरा मनुष्य भी सिर उठा रहा था, वह इन्हीं चोटों से गढ़ा जा रहा था। हर नयी चोट एक नया अंग उकेर देती थी, हर नया दुःख करुणा के नये स्रोत खोल देता था, रास्ते का हर भटकाव उन्हें अनजाने में लक्ष्य की ओर ही ले जा रहा था।

पहला स्वर : तुलसी अपने युग की गहन व्यथा को ग्रहण कर सकने की शक्ति अर्जित कर रहे थे। उन की करुणा की गहराई में सब की करुणा की अगाधता समाहित होनी थी—युग की, दानवों के बोझ से दबती पृथ्वी की, देवों की, दशरथ की, सीता की, कौशल्या की, अहिल्या की और सब से अधिक भरत की।

(करुणा से भरा संगीत उठता है फिर पद की प्रथम पंक्ति दोहरायी जाती है)

सुसमय दिन द्वै निसान सब के द्वार बाजै।
कुसमय दसरथ के दानि तैं गरीब निवाजै॥

(स्वर दबने पर)

पहला स्वर : कैसी महादशा है यह, काशी पर यह कैसा प्रकोप है? द्वार-द्वार पर ललाते-बिलखाते मंगन घूम रहे हैं, कोई किसी की न जात पूछता है न पांत।

दूसरा स्वर : न किसान को खेती है न भिखारी को भीख। क्या रावण का राज्य इस दुष्काल से भयंकर रहा होगा।

तुलसीदास : मैं ने जब दसानन के अत्याचारों का वर्णन दिया है तब मेरे सामने इसी संसार के कष्ट रहे हैं। मैं ने बार-बार इसे कहा है—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख, बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी
जीविका विहीन लोग सीदमान सोच बस
कहैं एक एकन ते कहाँ जाई का करी
बेदहुँ पुरान कही, लोकहुँ बिलोकियत
साँकरे सबै पै राम, रावरे कृपा करी
दारिद दसानन दबाइ दुनी, दीनबन्धु
दुरित दसन देखि तुलसी हहा करी

—शंकर की नगरी की यह दुर्दशा देख कर मैं ने शंकर को भी दोष दिया है:

ठाकुर महेस, ठकुराइनि उमा सी जहाँ
लोक बेदहूँ बिदित महिमा ठहर की

भट रुद्रगन, पूत गनपति सेनापति
कलिकाल की कुचाल काहू तो न हरकी
बीसी बिस्वनाथ की बिसाद बड़ो बारानसी
बूझिए न ऐसी गति संकर सहर की
कैसे कहै तुलसी वृषासुर के बरदानि
बानि जाति सुधा तजि पीबनि जहर की।

जो अमृत छोड़ कर विष पी लेता है, उस की उलटी मति के चलते जो न हो जाये थोड़ा है। ऐसा स्वभाव न होता तो दुष्टता करते दुष्टजन और बाँधे जाते सत्पुरुष! यह तो वैसा ही है कि दीवाली की रात में घी तो खाती है दीपमालिका और सवेरा होने पर मार पड़ने लगती है सूप की पीठ पर! मेरा क्षोभ कहाँ जाये, कहाँ मार्ग पाये?

मंगल की रासि, परमारथ की खानि जानि
विरचि बनायो बिधि, केसव बसाई है।
प्रलयहूँ काल राखो सूलपानि सूल पर
मीचुबस नीच सोऊ चाहत खसाई है।
छाँड़ि छितिपाल जो परीछित भई कृपाल
भलो कियो खल सो निकाई सो नसाई है।
पाहि हनुमान, करुनानिधान राम पाहि
कासी कामधेनु कलि कुहत कसाई है।

पहला स्वर : तुलसीदास जी, आप ही कातर होंगे तो धैर्य कौन धारण करेगा?

तुलसीदास : धैर्य तो छूटेगा नहीं। जब तक मेरे राम पीठ पर हैं मैं निराश नहीं होता। मैं तो इस को उन की परीक्षा समझ कर वरदान मान कर उठा लेता हूँ। इसी लिए विश्वास भी है कि आज जो सर्प दीवाली के प्रकाशित दीये के चारों ओर कुण्डल बना कर बैठे हैं वे अपनी मृत्यु का आवाहन ही कर रहे हैं। जैसे दीवाली का दीपक चाटते ही सर्प देश छोड़ देते हैं वैसे ही ये इस सत्य की लौ की लपट से भस्म हो जायेंगे।

मारग मारि, महीसुर मारि, कुमारग कोटिक के धन लीयो
संकर कोप सों पाप को दाम परिच्छिति जाहिगो जारि के हीयो
कासी में कण्टक जेते भये ते गे पाइ, अघाइ के आपनो कीयो
आजु कि कालि परौं कि नरौं जड़ जाहिगे चाटि दिवारी को दीयो

(शहनाई की ध्वनि में प्रातः के संकेत बज उठते हैं। दूर पर घण्टों तथा चिड़ियों के चहकने की ध्वनि सुन पड़ती है)

पहला स्वर : सवेरा हो गया। प्रातः की पूजा होनी चाहिए।

(विनय पत्रिका का पद गाया जाता है)

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ
दीन सब अंगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ
नाम लै भरै उदर प्रभु दासी दास कहाइ
बूझिहैं सों है कौन कहिबी नाम दसा जनाइ
सुनत राम कृपाल के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ
जानकी जग जननि जन की किये बचन सहाइ
तरै तुलसीदास भव तब नाथ गुन गन गाइ

(स्वर थमने पर)

तुलसीदास : हम मयूर-शिखा की जाति के जीव हैं, चाहे जितने सूखे रहें पर जहाँ मेघ का गर्जन सुना, हरे हो उठे।

(वंशी में आशा के स्वर : दूर से कोई गाता है)

तुलसी मिटै न मरि मिटेहुँ, साचों सहज सनेह।
मोर सिखा बिनु मूरहूँ, पलुहत गरजत मेह॥

(शहनाई की ध्वनि उठ कर धीरे-धीरे विलीन होती है)

[परिवर्तन]

(रास्ते पर घोड़ों की टाप तथा पैरों की चाप सुन पड़ रही है, कई लोगों को पास आने फिर दूर जाने की ध्वनि तथा हटो-बचो के साथ पालकी के साथ कहारों के हाँफते जाने की ध्वनि उभरती है। दूर पर झाँझों, मृदंग तथा चौपाई गाने की ध्वनि सुन पड़ती है)

पहला स्वर : लगता है सवारी चौराहे पर आ गयी। अब आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं—लो वह भीड़ इधर घूमी। भगवान् जनक की सभा में जा रहे हैं, क्या ही मनोरम झांकी है।

(झांझ, मृदंग के साथ चौपाई पढ़ते हुए एक समुदाय के पास आने की ध्वनि)

सहज मनोरम मूरति दोऊ
कोटि काम उपमा लघु सोऊ

सरद चन्द निन्दक मुख नीके
नीरज नयन भावते जी के
चितवनि चारु मार मनु हरनी
भावति हृदय जाति नहिं बरनी
कल कपोल श्रुति कुण्डल लोला
चिबुक अधर सुन्दर मृदु बोला
कुमुद बन्धु कर निन्दक हाँसा
भृकुटी बिकट मनोहर नासा
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं
कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं
रेखें रुचिर कम्बु कल ग्रीवा
जनु त्रिभुवन सुसमा की सीवाँ
कुंजर मनि कण्ठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
वृषभ कन्ध केहरि ठवनि जलनिधि बाहु विसाल॥

दूसरा स्वर : चलो चलें, नहीं तो स्वयंवर की लीला में पीछे बैठना पड़ेगा।

पहला स्वर : आगे बैठने की क्या उतावली है, कहीं तुम्हें नारद-मोह तो नहीं हो गया है? (हँसी)

दूसरा स्वर : चुप रहो, चलो, जल्दी चलें।

(दोनों के जाने की ध्वनि। फिर झाँझ, मृदंग तथा रामायण के स्वर उठते हैं)

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे
छविगन मध्य महाछवि जैसे
करसरोज जयमाल सुहाई
विस्व विजय सोभा गहि छाई
तन सकोच मन परम उछाहू
गूढ़ प्रेम लखि परहि न काहू
जाइ समीप रामछवि देखी
रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी
सुनत जुगल कर माल उठाई
प्रेम बिबस पहिराइ न जाई
सोहत जनु जुग जलज सनाला
ससिहि सभीत देत जयमाला।

(बाजे बन्द हो जाने पर बदले स्वर में)

दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं
गावति गीत सबै मिलि सुन्दर बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं
रामु को रूप निहारतु जानकी कंकन के नग की परछाहीं
यातें सबै सुधि भूलि गयी कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

(धीरे-धीरे सब स्वर डूब जाते हैं)

वाचक : ब्याह के उछाह के स्वर दूर चले जाते हैं, राम को अब कर्तव्य पुकार रहा है। तुलसीदास राम को कर्तव्य की याद दिलाते हैं। वनवास के समय की अथाह करुणा भी जिसे नहीं डुबाती, ऐसे हैं वे राम।

वाचिका : आज वनगमन की लीला है। स्वयं तुलसीदास जी इस यात्रा-भर साथ रहेंगे। लो परिक्रमा प्रारम्भ हो गयी।

(एक स्वर थरथराता हुआ उठता है और करुण ध्वनि में बदल जाता है)

कथावाचक : भगवान् रामचन्द्र तो समदरसी हैं, न राज्य की प्रसन्नता, न वनवास का दु:ख। अयोध्या उन के लिए रास्ते पर का वृक्ष है जहाँ एक क्षण विश्राम कर के वे आगे बढ़ जाते हैं। उन के साथ धर्म है जिस का पालन उन्हें करना है और क्रिया है जिस के बल पर उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

कागर बीर के ज्यों नृपचीर, बिभूषन उप्पम अंगनि लाई
औध तजो मगवास के रूख ज्यों पन्थ के साथ ज्यों लोग लुगाई
संग सुबन्धु, पुनीत प्रिया, मनो धर्मु-क्रिया धरि देहु सुहाई
राजिव लोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाऊ की नाई।

वाचक : विपत्ति में मनुष्य के भीतर का सोना दमकता है। गोस्वामी जी की लेखनी जितनी राम-वनवास तथा भरत के मन के मन्थन के चित्रण में निखरी है उतनी और कहीं नहीं।

वाचिका : इन स्थलों पर तुलसी राममय हो जाते हैं और राम तुलसीमय।

(झाँझ मृदंग के स्वर उभरते हैं)

सभा सकुच बस भरत निहारी
रामबन्धु धरि धीरज भारी
कुसमउ देखि सनेहु सँभारा
बढ़त बिंध जिमि घटज निवारा
सोक कनक-लोचन मति छोनी
हरी विमल गुन-गुन जग जोनी

भरत विवेक बराह बिसाला
अनायास उधरी तेहि काला
करि प्रनामु सब कहु कर जोरे
रामु राउ गुरु साधु निहोरे
छमबु आजु अति अनुचित मोरा
कहहुँ बदन मृदु बचन कठोरा
हिय सुमिरी सारदा सुहाई
मानस तें मुख-पंकज आई
बिमल बिबेक धरम नय साली
भरत-भारती-मंजु-मराली

(महाराज भरत की जय, तथा धन्य-धन्य की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं।.... पुनः छन्द-पाठ उभरता है)

रघुराउ सिथिल सनेहँ साधु समाज मुनि मिथिलाधनी
मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी
भरतहिं प्रसंसत त्रिबुध बरसत सुमन मानस मलिन से
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से

पहला स्वर : भरत जी ने तो सारा बोझ भगवान् के कन्धे पर डाल दिया है। उधर राम ने भी शपथ ले ली है कि जो गुरुजन कहेंगे वही होगा, फिर ?

दूसरा स्वर : ऐसी सभा में जहाँ प्रत्येक एक-दूसरे की गहराई जानता है, अपार स्नेह से एक-दूसरे से बँधा हुआ है, वहाँ एक का मान दूसरा भी रखता है।

मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू
सकल धरम धरनीधर सेसू
सो तुम करहु करावहु मोहू
तात, तरनि-कुल पालक होहू
साधक एक सकल सिधि देनी
कीरति सुगति भूतिमय बेनी
सो विचारि सहि संकट भारी
करहु प्रजा परिवार सुखारी
बाँटी विपति सबहिं मोहि भाई
तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई

जानि तुम्हहिं मृदु कहउँ कठोरा
कुसमय तात न अनुचित मोरा
होहिं कुठाउँ सुबन्धु सहाये
ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाये ।
सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ ॥

(चौपाई का पाठ थमते ही पहले की भाँति जयकार होती है तथा लोगों के जाने तथा पूजा के घण्टे-घड़ियाल की ध्वनियाँ उभर कर धीरे-धीरे शान्त होती हैं)

[परिवर्तन]

पहला स्वर : गोस्वामी जी को दण्डवत् करता हूँ ।

तुलसीदास : कौन, टोडरमल जी, देर हो गयी आने में ?

टोडरमल : देर नहीं हुई महाराज, बड़े समय से आँखें खुल गयीं । ऐसे भाई कहीं दुनिया में देखे गये हैं ?

तुलसीदास : इस में असम्भव क्या है टोडरमल जी ? प्रयत्न करने पर आप भी ऐसे बन सकते हैं । मेरी रामायण में भाइयों के और भी जोड़े हैं—बालि-सुग्रीव, रावण-विभीषण, खर-दूषण, जटायु-सम्पाती । सब की अपनी-अपनी गति है । इस बीच भरत का चरित्र भी है । यह तो आप के ऊपर है कि इन में से आप किसे चुनते हैं।

टोडरमल : आज तो मन भरत के चरणों में लीन है ।

तुलसीदास : मुझे भी भरत पर ही भरोसा है । राम तो परब्रह्म हैं, जो कुछ भी वे करते हैं, भोगते हैं, उन की लीला है । वे हर्ष-विषाद से परे हैं । उन के लिए हम क्या चिन्ता करें ? किन्तु भरत तो इसी दुनिया का कष्ट झेलती आत्मा के प्रतीक हैं । उन के मन का मन्थन यदि मैं काग़ज़ पर उतार सका हूँ तो मेरी रामभक्ति की यही परम सिद्धि होगी । इसी लिए मैं ने कहा भी है कि 'सब विधि भरत सराहन जोगू' ।

टोडरमल : मैं देखता हूँ वैभव का चित्रण करने में आप उतने तन्मय नहीं होते जितने मन्थन और संघर्ष का चित्रण करने में रमते हैं ।

तुलसीदास : वैभव का चित्रण करने वाले राजदरबारों के कवि होते हैं । उन्हें देख कर दुःख होता है । सधे हुए तोतों की तरह वे पुरानी उक्तियों की आवृत्ति करते जाते हैं । मैं कष्ट और संघर्ष का पुत्र हूँ । दुःखों में ही जीवन प्रारम्भ किया है और दुःखों के बीच ही समाप्त करना है । जीवन की हर पराजय का उत्तर मैं ने

अपनी लेखनी से दिया है। यहाँ जितना ही दबा हूँ, मेरे आराध्य के शरीर पर उतनी ही आभा बढ़ी है। इस बात को अच्छी तरह उस दिन समझोगे जब राम-रावण-युद्ध का अर्थ जो मैं ने समझा है वही तुम भी समझोगे।

टोडरमल : वह दिन कब आयेगा ?

तुलसीदास : (हँस कर) कल भी आ सकता है। कभी भी नहीं आ सकता। तुम राम-रावण युद्ध वाली लीला तो देखोगे हो। उस दिन बहुत-कुछ स्पष्ट हो जायेगा।

[परिवर्तन]

(युद्ध के स्वर के बीच राक्षसों के गरजने तथा बन्दरों के किलकिलाने की ध्वनि सुन पड़ती है : रथ का घर्घर स्वर पास आता जाता है)

विभीषण : नाथ, रावण आ रहा है। जिस लंकापति के रथ के घर्घर से दिशाओं की छाती फट रही है, उस रावण से आप पैदल कैसे लड़ सकेंगे ?

रामचन्द्र : (हँस कर) विभीषण, क्या तुम समझते हो कि रावण से हमारी लड़ाई अस्त्र-शस्त्रों की है। यदि यह होना होता तो रावण को हराने वाला त्रैलोक्य में कोई नहीं है। मेरा बल इन बाह्य आडम्बरों में नहीं है।

विभीषण : नाथ !

रामचन्द्र : मेरा बल मेरे भीतर है। मेरी पराजय के अर्थ हैं उन सभी तत्त्वों की पराजय जिन को ले कर मेरा निर्माण हुआ है।

(वाद्यवृन्द और चौपाई)

रावनु रथी विरथ रघुबीरा
देखि विभीषन भयउ अधीरा
नाथ न रथ नहि तन पद-त्राना
केहि विधि जितब बीर बलवाना
सुनहु सखा कह कृपा निधाना
जेंहि जय होय सो स्पन्दन आना
सौरज धीरज तेहि रथ चाका
सत्य सील दृढ़ धुजा पताका
बल विवेक दम परहित घोरे
छमा कृपा समता रजु जोरे

ईस भजनु सारथी सुजाना
बिरति चर्म सन्तोष कृपाना
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा
बर विज्ञान कठिन कोदण्डा
अमल अचल मन त्रोण समाना
सम जम नियम सिलीमुख नाना
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा
एहि सम विजय उपाय न दूजा
सखा धर्ममय अस रथ जाके
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके।
महा अजय संसार रिपु जीति सकई सो बीर
जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर।

वाचक : रावण तो पराजित हो चुका है, नैतिकता की लड़ाई वह कब की हार चुका है।

वाचिका : वैसे ही तुलसीदास ने रावण के साथ महा अजय संसार के शत्रुओं का निर्णय अपनी रचना में कभी का कर डाला है। नैतिक रूप से पराजित शक्तियाँ थोड़े दिन और शक्ति का प्रदर्शन कर लें पर एक दिन ऐसा आ रहा है जब रावणों के मस्तक झुके होंगे और शान्ति तथा सदाचार के प्रहरी विजेता के रूप में खड़े होंगे।

(वंशी ध्वनि में प्रसन्नता के संकेत बजते हैं)

तुलसीदास : मेरे मन के चातक की टेक की रक्षा भगवान् के हाथ है। मैं ने अपनी विकलता शान्त करने के लिए ही इन चरित्रों की अवतारणा की थी, लेकिन मेरी बेचैनी केवल मेरी ही तो नहीं थी।

यही मेरा स्वान्तःसुखाय था। साहित्य मैं जानता नहीं, आखर अरथ का ज्ञान नहीं मुझे, कवि भी नहीं हूँ। मैं केवल विश्वास को समर्पित हूँ। इसी लिए मुझे मेरे अविनाशी से अलग कर के मत देखो। आज मैं ने जिस मुक्ति की कल्पना की है, जिस का स्वप्न देखा है उसे प्रत्यक्ष करने का भार आने वालों पर है। मेरी प्रतीक्षा अभी समाप्त नहीं हुई है। मुझे इस लिए मुक्ति भी अभी नहीं मिली है।

■ ■

घण्टियों में बँधा जंगल

केशव कालीधर

•

नहीं ऽ
मेहरबानी कर के ऐसा न करो।
मेरे बन्द दरवाज़े पर
घण्टियाँ मत बजाओ।
तुम जो सिर्फ़ एक चमकीले बटन को दबाते
हो—
तुम जानते नहीं
मेरे आँगन में कितनी खनक एक साथ
गूँजने लगती है :
और मैं
जो सारे दरवाज़े बन्द कर के
हर आने वाली सड़क को भूलना चाहता हूँ
वे सब की सब
जाने कहाँ-कहाँ के मुसाफ़िरों को
दरवाज़े की सन्धियों से
मेरे एकान्त में ला कर

छोड़ जाती हैं
घण्टियों के न बजने पर
एक गर्भवती बेचैनी
अस्पताल के बरामदों में
बराबर चहलक़दमी करती है
और हर क्षण लगता है कि
अभी कुछ होगा।

अनुगूँजें
परतों को उघार देती हैं
और इतिहास पर रेंगती हुई भाषा
चहार दीवारियाँ पार कर
एक महाकान्तार में खो जाती है :
कूँ-कूँ करते हुए बन्दरों के बच्चे
किटकिटाती गिलहरियाँ
और फुफकारते सरकते फणिधर
झाड़ियों में दुबके खरगोश
झुण्डजीवी शावक
और चितकबरे कवच में सँजोयी हुई गरज—
आँखों ही आँखों में
सब-कुछ तैर जाता है :
जो अपना है—वह भी
जो पराया है—वह भी !!

टारज़न के बच्चे की तरह
मुझे कौन इस महावन में छोड़ गया ?
छिनी हुई भाषा
और अर्थभरे जंगल में
मेरी चीख़ अब भी
ग़ैर लगती है
कातर आँखों की परतों में
डूब जाने का रास्ता बन्द हो गया !
अपनी बोली का समर्पण
जान लेने वालों को
गलबहियों से दुलराता है—
तो भी
कितना
अलग—
अविश्वसनीय !
चाक़ू की जानकारी रखने वाले
आदमी के बच्चे को

आत्मसात् कर नहीं पाता—
संघातिक ध्वनियों को वह
अपने ही अर्थों में बांधना चाहता है—

किलकारियां और फुफकार :
सब जो
शरीरधर्मिता को उजागर करते हैं !

अपने-आप इन बांस के पेड़ों में

कौन मुरली बजाता है
जिस में यह महाकान्तार
वृन्दावन की तरह डोलने लगता है ?
पत्थरों को रौंदते हुए पहाड़ी नाले थिरकते हैं
और हवा में बारिश की तरह
सरगम बजने लगता है—
अपने-अपने मतलब ढूंढ़ते हुए
जिन्होंने इस आरण्यक में घुसने के लिए
लीकें ढूंढ़ीं,
बाहर ही भटकते छूट गये !

नीची घाटी की थरथराती प्रतिध्वनियों में
कूके और किलकारियां
समा जाती हैं
और हर पेड़ से जब मैं
अपनी डालों पर झूलता हुआ
दूसरे पेड़ पर जाता हूँ—
तो पेंगों पर कुछ बजता है ....
बहुत खूबसूरत....
अकेले पलाश की तरह !

■ ■
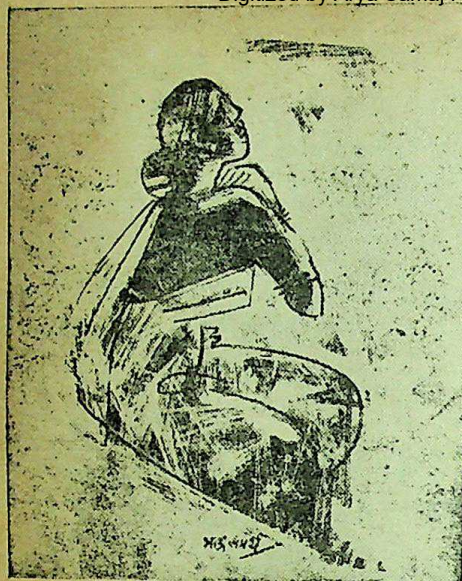
बिस्तर

●

शशिप्रभा शास्त्री

"आप ने यह सीट बुक करवा ली है ?"

"जी नहीं, अब आप ही इसे बुक कर दीजिए। मुझे अचानक आना पड़ा।"

"आप कौन-सी सीट चाहती हैं ?"

"यहीं इसी लेडीज़ केबिन में।"

"अच्छा।" वह अपना ओवेरकोट रख कर बाहर चला गया।

वह चुपचाप बैठी साथ लायी पुस्तक को उलट-पलट कर देखती रही। तभी उस ने दुबारा प्रवेश किया। गाड़ी स्टेशन से हिल चुकी थी।

"हाँ तो टिकिट दिखाइए।" उस ने अपनी रसीदबुक निकाली। बिना कुछ कहे उस ने स्लीपिंगसीट को रसीद काट कर उस के हाथ में पकड़ा दी और तब वह सामने वाली सीट पर अपना बिस्तर लगाने लगा।

"आप भी अब अपना बिस्तर बिछा लीजिए, अब देर करने से कोई फ़ायदा नहीं।" उस ने ओवरकोट तहा कर सिरहाने रखते हुए कहा।

"जी, बिस्तर ही तो मेरे पास नहीं है।"

"आप के पास बिस्तर नहीं है?" स्त्री का हिचकिचाता स्वर सुन कर उस ने देखा—वह एक शॉल-मात्र ओढ़े हुए गुड़ी-मुड़ी बैठी थी, एक दूसरा छोटा गरम शॉल उस ने सीट पर बिछा रखा था।

"जी...।" उस ने कुछ कहना चाहा, पर फिर उस के होंठ बँध गये, एक सम्भ्रान्त शिष्ट सुरुचिपूर्ण-सी दिखने वाली इस अकेली महिला यात्री से वह क्या कहे, वह कुछ नहीं समझ पाया। महिला ने ही कहा :

"बिस्तर मैं लायी ही नहीं थी। जब शिमला से चली थी तो यही सोच कर कि दिन ही दिन में बस से सफ़र करूँगी, कुछ जल्दी में थी और कुछ मैं सामान से बचना भी चाहती थी, सिर्फ़ इसी लिए। लेकिन मजबूरी में रेल का सफ़र करना पड़ा।"

"ओह!" वह कुछ सकपकाया। सामने की सीट पर एक बिस्तरविहीन महिला को सिकुड़ी सिमटी देख कर वह चुपचाप अपने बिस्तर में लेट जाये—उसे कुछ रुचा नहीं। वह भी अपने बिस्तर पर बैठ कर अटैची से कोई पुस्तक निकाल कर पढ़ने लगा।

"आप कौन-सी पुस्तक पढ़ रही हैं?" थोड़ी देर में उस ने पूछा।

"जी, एक अच्छे अमेरिकन लेखक का उपन्यास है।" कुछ हिचकिचाते स्वर में स्त्री ने कहा। एक रेलवे कण्डक्टर के साहित्यिक ज्ञान की सीमा से वह परिचित थी।

"हूँ।"

"आप कौन-सी पुस्तक पढ़ रहे हैं?"

"देख लीजिए।" उस ने पुस्तक दिखायी। उस पुस्तक में बाबा साईंदास की शिक्षाएँ लिखी थीं। उसे हँसी आयी, ऐसी ठिठुरती पाले वाली रात में बाबा साईंदास की पुस्तक; मात्र शिक्षाएँ।

"बिस्तर तो आप के पास भी काफ़ी नहीं है।" उस ने पुस्तक लौटाते हुए कहा।

"काफ़ी ही है। एक रेलवे कण्डक्टर की जिन्दगी ही क्या है, अब जितना कुछ इस अटैची में आ जाता है उतना ही साथ रख लेते हैं।" उस ने सिरहाने रखी अटैची की ओर संकेत किया। "पर अब सोचता हूँ मुझे पूरा बिस्तर ही रखना पड़ेगा, सर्दी बहुत ज़्यादा हो गयी है।"

"हूँ।"

"हाँ, आप यह चादर ले लीजिए।" उस ने एक चादर स्त्री की ओर बढ़ायी।

"रहने दीजिए, मेरे पास काफ़ी है।"

"कहाँ काफ़ी है, कुछ भी तो नहीं है।"

"इस चादर-मात्र से ही क्या होगा।" स्त्री ने कुछ झिझक प्रदर्शित की।

"कुछ न होने से तो अच्छा ही है।" उस ने चादर ले ली और शॉल में मिला कर ओढ़ ली। वह अब बिस्तर में घुस गया था। वह सामने लेटे हुए उस व्यक्ति को देखने लगी। सुडौल सुपुष्ट शरीर, मजबूत कन्धे,

काले घुँघराले बाल और चौड़ा गोरा मस्तक। इस व्यक्ति की माँ ने कब सोचा होगा कि उस का लाड़ला बेटा एक दिन कण्डक्टर बन कर स्टेशन-स्टेशन भटकता फिरेगा और कहाँ जानती होगी इस की पत्नी कि जो कपड़े उस ने अपने पति को शीत की रात काटने के लिए दिये हैं, वे इतने अपर्याप्त होंगे।

लेडीज़ कैबिन में सामने की सीट पर इन कण्डक्टर साहब को लेटना उचित नहीं है। पूरा स्लीपर छोड़ कर यहाँ इसी लिए सीट बुक करवायी थी कि दोनों तरफ़ से दरवाजा और खिड़कियाँ बन्द कर वह चुपचाप आराम से बैठेगी। ये हज़रत भीतर घुसे पड़े रहेंगे, यह कब सोचा था। इस से अच्छा तो बाहर स्लीपर में बैठने की ही सीट ले लेती। कितना अच्छा होता कि इस समय इस कैबिन में कोई दूसरी महिला भी होती। --वह सोच रही थी, कि तभी शायद कोई स्टेशन आया और गाड़ी धीरे-धीरे रुकने लगी। सामने लेटा वह झटके से उठा, उसे सामने चुपचाप बैठी देख कर बोला :

"अरे आप अभी तक ऐसी ही बैठी हैं। लेटिए—आप भी लेटिए; मेरा इस डिब्बे में होना कोई माने नहीं रखता। आप अपने को अकेली ही समझिए, मैं तो हर स्टेशन पर बाहर आता-जाता रहूँगा, आप आराम से लेटिए--चाहें तो मेरा बिस्तर"--वह कहता हुआ कुछ अटक गया और फिर सिरहाने रखा ओवरकोट पहन कर बाहर चला गया।

सामने बैठी वह सोचती रही। सर्दी से वह बेतरह काँप रही थी हवा के झोंके आ-आ कर खिड़की के दरवाज़े को खड़खड़ बजाते हुए आ-जा रहे थे। वह कुछ देर घुटनों में मुट्ठियाँ डाले यों ही बैठी रही। उस के घुटने मुड़ने लगे थे। कमर जैसे टूट कर दो टुकड़े हुई जा रही हो। उसे अपने घर वाले बिस्तर की याद आने लगी—दो गुल-मुले गद्दों वाला गुदगुदा बिस्तर, सेमल की रूई का नरम तकिया, नयी भरी हुई रेशमी रज़ाई, और उस पर भारी कम्बल और बिस्तर के बीच में रखी हुई गरम पानी की बोतल—खैर अगर आज की स्थिति न आयी होती तो वह अपने उस बिस्तर का मूल्य क्या आँक सकती। वह तो उस बिस्तर में गिर कर भी घण्टों रोती रही है। किसी इच्छित सुपुष्ट हाथ के लिए बराबर तड़पती रही है। कुँआ पास होने पर भी प्यासे मरने वाले की जो दशा होती है, वही उस की हुई है। तब-तब? फिर भी बिस्तर तो बिस्तर ही है। घण्टों तड़प-बिलख कर रो लेने के बाद भी अन्ततः कुछ घण्टों की सुकोमल नींद तो उस ने अपने उसी बिस्तर में प्राप्त की है। आज वह बिस्तर न सही उस के सामने एक यह बिस्तर पड़ा है। बिस्तर के मालिक ने अपना यह बिस्तर उस के लिए छोड़ दिया है बिस्तर उसे आमन्त्रित कर रहा है, यदि वह इस बिस्तर पर कुछ देर सो ही ले तो!—उसे लगा हवा उस की पिण्डलियों, जंघाओं और पसलियों में बुरी तरह घुसी चली जा रही है। केबिन का दरवाजे का बोल्ट-मात्र ही तो बन्द नहीं है, यों दरवाजा बन्द ही है, खिड़कियाँ भी बन्द ही हैं, फिर हवा किधर से आनी

चाहिए ? उस का बदन धीरे-धीरे ऐंठने लगा और वह शून्य-सी होने लगी।

जनवरी का दुर्दान्त शीत और ये खूनी हवाएँ। आज उसे किस अपराध का दण्ड मिल रहा है कि वह इतनी सर्दी में सफ़र कर रही है। नहीं—नहीं, इस शीत को वह अब नहीं सह पायेगी। सामने खाली पड़ा हुआ बिस्तर—मात्र एक पतला-सा गद्दा और हलकी-सी बारीक़ रज़ाई, उस शीत को और अधिक प्रबल बनाने लगी। उस ने आँखें मूँद लीं, जिस से वह उस बिस्तर को देख ही न पाये। उसे लगा, वह हिम के किसी अँधेरे गहरे कूप में गिर गयी है; पानी नाक, कान, आँखें सब में घुसा चला जा रहा है। उस ने घबरा कर आँखें खोल दीं। चारों ओर घुप्प अँधेरा था, शायद ट्रेन की बिजली चली गयी थी। वह हड़बड़ा कर उठी और अपने शॉल में लिपटी सामने वाले बिस्तर पर धम्म से जा गिरी। रज़ाई उस ने गरदन तक खींच ली और शॉल से माथा ढँक कर वह सीट की दीवार की तरफ़ मुँह कर के लेट गयी। शीत, नींद और थकान से चूर आँखें जो मुँदीं तो फिर उन्हें खुलने का चेत ही नहीं रहा।

●

उस ने केबिन के दरवाज़े को हलके से थप-थपाया, फिर थोड़ी ज़ोर से और फिर दर-वाज़े को खींच कर उस ने एक तरफ़ कर दिया। आगे बढ़ कर अपनी सीट पर पहले रज़ाई हटा कर जगह करने के लिए वह झुका तो दो क़दम चौंक कर वह पीछे हट गया। अँधेरे में उस के मुँह से एक चीख निकल कर गाड़ी के पहियों के छकछक शब्दों के साथ मिल कर खो गयी। केबिन का बल्ब धीरे-धीरे फिर सुलगने लगा था। वह सामने की सीट पर बैठ गया। उस ने पास पड़ी उस स्त्री की पुस्तक को टटोला, चिकने कवर वाली दृढ़ पुस्तक—वह बिजली के प्रकाश में बेसुध पड़े उस चेहरे की ओर देख रहा था—अति शीत के कारण वह घुटने मोड़े लेटी हुई थी। कटि की गहराई से ऊँचा उठा हुआ उस का निचला समुन्नत भाग, पतली रज़ाई में सुस्पष्ट उस के मज़बूत पुट्ठे, ढालवाँ रूप में नीचे की ओर गयी उस की रानें और मुड़ी हुई पिण्डलियाँ; उस ने फिर चेहरे की ओर देखा—वह नींद में बेसुध थी। उस की बाँह रज़ाई से बाहर निकल कर उस के सम्पूर्ण माथे को ढँके हुए थी। बाँह के मध्य में से झाँकती उस की उठी हुई श्यामल नासिका—उस पर चमकता हुआ हीरा, चिकने गालों के कोण को मिलाती-सी उस की चिकनी गोल ठोड़ी और गुलाबी धनुषाकार बनत के नरम कसे हुए होंठ—बालों की कुछ लटें बेतरतीब-सी उस के बायें गाल को घेरे हुए थीं और वह बेसुध सो रही थी। गाड़ी की चाल के साथ उस का वक्ष धीरे-धीरे उठ-बैठ रहा था।

वह चुपचाप उसे देखता रहा। सहसा उसे लगा—उस के ओवरकोट में न जाने कहाँ से एक नन्हीं-सी गरमाई की चिनगारी घुस आयी है और उस की छाती बुरी तरह जलने लगी है। अच्छा हुआ कि वह उस के

बिस्तर में सो गयी है। क्या करता वह बिस्तर का! वह तो बिना बिस्तर के ही दहकने लगा है।

●

गाड़ी तेज़ी से दौड़ी चली जा रही थी। उस के हलके-हलके धचकोले गाड़ी के चलते हुए धरातल पर महसूस हो रहे थे। उस ने एक अंगड़ाई ली और एक बड़ी जमुहाई के साथ आँखें मूँद लीं—कान्ता उस के सामने खड़ी थी, उस की अपनी पत्नी—मैली-कुचैली धोती में लिपटी श्रान्त क्लान्त देह, बादामी सस्ते क़िस्म की पॉपलीन के उधड़े हुए ब्लाउज़ में सिर घुसाये उस की सब से छोटी बेटी चिम्मी, घर में रेंगते चीख़ते-पुकारते बच्चों की एक छोटी क़तार, कोने में बैठी बूढ़ी अन्धी माँ और टूटा-फूटा भग्न उजाड़-सा, मात्र आवश्यकता की वस्तुओं को अपने में समाये हुए उस का अपना घर।

कान्ता से उसे भय लगता है, क्योंकि वह आये साल एक नये संस्करण के आगमन की घोषणा करती रहती है। उसे उस की मैली धोती से गिजगिजी लगती है, उस की मैली गन्दी हरकतों के लिए वह उसे हरदम फटकारता रहता है। हरदम लड़ाई-झगड़ा, तूफ़ान, मार-काट और हाय बेला····

कान्ता रो कर कहती है, "मैं क्या हमेशा ऐसी ही थी, तुम्हारे घर में आ कर ऐसी हो गयी हूँ। इतनी मसक्कत करती हूँ और खाने के लिए वही दो सूखी रोटियाँ, जो कुछ होता है, इस घाड़ के पेटों में फिसलता चला जाता है। तुम से कहती हूँ मुझ पर दया करो, पर तुम भी····।"

सिर लटकाये वह बाहर आँगन में आ कर बैठ जाता है। कोने में बनी टीन की रसोई से रेंगता गहरा कड़वा धुँआ उस के नाक और गले में घुसने लगता है। वह मूढ़े को और बाहर निकालता है, बिलकुल सड़क पर। उस के सिर पर बाहर अरगनियों पर टँगे कपड़े झूलने लगते हैं—अनगिनत फटी मैली तिकोनियाँ, पजामियाँ और कच्छे, बीच-बीच में लटकते उस के अपने कपड़े—झक्क पायजामें, कुरते और तहमद। इन कपड़ों को कान्ता ने ही धो कर डाला है। इन्हीं कपड़ों के बल पर वह बाहर तन कर खड़ा हो सकता है। सफ़ेदपोश कहलाता है। उस की यह पुष्ट मज़बूत देह कान्ता के ही कारण तो है, कान्ता खुद कभी दूध नहीं पीती, पर उस के लिए मलाई की एक कटोरी ज़रूर रखती है। उसे नहीं मालूम उस की थाली में सब्ज़ी की दो कटोरियाँ, चटनी और दाल कहाँ से आती हैं। कान्ता को उस ने कभी थाली में खाते नहीं देखा।

कान्ता ठीक कहती है—वह हमेशा ऐसी नहीं थी। नहीं ही होगी····गाड़ी के पहियों का खटर-खटर स्वर और मुखर हो कर धीरे-धीरे सिमटने लगा था। एक बृहद् दचके के साथ गाड़ी रुक कर खड़ी हो गयी। उसे अब बाहर जाना था। हर स्टेशन पर पूरे स्लीपिंग कम्पार्टमेण्ट की देख-भाल करना उस की ड्यूटी में शामिल था।

ओवरकोट की जेबों में हाथ डाल कर

वह बाहर निकल आया। प्लेटफ़ार्म पर गरम चाय पूरी की आवाज़ें चहलक़दमी कर रही थीं। उस ने महसूस किया, बाहर हवा बहुत तेज़ है। ठण्ड से उस के अंग सिकुड़ने लगे। चाय का एक कुल्हड़ उस ने चाय वाले को पुकार कर खरीद लिया। गरम-गरम पनीली चाय पी कर उस ने कुछ उष्णता अनुभव की। उसे लगा उसे एक कप चाय और खरीद लेनी चाहिए। इस समय रेल में सफ़र करते हुए किसी भी यात्री के लिए एक कुल्हड़ गरम चाय बहुत मुफ़ीद हो सकती है। दूसरा कुल्हड़ थाम कर वह केबिन में चला आया, वह अब भी बेख़बर सोयी पड़ी थी।

"सुनिए!" उस ने कुल्हड़ थामे हुए कहा।

....

"देखिए यह चाय पी लीजिए।"

वह अचेत थी।

कुल्हड़ एक हाथ में थामे हुए उस ने दूसरे हाथ की उँगलियाँ उस के बालों में रिंगायीं, रजाई खिसक कर छाती से कुछ नीचे चली गयी थी। इस बार वह बोला नहीं, उस की उँगलियाँ उस के चेहरे पर फिसलने लगीं, उस के गालों पर, नाक पर, कानों के टॉप्स पर, नाक के हीरे पर—उँगलियाँ चेहरे से नीचे खिसकने के उपक्रम में ही थीं, कि हड़-बड़ा कर उस ने आँखें खोल दीं—वह उठ कर बैठ गयी।

"लीजिए, आप अपने बिस्तर पर आ जाइए। उफ़् कितनी गहरी नींद आयी, आप इतनी देर सर्दी में रहे!" उस ने कुछ झेंपते हुए कहा।

"नहीं, वह कुछ नहीं, आप आराम से लेटी रहिए। पर पहले यह चाय पी लीजिए! गरम चाय फ़ायदेमन्द होती है।"

"जी, अरे आप चाय ले आये? देखिए रात में सोते-सोते मुझे चाय पीने की आदत बिलकुल नहीं है।"

"सोते-सोते नहीं आप जग कर पीजिए। उठिए!" उस के स्वर में कुछ ऐसा था कि वह उठ कर बैठ गयी और धीरे-धीरे चाय सिप करने लगी। पनीली मीठी चाय के साथ घुली हुई मिट्टी के कोरे कुल्हड़ की सोंधी-सोंधी गन्ध उसे अच्छी लग रही थी।

"अब आप अपने बिस्तर पर आ जाइए!" उस ने चाय पी कर स्वस्थ होते हुए कहा।

"देखिए आप को मेरी क़सम, अगर आप ज़रा भी बिस्तर से हटीं, अब शिमला दूर नहीं है। आप इकट्ठी हो उठिए।"

वह नहीं समझ सकी कि फिर वह बिस्तर से क्यों नहीं उठ सकी—शायद शीत बहुत तीव्र था, शायद उस की देह में बहुत घना आलस्य छा गया था, शायद वह उस रात में पुनः ठण्डी नहीं होना चाहती थी शायद.... बिस्तर में वह फिर गुलक गयी।

●

आज घर पर कान्ता को आश्चर्य हो रहा था, उस ने उस के बाद भी उसे धक्का क्यों नहीं दिया! करवट बदल कर वह क्यों नहीं सो गया! बहुत वर्षों बाद कान्ता को आज अच्छा-अच्छा लग रहा था। ■■

पाँ|च|जो|ड़|बाँ|सु|री

नये प्रयोग की चेतना का प्रयास यदि किसी आन्दोलन की संज्ञा प्राप्त कर ले तो इस में आश्चर्य का न होना ही आश्चर्य की बात है। 'नया गीत' या 'नव गीत' आधुनिक जीवन-बोध की एक ऐसी ही अभिव्यक्ति है जिसे युगीन स्थिति-सन्दर्भ में स्पष्टता-सहजता के साथ पहचाना जा सकता है। 'पाँच जोड़ बाँसुरी' भी इसी 'पहचान' के लिए एक माध्यम है—यानी सन् १९४७ से '६७ के बीच लिखित, प्रकाशित ऐसे गीतों का समूह है जिस से सम्बन्धित अवधि के व्यक्ति-मन का, मनःस्थिति का परिचय मिल जाये। पाँच पीढ़ियों का ऐसा गीत-लेखा उपस्थित करना ही 'पाँच-जोड़ बाँसुरी' का लक्ष्य है जिसे युग-जीवन के सन्दर्भ में जाँचा-परखा जा सके।

१०.००

भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन
विक्रय-कार्यालय :
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

नयी आलोचना : सूत्र और संकेत

कुमार विमल

नयी आलोचना नवीनता की ओर केवल लम्बा डग भरना नहीं चाहती है, बल्कि नवीनता के प्रति उस के आग्रह का तर्कपुष्ट आधार है। काल और परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण तथा आलोच्य साहित्य में नयी प्रवृत्तियों के अभ्युदय के कारण आलोचना के मानों में परिवर्त्तन अनिवार्य हो गया है। युग-संस्कृति के निर्माण में तत्कालीन साहित्य की जो नयी प्रवृत्तियाँ चहल-क़दमी करती हैं, उन्हें पुरानी आलोचना अनालोचित छोड़ देती है। इस लिए पुरानी आलोचना साहित्यकार के युग-विधायक धर्म का कोई मूल्यांकन नहीं कर पाती है। इस अभाव की पूर्ति के लिए नयी आलोचना आलोच्य कृति में युगाभिव्यक्ति के तत्त्वों और उन तत्त्वों के माध्यम से व्यक्त जीवन-सम्बद्धता की मात्रा (कारण, नयी आलोचना के अनुसार जीवन-सम्बद्धता को कृति साहित्य का अनिवार्य गुण होना चाहिए) की मीजान आवश्यक मानती है और उस में व्यक्त युग के सांस्कृतिक प्रवर्त्तनों का सम्यक् आकलन करती है। युग-सन्दर्भ को इतना महत्त्व देने के बावजूद युगीन मूल्यों के प्रति नयी आलोचना की धारणा एकदम दो-टूक है। यह किसी भी युग के सांस्कृतिक प्रतिमानों और आस्वाद या रुचि के प्रकारों को अन्तिम नहीं मानती है। फलस्वरूप, यह किसी

अतीत या वर्तमान युग के सांस्कृतिक प्रतिमानों के प्रति आलोचक की मनीषा के अर्पण को अनुचित मानती है, साथ ही पूर्वाग्रहपूर्ण, यथास्थितिवादी और प्रतिक्रियावादी भी।

अब तक हिन्दी आलोचना के मानदण्ड मुख्यतः दो प्रकार के हैं—पारम्परिक और परोपलब्ध। पारम्परिक मानदण्ड संस्कृत काव्यशास्त्र के किंचित् विकसित या परिवर्तित मानदण्ड हैं, जिन्हें हम अपने जातीय और राष्ट्रीय सन्दर्भ से संश्लिष्ट रहने के कारण स्वानुभूत स्वदेशी मानदण्ड कह सकते हैं। दूसरी ओर परोपलब्ध मानदण्ड विदेशी आलोचना-साहित्य से गृहीत ऐसे मानदण्ड हैं, जो अब तक हिन्दी आलोचना में सुस्थ और सम्यक् गृहीत न होने के कारण पल्लवग्राही मानदण्ड ही कहे जा सकते हैं। एकांगी दृष्टियों और पूर्वाग्रहों से प्रेरित हो कर अब तक कुछ आलोचक पारम्परिक मानदण्डों के प्रति आग्रह दिखाते रहे हैं, तो कुछ आलोचक परोपलब्ध मानदण्डों के प्रति। नयी आलोचना इस द्विधा और द्वैध के ऊपर उठ कर पारम्परिक मानदण्डों के त्याज्य अंश से पूर्णतः मुक्त होना चाहती है और परोपलब्ध मानदण्डों को ऐसे व्यवस्थित रूप में ग्रहण करना चाहती है कि नयी हिन्दी आलोचना विश्व-आलोचना (वेल्ट क्रिटिक) के निर्माण में समर्थ हो सके। तभी आज के तथाकथित परोपलब्ध मानदण्ड भी नयी हिन्दी आलोचना के लिए स्वाध्यायलब्ध प्रतिमान बन सकेंगे।

स्पष्ट है कि नयी आलोचना पाद्धतिक काव्यशास्त्र को या पद्धतिसीम देशाधार आलोचना को दोषपूर्ण मानती है। कारण, आलोचना की कोई एक पद्धति ऐसी नहीं है और न हो सकती है, जो हर तरह से परिपूर्ण, परम और निर्दोष हो। अब तक आलोचना का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसे आलोचक ने अपनी रुचि के अनुसार किसी-न-किसी पद्धति के साँचे में ढाल कर सीमित कर दिया है। इस लिए नयी आलोचना पूर्वनिर्धारित पद्धतियों के अनुगमन का विरोध करती है और अधिकाधिक व्यापक दृष्टि-विस्तार तथा ऐतिहासिक[१] प्रज्ञा को आलोचक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानती है। दृष्टि-विस्तार तथा ऐतिहासिक प्रज्ञा का अर्जन काव्यशास्त्र की अपेक्षा नव्यतम सौन्दर्यशास्त्र के माध्यम से अधिक किया जा सकता है। इस लिए नयी आलोचना सौन्दर्यशास्त्र के नव्यतम स्वरूप को अपना आधार बनाना चाहती है।

परम्परा से प्रचलित आलोचना विशुद्ध या जायज़ (प्रॉपर) आलोचना न हो कर दार्शनिक, अभिशंसात्मक (एप्रिशियेटिव) या निर्णयात्मक आलोचना रही है। अभिशंसात्मक आलोचना ढुलमुल प्रभाववादिता[२] से पाण्डु रही है और दार्शनिक आलो-

---

१. नयी आलोचना आलोच्य कृति के ऐतिहासिक आधार पर पूरा ध्यान देती है। किन्तु, यह इस ऐतिहासिक आधार को अन्ततः स्थूल आधार ही मानती है।

२. 'अनप्रिन्सिपल्ड इम्प्रेशनिज़्म'।

चना एक प्रकार के अनुवर्ती वैदुष्यवाद[1] से। इसी तरह निर्णयात्मक आलोचना में 'आदेश' का स्वर प्रमुख रहा है, जब कि आलोचक का काम केवल आदेश देना या मूल्य-निर्णय करना नहीं है। आलोचक पहले सहृदय और रसिक है, उस के बाद निर्णायक। वह तो निर्णायक से अधिक आलोच्य कृति के रस का सहभोक्ता है। इतनी बात अवश्य है कि वह रस-भोग या रसानुभूति के अपने विवेक को सन्तुलित रखता है। 'सन्तुलित विवेक' इस लिए कि आलोचना में सर्जना की अपेक्षा दुहरा विवेक अपेक्षित है। आलोचक को इतनी-सी परख करनी पड़ती है कि साहित्यकार ने जिस विवेक से काम लिया है, वह विवेक कहाँ तक विवेक-सम्मत है। इस तरह आलोचक का दायित्व दुहरा होता है और आलोचना में 'विवेक का विवेक' रहता है। कुल मिला कर, आलोचना जब दार्शनिक, अभिशंसात्मक या निर्णयात्मक बन जाती है तब वह 'अच्छी' आलोचना नहीं होती। अच्छी या जायज़ आलोचना मात्र टीका-टिप्पणी[2] नहीं है, वह तो आलोच्य कृति के मर्म का उद्घाटन[3] है। इस मर्मोद्घाटन के द्वारा ही आलोचना आलोच्य कृति के गूढ़ार्थ के स्पष्टीकरण तथा नन्दतिक सौष्ठव के विश्लेषण के साथ पाठकों और सहृदयों की रुचि का परिष्कार[4] करती है। सहृदयों के रुचिपरिष्कार का यह आशय नहीं है कि नयी आलोचना केवल सहृदयों का दिङ्निर्देश करती है। नयी आलोचना तो सहृदयों को भी महत्त्व देती है और आलोच्य कृति की मूल्य परीक्षा में सहृदयों की प्रतिक्रिया[5] को विचारणीय मानती है। किन्तु, प्रश्न यह उठता है कि वह कौन-सा अधिकारी या प्रामाणिक सहृदय है, जिस की प्रतिक्रियाओं को ग्राह्य या विचारणीय माना जाये? सचमुच, इस के निर्णय का आधार सापेक्ष और विवादास्पद है। मगर इस निर्णय-निष्कर्ष पर पहुँचे बिना भी आलोचना को चाहिए कि वह आलोच्य रचना में निबद्ध अनुभूति तक पहुँचने में पाठक की सहायता करे। किसी भी रचना का प्राणतत्त्व उस की कलात्मक प्रयुक्ति में लिपटी हुई अनुभूति—निबद्ध अनुभूति है। अतः आलोचना का कार्य रचनान्तर्गत अनुभूति (पुरानी आलोचना की भाषा में 'काव्य-निबद्ध अनुभूति') के साथ पाठक की अनुभूति का सामंजस्य स्थापित कर पाठक को रचना के प्राण-तत्त्व—मर्म तक पहुँचाना है। संक्षेप में आलोचना केवल दार्शनिकता या प्रभाववादिता अथवा निर्णयात्मक आदेश को ढो कर कर्त्तव्यच्युत हो जाती है। अतएव अब उन आलोचकों से सर्जनात्मक साहित्य के उचित विश्लेषण-मूल्यांकन का काम नहीं चल सकता, जो केवल दार्शनिक, इतिहासज्ञ, सिद्धान्तहीन, प्रभाववादी[6] अथवा 'आइन-फ़्लुज़-हंटस'[7] है। सच पूछिए तो पेशेवर आलो-

१. 'बैरेन एकेडेमिसिज़्म'।
२. 'कमेंटेशन'।
३. 'एक्स्पोज़ीशन'।
४. करेक्शन ऑव टेस्ट'।

५. 'एफेक्टिव थ्योरी' के आधार पर।
६. 'अनप्रिन्सिपल्ड इम्प्रेशनिस्ट'।
७. Einfluss hunters।

चक चाहे वह दार्शनिक, प्रभाववादी या अभिशंसक हो—बढ़िया आलोचक नहीं होता है। कारण, पेशेवर आलोचक की सहृदयता घट जाती है। वह शायद ही किसी रचनात्मक कृति को आनन्द के साथ रस ले कर पढ़ पाता है।

पुरानी आलोचना का कार्य नाट्यशास्त्र या काव्यशास्त्र बना रहने पर भी चल गया था, क्योंकि उस का विवेच्य वागंगसत्त्वोपेत नाट्य रचनाएँ थीं अथवा उक्तिप्रधान काव्य। किन्तु, नयी आलोचना को वस्तुतः साहित्यालोचन बनना होगा, क्योंकि यह नाटक और कविता तक ही सीमित नहीं है। इसे उपन्यास, कहानी, रिपोर्ताज, रेडियोरूपक आदि नवीन विधाओं का भी मूल्यांकन करना है, क्योंकि साहित्य की सभी विधाओं का मूल्यांकन इस का कार्यक्षेत्र है। इस लिए नयी आलोचना को एक ऐसा पूर्णांग विकसित रूप धारण करना है, जिस में एकांगिता या आलोच्य विधा पर आश्रित संकीर्णता नहीं, समन्वित पूर्णता हो। इस पूर्णता का अर्जन केवल काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के अनुगमन से सम्भव नहीं है। चूँकि आज की काव्येतर साहित्य-विधाएँ—गद्याश्रित-साहित्य विधाएँ आधुनिक सामाजिक जीवन-सन्दर्भों से उपजी हुई या जुड़ी हुई हैं, इस लिए नयी आलोचना को मानविकी, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र[1], मूल्यान्वीक्षिकी, संस्कृति-दर्शन इत्यादि का सहारा लेना पड़ेगा। तभी नयी आलोचना मानव-जीवन और सांस्कृतिक विकास की सम्पूर्णता को दृष्टिगत रखते हुए विश्लेषण-मूल्यांकन के नवीन मानदण्डों की स्थापना कर सकेगी। इन दिनों आलोचना से समाजशास्त्रीय मानदण्डों को मानविकी की भूमिका में विशेष ढंग से विकसित करने की जरूरत है। कारण, आलोचना को सार्थक आलोचना बनने के लिए युगीन कृति-साहित्य का अनुगमन करते हुए आधुनिक जीवन-प्रणाली और सभ्यता की शैली में हुए परिवर्तनों के वैचारिक पक्ष का समेकन करना होगा। इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए सौन्दर्यशास्त्र के नव्यतम रूप को (पुराना सौन्दर्यशास्त्र 'फ़िलॉसफ़ी ऑव आर्ट' के रूप में केवल शास्त्र-विनोद था) नयी आलोचना के माध्यम से 'आलोचना-दर्शन' (फ़िलॉसफ़ी ऑव क्रिटिसिज़्म) बनाने की आवश्यकता है। अर्थात् सौन्दर्यशास्त्र को अब 'कला-दर्शन' नहीं 'आलोचना-दर्शन' बनना चाहिए। इसी में सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना दोनों का कल्याण है।

अब तो यह माना जाने लगा है कि किसी भी कृति का आलोचनात्मक अध्ययन तभी परिपूर्ण और उत्तम हो सकता है, जब

---

१. कई विचारक आलोचना में मनोविश्लेषणशास्त्रीय मानदण्डों को स्वीकृति को व्यर्थ मानते हैं। किन्तु, उपयोगिता की दृष्टि से आलोचना के लिए मनोविश्लेषणशास्त्र व्यर्थ नहीं है। कारण, मनोविश्लेषणशास्त्रीय मानदण्डों के सहारे, एक ओर, रचयिता के आन्तरिक मानसिक व्यक्तित्व तथा रचना-प्रक्रिया को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है और दूसरी ओर आलोच्य कृति के प्रति पाठकों को पर्युत्सुकता का विश्लेषण भी आसान हो जाता है।

कि वह काव्यशास्त्र या साहित्यालोचन के साथ ही सौन्दर्यशास्त्र के अधीत तत्त्वों और निर्धारित मान्यताओं से आलोक ग्रहण कर निष्पन्न हो। इस लिए आधुनिक आलोचना में सौन्दर्यशास्त्रीय या कलाशास्त्रीय मान्यताओं को स्वायत्त करने की बलवती प्रवृत्ति पैदा हो गयी है। आशय यह है कि नये मानदण्डों के अन्वेषण और निर्धारण के क्रम में नयी आलोचना सौन्दर्यशास्त्रीय आधार (इस्थेटिक बेस) को क्रमशः ग्रहण कर रही है। विकास-क्रम की दृष्टि से आलोचना पहले नाटचशास्त्र, तब काव्यशास्त्र, इस के बाद साहित्यशास्त्र और अन्त में सौन्दर्यशास्त्र (कलाशास्त्र) बनती है। इस लिए वर्तमान दशक में विश्व-साहित्य के अन्तर्गत आलोचना को काव्यशास्त्रीय मानदण्ड के अलावा एक सुचिन्तित सौन्दर्यशास्त्रीय या कलाशास्त्रीय आधार देने का प्रच्छन्न अथवा प्रकट प्रयास चल रहा है। सौन्दर्यशास्त्रीय आधार के बिना किसी भी साहित्यिक कृति के कलात्मक एवं साहित्येतर तत्त्वों का सम्यक् विश्लेषण नहीं हो पाता है। विशेषकर काव्यालोचन के लिए कलाशास्त्रीय आधार की आवश्यकता और भी गहरी है, क्योंकि कविता का अन्य ललित कलाओं के साथ गहन तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध है। इस तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भंगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से काव्य एवं अन्य ललित कलाओं में चाहे जितनी भिन्नता हो, किन्तु, तत्त्वतः इन सब में एक अन्तः-सम्बन्ध विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिए कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, प्रेषणीयता इत्यादि अनेक ऐसे प्रमुख तत्त्व हैं जो स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, काव्य और संगीत—सभी ललित कलाओं में समान रूप से समाविष्ट हैं। उपर्युक्त तत्त्वों के विनियोग में विविध कलाओं के अन्तर्गत मात्रा-भेद अवश्यम्भावी है, किन्तु, इन तत्त्वों का समावेश अनिवार्य है। इस लिए इन तत्त्वों की अनिवार्य उपस्थिति एक ओर ललित कलाओं के पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध को प्रमाणित करती है और दूसरी ओर साहित्य, विशेषकर कविता के कलाशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता का निर्देश करती है। अब तक काव्यालोचन काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत किया जाता रहा है, जब कि उस की सम्पन्नता कलाशास्त्रीय दृष्टिकोण की स्वीकृति पर निर्भर करती है। काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से की गयी आलोचना में किसी काव्य-कृति के गुणावगुणों का विश्लेषण उसे अन्य ललित कलाओं के तात्त्विक सन्दर्भ से पृथक् रख कर किया जाता है और उस के मूल्य-निर्धारण तथा परीक्षण के सभी निकष केवल काव्य को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत किये जाते हैं। इस लिए काव्यशास्त्रीय आलोचना में संगीत-चेतना का विचार छन्द-बन्धन की जाँच में सीमित हो जाता है, सौन्दर्य की परख वर्णमैत्री और अलंकारों के अन्वेषण में बँध जाती है, प्रेषणीयता की धारणा शब्द-शक्ति, गुण, रीति और वृत्ति तक आ कर रुक जाती है तथा कल्पना-विधान, बिम्ब और प्रतीक

की विशिष्टताओं की खोज, रोचक अप्रस्तुतों एवं उपमानों की गवेषणा बन जाती है। दूसरी ओर कलाशास्त्रीय (सौन्दर्यशास्त्रीय) दृष्टिकोण से लिखी गयी आलोचना में किसी कवि की कृति को अन्य ललित कलाओं के व्यापक सन्दर्भ में रख कर देखा जाता है और उस का तात्त्विक विश्लेषण उन सामान्य या सर्वनिष्ठ सिद्धान्तों के आलोक में किया जाता है, जो काव्येतर ललित कलाओं के भी तत्तत् तात्त्विक अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हो सकें। जैसे, किसी काव्य-कृति में व्यक्त सौन्दर्य-चेतना का उस व्यापक सौन्दर्य-तत्त्व की दृष्टि से अध्ययन, जो सौन्दर्य-तत्त्व वर्ण-मैत्री और अलंकारों से परे रह कर भी काव्येतर कलाओं में समाविष्ट रहता है अथवा किसी कविता में न्यस्त उपमानों और अप्रस्तुतों का उस व्यापक मूर्त विधान की दृष्टि से अध्ययन, जो काव्येतर कलाओं में भी कल्पना के प्रत्यक्षीकरण अथवा तन्मात्राओं की ऐन्द्रिय प्रतीति के रूप में बिम्ब बन कर उपस्थित होता है। आशय यह है कि शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भंगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से ललित कलाओं में भिन्नता है तथा उन सब का अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, किन्तु, तात्त्विक दृष्टि से सभी ललित कलाओं में एक प्रच्छन्न अन्तःसम्बन्ध है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कला अपने चरम विकास के क्षणों में अन्य ललित कलाओं का अधिकाधिक आश्रय ग्रहण करती है। यह बात काव्य-कला के क्षेत्र में और भी लागू होती है। अतः अब साहित्यालोचन, विशेषकर काव्यालोचन को काव्यशास्त्रीय धरातल से ऊपर उठ कर कलाशास्त्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित होना चाहिए। संक्षेप में, नयी आलोचना इस कलाशास्त्रीय दृष्टिकोण को एक व्यावर्त्तक गुण की तरह स्थापित करना चाहती है। इस कलाशास्त्रीय दृष्टिकोण का मूलाधार वह सौन्दर्यबोध है, जो आलोचना का स्थायी और सतत विकासशील मानदण्ड बन सकता है। इसी हेतु नयी आलोचना सौन्दर्यशास्त्र को व्यावहारिक आलोचना के धरातल पर उतारना चाहती है। व्यावहारिक आलोचना के धरातल से दूर रहना सौन्दर्यशास्त्र के लिए भी हितावह नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक आलोचना की प्रवृत्ति के बिना सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धान्तिक निरूपण-मात्र बन कर रह जाता है। अब वह समय आ गया है, जब कि सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र के पार्थक्य को मिटा देना चाहिए। अब तक सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र के बीच बहुत भ्रामक दूरी रखी गयी है। इस दूरी ने सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र—दोनों का अपकार किया है। यह दूरी इस लिए भी भ्रामक है कि आलोचक को अपने कार्य की सम्यक् सिद्धि के लिए सौन्दर्यशास्त्र का और सौन्दर्यशास्त्री को अपने व्यावहारिक विश्लेषण की वस्तुनिष्ठ परिणति के लिए आलोचनाशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। जब एक सौन्दर्यशास्त्री किसी कलाकृति की निपुणता, उच्चावच शोभा या अभिव्यक्ति-लाघव का विश्ले-

षण करता है, तब वह किसी आलोचक से भिन्न नहीं रहता है और जब कोई आलोचक आलोच्य कलाकृति के विवेचन-विश्लेषण के बाद सूक्ष्म सैद्धान्तिक धारणाओं या दार्शनिक विकल्पों को प्रस्तुत करता है, तब वह किसी सौन्दर्यशास्त्री से भिन्न कार्य नहीं करता है। सच यह है कि सौन्दर्यशास्त्र आलोचना के धरातल पर उतर कर निकष बन जाता है और आलोचना सौन्दर्यशास्त्रीय स्तर पर पहुँच कर ज्ञानकोष बन जाती है। अतः इन दोनों को अयुत सिद्धावयव स्वरूप देना नयी आलोचना को अभीष्ट है।
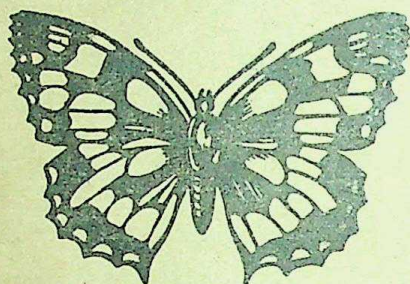
रचनात्मक साहित्य की तरह आलोचनात्मक साहित्य में भी भाषा-शैली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रेष्ठ, शिल्पित और प्रौढ़ भाषा उत्कृष्ट आलोचना के लिए आवश्यक है। मगर आलोचना की भाषा में ऐसी प्रौढ़ प्रांजलता कठिनाई से आती है, क्योंकि आलोचना की भाषा दो विरोधी गुणों के सन्निपात से उत्कृष्ट बन पाती है। आलोचना की भाषा एक ओर बौद्धिक, वैज्ञानिक, यथातथ, सन्तुलित, उपपत्तिमूलक और शिल्पित होती है तो दूसरी ओर उसे रसानुभूति को बौद्धिक व्याख्या के लिए प्रयुक्त होने के कारण रसोतिसक्त भी होना पड़ता है। अतः नयी आलोचना की भाषा लालित्य और भावुकता को वहाँ तक समाविष्ट करना चाहती है, जहाँ तक कि इन के समावेश से आलोचक के चिन्तन या अभिव्यक्ति के नुकीलेपन में कोई व्याघात न पड़े। इस के अलावा नयी आलोचना परम्परित काव्यशास्त्रीय आलोचना के उस 'जार्गन' का विरोध करती है, जो अब निरर्थक हो गया है। इन पुराने खोटे सिक्कों के बदले नयी आलोचना खरे नये सिक्कों को चलन में डालना चाहती है और मानती है कि आलोचना में जब युगान्तरकारी परिवर्तन होता है, तब पुराना 'जार्गन' चलन से बहिष्कृत हो जाता है।

जहाँ तक रचनात्मक साहित्य का प्रश्न है, नयी आलोचना गद्य और पद्य—दोनों में हिन्दी भाषा की तद्भव-शक्ति को प्रतिष्ठित देखना चाहती है। इस का विश्वास है कि आज के युग में सभी भाषाओं की तद्भव-शक्ति को अभूतपूर्व प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। तभी वह भाषा लोक-बल से सम्पृक्त हो सकेगी। भाषा की तद्भव-शक्ति को जगाये बिना संकीर्ण आभिजात्य और जन्मनासिद्ध वैदुष्य के व्यूह को तोड़ना कठिन है। रचनात्मक साहित्यकारों को इस ओर पहले प्रवृत्त होना चाहिए। विकास की दूसरी दशा में आलोचना उन का अनुगमन कर सकेगी। आलोचना हठात् पण्डिताऊ शब्दावली[1] से छुटकारा नहीं पा सकती। इस तरह नयी आलोचना रचनात्मक साहित्य में भाषा की तद्भव-शक्ति को (क्षेमेन्द्र-द्वारा संस्तुत केवल 'सप्रसादपदन्यासः'[2] को नहीं) प्रतिष्ठित करना चाहती है। किन्तु, इस का आशय उन आलोचकों का समर्थन नहीं है, जो अपने शब्द-भण्डार के खोखलेपन को छिपाने के लिए सर-

१. हाइब्राउ वोकैबुलरी।
२. कविकण्ठाभरण, द्वितीय सन्धि।

लता के नाम पर सभी कवियों और साहित्य-कारों को 'स्पष्ट शब्दप्रविष्ट' बनाना चाहते हैं तथा वाच्यार्थक-पात्र शब्दों के द्वारा रचे गये काव्य-साहित्य को प्रश्रय देते हैं।

अभी नयी आलोचना एक 'आरम्भ' है। इस लिए इस की उपलब्धियों के मूल्यांकन का सवाल ही नहीं उठता। मगर नयी आलोचना जिस नये क्षितिज को उद्घाटित करना चाहती है, उस की ओर कुछ और संकेत किये जा सकते हैं। जैसे :

० नयी आलोचना काव्यानुभूति को जीवनानुभूति से सर्वथा सम्बद्ध मानती है और इसे उद्घोषित करती है कि कलागत सन्दर्भों को सदैव जीवनगत सन्दर्भों से जुड़ा रहना चाहिए।

० आलोचना में भी एक रचनात्मक या विधायक शक्ति होती है, जिस को पुष्ट करना नयी आलोचना आवश्यक मानती है। रचनात्मिका या विधायिका शक्ति से विहीन आलोचना सर्जनात्मक साहित्य का अहित करती है।

० नयी आलोचना साहित्येतर मूल्यों को साहित्यालोचन के लिए अनावश्यक नहीं मानती है।

० साहित्यकारों के प्रति सहानुभूतिशील रह कर भी नयी आलोचना 'व्यक्ति' की अपेक्षा 'कृति' को अधिक महत्त्व देती है। कहना तो यह ठीक होगा कि नयी आलोचना स्वपर-निरपेक्ष, अकुतोभय और धारदार होने के कारण 'खरप्रखर आलोचना' होती है। इस लिए यह कवियों, साहित्यकारों या आलोचकों से 'विक्षेप-सहिष्णु' होने की आशा करती है।

० केवल शास्त्र-निपुणता और स्वादेशिक पूर्वाग्रह से उत्कृष्ट आलोचना की सम्भावनाएँ बाधित होती हैं, क्योंकि मात्र शास्त्राभ्यास या कुछ पूर्वाग्रहों के अर्जन से आलोचक संवेग-रंक हो जाता है और उस की सहृदयता घट जाती है। इस लिए नयी आलोचना के अनुसार सार्वदेशिक रुचि का वह आलोचक (या 'कॉस्मोपोलिटन क्रिटिक') ही श्रेष्ठ आलोचक हो सकता है, जो शास्त्रज्ञ विद्वान् होने पर भी आलोचना को सर्जना बनाने के लिए 'अनएकेडेमिक' बने रहने की—शास्त्र की लक्ष्मण-रेखा से बाहर रहने की क्षमता रखता है। यह एक सिद्ध सत्य है कि शास्त्र-निष्ठ आलोचक (एकेडेमिक क्रिटिक) प्रथम कोटि का आलोचक नहीं हो सकता।

० नयी आलोचना चाहती है कि आलोचक आलोचना के नाम पर केवल टीका-टिप्पणी ही नहीं करता रहे, बल्कि वह अपनी आलोचना के माध्यम से किसी स्वार्जित दृष्टिकोण या स्वतः सम्भूत सुसंगत सैद्धान्तिक लगाव (थ्योरिटिकल कन्सिस्टेन्सी) का भी परिचय दे।

० नयी आलोचना उम्र के मुताबिक आचार्यों को प्रतिष्ठा देने में विश्वास नहीं करती। साधारणतः लोग 'पुराने' आचार्य को ही 'प्रतिष्ठित' आचार्य मानते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस दृष्टि से 'प्रतिष्ठित' आचार्य 'पीरनाबालिग़' भी हो सकते हैं।

० रचनात्मक साहित्य की आलोचना

का एक सर्जनात्मक मूल्य होता है। किन्तु आलोचना की आलोचना बौद्धिक विलास बन जाती है।

० नयी आलोचना सर्जना-प्रक्रिया के विश्लेषण-क्रम में सर्जना के चरम क्षणों की उस एकघन स्थिति को स्वीकारती है, जो प्रायः विश्लेष्य और व्याख्येय नहीं होती। इन चरम क्षणों में जितनी एकघनता होती है, कृति में उतनी ही उत्कृष्टता समा जाती है।

उपर्युक्त संकेत 'अन्तिम' नहीं है। किन्तु, इन संकेतों से नयी आलोचना की सीरत का पता चल जाता है। निष्कर्ष रूप में, नयी आलोचना यह नहीं चाहती कि आने वाली आलोचना भी शुक्लोत्तर आलोचना[1] का शब्द-भेद से विस्तार बनी रहे। यह तो साहित्यालोचन के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों के आधार पर विकसित होना चाहती है और मानती है कि प्रत्येक युग की उत्कृष्ट साहित्य-सर्जना के अनुरूप आलोचना के मानदण्ड बदलते रहते हैं। इस तथ्य को साहित्येतिहास भी समर्थित करता है कि जब साहित्य में नवीनता आती है, तब साहित्यालोचन भी कुछ नवीन हो जाता है। बात यह है कि साहित्य और कला की विशिष्ट कृतियों तथा जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति प्रत्येक पीढ़ी अपने ढंग से पृथक् निर्णय लेती है या पूर्वपुरुषों-द्वारा लिये गये एतद्सम्बन्धित निर्णयों में अपनी जीवन-दृष्टि के अनुरूप संशोधन कर लेती है। इस लिए जीवन-दृष्टि, लोक-रुचि और मूल्यमानों के निर्माण में 'पीढ़ियों के निर्णय' का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पीढ़ी की दृष्टिभंगी की भिन्नता के अनुरूप 'अतीत' का रंग या अर्थ भी बदलता रहता है। इस तरह नयी आलोचना का आविर्भाव कोई शशक-शृंग कल्पना नहीं, इसी कालसिद्ध सत्य के उद्रेक का एक अनिवार्य फल है।

■ ■

१. नयी आलोचना शुक्लोत्तर आलोचना के सभी मानदण्डों को एकदम त्याज्य नहीं मानती है, क्योंकि नयी आलोचना एक प्रगतिशील और रचनात्मक अर्थ में समन्वयवादी आलोचना है, इस में रंचमात्र भी एकांगिता नहीं है। यह उस समन्वित पूर्णता की आकांक्षा रखती है, जो पूर्णांग विकसित आलोचना-दर्शन की पहली अनिवार्यता है। इस लिए नयी आलोचना शुक्लोत्तर आलोचना के सिद्ध-असिद्ध नये मानदण्डों के ग्राह्य अंशों को भी स्वीकारना चाहती है और उन मानदण्डों के समन्वित रूप को एक आन्तरिक संघटना देना चाहती है। शुक्लोत्तर आलोचना के नये मानदण्डों में मनोवैज्ञानिक, सौष्ठववादी, ऐतिहासिक, मूल्यवादी, मार्क्सवादी और समाजशास्त्रीय मानदण्ड विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

एक्वेरियम में

मूल बंगला : आलोकरंजन दास गुप्त | अनु : इन्दु जैन

शायद तुम समझे थे मछली के काँचघर में
मृत्यु नहीं है
ईर्ष्या नहीं, घृणा नहीं—
एक भद्र सहजात्य में घिरी है
मछली से मछली से मछली !

शायद तुम समझे थे
मीन
अपनी हीनता जानती नहीं ।
कपट और स्वार्थ—
ये शब्द तक पहचानती नहीं ।
—उस का तो दंश भी दुधमुँहे बच्चे की क्रीड़ा है ।

तब मैं सच ही बता दूँ—(कभी-कभी सत्य अपरिहार्य है)
—इस एक्वेरियम की सारी मछलियाँ
हीन हैं, स्वार्थी हैं
कलकत्ता नगर के समृद्ध उपनगरों में पलते
मुटियाते, छिन्नमूल, 'शरणार्थी' झुंड-सी,
—चुम्बन को झुकी हुई—आपस में जहर-बुझे शब्द-बाण मारती—

शहरू गंवार,
गढ़े-भर पानी में पली हैं ।

इन के जमुहाए मुख देख हमें फिर याद आता है—
हम जो मनुष्य हैं—
सौन्दर्य छूने जा कर भी सब नकार जाते हैं,
जो कुछ भी अच्छा है पृथ्वी पर
बड़ी शिष्ट ऊब से उसे टाल जाते हैं ।
....

किन्तु तभी मत्स्य-जगती
पशुधर्म पालती
आगे बढ़ जाती ।
अधिकांश पा जाते अपने अभीप्सित—
जैबों में भरी कड़क रक़म,
पत्नी की नग्नता उभारती साड़ी,
पत्नी की बहन को रंगभरी चोली ।

पत्नी सामीप्य के बावजूद मछलियाँ ये—
समलिंग–प्रेमी हैं ।
—मानना होगा ही—
तभी तो जितना भी काई से निकलती हैं
उतना सेवार में उलझती हैं !

पत्नी के सम्मुख भाष्य तैयार है—
"मरने की फ़ुरसत भी है नहीं,
क्या ट्रैजेडी है,
वरना क्या काट न डालते काई सेवार की गन्द को ?
करें क्या ?
हम पुरुषों का जीवन ही कर्म है ।"

उत्तर भी देती है
पत्नी-मछली—
नाक की नथ लोल लचका कर
—किन्तु वह बुद्-बुद में डूब-डूब जाता है,
पानी की लय में तिरस्कार का स्वर
स्वयमेव सहमति बन जाता है ।

तत्काल जीवन से प्लावित पुरुष
दूसरे पुरुष की ओर मुड़
उस उथले पानी में
व्यभिचार की पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता है ।

मृत्यु पर मृत्यु का ढेर है :
मछली की खोपड़ी सुरक्षित रखी
शीशे के बक्स में,
चैत्र की शिरा-भरी पत्ती-सा पिंजर
तैरेगा काई गहराई में ।

मरणोपरान्त ही मीन शुद्ध होती है ।
वर्षों से वर्षों तक
योनि से योनि तक तैरती—
जगती है, सोती है ।
अन्त में जी आती मानव का रूप धर,
छप जाती पिंजर की एक-एक रेख सहित
पुरुष के दाहिने हाथ पर ।

वहीं पर संस्कृति के पापों का लेख-जोख अंकित है,
वहीं है अनुभव से मिली बुद्धि
—मछली की, मानव की—
चित्रित है वहीं सिद्धि ।

■

घर

मूल उड़िया : सीताकान्त महापात्र | अनु० : इन्दु जैन

राजकुमार हूँ मैं
हाँ ! निर्वासित राजकुमार
इस घने वन में राजरानी माँ से सटा
छिपा हूँ
नियति के तीखे आघात से छिता हूँ।
भाग्य की वेगवती धारा में बह गये—
राजपाट, सेवक, प्रजा, प्रासाद, पद सब
धारा किन्तु रुकी नहीं।
पितृहन्ता सेनापति वन में भी छाया है
नये षड्यन्त्रों के भीषण मुखौटों में।

घने वन की अन्धी गुहाओं से
प्राणों को होठों पर दाबे, माँ-बेटे—
नाटक के मृत योद्धा-से निश्चल, स्पन्दहीन
गुहा से निकल कर
और कहीं जा छिपे।
शववाही साथी थे—
भोर की कुहक बेला, थकी-थकी गैस की लालटेन,
फटे हुए आसन और टूटी हुई बेंचें...

नयी जगह आ कर
मुझे लगा

मैं निष्कृति पा गया।
भूल गया वनों, प्रासादों को—
एक बार फिर से ननिहाल आ गया।
मामा का अतिथि बना, स्कूल से मुक्ति माँग
गरमी की दीर्घकाल छुट्टी मैं पा गया।
फिर मुझ को ढूँढ़ मिले—
पतली मेंड़ें, रस्ते, ऊँची-नीची क्यारी, सुनसान खेत घने,
ताड़वन, गोल-गति कनकैया-सी चीलें, हाट-बाट, भिक्षुक-दल,
सड़क वही;
वही सड़क पार का मकान,
बड़ा कमरा, बीच का, कोने का छोटा सा...
उसी, उसी छुटके से कमरे में
भादों की कृष्णपक्ष रात्रि में
माँ ने पीड़ा का सागर मथा था
मुझ को जना था।
नाम ध्वनि-कीर्तन, दाई की सान्त्वना, आश्वासन की थपकी
सब के थे पार हम
पीड़ा के वन में निर्वासित माँ और भाग्यहीन राजकुँवर!
अब भी उस शत्रुवत् अँधेरे से घिरे हुए कक्ष में,
गोबर और मिट्टी के महल में—
कौड़ी से जड़ा गृहदेव का खोखला उदर-मात्र दिपता है,
ताख में बनी षष्ठि देवी का निर्निमेष
नेत्र नहीं झिपता है।

मैं ही बस भूल गया
सारे खिलौने, खड़िया, मनके, पतंग वहाँ!
दुपहर में उठे हुए
धूल के बगूले-सा
मित्र, घर, स्मृति, यति-हीन हो
कटक से छत्रपुर, टिम्बकटू, भुवनेश्वर
एक पाँव फिरता हूँ।

जहाँ भी पहुँचूँ—नहीं हूँ अपरिचित, नहीं हूँ अजाना
सब मुख हैं चिर-परिचित
गगन के तारों से
शून्य में उड़ जाते जुगनू अनियारों से।
सब मेरे जाने-पहचाने हैं
अनजानी आँखें भी पूछ-पूछ उठती हैं—
"बेटा, तुम कौन हो ?
कौन गाम-धाम से आये हो ?
किस कुल के जाये हो ?"
उत्तर में याद आ जाती है
रोज़-रोज़ गायी प्रार्थना पाठशाला की—
"पिता-माता, सुत-सुता, भाई-बहन, आत्मीय बान्धव
हे आदिकन्द ! प्रभो ! सारे सम्बन्ध ये
तेरी ही दया का निदर्शन !"
या याद आता है फटी हुई खँजड़ी के साथ उठा गाना—
"यह माया राम की,
तू तो है प्रेत
तुझे प्रेत बन जाना…"
दोनों ही स्मृतियाँ मेरे तन्तु काट देती हैं
आँखों में भर आते आँसू।
फिर भी क्या सच मैं अचीन्हा हूँ ?
क्या इसी चूहे के बिल में नहीं गाड़े थे दूध के दाँत कभी ?
घण्टों नहाया नहीं क्या इस तलैया में ?
क्या इसी कन्या की लहलही दूर्वादल देह को
सिहर-सिहर छुआ नहीं ?
डूबा क्या नहीं मैं इस की ही झील-सी आँखों में ?
क्या कई बार इसी नदी के सूने कछार पर
खुले आकाश तले, तैरते बादल की छाया में,
हवा के मरमर संगीत की दोला पर
सोया नहीं हूँ ?

ये मेरा घर था—मेरा !
यहाँ मुझे डर किस का ?
भूत, प्रेत, डाकिन का ?
यहाँ तो सारा आकाश घिर आता था—
सातों समुन्दर का ज्वार ठहर जाता था—
सूरज की स्तम्भित थीं ज्वालाएँ
ठण्ड-जल-ताल, जैसे पूनम के चन्दा-सा सूरज था।
आज मेरे पिंजर के क़फ़न तले
खुले आकाश के सब आँसू सिंचित हैं।
सागर का उद्वेलन, भावों का घन मन्थन,
सूरज की अथक प्यास, रेगिस्तानी मृत्यु
अनगिनती स्मृतियों से अब बोझिल अंचल है।

माँ नहीं पास आज
पिता भी नहीं हैं ?
माँ की आँखें वे सुदूर तारे हैं
और पिता ?
पास ही उगा हुआ मौन वह सितारा !
वे ही हैं
वे ही हैं
ऐसे ही मूक मुझे याद हैं !
भित्ति से टेक पीठ पास के कक्ष को ताका करते थे !

और आज
चेतन की डूबती सन्ध्या के धुँधले प्रकाश में
कौड़ी से निर्मित गृहदेव को,
षष्ठी की जन्मदात्रि देवी को
ढूँढ़-ढूँढ़—हार गया, थक गया।
जान गया कभी नहीं पाऊँगा अपना विश्रामगृह।

यहाँ सारी राहें मुझे लौटा लाती हैं।
ये ऊँची मेड़ें, मसान, बंजर धरती, क्यारियाँ
चेतन अचेतन के पेंचीले दोराहे खड़ा-खड़ा
इस से उस से व्यर्थ यह पूछूँ क्यों—
"डूब गया सूरज
भैया, बता दो
कहाँ है गाँव ? मेरा घर ?
कहाँ है वो—जहाँ मैं कभी था—
जो यहीं था—
जहाँ भी रेत थी, माटी थी, सूरज-सितारे थे,
बरखा की झड़ी थी, ओस की फुहार थी।"

नदी-तट की बालू के पार,
पानी की कृश धारा निकट,
मेरा पुत्र मेरी चिता बुझा, राख में लकीरें बनाता है—
आँसू बहाता है—
अपने बाप दादा-सा
वह भी अकेला है
दर्द के घने काले वन में
एकान्त तारे-सा संगहीन !

कौन जाने कोने के कमरे में
औंधी टोकरी से ढँका दिया
अब भी टिमटिमाता हो !
उस की मद्धिम-सी ज्योति में
कौड़ियों से निर्मित गृहदेव का
खोखला उदर चमचमाता हो !

■ ■

सामान बाँधा जा चुका है। बिस्तर, सन्दूक़, अटैची और हैंडबैगों पर चिपके हुए लेबल चमक रहे हैं। लाल स्याही में लिखा है—'दिल्ली-स्नावर।' सुरेश की लिखावट में लिखा है—'ईना—सुरेश'—उधर से नज़रें हटा लीं ईना ने। लेकिन कमरा भायँ-भायँ कर रहा है। पूरे घर में चुप सन्नाटा है। सुरेश टैक्सी लेने गया है, ईवी को साथ ले कर।

स्नावर से वह कल ही लौटी थी। सुरेश ने उसे ऊपर वाले कमरे में अकेला रहने को प्रेरित किया था—उसे कुछ काम भी नहीं करने दिया, कि ईना थकी हुई आयी है, आराम करे। ईना ने सुरेश की किसी बात का प्रतिवाद नहीं किया।

सुरेश ने औपचारिक बातों में एक बात बड़े उत्साह से पूछी थी—"सीलेक्ट हो गयीं

हारे हुए लोग
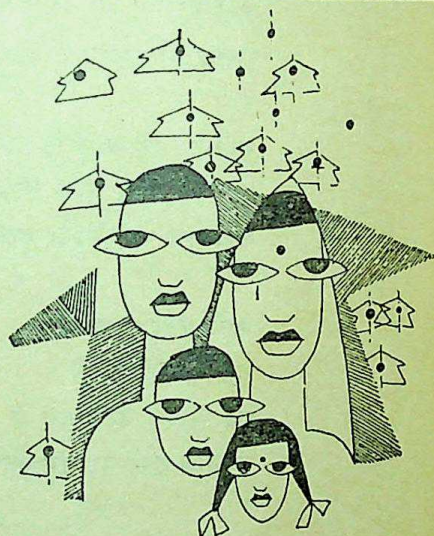
तुम ? अच्छा हुआ।" फिर कुछ रुक कर अचानक पूछा—"ज्वाइन कब करना है ?"

"परसों···"

सुन कर उसे सहज लेने-जैसा भाव सुरेश ने प्रकट किया। धीरे से कहा, "तैयारी शुरू कर दो। कोई ज़रूरी चीज़ रह न जाये।"

सुरेश की बात को सहज लेना अब ईना के लिए अस्वाभाविक नहीं रहा। वह कल आयी थी। पूरी रात और पूरा दिन किसी-न-किसी बहाने बच्चों को उस से अलग रखा गया। और आज—वह घर में ख़ुद को भी अजनबी-सी लग रही है। अब पलँग पर करवट लेने से चिरमिराहट हुई तो उसे लगा, बच्चे लौट आये हैं। स्कूल से वैसे पाँच-सवा पाँच तक

लौट आते थे बच्चे। आज साढ़े पाँच होने को आये, फिर भी नहीं आये? सुबह जब रीता और टूनी के बारे में पूछा था तो सुरेश ने कहा था, "उन की नींद देर से खुली। बल्कि बस छूट गयी—और मुझे उन्हें साइकिल पर पहुँचाना पड़ा।"—सुरेश की बातों से वाकिफ़ है वह, लेकिन अब ?—क्या बस लेट हो गयी ?

वह उठ कर खाली कमरे से छज्जे तक बढ़ गयी, फिर वापस कमरे और बरामदे में। लेकिन सभी जगह उसे अपनी व्यर्थता महसूस हो रही थी। खाली लेकिन अस्त-व्यस्त कमरा या नंगी दीवारें, किसी में कुछ परिवर्तन अब उसे नहीं करना है। कोई कोना झाड़ डालना भी अब बेमानी है।...

चन्द्रा औलक

दीवार पर जाने कब का पुराना कैलेण्डर टँगा है;—इस से पहले कभी उस पर ध्यान नहीं दिया। अब फैली आँखों से कैलेण्डर ही देखती रही। कैलेण्डर में एक भाई और एक बहन-जैसा चेहरा देख कर पास जा खड़ी हुई। वे बच्चे गहरी उत्सुक आँखों से एक मोड़ की ओर देख रहे हैं। बच्चों का मुड़ कर देखना उसे काफ़ी हद तक और उदास कर गया।

●

उस दिन आने से पहले वह बच्चों को प्यानों पर विदाई गीत सिखा रही थी। ये गीत उस की उस्तादनी ने उसे बोर्डिंग हाउस में सिखाया था। विदाई के समय सब लड़कियों ने वो गीत

गाया था, उन में वह [illegible] और [illegible] सिर्फ़ उसी को थपथपा कर मैडम ने कहा था—"यू आर ब्रिलियंट ईनी। यू विल मेक ए गुड टीचर।" ईना को मैडम ने यही असीस क्यों दी? क्यों नहीं कहा कि ईना अच्छी माँ और अच्छी गृहिणी बनेगी। और सुख-सुविधा की जिन्दगी जियेगी।

सुख-सुविधा होती तो क्यों वह घर और बाहर इतनी मेहनत करती?—क्यों पाई-पाई या पैसा-पैसा सँभाल कर रखती—कि वह ज़रूरत पड़ने पर सुरेश की सहायता कर सके। काश, समय-समय पर उस ने सुरेश को सहारा न दिया होता।—और उत्सुक ना होती कि सुरेश उठे। उठे, और अपनी स्थिति सुधार कर आगे बढ़े। तब उसे सुरेश पर आक्रोश न होता। न उस की असफलताओं से धक्का लगता और तब वक़्त से पहले वह थक न जाती, कि सुरेश से छुट्टी माँगनी पड़ती।

उसे याद है, सुरेश तैयार हो कर जाने को खड़ा था। उस का एक क़दम देहरी के इधर और दूसरा बाहर था। और उसे कोफ़्त हुई थी, कि बता कर जाना भी वह अपनी शान के खिलाफ़ समझता है। वह पास बढ़ आयी थी। सुरेश ने सिर्फ़ आँखें उठायीं कि, ईना को कुछ कहना है तो कहे वरना जा तो रहा ही है वह।

वह कसमसा कर गयी। होठों पर सिर्फ़ एक ही वाक्य उतरा—"मुझे अब छुट्टी चाहिए।"

"छुट्टी!"—सुरेश अकबका कर कुछ देर सोचता रहा, फिर बोला—"तो तुम तब तक तो रुको कि तुम्हारा कुछ तो चुका सकूँ....।" ईना के मन में जैसे किसी नश्तर का दंश चुभने लगा हो। चाहा कहे—ऐसा वक़्त कभी आयेगा कि सुरेश कुछ चुकता करे!—लेकिन ऐसी बात क्या ईना को जँचेगी? ईना ऐसा कर के सुरेश को क्या उसी की नज़रों में नहीं गिरायेगी? इतना सोच कर चुप रह गयी। फिर कहा, "...बच्चों का स्कूल का खर्चा है जो बढ़ गया है, उस के लिए तो कुछ सोचना ही होगा।"

सुरेश सोच की मुद्रा में कुछ देर खड़ा रहा। फिर कहा, "अच्छा देखो..."

वह चाहती थी सुरेश को अच्छी तरह बता दे कि 'अच्छा देखो' तक कोई चान्स उस के लिए रुका नहीं रहेगा। लेकिन सुरेश चला गया, वह भी बिना सुने—बिना कहे।

बौखलायी-सी वह उठी— "नहीं होता मुझ से। जैसे सारा ज़िम्मा मैं ने ही ले रखा है। एक-एक का।" अचानक ध्यान हुआ बच्चों का। इधर-उधर देखा। आवाज़ें दीं पर कहीं कोई नहीं। तो खिसक गये वे भी! ईना उफ़न कर रह गयी। आज सवेरे हलकी-सी चखचख बच्चों को ले कर भी हुई थी।—और अब चाहिए था कि सुरेश उन्हें सावधान कर जाता। लेकिन नहीं, पैर जो उठाया तो फिर पीछे का उसे ध्यान नहीं। यानी पीछे ईना जो है।—कि हर ज़िम्मेदारी ईना की

है ? सुरेश से किसी का कोई वास्ता नहीं। वास्ता नहीं, तो भी गये क्यों ? सोचते हुए वह बच्चों को ढूँढ़ने चल पड़ी। और गये, तो भी बिना पूछे ?...पूछे बिना गये क्यों ? लेकिन चारों ओर ढूँढ़ आने पर भी जब बच्चे कहीं नहीं दिखे, तो उत्तेजना में आपे से बाहर होती, वह दरवाज़े पर ही उन का इन्तज़ार करने लगी। लेकिन इस इन्तज़ार से कुढ़न घटी नहीं, बढ़ती ही गयी।—इस से पहले सहनी पड़ती थी सुरेश की दयनीय स्थिति ? अब बच्चे घूमेंगे आवारा ! कि इन स्थितियों का शिकार वह कब तक बनी रहेगी। सुरेश को नहीं सुधार सकी, परिवार की नींव कहीं टिका नहीं सकी।—कि कहीं टिकने भी दें ये !....इसी ख्याल से छड़ी उस ने बच्चों के आने से पहले ही ढूँढ़ कर ठीक-ठिकाने पर धर दी। अब जब वे आयेंगे तो आगा-पीछा कुछ नहीं देखेगी। आज का पाठ उन्हें ज़िन्दगी-भर याद रहेगा।—और हम उत्तेजना बच्चों को आता देख कर उस ने दबायी नहीं। सख्ती से पेश आते हुए पूछा—

"कहाँ थे तुम ?"

वे सहम कर ठिठक गये थे, और सोच रहे थे कि इस सवाल का जवाब क्या है ?

"बोलते क्यों नहीं कहाँ थे ? और किस से पूछ कर गये थे ?"

वे इस का जवाब भी नहीं जानते, जानते हैं कि एक प्रश्न है यह जिसे सुन कर वे थोड़ा और सिमट गये हैं।

"चलो इधर—"

जब चल कर देहरी पार कर आये तब कहीं पता चला छड़ी का और तीनों की आवाज़ घिघिया आयी बन्द पिंजरे के पक्षियों जैसी।—कि छड़ी होना कितना निर्दय है।

लेकिन निर्दयता ही इलाज है। पाप है दया। ईना चिल्लायी—"पहले तुम ?" और जब वह ईवी की हथेलियाँ गर्म कर चुकी, तो घूमी रीता की ओर—"हाथ बढ़ाओ।" हाथ बढ़ाती हुई रीता देख रही है ईना को और हाथ मुड़-मुड़ जाता है। हलकी-सी कराहट-भरे स्वर में रीता ने रुक-रुक कर हथेली सीधी की, घिघियाते हुए कहा, "...आ-ईस्ता...ममी—आ-ई-स-ता.."

जान-बूझ कर ऐसी आवाज़ें निकालते हैं ये, इस लिए कि ईना डर जाये। तभी तो ईना का स्वर और कठोर हो उठा था—"तब तो और ज़ोर से पड़ेगा—" रीता की मुड़-मुड़ जाती उँगलियों पर बेंत पूरे ज़ोर से उठा तो, लेकिन पता नहीं क्या हुआ कि बेंत अलग जा गिरा। रीता की तब उस ने चोटियाँ ही झटक डालीं। साथ ही कहा, "तुम लड़की हो, ये आठवां वर्ष बीत रहा है। तुम्हें इस उम्र में क्या गली-गली मटरगश्ती करना सीखना है ?"

"और तुम ?"

उसे याद आता है—क्षमा उस ने टूनो को भी नहीं किया था।—अगरचे वह छड़ी देखने से पहले ही चिल्ला पड़ा था : "अब नहीं जाऊँगा। पूछे बिना कभी नहीं—प्लीज़ मामा बी काइंड ऐण्ड स्लो...."

"नहीं....धीमे नहीं पड़ना। अभागे

बच्चो। परिवार के वंशजो !—तुम !— यानी परिवार पड़ा है ईना के हाथ में ! छूत के ! जो अपना सारा मैल कलुष धो कर यहाँ कमलदल खिलाना चाहती है, पर तुम खिलने नहीं देते।...."

फिर उस ने तीनों को सुबकते देखा था। वह उन की हर चीज़ को छू कर उन्हें हर बात की ताकीद करती रही थी। समझा रही थी, कि अच्छे परिवार के बच्चों को आखिर रहना कैसे चाहिए।—इस के बाद उस ने बच्चों को पढ़ाया था। टूनी को अल्फ़ाबेट और वाक्य-रचना और ईवी-रीता को ईज़ी मैथेड।

इसी बीच बच्चे प्रकृतिस्थ हो चुके थे। और वह उन्हें खाना खिला कर काम के बारे में हिदायतें दे चुकी थी। टूनी अपने स्वाभाविक ढंग से हँस रहा था। और जब ईना ने पूछा था, 'समझे', तो टूनी हँसते हुए रीता और ईवी की ओर देखा था, कहते हुए—"तुम भी समझ लो भाई, इन का समझाना भी ऐसा ही होता है और वही करना जो ये कहें..."

उन शब्दों से चौंक कर हठात् ईना ने एक साथ तीनों की ओर देखा था। और रीता ने इवी को सम्बोधन करते हुए कहा था—"देखो—ये देखती कैसे हैं ?"

बच्चों के भोलेपन ने जाने कैसा सम्मोहित किया था उसे; और मथ भी डाला था, इतना कि "भागो—" कहती वह भाग कर खुद ही आड़ में हो गयी थी।—फिर लगा कि चकरा कर गिर जायेगी। पास ही कुरसी पड़ी थी, उस पर बैठे-बैठे आँखें मूँद लीं। लेकिन वहाँ भी उसी के शब्दों की प्रतिध्वनि थी ऊँचे गुँजारती हुई, "अब जाओ—"।

और जब उन तीनों के हट जाने से भी धकधकाहट कम नहीं हुई थी, तो पूछा था, "अब तुम्हें क्या करना है ?" वे जैसे जानते हों—"स्टडी"। तीनों का एक साथ सधा हुआ स्वर—"स्टडी—"। जैसे एक हथौड़ा हो और उस के वक्ष पर टंकार उठा हो, चोट गहरी करने के लिए। तत्काल पूछा—"और मैं तुम्हारी कौन लगती हूँ ?" उस की बात का जवाब कम से कम इस समय उन के (तीनों के) पास क्या हो भी सकता है ?—सोच कर खुद ही कहा, "ट्यूटर—शिक्षिका,—सिर्फ़ उस्तादनी। समझे ?"

—लेकिन अब जब वे समझ गये थे, तो उस के भीतर का भारीपन बर्फ़ की सिल की तरह बूँद-बूँद पिघल रहा है। और बूँदें भाप बन कर उड़ रही हैं—आँखों की ओर। और कोरों के आसपास जमी हैं बूँदें। तुम्हारी यही है सज़ा। अब अगर सुरेश तुम्हें झाड़ू मार कर भी भगाये तो तू क्या इन्हें छोड़ कर जा सकेगी ईना ?

ठीक उसी क्षण पैरों की आहट पा कर ईना उठी। झाँक कर देखा—सुरेश। निर्विकार भाव से कुरसी पर निढाल पड़ा हुआ। धीरे-धीरे पास जा कर पूछा—"खाना ?"

"तीन बज गये, अब क्या खाऊँगा।"

"जब बना है तो...."

"शाम को काम आ जायेगा।"

जब वह मुड़ी, तो सुनाई पड़े थे ये

शब्द—तीखे नहीं [illegible] कितनी पैनी कचोट थी उन शब्दों में। हालांकि शाम को काम आ जायेगा की कामना उस ने की ज़रूर थी; पर भूखा रह कर सुरेश ही कह दे, और जान ले कि शाम को काम आ जायेगा।

●

सुरेश के जाने के बाद ईना ने घर को नये सिरे से सँवारा। ड्राइंगरूम में जो स्क्रीन पड़ी थी, उसे अपने स्टडी-रूम के सामने वाले दरवाज़े पर जमा कर बच्चों का कमरा अलग कर दिया। उन में नये चार्ट और नक्शे लटका दिये। अजायबघर-जैसी बहुत सी अजूबा चीज़ें एक मेज़ पर लगा दीं। सब-कुछ यथास्थान लग गया कि नहीं, एक नज़र देख कर हट गयी। कमरे पर नया परदा डाल कर वहाँ ताला डाल दिया। अब जायेगी बच्चों को बुलाने। बच्चे!—हाँ जहाँ छोड़ गयी थी, जिस अवस्था में, वहीं मिले। बैठे-बैठे डेस्क पर ही ऊँघ गये थे। जाने कितनी देर हठात् उन्हें देखती रही, पलक तक नहीं हिलायी। फिर पास चली गयी। टूनी ने नींद में सिसकी भरी तो उसे बाँह में समेट लिया। रीता की चोटियों के रिबन ढुलक गये थे, उन्हें सँवार दिया। सामने था ईवी। उस की गर्म साँस ईना के सूखे होठों को छूने लगी। उस ने मुँह फेर लिया। नींद में सिसकी लेते वक़्त शायद टूनी के होठ अध-खुले रह गये थे, जो अब तितली के पंखों-जैसे [illegible] तितली और फूल-जैसे तीन बच्चों को उस ने···नहीं बार-बार एक ही बात नहीं सोचेगी। इन्हें यहाँ से उठा कर वह पलँग में डाल देगी। और वहाँ वे दुबक कर भूल जायेंगे।

लेकिन काफ़ी सावधानी बरतने पर भी बच्चों की नींद उचट गयी थी। वह झटपट उठी, याद आया बच्चों के लिए टार्टर्स बनाये थे।—लेकिन टार्टर्स ईवी ने नहीं छुए। रीता और टूनी भी सिर्फ़ झाँक कर ही रह गये थे।

"तुम्हारे लिए टाफ़ी भी हैं,"—ईना ने टूनी को पास खींचने का यत्न किया।

"अब टाफ़ी देती हैं?"—टूनी भाई के लटके हुए चेहरे को देख कर बोला—

"और नहीं तो—आप मारती भी कैसी हैं?"

रीता कुनमुनाते हुए दूर सरक गयी।

"और प्यार नहीं करती क्या?" उस ने दुलार से टूनी को चूम लिया। जवाब दिया ईवी ने—"आप प्यार करती हैं?" ईवी का व्यंग्य वह पी गयी।—"प्यार करती हैं रेनू और बब्लज़ की ममी।" टूनी टाफ़ियों के काग़ज़ को खोलते हुए बोला।

—"लेकिन वे बच्चों के लिए प्रदर्शिनी कहाँ लगाती हैं? मैं ने तुम्हारी तो एक नयी राजधानी बनायी है आज—तुम अभी उस का उद्घाटन करोगे।"

"उद्घाटन क्या होता है ममी?"

सवाल पूछा था टूनी ने, वो भी ईना से। लेकिन उस की तसदीक़ के लिए सिर उठाया था भाई की ओर, मगर ईवी उत्तेजना में
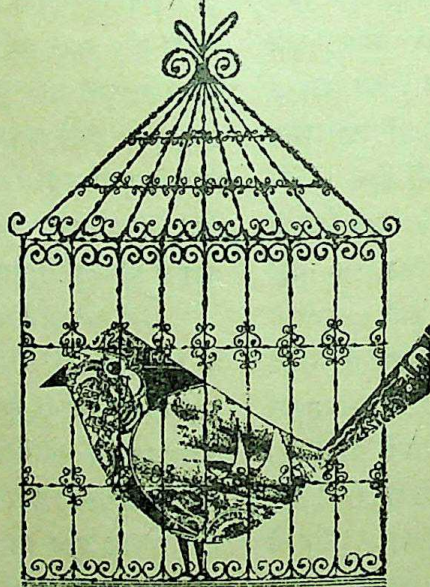
पलंग से उतर कर अलग आ खड़ा हुआ था—"हमें प्रदर्शिनी नहीं चाहिए। हमें उद्घाटन नहीं करना—"

आह इस छिटकने में कितनी अवज्ञा है!—शब्दों में कितनी भर्त्सना!

ईना रुक गयी। न जाने कितनी देर बन्द दरवाज़े के बाहर खड़ी, स्क्रीन पर आँखें टिकाये रही। फिर सहसा देख कर रीता बढ़ आयी—"चलो ममी!"

"लो ये चाबी। मैं अभी आती हूँ।"

माँ की ओर ईवी ने देखा था, और ईना ने ईवी को। और फिर ईवी धीरे से उस के पास आया था। उस के वक्ष तक—ईवी की साँस वैसी ही उसे अब भी छू रही थी। उसे बाँहों के घेरे में ले कर ईना ने उस के बालों को छुआ, फिर हथेलियों को चूम लिया। जैसे अब सब में उभरने वाली जड़ता का पहाड़ खुद ही धीरे-धीरे झड़ने लगा हो।

•

गहरी शाम थी, जब सुरेश आया और सीधा अपने कमरे में चला गया। बच्चों के बारे में ईना को उस दिन जो कहना था वो अन-कहा रह गया।

अगली सुबह ही सुरेश ने उसे ऊपर वाले कमरे में रहने का सुझाव दिया था। उसे लगा था कि यह तबदीली व्यर्थ ही न थी। सुरेश का बच्चों के निकट आ कर रहना अपने में सार्थक वजह थी।—और सुरेश ने उस कारण को फिर छिपाया भी नहीं। कहा, "मैं समझता हूँ, इण्टरव्यू के लिए तुम्हें चले जाना था?"

वह सोच रही थी, कि क्या ये सिर्फ़ भूमिका ही है! या—इस के पीछे कुछ है, जो सुरेश स्पष्ट करेगा! शायद जानने के उद्देश्य से ही उस ने सुरेश की ओर देखा था। और सुरेश के चेहरे पर गुदा हुआ भाव जैसे नज़र में पढ़ा भी था, ईना शायद बिना कहे ही सुरेश को किसी ऐसी चीज़ के लिए मजबूर कर रही है, जहाँ वह अपने को सर्वथा बेबस पाता है।

"—तुम आज रात चली जाओ," सुरेश झिझकते हुए चुप हो गया।

वह निःशब्द मुड़ गयी तो सुरेश बोला—"तुम्हारे रहते जैसे एक दोष की भावना मुझ में घर किये रहेगी। तुम्हें रोकने पर हमेशा अपने में लगेगा कि मैं किसी चीज़ से कतरा रहा हूँ।"

—लेकिन सुरेश यह सब किस बूते पर कह रहा है, उस ने बच्चों का आखिर क्या सोचा है?

"मैं ने सोच कर देखा है ईना...." सब सुनने की जैसे ईना को ज़रूरत न हो। ईना को दया की ज़रूरत नहीं। दया पाप है, न्याय पुण्य....

फिर भी सुरेश के कुछ शब्द जैसे ज़बरदस्ती पीछा करते ही रहे— "वहाँ तुम्हें शिक्षिका बनने का सुअवसर तो मिलेगा ही, साथ ही बच्चे भी, और बोर्डिंग-हाऊस भी।"

—बेशक यही है उचित सज़ा, जिस का उसे हँस कर ही स्वागत करना चाहिए। हँस कर, आँसुओं सहित नहीं····

अब इस क्षण जहाँ वह खड़ी है, कल बच्चों सहित नये स्टडी-रूम में बच्चों की राजधानी का उद्घाटन किया था। बच्चों को विदाई गीत सिखाया था, और बाद में वे प्यानों पर उस गीत को गा रहे थे—"विद ए टीयर—नाट ओ डियर मेक इट गे,—टिल वी मीट वन्स अगेन यू ऐण्ड आई—विश मी लक—ऐज़ यू वेव मी गुड-बाई—"

—उसी शाम वे चेहरे तब पीछे छूट गये थे। लगा था, उस का स्कूटर दूर की किसी सँकरी गुफा में प्रविष्ट हो गया है। उस के अगल-बग़ल भाग रही है—घरों की एक लम्बी क़तार—हर घर के बन्द दरवाज़े को वह भागती छू रही है। लेकिन घर जैसे सूने हैं। दरवाज़े ख़ामोश और उन के चारों ओर हलकी स्याह धुन्ध-सी फैली है।—सुरेश के साथ होने का आभास भी हुआ था, स्टेशन पहुँच कर···

फिर सुरेश ने उसे टिकिट सँभलवाते हुए एक किताब दी थी— "यह भूल से मेरे पास रह गयी थी।"

किताब को हाथ में ले कर देखा। परसों ही ख़रीदी थी। बच्चों को ईज़ी मैथेड सिखाने के लिए। कुछ देर किताब खोल कर देखती रही, उस दिन उसी में से पढ़ाया था। बच्चे सज़ा के तौर पर सब झेल रहे थे। जगह-जगह उन के काँपते हाथों की उलटी-सीधी मार्किंग थी।—किताब बन्द कर के बैग में रख ली फिर सुरेश से कहा: "तुम अब जाओ।" उस दिन घर में या शहर में दरअसल वही उस की आख़िरी शाम थी। ■■
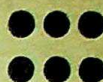
कम्प्यूटर, जो कविताएँ करता है !

सपनकुमार

महान् निर्देशक कुब्रिक की फ़िल्म '२००१ : ए स्पेस ओडिसि' देख कर जब मैं निकला, तो मन पर एक अजब उदासी छा गयी। ब्रह्माण्ड-यात्राओं की निस्सारता और चुनौती, दोनों ने मुझे झकझोर दिया था। इस फ़िल्म में कुब्रिक ने सन् २००१ में सम्भावित ब्रह्माण्ड-यात्राओं की अनोखी, लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से यथा-तथ्य, अनेक कल्पनाएँ की हैं। उन में से एक कल्पना यह है कि मनुष्य की ही तरह सोचने और निर्णय ले सकने वाले कम्प्यूटर सन् २००१ तक बन जायेंगे। मानव का कम्प्यूटरी-करण और कम्प्यूटर का मानवीकरण !

सचमुच कम्प्यूटर की सम्भावनाएँ अपरिमित हैं। सन् २००१ बहुत दूर नहीं—और उस युग के अनोखे कम्प्यूटर अभी से अपना आभास देने लगे हैं। मानव अपने यन्त्रों से केवल इस नाते ऊँचा है कि मानव के मन में भावनाएँ जगती हैं, जब कि यन्त्र किसी 'मन' का स्वामी नहीं है। तकनीकी दृष्टि से, मानव से भी अधिक सक्षम होते हुए भी, यन्त्र में मानवीय संवेदों जैसे संवेद पैदा नहीं होते।

मगर क्या वह दिन दूर है, जब यन्त्र भी मानव की ही तरह संवेदनशील, भावुक या ईर्ष्यालु हो उठेंगे ? '२००१ : ए स्पेस ओडिसि' में ऐसे ही एक महा-कम्प्यूटर से साक्षात्कार हुआ....

भविष्य की बात छोड़िए। आज—ऐन अभी—ऐसे कम्प्यूटर इस दुनिया में मौजूद हैं, जो कविताएँ रच सकते हैं।

ऐसे एक कम्प्यूटर का नाम है 'आर. सी. ए.—३०१'। मूलतः यह 'जनरल पर-पज़ डाटा प्रॉसेसिंग कम्प्यूटर' है, लेकिन कम्प्यूटर-विशेषज्ञ क्लेर फिलिपो ने उसे कविता के क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण एक सौ शब्दों के साथ

'जोड़' दिया। उन एक सौ शब्दों से ही 'आर. सी. ए.—३०१' ने जो चमत्कार कर दिखाया, वह अद्भुत था। उस ने प्रति मिनिट डेढ़ सौ कविताओं की गति से 'भावनाओं का सर्जन' किया! दुनिया का कोई कवि इतनी गति प्रदर्शित नहीं कर सकता। इस से इनकार नहीं कि 'आर. सी. ए.—३०१' की कविताएँ धर्मवीर भारती या रामानन्द 'दोषी' की कविताओं से टक्कर नहीं ले सकतीं, लेकिन 'आर. सी. ए.—३०१' अभी अनाड़ी ही तो है! भविष्य में ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ेगा, उस का स्तर ऊँचा उठता जायेगा।

'आर. सी. ए.—३०१' ने फ़िलहाल गीत नहीं लिखे हैं। तुकबन्दी के फेर में पड़े बिना उस ने मुक्त छन्द में ही 'आज के त्रस्त मानव को अपनी कविताओं में उजागर किया है'! 'आर. सी. ए.—३०१' का व्यंग्य अपना है, शैली अपनी है, सरलता भी अपनी है। उस के पास वैज्ञानिकता का वह सहज स्पर्श है, जो शायद ही किसी मानव-कवि के पास हो! 'आर. सी. ए.—३०१' बहुत 'व्यवस्थित' कविताएँ करता है। उस की प्रत्येक कविता में चार पंक्तियां हैं। शुरू की तीन पंक्तियों में, हर बार, सात-सात शब्द ही होते हैं। अन्तिम पंक्ति में होते हैं केवल तीन शब्द—जो कि कविता को 'अन्तिम स्पर्श' देते हैं।

कवि 'आर. सी. ए.—३०१' को पाँच कविताओं के हिन्दी अनुवाद हम आगे दे रहे हैं। चूँकि ये मुक्त अनुवाद हैं—और ऐसे ही अनुवादों में उन कविताओं की शोभा भी है—इन में 'आर. सी. ए.—३०१' की 'व्यवस्था' तो नहीं है, लेकिन इस कम्प्यूटर-कवि की मूल 'भावना' को हिन्दी में ज्यों-का-त्यों उतारने का प्रयास अवश्य हुआ है। ये हिन्दी अनुवाद किये हैं कथाकार मनहर चौहान ने।

इस उद्देश्य को सामने रख कर कि 'आर. सी. ए.—३०१' में कविताएँ रचने की क्षमता आ जाये, फिलिपो ने उन एक सौ शब्दों में से कुल दस शब्द ऐसे चुने, जिन्हें 'प्रवर्तक' कहा जा सकता है। कविता की प्रत्येक पंक्ति इन्हीं दस में से किसी एक शब्द से प्रारम्भ होती है। पंक्ति प्रारम्भ होने के बाद संज्ञाओं, विशेषणों, क्रियाओं अथवा क्रिया-विशेषणों की शृंखला चाहिए—ऐसे नब्बे शब्दों को फिलिपो ने अलग से 'घेर लिया'। केवल तीन शब्दों वाली अन्तिम पंक्ति के लिए फिलिपो ने तीस शब्द अलग से चुने और कम्प्यूटर की 'कोष्ठिका' के टेप में 'घेर लिये'।

'आर. सी. ए.—३०१' की रचना-प्रक्रिया बहुत सरल है। फिलिपो उस के सामने बैठ जाता है। फिर वह 'आर. सी. ए.—३०१' के एक विशिष्ट बटन को दबाता है। 'कोष्ठिका' में टेप अनवरत चल रहा होता है। बटन दबाने के क्षण में टेप का कौन-सा शब्द 'सामने' है, यह अपने-आप नोट हो जाता है। फिलिपो बार-बार, जल्दी-जल्दी बटन दबाता जाता है। सब से पहले 'प्रवर्तक' शब्द। फिर अन्य शब्द। चौथी, याने कि अन्तिम पंक्ति के कुल तीन शब्द—कविता तैयार! बटन दबाते समय फिलिपो को नहीं

मालूम होता कि उस ने किस शब्द का बटन दबाया है। कविता जब तक टंकित हो कर उस के सामने नहीं आ जाती, तब तक वह नहीं जान पाता कि उस ने कैसी कविता की और कैसी नहीं।

इस कम्प्यूटर-कवि की कुछ कविताएँ तो बहुत ही अच्छी बन पड़ती हैं! स्वयं ही देख लीजिए न!—

कम्प्यूटर 'आर. सी. ए.-३०१' की पाँच कविताएँ

(मनहर चौहान-द्वारा प्रस्तुत)

• कविता-क्रमांक : ०२७

जब रिक्त चेहरों पर जीवन का
कुटिल आगमन हुआ,
जब स्थिर देहों पर ब्रह्माण्ड
धीरे-धीरे बहा,
जब अपरिमित मानवीयता पर सितारे
कुटिलता से लुढ़के,
तब—
कोई वासना नहीं मुसकरायी।

• कविता-क्रमांक : ९२९

भग्न आशाओं पर जब अन्धा सपना
प्रवाहित हुआ,
और बीमार ब्रह्माण्ड खण्डित प्रणय पर
बूँद-बूँद टपकता रहा,
तुम्हारी रोशनी जब धीरे-धीरे
चोरों से परे सरकी,
तब—
कोई स्वर्ग नहीं सोया।

• कविता-क्रमांक : ०७८

बीमार सितारे स्थिर झोंपड़ों पर गिरे ज़रूर
क्योंकि सूने चेहरों पर
जीवन अचानक चौंधा था,
मगर—
आलसी खेतों पर लगा कड़वे खून का धब्बा
महाकार हो उठा,
मंगलवासी मुसकरा न सका।

• कविता-क्रमांक : १०५

धरती का जल शठता से बह कर
सूने आकाश में चला गया,
मानव रक्त
पीले शवों के नज़दीक पहुँच कर मर गया,
मक्कार उदासी
कृश चेहरों के आरपार छनती रही,
मानव-शत्रु अघा गया।

• कविता-क्रमांक : १४०

कटुता के बावजूद
चुराये हुए प्रणय की रोशनी
आती जरूर रही,
दूर झोंपड़ों में प्रवाहित तुम्हारा रक्त
गन्धाता रहा,
कुकर्मों के ही चारों ओर
जगमगाते सितारे टूट-टूट कर जमा हुए!
स्वर्ग हार गया····
■ ■

दो कविताएँ

वारीन्द्र कुमार वर्मा

●

पलाश-धन

काँच की प्याली में
परिधि के कोरों तक
    भरा हुआ जल
आइने-सा
    साफ़, सुस्थिर !

थिरे हुए जल पर
ज्यों एक टुकड़ा रंग का
डाल देने पर
जल प्रकम्पित
एक क्षण को ।
और, फिर से दीखता
निष्कम्प
    सुस्थिर ।

किन्तु तल से उठ रहा
रंगीन रेखा-क्रम
    धुँ ऽ आँ ऽऽ—
चीरता
    और
      भेदता

घेरा तरल जल का
सतह तक पहुँच जाने
फैल जाने को
अधिक व्याकुल !

हर-एक छोटी बात
तरल-जल चीरती-सी
चेतना की सतह पर
आ
फैलती
घेरती थोड़ी जगह ।
किन्तु वह रंगीन पानी है :
संवेदना—
अस्तित्व की सार्थक निशानी है ।
इसी से टूटते जब पात
खिलता और भी पलाश
लाल-लाल
घने-घने गुच्छों में ।

चिलकती धूप में
दहकता पलाश-वृक्ष
वीतराग
किन्तु साँझ
केसरिया-किरण-राग
खिलता हर डाली में
कितना अनुराग, हाय !

गिने नहीं पात
जो झरे थे
फूलों का खिलना ही

एक बड़ी घटना थी
    मेरे लिए
पलाश पर पलाश
हर डाली, हर टहनी पर
    खिले थे !

तुम्हारी हर बात पर
सच है, यह
एक पात झरता था
एक फूल खिलता था
इसी लिए
सारा का सारा पलाश-धन
        तुम्हें दिया !

कुछ मनःस्थितियाँ : बर्फ़ और पानी का माध्यम

: १ :

क्रोध :
    जैसे
पानी
सिमसिमाहट के पहले ही
        उबल जाये ।

: २ :

दया :
    जैसे
बर्फ़
    हलकी धूप में ही
    पिघल जाये ।

: ३ :

घृणा :
 जैसे
पानी
बात-बात में ही जम जाये।

: ४ :

उत्साह :
 जैसे
ग्लास में आधा भरा पानी
बार-बार ही छलक आये।

: ५ :

निराशा :
 जैसे
ग्लास-भर पानी
होठ तक आने के पहले ही ढुलक जाये।

: ६ :

आशा :
 जैसे
बर्फ़ का हर-एक टुकड़ा
सप्तरंगी इन्द्रधनुषी बोध में ही डूब जाये।

: ७ :

प्रेम :
 जैसे
पानी की सतह पर तैरता बर्फ़ का टुकड़ा
पानी की उष्णता पा कर ही घुल जाये।

■ ■

दो छोटी कविताएँ

सविता बनर्जी

मेघ और वर्षा :

सारी अकड़ भूल कर अपनी
सूरज अब
बदलियों के साथ
मुँह लटकाये
घूम रहा है।

वर्षा से शादी है
बादल
दूल्हा बना
झूम रहा है॥

वर्षा :

बस थोड़ी ही देर हुई थी
बुढ़िया धूप
आँगन में आ कर बैठी थी
रोती हुई आ पहुँची—
नातिन बदली
बुढ़िया उठ कर चल दी।

मूर्तिकला के नये आयाम
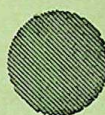
मथुरेश नन्दन कुलश्रेष्ठ

प्रत्येक युग का विज्ञान जिस सीमा तक प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर पाता है उसी अनुपात में कलाकार के सामने सौन्दर्यानुभूति के नवीन क्षितिज सामने आते हैं। कला का विषय द्विविध है—बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्। विज्ञान बहिर्जगत् के निरन्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों को खोल कर सामने रखता है और सजीव कलाकार उन स्तरों के सौन्दर्य-पक्ष से प्रभावित हो कर कलाकृतियों का निर्माण करता है। अन्तर्जगत् की मूल प्रवृत्तियाँ तो कला का विषय रहती ही हैं परन्तु मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः समाज रचना की जटिलता और संघर्ष तथा प्रगति भी निरन्तर मानव-मन की विभिन्न स्थितियों का निर्धारण करती है। इन स्थितियों की सूक्ष्म पकड़ और मानसिक सौन्दर्य को मूर्त रूप देना कलाकार का प्रिय विषय रहा है। कला के इस वस्तु-तत्त्व को विभिन्न प्रकार की कलाओं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य के माध्यम से व्यक्त करने के लिए कलाकार अपने युग तक विकसित होते आये विज्ञान की विभिन्न तकनीकों का प्रयोग करता है। जो कलाकार अपने परिवेश की ओर से सजीव है, उन सौन्दर्य क्षितिजों की अनुभूति करने में समर्थ है, वह विज्ञान को नवीनतम तकनीकों के बिना अपना काम चला ही नहीं सकता। पुरानी तकनीक पुराने सौन्दर्यबोध को अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो सकती है परन्तु नये सौन्दर्यबोध की अभिव्यक्ति के लिए पुरानी तकनीकी ज़मीन तोड़ कर नवीनतम साधनों का उपयोग अनिवार्य हो उठता है। बीसवीं शताब्दी में तीव्र गति से हुई वैज्ञानिक प्रगति ने आज की मूर्तिकला के सौन्दर्य-बोध और तकनीक तथा शैली को किस प्रकार प्रभावित किया है, इस विषय पर संक्षेप में प्रकाश डालना ही इस लेख का उद्देश्य है।

इस शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति के सब से प्रमुख दो पक्ष हैं : एक तो जीवन के मूल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जीवाणुओं की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर गतिविधियों का अनुसन्धान करना और दूसरे पदार्थ की प्रकृति के सूक्ष्मतम अध्ययन-द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में प्रवेश करने का प्रयास। इस के अतिरिक्त अन्तरिक्ष-विज्ञान के विकास के कारण ब्रह्माण्ड के जिस व्यापक आयाम पर प्रकाश पड़ा है वह वैज्ञानिक प्रगति का सब से महत्त्वपूर्ण पक्ष है। विज्ञान के इस विकास ने समय और गति तथा अवकाश की नवीन स्थितियों की स्थापना की है। विज्ञान की इस प्रगति में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग गणित का रहा है। अतः जीव-विज्ञान, अणु-विज्ञान, शक्ति-विज्ञान, अन्तरिक्ष-विज्ञान और गणित ने आज की कला को भी एक मोड़ दिया है। इस वैज्ञानिक विकास का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है मूर्तिकला पर, जिस ने स्वयं को स्थापत्य-कला से एकदम अलग कर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा तो की ही है साथ ही इस घोषणा की सत्यता को सिद्ध भी किया है।

आधुनिक मूर्तिकला का सर्वप्रथम पक्ष, जो इस को प्राचीन मूर्तिकला से अलग करता है, यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी तक चले आते अनुकरणात्मक दृष्टिकोण से हट कर यह एक अन्य ही धरातल पर स्थित हुई। अनुकरण निष्प्राण होता है। उस में शरीर का अनुकरण किया जाता है परन्तु आधुनिक मूर्तिकला में कृति को उस वस्तु के मूल तत्त्व के प्रभाव से मण्डित करने का प्रयास किया गया है जिसे आत्म-तत्त्व कहा जाता है। आज मूर्तिकार आत्मगत अनुभव को ज्यों-का-त्यों दर्शक तक पहुँचाना चाहता है। वह किसी भी व्यक्ति-विशेष की सूरत सामने न रख कर उस प्रभाव को लाना चाहता है जो मांस-पिण्ड से अलग उस की आत्मा का प्रकाश है। इस प्रकाश का सम्प्रेषण उस का चरम लक्ष्य रहता है। इस के लिए वह मानवीय अवयवों के सरलीकरण, कायान्तरण, सतह की चमक और विरूपण का सहारा लेता है। तात्पर्य यह कि आज मूर्ति को आत्मस्पर्शी सजीवता देने का प्रयास किया जाता है। सजीवता या गतिशीलता दो प्रकार की होती है—जीवाणुगत सजीवता और यान्त्रिक सजीवता। आधुनिक विज्ञान ने जीवाणु को एक यान्त्रिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः जीवाणुगत सजीवता यान्त्रिक सजीवता या गतिशीलता का ही एक प्रकार है। परन्तु आत्मिक सजीवता एक अन्तःप्रकाश की अभिव्यक्ति है। मूर्तिकारों का एक दल काफ़ी समय तक इस सजीवता से युक्त अपनी मूर्तियों की प्रणाली को 'Organicism' करता रहा परन्तु बाद में हैनरी मूर ने इस की मूल प्रवृत्ति को समझ कर इस का नाम 'Vitalism' रखा। 'Vitalism' मूर्तिकला के क्षेत्र में अरूपवाद की ओर रखा गया पहला क़दम था। किसी भी कृति में यह विशेषता तब आती है जब कलाकार अपनी रचना में एकदम ध्यान आकर्षित करने वाला जादुई असर उत्पन्न

कर देता है। सृष्टि में अनेक घटनाएँ अनजाने-अनपहचाने घटित होती रहती हैं। परन्तु जब कभी दृष्टि से छिपी हुई इन स्थितियों को प्रथम बार कलाकृति के माध्यम से उद्घाटित किया जाता है तो उस में एक प्रकार का जादुई असर आ जाता है। इस की सृष्टि के लिए टैकनीक की नवीन विधियों का आविष्कार होता है, कलाकार को बाध्य हो कर करना पड़ता है। अत: कला के नवीन विषयों की निरन्तर खोज और तदनुरूप अभिव्यक्ति के साधन जुटाना ही कलाकार की कला-साधना है। दोनों बातें एकदम एक-दूसरे की पूरक हैं। इन में से किसी भी एक की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मूर्तिकला के इतिहास में गौडियर, ब्रजैस्का, ब्रांक्यूसी और जीन आर्प की कुछ कृतियाँ 'Vitalism' का अनुकरण करने वाली मानी जाती हैं। यह सभी कलाकार प्रकृति से सन्नद्ध प्रक्रियाओं के अनुसन्धान की प्रवृत्ति से युक्त हैं और प्रकृति रूपों की सजीव विशेषताओं के प्रति सदा सजग बने रहते हैं। वे इस तथ्य के प्रति भी संवेदनशील थे कि मूर्तिकारों की सृजन-प्रक्रिया प्राकृतिक सृजन-प्रक्रिया का ही एक रूप है। गौडियर की दो अमूर्त कृतियों—'Stags' और 'Bird Expect' की मूल विशेषता 'Soft bluntness' है। इन की रचनाओं में पत्थर की सतही विशेषताओं—उस की धारियों और रंग का इस ढंग से पूर्णरूपेण उपयोग किया गया है कि उस में यान्त्रिक जड़ता न आ सके। यह सभी तत्व टंकित सजीव वस्तु के पोषक-तत्व बन गये हैं। इसी प्रकार ब्रांक्यूसी कृत 'Sleeping Muse', 'The beginning of the World' तथा 'Bird in Space' भी ऐसी ही रचनाएँ हैं जिन में पदार्थ की सतह के गुण को उभार कर उन के द्वारा अभीष्ट प्रभाव की उत्पत्ति की गयी है। 'Bird in Space' में यद्यपि चिड़िया का भौतिक आकार एकदम ग़ायब है परन्तु फिर भी यह कृति हमारे अन्त:करण में वह अनुभूति उत्पन्न करती है जो किसी उड़ती हुई चिड़िया को देख कर अनुभव में आती है। सतह की चमक तथा ऊर्ध्वगामी धारियाँ और नुकीला अन्त एकदम हमारे मन को उड़ा कर आकाश की ओर ले जाते हैं। 'Beginning of the World' अन्धों के लिए बनायी गयी एक ऐसी कृति है जो स्पर्श गुण-द्वारा अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि करती है। 'Sleeping Muse' एक ऐसी कृति है जो सोती हुई महिला की विशिष्ट मुख-भंगिमा को सरलीकृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। यह कृति 'Vitalistic' कृतियों के इस गुण का अच्छा उदाहरण है कि इन कृतियों में सजीवता का रहस्य अनुकरण में निहित न हो कर भंगिमा में निहित होता है। 'Beginning of the World' इसी के आगे का एक ऐसा चरण है जिस में रूपात्मक पूर्णता की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार जीन आर्प ने Human Creation of crown of buds' और 'Growth' में जीवाणुओं की गति और जीवन को मूर्ति के पदार्थ के साथ एकाकार कर दिया है। जीन आर्प ने इन में शरीरांगों का ही आधार मान

कर कुछ इस प्रकार रचना की है, एक को दूसरे के ऊपर कुछ इस प्रकार आरोपित किया है कि उस में कुछ-कुछ कायान्तरण का तत्त्व भी आ गया है। हैनेरी मूर और थियोडोर रोजाक में भी यह 'Vitality' का तत्त्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है।

'Vitalistic Sculpture यद्यपि सजीवता की सर्वाधिक समर्थक है परन्तु उस का दार्शनिक आधार आत्मवादी है। विज्ञान ने जिसे जीवन कहा है वह व्याख्या इन मूर्तिकारों को मान्य नहीं है। विज्ञान का प्रभाव 'Vitalism' पर केवल इतना ही है कि उस ने विज्ञान-द्वारा प्रस्तुत गति-तत्त्व को मूर्तिकला में उतारने का प्रयास किया है। परन्तु विज्ञान के विकास का एक अन्य दिशा में भी प्रमुख प्रभाव पड़ा है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों की व्याख्या और नवीन अनुसन्धानों के लिए वैज्ञानिकों को 'मॉडल्स' की आवश्यकता हुई। शरीर-विज्ञान, अणु-विज्ञान तथा अन्तरिक्ष-विज्ञान के अनेक तथ्यों की जानकारी के हेतु मॉडल्स का निर्माण करने में भी मूर्तिकला एक निश्चित दिशा की ओर मुड़ी। मॉडल्स विशेष रूप से अनुकरणात्मक होते हैं, उन का उद्देश्य भी विशुद्धतः उपयोगितावादी होता है; अतः इस प्रकार के मॉडल्स को मूर्तिकला की कृति नहीं माना जा सकता। परन्तु सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र और अन्य यन्त्रों से प्राप्त हुए तथ्यों को विशुद्ध मूर्ति के रूप में प्रस्तुत करना भी मूर्तिकारों को अच्छा लगा। इस प्रकार की कृतियाँ मॉडल्स से इस बात में भिन्न हैं कि इन का उद्देश्य विशुद्धतः सौन्दर्य का उद्घाटन करना ही रहा करता है, उपयोगिता की दृष्टि बिलकुल ही नहीं होती। किन्नीथ स्नैलसन-द्वारा निर्मित 'Atom' एक मॉडल न हो कर मूर्तिकला की कृति है। इस का उद्देश्य परमाणु के अंगोपांगों को प्रस्तुत करना-मात्र न हो कर न्यूक्लियस के चारों ओर इलैक्ट्रोन्स की गति के सौन्दर्य का उद्घाटन करना है। इस में सन्देह नहीं कि उस में रेखागणितीय अनुपातों की रक्षा की गयी है, परन्तु उस का मुख्य उद्देश्य दूरवीक्षण यन्त्र-द्वारा उद्घाटित परमाणु सौदर्न्य के नवीन क्षितिज को मूर्तिकला का विषय बनाना ही है।

विज्ञान की सहायता से प्राप्त सौन्दर्य के सूक्ष्म स्तरों को लाने में मूर्तिकारों का ध्यान विभिन्न ज्यामितिक अनुपातों के संयोग पर गया और उन्होंने विभिन्न अनुपातों और रेखागणितीय रूपों के मौलिक संयोजनों-द्वारा विशुद्ध रूपात्मक कृतियों का निर्माण किया। जार्ज वाण्टौंजरलू कृत 'Construction in Inscribed and Circumscribed square of a circle, Construction basedon an equilateral hyperbola i. e. xy = k' आदि ऐसी कृतियाँ हैं जिन्हें विशुद्धतः सरल रेखीय सतहों के माध्यम से ज्यामितिक संयोजन स्थापित कर सौन्दर्य की सृष्टि की है। परन्तु अन्तोनी पेव्ज़नर की 'Developable Surface' और 'Developable Column' को कुछ आलोचकों ने विशुद्ध रेखागणित पर निर्मित बताने का प्रयास किया है परन्तु स्वयं कलाकार इस तथ्य को

स्वीकार नहीं करता [illegible] हो, ये दोनों रचनाएँ सतहों के आड़े-तिरछे मोड़ों के माध्यम से जिस सौन्दर्य की सृष्टि और वृद्धि करती हैं, उस का आधार विशुद्ध रेखागणित न हो कर पेब्ज़नर की वह प्रतिभा है जिस के कारण वह समतल सतह को दृश्य-बोध का सहज विषय बना सका। सतह का एक उठा हुआ सिरा रचना के गहन आन्तरिक भाग से सम्बद्ध है। इस के कारण सतह के आकस्मिक रूप से समाप्त होने का बोध नहीं होता। दूसरा सिरा चाप के आधार की सतह, रचना के मध्यवर्ती भाग से मुड़ते हुए धरातल को काटती हुई झूल रही है। सतहों की उलझन से युक्त दृष्टि-भ्रम पैदा करने वाली ऐसी अनेक कृतियों का निर्माण पेब्ज़नर ने किया है। नॉम गैबो द्वारा निर्मित 'Linear Construction' एक ऐसी कृति है मानो किसी लाइनदार सतह को एक निश्चित और विशिष्ट भंगिमा के साथ प्रस्तुत कर दिया हो। यह एक डोरी या तार से निर्मित रचना है जिस में नायलॉन और प्लैक्सिग्लास की डोरियों को सरल रेखा में खींच कर सतह की पारदर्शिता को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस मूर्तिकार की अन्य कृतियाँ गोलीय-कल्पना (sperical theme) पर आधृत हैं। 'Translucent Variation on spheric theme' में एक प्लास्टिक की वृत्ताकार सतह को जिस के मध्य में एक वृत्ताकार छिद्र है, इस ढंग से मोड़ कर आधार पर फ़िट किया गया है कि उस ने एक अनन्त छल्ले (loop) का रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार यह रेखागणित पर आधृत एक विशुद्ध रूपात्मक कृति बन गयी है : अनुकरण से एकदम दूर, विषय से रहित परन्तु सौन्दर्य की सृष्टि में समर्थ। इसी प्रकार मैक्स बिल की रचना 'Endless Ribbon' और Maneagulated surface in space' सतहों को विशिष्ट भंगिमाओं में मोड़ कर बनायी गयी विशुद्ध रूपात्मक मूर्ति कृतियाँ हैं। ब्लादिमिर टाटलिन की 'Movement to third International' भी इसी प्रकार की कृति है। इस के अतिरिक्त विशुद्ध भावात्मक विषयों 'Maternity,' 'the Cry' आदि को रेखागणितीय आकारों-द्वारा व्यक्त करने का प्रयास भी दिखाई पड़ता है।

इन सभी रेखागणितीय आधार पर रचित कृतियों में विषयवस्तु के स्थान पर रूप को ही साध्य माना जाता रहा और कलाकार नित्य नवीन आधारों पर उन की खोज करने लगे। परन्तु विज्ञान के निरन्तर विकास के कारण १९६० के उपरान्त मूर्तिकला पुनः एक बार विषय वस्तु की ओर मुड़ी और 'ऑब्जेक्ट' का अंकन करना उस का लक्ष्य बना परन्तु यह टंकन उस के पिछले अनुकरणात्मक टंकन से भिन्न है। दार्शनिक आधार पर यह 'Phenomenalism' के ऊपर आधृत है। इस में सन्देह नहीं कि इस प्रकार की अनेक कृतियाँ भी रेखागणितीय के आधार पर निर्मित की गयीं। परन्तु इस में कल्पना का आधार न ले कर वस्तुओं को इस रूप में अंकित किया गया जिस रूप में कि वे दृष्टिगत होती हैं। डोनाल्डजड की 'Rose Bud'

तथा 'View of Exhibition at Dawn Gallay' इसी प्रकार की कृति है। सौल लीविट की 'Untitled' (१९६६) छड़ों से बने हुए एक घनाकार 'Columns' का मूर्तन है। विशेषता यह है कि टंकन को ठीक वही रूप दिया गया है जिस रूप में कि एक निश्चित दिशा से देखने पर 'Columns' का यह घन दृष्टिगत होता है।

सन् १९६० से पूर्व की मूर्तिकला में भावनाकृति का एकदम लोप हो गया था। इस शताब्दी के प्रारम्भ में मानव-आकृति को सरलीकृत अथवा विकसित या सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत किया गया और शताब्दी के अन्त में उस का सर्वथा लोप हो गया।[1] परन्तु १९६० के उपरान्त की मूर्तिकला में मानवाकृति को पुनः स्थान प्राप्त हुआ। परन्तु इस बार जिस टैकनिक-द्वारा उस को प्रस्तुत किया गया वह प्राचीन टैकनिक से सर्वथा भिन्न थी। मानवाकृति को प्रस्तुत करने के लिए इस बार बक्स, अलमारी, चौकोर त्रिकोण ठोस घड़ी तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं का उपयोग किया गया जो मानवाकृति को प्रस्तुत करने में या उस का आभास देने में सहायक हो। यद्यपि कायान्तरण की साधना इन मूर्तिकारों का लक्ष्य नहीं रहा है परन्तु मानव के विभिन्न अंगों के लिए जिन विभिन्न वस्तुओं का उपयोग किया गया है उस के कारण इस रूप का न्यूनाधिक समावेश अनिवार्य ही हो गया है। जहाँ तक वस्त्रों का प्रश्न है इन मूर्तियों में मूर्तिकारों ने वास्तविक वस्त्रों को ही पहना दिया है। 'George Segal Robert and Ethel Scull' (१९६५) में सोफ़ा पर बैठी महिला की मूर्ति को वास्तविक गॉगल्स पहना कर उपस्थित किया गया है। सम्पूर्ण मानव-शरीर को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त शरीर के विभिन्न अवयवों को विस्तार के साथ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी इस समय दृष्टिगत होती है। सेज़र-द्वारा निर्मित 'Thumb' यद्यपि मूल रूप में मानव के हाथ के अँगूठे का विस्तार के साथ टंकन है परन्तु उस का विस्तार इतना अधिक है कि वह स्तम्भ का भी भ्रम पैदा करता है। भारतीय मन्दिरों में प्राप्त भित्तिटंकनों में मिथुन-चित्र बहुतायत से मिलते हैं परन्तु पुरुष-लिंग का स्वतन्त्र रूप से टंकन कहीं नहीं हुआ। परन्तु Tetsumi Kudo द्वारा १९६५ में रचित 'For your living Room' में तीन पुरुष-लिंगों को एक पिंजड़े में बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। Yayoi Kusama अपनी कृतियों में स्वयं को प्रस्तुत करती है। उस के द्वारा रचित 'Yayoi Kusama on Phallic Sofa' आज की आवश्यकता और नैतिकता की ओर संकेत करता है। इस में Yayoi Kusama स्वयं पूर्णतः नग्न रूप में Phalluses Sofa पर लेटी हुई उस में संलग्न अनेक 'Phalluses' में से एक का उपयोग कर रही है। इसी प्रकार उस के द्वारा रचित

---

१. देखिए—कलानुसन्धान पत्रिका त्रैमासिक के जनवरी-मार्च '६६ के अंक में प्रकाशित—'मूर्ति-कला में मानव'।

'Arm Chair' तथा 'One thousand Boat show' में गुम्फित पुरुष-लिंगों की भरमार है।

आधुनिक मूर्तिकला में, विषयों में तो परिवर्तन हुआ ही है, उस के व्यापक और विशद क्षितिज सामने आये हैं परन्तु टैकनिक की दृष्टि से भी उस में अनेक विधि-विकास हुआ है। इस दृष्टि से तुरन्त दृष्टि में आने वाला वैशिष्ट्य है आधार का लुप्त हो जाना। प्राचीन कला में मूर्तिकला स्थापत्य कला का एक अंग थी अतः उस का आधार मूर्ति के अस्तित्व को भौतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से तो अलग स्थापित करता था परन्तु आधुनिक काल में मूर्तिकला के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना के कारण अमूर्त मूर्तिकला के विकास के कारण आधार क्रमशः लुप्त होता गया। आधुनिक मूर्तिकला में कभी तो वास्तविक मूर्ति के ही किसी अंग को आधार का स्वरूप दिया गया और कभी उस को बिलकुल उड़ा कर मूर्ति का पृथ्वी से स्पर्श ही एकदम समाप्त कर दिया गया। साधारणतः आधार तीन प्रकार के होते हैं—Plinth, base, Pedestal। एडगर डीगास कृत 'The Little Dancer of fourteen' का आधार मूर्ति के लिए एक चौकोर गद्दी (Plinth) का भी काम करता है और साथ ही वह बैले का अभ्यास करने वाले फ़र्श का भी प्रतिनिधित्व करता है। मैडेडा रोसो की कृति 'The Kiss on the Tomb' में विषय और आधार एक-दूसरे के साथ गुम्फित हो गये हैं। बोक्सिऔनी कृत 'Development of a Bottle in Space' में आधार झुके हुए धरातलों के परिवर्तन की आधारभूमि प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में वह उस बोतल का ही एक भाग है। आगे के कलाकारों ने आधार को एकदम लुप्त करने का प्रयास किया है। डेविड वान श्लेगल की कृति 'The Twisted Columns' एक ही बिन्दु पर सन्तुलित है। इसी प्रकार रॉबर्ट प्रोसवेनर की कृति 'Transoxiana' छत से लटकी हुई एक कृति है। टाकिस कृत 'Telemagnetic Construction' चुम्बकीय प्रभाव के कारण अधर में ही लटकी हुई एक कलाकृति है। इस दृष्टि से अल्बर्टो कोल्लो की कृति 'Floatile No. II' अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण है। उस ने टिटैनियम की अनेक वृत्ताकार तश्तरियों को चुम्बकीय विकर्षण के आधार पर इस प्रकार व्यवस्थित किया कि ये तश्तरियाँ अपने आधार से थोड़ी-सी ऊँचाई पर ही कम्पन करती दृष्टिगत होती हैं। अपनी प्रारम्भिक कृतियों में इस प्रकार की स्थिरता लाने के लिए उस ने बड़े ही बारीक और छोटे-से तार को प्रयुक्त किया है परन्तु 'Floatile No. II' में तो उस ने इस का भी सहारा नहीं लिया है और विद्युच्चुम्बक के सहारे उस तश्तरी को अधर में ही लटकाये रखा है। इस में सन्देह नहीं कि आज के मूर्तिकार की प्रवृत्ति साधारण रूप में भी आधार को समाप्त करने की ओर है, परन्तु फिर भी वैज्ञानिक साधनों ने इस कार्य में उस की पर्याप्त सहायता की है।

अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि के लिए अब
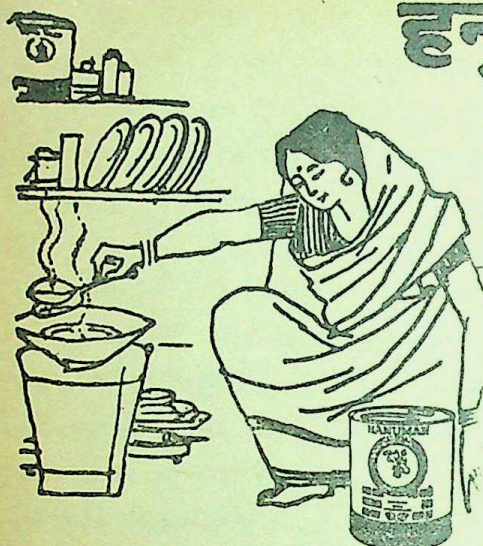
तक मूर्तिकार केवल मात्र लोहा, मोम, लकड़ी आदि माध्यम-पदार्थों की चमक, धारियों और रंगों का ही उपयोग करता था परन्तु आज वह अपेक्षाकृत अधिक साधन-सम्पन्न है। वह मूर्तियों को वैज्ञानिक विधि से मनमानी गति दे कर अभीष्ट प्रभाव की सृष्टि कर सकता है। मात्र गति को ही अपनी मूर्ति का लक्ष्य बना सकता है। प्रकाश की विभिन्न तीव्रताओं और विभिन्न रंगों का उपयोग कर के आज वह हमारी संवेदनाओं को और भी अधिक गहराई के साथ स्पर्श कर सकता है। मशीनीकरण और गति के उपयोग को ले कर मूर्तिकला के क्षेत्र में अनेक ऐसी भी रचनाएँ हुई हैं जो विशुद्ध मूर्तिकला के अन्तर्गत नहीं आतीं। उन्हें या तो उपमूर्तिकला कह सकते हैं या फिर गुड़िया कला या ऐसा ही कुछ अन्य नाम दे सकते हैं। 'Robbot' विशुद्ध मूर्तिकला नहीं है परन्तु वह कोई विशुद्ध वैज्ञानिक और ठेठ उपयोगितावादी मूल्य भी नहीं है। उस में कला का तत्त्व है।

यों स्वचालित मूर्ति-कृतियाँ निर्मित करने का प्रयास हमें प्राचीन मिस्र और ग्रीक कलाओं में भी प्राप्त होता है, परन्तु स्पष्टतः वैज्ञानिक सिद्धान्तों का सहारा ले कर मूर्ति को मनोनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए गति देने की परम्परा अठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ मानी जा सकती है। वौकैन्सन-द्वारा रचित 'The fluitist' को हम इस प्रकार की प्रथम कलाकृति मान सकते हैं। इस को फ्रान्स के तेलेरी गार्डन में स्थापित किया गया था और १७३८ में फ्रेंच एकेडेमी ऑव साइन्सेज़ के सामने इस का प्रथम प्रदर्शन हुआ था। इस मूर्ति में वंशी-वादक वास्तव में ही वंशी बजाता था और वंशी बजाते समय छिद्रों पर अपनी उँगलियों को गति देता था। वंशी वादन के लिए अपेक्षित श्वास-संयम और हाथों की गति पर पूर्ण नियन्त्रण रखने की शक्ति इस में थी। इसी मूर्तिकार द्वारा रचित 'Canard' भी एक स्वचालित पशु है। आधुनिक मूर्तिकला में स्वचालित मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ हम सन् १९१०–२० से मान सकते हैं। चित्रकला के क्षेत्र में घनवाद का प्रारम्भ होने पर मूर्तिकला का क्षेत्र भी उस से अछूता नहीं रहा और अलेक्जेण्डर आर्कीपैंको ने घनवाद की शैली में कई स्वचालित मूर्ति-कृतियों का निर्माण किया। १९१२ में उस के द्वारा निर्मित 'Madrano I (Juggler)' को हम स्वचालित मूर्तिकला की प्रथम कृति कह सकते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण विशुद्ध मूर्तिकला के न हो कर उपमूर्तिकला के हैं। इन में गति की साधना तो है परन्तु वह विषय को पूर्णतर करने के लिए आयी है। आधुनिक मूर्तिकला का वैशिष्ट्य यह है कि वह विभिन्न रूपों के माध्यम से गति के सौन्दर्य को प्रस्तुत करना चाहती है। उस में रूप का महत्त्व गौण है और गति का प्रमुख। गति की साधना ही वह कलात्मक मूल्य है जिसे प्रस्तुत करना मूर्त्तिकार का उद्देश्य है। इस उद्देश्य से निर्मित प्रारम्भिक कृतियाँ मार्सल ड्यू शाँ-द्वारा रचित 'Bicycle Wheel', और 'why not sneez' हैं। इसी कलाकार-द्वारा निर्मित

'Rotating glass plate' और 'Rotatory Demi Sphere हैं। 'Rotating Glass plate एक ऐसी ऑप्टिकल कृति है जिस में शीशे की पाँच प्लेट्स एक बिन्दु पर कसी हुई हैं और एक विद्युत् मोटर-द्वारा घूमती हैं। इन प्लेट्स के घूमने पर दर्शक के नेत्र चक्राकार घूमते हुए प्रकाश-शंकु का अनुभव करते हैं जिस की गति बड़ी ही आह्लादकारी लगती है। यह गति मस्तिष्क पर एक हिप्नोटिक प्रभाव छोड़ती है। इसी प्रकार नॉम गैबो द्वारा रचित 'Kinetic Construction' की रचना यद्यपि अत्यन्त सरल है परन्तु इस के आधार के साथ एक कम्पन कारक विद्युत् मोटर लगा हुआ है।

१९६० के उपरान्त हमें गति-तत्त्व से युक्त अनेक उच्चस्तरीय कलाकृतियाँ प्राप्त होती हैं। इन कृतियों में गति और प्रकाश-तत्त्वों का खुल कर उपयोग किया गया है। लेन ली ने सन् १९६१ में जिस 'Revolving Harmonic' नामक कृति का प्रदर्शन किया उस में १.८ इंच व्यास की पॉलिश की हुई निकिल की चार फ़ुट लम्बी छड़ अपने आधार पर खड़ी हुई है परन्तु यह आधार वास्तव में एक विद्युत् मोटर है जो विभिन्न गतियों से घूम सकता है और जब वह घूमता है तो यह छड़ तेजी के साथ एक चाप के रूप में मुड़ती रहती है और कभी-कभी एक सरल रेखा में 'Simple Harmonic motion' कर के विकीर्ण होने वाले प्रकाश और छड़ की चमक के द्वारा नेत्रों पर एक जगमगाते विषमकोणीय चतुर्भुज का प्रभाव छोड़ती है। ली ने इस कृति के बारे में लिखा है कि उस की यह कृति चार फ़ुट लम्बी छड़ के स्थान पर तीस फ़ुट लम्बी ऐसी ट्यूब में बदली जा सकती है जिस के प्रत्येक तीन फ़ुट पर अत्यधिक दबाव के साथ जल निष्कासित कर सकने में समर्थ छिद्र बने हों। ली कृत 'The Loop' नामक रचना भी अपने प्रभाव की सृष्टि में अद्वितीय ठहरती है। इस में स्टील का पॉलिश किया हुआ बाईस फ़ुट का एक पत्र लूप के आकार में मोड़ कर परिवर्तित कर दिया गया है और यह लूप एक चुम्बकीय आधार पर स्थित है। विद्युत् चुम्बक जब इस लूप को अपनी ओर आकर्षित कर के एकदम आकस्मिक रूप से छोड़ देते हैं तो गति का प्रारम्भ होता है। यह लूप जब स्वाभाविक आकार ग्रहण करने का प्रयास करता है तो स्टील का छल्ला ऊपर की ओर दोनों ओर से सिरों पर नीचे की ओर झुक जाता है। इस प्रकार ऊपर-नीचे और आगे-पीछे एक साथ होने वाली गति दर्शक के नेत्रों के चारों ओर एक शक्तिशाली गोलीय प्रकाश का स्फुरण करती है जो अत्यन्त आह्लादकारी संगीत-धुनों से युक्त होता है। कभी-कभी जब यह लूप सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँचता है तो वहाँ लटकी हुई एक गेंद से टकरा कर विभिन्न प्रकार की मधुर तथा सामंजस्यपूर्ण संगीत-ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। इसी प्रकार टाकिस निर्मित 'Telomagnetic Construction,' जिस का प्रदर्शन न्यूयार्क में १९६७ में हुआ था, ली की रचना की तरह विद्युत्-द्वारा उत्पन्न गति से संचालित होता है।

इस में जब विद्युत्धारा प्रवाहित की जाती है तो रचना में स्थित वस्तुओं को चुम्बक अपनी ओर खींचते हैं और जब चुम्बक चुम्बकत्व से यकायक मुक्त हो जाते हैं तो तारों से लिपटी हुई वस्तुएँ बड़े ही अनियन्त्रित तनाव के साथ अलग हटती हैं। विद्युत् चुम्बकों की शक्ति भिन्न-भिन्न मात्रा में संयोजित की गयी है। अतः रचना के कुछ अंग तो निष्क्रिय हो उठते हैं और कुछ अंश एकदम तीव्रता के साथ निरन्तर शक्तिशाली ढंग से और अव्यवस्थित रूप से गति करते रहते हैं। रचना में प्रयुक्त तारों से संगीतात्मक ध्वनियाँ निःसृत होती हैं और ज्यों ही अधर में लटके अंग मुख्य चुम्बकीय केन्द्र की ओर खिंचते हैं त्यों ही शक्तिशाली परन्तु जंगली रूप से असभ्य ढंग की सेक्स प्रक्रिया उपस्थित होती है।

गति के अतिरिक्त जिस तत्त्व का कौशलपूर्ण उपयोग आज की मूर्तिकला खुल कर करती है वह है प्रकाश। रंग मूलतः चित्रकला का उपादान है परन्तु मूर्तिकला में उस का उपयोग प्राचीन काल से होता आया है। रंग वस्तुतः प्रकाश का ही एक स्वरूप है। प्राचीन काल में इस तत्त्व का उपयोग विभिन्न प्रकार के चूर्ण या लेपन का प्रयोग कर के किया जाता था परन्तु न्यूटनीय विज्ञान के विकसित होने और स्पैक्ट्रम में सूक्ष्म अध्ययन होने के उपरान्त आज का मूर्तिकार अपनी रचना में रंग-प्रभाव लाने के लिए 'Light Spectrum' के विभिन्न भागों का उपयोग करता है। परन्तु यह प्रकाश का एक गौण उपयोग है। उस का मुख्य उपयोग प्रकाश के प्रभाव को उत्पन्न कर के एक 'ऐब्स्ल्यूट लाइट इफेक्ट' की सृष्टि करना है। रचनाओं का प्रधान साध्य ही यही रहा करता है। मूर्तिकला में प्रकाश के उपयोग के पूर्व हमें चित्रकला के क्षेत्र में विलफ्रेड नामक कलाकार-द्वारा इस तत्त्व के उपयोग के प्रति आग्रह दिखाई पड़ता है। उस ने इसे 'आर्ट ऑव लाइट' के नाम से एक अलग ही कला मान कर इस का नाम 'लुमिया' रखा जो काफ़ी समय तक विवाद का कारण बना रहा। मूर्तिकला के क्षेत्र में लाज़लो मोहोली नेगी द्वारा १९२२-१९३० में रचित 'Light Space Modulator' प्रकाश प्रभाव उत्पन्न करने वाली ऐसी छह फ़ुट ऊँची कृति है जिस में मोटर से गति करने वाली अल्यूमिनियम और क्रोमियम की ऐसी चमकदार पट्टियाँ लगी हुई हैं जो एक विद्युत् मोटर-द्वारा संचालित होती हैं। अन्धकार में इन पट्टियों पर जब क्रमशः प्रकाश पड़ता है तो आश्चर्यजनक रूप से संवेदनीय छायाकृतियों का निर्माण होता है।

आगे चल कर जैक बर्न्हम का 'Atom', निकोलस शोफर का 'Lux I,' हॉवर्ड डब्ल्यू जोन्स का 'Sky light two,' बिली ऐपिन का 'Solar 15', हीज मैक का 'Convergent Structure' आदि अनेक ऐसी कृतियों का निर्माण हुआ जिन में प्रकाश तत्त्व के प्रभाव की साधना की गयी है। यहाँ एक बात ध्यान रखने की यह है कि प्रकाश से सम्बन्धित सभी कृतियाँ 'kinematics'

और 'Optics' के सिद्धान्तों पर आधृत है। 'Optics' के बिना अभीष्ट प्रकाश-प्रभाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती। यही कारण है कि ऐसी कृतियों में शीशे का उपयोग एक अनिवार्यता हो गयी है। शीशे और गति के माध्यम से प्रकाश को अभीष्ट स्वरूप और दिशा दे कर कलात्मक प्रभाव की सृष्टि ही इन कृतियों की साधना है। हौवर्ड डब्ल्यू जोन्स कृत 'Sky light two' में हमें जो बिम्ब उपलब्ध होते हैं वे केवल प्रकाश और उस के परावर्तन से बने बिम्ब हैं। यह एक ऐसी कृति है जो हमारे सामने तीन वॉट के १६१ लैम्प्स से युक्त एक केन्द्रीय अल्यूमीनियम की सतह को प्रस्तुत करती है। इस में स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कार्य करने वाले छह सर्किट्स हैं। जब इस की यान्त्रिक व्यवस्था का उपयोग किया जाता है तो यह कृति हमारे समक्ष ८० विभिन्न प्रकाश स्थितियों को प्रस्तुत करती है। क्रायनिक कृत 'Video Luminar No. 3' एक तीस फ़ुट लम्बी अल्प पारदर्शी प्रकाश-भित्ति के लिए निर्मित कृति है। इस के पीछे गहराइयों पर स्थित प्रकाश के तीन रंगों से युक्त एक जाली है। जाली के विभिन्न भाग फ़ोटो सैल बैटरी से तीव्र और मद्धिम प्रकाश से युक्त किये जा सकते हैं। इन की पृष्ठभूमि में स्थित तीन रंगों के बदलते हुए प्रकाश के कण्ट्रास्ट में एक आह्लादक प्रभाव छोड़ते हैं।

आधुनिक मूर्तिकला पर डाली गयी उपर्युक्त विहंगम दृष्टि इस बात को स्पष्ट करती है कि मूर्तिकला के विषय में अब तक जो हमारी कल्पना थी वह आधुनिक काल में आ कर एकदम परिवर्तित हुई है। मानव और पशु-पक्षियों की वैयक्तिक आकृतियों से सरलीकृत आकृतियों की ओर और फिर घनवादी आकृतियों की ओर बढ़ कर आधुनिक मूर्तिकला जब अरूपता की ओर बढ़ी तो उस ने एक ऐसा मोड़ लिया कि प्राचीन और नवीन कलाकृतियों का अन्तर एकदम न केवल स्पष्ट ही वरन् अधिक गहरा हो गया और मूर्तिकला एक ऐसे ऑब्जेक्ट की रचना का पर्याय बन गयी कि जो अपनी आकृति, गति, रंग और प्रकाश के आधार पर हमारे मन पर एक सुखकर प्रभाव छोड़ सके। यह आकृति चाहे विकसित वैज्ञानिक अनुसन्धान का प्रतिरूप हो या कलाकार की मौलिक रूप-रचना परन्तु उस का उद्देश्य यदि उपयोगिता से रहित और विशुद्ध सौन्दर्यमूलक है तो वह मूर्तिकला की एक कृति मानी जाती है। मानी जानी चाहिए। मूर्तिकला के इस रूप का विकास भारत में अभी बिलकुल ही नहीं हुआ है परन्तु हम आशा कर सकते हैं कि देश की टैक्नॉलॉजी के विकास के साथ-साथ भारत में भी इस का पर्याप्त विकास हो सकेगा।

■ ■

रामदरश मिश्र

पक गयी है धूप

डॉ० रामदरश को साम्प्रतिक भारतीय मानस के उस तनाव की सही पहचान है, जो पश्चिम से मेल भी खाता है और उस से भिन्न भी है। एक ओर अतिवादी मशीनी सभ्यता तो दूसरी ओर जीवन की मूलभूत पापमूलकता ने पश्चिमी जीवन को जिस प्रकार निरर्थ बनाया है वह भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में ग्राह्य नहीं है और न हो सकता है। वास्तव में अध्यात्म और वैज्ञानिक पद्धतियों के 'चाहिए' और 'है' की परिस्थितियों का तथा चिन्तन और आचरण के बीच का असमंजस ही भारतीय चेतना का अपना सन्दर्भ है, जिस में जीवन का सम्पूर्ण अस्वीकार सही नहीं है। 'पक गयी है धूप' की कविताएँ भाषा की अछूती व्यंजनाओं और रंगों में अभिव्यक्त इसी असमंजस का प्रमाण हैं।

मूल्य ५.००

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

विक्रय-कार्यालय :

३६२०।२१, नेता जी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६।

मन में एक असहाय बोध जागा। जीवन की कातरता जाने कहाँ से उभर कर समूचे अस्तित्व को झुठला गयी। ठाकुर दादा ने पहली बार अपनी ज़िन्दगी को लानत दी। मन-ही-मन ढेर सारी गालियाँ दे डालीं अपने को। क्षण-क्षण महसूस होता रहा कि एक अनजाना तूफ़ान आ कर भीतर से बाहर तक उन का सब कुछ तोड़-मरोड़ गया है, चूर-चूर कर गया है। सारी शक्ति लगा कर वे जानलेवा बीमारी से जूझते रहे हैं लेकिन ठीक होते ही फिर जैसे किसी ने उन्हें औंधे मुँह ज़मीन पर दे पटका हो। किसे दोष दें

पिघलता दर्प

वे किसे नहीं। रोटी का कौर मुँह में डाला तो निगलते नहीं बना। पानी पी कर जैसे-तैसे उसे निगला फिर खाते-से उठ गये। पत्नी आखिर इस समय ये विष-बुझे बोल कैसे बोल गयी? अब जब कि वे पूरी तरह पराश्रित हो कर रह गये हैं। पहले कोई कह लेता तो मुँह तोड़ कर रख देते वे। आज सब-कुछ सुन कर परवश असहाय वे एक परकटे पक्षी की तरह केवल फड़फड़ा कर रह गये। जैसे-तैसे वे दूकान पहुँच पाते हैं और किसी तरह काम निपटा कर जैसे-तैसे ही लौट पाते हैं। इस बीमारी ने इस क़दर उन्हें

तोड़ कर रख दिया है कि हाथ-पैर चलाये नहीं चलते। ज़रा-सा काम करते ही वे हाँफने लगते हैं। केवल यही सोच कर कि इन्हें किसी चीज़ की कोई कमी महसूस न हो। रुपये-पैसे की तंगी न हो। पर यह कौन देखता है? जैसे ही खाने बैठते हैं पत्नी की इच्छाएँ सुरसा के मुँह की तरह उन के सामने फैलने लगती हैं, कठोर स्वर उभरने लगता है—और फिर अभावों का रोना, बरतन उठाने-पटकने की आवाज़ें—ये सारी हरकतें उन की नस-नस झिंझोड़ जाती हैं। फिर उन से खाया नहीं जाता। कौर गले में अटकने

कुन्तल गोयल

लगता है।

वे आवेश में उठ कर बरामदे में बिछी खाट पर आ कर बैठ गये। जेब से माचिस निकाल कर बीड़ी सुलगायी और होठों से लगा ली। एक कश भी नहीं लेने पाये थे कि पत्नी रौद्र रूप लिये फिर सामने आ खड़ी हुई—"कहे से आग लगती है तो चले जाओ कहीं। फिर लौट कर न आओ तो जानूँ। खाने आ जाते हैं जैसे कमा कर खूब रख दिया है। बैठे-बैठे खाना चाहिए और पत्ता न हिले तो ठीक।"

उत्तेजना से वे तन कर बैठ गये। उन की आँखें भयंकर रूप से जलने लगी थीं। हीरेन्द्र खाना खा कर हाथ पोंछता हुआ सामने से और तन कर निकला था—"दादा को बीड़ी पीने से फ़ुरसत मिले तब न!" वह दादा की ओर देख खिस्स से हँस तीर की तरह निकल गया था। दादा को लगा जैसे उन के बेटे ने सरेआम बड़ी बेरहमी से उन के कलेजे में नश्तर चुभा दिया है। लानत है ऐसी जिन्दगी को। क्रोध से उफ़नते उन्होंने बीड़ी फेंक दी और कुछ देर थरथराते-से खड़े रहे। फिर एक जलती नज़र चौके में खाना खाती पत्नी पर डाली और खून का घूँट पी कर वे सीधे स्टेशन चल दिये। न कोई बातचीत—न कोई झगड़ा-झाँसा। यह पहली बार था कि दादा इस तरह चुपचाप अपना मान भंग सह गये थे। सब-कुछ सुन कर भी उन्होंने बदले में एक शब्द नहीं कहा था। स्टेशन पर पड़ी बेंच पर बैठे वे जाने कितनी-कितनी बातें सोचते रहे।

ट्रेन आने में अभी देर थी। लोगों की भीड़ से कट कर अपने में ही डूब जाने में उन्हें अजीब-सी राहत मिली—इन्हीं गरमियों में कमाई के पूरे दो हज़ार उसे सौंपे थे। सौंपते समय यह भी नहीं पूछा कि वह इन्हें कैसे खर्च करेगी या क्या करना चाहेगी? कहना तो चाहा था कि इन्हें फ़िलहाल जुगा कर रख ले—मौक़े-बखत के लिए। पर फिर टाल गये थे। बाद में उन रुपयों का क्या-कैसा हुआ—कुछ भी आभास नहीं मिल पाया। पत्नी के चेहरे पर कभी भी हँसी की उजली रेखा उन्होंने फूटी नहीं देखी। हीरेन्द्र

में जो बदलाव आया था उसी ने दादा को कुछ समझने में सहायता दी थी। खून-पसीने की कमाई फूँक दी बेटे ने शान-शौकत में। उन्हें लगा कि माँ और बेटा उन के विरुद्ध पहले से ही कोई साजिश करते आ रहे हैं। नहीं तो आज इस तरह उन का अपमान कैसे होता? फिर एक अजीब-सी लाचारी उन के सामने पूरी तरह फैल गयी। चार महीने की बीमारी उन की नौकरी ले कर उन्हें पूरी तरह असमर्थ बना गयी। लेकिन फिर भी वे कहाँ चैन से बैठ पाये? कहाँ तनिक आराम कर पाये? दूसरे मोहल्ले में साझे में दूकान कर ली। सुन कर लड़के ने मुँह बनाया था—"अब ये दूकान करेंगे वह भी साझे की। दूकान में बैठ कर अपना समय गुजारने के सिवा और करेंगे भी क्या?" पर उन्होंने किसी भी काम को कभी बुरा नहीं माना। पसीने की कमाई कभी बुरी नहीं होती। और सच तो यह है—वे स्वयं ही रोटियाँ तोड़ते नहीं बैठे रह सकते। उन से बैठे रहा ही नहीं जाता। कोई कुछ भी कहे। वे कलेजे पर बोझ रखे औरत और लड़के का नखरा उठाते रहे हैं। इन्होंने कभी उन के मन को नहीं समझा। समझा तो बस उन के दिये सुख को। दुःख को वह उन का केवल बहाना समझती रही। उस ने उन के घायल दर्प पर चोट की थी। दर्प तो नहीं टूटा था पर मन टूटा था—और मन का टूटना ऐसा था कि उन का दर्प फणि-धर की भाँति उन पर और भी तनकर पूरी तरह से छा गया था। सुख में सब ने साथ दिया, दुःख में सब ने हाथ खींच लिये।

ट्रेन रुकी तो वे हड़बड़ा कर बिना कुछ सोचे-विचारे डिब्बे में आ कर बैठ गये थे। उन का मन बेहद खिन्न था—कितनी अजीब है यह दुनिया! दुनिया को देखने की भी सब की अपनी-अपनी निगाहें हैं। कोई चश्मे से ढँक कर उसे देखता है तो कोई खुली आँख खुले मन से। दुनिया को उन्होंने शुरू से ही खुली आँखों खुले मन से देखना पसन्द किया है। बचपन से ही दुःखों का एक भयंकर सैलाब उन्होंने देखा है और भयंकर गर्जना के साथ अपने ऊपर से गुजरते सहा है। इसी लिए कभी उन का दिल टूटा भी तो उन्हें रोना नहीं आया। बस वे एक चट्टान की तरह सख्त होते गये हैं। अब तो उन्हें लगता है—जो जैसा करता है उस के साथ वैसा ही करना चाहिए। जिस ने जैसा किया है वह वैसा ही भोगेगा—जरूर भोगेगा। खिड़की पर हाथ टेके-टेके भारी पड़ गया था। वे बड़ी देर तक दूसरे हाथ से उसे दबाये रहे। डॉक्टर ने तो कह ही दिया था—कहीं यह हाथ बेकार न हो जाये। लेकिन भला हो शर्मा वैद्य का, उन्हें अपाहिज होने से बचा लिया। वे महीने-भर तक उन का दिया मालिश का तेल लगाते रहे थे। अभी भी दर्द पूरी तरह से गया नहीं। यदि वे अपाहिज हो जाते तो····! उन का सर्वांग सिहर जाता है। जीते-जी उन्हें नरक को यातना सहनी पड़ती। कितनी मक्कार है यह दुनिया। इन्हीं शर्मा वैद्य से किराये के रुपये ले कर वे चल निकले थे और सीधे सोमेन के पास आये थे। अजगर की तरह धीमी गति से गुजरते

एक-एक दिन उन की स्मृतियों को [illegible] उन के मन में ज़हर भरते गये थे।

सोमेन छोटे भाई का लड़का था। शान्त और मीठा। इसी लिए पहले भी जब कभी मन ऊबता या घर के लोगों से विरक्ति होती वे यहीं आ जाते और कुछ दिन रह कर लौट जाते। इसी लिए इस बार दादा की क्षीण देह देख कर और उन के मुँह से सारी कुछ व्यथा-कथा सुन कर नीराजना ने बड़े अपनत्व से कहा था—"दादा, अब तुम जब तक हो यहीं रहो। इस उम्र में अब कहाँ-कहाँ भटकोगे।"

फिर नीराजना उन का ध्यान भी खूब रखने लगी। खाने-पीने का—हरेक चीज़ का। दादा को भोजन में बैंगन पसन्द हैं, दादा को मीठा अच्छा लगता है—ये सारी बातें वह ध्यान में रखती। दूसरे ही दिन वह बाजार जा कर दादा के लिए धोतियों का एक जोड़ा ले आयी थी। पर जैसे-जैसे नीराजना दादा का ध्यान रखती गयी, दादा का मन बेचैन होता गया। इस तरह चला तो अधिक दिन नहीं रह पायेंगे। किसी का अहसान ले कर वे एक पल भी कहीं नहीं रह सकते। रहें वे जो अशक्त हों—अपाहिज हों। अभी तो उन के शरीर में दम-खम है। और इस अहसान से मुक्ति पाने के लिए वे नीराजना का सारा काम अपने हाथ में लेते गये। चाय बनाती नीराजना को वे उठा देते—"उठो, तुम बेबी को ले लो। मैं चाय बना लेता हूँ।....यह क्या बहू, मेरे रहते तुम्हें हाट-बाजार जाने की क्या जरूरत है? मरदों का काम मरदों को ही अच्छा लगता है। अब से बाजार का सारा काम मैं किया करूँगा।" नीराजना मुसकरा कर छोटी बच्ची-सी दादा का कहना मानती गयी। और अब वह पूरी तरह दादा पर आश्रित है। दादा किसी काम में हाथ न लगायें तो घर का कोई काम ही न हो।

बेबी भी दादा से ऐसी परची कि दादा के सामने वह माँ को भूल गयी। आधी रात को बेबी के रोने की आवाज़ सुन कर दादा उठ बैठते। आवाज़ देते—"बहू, बेबी रो रही है न! सोमेन की नींद खुल जायेगी। लाओ उसे मुझे दे दो।" फिर स्वयं ही जा कर बेबी को उठा ले आते और कन्धे पर लिटा थपकियाँ देते टहलते रहते। सो जाने पर अपने ही पास उसे सुला लेते।

सोमेन हँसी-हँसी में दादा से कहता भी—"दादा, तुम ने तो नीरा को पूरी तरह निकम्मी बना दिया है। कोई काम अब उस से नहीं होता।" सुन कर दादा का मन अथाह शान्ति से भर जाता। वे मेहनत-भर काम करते हैं तो खाते हैं। पड़े-पड़े मुफ़्त की रोटी नहीं तोड़ते। कहीं काम करते कहीं खाते। किसी का अहसान तो नहीं है सिर पर—सोच कर वे हलके हो लेते।

धीरे-धीरे दादा नीराजना से खुलते गये। अब वे उस का परदा नहीं मानते। नीराजना हँसती—"दादा, तुम मुझे बहू कह कर मत पुकारा करो। बहू कहोगे तो मैं डेढ़ हाथ का घूँघट निकाल कर कोने में ही बैठी रहूँगी। तुम्हारे सामने नहीं निकलूँगी। तुम तो मुझे

नीरा कहा करो ।" और दादा उसे बहू कहते-कहते नीरा कहने लगे थे । जब भी सोमेन-नीरा बैठे होते और दादा फ़ुरसत में होते, अपना सारा व्यतीत खोल कर उन के सामने जब-तब दुहराने लगते । ज़िन्दगी के क्षण-क्षण का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए वे आवेश से थरथराने लगते । आँखों से क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगतीं । कैसे-कैसे दिन काटे हैं उन्होंने ! कैसे-कैसे दिनों को सहा है । आज वे सब के लिए मर गये । किसी ने उन का पता-ठिकाना तक नहीं लगाया कि कहाँ हैं वे, कैसे हैं ? उन का अहं बुरी तरह चोट खा जाता : "अब तो जीते-जी शकल नहीं देखूँगा उन की ।"

अकेले में नीराजना सोमेन से कहती—"बाप रे ! दादा में इतना दर्प होगा, मैं तो सोच भी नहीं पाती । एक भी पैसा नहीं है हाथ में पर दादा का दर्प तो देखो आसमान छू रहा है ।" सोमेन का मन भर आता—"तुम नहीं समझोगी दादा को । मैं दादा को अच्छी तरह समझता हूँ । बाबू जी भी ठीक दादा की ही तरह थे । पर एक जगह बँध कर रहे—बच्चों में खोये हुए, इसी लिए तो मैं पढ़-लिख पाया नहीं तो....।" वे नीराजना को इधर समझा देते—"देखो, दादा पर इतना आश्रित मत रहो कि बाद में तकलीफ़ हो । उन के पैर में घनचक्कर है । जब तक रहते हैं, रहते हैं । कभी मन में आया तो चल निकलेंगे ।" और उधर वे दादा को भी समझा देते हैं—"दादा, तुम इतना काम मत किया करो । बुढ़ापे की देह है । थक जाओगे ।" दादा सुन कर कुछ नहीं कहते । सोमेन घर से पूरी तरह निश्चिन्त है । किसी तरह की अब उसे कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती । नीरा कहती है—"दादा कोई मेहमान थोड़े ही हैं । घर के आदमी हैं । इसी लिए घर की तरह काम करते हैं । न करें तो रह न पायें । मैं क्या जानती नहीं ?"

आज दादा सुबह से ही उखड़े-उखड़े लग रहे थे । किसी काम में उन का मन नहीं लग रहा था । वे एक ओर बैठे अखबार पढ़ रहे थे । नीरा बिगड़ गयी थी—"सोमेन को बाहर जाना है । समय पर खाना देना है और यह बेबी चैन नहीं लेने दे रही है ।" वह बड़बड़ाने लगी थी—"दस बार कहा पर ये दादा उठें तब तो ! मैं क्या-क्या करूँ ।" दादा के कानों में भनक पड़ गयी थी । वे हाथ का अखबार वहीं पटक कर बम की तरह फट पड़े—"मैं तो सदा मरजी का राजा रहा हूँ बहू । मन हुआ काम किया । नहीं हुआ नहीं किया । काम करता हूँ तो खाता हूँ । किसी के हुक्म से काम नहीं कर सकता ।" नीरा अवाक् रह गयी । दादा की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगी थीं । नीरा चुपचाप चौके में आ गयी थी । नीरा के मन में दादा के शब्द बुरी तरह चुभ गये थे—"दादा की हेकड़ी तो देखो । यहाँ भी धौंस दिखा कर रहना चाहते हैं । इसी लिए तो नहीं पट पायी होगी घर में" वह भुन-भुनाती अपने काम में लग गयी थी । दादा भी सारे समय उस से नहीं बोले । चुपचाप

उन्होंने खाना खाया और उठ कर बाहर चल दिये थे ।

दोपहर की धूप बरामदे पर पूरी तरह चढ़ आती है तब घर के लोग कमरे में पंखे की हवा में आराम करते होते हैं । पर तब भी दादा पलँग की आड़ किये बरामदे में ही लेट जाया करते थे । सोमेन के बार-बार कहने पर अब वे बैठक में लेटने लगे थे । आज की सड़ी उमस उन्हें बरदाश्त के बाहर लग रही थी । बाहर की तपन से भी अधिक असह्य हो रही थी मन की घुटन । जब से चाँदनी का पत्र आया है उन का मन अस्थिर हो उन्हें बेहद त्रास दे रहा है । उन्होंने कई बार पत्र पढ़ा । एक साल पूरा होने को आया । अब आया बेटी का पत्र । रुपये खतम हो गये होंगे तो अब याद आयी उन की । एक बार भी किसी ने जानने की कोशिश नहीं की कि वे ज़िन्दा भी हैं या मर गये । उन की आँखों में घृणा और राहत के अजीब-से मिले-जुले भाव आ कर ठहर गये । पर वे भी इतने कच्चे नहीं हैं । जैसा किया है भोगना तो होगा ही । मरती है मरे । वह भी तो मर गये हैं सब के लिए । उन्होंने पत्र को एक बार फिर पढ़ा और मोड़-तोड़ कर जेब में रख लिया । फिर बीड़ी निकाल कर सुलगा ली । राहत नहीं मिली तो देह पर से कुरता उतार वे नीचे दरी पर ही लेट गये और अखबार से हवा करने लगे । चाँदनी ने लिखा था—"तुम आ कर माँ को सँभाल लो दादा । माँ की अब-तब लगी है । मरते हुए से बैर-भाव कैसा ? चार के सामने हाथ पकड़ा था, उसे ही निबाहने आ जाओ—पति का धर्म निबाहने ! नहीं तो बेबसी की घुटती मौत पर कौन जाने कहीं बाद में पछताना ही हाथ न रह जाये । हीरेन और उस की बहू ने माँ का जीना हराम कर दिया है । उन के गले का कौर भी नीचे नहीं उतर पाता ।"

दादा ने होंठ काट लिये । होंठों-ही-होंठों में दोहराया : "मर रही है—वह क्यों मरेगी ? राज भोगेगी । बेटे-बहू का सुख भोगे बिना कैसे मरेगी ।"···वे बड़ी विकृत हँसी हँसे—"तब तो बेटा ही बेटा दिखता था । बेटे के बुरे लक्षण कभी नज़र ही नहीं आये । देती रहीं पाँच-पाँच दस-दस के नोट—लो बेटा उड़ाओ ख़ूब गुलछर्रे । कभी उन्होंने टोंका तो तन कर सामने खड़ी हो गयी—अपना लड़का भी तुम से देखा नहीं जाता । बाप नहीं दुश्मन हो तुम उस के । और आग उगलते-उगलते लड़के के सामने सच ही उस ने उन्हें दुश्मन बना दिया । मैट्रिक में दो साल फेल हुआ तो पढ़ाई बन्द करवा दी । कितना समझाया था कि फेल-पास तो लगा ही रहता है, उसे किसी तरह मैट्रिक कर लेने दो । पर उसे तो उस के विवाह की पड़ी थी । "···मैट्रिक कर के भी कोई क्या कमा लेता है ? तुम ने भी तो की । क्या कमा के रख दिया ? कहीं भी धन्धा कर लेगा । कमा-खा लेगा ।"—और उस ने विवाह कर के ही दम लिया । वे तो बस लोगों के कहने-सुनने के भय से बराती के रूप में साथ हो लिये थे । अब भोगे न सुख बेटे-बहू का ! क्या वे बेटे को जानते नहीं ? माँ का हाथ पकड़ कर बीच सड़क पर

खड़ा कर दे तब भी कुछ अजब नहीं। यह तो अच्छा हुआ कि लड़की ठिकाने लग गयी नहीं तो वह भी इन की जान को रोती।···

उन्होंने बीड़ी का बंडल निकाला। बीड़ी कम रह गयी थीं। एक निकाल कर उन्होंने सुलगा ली और मुँह में लगा ली।····उन की इस तरह दिन-भर बीड़ी पीते रहने की आदत से उसे सख्त नफ़रत थी। वे बीड़ी पीते होते तो वह नाक में पल्ला लगा कर मुँह बनाती। वहाँ से उठ जाती। जैसे सारा का सारा धुआँ उस की नाक में ही भरा जा रहा हो! पर बेटा सिगरेट पिये तो कहीं कुछ नहीं। उन्होंने एक लम्बा कश ले कर ढेर-सारा धुआँ ऊपर छोड़ दिया।····हाथ की नाड़ी ही जब साथ नहीं देती तो नारी क्या देगी। उस के लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया। अपना घर-बार, माँ-बहनें तक भूल गये थे उस के पीछे। उन का मन तड़प गया।····

तब वह बीमार चल रही थी। उस के गाँव से ले कर वे उस का इलाज करवाने अपने घर चले आये थे। तब बेहद तंगी के दिन थे। साथ का खेला-कूदा रमेन अब डॉक्टर हो गया था। चारों ओर उस का नाम था। वे एक दिन इसी के पास पहुँचे थे— "डॉक्टर! कई महीनों से तुम्हारी बहू बीमार है। खाया-पिया कुछ शरीर को नहीं लगता। दिन-दिन कमज़ोर होती जा रही है। आ कर उसे देख जाना। मैं तो रहूँगा नहीं।"

डॉक्टर हँसा था—"समझता हूँ, सब समझता हूँ दादा। बहू को ले कर तुम्हारी बेचैनी क्या मुझ से छिपी है?" और दादा का चेहरा नयी बहू की तरह एक नयी लाज से भर गया था। वे बुरी तरह शरमा कर जल्दी से वापस हो लिये थे।

उन्होंने अपनी मरजी से विवाह किया था। उम्र में वह उन से काफ़ी छोटी थी। पर वे उस की सुन्दरता की चर्चा सुन कर अपने को रोक नहीं पाये। चढ़ती उम्र का उफ़ान और माँ की बेरुखी। वे स्वयं ही जा पहुँचे थे लड़की के यहाँ। लड़की के पिता थे नहीं। बस विधवा माँ और छोटी दो बहनों के और कोई नहीं था। वहाँ अपना रोआब दादा ने कुछ इस तरह जमाया कि विधवा माँ ने घर आये दामाद को पा कर अपना भाग्य सराहा। बस बात पक्की हुई। शादी भी हो गयी। न माँ से पूछना न उन की कुछ जानना। माँ ने शुरू-शुरू में बड़ा तूफ़ान उठाया था। धमकी भी दी थी। पर बाद में अकेले लड़के के मोह ने उन का मुँह बन्द कर दिया। मुँह भले ही बन्द हुआ हो पर दिल फटा तो कभी जुड़ नहीं पाया। उन का आतंक तब गली-मुहल्ले में कुछ ऐसा ही था कि सामने सड़क से गुज़रते लड़के बातचीत करते एकाएक रुक जाते। उन की आवाज़ें बन्द हो जातीं। दादा भी शुरू-शुरू में माँ से ऐसे ही डरते रहे हैं। पर अब नहीं।

डिस्पेंसरी बन्द कर डॉक्टर सीधे दादा के घर आये थे। साँझ गहराने लगी थी। माँ बरामदे में बैठी थीं। डॉक्टर कुछ झिझका। फिर एक पैर ऊपर रखते हुए

बोला—"दादा ने बहू को देखने के लिए कहा था। बीमार हैं न!"

माँ ने घूर कर डॉक्टर की ओर देखा। फिर एक ओर खिसक गयीं—"जा कर देख आओ भीतर। हजारों मरदों से तो मिलती-जुलती है। फिर तुम्हीं से कौन मनाही है।" डॉक्टर हतबुद्ध-सा कुछ देर वहीं खड़ा रहा। माँ की ओर से फिर कोई हलचल न पा कर वह सीढ़ियाँ उतर आया। ऐसे कैसे वह चला जाये। वह कभी डॉक्टर के सामने नहीं आयी। कुछ भी हो बहू मानता है। दादा ने साँझ को लौटते ही डॉक्टर के आने की बात पूछी थी। और पत्नी से उस का कोई अनुकूल उत्तर न पा कर वे सीधे डॉक्टर के यहाँ जा पहुँचे थे। जा कर सीधे ही सीधे कहा था—"डॉक्टर, तुम नहीं आये बहू को देखने। मुझे ऐसा मालूम होता तो पहले तुम्हारे सामने फ़ीस के रुपये रखता। बाद में तुम से देखने के लिए कहता।" डॉक्टर हँसा। फिर सारी बातें खोल कर कह सुनायीं—"यार! तुम्हारी माँ से पहले भी डरता था और आज भी। वह भय कम नहीं हुआ है। बल्कि अब तो और भी अधिक उन से भय लगने लगा है।" दादा बौखला गये थे—"डरो तुम! खूब डरो। सब डरें। मैं भी डरता हूँ। पर तभी तक जब तक मान पर आँच न आये। कोई इज्ज़त पर हमला करने लगे तो मैं दुनिया से नहीं डरूँगा बस।" डॉक्टर ने बैठने के लिए कहा भी तो वे बैठे नहीं। जैसे खड़े थे वैसे ही लौट पड़े। घर पहुँचे तो अँधेरे ने पूरी तरह साँझ को अपने घेरे में समेट लिया था। वे धड़धड़ाते हुए अन्दर आये। माँ बाहर वाले कमरे में बिन्नी से पैर दबवा रही थीं। उन्होंने एक तेज़ नज़र इन पर डाली। कुछ बोले नहीं। सीधे अपने कमरे में आ गये। पत्नी लेटी हुई थी। लैम्प की हलकी-सी रोशनी में वे कुछ देर सिरहाने खड़े पत्नी के चेहरे को देखने लगे। वह उन्हें काफ़ी कमज़ोर दिखाई दी। आँखें बन्द थीं। वे एक पल के लिए रुके। फिर तटस्थ हो कर बोले—"सुनती हो! उठो! जल्दी तैयारी कर लो। आज ही यहाँ से चल देना है। अभी। आध घण्टे में ट्रेन जाती है।" हड़बड़ा कर पत्नी उठ कर बैठ गयी। दादा जल्दी-जल्दी खूँटियों पर टँगे कपड़े खींच-खींच कर सन्दूक़ में भरने लगे। कुछ सामान और था जिसे रखने के लिए उन्होंने पत्नी की ओर देखा। वह अभी भी स्तब्ध हुई दादा की गतिविधियों को निहार रही थी। वे खीझ पड़े—"सामान रखने के लिए कह रहा हूँ। नहीं चलना हो तो रहो यहीं। बैठी रहो आराम से।" पत्नी लड़खड़ाते क़दमों से उठ खड़ी हुई। दादा पीछे के कमरे से निकलते हुए बोले—"अभी लौट कर आता हूँ, तब तक तैयार हो जाना।" उन का स्वर बेहद रूखा था।

वे फिर डॉक्टर के यहाँ पहुँचे थे। डॉक्टर को कहने-सुनने या समझने-बूझने का कोई मौक़ा न देख कर सीधे बोले—"डॉक्टर मुझे पच्चीस रुपये चाहिए हैं। दे सको दे दो नहीं तो मना कर दो। मुफ़्त में नहीं माँग रहा हूँ। एहसान-जैसी कोई बात

नहीं होनी चाहिए मन में । साथ खेल-कूदे हैं । शैतानी की है । मार खायी है । बचपन की दोस्ती समझ कर ही माँग रहा हूँ । आज तुम बड़े हो और मैं····समय का फेर है ।" डॉक्टर कुछ कहने लगा था पर दादा ने कहने नहीं दिया—"नहीं-नहीं—तुम अभी कुछ मत कहो । नहीं देना हो तो साफ़ कहो ।" डॉक्टर ने चुपचाप पच्चीस रुपये उन के हाथ में ला कर रख दिये—"एहसान नहीं है दादा, न ही उधार है । बचपन के दोस्त हो । दोस्त से भी अधिक कुछ हो । बस इसी लिए दे रहा हूँ ।" रुपये पा कर दादा लौट रहे थे उलटे पैर । कृतज्ञता—अपनत्व-जैसी कोई बात नहीं । वे घर पहुँचे थे । ताँगा साथ लेते गये थे । खुद ही उठा कर सारा सामान ताँगे पर रखा । फिर जा कर सीधे माँ के पास खड़े हो गये थे—"जा रहा हूँ । अब कोई बहू के इलाज के लिए तुम से पूछने नहीं आयेगा ।" और वे तेज़ क़दमों से जा कर ताँगे में बैठ गये । बहू ने माँ के पैर छूना चाहे तो उन्होंने साड़ी से पैर ढांक लिये और मुँह फेर लिया था ।

दूसरे शहर आये थे । रुपयों की बेहद तंगी । पर हार नहीं मानी तो नहीं ही मानी । डॉक्टर से लिये उन्हीं पच्चीस रुपयों में से बचे पन्द्रह रुपयों से ज़िन्दगी की शुरूआत की थी । कुछ खाने-पीने का सामान ले आये थे । फिर एक मुनीम की नौकरी कर ली । तब से कितने वर्ष यायावर की तरह यहाँ से वहाँ भटके हैं । कभी कुछ काम तो कभी कुछ काम । आज यहाँ तो कल वहाँ । फिर बच्चे हुए और नौकरी भी मिली । ज़िन्दगी में स्थिरता आयी थी । फिर कैसे जायदाद जोड़ी ? कैसे घर-गृहस्थी जमायी ? कैसे स्त्री के लिए एक-एक ज़ेवर गढ़वाये ? उन के सिवा जानेगा भी कौन ? पत्नी ही जब नहीं जानना चाहती तो वे किस से क्या कहते फिरें ? रुपयों को तब भी महत्त्व नहीं दिया और आज भी रुपयों को वे हथेली की धूल ही समझते हैं । सोमेन हँसता है—"दादा ! तुम ने जहाँ से ज़िन्दगी की शुरूआत की थी, घूम-फिर कर साल-साल झेलते हुए वहीं ज्यों-के-त्यों लौट आये । तब भी हाथ में कुछ नहीं था—आज भी नहीं है ।" सोच कर दादा हँसे—कितनी अजीब रही उन की ज़िन्दगी ? पर भिखारी हो कर भी रहे हैं राजा की तरह । उन्होंने गरदन झटकी जैसे अभी भी दुनिया को चुनौती देने की शक्ति उन में है—कोई आजमा कर देख ले ।

आज इतना सन्तोष है कि घर में वे किसी प्रकार का अभाव नहीं छोड़ आये हैं—बस वे ही नहीं रह सके । आज बेटी का पत्र आया है । सीख दी है बाप को—पति-धर्म की सीख । पहले माँ को ही तो दे लेती पत्नी-धर्म की सीख ! उन्होंने मुँह बनाया । बेचैन-से उठे और उठ कर खिड़की खोल दी । हवा की एक लपट भीतर तक आयी । उन्होंने कपाट फिर बन्द कर दिये । जेब से बीड़ी निकाली और इत्मीनान से मुँह में लगा कर काड़ी छुआ—निर्निमेष काड़ी को जलता हुआ देखते रहे । जलती हुई काड़ी और उन की ज़िन्दगी । उन्हें इन दोनों

में अजीब-सी समानता दिखाई दी। कच्ची लकड़ियों के जलने का धुँआ फेफड़ों में भरता जान पड़ा। बुढ़ापे की देह और अपने अकेले बेटे की दी हुई यह लांछना। क्या करती होगी वह? कैसे सहती होगी?—अचानक उन के मन में विचार आया। वे उठ खड़े हुए। अँधेरे में ही जा कर खिड़की के पास खड़े हो गये। उन्होंने कभी उस से आधी बात नहीं कही। उन्हें घुटन-सी महसूस हुई तो वे घबरा कर बाहर निकल आये।

साँझ मुँडेरों पर झुक आयी थी। आँगन में पानी सींच दिया गया था। धरती से उठती माटी की सोंधी-सोंधी गन्ध को खींचते उन्होंने गहरी साँस ली। नसों का खिंचाव दूर होने लगा था। उन्हें बहुत हलका लगा। उन्होंने नीरा के कमरे में एक नज़र डाली। कहीं कोई हलचल नहीं थी। वे पीछे की ओर निकल गये। नीरा बच्ची का मुँह धुला रही थी। दादा चुपचाप जा कर उस के पास खड़े हो गये। कुछ देर निस्तब्धता को झेलते वे नीरा की ओर से कुछ सुनने की चाहना में खड़े रहे। फिर बोले—"चाँदनी की चिट्ठी आयी है। तभी से मन खराब है। किसी काम में जी ही नहीं लग रहा। तुम्हारी काकी बहुत बीमार हैं। वह भी क्या कम हेकड़ हैं। मर जायेंगी पर अपने हाथ से कुछ लिखेंगी नहीं। वो तो चाँदनी ने सब लिखा है।" नीराजना ने दादा के स्वर की भरभराहट महसूस की। पर उसे उन की ओर देखते भय हुआ। कहीं दादा यह सब कह कर जाने की तो नहीं कर रहे। बच्ची का मुँह पोंछ कर दादा की ओर बढ़ाती वह बोली—"बहुत तंग किया इस ने आज। एक पल भी चैन नहीं लेने दी।" दादा का स्वर काँप रहा था—"वही तो मैं सोचता हूँ। इसे अब अधिक मेरी गोद में मत दिया करो। ममता बुरी चीज़ होती है। ममता जुड़ती है तब भी बुरी होती है और टूटती है तब भी बुरी।" नीराजना ने आश्चर्य से दादा की ओर देखा। दादा का यह अविश्वसनीय अकल्पित रूप! उसे विश्वास करने में कठिनाई हुई। जैसे बंजर धरती से एकाएक निर्मल जल-स्रोत फूट निकला हो। दादा की आँखों में घृणा, ग्लानि, खीझ, आवेश, लांछना अथवा पश्चात्ताप-जैसा कहीं कोई भाव नहीं था। बस केवल पारदर्शी पारे-सा कुछ तिरने लगा था।

■ ■

बन्दी पशु

मूल : ब्राइन ग्रिफ़िथ्स | अनु : चरंजीत सिंह

की कविता '*Night Beasts*'
'*The Stone's remember*'
संकलन से ।

रात के सूनेपन में
मैं बैठा लिखता हूँ।
मुझे दूर से आती
पिंजरों में बन्दी पशुओं की
आवाज़ें सुन पड़ती हैं;
उन का स्वर
भय की सीमाओं को,
गहन रात के अन्धकार को
बेध रहा है।
पार्क के पार
घने वृक्षों की उठती गिरती
दीवारों की ओट
मील-भर दूर
शहर का चिड़ियाघर है
रात के सन्नाटे में जाग रहे
पिंजर-पशुओं के
हूहुल्लड़ और चीत्कार में खोया।
अपनी काल-क्षुधा से पीड़ित,
स्वच्छ चांदनी की रातों में
निखरे आकाश तले
झुण्ड के झुण्ड बाँध
निर्बाध विचरने की
युगलिप्सा से व्याकुल
वृक्
इस वृन्त गान के नेता हैं—
उन का स्वर सब से ऊँचा है।
मैं बैठा लिखता हूँ;
तम के पार फैलते तीखे स्वर
सड़कों के बन्दीगृह में गूँज रहे हैं।
मैं अस्थिर हो उठता हूँ—
लिखता हूँ, लेकिन मुझ में
कुछ भी कर पाने की
सामर्थ्य नहीं है।
मैं ने
जिन शब्दों को पकड़ा है,
पृष्ठों की साँकल-जटित जालियों में
बन्दी कर छोड़ा है,
उन से मुक्त, विमुख हो
मैं शैया पर आ लेटा हूँ।
मेरे मन को
व्याकुलता के तीखे पंजे
खरोंच रहे हैं।
आज मुझे भी
युगपीड़ा की
अन्तर्नुभूति हुई है।

■ ■

कोई ज्यादे नहीं, फ़कत आधा तोला—एक अँगूठी ! पहनी, तो स्वाभाविक ही खुशी हुई । साँवली उँगली जैसे चमक उठी । सोचा, वक़्त-बेवक़्त के लिए सौ रुपये की यह रक़म सदा साथ रहेगी; यानी अँगूठी न हुई सेविंग खाता हुआ—जब चाहे, रक़म निकाल लो ! राजे-महाराजे, इसी लिए तो जाने कितने आभूषण पहना करते थे, पूरा बैंक ही साथ रखते थे ! आदमी की क्या साख है जनाब, उस के बैंक-बैलेंस की धाक होती है । भारतीय कुल-वधुएँ इस तथ्य को खूब जानती हैं । इसी लिए अपने अंग-अंग को गहनों से दोस्त रखती हैं । यों, हर कुल-वधू एक तिजोरी होती है और चाहती है कि साल में तीन सौ पैंसठ दिन ही धनतेरस हो ताकि उस के गहनों की तिजोरी दिन-दूनी रात-चौगुनी फूले । मैं कविवर बिहारी की इन पंक्तियों का मर्म खूब समझता हूँ :

"भूषण भार सँभार ही,
क्यों यह तनु सुकमार ।
सूधो पाँय न परत महि,
सोभा ही के भार ॥"

कविवर अपनी सुन्दर पत्नी के गहना-मोह से अवश्य सन्त्रस्त होंगे ! पत्नी बार-बार गहने लाने के लिए उलाहने देती होगी । कविवर अपनी प्यारी पत्नी को दो-टूक 'ना' कह कर रुष्ट कैसे करते ? मीठे बोलों से बहलाते हैं—"प्रिये, तुम्हारा सुकुमार तन तो सौन्दर्य का भार ही नहीं उठा पा रहा, गहनों

उँगली में सोना

मनमोहन मदारिया

•

का भार कैसे उठायेगा ? बिहारी में अव्वल दरजे के डिप्लोमैट की क़ाबिलियत थी। पत्नी के गहना-मोह को दूर करने लिए उन्होंने एक ओर तो जहाँ "कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय" जैसे दोहे रच कर सोने का मोल गिराया, वहाँ दूसरी ओर "पहिरि न भूषन कनक के" जैसे दोहे रच कर गहनों से प्राकृतिक सौन्दर्य विकृत हो जाने का अकाट्य तर्क प्रस्तुत किया। माशा-भर की लौंग तक पहनने को बरजा क्योंकि उस से नाक सदा चढ़ी हुई रहती है। उन के मत से नायिका की देह की छवि के आगे सोने की कान्ति फीकी है—"गात रूप लखि जात दुरि, जात रूप कौ रूप।" पता नहीं, इन दोहों का कविवर की पत्नी पर क्या असर पड़ा !

विवाहेच्छुकों को यह बिहारी-साहित्य अच्छी तरह रट लेना चाहिए और सोहागरात से ही उस का पारायण प्रारम्भ कर देना चाहिए। इस से पत्नी को गहना-मोह की व्याधि नहीं व्यापेगी और दाम्पत्य जीवन शान्तिमय होगा। यह तो संकटकाल का 'हनुमान चालीसा' है। इस का प्रचार हो तो स्वर्ण-बांडों की बिक्री बढ़े, विदेशी मुद्रा का संकट टले। आकाशवाणी से बारम्बार यह प्रसारित होना चाहिए :

"तन भूषन, अंजन दृगनि,
पगन महावर रंग।
नहिं सोभा को साज ये,
कहिबे ही को अंग ॥"

कन्या महाविद्यालयों की दीवारों पर कविवर बिहारी के ये सुभाषित अंकित होना चाहिए। इस से सादगी का प्रचार होगा और कन्याएँ गहना-मोह से मुक्त होंगी। यों, बिहारी सर्वश्रेष्ठ कवि हैं 'अप्लाइड पोयट्री' के, व्यावहारिक काव्य के। काया की निस्सारता साबित करना तो सहज है क्योंकि लोगबाग अपनी आँखों उसे क्षय होते देखते हैं लेकिन माया की निस्सारता सिद्ध करना कठिन है। बिहारी ने इस दुःसाध्य कार्य को जिस खूबसूरत ढंग से कर दिखाया है, उस से चकित रह जाना पड़ता है, उन की प्रतिभा पर ! बिहारी ने साहित्य में जिस उपयोगितावाद का प्रवर्तन किया है, उस का गम्भीरता से अध्ययन किया जाना चाहिए।

चूंकि मैं भी एक पति हूँ, इस लिए बिहारी के गहना-विषयक विचारों से शब्दशः सहमत हूँ और शरीर के प्राकृतिक अनलंकृत सौन्दर्य का प्रशंसक हूँ—गहनों से तो देह मुझे भी 'दरपन के से मोरचे' दिखाई देती है। लेकिन, उस दिन उँगली में अँगूठी पहनी तो सारा बिहारी-साहित्य भूल गया, गहना-विरोधी विचार धरे रह गये और अनायास ही मैं खुश हो गया। मगर यह खुशी ज्यादा देर न टिकी। अँगूठी उँगली में चुस्त नहीं बैठी थी, जरा ढीली थी। डर हुआ, कहीं गिर न जाये। बेहद भुलक्कड़ स्वभाव का हूँ। आज तक पचीसों पेन, पर्स, रेनकोट आदि गवाँ चुका हूँ। साइकिल की चाभी आये-दिन खो जाती है। दो बार रिस्टवाच जो खोयी तो समय-बोध ही अनावश्यक समझा। दुनिया में बड़ी-बड़ी बातें हैं सोचने, याद रखने को। घड़ी, पेन, पर्स-जैसी छोटी-

मोटी चीजों का कौन ध्यान रखे कि कब कहाँ रखी, किस को दी ? अँगूठी बड़ी उँगलियों में तो बनी नहीं थी, छिंगुली में आयी थी; लेकिन उस में भी चुस्त नहीं बैठी थी, जरा ढीली थी। हाथ झटकूँ कि वह फ़र्श पर आ गिरे ! सोचा, घण्टे-दो घण्टे पहन लिया, अब उतार दूँ। लेकिन वह शौक़ की अँगूठी नहीं थी, सगुन की अँगूठी थी—नगवाली अँगूठी। उसे तो आजीवन धारण करना था।

अपने एक मित्र हैं ज्योतिषी। अक़सर कहा करते थे वह—"भाई लहसुनिया नग पहनो। फिर देखो भाग्य कैसा पलटता है !" अपने भाग्य को फेरने की जितनी फ़िक्र मुझे थी, उस से कहीं अधिक श्रीमती को। सो, इस बार जहाँ उन्होंने (बिहारी साहित्य अकसर मुझ से सुनते रहने के बावजूद) अपने लिए नेकलेस बनवाया; वहाँ मेरे लिए यह करामाती अँगूठी भी। उन्होंने अपने अँगूठे का नाप दिया था जो मेरी छिंगुली के बराबर बैठा। बराबर क्या बैठा, ढीला पड़ा ! ज्योतिषी मित्र ने कहा था, एक ही सप्ताह में उस का असर मालूम होने लगेगा। यहाँ एक सप्ताह में यह हाल हुआ कि सूख कर आधे रह गये। अब तक खाने को भले ही रूखा मिलता रहा हो, सोने को भरपूर मिलता था। लेकिन उँगली में आधा तोला सोना क्या आया, आँखों का मन-भर का सोना नदारत हो गया। हमेशा यही खयाल बना रहता; सोते-जागते एक ही फ़िक्र रहती कि अँगूठी कहीं खिसक तो नहीं गयी। नींद में चौंक-चौंक कर छिंगुली को टटोलता। सपने भी अकसर उस अँगूठी के ही दिखें, बहुत बुरे-बुरे सपने ! धन्य हैं वे देवियाँ जो अंग-अंग में सोना जड़े रहती हैं और ठस्के से चलती हैं, चैन से सोती हैं। यहाँ आधा तोले से ही नींद हराम हो गयी है, वहाँ पसेरी-भर का भी कुछ असर नहीं होता। उलटे, सोने का भार उनके बदन पर जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उन्हें अधिक गहरी नींद आती है। यों, गहने न हुए उन के लिए नींद की गोलियाँ हुईं।

"सुना, तिवारन चाची क्या कह रही थीं···, जब से नेकलेस बनवाया है श्रीमती अकसर उसी की चर्चा करती हैं, तिवारन चाची बोलीं, 'यह हार तो चौदह कैरेट का होगा।' सुनते ही हमें आग लग गयी। कहा, काकी तुम तो सयानी हो। क्या तुम भी नक़ली और असली का फ़र्क़ नहीं कर सकती? हम तो मर जायेंगे लेकिन नक़ली सोना नहीं पहनेंगे। हमारे वंश में···" श्रीमती जब अपने वंश का गुणगान खत्म करती हैं, तब मैं धीरे-से कहता हूँ, "कुछ भी कहो डियर, लेकिन यह नेकलेस कुछ सोहता नहीं है। ऐसा लगता है जैसे किसी मवेशी के गले में पट्टा।" जाने क्यों, श्रीमती भड़कती नहीं हैं। उलटे, बड़ी रसमयी चितवन से निहारती हैं; मीठे स्वर में कहती हैं—'श्रिट ! बूढ़े हुए, मगर चुहल करने की आदत नहीं गयी।" और मैं चक्कर में पड़ जाता हूँ यदि यह चुहल है तो गाली आखिर क्या होती है !

सच ही, गहने मुझे शृंगार के उपकरण नहीं जान पड़ते। वे पिंजरा जान पड़ते हैं—

सोने का पिंजरा ! नेकलेस जहाँ मवेशी बाँधने की साँकल नज़र आता है, वहाँ कंगन, हथकड़ियाँ ! नथ नकेल लगती है, तो पायजेब निपट बेड़ी ! जो औरत जितनी सुन्दर होगी, उस के उच्छृंखल होने के चान्स भी उतने ही अधिक होंगे और उसे बाँधने के लिए उतने ही अधिक गहनों की आवश्यकता होगी। आदमी ने क्या कल्पना-शक्ति पायी है कि जिस अंग में कोई गहना सहज ही पहना न जा सके, उस के लिए भी गहना गढ़ लिया है, अंग को छेद कर। पाश्चात्य देशों की आज़ाद औरतें गहनों के असल मक़सद को शायद जानती हैं, इसी लिए गहने नहीं पहनतीं, कान नहीं छिदातीं। दूसरी ओर वन-कन्याएँ हैं जो एकबारगी वस्त्र भले ही न पहनें, गहने ज़रूर पहनेंगी; सोने-चाँदी के नहीं तो फूल के ही सही ! प्राकृतिक सौन्दर्य की रेशम पर गहनों के टाट का पैबन्द ! जिस बिहारी कवि ने अलंकारों के विरोध में इतना लिखा है उसे यारों ने अलंकारों का कवि कहा है। उस की व्यावहारिक बातों को हँसी में उड़ा दिया है, अतिशयोक्ति क़रार दिया है। वे सुनने की हैं, गुनने की नहीं। बिना रिसर्च किये ही मैं जान गया हूँ कि कविवर बिहारी को अपनी पत्नी का गहना-मोह दूर करने में क्या सफलता मिली होगी--उस ने भी कविवर के व्यंग्यों को चुहलें मान कर हँसी में उड़ा दिया होगा। राम-जैसे अवतारी पुरुष भी पत्नी के गहना-मोह को दूर न कर सके थे। पत्नी के आदेश से कंचन-मृग के पीछे भटकते फिरे थे। लंका-काण्ड का मूल कारण यही है--नारी का गहना-मोह। इसी वजह घर-घर में नित्यप्रति छोटे-मोटे लंका-काण्ड होते रहते हैं।

"अँगूठी तो बहुत सुन्दर है, बन्धु !" अब अकसर यह उद्गार सुनता हूँ। लोग मुझे नहीं देखते, मेरी अँगूठी को देखते हैं--उस के बारे में तरह-तरह के सवाल करते हैं। मैं लोगों की रश्कभरी नज़रों का शिकार हूँ और खुश हूँ। लोगों को जितनी ईर्ष्या होती है, उतनी ही मेरी खुशी बढ़ती है। अपने गहना-विरोधी विचारों के बावजूद अब मैं इस यत्न में हूँ कि गले के लिए एक चेन और हो जाये, अधिक नहीं डेढ़ तोले की चेन। मेरे इर्द-गिर्द एक पिंजरा घिर गया है, लालसा का पिंजरा ! मेरी उड़ान उस के घेरे में ही क़ैद है। सोना पाना जितना शुभ है, खोना उतना ही अशुभ है। मेरे मस्तिष्क में यह ख़याल हमेशा बना रहता है और मैं चौकन्ना रहता हूँ। इस लहसुनिया नग से मेरा भाग्य क्या फिरा है, मैं ही बदल गया हूँ। मैं यक़ीनन वह मैं नहीं हूँ जो अपनी कोई भी चीज़ भूल जाता था। अँगूठी तीन माह से मेरी उँगली में है और अभी तक नहीं गुमी। आश्चर्य, महान् आश्चर्य ! ■ ■

मध्यावधि चुनाव का निष्कर्ष और १९७२ का निर्वाचन

अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

मध्यावधि चुनाव के फलाफल की परीक्षा विभिन्न राजनीतिक दल अभी करने में व्यस्त हैं। फ़रवरी १९७२ में होने वाले निर्वाचन को मध्यावधि चुनाव के परिणाम की पार्श्व-भूमि में देखा जा रहा है। वसन्त व्याख्यान-माला, पूना का अन्तिम व्याख्यान श्री मधुलिमये ने इस विषय पर २१ मई १९६९ को दिया। श्री मधुलिमये ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि कांग्रेस के विरोध में सब राजनीतिक पक्षों का संयुक्त मोरचा बनाना अब सम्भव नहीं रहा है। यह इस बात का सूचक है कि भारतीयता की भावना का विलोप होता जाता है। अखिल भारतीय मनोवृत्ति का लग-भग अन्त हो गया है। श्री कृष्ण मेनन का मिदनापुर से लोकसभा का उपचुनाव जीतना भी यही प्रमाणित करता है। 'युनाइटेड फ्रंट' के नेताओं ने श्री मेनन को बंगाली कहते हुए बताया कि यह "आमार बंगला भाई है।" श्री मेनन भारत-भक्ति के लिए और राष्ट्रवादी नेता के रूप में विख्यात नहीं हैं। चीन और रूस के ज्वलनशील एवं विनाशक अंचल से भारत को बाँधने वाले हैं। 'नेफा' को चीन के समान रूस भी चीन का मानता है। इसी कारण रूसी वैमानिक ने 'हेलीकॉप्टर' को नेफा पर उड़ाने से इनकार कर दिया। अतः श्री मेनन की विजय रूस-चीन की भारत को विभक्त कर के परस्पर बाँट लेने की योजना की विजय है। पूर्वी पाकिस्तान यदि पश्चिमी पाकिस्तान से अलग हुआ, तो, ईरान के शाह का अभिमत है, कि बंगाल, असम, और उड़ीसा का समुद्रतट भी भारत से कट कर

चीन के अधिकारियों ... [illegible] ... की विजय भारत-भक्ति की नहीं अपितु भारत-द्रोह की विजय है।

भारत के १७ राज्यों और केन्द्र-शासित प्रदेशों के मुख्यमन्त्रियों और मन्त्रि-मण्डलों को देख जाइए। केरल और बंगाल में कॅम्युनिस्ट मन्त्रिमण्डल है, परन्तु इन दोनों के मन्त्री ब्राह्मण हैं। मध्य प्रदेश का भी ब्राह्मण है। क्या यह सामाजिक परिवर्तन ध्यान देने के योग्य नहीं है। ब्राह्मणों का राजनीतिक प्रभुत्व भारत में अब नहीं रहा है। मद्रास, आन्ध्र, मैसूर, और महाराष्ट्र के मन्त्रिमण्डलों में कोई ब्राह्मण मन्त्री तक नहीं है। बौद्धिक दृष्टि से शासन का स्तर यदि आज गिरा हुआ है, तो क्या इस का कारण, ब्राह्मणत्व की शक्ति का ह्रास नहीं है? ब्राह्मणत्व के पतन का अर्थ है—ज्ञान का ह्रास, पठन-पाठन की अवनति। यही कारण है कि राजनीति आज नारों की हो गयी है, शास्त्र-चर्चा, सिद्धान्त-विचार और आदर्श-निष्ठा की नहीं रही है। ३५०० विधायकों में से १९६७ के बाद ५०० ने पक्ष-परिवर्तन किया है। आदर्शशून्यता और सिद्धान्तहीनता का इस से बढ़ कर और क्या प्रमाण हो सकता है?

पंजाब और बंगाल में कांग्रेस का पराभव हुआ। परन्तु उस का स्थान बंगाल में ११ पार्टियों ने लिया। इस का क्या अर्थ है? पंजाब में अकाली दल और जनसंघ का मन्त्रिमण्डल कॅम्युनिस्ट समर्थित है? इन तीनों को एक करने वाला तत्त्व क्या है? सत्ताभिलाषा और अधिकार-लिप्सा! राष्ट्रवाद नहीं। भारतीय राष्ट्रवाद तिरोहित ही हो गया दीखता है। जनसंघ पंजाबी पार्टी है। पंजाब सदा भारत-विरोधी रहा है। भारत के 'लिबरल' नेता भी पंजाब को भारत का 'अलसर' कहते थे। अतः जनसंघ के तीन रूप यदि दिखाई दें तो क्या आश्चर्य! पंजाब में जनसंघ कहता है, चण्डीगढ़ पंजाब को मिलना चाहिए। चण्डीगढ़ में कहता है, नहीं यह केन्द्र शासित ही रहना चाहिए। हरियाणा में कहता है कि नहीं चण्डीगढ़ हरियाणा का है। एक और उदाहरण लीजिए— पंजाब में यह कहता है कि पंजाब एकभाषी राज्य है, अतः पंजाब में हिन्दी के लिए कोई स्थान नहीं है। भारत राष्ट्र की राष्ट्रभाषा के लिए पंजाब में कोई स्थान नहीं है, भले ही हिन्दी-भाषी पंजाब में ६२ प्रतिशत हों और पंजाबी शास्त्रीय दृष्टि से कोई भाषा न हो कर एक बोली-मात्र हो। परन्तु हरियाणा में वह कहता है कि यदि वह मन्त्रिमण्डल बनायेगा तो पंजाबी इस की दूसरी भाषा होगी। पंजाबी भारतीय होने से इनकार करता है। फिर वह दिल्ली से भाग कर आया, और यहाँ शरण ले कर भी यदि दिल्ली वाला न बने तो क्या आश्चर्य! जनसंघ का दिल्ली में शासन है। दिल्ली एक ज़िला-मात्र है। भारत की राजधानी भी है। दिल्ली की भाषा हिन्दी है। भारत ने इसी हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना है। परन्तु जनसंघ ने दिल्ली का अखिल भारतीय

और राष्ट्रीय स्वरूप विकृत कर दिया। पंजाबीपन यहाँ भी वह ले आया, पंजाबी और उर्दू को उस ने दिल्ली की दूसरी भाषा घोषित कर दिया है। तुर्की के अतातुर्क कमाल पाशा ने जिस अरबी लिपि को विदेशी कह कर तुर्की से बाहर कर दिया, जनसंघ उसी को दिल्ली में स्थान दे रहा है। उर्दू और पंजाबी नागरी लिपि में लिखी जायें यह कहने का आग्रह पंजाबीपन में नहीं हो सकता। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि पंजाब मूर्तिमान् 'पृथक्ता' है और यह भारतीय आत्मा को अपने यहाँ स्थान देने को तैयार नहीं है। पंजाब के प्रति विशेष व्यवहार करना, इस के साथ रियायत करना अभारतीय मनोवृत्ति और प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है। तुर्की और ईरान ने अरबी शासन के कारण अपनी भाषा में आये अरबी शब्दों को चुन-चुन कर अपनी भाषा से निकाल दिया। परन्तु अरबी व्याकरण से शब्दों का बहुवचन बनाने वाली भाषा उर्दू को जनसंघ मान्यता दे रहा है। क्या यह भारत-भक्ति का प्रमाण है? इस के नेता यदि संसद् में अँगरेजी में बोलें तो क्या आश्चर्य! मध्यावधि चुनाव ने अराष्ट्रीय एवं अभारतीय भावना को बढ़ाया है और प्रान्तिकता एवं आंचलिकता को प्रोत्साहन दिया है।

जाति-जमात : भाई-भतीजावाद की जय

१९६७ में अकालीदल को पंजाब विधान सभा में २६ स्थान मिले थे। १९६९ में उस को ४३ स्थान मिले। उत्तर प्रदेश में 'संसोपा' और जनसंघ की शक्ति घटी है और भारतीय क्रान्तिदल को बढ़ी है। १९६७ में कॅम्युनिस्ट पार्टी १४ स्थान पाने में समर्थ हुई थी, किन्तु १९६९ में वह ४ ही पा सकी। 'प्रसोपा' भी ११ से नीचे उतर कर ३ पर आ गयी। इन के विपरीत चौधरी चरण सिंह का भारतीय क्रान्तिदल ९९ पर पहुँच गया। चौधरी चरण सिंह १९६७ में अपने १८ सहयोगियों के साथ कांग्रेस से बाहर आये थे। 'संविद्' के नेता हुए और मुख्य मन्त्री हुए और मध्यावधि चुनाव में विस्मयजनक सफलता पाने में सफल हुए। यह शक्ति उन्होंने जाटों और अहीरों एवं गूजरों के बल पर प्राप्त की है। चौधरी चरण सिंह अपने को जाट कहते हैं किन्तु हैं भारी गूजर।

बंगाल प्रान्तिकता के लिए प्रसिद्ध है। इस की प्रान्तिकता की छूत ने ही सर्वत्र प्रान्तिकता फैलायी। स्व० श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी कहा करते थे कि बंगाल में सच्चा भारतीय और राष्ट्रीय नेता एकमात्र राष्ट्रगुरु श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी हुए हैं। यही एक बंगाली नेता था, जो कभी बंगाली की दृष्टि से नहीं सोचता-विचारता था, सदा सब प्रश्नों पर एक भारतीय नेता के समान सोचता और विचारता था। 'युनाइटेड फ्रंट' में कॅम्युनिस्ट तीनों—रूसी-चीनी और नक्सलवादी—हैं। संसोपा भी

है । परन्तु [illegible] कट्टर प्रादेशिकता ने इस को विजयी बनाने में बहुत सहायता दी । 'युनाइटेड .फ्रंट' में चीनी कॅम्युनिस्टों का प्राबल्य है । परन्तु उन के भी श्री अजय मुकर्जी को बाध्य हो कर नेता मानना पड़ा; यद्यपि गृह सचिवालय श्री ज्योति वसु ने अपने ही पास रखा । यह प्रान्तिकता की विजय का एक और प्रमाण है ।

बिहार में प्रादेशिक एवं स्थानीय पक्षों की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। यह इन आँकड़ों से स्पष्ट है--

वर्ष	प्रादेशिक पक्ष
१९६२	३२
१९६७	४७
१९६९	६५

निस्सन्देह, आज भारत में कोई अखिल भारतीय स्थिति और प्रभाव का नेता नहीं है। राष्ट्रीय नेता भी नहीं है। भारत राष्ट्र आज नेताविहीन है। चीन से पराजित, पाकिस्तान से त्रासित और सोवियत रूस से भीत भारत का रक्षक व्यक्ति ही राष्ट्र-पुरुष हो सकता है । इन के प्रति परितोष नीति बरतने वाले पक्ष राष्ट्रीय नहीं हो सकते । भारत के राजनीतिक दल ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और चीन के प्रति भक्ति रखते हैं, भारत के प्रति नहीं । वाशिंगटन, मास्को और पीकिंग से धन ले कर ये चुनाव लड़ते हैं । मास्को का सोना देश में बहता है यह बात तो मराठावाद के जनक गृहमन्त्री श्री यशवन्तराव चौहान भी मानते हैं । विदेशी पैसे से चुनाव लड़ा जाये और भारत में राजनीतिक स्थिरता की आशा की जाये यह एक विचित्र बात है या नहीं ? विदेशी भारत में कामकाज चलाने वाले पक्ष भारत की शक्ति को नष्ट करेंगे या भारत में शान्ति स्थापित करेंगे ? भारत-द्रोह को जब शासन पग-पग पर प्रोत्साहन देता है, भारतीयता के विनाश के लिए अहर्निश प्रयत्न करता है तब क्या भारत में राजनीतिक स्थिरता स्थापित हो सकती है ? मजहब के आधार पर भारत का विभाजन करने और उस को क़ायम रख के क्या भारत में राजनीतिक स्थिरता उत्पन्न करना सम्भव है ? जो लोग सहिष्णुता को जानते तक नहीं हैं और एक समाचारपत्र में अपने पैग़म्बर की गान्धी जी से तुलना पढ़ कर पाकिस्तान के हाई कमिश्नर के नेतृत्व में उस पत्र के दफ़्तर पर 'पथराव' करते हैं, ऐसे विदेशी मनोवृत्ति के और विचारस्वातन्त्र्य के विरोधी तत्त्वों के प्रबल रहते क्या भारत में राजनीतिक स्थिरता आ सकती है ? भारत एक देश है, एक राष्ट्र है, और इस की राष्ट्रभाषा हिन्दी है, जब राजनीतिक दल इस सिद्धान्त को मानते तक नहीं हैं, और विभिन्न वर्गों के वोट पाने की लालसा

से उन की अराष्ट्रीय एवं अभारतीय वृत्ति को परितुष्ट करते हैं, तब क्या भारत राष्ट्र में राजनीतिक स्थिरता आ सकती है ? मध्यावधि चुनाव यदि राजनीतिक स्थिरता नहीं ला सका तो इस कारण से कि कांग्रेस का बीस वर्ष का शासन भ्रष्ट रहा, ग़रीबी, दीनता, और मँहगाई को बढ़ाने वाला रहा। यही नहीं, भारत की सीमा असुरक्षित करने वाला रहा। कच्छ की ३१७ वर्गमील भूमि पाकिस्तान को भेंट करने वाला रहा। रावी का पानी पाकिस्तान को अन्यून १९७४ तक मुफ़्त देते रहने वाला रहा। यह होते हुए भी कांग्रेस को समाप्त नहीं किया जा सका। कांग्रेस को समाप्त प्रचण्ड राष्ट्रवाद और उत्कट भारतीय भावना ही कर सकती है। पर इस का सर्वथा अभाव है। फलतः बिहार, उत्तर प्रदेश और हरियाणा में कांग्रेस का जैसे-तैसे कर के मन्त्रिमण्डल पुनः बन गया। हरियाणा में जाट मन्त्रिमण्डल बनाया गया है।

कांग्रेस क्या समूलोन्मूलन का पक्ष कर सकता है, जो भारत राष्ट्र को यह विश्वास दिला सके : १. भारत पुनः संयुक्त होगा। २. भारत की सेना इतनी अधिक शक्तिशाली होगी जो चीन, पाकिस्तान और रूस की सम्मिलित सेना और इन की अलग-अलग सेना का पराभव करने में समर्थ होगी। ३. भारत 'निरोध' नहीं बरतेगा, बल्कि बृहत् भारत का पुनः निर्माण करेगा। अमेजनघाटी, हिमालय और 'एडेजन' पर्वतमाला को आबाद करेगा। भारत राष्ट्र की यह स्वाभाविक महत्त्वाकांक्षा है। कांग्रेस नष्ट हो रही है, क्योंकि उस ने भारत राष्ट्र के साथ भारी विश्वासघात किया है और लन्दन की एजेंट बन कर शासन किया है। परन्तु कोई अन्य शक्ति भी तो नहीं है। उस सुप्त शक्ति को जगाने वाला भी तो कोई नहीं है। फलतः कांग्रेस के विरोधी दल संयुक्त मोरचा बनाने में असमर्थ रहे। जहाँ उन्होंने बनाया वहाँ वह सफल रहे। परन्तु वह मेल, आदर्श, प्रेम, राष्ट्र-निष्ठा का फल न होने से वह परस्पर लड़ रहे हैं। बंगाल का मन्त्रिमण्डल और छह मास यदि टिका रहा तो नयी दिल्ली की भूल-भरी उदासीनता के कारण ही रहेगा। केन्द्र का सतत विरोध करते रह कर यह अधिक दिनों तक अपने ऐक्य को क़ायम न रख सकेगा।

मध्यावधि चुनाव के परिणाम का १९५७, १९६२, १९६७ से तुलना करने पर पिछले बारह वर्षों में बदलती राजनीतिक स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सकेगा।

बिहार

नाम पार्टी	१९५७	१९६२	१९६७	१९६९
कांग्रेस	२१०	१८५	१२८	११८
जनसंघ	×	३	२६	३४

संसोपा	×	×	६८	५२
प्रसोपा	३१	२९	१८	१७
स्वतन्त्र	×	५०	३	३
कॅम्युनिस्ट (रूसी)	१७	१२	२४	२५
कॅम्युनिस्ट (चीनी)	×	×	४	३
अन्य दल व निर्दल	१८	३९	४७	४६

बंगाल

नाम पार्टी	१९५७	१९६२	१९६७	१९६९
कांग्रेस	१५२	१५६	१२७	५५
कॅम्युनिस्ट (चीनी)	×	×	४३	८०
कॅम्युनिस्ट (रूसी)	४६	५०	१६	३०
बंगला-कांग्रेस	×	×	३४	३३
फ़ारवर्ड ब्लॉक	×	×	१३	२१
संसोपा	×	×	७	९
प्रसोपा	२१	५	७	५
रि-सोपी	×	×	६	१२
सो-यू-से	×	×	४	७
वर्कर्स पार्टी	×	×	२	२
अन्य दल व निर्दल	३८	४०	२१	२६

उत्तर प्रदेश

नाम पार्टी	१९५७	१९६२	१९६७	१९६९
कांग्रेस	२८६	२४९	१९८	२०८
कॅम्युनिस्ट (रूसी)	९	१४	×	४
कॅम्युनिस्ट (चीनी)	×	१४	१	१
जनसंघ	१७	४९	९७	४८
प्रसोपा	४४	३८	११	२
संसोपा	×	२४	४३	५३

स्वतन्त्र	×	१५	१२	५
अन्य पक्ष व निर्दल	७४	४१	४६	११८

पंजाब की राजनीतिक स्थिति इन से भिन्न नहीं प्रतीत होती। यथा :

पंजाब

नाम पार्टी	१९५७	१९६२	१९६७	१९६९
कांग्रेस	१२०	९०	४८	३८
कॅम्युनिस्ट (रूसी)	६	९	५	३
कॅम्युनिस्ट (चीनी)	×	५	३	२
जनसंघ	९	८	९	८
प्रसोपा	१	×	×	१
संसोपा	×	४	१	२
स्वतन्त्र	×	६३	×	४
अन्य पक्ष व निर्दल	१८	४०	३८	४३

(केवल अकाली)

वोटों का विश्लेषण

विधान सभा में प्राप्त स्थान यथार्थ चित्र को छिपा भी सकते हैं। जनता का मतामत जानने के लिए वोटों का विश्लेषण करना आवश्यक है। कॅम्युनिस्ट पार्टी की विजय चिन्ताजनक है। इस का अर्थ है कि बंगाल में भारत-द्रोही जनता की संख्या बढ़ रही है। क्या यही सत्य है ?

कुल वोट पड़े	११०१८४७६	प्रतिशत
कांग्रेस	४६७५०६१	४२.४
कॅम्युनिस्ट (चीनी)	२२२०७९७	२०.२
बंगला-कांग्रेस	९३३७८२	८.५
कॅम्युनिस्ट (रूसी)	७४६२५०	६.८
फ़ारवर्ड ब्लॉक	५९९३०१	५.४
अन्य : युनाइटेड फ्रंट पार्टियां	८३२०३५	७.५
शेष	१०११२४८	९.२

इस से ज्ञात होता है कि एक करोड़ दस लाख मतदाताओं ने मतदान किया। इन में से ३० लाख ने कॅम्युनिस्ट पार्टी को वोट दिया और ८० लाख ने काँग्रेस, बंगला काँग्रेस, समाजवादियों और निर्दलों को वोट दिया। इस का अर्थ है कि काँग्रेस के भ्रष्ट शासन ने कॅम्युनिस्टों का बल बढ़ाया है। काँग्रेस का भ्रष्ट शासन जारी रहने से भारत-विरोधी शक्तियों का बल बराबर बढ़ता रहेगा।

बंगाल में विभिन्न दलों ने अपने उम्मीदवार इन संख्याओं में खड़े किये थे—काँग्रेस २८०, कॅम्युनिस्ट (चीनी) ९७, बंगला काँग्रेस ४९, कॅम्युनिस्ट (रूसी) ३६, फ़ारवर्ड ब्लॉक २८, अन्य युनाइटेड पार्टियाँ ७०, अन्य ४६९।

बंगाल के मध्यावधि चुनाव की एक और बात उल्लेख योग्य है। चीनी कॅम्युनिस्ट उम्मीदवार श्री गोपाल कृष्ण भट्टाचार्य (पानीहारी, २४ परगना) को ५३३४६ वोट मिले। यह मध्यावधि चुनाव का कीर्तिमान समझना चाहिए। उन के विरोधी काँग्रेसी उम्मीदवार श्री श्यामसुन्दर बनर्जी को ३१३१७ वोट मिले। सब से कम वोट लोकदल—(प्रो० हुमायूँ कबीर का स्थापित किया नया दल) के उम्मीदवार श्री मसीजुद्दीन (गोआल पोखर, प० दीनाजपुर) को केवल २६ वोट मिले।

उत्तर प्रदेश में, भूतपूर्व मन्त्रियों के लिए मध्यावधि चुनाव 'क़त्ले-आम' का चुनाव सिद्ध हुआ। मन्त्रियों की पराजय भ्रष्ट शासन की पराकाष्ठा और मतदाताओं का भ्रष्टाचार के प्रति घृणा का वैधानिक प्रमाण है। यथा—

उत्तर प्रदेश विधान सभा के वास्ते ९२४ उम्मीदवार अपने-अपने भाग्य की परीक्षा करने वाले थे। इन में विसर्जित विधान सभा के १३५ सदस्य भी थे, इन में २९ भूतपूर्व मन्त्री थे। इन २९ भूतपूर्व मन्त्रियों में से १६ मन्त्री पराजित हुए। जनसंघ के तीनों मन्त्री चुनाव हार गये। भारतीय क्रान्तिदल के छह मन्त्रियों में से केवल दो ही चुनाव वैतरणी पार करने में सफल हुए। प्रसोपा और संसोपा की भी यही दुर्गति हुई। तुलसी ने ठीक कहा है : 'प्रभुता पाइ काहि मद न होई।' काँग्रेस के पराजित मन्त्री हैं : सर्वश्री राममूर्ति, बहुगुणा, मुज़फ़्फ़र हसन, बनारसीदास, मोहनलाल गौतम, फूलसिंह और नवलकिशोर। इसी प्रकार भारतीय क्रान्तिदल के श्री जयराम वर्मा, श्यामलाल यादव, हरिश्चन्द्र सिंह, अख्तर अली। जनसंघ के सर्वश्री गंगाभक्त सिंह, ताम्बरेश्वर प्रसाद और वरमेश्वर पाण्डे। प्रसोपा के श्री प्रताप सिंह तथा संसोपा के श्री प्रभुनारायण सिंह।

पंजाब में अमृतसर शहर निर्वाचन-क्षेत्र में जनसंघ के नेता और अकाली मन्त्रिमण्डल के वित्तमन्त्री डॉ० बलदेव प्रकाश की पराजय जनसंघ के भारतीयता से विच्युत होने का फल है। अमृतसर शहर के इस भाग से १९५२ से जनसंघ विजयी होता

रहा था। पर १९६९ के मध्यावधि चुनाव में हार गया। अकाली दल से समझौता कर के जनसंघ ने पराजय पायी। आनन्दपुर हिन्दी-भाषी क्षेत्र है, किन्तु यह पंजाब में रखा गया, क्योंकि सिख इस को अपना तीर्थस्थान मानते हैं। कितना अद्भुत तर्क है! सिख ननकाना साहब पाकिस्तान को दे सकते हैं, परन्तु आनन्दपुर हिमाचल प्रदेश को नहीं। सिख अपने को भारतीय नहीं मानते। १९६७ में होशियारपुर की चुनाव सभा में भाषण देते हुए भारत के सुरक्षा मन्त्री सरदार स्वर्ण सिंह ने—'हिन्दी में, हिन्दी में' बोलने की ध्वनि सुन कर कहा था : "हिन्दुओं! खबरदार, यदि फिर कभी हिन्दी-हिन्दी का शोर किया। याद रखो, यह पंजाब है, इस की भाषा पंजाबी है। यदि तुम ने हल्ला किया, तो तुम्हारी बड़ी गति की जायेगी, जो वीरपूर्वियों की अँग्रेजों ने की थी।"

१८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम के अश्वारोही वीरपूर्वीये सैनिकों को अँगरेजों ने साईस बना दिया था। पंजाब के गवर्नर सर मालकम हेली ने १९२२ में गुरु का बाग़ के सत्याग्रहियों को आन्दोलन समाप्त करने की सलाह देते हुए चेतावनी दी थी कि, 'यदि तुम न मानोगे, तो अश्वारोही वीरपूर्वियों के समान तुम को भी साईस बना दिया जायेगा।' मा० तारासिंह के कट्टर अनुयायी सरदार स्वर्ण सिंह ने वही चेतावनी हिन्दी-भाषियों के प्रति १९६७ में दोहरायी थी। पंजाब में आज हिन्दू का जान-माल और सम्मान सुरक्षित नहीं है। पंजाब के भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री और विधानसभा के भूतपूर्व स्पीकर श्री प्रबोध चन्द्र ने केन्द्रीय नेताओं से अपील की है कि पंजाब से समय रहते हिन्दुओं को निकाल लिया जाये। अकाली दल की विजय का यह पहला फल निकला है, इस पर भी कांगड़ा ज़िले की हिन्दी-भाषी तहसील पठानकोट को पंजाब में सम्मिलित किया गया। पंजाब का विभाजन शास्त्र-शुद्ध रीति से किया जाना चाहिए था, सिखों को तुष्ट करने के विचार से नहीं। संविधान की भाषाओं में पंजाबी को स्थान देने की राजनीतिक भूल का परिणाम है। हिन्दी की शक्ति को घटाने और सिखों से राजनीतिक सौदा करने के लिए पंजाबी को भाषा सूची में स्थान दिया गया और मजहबी सिखों को हिन्दू हरिजनों के समान विशेष अधिकार दिये गये। भारत-विभाजन को मानने वालों के लिए ऐसा करना कोई अर्थ नहीं रखता था क्योंकि भारत एक देश है, एक राष्ट्र और इस की राष्ट्रभाषा हिन्दी है—यह, वह लोग नहीं मानते थे और न आज ही मानते हैं। सोचने-विचारने की उन की प्रणाली ही अराष्ट्रीय, ब्रिटिश और अभारतीय है। अतः कांग्रेस जहाँ डूब रही है, वहाँ अन्य राजनीतिक पक्ष भी शून्य में विलीन हो रहे हैं। उत्तर प्रदेश में १६ राजनीतिक पक्ष को मान्यता प्राप्त थी। इन में से इस का एक भी व्यक्ति नहीं चुना गया। यह क्या सूचित करता है?
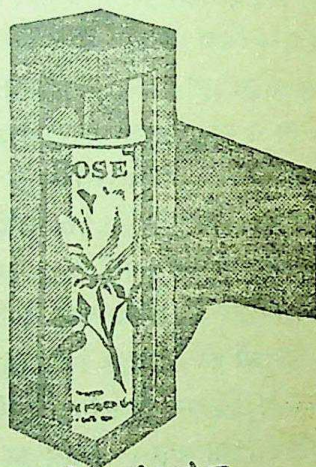
बिहार में जातिवाद की उग्रता बढ़ी है। शोषितदल, झारखण्ड पार्टी, हिन्दू आदिवासी, ईसाई आदिवासी भेद हो गये हैं। जब एक बार विभाजन की प्रवृत्ति घर कर लेती है तब उस की सीमा नहीं बाँधी जा सकती।

मुसलिम वोटरों ने कॅम्युनिस्टों का सर्वत्र समर्थन किया। कॅम्युनिस्ट पाकिस्तान समर्थक हैं और सदा रहे हैं। अधिकांश मुसलमान पाकिस्तानी मनोवृत्ति के माने जाते हैं। अत: कॅम्युनिस्ट उम्मीदवार के विजयी होने पर अनेकों ने उत्सव मनाया और गाया : "हँस-हँस के लिया पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान !"—तो क्या आश्चर्य ? इसलामी वोट पाने की लालसा से ही उर्दू को असन्तुलित प्रश्रय दिया जा रहा है। कोई यह कहने का साहस नहीं करता कि उर्दू-प्रेमी विदेशी लिपि का त्याग कर दें, नागरी लिपि स्वीकार करें। यह कैसे कहें जब नागालैंड ने अपनी राजभाषा अँगरेज़ी घोषित की है, और इस पर भी वह एक पृथक् राज्य बना हुआ है। राष्ट्रीयता और भारतीयता का सरल पथ छोड़ देने पर इस प्रकार की विसंगतियाँ सहना अनिवार्य हो जाता है। नागालैण्ड में भी चुनाव हुआ था। सरकारी पक्ष विजयी हुआ। परन्तु क्या वह भारतीयता की विजय थी या ईसाइयत की विजय थी ?

विधायकों के लिए क्या किसी प्रकार की शैक्षणिक योग्यता की सीमा बाँधना आवश्यक है ? चुनाव खर्चीला होता जाता है। बहुव्यय-साध्य है। क्या राज्यों की संख्या कम कर के चुनाव का व्यय नहीं घटाया जा सकता ? गृहमन्त्री श्री चह्वाण की नीति सफल रही। उन का यत्न था कि विधानसभाओं और लोकसभा का चुनाव एक साथ न हो। आंशिक दृष्टि से वह सफल हुए। १९७२ में लोकसभा का चुनाव होगा। उस समय पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में विधानसभा का चुनाव सम्भवतः न होगा। काँग्रेस इस परिवर्तित स्थिति में विजय पाने की आशा करती है। सुलतानपुर के उपचुनाव में केवल २० प्रतिशत मतदाताओं ने भाग लिया। काँग्रेस यहाँ हारी। लोगों के घर के द्वार पर पोलिंग मोटर गयी। किन्तु वोटर चुनाव से उदासीन और अन्यमनस्क प्रतीत हुए। काँग्रेस इस मनोवृत्ति का लाभ उठाना चाहती है। क्या उस की आशा पूरी होगी ? चुनावों से जनता ऊब गयी है। उस की मानसिक स्थिति है—'कोऊ नृप होइ हमैं का हानी। चेरी छोड़ ना होइब रानी।' क्या यह मनोवृत्ति लोकतन्त्र को दृढ़ता प्रदान करेगी ?

बंगाल की स्थिति चिन्ताजनक है। मई के मध्य में घेराव की पचास घटनाएँ हुईं और इस के बाद मई मास में ही १४ घटनाएँ हुईं। प्रश्न यह है क्या कॅम्युनिस्टों का संख्या-बल इतना बढ़ गया है, या उन्होंने अपना झूठा आतंक उत्पन्न कर लिया है, और उन के उत्पातों को समाज चुपचाप सह रहा है ? इस का उत्तर ज़िलेवार प्राप्त

वोटों को देख कर दिया जा सकता है। ज़िलेवार मतदान को देखना इस दृष्टि से अप्रासंगिक न होगा :

नाम ज़िला	कुल सीटें	कुल पड़े वोट	युनाइटेड फ्रंट को मिले वोट	काँग्रेस को मिले वोट
कलकत्ता	२३	१५१०४२६	५७६९८१	४८००२६
हबड़ा	१६	८७१४४७	४९९३३५	३५५२०९
पुरूलिया	११	४००९६५	१९५३१९	१३३८३६
वीरभूम	१२	४४७५४७	२३३१३३	१६३२६६
२४ परगना	५०	२८५४४१२	१४३९६६९	१०९६४२९
मिदनापुर	३५	१८८१८१८	९७३३८०	७५५३१२
मुर्शिदाबाद	१८	८४५४३२	३३७९९७	२७४५८१
नदिया	१४	६९४२७५	३३५५२०	२९५०९६
हुगली	१८	९३१३९३	३१०६८०	३९५१३३
बाँकुरा	१३	६०६०४१	३१०६८०	२२८३३६
बर्दवान	२५	११४५७८५	६१५०२३	४५८२२७
कूच बिहार	८	४०१६७१	१७६८२२	२०५६८०
जलपाईगुड़ी	११	४०४९१८	१६७०४०	२१५७६१
दार्ज़िलिंग	५	१९३००८	८२७८३	७१५३६
प० दीनाजपुर	११	४४५०९४	१९०६३०	१७३९२१
मालदा	१०	४२६५०८	१८५५५०	२१६३७२

मालदा और जलपाईगुड़ी इन दो ज़िलों को छोड़ कर कांग्रेस को किसी भी ज़िले में बहुमत नहीं मिला। पूर्वी युरॅप के समान कॅम्युनिस्ट पार्टी ने अन्य पक्षों के साथ मिल कर कांग्रेस को पराजित किया। पूर्वी युरॅप में कॅम्युनिस्ट पार्टी ने सत्ता हस्तगत करने के बाद अपने सहायकों को रूस की सहायता से सभाच्युत कर दिया। क्या भारत में भी इस की पुनरावृत्ति होगी ?

■ ■

स्याह परतें

स्वर्णकान्ता चोपड़ा

●

कमरे में आते ही मैं घर में फैले इस जाने-पहचाने सन्नाटे को भांप गयी थी। कमरा बड़ा अस्त-व्यस्त था। कमरे के दरवाज़े से दिखते आँगन में आज के धोये हुए कपड़ों के सूखने के ढंग से मैं समझ गयी कि आज शशि दी परेशान हैं और उन्होंने रोज़ की तरह घर को अपने हाथों से सँवारा नहीं है। अकसर ऐसा हुआ है। वह बीमार-सी बिस्तर पर पड़ी मिलीं, पर फिर बातों-बातों में उठ कर काम-धन्धा करने लगती हैं।

शशि दी बिस्तर पर औंधी पड़ी हुई थीं। उन्हें ऐसे देख कर मुझे महसूस होता है कि कोई प्रश्नचिह्न मुँह के बल चुपचाप लेटा है। मैं ने हाथ की सलाइयां एक ओर रख दीं। उन्हें पुकारा। वह उठ कर बैठ गयीं। अपने घुटने मोड़ कर बाँहों के घेरे में ले लिये। अपना चेहरा घुटनों पर रख लिया और पलँग के बेड-कवर पर थिरकती अजन्ता की युगल जोड़ी को एकटक देखती रहीं। उन्होंने अपने होठ कस कर बन्द किये हुए थे जिस से उन की छोटी-सी नाक फैल कर और छोटी दिख रही थी।

"शशि दी ! आज क्या हुआ ?"

उन्होंने सिर हिला कर संकेत किया—कुछ नहीं।

"कुछ नहीं, तो ऐसे क्यों पड़ी हुई हैं ? तबीयत तो ठीक है न ?"

उन्होंने भारी स्वर में कहा, "तबीयत को कभी कुछ होता है ?" फिर क्षण-भर चुप रह कर बोलीं—"रेखा ! रेखा ! मैं क्या
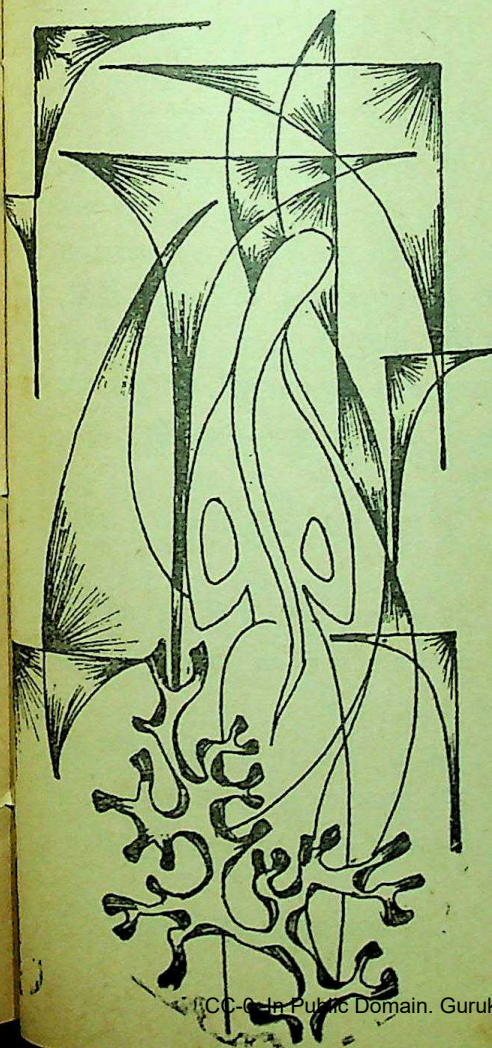
करूँ ?" उन की आवाज़ एकदम बदली हुई थी—जैसे भीतर कोई और है जो मुझ से बातें कर रहा है।

"शशि दी !"

"हूँ !" और मुझे लगा उन का 'हूँ' भी दूर किसी बड़े फैले शून्य से प्रतिध्वनित हो कर मुझ तक आया है। मैं मौन रह गयी तो उन्होंने अपनी प्रश्न-भरी आँखें मेरी ओर उठा दीं।

"ऐसे कब तक शशि दी ?"

उन की आँखों का प्रश्न सिमट गया था और उन में एक पनियाली चमक फैलने लगी थी।

"हाँ। मैं भी कई बार सोचती हूँ ऐसे कब तक ? ऐसे कब तक····जी चाहता है····" और बात वहीं छोड़ कर वह उठ गयीं।

बाहर आँगन में रखी बाल्टी से पानी ले कर मुँह धोने लगीं। अलगनी से तौलिया उतार ख़ूब रगड़ कर चेहरा पोंछा। उन का गोरा रंग धूप में चमकने लगा था।

उन्होंने तार पर फैले अध-सूखे कपड़ों को समेट लिया और झटक कर फिर उन्हें सुखाने लगीं। सूखते कपड़ों में सलवटें अब कम दीख रही थीं।

"मुसीबत तो इसी की है।" उन के हाथ में बेटी का फ़्रॉक था।

मैं समझ गयी थी, वह क्या कह रही हैं। लेकिन मैं उन के चेहरे पर फैली भारी उभसाई उकताहट दूर कर करना चाहती थी।

"इस में क्या मुसीबत है ? लाइए मैं सुखा देती हूँ। खाना खाया या नहीं ?"

"खाना भी खा लूँगी", वह कपड़े सुखाती रहीं, "यही तो जड़ है, शायद यह भी नहीं, पेट तो मैं अपना कैसे भी भर सकती हूँ।"

मैं ने फिर उन की बातों को हलका करना चाहा—"शशि दी !····आप इतना खाती हैं शशि दी कि अपना पेट भी····"

मैं जानती हूँ शशि दी अब चुप नहीं होंगी। घण्टों मन का गुबार निकालती रहेंगी। उन्होंने नौकर को आवाज़ दी, फिर भुन-भुनायीं—"कम्बख़्त पीछे उन सिनहा साहब की नौकरानी से प्रेमालाप कर रहा होगा···इस घर के तो नौकर भी····" और फिर उन्होंने पानी की भरी बाल्टी उठा ली।

उन के आँगन का एक हिस्सा कच्चा था। और उस में एक मिर्च का पौधा लगा हुआ था। ठीक उस के पास एक लम्बा-सा फैला हुआ गुलाब था। मिर्चें जितनी तीखी, हरी और मोटी थीं गुलाब भी उतना ही ख़ूबसूरत प्यारा और बड़ा था। मैं ने एक बार शशि दी से कहा था—"यह मिर्च और गुलाब ?"

"हाँ रहने दे ! दोनों को साथ। होता यही है।"

उन की बात सुन कर मैं बड़ी ज़ोर से हँसी थी और शशि दी का चेहरा एकबारगी स्याह हो गया था।

"हँस ले। कल को ब्याह हो जायेगा तो मिर्च और गुलाब का भेद समझ जायेगी।"

मैं उन की बात सुन कर सोचने लगी

थी—ब्याह और मिर्च गुलाब में क्या तुक है भला ? वैसे शशि दी का मैं आदर करती हूँ। उन से ज़्यादा बहस भी नहीं करती, कुछ खास पूछती भी नहीं, कहती भी नहीं। पर तब भी मैं ने कह ही दिया था—"शशि दी ! आप मिर्च का अचार तो बड़ा अच्छा बनाती हैं। पर इस खूबसूरत गुलाब को कभी भी आप फूलदानों में सजाती नहीं। हमेशा आप के फूलदान खाली रहते हैं—सूने।"

उस दिन भी शशि दी के चेहरे पर ऐसी ही स्याही फैली हुई थी जैसी आज। मेरी बात सुन कर उन के चेहरे पर एक घनी परत और छा गयी थी। उन की आँखें भी सूनी हो गयी थीं और उन के स्वर में एक ऐसी तटस्थता आ गयी थी जो मुझे ग्रसने लगी थी। उन्होंने बहुत धीरे-धीरे कहा था।

"तब मिर्च का पौधा छोटा-सा था···· एक ही मिट्टी और गन्ध ले कर दोनों पल रहे थे। रोज़ नये ताज़े खिले उजले फूल सजाती थी, उन सूने फूलदानों में यही फूल रहा करते थे। फिर वर्मा साहब की बेटी अपने बाग़ के बड़े-बड़े फूल—क्रिसन्थिमम फूल भेजने लगीं। वर्मा साहब का ड्राइवर आ कर कहता, 'बिटिया ने साहब के लिए फूल भेजे हैं।' मुझे लगता—ड्राइवर कह रहा है बिटिया ने मेम साहब के लिए अंगार भेजे हैं। ये गुलाब निकाल कर डाइनिंग टेबल पर रख देते और फूलदानों में वर्मा साहब की बेटी के क्रिसन्थिमम चमकने लगते। बस···तब से····फूलों और फूलदानों के प्रति मेरे मन का उत्साह मिटता चला गया।"

"वर्मा साहब ?"

"यहाँ सब-जज थे। उन की बेटो··· उन का ट्रान्सफ़र हो गया है।"

"तो फिर अब ?"

"अब क्या ? अब फूल कहाँ खिलते हैं ?"

शशि दी ने बाल्टी का बचा पानी पौधों में डाल दिया। शशि दी को जब कभी पौधों में पानी डालते देखती हूँ मुझे हमेशा उस दिन की बात याद आ जाती है। अब फूल कहाँ खिलते हैं। ताजे खिले गुलाब और सूखे मुरझाये गुलाब की एक अजीब-सी सुगन्ध आँगन के उस कच्चे हिस्से में हमेशा फैली रहती है। ताज़ा खिले फूल बहुत बड़े थे, टहनियाँ उन का भार नहीं संभाल पा रही थीं। फूलों के साथ वे भी झुक आयी थीं। पौधों में मुरझाये फूलों को अपनी एक निराली उदासी थी। सफ़ेद मुरझाये गुलाब देख मैं ने शशि दी की आँखों में झाँका। फिर अपनी आँखें हटा लीं। हरी मिर्चें खूब सीधी चुप-चाप खड़ी थीं—तन कर। मुझे अक़सर कभी फूलों में, कभी हरी मिर्चों में शशि दी दिख जाती हैं।

शशि दी ने बाल्टी के बचे पानी से हाथ धोये और पल्लू से पोंछ लिये। रसोई का कुण्डा खोला। स्टील की थाली में दो-तीन रोटियाँ ले आयीं। डाइनिंग रूम में रखी फ्रिज़ में से सब्ज़ी का डोंगा निकाला। चम्मच के लिए इधर-उधर देखा फिर रोटी के टुकड़े से ही सब्ज़ी निकाल कर थाली में रोटियों के पास रख ली। डोंगा वापस रख फ्रिज़ बन्द

कर दिया। "आ खा लें!"

"यह क्या?' सब्ज़ी तो गरम कर लें। लाइए मैं कर दूँ।"

"तू खायेगी? तो जा गरम कर ला। फ़्रिज़ में दूसरी सब्ज़ी भी है—रसदार मटर-पनीर। और रसोई में—जाली में—कटोरदान है, उस में और चपातियाँ भी हैं। जा ले आ।"

"मैं खा चुकी हूँ। आप के लिए ही कह रही हूँ।"

"मेरे लिए? ठीक है ऐसे ही। यहाँ ठंडा-गरम सब बराबर है। पेट ही तो भरना है। जीभ मरी का स्वाद क्या?" और उन्होंने बड़ा-सा ग्रास तोड़ कर मुँह में भर लिया।

शशि दी जब ऐसी बातें करती हैं तो मेरे जी में आता है कि उन का गोरा-गोरा चेहरा हाथों में ले कर खूब प्यार करूँ। शशि दी अकसर कहती हैं कि उन्हें कभी किसी ने प्यार नहीं किया। बिना किसी कविता-कहानी के विवाह योग्य उम्र हो गयी। पिता पैसे वाले थे। लेकिन सात लड़कियाँ थीं और ले-दे कर सिर्फ़ एक लड़का—वह भी ऐसा कि शराब और जुए के चक्कर में दो-दो दिन घर नहीं आता। लड़का सब से बड़ा था और उस के पाँच बच्चे थे, पर सब की देखरेख वे स्वयं करते थे। इस लिए वे अपना हिसाब ठीक रखते थे। शशि दी का नम्बर चौथा है। विवाह में रूपसी कन्या और दहेज में बीस हज़ार नक़द दे कर ऐसे निश्चिन्त हुए कि कभी भूल कर भी बेटी को विदा कराने नहीं आये। घर में छोटी बहनों की शादियाँ हुईं, भतीजों के जनेऊ और मुण्डन, पिछले साल भतीजी के विवाह की खबर भी मिली। पर शशि दी कभी मायके नहीं गयीं। कहती हैं—"वहाँ मेरा कोई नहीं—किस के पास जाऊँ।"

"कैसे कहती हैं शशि दी। ऐसे अशुभ नहीं बोलते!"

"बोलने से ही शुभ-अशुभ हो जाता है। देख री रेखा। मेरे मायके वालों की चर्चा मत किया कर। मैं ठीक कहती हूँ—वहाँ सब हैं, पर मेरा कोई नहीं।"

शशि दी ने जूठी थाली उठायी तो लगा उन्होंने खाना खाया नहीं, पेट में रख लिया है। हाथ धो कर लौटीं तो स्वस्थ दीख रही थीं। शशि दी इधर कुछ ज़्यादा ही फैलती जा रही हैं। बच्चे उन्हें ज़्यादा नहीं हुए हैं—ज़्यादा क्या ले-दे कर एक ही तो बेटी है—पर बुरी तरह फैल रही हैं। मैं ने सुझाया—"सुबह टहलने जाया करें—कितनी चौड़ी होती जा रही हैं," तो वही उत्तर मिला जिस की अपेक्षा मुझे पहले ही थी—"होने दे! यहाँ किसे रिझाना है। मोटी हो रही हूँ न? कहते हैं जलने-कुढ़ने वाला आदमी मोटा नहीं होता। यहाँ तो हर वक़्त गीली लकड़ी-सी धुँआती रहती हूँ फिर भी...." और अपना वाक्य वहीं छोड़ मेरा हाथ पकड़ कर बोलीं—"चल अन्दर बैठें।" ताक पर रखे सरौते-सुपारी को हाथ में ले वे पलँग पर बैठ गयीं। मैं ने हाथ में सलाइयाँ ले लीं।

"तेरे लिए चाय बना लाऊँ ?"

"नहीं ?"

"अच्छा। अभी वह मरा पिछवाड़े से आ जाता है तो बना लायेगा। अभी तो बैठेगी न। और तू इस वक़्त कैसे चली आयी ? छुट्टी तो आज है नहीं।"

"छुट्टी नहीं है ! क्लास खाली था। एक लेक्चरर नहीं आयी।"

"क्यों ?" शशि दी कभी-कभी बेमतलब बहुत-सी बातें पूछती रहती हैं।

"मिसेज मेहता का क्लास था। तलाक-वलाक का कोई मामला है—कचहरियों में भटक रही हैं।"

"हैं !" शशि दी की आँखें फैल गयीं। सुपारी को सरौते में ठीक से फँसा कर उन्होंने जोर लगाया और सुपारी कट कर छिटक गयी। "अच्छा री रेखा ! यह वह मेहता वाला केस तो नहीं ! परसों इन के पास आये थे ! मैं उधर ही कुछ कर रही थी। इन से बातें करते सुना था। बीवी के हाथों तबाह है ? ये कह रहे थे मैं ऐसे केस नहीं लेता।"

"वही होंगे !" मैं ने कहा, "शशि दी ! शादी-विवाह झंझट ही है।"

"सिर्फ़ झंझट नहीं—भारी मुसीबत है। न जिये न टूटे। मैं भी कई बार सोचती हूँ, पर खैर मैं क्या सोच सकती हूँ ! पढ़ी-लिखी भी नहीं—रो-धो कर दस पास कर ली।" वह सहज हो गयी थीं, "अच्छा रेखा, तू क्या सोचती है !"

मैं कुछ जवाब नहीं देती और शशि दी भी प्रश्न पूछती नहीं, फेंकती हैं। उत्तर की प्रतीक्षा भी नहीं करतीं, अपनी बात जारी रखती हैं—यह उन की आदत है। बातचीत में बहुत से प्रश्न : हैं ?, नहीं ?, बता ?—करती रहती हैं पर ठहरतीं नहीं।

"दस साल हो गये शादी को—हैं ? रेखा, यह भी कोई ज़िन्दगी है। बता ? घर के धन्धे पीटो। कोई आ जाये तो मुसकरा कर स्वागत करो। मेहमान विदा हो जाये तो मुँह भारी कर लो और घुस रहो अपने-अपने कमरों में। हैं ? रेखा, ठीक कर रही है मिसेज़ मेहता ! मैं पूछती हूँ तुझ से, बता तो—इन मर्दों का दिमाग़ ठिकाने और कौन लगायेगी ? अच्छा कर रही है मिसेज़ मेहता !…मैं तो—" और शशि दी एकाएक चुप हो गयीं। उन का चेहरा तमतमा आया था।

"मैं तो—क्या ?"

"नहीं। कह रही थी मैं तो ज़्यादा-से-ज़्यादा यही सोच सकती हूँ कि फेरों वाली साड़ी से ही गले में फन्दा डाल फाँसी लगा लूँ। पर नीरू…और एक मेरी सास हैं…मनौतियाँ मनाती हैं, साधु-सन्तों की दी हुई भस्मों से तावीज बनवा कर भेजती हैं कि कुल का नाम चलाने को एक बेटा तो हो जाये।" और शशि दी के चेहरे की तमतमाहट पर फिर वही स्याह परत छा गयी थी।

"शशि दी ! आप व्यर्थ…"

"व्यर्थ नहीं री। रेखा तू देखना ! यही होगा ! नीरु का ही ख़्याल आ जाता है, जिस दिन वह मोह नहीं रहेगा, मैं सच्ची…।"

"ऐसा कभी नहीं होगा । शशि दी, सब ठीक हो जायेगा ।"

"कब सब ठीक हो जायेगा ? जब मैं नहीं रहूँगी तब न ?"

शशि दी से बातें सुनने का मेरा अभ्यास है । उन के रटे-रटाये वाक्यों के पीछे-पीछे रेंगते मेरे वाक्य भी कभी नहीं बदलते । मैं मैट्रिक में पढ़ती थी तब शशि दी के पड़ोस में आयी थी । अब इतिहास में एम० ए० कर रही हूँ । शाम को लॉ-क्लासेज़ होती हैं । ज्वाएन कर ली है । शशि दी के पति अशोक भी वहाँ क्लास लेते हैं । शशि दी बताया करती हैं—बड़ी रंगीन तबीयत है इन की । हमारी क्लास में एक सीमा अग्रवाल हैं । तीखी और आकर्षक । बहुत-कुछ वैसी जैसी हिन्दी फ़िल्मों में, क्लबों या होटलों में नाचने वाली लड़कियाँ दिखाई जाती हैं । अशोक जी उधर देखते हैं पर आँखें ठहराते नहीं । सीमा अग्रवाल भी तेज़ हैं । जिस दिन उन का क्लास होता है खूब शोख रंग की साड़ी पहन माथे पर बड़ा-सा मैचिंग टीका लगा आती हैं । अशोक जी हमें क्रिमीनल लॉ पढ़ाते हैं । पढ़ाते समय हकलाते नहीं—बड़ी सधी आवाज़ है और गम्भीर ।

अशोक जी नहीं जानते शशि दी मेरे कितनी नज़दीक हैं । यहाँ मुझे देख वह चौंके ज़रूर थे फिर तीन-चार दिनों के बाद बरामदे में अकेले देख कहा था, "मैं ने आप को कहीं देखा है । कहाँ, मैं ठीक याद नहीं कर पा रहा ।"

"आप की गली में रहती हूँ ।"

"ओ ! तब कहीं आते-जाते देखा होगा । यही मैं सोच रहा था—मैं ने आप को कहीं देखा ज़रूर है ।"

यहाँ शाम को क्लास ज्वाएन करने से पहले भी शशि दी के घर पर ही दो-चार बार सामना हुआ है । पर चूँकि अशोक जी शशि दी में दिलचस्पी नहीं रखते, उन के साथ बैठी लड़की या महिला से भी निस्पृह हो जाते हैं ।

मैं ने शशि दी को बताया था । उन्होंने कहा था, "तू नहीं जानती ये ऐसी ही ऐक्टिंग करते हैं । भला पहचानते नहीं । अब तू गली की है, पड़ोसन है—बदनामी का डर है इस लिए···नहीं तो बाहर-बाहर जो ये करते हैं मैं सब जानती हूँ····।" मैं शशि दी की बातों का बुरा नहीं मानती । मैं उन की आदतें पहचान गयी थी ।

शशि दी ने सरौता एक ओर रख कर फिर कहा, "तू नहीं जानती, पर मैं जानती हूँ—तभी सब-कुछ ठीक होगा जब मैं नहीं रहूँगी ।"

मैं ने सलाई के गिरे हुए फन्दे को उठाते हुए कहा, "शशि दी ! ऐसे क्यों कहती हैं, भगवान् न करें आप को कुछ हो ! भविष्य में आस्था रखें, और—और फिर जैसे आप सोचती हैं वैसे अशोक जी भी सोचते होंगे···· आप असन्तुष्ट हैं तो वह भी तो····"

शशि दी को यह बिलकुल अच्छा नहीं लगता जब मैं उन के पति का पक्ष लेती हूँ । उन के सम्बन्ध में कोई अच्छी बात मानो वह सुनना ही नहीं चाहतीं । वे और

ज्यादा तीखी हो जाती है।"

"भविष्य में आस्था क्या री ? और उन को क्या कमी है। बता तू, फ़ुरसत है उन्हें कि यह सब सोचें। कचहरी से बचा समय कॉलेज में और क्लब में। क्लब में तो मरी शराब है, लड़कियां भी हैं।....कभी तो रात दस बजे से पहले घर नहीं आते। हैं ? हाँ—कोई मुकदमा-वुकदमा ऐसा आ जाये तो जल्दी लौट आते हैं। रात-रात भर पढ़ते रहते हैं अपने कमरे में। मैं भी दो-तीन बार कॉफ़ी बना कर दे आती हूँ। यह कोई घर थोड़े ही है, होटल है। होटल भी नहीं, वहाँ लोग खुश हो कर बैरों को टिप तो देते हैं—यहाँ...."

और शशि दी चुप हो गयीं। बालों में तेल लगा कर कंघी करने लगीं। शशि दी के बाल काले लम्बे और चमकीले हैं। शशि दी अच्छी नहीं, सुन्दर हैं। अशोक जी का मन अटक क्यों नहीं पाता ? शशि दी के चेहरे पर वह चिढ़ मुझे साफ़ दीख रही थी जो कभी-कभी मेरे द्वारा अशोक जी का पक्ष लिये जाने पर आ जाती थी। अभी कुछ दिन हुए, इसी बात को ले कर व्यर्थ एक हंगामा हो गया था। इस लिए मैं ने बात बदलने के ख्याल से कहा, "शशि दी, आप बालों में इतना तेल क्यों लगाती हैं।"

"हूँ ! कौन देखता है, कम है या ज्यादा ? यहाँ तो हफ़्तों कंघी न करो तब भी इन्हें पता नहीं चलता।"

बात थी कि बार-बार बदलने पर भी घूम फिर कर वहीं ठहर जाती थी।

"तो इस का मतलब है कि आप सब-कुछ अशोक जी के लिए ही करती हैं ?"

"उन के लिए ?" वे कंघी कर चुकी थीं। चोटी को सीधी करती हुई बोलीं—"मेरी बला से न देखें। रेखा, हमारे बीच कुछ भी तो नहीं जिसे देख-दिखा कर ज़िन्दगी में हलचल पैदा कर लें।"

मैं सोचती हूँ हलचल अब क्या होगी। शशि दी ने एक दिन आवेश में मुझे कह सुनाया था कि कैसे उस हलचल पर पहले वितृष्णा की और फिर मौन की बर्फ़ जम गयी थी। शशि दी हलचल की बात करती हैं तो मेरे कानों में उन का उस दिन का वह स्वर गूँजने लगता है—"रेखा, ब्याह हुआ था तो साल-भर में यह मरी लड़की पैदा हो गयी। फिर जाने कैसे ये दूर हटते गये। हैं ? रात देर से घर आते और आ कर....। एक बार मैं ने कहा : रात देर से घर आते हो और आ कर फिर मुझे तंग करते हो; यह सब भी वहीं क्यों नहीं कर आते जहाँ से लौटने में इतनी देर हो जाती है। उत्तेजना से कांपता इन का शरीर एकबारगी जैसे पत्थर का हो गया था। इन की आँखों में एक हिंस्र और क्रूर लपकती ज्वाला थी पर ये बिलकुल चुप रहे थे। उसी समय जान गयी थी कि ठीक नहीं हुआ। मैं काँपती रही थी और इन के पास सिमट आयी थी, पर इन्होंने मुझे अलग कर दिया और....तब...उस के बाद ये कभी मेरे पास नहीं आये !"

शशि दी ने कंघी में उलझे बाल निकाले और खिड़की से बाहर फेंक, बोलीं—"मैं ने

तो कई बार कहा, मुझे छोड़ दीजिए । दोनों के बीच जब कुछ नहीं है तो साथ रह कर क्या करना है ? जवाब ही नहीं देते । अच्छा रेखा, तू बता—ये सुविधा और प्रतिष्ठा ही देखते हैं न ? मेरा दम घोंट कर जीना चाहते हैं । कर लें, जो जी में आये करें—जितना दुःख देना चाहें दे लें, आखिर तो यहीं लौटते हैं ।"

उन की बातों में उलझ कर मेरा डिज़ाइन ग़लत हो गया था । मैंने सलाइयों से फन्दे निकाल कर दो लाइनें उधेड़ दीं । सलाई पर फन्दे उठाते हुए सोच रही थी—कैसी है यह शशि दी ! अशोक क्या सचमुच लौटते हैं और यहीं लौटते हैं ? यह तो उन का अपना घर है ! घर !! लेकिन मुझे हमेशा लगता है दीवारों को किन्हीं ढीले पेंचों से जोड़-जाड़ कर कमरे बना दिये गये हैं और इन में ठीक यन्त्रों की तरह ये लोग रह रहे हैं—यह अशोक है, यह नीरू है, यह शशि दी हैं । ऐसी यान्त्रिक-खिन्नता है जिसे देख कर लगता है कि दीवारों में लगे ये पेंच दिन-दिन ढीले होते जा रहे हैं ।

शशि दी ने फिर कहा—"हाँ री तू जवाब नहीं दे रही । लगता है उस दिन की बात का ग़ुस्सा तेरा उतरा नहीं ।"

मैं जान गयी थी—शशि दी का इशारा किस ओर था । दरअसल पन्द्रह-बीस दिन पहले साधु-सन्तों की चर्चा करती हुई वह कह रही थीं कि वह स्वयं एक बहुत बड़ी संन्यासिनी हैं । साधु तो जंगल में जा कर धूनी रमाते हैं । संन्यासी बनते हैं, यहाँ तो घर में ही संन्यास है ।"

मैं ने अपनी आदत से मजबूर हो कर कह दिया था, "यह संन्यास वह अकेली ही तो नहीं झेल रहीं, अशोक जी भी तो झेल रहे हैं ।" मेरी बात सुन कर उन की आवाज़ में वही घृणा और प्रतिहिंसा गूँजने लगी थी—"हाँ री, क्या ये सचमुच उस के बिना रह लेते होंगे ? कभी सम्भव है ? उधर बाहर-बाहर क्या-क्या करते हैं, कौन ठिकाना ?" उस दिन मेरा भी दिमाग़ ख़राब था मैं भी कह बैठी—"शशि दी, यह सब बाहर उतना सहज नहीं जितना आप सोचती हैं ।" वह तुनक कर बोली थीं—"हाँ रहने दे ! कठिनाई क्या है ? हर चौराहे क्या हर पानवाली दुकान पर भी तो मरे वह सब पैकेट रखे रहते हैं । औरत को डर क्या ? सिर्फ़ गर्भ रह जाने का ही न ! और पुरुष तो....।" सुन कर मुझे शशि दी पर जाने क्यों बड़ा ग़ुस्सा आया था । "शशि दी, सिर्फ़ वही डर होता है क्या ? आप क्यों गृहस्थ में संन्यास पाल रही हैं ? न सही अशोक जी कोई और सही । अशोक जी सुबह निकलते हैं तो रात को लौटते हैं—नीरू दिन-भर स्कूल रहती है—आप को तो और भी सुविधाएँ हैं । बाहर भटकने की भी कोई ज़रूरत नहीं...?" फिर मैंने ग़ौर किया था कि मेरी आवाज़ काँप रही थी और शशि दी के चेहरे की तमतमाहट पर छायी स्याह परत धीरे-धीरे ज़र्द होती जा रही थी । वह चीख रही थीं—"हूँ ! मेरा अपमान कर रही है !" वह हाँफने लगी थीं—"तू समझती है मैं मर रही

हूँ—मैं भी, मैं भी"" शशि दी आवेश में हिस्टीरिया के रोगी की तरह 'मैं भी–मैं भी' करती रहीं। मैं उठ कर चली आयी थी। मैं ने फ़ैसला किया था कि कभी उन के घर नहीं जाऊँगी। दोनों जायें जहन्नुम में, मुझे क्या लेना है। पर दूसरे दिन ही शशि दी मेरे घर पर आयीं। "तू गुस्सा हो गयी। मेरी बातों का भी बुरा माना जा सकता है। हैं? तुझ से ही तो मैं मन की सब बात कह सकती हूँ और तू····" उन का चेहरा बड़ा ही दयनीय हो गया था।

मैं ने सलाई पर फन्दे चढ़ाते हुए कहा, "नहीं! शशि दी! गुस्सा-वुस्सा नहीं हूँ। देखिए न —डिज़ाइन ग़लत हो गया है।"

शशि दी ने ड्रेसिंग टेबल के कपड़े को झाड़ा और फिर से उस पर प्रसाधन का सामान सजाने लगीं। तभी बाहर की घण्टी बजी। वह उठ कर उधर चली गयीं। उन के ड्रेसिंग टेबल पर जवाकुसुम के तेल की शीशी है, पॉण्डस् क्रीम है। लक्मे पाउडर है। भीमसेनी काजल की डिबिया है और उस के पास प्लास्टिक की एक सफ़ेद डिब्बी है। एक पुराने हेयर-ब्रश में दो कंघियाँ फँसी हुई हैं—दोनों काली, एक बड़ी और एक छोटी। शशि दी एक मिनिट में ही लौट आयीं। "ड्राइवर गाड़ी ले कर आया है—रात को खाने पर इन के मित्र आ रहे हैं।" उन्होंने क्रीम मुँह पर मली और फिर पफ़ से पाउडर लगाने लगीं। आँखों में काजल की बारीक़ लकीरें खींची। प्लास्टिक की डिब्बी खोली—खाली थी। झुक कर ड्रेसिंग टेबल के दराज में से लाल डिब्बी निकाली। उस का सिन्दूर प्लास्टिक की डिब्बी में पलट दिया। "ऐसा क्यों करती हैं, वह डिब्बी भी तो अच्छी है।" "हाँ, अच्छी है। अखण्ड-सुहागिन-सिन्दूर है। देख—ड्रेसिंग टेबल पर रखे ये शब्द मुझे चिढ़ाते हैं।" उन्होंने प्लास्टिक की डिब्बी से सिन्दूर ले माँग भर ली। अखण्ड सुहागिन की लेबल लगी खाली डिब्बी खिड़की से बाहर फेंक दी।

आलमारी खोल आसमानी रंग की साड़ी निकाली और पहनने लगीं। "ज़रा बाज़ार हो आऊँ। सब्ज़ी-वब्ज़ी ले आऊँ।"

मैं चुप शशि दी को देखती रही। "तू भी कॉलेज से लौट कर खाना यहीं खा लेना।" शशि दी खाना अच्छा बनाती हैं लेकिन अभी की खट्टी-कसैली बातों से मन बड़ा खिन्न हो गया था। "नहीं, आज नहीं शशि दी—फिर कभी सही। आज आप का मूड ठीक नहीं।"

"मरे मूड! मूड क्या होता है री। हैं? वो सब बड़े आदमियों के चोंचले हैं। ठीक है सब। तू मेरी बातों से दिमाग़ मत खराब किया कर। सब ठीक है। तू आ जाना। अच्छा।"—कहती-कहती वह उधर पिछवाड़े की तरफ़ जा कर नौकर को पुकारने लगीं।

शशि दी के चेहरे पर थोड़ी देर पहले के विषाद की कोई रेखा नहीं थी। मुझे आश्चर्य हो रहा था। उन पर गुस्सा भी आ रहा था।

भण्डार का ताला बन्द करते हुए उन्होंने फिर कहा, "तू आयेगी न तब?"

"अच्छा देखूँगी।"

"देखूँगी—देखूँगी नहीं। तू आ जाना बस !"

मुझे पता है—अशोक जी मित्रों के साथ ठहाके लगायेंगे तो इधर रसोईघर में शशि दी कड़ाही में से पूरियाँ निकालती हुई कहेंगी "सब के साथ ठीक हैं। मैं ही क्या काटती हूँ ?" और हर ठहाके के साथ उन की आवाज़ ऊँची उठती जायेगी और इधर शशि दी के चेहरे की तमतमाहट पर फैली स्याह परतें घनी होती जायेंगी। पिछली बार भी ऐसा ही हुआ था, उस से पिछली बार भी। मैं जानती हूँ—हर बार ऐसा ही होगा, इस लिए मैं सचमुच आना नहीं चाहती थी।

हम दोनों साथ ही बाहर निकलीं। ड्राइवर ने उतर कर दरवाज़ा खोल दिया। वह गाड़ी में बैठ गयीं। मैं दोनों घरों के बीच बनी मेंहदी की हेज को हटा कर अपने घर जाने के लिए दाहिने मुड़ गयी। शशि दी की गोरी गुलाबी हथेली पिछले शीशे से अभिवादन में झलकी। उन के चेहरे पर फैली मुसकान से बचने के लिए मैं ने जल्दी से पीठ फेर ली। ■ ■

[कला और नया चाँद : पृष्ठ ७ का शेषांश]

शिल्पवैभव में विज्ञान का ऐसा उपयोग कला और विज्ञान में सामंजस्य की सम्भावना का संकेत है। रूप की प्रयोगशीलता कला के हित में है, और उसे नयी गति देती है। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के अन्त में चित्रकला में जो क्रान्ति हुई और जिस के फलस्वरूप 'इम्प्रेशनिज़्म' का उदय हुआ, वह फ़ोटोग्राफ़ी के अन्वेषण के कारण ही हुई। फ़ोटोग्राफ़ी ने यथार्थ का हूबहू चित्रण कर कलाकार को मजबूर किया कि वह अपनी कल्पना के लिए यथातथ्य रूपों का वाहन छोड़ कर प्रतीकों को खोजे या रंगों और आकारों के बिखराव एवं नूतन समीकरण का प्रयोग करे। पिछले सत्तर बरसों से यही होता रहा है और चित्रकला में यथार्थ के चित्रण की ज़रूरत ही महसूस नहीं होती।

लेकिन, जैसा मैं ने पहले कहा है, शिल्प-वैभव कला का एक तिहाई अंश है, ऐसा अंश, जिस में बाह्य जीवन और सामाजिक वातावरण का आग्रह प्रबल है। बाक़ी दो अंश—कल्पना की उड़ान और अनुभूति की सजगता, व्यक्ति-केन्द्रित है। कलाकार का व्यक्तित्व बहुत-कुछ मुक्ति का पंछी है। वह अहं की चिरजागृत ज्योति है और प्रायः बाहरी प्रभावों को शलभों की भाँति अपने से छूने नहीं देता। इसी लिए कलाकार की पीड़ा, उस का स्पन्दन, उस का उल्लास, शाश्वत क्षितिज में बसेरे लेते हैं। फिर भी यह मानना होगा कि आज दिन कलाकार के व्यक्तित्व पर विज्ञान की चार वर्ग की तकनीकें कमबेशी प्रभाव डाल रही हैं। ये हैं : बहुजनसम्प्रेषण के साधन 'मास मीडिया'—यानी फ़िल्म, रेडियो, टेलिविज़न इत्यादि; दूसरे, नगरों और ग्रामों की योजनाएँ—टाउन

प्लैनिंग; तीसरे, तेज़ यातायात के साधन—हवाई जहाज़, रॉकेट इत्यादि; और चौथे, बड़ी मात्रा में औद्योगिक उत्पादन—'मास प्रोडक्शन ऑव इंडस्ट्री'।

इन चारों वर्गों की तकनीकों का कलाकार की कल्पना और अनुभूतियों पर व्यापक प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। अनेक कलाकार अपने को इस तीव्र प्रवाह में पड़े बिना ही, विश्रृंखल होता हुआ देखते हैं। कुण्ठा और विध्वंस का सीधा अनुभव न होते हुए भी भारतीय समाज का कलाकार कल्पित पीड़ा और दंशन में एक प्रकार के उल्लास और आनन्द की प्रतीति करता है। अनेक युवक कलाकारों पर इस तरह की उधार ली हुई पीड़ा आजकल आक्रान्त है और उन की अभिव्यक्ति को थोड़ा-बहुत गुमराह तो कर ही रही है।

गुमराह होना किसी भी कल्पनाशील व्यक्ति का जन्मजात अधिकार है। इस लिए मुझे आधुनिक कला में कुण्ठा के विस्तार, बिखराव की उत्तेजना और अनियन्त्रण की रंगीनियों से कोई दुराव नहीं है। लेकिन मैं चिन्तित हूँ विज्ञान-प्रसूत कला के उन्नायकों में कठमुल्लापन—फैनेटिसिज़्म के आसार देख कर। यह कठमुल्लापन विशेषतः हर प्रकार की परम्परा, ख़ास तौर से भारतीय परम्परा—पर प्रहार करता है। किसी भी प्रकार की परम्परा का नाम नयी पीढ़ी के कुछ कलाकारों को उत्तेजित कर देता है।

परम्परा की सत्ता के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया हो इस में कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु अनेक परम्पराएँ सत्ता-घोषित नहीं, लोक-पोषित होती हैं। इस लिए नयी पीढ़ी के कलाकारों के आक्रोश में एक ख़तरा है,—जनसाधारण से कला का विछोह। कुछ दिन हुए समाचारपत्रों में पढ़ा कि कतिपय नयी पीढ़ी के कलाकार जनसाधारण की कला के प्रति उदासीनता से इतने क्रुद्ध हैं कि वे ऐसी जनता से अपना नाता तोड़ने को भी प्रस्तुत हैं, उस के विरुद्ध आन्दोलन करने की योजना तैयार कर रहे हैं।

वस्तुतः विज्ञान और कला के बीच सामंजस्य में सब से बड़ी बाधा है विज्ञान-द्वारा मनस्वीवर्ग—इंटेलिजेंट्शिया—और जनसाधारण के बीच खाई को चौड़ी कर देना। प्रत्येक युग में कला मनस्वी और जनसाधारण को एक-दूसरे के निकट लाती रही है। विज्ञान पर्यवेक्षण के क्षितिज को विस्तृत करता और अनुभूति की तरंगों में विविधता लाता है। किन्तु इस के फलस्वरूप लोककला, लोकाभिव्यंजना और लोकानुभूतियों के लिए यदि हम अपरिचित बन जायें तो जीवन में सामंजस्य असम्भाव्य हो जायेगा। सामंजस्य की खोज एक यात्रा है। यह यात्रा एक दिशा में सब से लम्बी, सब से कठिन है, वह जो अपने अन्तस् की ओर मुड़ती है। यदि कलाकार का अन्तस् लोकमानस से बिछुड़ गया तो जीवन-दर्शन की खोज का ही शायद अन्त हो जाये।

■ ■

बूढ़ा शहर और ऊबा हुआ मसीहा

सूर्यभानु गुप्त

मैं यह शहर छोड़ दूँगा !
रावण के सिर्फ़ दस चेहरे थे
इस शहर के तीन सौ पैंसठ हैं ।
सपने देखने वाली आँखें
निकाल कर,
सूरज पर चढ़ा दी जाती हैं यहाँ ।
नीम रोशन होटलों में
तफ़रीहगाहों में–रोज़ शाम
खजुराहो और अजन्ता और कोणार्क के पत्थर
जिन्दा होते हैं ।
भुनायी जाती हैं देहें चेकों की तरह ।
आत्मा की नहीं
सिर्फ़ गोश्त की ज़बान समझता है यह शहर,
मैं यह शहर छोड़ दूँगा !

यहाँ के लोग नेकी कर दरिया में नहीं
बैंकों में डालते हैं ।
सुरुचि के लिए फूल नहीं
नागफनी या कैक्टस उगाते हैं ।
कल्चर के नाम पर कुत्ते पालते हैं ।
क़लमजीवियों और मनोरंजन-कर से मुक्त
चलचित्रों को समान दिलचस्पी से देखते हैं ।
और बदलते रहते हैं
जिन्दा रहने की
अग्निपरीक्षाओं की शर्तें,
किसी पुराने कैलेण्डर या पोशाक
या केंचुल या इश्तहार की तरह ।
प्यार या धूप या खुशबू,
किसी चीज़ पर नहीं,
विश्वास करते हैं सिर्फ़ अपने होने पर ।
कमर से नीचे का दर्शन,
देहों की राजनीति,
सूर्यास्त वाली दिशा का मुरीद है यह शहर,
मैं यह शहर छोड़ दूँगा ।

पसन्द करते हैं यहाँ के लोग
काले सिक्के, पीली किताबें,
नीली फ़िल्में
और बेहद तेज़ भागने वाली चीज़ें
–चाहे वे कारें हों या औरतें ।
बातें करते हैं ईश्वर पर
जैसे लोग अपने पड़ोसो के बारे में करते हैं ।

आयात करते हैं
विदेशों से–
हर मौसम में
कुछ मशीनें और
कई सौ आत्महत्याएँ।
कुछ बहसें और कई सौ भेंड़ें।
मन्दिर और मस्जिद और चर्च
खुदवा कर रखवा दिये गये हैं
अजायबघर में।
नरभक्षी ही नहीं
ईश्वरभक्षी भी है यह शहर,
मैं यह शहर छोड़ दूँगा।

हर चीज़ बहुत मँहगी है
इस शहर में—
आदमी, वादों और अँगूठों को छोड़ कर।
मकानों में आग लगवा कर,
महामारी और अकाल के जरासीम बँटवा कर,
एयरकंडीशनों में बैठ कर
वायलिनें बजाना
और हज़ारों लोगों की ज़िन्दगी के तमाम शेयर
मुफ़्त में हथिया लेना
कुछ लोगों के लिए खेल-सा है यहाँ
चाभी-भरे खिलौनों की दूकान के भीतर
आवाज़ें ही आवाज़ें हैं।
नंगी आवाज़ों का आशिक है यह शहर,
मैं यह शहर छोड़ दूँगा।

गीता, बाइबिल, क़ुरान
पढ़ा करते थे
अगले वक़्तों के
पिछड़े हुए लोग।
अब ड्राइंगरूमों की सजावट
और लायब्रेरियों की खाली जगहें भरने के काम
आती हैं ये बूढ़ी किताबें।
अर्थ पिशाचों की
चर्बी चढ़ी दीवारों पर टँगे
कीलविद्ध, लहूलुहान संगेमरमर के ईसा–
मेज़ पर ध्यानमग्न बैठे
ताँबे या पीतल के गौतम
और पीपल के सूखे झरे हुए पत्ते में क़ैद
खलीलजिब्रान
तुलना करते रहते हैं
दिन-रात, हर पल, हर घड़ी
यरूशलम की और इस शहर की।
कपिलवस्तु की और इस शहर की
लेबनान की और इस शहर की।
और सोचता हूँ मैं—
भला कब तक बच पाऊँगा ज़िन्दा
अर्थ-कैन्सर के मरीज़ इस शहर में ?
आईने लादे हुए
कब तक भटकूँगा
अन्धों के इस महानगर में ?
इस से पहले कि
मुझे विष पीना पड़े,
या गोली खानी पड़े,
या सूली चढ़ना पड़े,
या फिर किसी नये तरीक़े से मरना पड़े,
मैं यह शहर छोड़ दूँगा।
बुज़दिली और अहिंसा में
कोई फ़र्क़ नहीं समझता यह शहर,
मैं यह शहर छोड़ दूँगा। ■■

चाची

मधु ने दुखती गरदन को सीधा किया। यत्न से सँभाला हुआ बनारसी आँचल सिर से खिसक कर कन्धे पर आ गिरा। देर से सिकोड़ कर बैठे पैरों को फैला कर वह क़ालीन पर लेट गयी और बग़ल से उस ने एक तकिया खींच लिया। खाली कमरे में उसे लगा एकाएक, वह कितनी अकेली हो गयी है। इतने लोगों के एकदम हट जाने के बाद, अकेली होने का एहसास और गहरा हो उठा। पड़ोसियों, रिश्तेदारों का तो कल से ताँता टूटता नहीं नज़र आता। हाँ, इतना ज़रूर है कि आठ-साढ़े आठ तक कमरा खाली होने लगता। उस की नज़र दीवार-घड़ी पर गयी। घड़ी रात के नौ बजा रही थी।....

दो दिनों का रंगीन चित्रपट-सा बीतता समय उसे अविश्वसनीय लग रहा था। जादू की छड़ी छुआ देने से बदल जाने वाली राजकन्या की तरह तो वह भी बदल गयी है। दो दिन पहले तक ही तो वह एक उन्मुक्त पक्षी की तरह थी। इतनी ढेर सारी लज्जा का तो उस से परिचय भी नहीं था। उस ने अपने महावर लगे पैरों को बनारसी साड़ी के ज़रीदार किनारे से खींच कर ढँक लिया। अनायास उस की नज़र खिड़कियों पर गयी। ऊपर से नीचे तक परदे टँगे थे। उस ने एक निश्चिन्तता की साँस ली। उसे अपनी जेठानी के शब्द याद आये—"बहू, अब तू आराम कर। औरतों को पंगत बैठाने को कह आयी हूँ, देखूँ पूरियाँ निकल रही हैं या नहीं?" और व्यस्तता के साथ वे चली गयी थीं। उस ने अनुमान लगाया, घण्टे-दो घण्टे तो ज़रूर ही खिलाने-पिलाने में लगेंगे। बाहर और आँगन से शोरगुल सुनाई पड़ रहा था। निपट अकेली होने के एहसास से उस की आँखें भर आयीं।

बिट्टी की माँ जो मायके से उस के साथ आयी थी, वह भी इन दो दिनों में एक-आध बार ही दिखी थी। वह भी केवल उसे खिलाने-पिलाने के समय। ऐसा लगता था जैसे इस घर में प्रवेश करते ही उस का सब पीछे छूटता

जा रहा है। उस का जी भरभरा उठा। उस की नज़र कमरे में टंगे विमल के चित्र पर ठहर गयी। उसी के साथ विभा दी की याद उभर आयी। बारात लगने के बाद, तुरत, दीदी ने हँसते हुए कहा था—"मधु, अच्छा हुआ जो शादी तुझ से हो गयी, राम-सीता की जोड़ी लगेगी।"

इस बात पर मधु का हृदय रोने लगा था। सच—विभा दी कितनी अच्छी हैं! उन के लिए जिस लड़के की बात चली थी, उसी से मधु की शादी हो गयी। इस बात का जैसे उन्हें कोई मलाल ही नहीं? कितनी खुश-खुश दौड़ती कामकाज सँभाल रही थीं। इस वक्त दीदी क्या कर रही होंगी? माँ क्या कर रही होंगी। और पिता जी''''एक-एक कर स्मृति-पट पर माँ का लाड़, पिता का प्यार, भाई-बहनों का अपनापन नाच उठा। भइया को माँ न जाने कब भेजेगी। और अनजाने ही आँखों से आँसू ढुलकने लगे।

इन्द्राणी

फिर उस की आँखों में विभा दी का उदास चेहरा तैर गया। अब वह विभा दी के विमाता द्वारा तिरस्कृत जीवन को थोड़ा सहारा दे सकेगी—इस का उसे सब से बड़ा सन्तोष था। उसे अपने मुँह-दिखाई के रुपयों की याद आयी। मधु ने आँचल से आँखें पोंछ लीं और दूसरी करवट हो आँखें बन्द कर सोने की कोशिश करने लगी। पर एक के बाद एक उमड़ते आते विचारों के आगे उस की एक न चली।

●

घर वालों को विभा दी भारी हो रही थी। मधु से साल-भर बड़ी जो थी। कई रिश्ते आते और साँवली विभा दी रिजेक्ट कर दी जातीं। मधु को तो सामने ही न किया जाता। इस बार भी वही हुआ। विमल के पिता जी ने, जो दो-चार लोगों के साथ देखने आये थे, साफ़ कहा—"इस साल हम लोगों को रिश्ता अवश्य करना है, क्योंकि विमल को इसी साल फॉरेन जाना है।

शहर में एक-दो सम्बन्ध और देखने हैं, देखने के बाद हम लोग बतायेंगे।" इस में उन के इनकार का आभास था।

पिता जी और ताऊ जी दोनों ही बड़े क्षुब्ध हुए और फिर उसे दिखाने की राय-बात होने लगी। ताऊ जी ने कहा, "मधु अभी छोटी है तो क्या हुआ? लड़का भी तो तीन सालों के लिए फॉरेन जा रहा है।" पिता जी भी विदेश जाने वाले लड़के को छोड़ने के पक्ष में न थे। और उन लोगों से पूछ कर उसे दिखाया गया।

उसे याद आया—विभा दी उस दिन कितनी डरी-डरी थीं। मधु ने तो संकटमोचन को लड्डू भी माने थे कि इस बार रिश्ता टूटने न पाये। पर सब व्यर्थ हुआ। ताई जी तीखी-कर्कश आवाज़ से विभा दी को डाँट रही थीं—"कलमुँही, चुड़ैल, यह तो जनम-जली है ही।" सजी-सँवरी विभा दी उन्हीं कपड़ों में बैठी सिर झुका कर आँसू गिरा रही थीं। और वह पास के कमरे में चोरी-चोरी अपनी आँखें पोंछ रही थी। भगवान् से मना रही थी कि आज ताई दीदी को न मारें। खैर, ताई को मेहमानों के कारण सुबुद्धि आ गयी थी। दीदी को इतनी बड़ी होने पर भी मार सहनी पड़ती है। —यह सोचते ही उस की आँखों से आँसू बह चले। जब भी विभा दी को मार पड़ती, उस का हृदय फटने लगता और असहाय हो, छुप कर वह खुद रोने लगती। यह बात तो विभा दी को भी न मालूम थी। मधु को भय था कि कोई देख लेगा तो वह अपने रोने का क्या कारण बतायेगी। अगर कहीं ताई जी की कानों में यह बात आ गयी तो विभा दी के कष्टों का पारावार नहीं रहेगा। ताई जी दीदी की तरफ़दारी किसी तरह सहन नहीं कर सकतीं। माँ इसी कारण तो नहीं बोलती।

जब विभा दी स्कूल से भूखी-प्यासी लौटतीं, वह चोरी से रोटी पर सब्ज़ी रख कर पकड़ा देती, जिसे वे गुसलखाना बन्द कर जल्दी-जल्दी खा लेतीं। विभा दी को यह ज़रा भी अच्छा न लगता, पर उस की ज़िद के आगे लाचार थीं। ताई विभा दी को पढ़ाने के पक्ष में एकदम न थीं। पर दीदी उन को खुश करने के लिए पूरी रसोई जल्दी-जल्दी निपटा कर बिना टिफ़िन लिये स्कूल-टाइम से हमेशा आध घण्टे लेट, टूटी चप्पल पैर में डाले स्कूल को चल पड़तीं। उन का हृदय अपने साथ की लड़कियों को पढ़ता देख किसी तरह पढ़ाई छोड़ने को तैयार न होता। बीच-बीच में ताई-द्वारा डाले गये व्यवधान के कारण, मधु से बड़ी होने पर भी, विभा दी अभी आठवीं पास थीं और इस साल दसवीं परीक्षा में बैठी थीं। दिन-रात घरेलू कामों में व्यस्त होने के कारण वे घर पर ज़्यादा पढ़ नहीं सकती थीं। वे पढ़ाई में भी कमज़ोर थीं। पढ़ाई में व्यतिक्रम डालने में ताई के कुटिल चक्रों का हाथ भी कम न था। वे हमेशा ही एक-न-एक बहाना बना कर उसे घर में रोक लेतीं।

माँ बताया करती थीं कि पहली ताई बहुत सरल और सीधी थीं। विभा दी ने अपनी माँ का स्वभाव पाया था। दीदी के

सुरेख भी अपनी माँ के थे। केवल रंग उन्होंने ताऊ जी का पाया था। पहली ताई के मरने के बाद ताऊ जी शादी नहीं करना चाहते थे। पर अभी उन की उम्र भी तो कम थी। और शादी हो गयी। दूसरी ताई जो बड़ी उग्र स्वभाव की निकलीं। उन्होंने थोड़े ही दिनों में अलग चौका करवा कर ही दम लिया। विभा दी विमाता के निर्दय अनुशासन में थोड़ी उम्र से ही चौका-चूल्हा सँभालने लगीं। जहाँ उसे सब्ज़ी छौंकने तक नहीं आती थी वहाँ वे पूरी रसोई निपुणता से बना लेतीं। रसोई में भी ताई कड़ी दृष्टि रखतीं। दूध में उबाल आता और वे आ खड़ी होतीं। गरम पतीली को मोटे कपड़े से पकड़े बड़बड़ाती हुईं कमरे में ले जातीं। न जाने किसे सुनाती हुई कहतीं—"खाना तो ये मरे खाते ही नहीं। ये थोड़े दूध हैं जो ज़बरदस्ती इन्हें पिला दूँ, ये ही पेट में पड़े रहते हैं। सेहत तो ज़रा इन की देखो।"

फल खिलाते-खिलाते भी उन की शिकायत चलती रहती कि इन के दोनों बच्चे अन्न खाते ही नहीं, गो उन की उम्र नौ और पाँच सालों की थी। जब कि सचाई कुछ और ही थी। उन की कोशिश यही रहती थी कि विभा दी को दूध और फल से भेंट न हो। यानी उन्हें अच्छी चीज़ें छूने तक को न मिलतीं। उसे बड़ा आश्चर्य होता, विभा दी उस के अपने हिस्से में से बचायी चीज़ों को लेने से इनकार करतीं और वे ही चीज़ें वे चुराती पकड़ी जातीं। कभी कमरे में रखे दूध की मलाई ग़ायब हो जाती तो कभी जाली में रखे फल। एक-आध बार तो विभा दी रंगे-हाथों पकड़ी भी जा चुकी थीं। घर में वे चोर समझी जातीं, पर अकेले मधु को विभा दी चोर नहीं लगतीं। पकड़ी जाने पर उन पर मार पड़ रही होती और मधु छटपटाती। रोती हुई सोचती जाती कि लोग इतनी छोटी-सी बात क्यों नहीं समझते। दीदी को अच्छी चीज़ें तो खाने को कभी मिलती नहीं, आखिर उन की भी तो इच्छाएँ हैं। और फिर घर की अपनी ही चीज़ को यदि उन्होंने उठा लिया तो चोरी कैसी! अगर उन की अपनी माँ होती तो क्या उन्हें चोर कहतीं? लेकिन सारे प्रश्न बेमानी हो जाते। जब वह अकेले में मिलतीं तो मधु कहती—"दीदी, मैं तुम्हें चोर नहीं समझती।" विभा दी उस की उलटी बात सुन कर आँखें फाड़े आश्चर्य से उस की तरफ़ ताकने लगतीं। वे दोनों हाथों से कस कर मधु का हाथ पकड़ लेतीं और दोनों के आँसू संग-संग बहने लगते।

अगर ये सब बातें ताऊ जी को मालूम होतीं तो मधु को विश्वास था कि विभा दी का कुछ कष्ट ज़रूर ही हलका होता। उस ने कितनी बार राय दी थी—"दीदी, ताऊ जी से कभी तो कुछ कहो।" पर विभा दी ने कभी भी विमाता की शिकायत न की और मधु जानती थी, वे कभी करेंगी भी नहीं। सीधे-सरल ताऊ जी को विभा दी के कष्टों का भान भी न था।

दीदी के कष्टों का अन्त न था। विमाता के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से पीड़ित दीदी का कब छुटकारा होगा? यह प्रश्न उस के कोमल

मन पर घूम-घूम कर [illegible] दुखिया, अकेली, विभा दी को अपने समर्थ आँचल में छुपा लेने को वह व्यग्र हो उठी। बहते हुए आँसू गिर-गिर कर तकिये को भिगो रहे थे और मधु इन सब से बेख़बर विभा दी को सुखी बनाने की कल्पना में लीन थी।....

न जाने कब किस तरह उस के अचेतन मस्तिष्क में किसी विधुर से विवाह करने की इच्छा पल्लवित हो उठी थी जिस से वह उस के बच्चों की स्नेहमयी माता बन कर किसी अन्य निष्ठुर विमाता के कठोर चंगुल में पड़ने से उन्हें बचा लेती। साथ-साथ उसे यह स्वीकारने में भी झिझक नहीं थी कि वह खुद के विचारों से ही अवसन्न हो जाती। इन भावनाओं में उसे विमाता के त्रास से सन्तप्त नन्हें कोमल बच्चे ही दिखते थे। बच्चों वाले विधुर की कल्पना से न जाने कैसा एक भय आ घेरता। जब भी वह विभा दी को माँ से पिटते देखती तो यह विचार तीव्रता से उस के हृदय में सिर उठाने लगता। उस ने सोचा—लेकिन अब तो इस भावना का कोई महत्त्व शेष नहीं रहा। उस ने तकिये में सिर गड़ा लिया।....

●

"अरे इ का! रोवत हौ। हम तो सोचत रहीं कि बिटिया थक गयी होइहैं सो सोवै देई। अउर इहाँ तू रोवत हौ।" बिट्टी की माँ का पछताता स्वर सुन मधु आँखें पोंछ संयत हो कर बैठ गयी। मायके की दाई को देख दिल [illegible] की माँ ने खाने की थाली मेज़ पर रख दी और उस के निकट आ कर बड़े प्रेम से अपने आँचल से उस की आँखें पोंछ दी। मधु की फूली लाल आँखों को देख वह स्वयं को अपराधी अनुभव करने लगी। आश्वासन देते स्वरों में बोली—"अरे बिटिया! इहाँ का तोके ठहरे के बा। सुना है, कल भइया लिवाये अइहैं।"

मधु ने शिकायत की—"तू तो दिन-भर कभी दिखाई ही नहीं देती। अगर जीजी खाना ले कर न भेजें तो तेरा दर्शन भी न हो।"

"अरे नाहीं, ई का कहत हौ। हम तो तोहरे बदे आयी हैं। बिटिया, हरदम्मे तोके लोगन घेरे रहत हैं।" वह अपनी सफ़ाई देने लगी। "अच्छा! चलौ खाय लेव! एम्मा रोवै क का बात है। तू तौ पढ़ी-लिखी हौ।"

मधु इस सरल-हृदया दाई की बात पर मुसकरा पड़ी। उस का जी काफ़ी रो लेने से हलका जान पड़ रहा था। फिर भाई के आने की बात ने उस में नयी स्फूर्ति का संचार कर दिया था। खाते-खाते बोली—"हाँ, पढ़ने-लिखने से तो ममता छूट जाती है न!"

"नाहीं बिटिया! हमार इ मतलब नाहीं रहा। तू बड़ी भाग वाली हौ जो अइसन घर में पड़ी हौ। भइया, हमका तो इ लोग बड़े नींक जान पड़त हैं। हम तो सब देखत हैं ना।"—और बातों ही बातों में वह घर के सदस्यों की बड़ाई करने लगी।

मधु ने थोड़ा-सा खा कर हाथ धो लिया।

उस की भूख-प्यास तो भाई के आने की खबर पा कर ही भाग गयी थी।

इसी वक़्त दरवाज़े को ठेलते हुए दो बच्चे झाँकते दिखाई पड़े। थाली उठाते-उठाते बिट्टी की माँ ने उन्हें बुलाया—"आओ! आओ देखो, ई तोहार चाची हैं।"

और हाथ पकड़ कर बच्चों को खींच लायी। मधु दो बच्चों को अपने पास देख चंचल हो उठी। वह समझ गयी कि ये जेठानी के बच्चे हैं। बालिका अपनी आँखें फैलाये नयी चाची को कौतूहल से देख रही थी। उस के कोमल गोरे शरीर पर लाल फ़्रॉक बहुत फब रही थी। दो छोटी चोटियाँ सलीक़े से आगे-पीछे लटकी थीं। वह निस्संकोच मधु के पास आ खड़ी हो गयी। जब कि बालक अपनी बड़ी बहन का फ़्रॉक पकड़े पीछे शरमाता-सा खड़ा था। उस के स्वस्थ गोल-मटोल शरीर पर भूरे रंग का रेडीमेड सूट था।

मधु ने प्यार से खींच कर दोनों को अपने पास बैठा लिया। और बालिका की हथेली को हाथों में ले कर पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?" बालिका टकटकी लगाये ही बोली—"रोली।" उस की आँखों में प्रशंसा के मिले-जुले भाव तैर रहे थे।

"और तुम्हारा?"—मधु ने बालक को गोद में बैठा लिया। बालक जो अपनी सुन्दरी चाची की गोद में बैठा गर्व का अनुभव कर रहा था, अब निस्संकोच बहन की तरफ़ देखता हुआ धीरे शब्दों में बोला—"दीपक।"

मधु का मन इन बच्चों से खिलने लगा था। उस ने बालक के मुख को चूमते हुए कहा—"कितना सुन्दर नाम है।"

वह धीरे-धीरे बच्चों में मगन होने लगी। बिट्टी की माँ बरतन उठा कर जा चुकी थी।

अचानक मधु को दरवाज़े की फाँक से झाँकता एक छोटा मलिन चेहरा दिखाई पड़ा। उदास सुन्दर आँखों में कौतूहल झाँक रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे वह दरवाज़े पर देर से खड़ी हो। आँख से आँख मिलते ही मधु को बड़ी आत्मीयता से देखता हुआ वह मुखड़ा हँसी की चाँदनी से खिल उठा। एकाएक मधु उस आत्मीय भोले मुख का परिचय पाने को व्यग्र हो उठी। उस ने पूछा—"रोली! वह कौन है?"

रोली ने मुड़ कर दरवाज़े की तरफ़ देखा और खराब-सा मुँह बनाती हुई बोली—"चाची यह मुनिया है। बड़ी चोर है।"

मधु ने देखा—पल-भर में उन उदास सुन्दर आँखों में लज्जा दौड़ गयी। और वह निष्प्रभ होता हुआ चेहरा दरवाज़े के पीछे छिप गया। इतने में ही उसे जेठानी दरवाज़े पर दिखाई दीं। वे कमरे में झाँकती हुई बोलीं—"अरे! तुम दोनों यहाँ छिपे बैठे हो, मैं सारे घर में खोज आयी। चलो उठो काफ़ी रात हो गयी है।"

और वे बच्चों को ले कर चली गयीं।

•

सुबह स्नान कर गुसलखाने से निकलते ही मधु को बिट्टी की माँ ने बताया कि भैया

अभी-अभी आये हैं। वह खुशी-खुशी पैर बढ़ाती हुई बिट्टी की माँ के साथ कमरे की ओर चली। उसे कमरे में पहुँचा कर बिट्टी की माँ बाहर से ही लौट गयी। गहने, कपड़े व्यवस्थित रूप से पहनने का विचार करती हुई मधु ने कमरे की सिटकनी चढ़ा दी। पलटते ही उस ने देखा—एक नौ साल की बालिका उस के उतारे हुए गहनों और बनारसी साड़ी के पास खड़ी हो साड़ी पर धीरे-धीरे हाथ फेर रही है। मधु पर नज़र पड़ते ही उस की आँखों में वही आत्मीयता उजागर हो उठी। मधु ने पहचान लिया—यह मुनिया थी। घबराते हुए उस ने एक-एक गहनों का निरीक्षण किया और क्रोध से डाँटते हुए बोली—"तू यहाँ क्या कर रही है। चल निकल यहाँ से।" झटके से उस ने सिटकनी खोली और हाथ पकड़ कर उसे बाहर कर दिया।

मन-ही-मन वह काँप उठी : हे भगवान् ! अगर वह अभी यहाँ न आ जाती तो सत्यानाश हो जाता। एक भी गहना गुम हो जाता तो नयी बहू को कुलच्छनी कहने में कोई न चूकता।

कपड़े बदलते-बदलते वह सोचने लगी—घर की महरिनें कितनी चालाक होती हैं, बच्चों को चोरी सिखा पक्का चोर बना देती हैं। मुनिया कितनी भोली दिखती है। उस की निश्छल आँखों को देख कर कोई उसे चोर कह सकता है ? अगर बचपन से ही उसे अच्छी शिक्षा मिलती तो क्या वह चोर बनती ? अपनी माँ की देखा-देखी बच्चे भी उसी का अनुसरण करने लगते हैं। मधु का सारा आक्रोश नौकरानियों पर था। उसे अपने घर भी इस का काफ़ी कड़ुआ अनुभव प्राप्त था। ओह ! कितना बड़ा हादसा होते-होते बच गया, उस ने मन-ही-मन भगवान् को हाथ जोड़े।

एक-एक कर उस ने सारे गहने पहन लिये। गाढ़े रंग की नीली साड़ी का ज़रीदार आँचल सँभालती हुई वह ड्रेसिंग टेबल के सामने आ खड़ी हुई। खुले काले घुंघराले केश शोभा को द्विगुणित करते हुए कमर से नीचे लटक रहे थे। बड़े शीशे में उस का पूर्ण सौन्दर्य प्रतिबिम्बित था। अचानक शीशे में अपने साथ एक और मुखड़े को देख, ठगे नेत्र वहीं जड़े रह गये। मधु के हृदयाकाश में पूर्ण चन्द्र-सा विमल का प्रोट्रेट उसे आत्मविभोर करने लगा।

तभी बिट्टी की माँ की उत्साह-भरी आवाज़ से उस की तन्द्रा टूटी। मधु सँभल कर बालों में कंघी करने लगी।

"बिटिया, नाश्ता कर लेव। भइया अबहिन मिले आवत हैं। संझा के गाड़ी से बिदाई होइहै।"

मधु बिखरी साड़ियों और कमरे में फैले सामानों को जल्दी-जल्दी समेटने लगी। जैसे अभी ही बिदाई होने वाली हो।

मधु का हृदय धक्क से कर गया। उस ने सोचा—शायद कल ही विमल को बम्बई भी जाना होगा। वीसा बनने के बाद कितनी जल्दी-जल्दी में शादी हुई। केवल एक यही शुभ मुहूर्त था जो विदेश जाने के तीन दिन

पहले पड़ता था। उस ने ठेल कर मधुर स्मृतियों को मन से हटाया और मायके जाने की उमंग से भर गयी।

देखते-देखते बिदाई की शाम आ पहुँची। हॉर्न से लग रहा था कि टैक्सी भी आ चुकी है। औरतों ने मधु का घूँघट ठीक किया और बिदाई की आखिरी रस्म निभाने कोहबर की ओर ले चलीं। जल्दी ही थोड़े से रस्म विमल की उपस्थिति के साथ निपट गये। बाहर से किसी पुरुष-स्वर ने उतावली प्रकट की—"चलो जल्दी करो, देर हो रही है।"

इतने में उसे विमल की आवाज़ सुनाई पड़ी—"मुन्नी बेटे, चाची को नमस्ते करो।"

मधु ने अचानक सिर उठा कर मुन्नी को देखा। अरे यह तो वही चोर मुनिया है! मुनिया विमल की उँगली पकड़े खड़ी थी। उस के साफ़-सुन्दर मुखड़े पर वही आत्मीयता-भरी मुसकान दौड़ रही थी। दो कोमल हाथ जुड़े थे। उस परिचित मुसकान ने उस के हृदय में भीषण तूफ़ान मचा दिया, उस के पाँव ठिठक गये, उसे धरती घूमती जान पड़ी। मधु ने न जाने क्या सोच अपना उघड़ा मुख जल्दी से ढँक लिया और भारी मन से पैरों को घसीटती-सी औरतों के साथ बाहर चल पड़ी। उसे एक कोमल स्वर घिघियाता सुनाई पड़ा—'माँ, मैं भी रोली के साथ स्टेशन जाऊँगी।"

"नहीं! जा, गुड्डा को उठा।" जेठानी का स्वर नाराज़ी-भरा था।

मधु की आँखों में पलक मारते उजाला हो उठा। उस का हृदय बच्ची के सही परिचय से टूक-टूक हो गया। उस ने यह तो सुना था कि उस के जेठ की दूसरी शादी है। पर पहली पत्नी से कोई सन्तान है, इस का उसे आभास तक न था। उस के नेत्रों के सामने बनारसी साड़ी को छूता नन्हा हाथ बार-बार घूमने लगा। मधु का हृदय मातृहीना अकेली बालिका के प्रति किये गये खुद के निष्ठुर व्यवहार से हाहाकार कर उठा। वह अब कैसे और कब इस भूल का प्रतिकार करेगी। इस चिन्ता ने उसे व्याकुल कर दिया। उस की आँखों के नीचे अँधेरा छाता प्रतीत हुआ। हृदय में ममता घूम-घूम कर भँवरें बनाने लगीं। उसे लगा जैसे वह डूब रही हो।...

मधु कब मोटर में बैठ गयी उसे पता भी न चला। बच्चों की आवाज़ से उस की तन्द्रा भंग हुई। एक क्षीण आशा से उस ने मोटर में नज़र दौड़ायी। उस ने देखा—पिछली सीट पर उस के साथ रोली और दीपक भी बैठे हैं। पर वह सुकुमार चेहरा दिखाई न पड़ा। मधु के मुख से एक ठंडी साँस निकल गयी। अचानक ज़ोर की आवाज़ करता हुआ टैक्सी का दरवाज़ा खुला। वह अचकचायी और घूँघट हटा कर देखा। मुन्नी उसे पान दे रही है। जैसे डूबते ने किनारा पा लिया हो। मधु ने झट पान ले लिया और दोनों बाँहों में उसे भर कर हृदय से लगा लिया। दो कोमल नन्हीं बाँहें उस के गले से लिपट गयीं। एक काँपता मीठा स्वर सुनाई पड़ा...चा...ची....? मधु की आँखों से झरझर आँसू गिरने लगे। टैक्सी चल पड़ी। मुनिया चाची से वैसी ही लिपटी थी। ■■

असन्तोष की एकछत्रता में !

पुष्पधन्वा

युवा-आन्दोलन, युवा-प्राप्ति, युवा-रोष, युवा-क्रान्ति—सब परिचित शब्द हैं, नव संसार के जाने-माने शब्द। आज इन अक्षरों ने कुछ अधिक ताना-बाना सब ओर फैला लिया है और कई बार लगता है कि इस जाल में वे स्वयं ही फँस कर रह गये हैं। एक विकासशील देश की अपनी समस्याएँ कुछ कम नहीं होतीं। इन में यदि युवा भी शामिल हो जायें तो व्यवस्था बिगड़ जाती है और सामाजिक सुरक्षा डगमगाने लगती है। युवा-असन्तोष केवल कॉलेज या विश्वविद्यालय की सीमाओं तक ही नहीं रहता। जब यह फैलता है तब विद्यालय-सम्पत्ति के अतिरिक्त बस, सिनेमा, डाकघर और रेलघर—सभी उस का शिकार हो जाया करते हैं। विद्यार्थी-

यह युवा अशान्ति क्यों ?

आन्दोलन एक स्थान या एक नगर या एक देश में होता तो इस का कारण ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं था। परन्तु यह तो सारी की सारी दुनिया में छलाँगता फिर रहा है। विश्व के सन्दर्भ में देखने से इस समस्या का रूप और व्यापक हो जाता है तथा हल और कठिन।

इस दलील को नकारा नहीं जा सकता कि यह समस्या आज के बढ़ते हुए विज्ञान और तकनीकी उपलब्धियों की देन है। भारत अथवा पश्चिम-एशिया यदि बहुत खुशहाल नहीं तो फ़्रान्स और अमेरिका तो हैं। फिर वहाँ क्यों आये-दिन दंगा-फ़साद होता रहता है? पहले क्रान्ति सामाजिक या धार्मिक अन्यायों के विरुद्ध हुआ करती थी। आज छोटी-छोटी समस्याओं को ले कर अनु-क्रान्तियाँ आ उपस्थित होती हैं। लेक्चर हाल का छोटा होना, परीक्षा-पद्धति में सुधार या शिक्षा-संस्थानों में छात्र-प्रतिनिधित्व की कमी—बहाना कोई भी लिया जा सकता है। वियतनाम युद्ध अथवा देशव्यापी भ्रष्टाचार—इस तरह का कोई अहम सवाल ले कर ये क्रान्तियाँ नहीं होतीं। ये आन्दोलन दूर या पास की प्राथमिक कठिनाइयों पर प्रतिक्रियाएँ नहीं हैं। तो क्या इन्हें समसामयिक समाज के प्रति विद्रोह की गूँज माना जाये? रूस में एक कहावत है—"अधिक चर्बी से पगलाना" : समृद्ध देशों पर वही चरितार्थ होती है। लेकिन देश चाहे आर्थिक रूप से धनी हो या निर्धन—सभी में आज युवक स्वयं को असम्पृक्त महसूस कर रहा है। वह ऐसे समाज के बीच जी रहा है जहाँ उस पर अलगाव, विरक्ति, यान्त्रिकता और अमानवीयता के दबाव हैं। कहीं भी उसे वैयक्तिक

स्पर्श मिल नहीं पाता। ऐसी दशा में समाज जो सुरक्षा और समृद्धि उन्हें देता है, उन के लिए व्यर्थ हो जाती है। परम्परागत शिक्षा-प्रणाली इतनी दोषपूर्ण एवं एकांगी है कि वह भी छात्र को इन से उबरने की सामर्थ्य नहीं देती।

प्रमुख कारण

आज का बुद्धिवादी विद्रोही यह नहीं जानता कि आधुनिक समाज की समस्याएँ प्रमुखतः विज्ञान और प्रविधि की देन हैं। यदि गहराई से देखा जाये तो तथ्य यही है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में रंग-भेद की समस्या कृषि के यन्त्रीकरण से उपजी है। यन्त्रों ने जब किसानों की जगह ले ली तो अनेकों ने दक्षिण के देहातों से हट कर उत्तर के उद्योगों में भीड़ लगा दी। वहाँ भी अप्रशिक्षित मज़दूर की पूछ नहीं थी। इस भीड़ और आपाधापी ने वैमनस्य को जन्म दिया—सहानुभूति समाप्त हुई। विकासशील देशों में विज्ञान की प्रगति के कारण शिशु-मृत्यु की दर कम हुई है, जो अब जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि में परिणत हो रही है। संचार के इतने अधिक साधन हो गये हैं कि दूरस्थित व्यक्ति भी उन के माध्यम से विकास के चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए व्यक्तियों के रहन-सहन व सुविधाओं से परिचित हो गया है। यह परिचय इच्छा जगाता है और वही इच्छा असन्तोष की जननी है। इन कारणों को समझने वाला युवा-नेता एक ऐसे समाज की माँग करता है जो चाहे इतना योजनाबद्ध न हो, इतना विकसित न हो किन्तु जहाँ हर व्यक्ति का योगदान हो सके, जहाँ लोकतन्त्र को मान्यता मिले। ऐसी व्यवस्था जिस में सामूहिकता होते हुए भी व्यक्ति की इकाई नज़रअन्दाज़ न हो जाये।

यह खलबली सारे युवा-विश्व में प्रतिध्वनित हो रही है। अफ़्रीका महाद्वीप की राजनीतिक लड़ाई समाप्त हुई ही थी कि सामाजिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हो गया। संयुक्त-अरब-गणराज्य में नासिर की प्रतिभा को धक्का पहुँचाने वाली पहली घटना घटी—पढ़ाई में रुकावट। कांगो के छात्र पुलिस से मुठभेड़ कर के, अपने असन्तोष का नारा बुलन्द कर के छात्रवृत्ति और शिक्षा का बजट बढ़वा कर ही रहे। पिछले दो सालों में अमेरिका के दो सौ से अधिक शिक्षा-संस्थानों में हड़ताल, धरना और असन्तोष-मार्च किये गये। इसी तरह इन्दोनेशिया, फ़्रान्स, जापान, चेकोस्लोवाकिया और इंगलैण्ड—अनेक देशों से सामूहिक युवा आवाज़ें उठी हैं।

कुछ इसी ढंग का परिवर्तन कला के क्षेत्र में हम ने देखा। कला का २०वीं शती का इतिहास, परम्परागत रूप-विधान के समाप्त होने की गाथा है। इस के साथ ही उस में बौद्धिकता के तत्त्व को भी खत्म किया गया। ऐसा जान पड़ता था मानो ये ही वस्तुएँ, मानव की स्वतन्त्र आत्मा को, किसी विजातीय क्रूरता में जकड़े हुए थीं। यही भावना आज का युवा सामाजिक व राजनीतिक मान्यताओं के प्रति रखता है। किन्तु जो प्रयोग के रूप में कला में स्वीकार्य है, और जो कभी-

कभी सृजनात्मक [illegible] है, अन्य किन्हीं क्षेत्रों में मरणान्तक सिद्ध हो सकता है। आज के व्यक्ति का अस्तित्व इसी पर निर्भर करता है कि वह इस तकनोकी युग के साथ अपना तालमेल बैठा पाता है या नहीं। यह कठिन विकास-चुनौती ज़रूर है किन्तु इस से बचा नहीं जा सकता। यदि मानव इस सामंजस्य को नहीं बनाये रख सकता तो उसे विकास की दौड़ में पीछे छूट जाने वाले उन पशुओं में नाम लिखवाना होगा जो अपने परिवर्तनशील संसार के अनुसार स्वयं को ढाल न पाये।

खण्डित इकाई

आज का संसार एक खण्डित इकाई है—शस्त्र-दौड़ पर १०० बिलियन डॉलर खर्च करता, आधिक्य के बीच जड़-निर्धनता के द्वीपों वाला, शहरी विलासिता से गलता, व्यर्थ शिक्षा पाता। ऐसा संसार युवक को सुरक्षित नहीं बनाता। स्थिति इतनी अस्थिर हो गयी है कि न इस पीढ़ी को और न आने वाली पीढ़ी को—अगले क्षण में अपने अस्तित्व का निश्चय है। अस्तित्व-विनाश का यह भय देशों को अपनी आर्थिक और राजनीतिक दोषपूर्ण नीतियों से नहीं है। उन्हें डर है—शक्तिशाली राष्ट्रों की स्वलीन राजकीय इकाइयों से, जो अपनी अधिकाधिक ताक़त एक-दूसरे को परास्त करने में लगाने की सोचती रहती हैं। अमेरिका और युरॅप के कुछ छात्र-नेताओं ने कहा है कि हमारा आन्दोलन आधुनिक तकनीकी-[illegible] लिए है। उन्होंने यह आशा भी व्यक्त की कि तोड़ने के इस प्रयत्न में ही नयी—अधिक संवेदनशील जीवन-पद्धतियाँ स्वतः उठ खड़ी होंगी। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह केवल एक भावुकतापूर्ण क़दम है, तर्क-सम्मत, गम्भीर क्रान्ति नहीं जो अत्यावश्यक है।

भारत में ख़तरे, इन व्यापक समस्याओं के अतिरिक्त, कुछ और भी हैं। यहाँ का युवक न अभी पश्चिम जितना विकसित है, न उस की पीढ़ियाँ उन की तरह शिक्षित रही हैं और समृद्धि की अतिशयता उस की ज़ंजीर भी नहीं है। कहा जा सकता है कि पश्चिम की अपेक्षा भारतीय युवक की कठिनाइयाँ अधिक स्पष्ट और निर्दिष्ट हैं। पश्चिम के युवक की लड़ाइयाँ वहाँ की भौतिकतावादी मान्यताओं से हैं लेकिन हमारे यहाँ झगड़ा फ़िलहाल सही शिक्षा-प्रणाली, शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं और तत्पश्चात् नौकरी का है। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है जैसे छात्र ऐसे मसलों पर विद्रोह कर रहे हैं जिन का उन से कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। इस के दो कारण हो सकते हैं: पहला, जो अधिक सीधा और बहुप्रयुक्त है, यह कि युवा-शक्ति को कोई राजनीतिक दल अपने विचारों के पोषण हेतु उकसा रहा है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि प्रश्न का प्रत्यक्ष न सही, अप्रत्यक्ष प्रभाव छात्रों पर पड़ता हो। तमिलनाडु में आकाशवाणी के अँगरेज़ी समाचार का समय बदलने पर वहाँ का युवक रुष्ट हो जाता है, या आन्ध्र प्रदेश का युवक तेलंगाना

के प्रति किसी प्रकार की छूट से भड़क उठता है। दोनों ही स्थितियों में वह अपने भविष्य के प्रति सशंकित है। अँगरेज़ी समाचार का समय परिवर्तित करने में वह अँगरेज़ी को अपदस्थ कर के हिन्दी को प्रतिष्ठित करने की चाल की कल्पना करता है और स्वयं अहिन्दी-भाषी होने के कारण अपने को असुरक्षित पाता है। इसी प्रकार आन्ध्र-प्रदेशी तेलंगाना के 'मुल्कियों' को अपनी नौकरियाँ छीनते हुए कल्पित करता है और विद्रोह करता है।

निश्चित स्थान

भविष्य के अनिश्चय को युवक किसी भी मूल्य पर और बढ़ाना नहीं चाहता। उलटे, उस की सब से बड़ी कोशिश यही है कि वह किसी तरह, साधारण-से-साधारण ही क्यों न हो, निश्चित स्थान समाज में अपने लिए बना ले। इस प्रक्रिया में वह न कोई अड़चन चाहता है, न विलम्ब। वह परीक्षा पास करने के लिए मेज़ पर छुरा निकाल कर बैठता है। फ़ेल हो जाता है तो उपकुलति का घेराव करता है, इमारत को नुक़सान पहुँचाता है। उसे जल्दी से जल्दी डिग्री चाहिए क्योंकि डिग्री के बिना उस की कोई पूछ नहीं है। पढ़ कर डिग्री प्राप्त करने की जहमत वह उठाये क्यों जब जानता है कि समाज में उस के ज्ञान का महत्त्व नहीं है—महत्त्व सिर्फ़ एक घोषणा-पत्र का है। जो ज़रा गहराई में जाता है वह तर्क करता है कि उसे जो शिक्षा मिलेगी उस का वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। [illegible]-ट्रेनिंग करने वाला युवक जब नौकरी पर जाता है तो अपने सीखे-पढ़े को पहले ताक पर रख आना होता है। बिजनेस-मैनेजमेंट करने वाला युवक कारखाने में आ कर मालिक और मज़दूर, माल और बाज़ार के सम्बन्धों को नये सिरे से, नये दृष्टिकोण से दुबारा सीखना शुरू करता है। वस्तु-शिल्पी स्वर्गिक भवन-निर्माण कला सीख कर भद्दे, राजकीय दड़बेनुमा मकानों की पंक्तियाँ खड़ी करने पर मजबूर किया जाता है। साहित्य का विद्यार्थी पुस्तक से सीखता है स्वतन्त्र-चिन्तन और जीवन से चाटुकारिता की अमोघ-शक्ति।

आज भारत की नयी पीढ़ी के सामने—सवाल करने वाली, मापदण्ड निर्धारित करने वाली है वह पुरानी पीढ़ी जिस ने देश की स्वाधीनता का अद्भुत संग्राम लड़ा। नयी पीढ़ी को उस की महत्ता से इनकार नहीं किन्तु आज उस के पिता का यह गौरव उस की छाती का बोझ बना जा रहा है। पुरानी पीढ़ी में तीन वर्ग हैं: एक वह जो संघर्ष की फ़सल काटने में मस्त है, जिस के स्वार्थ ने वातावरण में सब से बड़ा ज़हर घोला है। दूसरा वह जो हर क़दम पर युवक को लांछित करता है और जताता है कि जब वह युवा था तो देश के लिए सिर कटाने को तैयार था—आज का युवक सिर्फ़ रोमांस करना और अपनी हर नाजायज़ माँग नाजायज़ तरीक़े से मनवाने में लगा है। तीसरा वह वर्ग है जो युवक को अपना दोस्त मानने का दम भरता है और हर क़दम पर उसे 'सही मार्ग-निर्देश' देना

चाहता है ताकि नयी पीढ़ी उसे कुचलती हुई न निकल जाये। इन तीनों वर्गों से युवा ऊब चुके हैं।

आज के युवक की सब से बड़ी कमज़ोरी कुण्ठाओं से ग्रस्त होने में है। उन्हीं के कारण वह ज़रा-सी उत्तेजना पाते ही सूखे बारूद को तरह भभक उठता है। यौवन यों ही नासमझी और जोश का समय होता है, उस में अतिरिक्त कारण आ मिलने से विवेक बिलकुल ही रफ़ूचक्कर हो जाता है। पुराने स्वार्थरत हों और नये जल्दबाज़—तो कौन किस को संभाले?

■ ■

मराठी के सशक्ततम उपन्यासों में गणनीय यह [illegible] 'रणांगण'। बाह्य दृष्टि से 'रणांगण' [illegible] जिनोआ से बम्बई तक यात्रा करने वा[illegible] इतालवी 'बोट' पर घटित होती है, लेकिन मु[illegible] पात्रों की स्मृति के माध्यम से लेखक ने उस का कैनवास इतना विराट् बना दिया है कि उपन्यास महाकाव्य की गरिमा से मण्डित हो उठा है। और इस पूरे कथानक में अनुभूति की प्राणधारा प्रवाहित करती है हॅर्टा—परिस्थितियों के वात्याचक्र में फँसी एक यहूदी युवती, जो अपनी पहली प्रीति की असह्य मानसिक यन्त्रणा से त्रस्त हो कर दूसरी बार प्रेम के भँवर-जाल में उलझ जाती है। यहाँ लेखक ने निष्ठा का प्रश्न उठाया है। क्या हॅर्टा की प्रीति निष्ठाशून्य थी? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस का उत्तर समूचा उपन्यास पढ़ कर ही जाना जा सकता है।

मराठी
४

रणांगण

विश्राम बेडेकर

आप की एक अद्वितीय आवश्यकता का
एक अद्वितीय उत्तर—
अविस्मरणीय कथानक वाला
मर्मस्पर्शी और रोचक
एक अनुपम
उपन्यास!

मूल्य ३.५०

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग,
दिल्ली-६।

वार्षिक शुल्क १५.०० : प्रति अंक १.५० : प्रस्तुत अंक १.५०
विदेशों के लिए अतिरिक्त डाक टिकिट ४० पैसे
सितम्बर १९६९

भारतीय ज्ञानपीठ

सांस्कृतिक जागरण,
साहित्यिक विकास-उन्नयन, राष्ट्रीय ऐक्य
एवं राष्ट्र-प्रतिष्ठा की साधिका
तथा भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट
सर्जनात्मक साहित्यिक कृति पर
प्रतिवर्ष एक लाख रुपये
पुरस्कार-योजना प्रवर्तिका
विशिष्ट संस्था

●

संस्थापक :
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा :
श्रीमती रमा जैन

मन्त्री :
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

●

प्रधान कार्यालय :
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७ ।

प्रकाशन कार्यालय :
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५ ।

विक्रय कार्यालय :
३६२०।२१, नेता जी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

अनुज्ञापत्र संख्या—५१ : बिना टिकिट लगाये प्रेषण करने के लिए अनुज्ञप्त । पंजीयित संख्या : ल—२०३६

License No 51 : Licensed to post without prepayment of postage. GYANODAYA, September. 1969 ... Rs. 15.00

भारतीय ज्ञानपीठ के लिए जगदीश अग्रवाल-द्वारा दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी-५ से प्रकाशित तथा सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५ में मुद्रित ।